प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२२

Chowk, Varanasi-1 (India)

1965

Phone : 2076

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
131

LAGHUSIDDHĀNTAKAUMUDĪ

Of

ŚRĪ VARADARĀJA

Edited
With an exhaustive and critical Hindi Commentary,
Introduction and appendices

by

Sri M. S. Kushwaha, M. A.
(Lucknow University)

With a Foreword

by

Prof. K. A. S. Iyer
Ex-Vice-chancellor, Lucknow University
and
Vārānaseya Sanskrit University.
Formerly Professor and Head of the Deptt. of Sanskrit,
University of Lucknow.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHĀWAN
VARANASI-1
1965

उन ममतामयी मां

की

पुण्य-स्मृति

को

जिनकी छाया में इस ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ, लेकिन

जो इसके प्रकाशित होने के पहले ही स्वयं

अनन्त प्रकाश में लीन हो गईं,

तथा

उनके जीवन-भर अभिन्न रूप से साथ रहने वाली

उन वयो-वृद्ध नानी

को

जो आज भी उनके ममत्व को साकार करती रहती हैं

FOREWORD

Many Hindi translations with commentaries of the Laghusiddhānta-Kaumudi have already been published. They do not, however, render superfluous this new commentary by Sri Mahesh Singh Kushwaha. I have read some portions of it and I found it excellent. I found it particularly useful for those who are engaged in a study of the work without the help of a teacher. The explanations are clear and anticipate the doubts and difficulties which an intelligent student is likely to experience and are quite adequate to remove them. The book can be put safely into the hands of a beginner. It will not only help him to master this work but will also help him to go further and take up the Madhyasiddhānta-Kaumudi or the Siddhānta-Kaumudi itself. When the second part dealing with the formation of the words will also become available, students who want to penetrate the mysteries of the Pāṇinean system of grammar will have an excellent guide in their hands. I wish the book all success.

Deccan College, Poona–6
1–8–1965

K. A. Subramania Iyer

आत्म-निवेदन

इस पुस्तक के प्रणयन की भी अपनी छोटी-सी कहानी है।

बात उस समय की है जब कि मैं बी० ए० का विद्यार्थी था। पाठ्य-क्रम में लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के कुछ अंश निर्धारित थे। साधारणतया छात्रों को उसमें कुछ मज़ा न आता था, लेकिन मुझे न जाने क्यों विषय की दुरूहता में एक अजीब आकर्षण दिखाई पड़ा। स्वतः ही उसके विशेषाध्ययन में जुट गया। जितनी भी व्याख्याएँ उपलब्ध हो सकीं, सभी को देख डाला। फिर भी संतोष न हुआ। तर्कशील मन में अनेकानेक ऐसी शङ्काएँ उठती गईं जिनका कि उन व्याख्याकारों के पास कोई समाधान न था। उनका उद्देश्य तो केवल सूत्रार्थ बता देना था, जिसको कंठाग्र कर छात्र अपनी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लें। विषय के वैज्ञानिक और विवेचनात्मक प्रतिपादन में न तो उनकी कोई रुचि थी, और न इस ओर उन्होंने कोई प्रयत्न ही किया। मुझे लगा कि इस स्थिति में यदि आधुनिक विद्यार्थी मूल ग्रंथ से दूर भागते हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उसे यदि वस्तुतः उपयोगी बनाना है, तो उसकी एक ऐसी व्याख्या करनी होगी जो शास्त्रीय होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी हो; जो न केवल सूत्रार्थ को ही स्पष्ट करे, अपितु उन सूत्रों के द्वारा संस्कृत व्याकरण का ज्ञान भी करावे।

काफी दिनों तक ये विचार केवल मस्तिष्क में ही घूमते रहे, लेकिन एक दिन वह भी आया जब मैं स्वयं व्याख्या लिखने बैठ गया। तिथि तो याद नहीं—हाँ, ग्रीष्मावकाश अवश्य था। लगभग दो सप्ताह में ही सन्धि-प्रकरण लिख डाला, और तुरन्त ही उसे चौखम्बा प्रकाशन को भेज दिया। मेरा विचार तो केवल कुछ अंशों की व्याख्या कर अपने उद्देश्य को प्रकट करना था। लेकिन मनुष्य सोचता कुछ है, और होता कुछ और। चौखम्बा प्रतिष्ठान ने मेरी व्याख्या को प्रकाशित करना तो स्वीकार कर लिया, किन्तु साथ ही साथ आग्रह किया कि मैं उसी शैली में समस्त लघु-सिद्धान्त-कौमुदी की व्याख्या

लिख डालूँ। उस समय तो उत्साह में मैंने उनके आग्रह को स्वीकार कर लिया, लेकिन वाद में अनुभव हुआ कि वह मेरा एक दुस्साहस मात्र था।

आज लगभग छः साल हो चुके हैं उस कार्य को प्रारम्भ किये हुए। इस अवधि में न जाने कितनी मुसीवतें आयीं, और अनेक वार लेखन-कार्य महीनों तक वन्द रहा। कई वार तो विलकुल ही निराश हो गया और सोचा कि इसे अधूरा ही छोड़ दूँ, लेकिन मन को सन्तोष न हुआ। आशा-निराशा के द्वन्द्व में फँसता हुआ कार्य जैसे-तैसे आगे वढ़ता ही रहा—ठीक वैसे ही, जैसे कि जीवन के दिन बीतते जाते हैं।

सवसे अधिक प्रेरणा तो मुझे अपनी माँ से मिली। वस्तुतः आज मैं जो कुछ भी करने योग्य हुआ हूँ, वह उन्हीं की कठिन साधना का फल है। उन्होंने न केवल मुझे प्रोत्साहन दिया, अपितु वे सभी सुविधाएँ भी प्रदान की जिनसे कि मेरा कार्य सुगम वन सका। लेकिन मेरा भाग्य इतना अच्छा न था कि मैं अधिक दिनों तक उनका सुख उठा सकता। १८ मार्च, १९६३ को वह भी मुझे अकेला छोड़कर हमेशा-हमेशा के लिए अनन्त में लीन हो गईं, और उनके साथ ही वह जीवन-दायिनी ज्योति भी लुप्त हो गई जो कि मेरे अन्धकारमय मार्ग को प्रकाश की किरणों से भरती रहती थी। मैं किं कर्त्तव्य विमूढ़ हो उठा। कार्य में तो कोई उत्साह ही न रह गया। फिर भी सारा साहस जुटा कर किसी प्रकार उसे पूरा कर डाला—केवल इसीलिए की माँ की अभिलाषा कहीं अधूरी न रह जाय। आशा है आज उसे अपने पूर्ण रूप में देख कर उनकी आत्मा को अवश्य प्रसन्नता होगी।

सम्पूर्ण पुस्तक दो भागों में समाप्त हुई है। प्रथम भाग में व्याख्या है और दूसरे में रूप-सिद्धि। ये दोनों भाग वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं। पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए तो दोनों को एक साथ ही देखना चाहिये।

मैं अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो सका—यह तो सुधीजन ही वतला सकेंगे। मुझे तो केवल इतना ही सन्तोष है कि मैंने अपनी ओर से यथाशक्ति परिश्रम करने में किसी प्रकार की कमी न की।

यह समस्त कार्य बिना किसी व्यक्ति-विशेष की सहायता के ही पूरा हुआ है। जो कुछ भी सहायता ली गई है, वह केवल आर्ष ग्रंथों से ही। अतः त्रुटियों का होना तो नितान्त स्वाभाविक है। आशा है पाठकगण उनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

अत्यधिक व्यस्त होने के कारण मैं 'प्रूफ' भी स्वयं न देख सका। परिणामतः मुद्रण-सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं। कुछ अशुद्धियों को तो मैंने 'अशुद्धि-पत्र' में सुधार दिया है, और शेष विज्ञ पाठक स्वयं ही सुधार लेंगे, ऐसा विश्वास है।

वस्तुतः इस पुस्तक को तो मैं अपने संस्कृत-सम्बन्धी लेखन-कार्य की एक भूमिका मात्र समझता हूँ। यदि उचित प्रोत्साहन मिला, तो शायद भविष्य में 'कुछ' करने में समर्थ हो सकूँ।

कार्य के प्रति शुभकामनाओं के लिए मैं सर्वश्री अनन्त चौरसिया, बाबूलाल शर्मा 'प्रेम', महेन्द्रपाल सिंह और आनन्द प्रकाश आदि मित्रों का आभारी हूँ। श्री जगदीश बिहारी मिश्र, एम० ए० (लखनऊ विश्वविद्यालय) और डा० सूर्यप्रसाद दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी० (जोधपुर विश्वविद्यालय) को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगा, जिन्होंने समय-समय पर सत्परामर्श और प्रोत्साहन देकर मुझे उत्साहित किया। डा० दयाशङ्कर चतुर्वेदी, एम० ए०, पी-एच० डी०, दर्शनाचार्य ने अनेक प्रकार से सहयोग देकर मेरे कार्य को सरल बनाया, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रिय अनुज शिरोमणि सिंह कुशवाहा ने भी सामयिक योग देकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया। संस्कृत के वरिष्ठ विद्वान् और लखनऊ विश्वविद्यालय तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर ने व्यस्त होकर भी पुस्तक का प्राक्कथन लिखने का कष्ट किया। एतदर्थ मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

न्यू हैदराबाद, लखनऊ
१७ अगस्त, १९६५

—महेशसिंह कुशवाहा

विषय-सूची

भूमिका

(अ) व्याकरण और उसका महत्त्व

जिस तन्त्र से साधु शब्द का ज्ञान होता है, उसे 'व्याकरण' कहते हैं (व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति-शब्दज्ञानजनकं 'व्याकरणम्')। इसी का एक दूसरा नाम 'शब्दानुशासन' भी है।

संस्कृतवाङ्मय में व्याकरण का स्थान बहुत ही ऊँचा है। उसकी गणना वेद के षडङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) में होती है और उसे वेद का मुख-रूप प्रधान अङ्ग माना जाता है—

> 'मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते।
> निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे॥
> शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते।'

पतञ्जलि मुनि ने भी 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'—इस आगमवचन* को उद्धृत करते हुए व्याकरण के अध्ययन पर जोर दिया है—'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।' वस्तुतः व्याकरण-ज्ञान के बिना वेद-वेदान्त, स्मृति-पुराण, इतिहास, काव्य आदि किसी भी शास्त्रान्तर में प्रवेश नहीं हो सकता। भास्कराचार्य ने कहा भी है—

> 'यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्,
> ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
> यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्,
> शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥'

इसी लिए कहा जाता है कि चाहे किसी अन्य शास्त्र का अध्ययन किया जावे या न किया जावे, किन्तु व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिये, क्योंकि व्याकरण-ज्ञान के बिना शब्दों का उचित प्रयोग नहीं हो सकता और शब्दों का उचित प्रयोग न होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। जरा-सी उच्चारण-सम्बन्धी भूल से स्वजन (सम्बन्धी) 'श्वजन' (कुत्ता), सकल (सम्पूर्ण) 'शकल' (खंड) और सकृत् (एक बार) 'शकृत्' (विष्ठा) बन जाता है। कहा भी है—

---

* महाभाष्य (अ० १, पा० १, आ० १)।

'यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलः शकलः सकृच्छकृत् ॥'

(आ) पाणिनीय व्याकरण की परम्परा और लघुसिद्धान्तकौमुदी

संस्कृत व्याकरण के आदि प्रवक्ता

संस्कृत व्याकरण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार उपलब्ध वैदिक पदपाठों की रचना से पूर्व व्याकरणशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। प्रकृति-प्रत्यय, धातु-उपसर्ग और समासघटित पूर्वोत्तरपदों का विभाजन पूर्णतः निर्धारित हो चुका था।* वाल्मीकीय रामायण में तो व्याकरणशास्त्र के सुव्यवस्थित पठन-पाठन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।† ऋक्तन्त्रकार के अनुसार व्याकरणशास्त्र का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा है। ब्रह्मा ने बृहस्पति को और बृहस्पति ने इन्द्र को शब्दोपदेश दिया।‡ महर्षि पतञ्जलि ने भी लिखा है कि एक हजार वर्षतक बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिपद-पाठ द्वारा शब्दोपदेश किया—'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच' (महाभाष्य, अ० १, पा० १, आ० १)। तैत्तिरीयसंहिता ने इन्द्र को भाषा का आदि संस्कर्ता माना है। उसके अनुसार पुराकाल में वाणी अव्याकृत (अर्थात् व्याकरण-सम्बन्धी प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार से रहित अखण्ड पदरूप) बोली जाती थी। देवों ने इन्द्र से कहा कि वह उस वाणी को व्याकृत (प्रकृति-प्रत्ययादि संस्कार से युक्त) कर दें। इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़ कर व्याकृत कर दिया।§ बोपदेव ने भी आठ शाब्दिकों का उल्लेख करते समय सबसे पहले इन्द्र का ही नाम लिया है—

'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥' (कविकल्पद्रुम)

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने इन्द्र का काल ८५०० वि० पूर्व माना है।¶ सम्प्रति

---

* 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास'—प्रथम भाग (प्रथम संस्करण), पृ० ४२-४४।

† 'नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम् ॥' (किष्किन्धा० ३।२९)

‡ ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः'—ऋक्तन्त्र (१.४)।

§ 'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति··· तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।' (तैत्तिरीयसंहिता, ६.४.७)

¶ 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—प्रथम भाग (प्र० सं), पृ० ५९।

ऐन्द्र व्याकरण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु इसका उल्लेख अनेक ग्रन्थों में मिलता है। दो ग्रन्थों में तो उसके दो सूत्रों का भी उल्लेख है,* जिससे पता चलता है कि अपने समय में ऐन्द्र व्याकरण काफी सम्पन्न रहा होगा।

पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य

इन्द्र से लेकर महर्षि पाणिनि तक अनेक वैयाकरण हुए, जिन में से कुछ का निर्देश प्रातिशाख्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि के पूर्ववर्ती ८० व्याकरणाचार्यों का उल्लेख किया है।† स्वयं पाणिनि ने ही अपनी 'अष्टाध्यायी' में आपिशलि (६.१.९२), काश्यप (१.२.२५), गार्ग्य (८.२.२०), गालव (७.१.७४), चाक्रवर्मण (६.१.१३०), भारद्वाज (७.२.६३), शाकटायन (३.४.१११), शाकल्य (१.१.१६) सेनक (५.४.११२) और स्फोटायन (६.१.१२३)—इन दस शाब्दिकों का उल्लेख किया है। किन्तु सम्प्रति इन सभी आचार्यों में से किसी का भी व्याकरण पूर्णरूपेण प्राप्त नहीं होता; उनका केवल उल्लेखमात्र ही मिलता है। सब से पहला पूर्ण व्याकरण हमें महर्षि पाणिनि का ही उपलब्ध होता है।

पाणिनि

महर्षि पाणिनि के जीवन-वृत्त के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। पतञ्जलि के महाभाष्य (१.१.२०) से पता चलता है कि उन की माता का नाम दाक्षी था। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने उनका काल लगभग २८०० वि० पू० माना है‡, किन्तु डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उनका समय ५०० ई० पू० के मध्य निश्चित किया है और उन्हें नन्द राजा महानन्द का समकालीन बताया है।§ गणतन्त्रमहोदधि के आधार पर उनका जन्मस्थान 'शालातुर' नामक ग्राम बताया जाता है,¶ किन्तु श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है कि 'शालातुर' पाणिनि के पूर्वजों

---

* भट्टारक हरिश्चन्द्र ने अपनी चरकव्याख्या (चरक न्यास) में 'अथ वर्णसमूहः' (शास्त्रेष्वपि 'अथ वर्णसमूहः' इति ऐन्द्रव्याकरणस्य) और दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तवृत्तिमें 'अर्थः पदम्' (नैकं पदजातम्, यथा 'अर्थः पदम्' इत्यैन्द्राणाम्)—इन दो ऐन्द्र सूत्रों को उद्धृत किया है।

† संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—' प्रथम भाग (प्र० सं०), पृ० ४८, ५१–५।

‡ वही, पृ० १३७।

§ देखिये 'इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि' (द्वि० सं०)—आठवाँ अध्याय।

¶ शालातुरो नाम ग्रामः, सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः' तत्र भवान् पाणिनिः'—गणतन्त्रमहोदधि।

का वासस्थान था; पाणिनि स्वयं कहीं अन्यत्र रहते थे। उन्होंने पाणिनि को वाहीक देश या उसके अति समीप का निवासी माना है।* 'कथा-सरित्सागर' के अनुसार उनके गुरु का नाम 'वर्ष' था और वह पढ़ने में अधिक प्रखर न थे।† पञ्चतन्त्र के एक श्लोक ('सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः'—मित्रसम्प्राप्ति) से विदित होता है कि इन को सिंह ने मारा था। वैयाकरणों में किंवदन्ती है कि इन की मृत्यु त्रयोदशी को हुई थी। इस तिथि पर आज भी पाणिनीय वैयाकरण व्याकरण का पठन-पाठन नहीं करते।

पाणिनि का प्रधान ग्रंथ 'अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ' या 'अष्टाध्यायी' है। इस में लगभग ४००० सूत्र हैं। इसके साथ ही साथ उन्होंने धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन की भी रचना की है। ये चारों ग्रन्थ वस्तुतः 'अष्टाध्यायी' के परिशिष्ट हैं। उनके अन्य ग्रन्थों में शिक्षासूत्र और जाम्बवतीविजयकाव्य की गणना होती है।

पाणिनीय शब्दानुशासन सब प्रकार से पूर्ण और अद्वितीय है। पाणिनि ने संस्कृत को जीवित भाषा के रूप में ग्रहण कर उसका अत्यन्त ही वैज्ञानिक—विश्लेषण प्रस्तुत किया है। भाषा को नाम, आख्यात (धातु), उपसर्ग और निपात (अव्यय)—इन चार मूलभूत तत्त्वों में विभाजित करते हुए उन्हों ने धातु पर सब से अधिक बल दिया है। उन की शैली बहुत ही परिमार्जित और सारगर्भित है। अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में प्रकट करना उनकी विशेषता है। इसके लिए उनको प्रत्याहारों, अनुबन्धों, गणों, संज्ञाओं, अनुवृत्ति और कई जगह पर लागू होने वाले 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (८.२.१) सदृश सूत्रों का सहारा लेना पड़ा है। कहीं भी किसी शब्द का दो बार या व्यर्थ प्रयोग नहीं हुआ है। महर्षि पतञ्जलि का कथन है - 'दर्भपवित्रपाणि प्रामाणिक आचार्य ने शुद्ध एकान्त स्थान में प्राङ्मुख बैठकर अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक सूत्रों की रचना की है। अतः उन में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता; इतने बड़े सूत्र के आनर्थक्य की तो बात ही क्या ?'‡ वास्तव में पाणिनि ने प्रत्येक शब्द को तोल-तोल कर रखा है। उनके व्याकरण के विषय में 'गागर में सागर'

---

* संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास'—प्रथम भाग (प्र० सं०), पृ० १२४।

† 'अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत्।
तत्रैकः पाणिनिर्नाम जडबुद्धितरोऽभवत्॥'
(कथा० लम्बक १, तरङ्ग ४, श्लोक २०)।

‡ 'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।' (महाभाष्य, १.१.१)।

वाली कहावत पूर्णतः चरितार्थ होती है। संक्षिप्तीकरण पर बल देते हुए भी उन्होंने भाषा के किसी भी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए जर्मन विद्वान अल्ब्रेख्ट वेबर ने लिखा है —'पाणिनीय व्याकरण अन्य देशों के व्याकरण-ग्रन्थों से भिन्न है—कुछ तो अपने धातुओं के पूर्ण और व्यापक अनुसन्धान तथा शब्द-निर्माण के कारण, और कुछ अपनी सूक्ष्म संतुलित शैली के कारण।'* प्रसिद्ध भाषाविद् एल० ब्लूमफील्ड ने भी पाणिनीय व्याकरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन का कथन है—'यह व्याकरण (=पाणिनीय व्याकरण) मानवीय बुद्धि के महानतम कीर्ति-स्तम्भों में से एक है। यह बड़ी ही सूक्ष्मता-पूर्वक प्रत्येक विभक्ति (या प्रत्यय), व्युत्पत्ति और रचना तथा सूत्रकार की भाषा (=संस्कृत) के प्रत्येक प्रयोग का वर्णन करता है। आज तक किसी भी भाषा का इतना पूर्ण वर्णन नहीं हुआ है'।†

पाणिनीय शब्दानुशासन केवल शब्दज्ञान के ही लिए नहीं, अपितु प्राचीन भारतीय संस्कृति के ज्ञान के भी लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके अध्ययन से तत्कालीन इतिहास और भूगोल आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।‡ इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

कात्यायन

पाणिनि के पश्चात् संस्कृत-व्याकरण में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान कात्यायन का है। 'कात्यायन' शब्द वस्तुतः गोत्र-प्रत्ययान्त है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार यहां कात्यायन का अभिप्राय वररुचि कात्यायन से है, जो कि शुक्ल-यजुर्वेद की आङ्गिरसायनशाखा के प्रवर्तक कात्यायन का पुत्र और याज्ञवल्क्य का पौत्र था।§ उन्होंने इसका काल २७०० वि० पू० माना है,¶ किन्तु अन्य विद्वान उसका समय ४०० ई० पूर्व और ३०० ई० पूर्व के बीच में मानते हैं। वह दाक्षिणत्य था, जैसा कि महाभाष्य के 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' (१.१.१) वाक्य से प्रतीत होता है।

* 'दि हिस्ट्री आव इण्डियन लिट्रेचर' (लन्दन, १९१४), पृ० २१६।

† 'लैंग्वेज' (लन्दन, १९६१), पृ० ११।

‡ 'अष्टाध्यायी' की सांस्कृतिक सामग्री का अध्ययन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने 'इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि' (अंग्रेजी) और 'पाणिनिकालीन भारत' नामक ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। 'गणपाठ' पर एम. एस. अयाचित का 'गणपाठ एक आलोचनात्मक अध्ययन' (अंग्रेजी) शीर्षक लेख 'इण्डियन लिंग्विस्टिक्स' (खण्ड, २२, १९६१) में प्रकाशित हुआ है।

§ 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—'प्रथम भाग (प्र० सं०), पृ० २१२।

¶ वही, पृ० २१४।

पाणिनि के कुछ सूत्रों में आलोचनात्मक दृष्टि से कमी पाकर वररुचि (कात्यायन) ने अपने 'वार्तिक*-पाठ' की रचना की, जो कि पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। सम्प्रति यह वार्तिक-पाठ स्वतन्त्र-रूप से उपलब्ध नहीं होता। 'महाभाष्य' में कात्यायनीय वार्तिकों का उल्लेख है, किन्तु इससे उनकी निश्चित संख्या का पता नहीं चलता। महाभाष्यकार ने कात्यायन के वार्तिकों के साथ ही साथ अन्य वार्तिककारों के वचनों का भी उल्लेख किया है।† फिर भी कुछ विद्वानों के अनुसार वररुचि ने अपने वार्तिकों में पाणिनि के लगभग १५०० सूत्रों की आलोचना की है।

वररुचि ने केवल दोष दिखाकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझी। उस दोष को दूर करने के लिए सूत्र में क्या परिवर्तन करना चाहिये—इस बात को भी उन्होंने वतला दिया है। इस प्रकार उनकी आलोचना सिद्धान्त की दृष्टि से न्याय-संगत है। किन्तु अनेक स्थलों पर उन्होंने पाणिनि को समझने में भूल की है और कहीं-कहीं पर उनकी आलोचना अनुचित भी है। इस अनौचित्य की ओर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। फिर भी पाणिनीय व्याकरण की परम्परा में कात्यायन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके वार्तिक-पाठ के बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा ही रहता।

वररुचि ने वार्तिक-पाठ के अतिरिक्त 'स्वर्गारोहण' नामक एक काव्य की भी रचना की थी, जिसका उल्लेख सूक्तिमुक्तावली, शार्ङ्गधरपद्धति आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

पतञ्जलि

वररुचि के बाद पाणिनीय-व्याकरण-परम्परा में तीसरा महत्त्वपूर्ण नाम पतञ्जलि का है। 'महाभाष्य' के 'अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्' (३.२.१११) और 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' (३.२.१२३) वचनों के आधार पर कुछ लोग उनका समय २०० ई० पू० मानते हैं, किन्तु श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने

---

* पाराशर उपपुराण में वार्तिक का लक्षण इस प्रकार दिया है—'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते। तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥' (अर्थात्—जिस ग्रन्थ में सूत्रकार द्वारा उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों पर विचार किया गया हो, उसे 'वार्तिक' कहते हैं)

† देखिये—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास'—प्रथम भाग (प्र० सं०), पृ० २१६–१७।

उनका काल कम से कम १२०० वि० पूर्व माना है।* कुछ लोगों ने 'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः तत्र सक्तून् पास्यामः' (महा० ३.२.११४) आदि वचनों के आधार पर कश्मीर को उनकी जन्मभूमि माना है। अन्य विद्वानों के अनुसार वे 'गोनर्द' (सम्भवतः वर्तमान गोंडा जिला) के निवासी थे। किन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता 'महाभाष्य' (३.२.१२३) से केवल इतना ही प्रतीत होता है कि अधिकांशतः वे पाटलिपुत्र में रहा करते थे।

पतञ्जलि की प्रमुख रचना 'महाभाष्य' है। इस ग्रन्थ में उन्होंने कात्यायन द्वारा पाणिनि पर किए गये आलोचनात्मक वार्तिकों का खण्डन और पाणिनीय सूत्रों का मण्डन बहुत ही सजीव और सुबोध शैली में किया है। इसमें उन्हें अपूर्व सफलता मिली है, किन्तु कहीं-कहीं पर कात्यायन के प्रति उन्होंने अन्याय भी किया है। उन्होंने शंका-समाधान की शैली को अपनाते हुए अनेक घरेलू दृष्टान्तों द्वारा अपने विषय का प्रतिपादन बड़ी ही सुगमता से किया है। उनकी भाषा लम्बे-लम्बे समासों से रहित, छोटे-छोटे वाक्यों से युक्त, अत्यन्त सरल तथा अतीव प्राञ्जल और सरस है। व्याकरण जैसे क्लिष्ट और नीरस विषय को इतने सरल और सजीव रूप से प्रस्तुत करना पतञ्जलि की ही विशेषता है। उनकी शैली के प्रवाह की बराबरी केवल शङ्कराचार्य का शारीरक भाष्य ही कर सकता है, किन्तु उसकी भी शैली 'महाभाष्य' जैसी सरल और स्वाभाविक नहीं है। इसके अतिरिक्त पतञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी बड़ा ही मनोरम परिचय दिया है।† इस प्रकार 'महाभाष्य' केवल व्याकरणशास्त्र का ही नहीं, अपितु समस्त विद्याओं का आकर ग्रन्थ है। तभी तो भर्तृहरि ने लिखा है—

> 'कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
> सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥' (वाक्यपदीय, २.४८६)

कुछ लोग पतञ्जलि को 'महाभाष्य' के अतिरिक्त योगसूत्र और चरकसंहिता का भी रचयिता मानते है,‡ किन्तु डा० बी. एन. पुरी ने इस बात को स्वीकार नहीं किया है।§

---

* वही, पृ० २४८।

† 'महाभाष्य' का सांस्कृतिक अध्ययन डा० बैजनाथ पुरी ने 'इण्डिया इन दि टाइम ऑव पतञ्जलि' (भारतीय विद्या-भवन, बम्बई) नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

‡ कैयट ने अपनी 'प्रदीप' नाम्नी 'महाभाष्य' की टीका के मङ्गलाचरण में इस ओर संकेत किया है—'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥'

§ देखिये—'इण्डिया इन दि टाइम ऑव पतञ्जलि'—पृ० १२–५।

पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन के प्रथम युग का अन्त पतञ्जलि के 'महाभाष्य' में ही होता है। पाणिनि के स्थान को सुदृढ़ बनाने में वस्तुतः कात्यायन और पतञ्जलि का योग-दान अद्वितीय है। इसी से व्याकरण-साहित्य में इन तीनों को 'मुनित्रय' के नाम से पुकारा जाता है।

जयादित्य-वामन

पतञ्जलि के परवर्ती काल में 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' पर अपरिमित वाङ्मय का निर्माण हुआ। साथ ही साथ पाणिनि के आधार पर कई एक दूसरी व्याकरण-पद्धतियों की भी रचना हुई, किन्तु उन में किसी विशेष मौलिकता के दर्शन नहीं होते। पाणिनीय-परम्परा में अगला महत्त्वपूर्ण नाम जयादित्य और वामन का आता है। श्री अनन्तशास्त्री फड़के ने 'काशिका' की भूमिका में जयादित्य का समय ६६१ ई० और वामन का समय ६७० ई० माना है।* इन दोनों ने मिलकर 'अष्टाध्यायी' पर 'काशिका' नामक एक सर्वाङ्गीण टीका की रचना की है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार 'काशिका' के प्रथम पांच अध्याय जयादित्य द्वारा और शेष तीन अध्याय वामन द्वारा लिखे गये हैं।† 'काशिका' में अनेक विलुप्त प्राचीन ग्रन्थकारों और वृत्तियों के मतों को उद्धृत किया गया है, जिनका उल्लेख अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। इसके सभी उदाहरण और प्रत्युदाहरण प्रायः प्राचीन वृत्तियों के अनुसार हैं। यथास्थान गणपाठ का भी सन्निवेश हुआ है। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में इसका स्थान काफी महत्त्वपूर्ण है। परवर्ती काल में इस पर अनेक टीकाओं की रचना हुई, जिनमें 'न्यास' या 'काशिका-विवरणपञ्जिका' (जिनेन्द्रबुद्धि) और 'पद-मञ्जरी' (हरदत्त मिश्र) विशेष उल्लेखनीय हैं।

भर्तृहरि

इसी समय के आस-पास भर्तृहरि का नाम आता है। संभव है कि यही भर्तृहरि शतक-त्रय (शृङ्गारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक) के भी रचयिता रहे हों।‡ चीनी यात्री इत्सिंग के आधार पर इनकी मृत्यु ६५० ई० में मानी जाती है।§

---

* काशिका (चौखम्बा, १९८७ वि०)—पृ० ५।

† 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास'—प्रथम भाग (प्र० सं०), पृ० ३३३।

‡ श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने इनका काल वि० सं० १५१०-१५७५ माना है। देखिये—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास'—प्र. भाग (प्र० सं०), पृ० ३५१।

§ श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने भर्तृहरि का काल वि० सं० ४५० से पूर्व माना है। वही, पृ० ३५६, ३५८-६४।

इनका प्रमुख ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' है, जिस पर इन्होंने स्वयं 'स्वोपज्ञ' नाम्नी टीका लिखी है। यह ग्रन्थ आगम, वाक्य और प्रकीर्ण (या पद)—इन तीन काण्डों में विभक्त है। इसमें कारिकाओं द्वारा भर्तृहरि ने स्फोटवाद और विवर्तवाद नामक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ व्याकरण के दार्शनिक विवेचन के क्षेत्र में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि ने 'महाभाष्यदीपिका' नाम्नी 'महाभाष्य' की एक टीका भी लिखी है। 'महाभाष्य' की अन्य महत्त्वपूर्ण टीका 'प्रदीप' है, जिसे कश्मीरी पण्डित कैयट ११०० ई० के लगभग लिखा था।

कैयट तक आते-आते संस्कृत लोक-भाषा से हटकर केवल अध्ययन-अध्यापन की भाषा बन गई थी। इसलिए व्याकरण में मौलिक ग्रन्थों को लिखने का अवसर ही नहीं रह गया। दूसरे, बाल की खाल निकालने वाली और नैयायिक आलोचना भी इस क्षेत्र में काफी बाधक सिद्ध हुई। फलतः पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन का ढंग बदलने लगा। विषय विभाग के आधार पर सूत्रों को विभिन्न अध्यायों में एकत्र किया जाने लगा और इस प्रकार प्रक्रिया-ग्रन्थों की परम्परा चल निकली। इस परम्परा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ 'रूपावतार' है, जिसके रचयिता धर्मकीर्ति (११ वीं शताब्दी ई०) हैं। इसके पश्चात् उल्लेखनीय ग्रन्थों में विमल सरस्वती (१४ वीं शताब्दी ई०) की 'रूपमाला' और रामचन्द्र (१७ वीं शताब्दी ई०) की 'प्रक्रियाकौमुदी' का नाम आता है। किन्तु इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान भट्टोजि दीक्षित का है।

भट्टोजि दीक्षित

इनका समय १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के के मध्य माना जाता है।* ये महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर और गुरु का नाम शेषकृष्ण था। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'सिद्धान्त-कौमुदी' है, जिस पर इन्होंने स्वयं ही 'प्रौढमनोरमा' नाम्नी टीका लिखी है। इस ग्रन्थ की महत्ता इस पर लिखी गई अनेक टीकाओं से अथवा पाणिनीय व्याकरण की सर्वाधिक प्रचलित पाठ्य-पुस्तक होने से ही नहीं है, वस्तुतः इसका महत्त्व इसलिए है कि इस ग्रन्थ में मुनित्रय के सिद्धान्तों के साङ्गोपाङ्ग समन्वय के साथ-साथ अन्य व्याकरणों और पद्धतियों से भी सारग्रहण किया गया है और नवोदित पद्धतियों की आलोचना इतनी सफलतापूर्वक की गई है कि इस ग्रन्थ ने अध्ययन के क्षेत्र से पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' को तो निकाल ही दिया, साथ ही साथ कातन्त्र (शर्ववर्मा), मुग्धबोध (बोपदेव),

---

* वही, पृ० ३५१, ३५२–३।

सारस्वत (अनुभूतिस्वरूपाचार्य) और चान्द्र (चन्द्रगोमी) प्रभृति अन्य व्याकरणों को भी उखाड़ फेंका ।*

'सिद्धान्तकौमुदी' के अतिरिक्त भट्टोजि दीक्षित ने 'अष्टाध्यायी' पर 'शब्दकौस्तुभ' नाम्नी एक टीका भी लिखी है, जो इस समय समग्र रूप में उपलब्ध नहीं होती। इनके गुरु भाई पंडितराज जगन्नाथ ने इनकी 'प्रौढमनोरमा' नाम्नी व्याख्या पर 'मनोरमाकुच-मर्दिनी' नामक आलोचनात्मक टीका लिखी है ।

वरदराज

भट्टोजि दीक्षित के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम वरदराज का है। 'मध्यसिद्धान्त-कौमुदी' से पता चलता है कि यह भट्टोजि दीक्षित के शिष्य थे।† इस प्रकार इनका १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा होगा। इनके पिता का नाम 'दुर्गातनय' था, जैसा कि 'सारासिद्धान्तकौमुदी' से प्रकट होता है।‡ इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ मिलते हैं—'लघुसिद्धान्तकौमुदी' (जिसे 'लघुकौमुदी' भी कहते हैं), मध्यसिद्धान्तकौमुदी, गीर्वाणपदमञ्जरी और सारसिद्धान्तकौमुदी। इनमें लघुसिद्धान्तकौमुदी, मध्यसिद्धान्त-कौमुदी और सारसिद्धान्तकौमुदी भट्टोजि दीक्षित-रचित 'सिद्धान्तकौमुदी' के संक्षिप्त संस्करण हैं। 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का निर्माण संस्कृत-व्याकरण के प्रारम्भिक अध्येताओं के लिए हुआ है,§ अतः इसमें जटिल और अनावश्यक सूत्रों को स्थान नहीं दिया गया है। इसमें केवल लौकिक-संस्कृत-सम्बन्धी नियमों को ही संगृहीत किया गया है। 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' का क्षेत्र इससे अधिक व्यापक है और उसके अन्तर्गत वैदिक व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का भी समावेश हुआ है। 'सारसिद्धान्तकौमुदी' सबसे संक्षिप्त है। इनका चतुर्थ ग्रन्थ—'गीर्वाणपदमञ्जरी' साहित्यिक, सामाजिक आदि विभिन्न विषयों पर प्रश्नोत्तर-शैली में लिखा गया है। इन चारों ग्रन्थों में से 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का प्रचार सबसे अधिक हुआ और आज भी उसे पाणिनीय व्याकरण का सर्वोत्तम प्रवेश-ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि वरदराज ने व्याकरण के

---

* किसी ने 'सिद्धान्तकौमुदी' की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः ।
कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः' ॥'

† 'नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥'

‡ 'कृता वरदभट्टश्रीदुर्गातनयसूनुना । वेदवेदप्रवेशाय सारसिद्धान्तकौमुदीम् ॥'

§ 'नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥'

क्षेत्र में किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं की फिर भी अपनी 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' द्वारा पाणिनीय व्याकरण को लोकप्रिय बनाने में काफी योगदान दिया उनका कार्य प्रधानतः एक सम्पादक का कार्य है, और इसमें उन्हें वांछित सफलता भी मिली है।

नागेश भट्ट

वरदराज के पश्चात् पाणिनीय व्याकरण की परम्परा में अन्तिम उल्लेखनीय नाम नागेश भट्ट का है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इनका काल १६७३–१७५३ ई० (वि० सं० १७३०–१८१०) के मध्य है।* यह महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिवभट्ट और माता का नाम सतीदेवी था। व्याकरणशास्त्र का अध्ययन इन्होंने भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरि दीक्षित से किया था। व्याकरणशास्त्र के अतिरिक्त ये धर्मशास्त्र, साहित्य और योग आदि के भी प्रकाण्ड विद्वान थे और इन सभी विषयों पर इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। केवल व्याकरण-शास्त्र पर ही इन्होंने लगभग एक दर्जन स्वतन्त्र और टीका-ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनमें से लघुशब्देन्दु शेखर (सिद्धान्तकौमुदी की टीका), वैयाकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा और परिभाषेन्दुशेखर बहुत प्रसिद्ध है।

(ई) अष्टाध्यायी और लघुसिद्धान्तकौमुदी : तुलनात्मक विवेचन

'लघुसिद्धान्तकौमुदी' की आधार-शिला पाणिनीय 'अष्टाध्यायी' है। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद।† प्रथम अध्याय में संज्ञाओं, परिभाषाओं, धातु और सुबन्त सम्बन्धी सामान्य नियमों. निपातों और समास के सामान्य नियमों का वर्णन हुआ है। द्वितीय अध्याय में समास की विस्तृत विवेचना और कारक की व्याख्या है। तीसरे अध्याय में कृदन्त-प्रकरण है। चौथे और पाँचवें अध्यायों में तद्धित तथा उनके पश्चात् अव्युत्पन्न प्रातिपदिकों का विवेचन हुआ है। अन्त में आठवें अध्याय में सन्धि-प्रकरण है। किन्तु इस विवेचस से यह न समझना चाहिये कि 'अष्टाध्यायी' में सूत्रों का क्रम सर्वथा विषयानुसार है। उदाहरण के लिए समास-प्रकरण द्वितीय अध्याय में है, किन्तु समासान्त प्रत्ययों का वर्णन पाँचवें अध्याय में हुआ है। समास में पूर्वोत्तर पद को निमित्त मानकर होनेवाले कार्य का विधान छठे अध्याय के तीसरे पाद में हुआ है। समास-सम्बन्धी कुछ अन्य कार्य

---

* 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास'—प्रथम भाग (प्र० सं०), पृ० ३०८।

† लघुसिद्धान्तकौमुदी में संगृहीत सूत्रों के अन्त में दी हुई संख्या अष्टाध्यायी-क्रम के ही अनुसार है, यथा—'१–हलन्त्यम्' १.३.२ का अर्थ होगा—पहले अध्याय के तीसरे पाद का तीसरा सूत्र। अनुवृत्ति के लिए इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद और द्वितीयाध्याय के चतुर्थपाद में बताये गये हैं। इस प्रकार एक विषय का सम्पूर्ण विवेचन एक ही स्थान पर प्राप्त नहीं होता।

इसके विपरीत 'सिद्धान्तकौमुदी' आदि प्रक्रिया-ग्रन्थों में विषयानुसार विवेचन हुआ है। 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' (जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है) 'सिद्धान्तकौमुदी' का ही संक्षेप है। किन्तु कुछ बातों में इसका क्रम 'सिद्धान्तकौमुदी' से भिन्न है। 'सिद्धान्तकौमुदी' में अव्यय-प्रकरण के बाद 'स्त्रीप्रत्ययप्रकरण' प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में स्त्रीप्रत्ययप्रकरण सब प्रकरणों के बाद में आया है—और यह उचित भी है। वस्तुतः कृदन्त और तद्धितान्त का ज्ञान प्राप्त किये बिना स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के '१२४६–उगितश्च' आदि सूत्रों को समझना मुश्किल है। इसी प्रकार सिद्धान्तकौमुदी में अव्यय-प्रकरण के बाद कारक और समास भी आये हैं, किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी में इन्हें तिङन्त-प्रकरण के पश्चात् रखा गया है। तद्धित-प्रकरण सिद्धान्तकौमुदी में पूर्वार्ध में आया है, किन्तु लघुसिद्धान्तकौमुदी में उसे उत्तरार्ध में स्थान दिया गया है। इस प्रकार यद्यपि 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' सिद्धान्तकौमुदी का संक्षेप है, फिर भी उसका क्रम सिद्धान्तकौमुदी से कुछ भिन्न है।

विषयानुसार होने से 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में एक विषय की सभी सामग्री एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाती है, किन्तु 'अष्टाध्यायी' में ऐसा नहीं है। इसीसे लघु-सिद्धान्तकौमुदी के जितने भी भाग का अध्ययन कर लिया जाता है, उतने विषय का ज्ञान हो जाता है। किन्तु किसी भी विषय का पूर्ण ज्ञान करने के लिए सम्पूर्ण 'अष्टाध्यायी' को पढ़ना आवश्यक है। 'अष्टाध्यायी'-क्रम में यही एक कमी है। 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का क्रम भी निर्दोष नहीं है। सूत्रों को अष्टाध्यायी के क्रम से न देने के कारण उनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता और अनुवृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' आदि सूत्रों को समझने के लिए तो अष्टाध्यायी-क्रम का ज्ञान होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त 'अष्टाध्यायी' में इत्, इट्, द्वित्व और नुम् आदि सम्बन्धी सूत्र एक ही स्थान पर मिल जाते हैं, किन्तु 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में ये सूत्र विभिन्न स्थलों पर बिखरे हैं। कहीं-कहीं पर तो 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में सूत्रों को बिल्कुल ही उलटे क्रम में दिया गया है, जैसे—'५९१–लुग्वा–०' (७.३.७३) के बाद '५९२–क्सस्याऽचि' (७.३.७२)। इससे सूत्रार्थ में अनावश्यक कठिनता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु ये कमियां तो सभी प्रक्रिया-ग्रन्थों में वर्तमान हैं, अतः इनके होने से 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का महत्त्व कम नहीं होता। दूसरे, इन कमियों को 'अष्टाध्यायी' की सहायता से आसानी से दूर किया जा सकता है। अतः आवश्यकता केवल इस बात की है कि 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का अध्ययन करते समय 'अष्टाध्यायी'

का भी सहारा लिया जावे। वस्तुतः 'अष्टाध्यायी' से अनुवृत्ति का सहारा लिए बिना 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के किसी भी सूत्र का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो सकता। केवल वृत्ति रट लेने से सूत्रार्थ का वास्तविक ज्ञान नहीं होता।

(ई) व्याख्या तथा रूप-सिद्धि : कुछ आवश्यक निर्देश

व्याख्या

व्याख्या करते समय सबसे पहले सूत्र का शब्दार्थ देना चाहिये। इसके लिए सूत्र में प्रयुक्त पदों की विभक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है। अधिकतर सूत्रों में पञ्चमी, सप्तमी, षष्ठी और प्रथमा—इन चार विभक्तियों का प्रयोग होता है। प्रथमा विभक्ति का प्रयोग आदेश, आगम और प्रत्ययादि (जिस किसी का भी विधान किया गया हो) को सूचित करने के लिए होता है। हिन्दी में इसका अर्थ होता है लगाकर प्रकट किया जाता है, यथा—'२७—आद्[५] गुण[१]ः' का अर्थ है—'अवर्ण से पर गुण होता है।' पञ्चमी विभक्ति का अर्थ 'से', 'से पर', 'के पश्चात्', 'के बाद' 'या 'के अनन्तर' द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है। षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'के स्थान पर' या 'का अवयव' द्वारा और सप्तमी विभक्ति का अर्थ 'परे होने पर', 'परे रहते', 'विषय में', और 'उपपद रहने पर' आदि के द्वारा प्रकट किया जाता है, जैसे—'१५—इको[६] यणचि[७]' का अर्थ है—'अच् परे रहते या परे होने पर इक् के स्थान पर यण् होता है।' किन्तु तद्धित-प्रकरण में ये नियम चरितार्थ नहीं होते। वहाँ विभक्तियों का प्रयोग किस अर्थ में प्रत्यय होता है—यह बतलाने के लिए हुआ है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी प्रसङ्गवश कोई विभक्ति किसी अन्य विभक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त हो जाती है, यथा—सप्तमी विभक्ति षष्ठी के अर्थ में, आदि। अतः विभक्तियों के आधार पर सूत्रों का शब्दार्थ लिखते समय इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

शब्दार्थ लिखने के पश्चात् देखना चाहिये कि सूत्र के भावार्थ के लिए अन्य कितने पदों की आवश्यकता है। इन आवश्यक पदों को 'अष्टाध्यायी' की सहायता से उसके पूर्ववर्ती सूत्रों से ग्रहण कर लेना चाहिये। इसीको 'अनुवृत्ति' कहते हैं। इसके बाद सूत्र में आये हुए प्रत्याहार और पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करते हुए सूत्र का सम्पूर्ण भावार्थ दे देना चाहिये और अन्त में उपयुक्त उदाहरण देकर उस अर्थ की पुष्टि करना चाहिये। प्रस्तुत पुस्तक के किसी भी श्लोक की व्याख्या देखने से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

रूप-सिद्धि

पदों की रूप-सिद्धि दिखाते समय सबसे पहले मूल-रूप देना चाहिये। यदि पद सुबन्त या तिङन्त हो, तो यह भी बताना चाहिये कि वह किस प्रातिपदिक या धातु

का किस विभक्ति (तथा वचन) या लकार (तथा पुरुष और वचन) का रूप है। कृदन्त आदि प्रत्ययान्त पदों में भी मूल और प्रत्यय-विशेष का उल्लेख करना चाहिये। समस्तपदों में लौकिक और अलौकिक विग्रह देते हुए समास-विशेष का भी निर्देश करना चाहिये। इसके पश्चात् क्रमशः आवश्यक सूत्रों का उल्लेख करते हुए उनसे होनेवाले विकारों को स्पष्ट रूप से दिखलाना चाहिये। प्रस्तुत पुस्तक में रूप-सिद्धि दिखलाते समय इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है।

पूर्वाभास : पूर्वार्ध

संज्ञा-प्रकरण

पुस्तक का प्रारम्भ 'संज्ञा-प्रकरण' से होता है। इस प्रकरण में इत्, लोप, सवर्ण और संहिता आदि संज्ञाओं का वर्णन हुआ है, इसी से 'संज्ञा-प्रकरण' कहते हैं। किन्तु मुख्य रूप से इस प्रकरण से वर्ण-समुदाय (अल्फावेट) का विवेचन हुआ है।

अक्षरसमाम्नाय—पाणिनि मुनि ने सम्पूर्ण अक्षरसमाम्नाय (वर्ण-समुदाय) को चौदह सूत्रों में प्रकट किया है, जिन्हें 'माहेश्वर सूत्र' कहते हैं। ये सूत्र हैं—

अ इ उ ण् १। ऋ लृ क् २। ए ओ ङ् ३। ऐ औ च् ४। ह य व र ट् ५। ल ण् ६। ञ म ङ ण न म् ७। झ भ ञ् ८। घ ढ ध ष् ९। ज ब ग ड द श् १०। ख फ छ ठ थ च ट त व् ११। क प य् १२। श ष स र् १३। ह ल् १४।

इन सूत्रों को 'प्रत्याहार-सूत्र' भी कहते हैं, क्योंकि इन्हीं के आधार पर 'अण्' आदि प्रत्याहार भी बनते हैं।

प्रत्याहार बनाने का नियम—सूत्र या समुदाय के अन्त में आने वाले इत्संज्ञक (सामान्यतया हलन्त) वर्ण को जब उसके किसी पूर्ववर्ती वर्ण से मिला दिया जाता है, तब 'प्रत्याहार' बन जाता है। वह प्रत्याहार उस अन्त्य हलन्त वर्ण को छोड़कर आदि तथा मध्यवर्ती वर्णों का बोधक होता है।* उदाहरण के लिए माहेश्वर-सूत्र 'अ इ उ ण्' में अन्त्य इत्संज्ञक णकार को पूर्ववर्ती अकार के साथ मिलाने से 'अण्' प्रत्याहार बन जाता है। यह 'अण्' प्रत्याहार आदि—'अ' और मध्यवर्ती—'इ' और 'उ' का बोधक है।

वर्णों के भेद—वर्णों के मुख्यतः दो भेद हैं—स्वर और व्यंजन। प्रत्याहार-शैली में इन्हीं को क्रमशः 'अच्' और 'हल्' कहते हैं। स्वर (अच्) का अभिप्राय उस वर्ण से है जिसका उच्चारण अपने आप हो सके, जैसे—'अ', 'इ' आदि। व्यंजन (हल्) उसको कहते हैं जिसका उच्चारण बिना स्वर के संभव न हो, जैसे—क्, ख् आदि। ध्यान रहे कि 'क' (क् + अ) का उच्चारण स्वर 'अ' की सहायता से ही होता है। शुद्ध व्यंजन, यथा—क् ख् आदि का उच्चारण नहीं हो सकता। व्यंजन के इस स्वर-विहीन शुद्ध रूप को प्रकट करने के लिये उसके नीचे तिरछी रेखा (्) लगा देते हैं।

---

* विशेष विवरण के लिए ४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

स्वर तीन प्रकार के होते हैं—ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। स्वर के उच्चारण में यदि एक मात्रा का समय लगे तो उसे 'ह्रस्व' (जैसे—'अ') और यदि दो मात्रा का समय लगे तो उसे 'दीर्घ' (जैसे—'आ') कहते हैं। यदि तीन मात्रा का समय लगे तो 'प्लुत' कहलाता है। इस प्रकार के स्वर का प्रयोग प्रायः पुकारने में होता है, यथा—राम ३। इन तीनों प्रकार के स्वरों को पुनः उदात्त, अनुदात्त और स्वरित*—इन तीन भेदों में बांटा जाता है। अन्त में इन सभी प्रकार के स्वरों के दो अन्य भेद होते हैं—अनुनासिक और अननुनासिक। अनुनासिक उस स्वर को कहते हैं जिसके उच्चारण में नासिका से भी सहायता ली जाती है—यथा, एँ, आँ आदि। जिसके उच्चारण में नासिका से सहायता न ली जावे, उस सादे स्वर को 'अननुनासिक' कहते हैं, जैसे—ए, आ आदि। इन सभी भेदों का स्पष्टीकरण निम्न चक्र से भली भांति हो जाता है—

स्वरबोधक-चक्र

अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
१. ह्रस्व-उदात्त-अनुनासिक	७. दीर्घ-उदात्त-अनुनासिक	१३. प्लुत-उदात्त-अनुनासिक
२. ह्रस्व-उदात्त-अननुनासिक	८. दीर्घ-उदात्त-अननुनासिक	१४. प्लुत-उदात्त-अननुनासिक
३. ह्रस्व-अनुदात्त-अनुनासिक	९. दीर्घ-अनुदात्त-अनुनासिक	१५. प्लुत-अनुदात्त-अनुनासिक
४. ह्रस्व-अनुदात्त-अननुनासिक	१०. दीर्घ-अनुदात्त-अननुनासिक	१६. प्लुत-अनुदात्त-अननुनासिक
५. ह्रस्व-स्वरित-अनुनासिक	११. दीर्घ-स्वरित-अनुनासिक	१७. प्लुत-स्वरित-अनुनासिक
६. ह्रस्व-स्वरित-अननुनासिक	१२. दीर्घ स्वरित-अननुनासिक	१८. प्लुत-स्वरित-अननुनासिक

व्यंजनों के भी कई भेद हैं—'क' से लेकर 'म' पर्यन्त (अर्थात्—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के) वर्णों को 'स्पर्श' कहते हैं। य, र, ल, व—इन चार को 'अन्तःस्थ' तथा श, ष, स और ह को 'ऊष्म' कहते हैं।

वर्णों का स्थान—उच्चारण करते समय भीतर से आती हुई श्वास को मुख के अवयव-विशेषों से (और कभी-कभी नासिका से भी) विकृत करके निकाला जाता है। जिन-जिन अवयवों से विकार उत्पन्न किया जाता है, उनको नादों का 'स्थान' कहते हैं। संस्कृत वर्णों के स्थान इस प्रकार हैं—

अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह, विसर्ग — कण्ठ
इ, च, छ, ज, झ, ञ, य, श — तालु
उ, प, फ, ब, भ, म ⌣प, ⌣फ — ओष्ठ

---

* इनके स्पष्टीकरण के लिए ६–८ सूत्रों की व्याख्या देखिये।

ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष — मूर्धा

ऌ, त, थ, द, ध, न, ल, स — दन्त

(ञ, म, ङ, ण और न के उच्चारण में नासिका का भी प्रयोग होता है)

ए, ऐ — कण्ठतालु

ओ, औ — कण्ठोष्ठ

व — दन्तोष्ठ

⌣क, ⌣ख — जिह्वामूल

अनुस्वार — नासिका

वर्णों का यत्न—वर्णों के उच्चारण में जो चेष्टा करनी पड़ती है, उसे 'यत्न' कहते हैं। यह यत्न दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर (प्रयत्न) और बाह्य। वर्ण के मुख से बाहर निकलने के पहले ही मुख के भीतर जो यत्न होता है, उसे 'आभ्यन्तर यत्न' या 'प्रयत्न' कहते हैं। 'बाह्य यत्न' उस यत्न को कहते हैं जो मुख से वर्ण निकालते समय होता है।

आभ्यन्तर यत्न पांच प्रकार का है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत। बाह्य यत्न ११ प्रकार का होता है—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। वर्णों के आभ्यन्तर और बाह्य यत्न इस प्रकार हैं:—

आभ्यन्तरयत्न-बोधक चक्र

स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	विवृत	ईषद्विवृत	संवृत
क, ख, ग, घ, ङ	य	अ, ए	श,	प्रयोग में ह्रस्व अ
च, छ, ज, झ, ञ	र	इ, ओ	ष,	
ट, ठ, ड, ढ, ण	ल	उ, ऐ	स,	
त, थ, द, ध, न	व	ऋ, औ	ह,	
प, फ, ब, भ, म		ऌ		

बाह्ययत्न-बोधक चक्र

विवार, श्वास, अघोष	संवार, नाद, घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
क ख श	ग, घ, ङ, य	क, ग, ङ, य	ख, घ, श	अ, ए,
च छ ष	ज, झ, ञ, व	च, ज, ञ, व	छ, झ, ष	इ, ओ
ट ठ स	ड, ढ, ण, र	ट, ड, ण, र	ठ, ढ, स	उ, ऐ,
त थ	द, ध, न, ल	त, द, न, ल	थ, ध, ह	ऋ, औ
प फ	ब, भ, म, ह	प, ब, म	फ, भ	ऌ

सन्धि-विचार

'सन्धि' शब्द का साधारण अर्थ है—'मेल'। व्याकरण-शास्त्र में दो अक्षरों को मिलाने का कार्य 'सन्धि' कहलाता है।

सन्धि के विषय में नियम है :—

> 'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
> नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'

(एक पद के भिन्न-भिन्न अवयवों में, धातु और उपसर्ग में तथा समास में सन्धि अवश्य करना चाहिये; वाक्य के अलग-अलग शब्दों के बीच में सन्धि करना या न करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर है।)

सन्धि करने पर निम्नांकित परिवर्तन होते हैं :—

(क) प्रथम शब्द के अन्तिम अक्षर का, जैसे—
सस् + शम्भुः = स शम्भुः या द्वितीय शब्द के प्रथम अक्षर का, जैसे—
हरे + अव = हरेऽव। (लोप हो जाता है।)

(ख) दोनों के स्थान पर कोई नया वर्ण, यथा—
उप + इन्द्रः = उपेन्द्रः। अथवा दो में से किसी एक के स्थान पर नया वर्ण, यथा—
सुधी + उपास्यः = सुध्युपास्यः (आ जाता है।)

(ग) दो में से किसी एक का द्वित्व, जैसे—
प्रत्यङ् + आत्मा = प्रत्यङ्ङात्मा। (हो जाता है।)

सन्धि तीन प्रकार की होती है :—

१. अच्सन्धि (स्वर-सन्धि),
२. हल्सन्धि (व्यंजन-सन्धि)
३. विसर्ग-सन्धि।

अच्सन्धिप्रकरण

जब दो स्वरों में परस्पर सन्धि होती है, तो उसे 'स्वर-सन्धि' या 'अच्सन्धि' कहते हैं। इसके मुख्य नियम निम्नांकित हैं :—

१. यदि ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ तथा ऌ के पश्चात् कोई असवर्ण स्वर (यथा—'इ' के पश्चात् 'अ' या 'उ' के पश्चात् 'आ' आदि) आवे, तो इ, उ, ऋ तथा ऌ के स्थान पर क्रमशः य्, व्, र्, और ल् आदेश हो जाते हैं, जैसे—सुधी + उपास्यः = सुध्युपास्यः ।

२. यदि ए. ओ. ऐ और औ के पश्चात् कोई स्वर आवे, तो ए. ओ. ऐ तथा औ के स्थान पर क्रमशः अय्, अव्, आय् और आव् आदेश होते हैं, जैसे—हरे + ए = हरये । यकारादि प्रत्यय परे होने पर भी 'ओ' के स्थान पर 'अव्' और 'औ' के स्थान पर 'आव्' हो जाता है, जैसे—गो + यम् = गव्यम् । किन्तु पदान्त ए या ओ के बाद ह्रस्व 'अ' आने पर पूर्व-पर के स्थान पर पूर्वरूप ही होता है ।

३. यदि अ या आ के बाद (क) ह्रस्व इ या दीर्घ ई आवे, तो दोनों के स्थान पर 'ए' हो जाता है; (ख) यदि ह्रस्व उ या दीर्घ ऊ आवे, तो दोनों के स्थान पर 'ओ' हो जाता है; (ग) यदि ह्रस्व ऋ या दीर्घ ॠ आवे, तो दोनों के स्थान पर 'अर्' हो जाता है; (घ) यदि ऌ आवे, तो दोनों के स्थान पर 'अल्' हो जाता है, यथा—उप + इन्द्रः = उपेन्द्रः आदि । इसके कुछ अपवाद भी हैं :—

(१) जब 'प्र' के बाद ऊह, ऊढि आता है, तो पूर्व-पर के स्थान पर गुण न होकर वृद्धिस्वर (औ) होता है, यथा—प्र + ऊहः = प्रौहः ।

(२) 'अक्ष' शब्द से 'ऊहिनी' परे होने पर भी पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि (औ) होता है, जैसे—अक्ष + ऊहिनी = अक्षौहिणी ।

(३) तृतीया समास में अवर्ण से 'ऋत' शब्द परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि (आर्) आदेश होता है, जैसे—सुख + ऋतः = सुखार्तः (सुख से प्राप्त हुआ)

(४) अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर गुण न होकर वृद्धि (आर्) होता है, यथा—प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति ।

(५) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण और दश—इन शब्दों के बाद 'ऋण' शब्द आने पर भी वृद्धि (आर्) आदेश होता है, जैसे—प्र + ऋणम् = प्रार्णम् ।

४. यदि 'अ' या 'आ' के पश्चात् (क) 'ए' या 'ऐ' आवे, तो दोनों के स्थान पर 'ऐ' हो जाता है, और (ख) यदि 'ओ' या 'औ' आवे, तो दोनों के स्थान पर 'औ' हो जाता है, जैसे—देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम् आदि । किन्तु अवर्णान्त उपसर्ग के

बाद यदि एकारादि या ओकारादि धातु आवे, तो दोनों के स्थान पर पररूप ('ए' या 'ओ') आदेश होता है, यथा—प्र + एजते = प्रेजते। हां, अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् एकारादि 'इण्' (जाना) और 'एध्' (बढ़ना) धातुएँ आने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि (ऐ) आदेश ही होता है, जैसे—उप + एति = उपैति।

५. यदि ह्रस्व या दीर्घ अ, इ, उ, ऋ, तथा ऌ के अनन्तर क्रमशः ह्रस्व या दीर्घ अ, इ, उ, ऋ तथा ऌ ही आवें, तो दोनों के स्थान पर दीर्घ स्वर (यथा—आ, ई आदि) हो जाता है, यथा—दैत्य + अरिः = दैत्यारिः।

६. प्लुत और प्रगृह्य संज्ञक के बाद स्वर आने पर सन्धि-कार्य नहीं होता, जैसे—हरी + एतौ = हरी एतौ। पदान्त ओकारान्त 'गो' शब्द से ह्रस्व अकार परे होने पर भी विकल्प से सन्धि-कार्य नहीं होता, यथा—गो + अग्रम् = गो अग्रम्।

हल्सन्धि-प्रकरण

जब दो व्यंजनों या एक स्वर और दूसरे व्यंजन में परस्पर सन्धि होती है, तो उसे 'व्यंजन-सन्धि' या 'हल्सन्धि' कहते हैं। इसके विशेष नियम निम्नांकित हैं :—

१. जब सकार या तवर्ग का कोई व्यंजन शकार या चवर्ग के किसी व्यंजन के योग में आता है, तो सकार और तवर्ग के स्थान पर शकार और चवर्ग हो जाता है, जैसे—सत् + चित् = सच्चित्, रामस् + शेते = रामश्शेते आदि। किन्तु शकार से पर तवर्ग के स्थान पर चवर्ग नहीं होता, यथा—विश् + नः = विश्नः।

२. जब सकार या तवर्ग का कोई व्यंजन षकार या टवर्ग के किसी व्यंजन के योग में आता है, तो सकार और तवर्ग के स्थान पर क्रमशः षकार और टवर्ग हो जाते हैं, यथा—रामस् + टीकते = रामष्टीकते, तत् + टीका = तट्टीका आदि। किन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं :—

(क) यदि पदान्त टवर्ग से परे 'नाम', 'नवति' और 'नगरी' के नकार को छोड़कर अन्य कोई तवर्ग वर्ण या सकार हो, तो उसके स्थान पर टवर्ग या षकार आदेश नहीं होता, यथा—षट् + सन्तः = षट्सन्तः।

(ख) यदि तवर्ग के किसी व्यंजन के बाद षकार आवे, तो उस तवर्ग के स्थान पर टवर्ग नहीं होता, जैसे—सन् + षष्ठः = सन्षष्ठः।

३. पदान्त में आने वाले झल् वर्ण के स्थान पर जश् वर्ण हो जाता है,* यथा—वाक् + ईशः = वागीशः।

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६७ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

४. यदि हकार को छोड़कर अन्य किसी पदान्त व्यंजन के बाद कोई अनुनासिक वर्ण आवे, तो उस पदान्त व्यंजन के स्थान पर विकल्प से उसी वर्ग का अनुनासिक वर्ण हो जाता है, जैसे—एतद् + मुरारिः = एतन्मुरारिः (पक्ष में—'एतद्मुरारिः' भी) । हां, अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर हकार-भिन्न पदान्त व्यंजन के स्थान पर नित्य ही अनुनासिक आदेश होता है, यथा—तद् + मात्रम् = तन्मात्रम् ।

५. लकार परे होने पर त्, थ्, द् और ध् के स्थान पर लकार तथा नकार के स्थान पर 'लँ' हो जाता है, जैसे—तद् + लयः = तल्लयः ।

६. यदि उपसर्ग 'उद्' के पश्चात् 'स्था' या 'स्तम्भ' के रूप आवे, तो उनके सकार के स्थान पर थकार हो जाता है, जैसे—उद् + स्थानम् + उद् थ् थानम्' । 'उद्' के दकार को तकार तथा सकार के स्थान पर आदिष्ट थकार का विकल्प से लोप भी होता है । इस प्रकार दो रूप बनते हैं—उत्थानम्, उत्थ्थानम् ।

७. झश् परे होने पर झल् के स्थान पर जश् (वर्ग के तृतीय वर्ण) हो जाते हैं जैसे—एतत् + दुष्टम् = एतद्दुष्टम् । खर् परे होने पर झल् के स्थान पर चर् (वर्ग का प्रथम वर्ण) आदेश होता है, यथा—उद् + थानम् = उत्थानम् । किन्तु अवसान में झल् के स्थान पर चर् विकल्प से ही होता है, जैसे—रामाद् = रामात् या रामाद् ।*

८. यदि किसी वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण के पश्चात् हकार आवे तो उस हकार के स्थान पर विकल्प से उसी वर्ग का चतुर्थ वर्ण हो जाता है, यथा—वाग् + हरिः = वाग्घरिः ।

९. स्वर या ह्, य्, व्; र्, ल् अथवा अनुनासिक व्यंजन (ङ, ञ, ण, न, म) परे होने पर वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों के पश्चात् शकार के स्थान पर विकल्प से छकार होता है, जैसे—तच् + शिवः = तच्छिवः, तच्शिवः ।

१०. व्यंजन परे होने पर पदान्त मकार के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है, यथा—हरिम् + वन्दे = हरिं वन्दे । अपदान्त मकार और नकार के स्थान पर भी अनुस्वार हो सकता है, किन्तु इसके लिए उनके पश्चात् किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण अथवा श्, ष्, स्, ह् होना चाहिये, जैसे—यशान् + सि = यशांसि । हां, क्विप्-प्रत्ययान्त 'राज्' धातु परे होने पर 'सम्' के मकार के स्थान पर मकार ही रहता है, अनुस्वार नहीं होता, यथा—सम् + राट् = सम्राट् ।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए १९ वें, ७४ वें और १४६ वें सूत्रों की व्याख्या देखिये ।

११. किसी वर्ग का कोई वर्ण अथवा य् व् र् ल् परे होने पर अपदान्त अनुस्वार के स्थान पर उस वर्ग का पञ्चम वर्ण हो जाता है,* यथा—शां + तः = शान्तः। हां, पदान्त अनुस्वार के स्थान पर यह कार्य विकल्प से होता है, जैसे—त्वं + करोषि = त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

१२. यदि ङकार के पश्चात् सकार आवे, तो सकार को 'धुट्' (ध्) आगम हो जाता है। टित् होने से यह सकार का आद्यवयव बनता है यथा—षड् + सन्तः = षड् ध् सन्तः (= षट्त् सन्तः)। किन्तु ध्यान रहे कि यह कार्य विकल्प से ही होता है, अतः पक्ष में 'षड् + सन्तः' = षट् सन्तः' रूप ही रहता है। नकार के पश्चात् भी सकार को विकल्प से 'धुट्' (ध्) आगम होता है।

१३. श्, ष् या स् परे होने पर ङकार को 'कुक्' (क्) और णकार को टुक् (ट्) आगम विकल्प से होता है। कित् होने से ये आगम ङकार और णकार के अन्तावयव बनते हैं जैसे—प्राङ् + षष्ठः = प्राङ्क् षष्ठः (= प्राङ् क्षष्ठः)। पक्ष में 'प्राङ् षष्ठः' भी रहता है।

१४. शकार परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प से 'तुक्' (त्) आगम होता है। कित् होने से यह नकार का अन्तावयव बनता है, यथा—सन् + शम्भुः = सन् त् शम्भुः (= सञ्च्शम्भुः) आदि। पक्ष में 'सन् शम्भुः' = सञ्शम्भुः' भी रहता है।

१५. पदान्त ङकार के पश्चात् स्वर-वर्ण को 'ङुट्' (ङ्), पदान्त णकार के पश्चात् स्वर-वर्ण को 'णुट्' (ण्) और पदान्त नकार के पश्चात् स्वर-वर्ण 'नुट्' (न्) आगम होता है। टित् होने से ये सभी आगम आद्यवयव बनते हैं, यथा—प्रत्यङ् + आत्मा = 'प्रत्यङ्ङात्मा' आदि।

१६. सुट् परे होने पर 'सम्' के मकार के स्थान पर 'रु' (र्) और सकारोत्तरवर्ती अकार को विकल्प से अनुनासिक हो जाता है, यथा—सम् + स्कर्ता = सँर् स्कर्ता (= सँस्स्कर्ता)। पक्ष में अनुस्वार होकर 'संस्स्कर्ता' रूप बनता है।

१७. अम्परक (जिसके पश्चात् 'अम्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो, ऐसा) छ्, ठ्, थ्, च्, ट् या त् परे होने पर 'प्रशान्' शब्द को छोड़कर अन्य पदान्त नकार के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है, जैसे—चक्रिन् + त्रायस्व = चक्रिर् त्रायस्व (= चक्रिंस्त्रायस्व)।

१८. 'कान्' शब्द परे होने पर 'कान्' शब्द के नकार के स्थान पर 'रु' (र्) होता है, यथा—कान् + कान् = कार् कान् (= कांस्कान्, काँस्कान्)।

---

* विशेष विवरण के लिए ७९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

१९. छकार परे होने पर ह्रस्व को 'तुक्' (त्) आगम होता है। कित् होने से यह आगम ह्रस्व का अन्तावयव होता है, जैसे—शिव + छाया = शिवत् छाया (= शिवच्छाया)। हां, पदान्त दीर्घ को यह 'तुक्' (त्) आगम विकल्प से होता है, यथा—लक्ष्मी + छाया = लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मी छाया।

विसर्गसन्धि-प्रकरण

पदान्त सकार और सजुष् शब्द (तदन्त पद) के षकार के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है। खर् (वर्गों के प्रथम या द्वितीय वर्ण अथवा श्, ष्, स्) परे होने पर या अवसान में इस पदान्त रकार के स्थान पर विसर्ग हो जाते हैं, जैसे—रामस् + पठति = रामर् पठति = रामः पठति।

१. खर् (वर्गों के प्रथम या द्वितीय वर्ण अथवा श्, ष्, स्) परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार हो जाता है, यथा—विष्णुः + त्राता = विष्णुस्त्राता। इस नियम के दो अपवाद हैं—(क) श्, ष् या स् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग ही होता है, जैसे—हरिः + शेते = हरिः शेते। पक्ष में विसर्ग के स्थान पर सकार होता है, यथा—हरिस् शेते = 'हरिश्शेते'। हां, सम्, पुम् और कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान पर सकार ही आदेश होता है।

(ख) कवर्ग (क, ख) और पवर्ग (प, फ) परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से क्रमशः जिह्वामूलीय (ᳵ) और उपध्मानीय (ᳵ) आदेश होते हैं, यथा—नॄं + पाहि = नॄं ᳵ पाहि। पक्ष में विसर्ग के स्थान पर विसर्ग ही रहते रहते हैं, जैसे—नॄः पाहि।

२. ह्रस्व अकार या हश् (वर्णों के तृतीय, चतुर्थ या पञ्चम वर्ण अथवा ह, य, व, र, ल) परे होने पर ह्रस्व अकार के पश्चात् 'रु' (र्) के स्थान पर उकार हो जाता है, यथा—शिवस् + अर्च्यः = शिवर् अर्च्यः = शिव उ अर्च्यः (= शिवोऽर्च्यः)। यदि अश् (स्वर वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण तथा ह्, य्, व्, र्, ल्) परे हो, तो भो, भगो, अघो और अवर्ण के अनन्तर 'रु' (र्) के स्थान पर यकार आदेश होता है, जैसे—भोस् देवाः = भोर् देवाः = भोय् देवाः' (= भो देवाः)।

३. यदि पदान्त यकार के पूर्व भो, भगो, अघो या अवर्ण हो, तो उस पदान्त यकार का व्यञ्जन परे होने पर लोप हो जाता है, यथा—भोय् देवाः = भो देवाः।

४. यदि सुप्-प्रत्यय परे न हों, तो 'अहन्' शब्द के नकार को रकार हो जाता है, जैसे—अहन् + गणः = अहर्गणः।

५. रकार परे होने पर रकार का लोप हो जाता है, यथा—पुनर् + रमते = पुन रमते (= पुना रमते) ।

६. ढकार और रकार का लोप करनेवाले अर्थात् ढकार और रकार परे होने पर अ, इ और उ के स्थान पर क्रमशः दीर्घ आ, ई और ऊ हो जाते हैं, जैसे—पुन रमते = पुना रमते ।

७. यदि नञ् समास न हो, तो व्यञ्जन परे होने पर ककाररहित 'एतद्' और 'तद्' के 'सु' (प्रथमा विभक्ति के एकवचन) का लोप हो जाता है, यथा—सस् + शम्भुः = स शम्भुः । यदि पाद-पूर्ति लोप होने पर ही होती हो, तो स्वर परे होने पर भी 'सस्' के सकार का लोप होता है, जैसे—सैष दाशरथी रामः ।*

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ११४ वें और ११५ वें सूत्रों की व्याख्या देखिए ।

सुबन्त-विचार

'सुबन्त' उन शब्दों को कहते हैं, जिनके अन्त में कोई सुप्-प्रत्यय लगा होता है। इसके अन्तर्गत सभी संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण आ जाते हैं। ध्यान रहे कि संस्कृत भाषा में संज्ञा या सर्वनाम आदि का प्रयोग बिना सुप्-प्रत्ययों के नहीं हो सकता। विशेषण के रूप भी विशेष्य के अनुसार चलते हैं।

जिस मूल शब्द के पश्चात् सुप्-प्रत्यय जोड़कर रूप चलाते हैं, उसे 'प्रातिपदिक' कहते हैं, जैसे—रामः। प्रत्येक प्रातिपदिक के लिङ्ग के अनुसार तीन वचनों और सात विभक्तियों में रूप चलते हैं। हां, संख्यावाचक विशेषणों का रूप तीनों वचनों में न चलकर उस संख्या-विशेष के वचन के ही अनुसार चलता है।

लिङ्ग—संस्कृत में अंग्रेजी की भांति तीन लिङ्ग होते हैं—पुँल्लिङ्ग (मैस्कुलिन), स्त्रीलिङ्ग (फेमिनिन) और नपुंसकलिङ्ग (न्यूटर)। किन्तु अंग्रेजी के समान संस्कृत का यह लिङ्गभेद किसी स्वाभाविक स्थिति पर निर्भर नहीं है; ऐसा नहीं है कि सब नर चेतन पुँल्लिङ्ग शब्दों द्वारा दिखाये जाँय, मादा चेतन स्त्रीलिङ्ग द्वारा और निर्जीव वस्तुएँ नपुंसकलिङ्ग द्वारा। वस्तुतः जर्मन की भांति संस्कृत का लिङ्गभेद 'वास्तविक' (फैक्चुअल) न होकर 'रूढ़िगत' या 'फार्मल' है। उदाहरण के लिए शरीर-वाचक 'देह' पुंल्लिङ्ग, तनु 'स्त्रीलिङ्ग और स्वतः 'शरीर' नपुंसकलिङ्ग है। पाणिनि मुनि ने अपने 'लिङ्गानुशासन' में लिङ्ग-निर्धारण सम्बन्धी नियमों का वर्णन किया है। 'अमरकोश' आदि कोश-ग्रन्थों से भी उनका ज्ञान हो सकता है।

वचन—हिन्दी में दो वचन होते हैं—एकवचन और बहुवचन, किन्तु संस्कृत में तीन वचन होते हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। एक वस्तु का बोध कराने के लिए एकवचन, दो वस्तुओं का बोध कराने के लिए द्विवचन और दो से अधिक वस्तुओं का बोध कराने के लिए बहुवचन का प्रयोग होता है।

विभक्तियाँ—क्रिया की सिद्धि में जो सहायक होता है, उसे 'कारक' कहते हैं। ये कारक छः हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) कर्ता—कार्य को करनेवाले को कर्ता कहते हैं, जैसे—'मोहन जाता है।' यहाँ जाने का कार्य करनेवाला मोहन 'कर्ता' है।

(२) कर्म—कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है, उसे 'कर्म' कहते हैं* अथवा जिस पुरुष या वस्तु के ऊपर किसी क्रिया का

---

* देखिये ८९० वें सूत्र की व्याख्या।

फल या 'सीधा प्रभाव पड़ता है, वह उस क्रिया का कर्म होता है, यथा—'वह आम खाता है।' यहाँ खाना क्रिया का सीधा प्रभाव 'आम' पर पड़ता है, अतः 'आम' कर्म है।

(३) करण—जिसके द्वारा क्रिया की जावे या जिस साधन से कार्य का सम्पादन हो, उसे 'करण' कहते हैं, जैसे—'वह चाकू से कलम बनाता है।' यहाँ कलम बनाने की क्रिया चाकू द्वारा होती है, अतएव 'चाकू' करण-कारक है।

(४) सम्प्रदान—जिसको कोई वस्तु दी जावे या क्रिया के द्वारा जिसके अभिप्राय को भली प्रकार सिद्ध किया जावे, उसे 'सम्प्रदान' कहते हैं, यथा—'वह उपाध्याय के लिए (को) फल देता है।' यहां उपाध्याय को फल दिया जाता है, अतः 'उपाध्याय' सम्प्रदानकारक है।

(५) अपादान—जिस स्थान या वस्तु से कोई दूसरी वस्तु अलग (पृथक्) होती है, उस स्थान या वस्तु को 'अपादान' कहते हैं, जैसे—'वह ग्राम से आता है।' यहाँ किसी व्यक्ति-विशेष का ग्राम-विशेष से पृथक्त्व होता है, अतः 'ग्राम' अपादान-कारक है।

(६) अधिकरण—जिस स्थान पर कोई कार्य होता है या जिस शब्द से आधार का बोध होता है, उसे 'अधिकरण' कहते हैं, यथा—'वह मेज पर बैठता है।' यहाँ बैठना क्रिया का आधार 'मेज' है, अतः 'मेज' अधिकरण-कारक है।

इसके अतिरिक्त वाक्य में 'सम्बन्ध' और 'सम्बोधन' का भी प्रयोग होता है, किन्तु इनको 'कारक' नहीं माना जा सकता। 'सम्बन्ध' दो वस्तुओं के सम्बन्ध को प्रकट करता है और 'सम्बोधन' का प्रयोग किसी को पुकारने के लिए होता है। हिन्दी में इन सभी को 'ने' (कर्ता), 'को' (कर्म), 'से' (करण या अपादान) आदि चिह्नों से प्रकट किया जाता है, किन्तु संस्कृत में इनके लिए विभक्तियों का प्रयोग होता है। ये विभक्तियाँ सात हैं। षष्ठी को छोड़कर शेष छः विभक्तियाँ कर्ता, कर्म आदि कारकों का बोध कराती हैं। षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध को प्रकट करती है। 'सम्बोधन' के लिए कोई अलग विभक्ति नहीं है, उसे प्रथमा विभक्ति द्वारा ही प्रकट किया जाता है। इन कारकादि और विभक्तियों का सम्बन्ध इस प्रकार है—

कारक	विभक्ति	हिन्दी-चिह्न
कर्ता }	प्रथमा	ने (कभी-कभी कोई चिह्न नहीं)
(सम्बोधन) }	—	हे, अरे
कर्म	द्वितीया	को (कभी कभी कोई चिह्न नहीं)
करण	तृतीया	से, द्वारा (अंग्रेजी—With)
सम्प्रदान	चतुर्थी	को, के लिए

कारक	विभक्ति	हिन्दी-चिह्न
अपादान	पञ्चमी	से (अंग्रेजी—From)
(सम्बन्ध)	षष्ठी	का, की, के, ना, ने, नी, रा, रे, री
अधिकरण	सप्तमी	में, पर

यहां ध्यान रहे कि कारक और विभक्ति शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। यह आवश्यक नहीं कि कर्ता कारक सदैव प्रथमा विभक्ति में ही हो या कर्म कारक द्वितीया विभक्ति में ही। कर्मवाच्य में तो कर्ता कारक तृतीया विभक्ति में और कर्म कारक प्रथमा विभक्ति में होता है। भाव-वाच्य में भी कर्ता तृतीया विभक्ति में ही होता है। इसके अतिरिक्त कुछ अवस्थाओं में प्राप्त विभक्ति के स्थान पर किसी अन्य विभक्ति का प्रयोग होता है। अतः उपर्युक्त कारक-विभक्ति का सम्बन्ध कर्तृवाच्य या सामान्य अवस्थाओं में ही चरितार्थ होता है। विभक्ति-सम्बन्धी कुछ विशेष नियम इस पुस्तक के उत्तरार्ध के 'पूर्वाभास' के अन्तर्गत 'लकारों का प्रयोग' और 'विभक्त्यर्थ-प्रकरण' में दिये गये हैं। अधिक जानकारी और अनुवाद सम्बन्धी अभ्यासों के लिए श्री आप्टे कृत : संस्कृत निबन्ध-पथ-प्रदर्शक : संस्कृत-रचना (चौखम्बा प्रकाशित) देखना चाहिये।

सुप्-प्रत्यय—संस्कृत में प्रातिपदिक से सुप्-प्रत्यय लगाकर वचनों और विभक्तियों का बोध कराया जाता है। ये सुप्-प्रत्यय २१ हैं—'सु' से लेकर 'सुप्' तक। विभक्तियों और वचनों के अनुसार इनका वर्गीकरण इस प्रकार—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु (स्),*	औ,	जस् (अस्)
द्वितीया	अम्,	औट् (औ),	शस् (अस्)
तृतीया	टा (आ),	भ्याम्,	भिस्
चतुर्थी	ङे (ए),	भ्याम्,	भ्यस्
पञ्चमी	ङसि (अस्),	भ्याम्,	भ्यस्
षष्ठी	ङस् (अस्),	ओस्,	आम्
सप्तमी	ङि (इ),	ओस्,	सुप् (सु)

यहां ध्यान रहे कि प्रत्ययों में स्थित सकार और मकार इत्संज्ञक नहीं होते। प्रातिपदिक से इन प्रत्ययों के जुड़ते समय दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं—

(१) प्रत्यय-विशेष में परिवर्तन, यथा—राम + टा = राम + इन = रामेण,

(२) और कभी-कभी प्रातिपदिक-विशेष में परिवर्तन, जैसे—किम् + सु = क + सु = कः।†

---

* प्रयोग में आने वाले रूप कोष्ठक में दिये गये हैं।

† देखिये २७२ वें सूत्र की व्याख्या।

प्रत्यय सम्बन्धी सामान्य नियम:—

(१) यदि उपदेशावस्था* में प्रत्यय का स्वर अनुनासिक हो, तो वह अनुनासिक स्वर 'इत्' संज्ञक होता है और उसका लोप हो जाता है, जैसे—'सु' में उकार का और 'ङसि' में इकार का लोप हो जाता है।

(२) प्रत्यय के अन्त्य व्यंजन (हल्) का लोप हो जाता है, यथा—'सुप्' में अन्त्य पकार का। किन्तु विभक्ति में स्थित त्, थ्, द्, ध्, न्, म् और स् इत्संज्ञक नहीं होते, अतः इनका लोप भी नहीं होता। उदाहरण के लिए 'भ्यस्' में सकार का या 'भ्याम्' में मकार का लोप नहीं होता।

(३) प्रत्यय के आदि षकार का लोप हो जाता है, जैसे—'षाकन्' में आदि षकार का।

(४) प्रत्यय के आदि में आने वाले च्, छ्, ज्, झ्, ट्, ठ्, ड्, ढ् और ण् का लोप हो जाता है, जैसे—'टा' में टकार का लोप।

(५) तद्धित-प्रत्ययों को छोड़कर अन्य प्रत्ययों के आदि क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, ल्, और श् का लोप हो जाता है, यथा—'ङे,' 'ङसि,' 'ङस्' और 'ङि' में ङकार का लोप।

उपर्युक्त चौथे और पांचवे नियमों के कुछ अपवाद भी है:—

(क) प्रत्यय के आदि ढकार को 'एय्' और आदि खकार को 'ईन्', आदि छकार को 'ईय्', आदि घकार को 'इय्' और आदि फकार को 'आयन्' हो जाता है, यथा—'ढक्' के ढकार के स्थान पर 'एय्' हो जाता है।

(ख) प्रत्यय के ठकार के स्थान पर साधारणतया 'इक्' होता है, जैसे—'ठक्' प्रत्यय के ठकार को 'इक्' हो जाता है। किन्तु जिन शब्दों के अन्त में इस्, उस्, उ, ऋ, ऌ या तकार हो उनके पश्चात् प्रत्यय के ठकार के स्थान पर ककार हो जाता है, यथा—सक्तु + ठक् = सक्तु + क (= साक्तुकम्)।

अजन्त-पुँल्लिङ्ग-प्रकरण

इस प्रकरण में स्वरान्त (जिनके अन्त में अ, आ, इ आदि कोई स्वर हो, यथा—राम, हरि आदि) पुँल्लिङ्ग संज्ञाओं, सर्वनामों और कतिपय संख्यावाचक विशेषणों के रूप बताये गये हैं। इन सभी को अकारान्त आदि वर्गों में विभाजितकर माहेश्वर सूत्रस्थ क्रम से दिखाया गया है। प्रत्येक वर्ग के एक ही प्रातिपदिक का विवेचन हुआ है, यथा—अकारान्त वर्ग में 'राम', आकारान्त वर्ग में 'विश्वपा', आदि। उस वर्ग में आने वाले अन्य प्रातिपदिकों के रूप उसी प्रतिनिधि प्रातिपदिक के समान बनते हैं। उदाहरण के लिए अकारान्त-पुंल्लिङ्ग वर्ग में आने वाले बालक,

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए २८ वां सूत्र देखिये।

अश्व, सूर्य, चन्द्र, नर, देव आदि शब्दों के रूप 'राम' के ही समान बनेंगे। कौन प्रातिपदिक किस वर्ग में आता है—इसका निर्णय उसके अन्तिम वर्ण और लिङ्ग के अनुसार होता है।

कुछ आवश्यक नियम नीचे दिये जा रहे हैं :—

१. प्रातिपदिक के अकार, इकार, उकार, ऋकार और ऌकार के पश्चात् यदि प्रथमा या द्वितीया विभक्ति का कोई स्वर-वर्ण (यथा—औ, अस्, अम् आदि) आता है, तो साधारणतया पूर्व और पर के स्थान पर पूर्व सवर्ण दीर्घ (अकार आदि पूर्व वर्णों का सवर्ण दीर्घ, यथा—आकार, ईकार आदि) हो जाता है, यथा—हरि + औ = हरी, किन्तु अवर्ण के पश्चात् अकार-भिन्न स्वर आने पर ऐसा नहीं होता।* उदाहरण के लिए 'राम + औ' में पूर्वसवर्ण दीर्घ न होकर वृद्धि हो 'रामौ' रूप बनता है। अ, इ, उ, ऋ और ऌ के पश्चात् 'अम्' आने पर भी पूर्वरूप एकादेश होता है, यथा - राम + अम् = रामम्।

२. ह्रस्वान्त और एकारान्त या ओकारान्त अङ्ग के पश्चात् सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन 'सु' (स्) का लोप हो जाता है, जैसे—हे राम + सु = हे राम !

३. अकारान्त से पर टा को इन, ङसि को आत् और ङस् को स्य हो जाता है, यथा—राम + टा = राम + इन = रामेण, आदि।

४. अकारान्त के पश्चात् 'भ्याम्' आने पर अकारान्त को दीर्घ हो जाता है, जैसे—राम + भ्याम् = रामाभ्याम्।

५. अकारान्त से पर 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' होता है, यथा—राम + भिस् = राम + ऐस् (= रामैः)।

६. अकारान्त से पर 'ङे' के स्थान पर 'य' होता है, जैसे—राम + ङे = राम + य (= रामाय)।

७. 'भ्यस्' या 'सुप्' (सप्तमी का बहुवचन) परे होने पर अकारान्त अङ्ग के अन्त्य अकार के स्थान पर एकार हो जाता है, यथा—राम + भ्यस् = रामेभ्यः।

८. 'ओस्' परे होने पर अकारान्त अङ्ग को एकार अन्तादेश होता है, जैसे—राम + ओस् = रामे + ओस् (= रामयोः)।

९. ह्रस्वान्त, नद्यन्त (जिसके अन्त में दीर्घ ईकारान्त या ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द हो) और आबन्त (जिसके अन्त में चाप्, टाप् या डाप् प्रत्यय हो) अङ्ग के पश्चात् 'आम्' को 'नुट्' (न्) आगम होता है। टित् होने से वह 'आम्' का आद्यवयव बनता है, यथा राम + आम् = राम + न् आम् = 'राम + नाम्'।

---

* किसी भी दीर्घ स्वर के पश्चात् अवर्ण-भिन्न स्वर आने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता, जैसे—'विश्वपा + औ' में दीर्घ न होकर वृद्धि हो 'विश्वपौ' रूप बनता है।

इस 'नाम्' के परे होने पर अङ्ग के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो जाता है, जैसे—राम + नाम् = रामानाम् (= रामाणाम्) ।

१०. अकारान्त सर्वनाम से पर 'जस्' के स्थान पर 'शी' (ई) हो जाता है, यथा—सर्व + जस् = सर्व + ई = सर्वे ।

११. अकारान्त सर्वनाम के अनन्तर 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' होता है, जैसे—सर्व + ङे = सर्वस्मै ।

१२. अकारान्त सर्वनाम के पश्चात् 'ङसि' को 'स्मात्' और 'ङि' को 'स्मिन्' हो जाता है; यथा—सर्व + ङसि = सर्वस्मात्, आदि ।

१३. अकारान्त या आकारान्त सर्वनाम के पश्चात् 'आम्' को 'सुट्' (स्) आगम होता है, जैसे—सर्व + स् आम् = सर्व + साम् । इस स्थिति में १४५ वें सूत्र से अङ्ग के अन्त्य अकार को एकार हो 'सर्वेसाम्' (= सर्वेषाम्) रूप बनता है ।

१४. 'जस्' या सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन–'सु' परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है, यथा—हरि + अस् (जस्) = हरे + अस् (= हरयः), आदि ।

१५ नदीसंज्ञक और सखि शब्दों को छोड़कर ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों से पर 'टा' को 'ना' हो जाता है, जैसे—हरि + टा = हरिना (= हरिणा) । ङस्, ङसि, ङे और ङि प्रत्यय परे होने पर इन इकारान्त और उकारान्त शब्दों के अन्तिम स्वर को गुण होता है, यथा—हरि + ए (ङे) = हरे + ए = 'हरये' आदि । इन ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों से पर 'ङि' को 'औ' होता है तथा अङ्ग के अन्त्य स्वर को अकार, जैसे—हरि + ङि = हर + औ (= हरौ) ।

१६. एकार और ओकार से 'ङसि' और 'ङस्' का अकार परे होने पर पूर्वरूप एकादेश होता है, यथा—हरे + अस् = हरेः ।

१७. ह्रस्व इकार और उकार के पश्चात् 'ङि' को 'औ' हो जाता है, जैसे—सखि + ङि = सखि + औ (= सख्यौ) ।

१८. षट्संज्ञक शब्दों से पर 'जस्' और 'शस्' का लोप हो जाता है, यथा—कति + जस् = कति ।

१९. आम्' परे होने पर 'त्रि' को 'त्रय' आदेश होता है, जैसे—त्रि + आम् = त्रय + आम् (= त्रयाणाम्)

२० सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन-'सु' परे होने पर 'अम्बा' (माता) अर्थ वाले और नदीसंज्ञक अङ्ग को ह्रस्वादेश होता है, यथा—हे बहुश्रेयसी + स् = हे बहुश्रेयसि !

२१. नद्यन्त (जिसके अन्त में नदीसंज्ञक शब्द), आबन्त और 'नी' शब्दों से पर 'ङि' को 'आम्' हो जाता है—बहुश्रेयसी + ङि = बहुश्रेयसी + आम् (= बहुश्रेयस्याम्) ।

२२. नद्यन्त शब्दों से पर ङे, ङसि, ङस् और ङि को 'आट्' (आ) आगम होता है और टित् होने से यह उनका आद्यवयव बनता है। इस 'आट्' (आ) से कोई स्वर परे होने पर वृद्धि एकादेश होता है, जैसे—बहुश्रेयसी + ए (ङे) = बहु-श्रेयसी + आ ए = बहुश्रेयसी + ऐ = बहुश्रेयस्यै।

२३. ङि और सर्वनामस्थान परे होने पर ऋकारान्त अङ्ग को गुण (अर्) होता है, यथा—'क्रोष्टृ + औ = क्रोष्टर् औ (= क्रोष्टारौ)।

२४. ङसि या ङस् परे होने पर ऋकारान्त अङ्ग के अन्त्य ऋकार और ङस् या ङसि के आदि अकार-दोनों के स्थान पर 'उर्' होता है, यथा—कोष्टृ + अस् (ङस् या ङसि) = क्रोष्टुर् स् (= क्रोष्टुः)।

२५. सर्वनामस्थान प्रत्यय परे होने पर ओकारान्त शब्द को वृद्धि अन्तादेश होता है, जैसे—गो + स् = गौः, किन्तु 'अम्' और 'शस्' का अकार परे रहते आकार अन्तादेश होता है, जैसे—गो + अम् = गाम्।

२६. प्रातिपदिक संज्ञक पद के अन्त्य नकार का लोप होता है, यथा—सखान् = सखा।*

अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण

इस प्रकरण में स्वरान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बताये गये हैं। प्रकरण का प्रारम्भ अकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'रमा' से होता है। कुछ विशेष नियम इस प्रकार हैं—

१. आबन्त अङ्ग (जिसके अन्त में चाप्, टाप् या डाप् प्रत्यय हो) से पर 'औ' और 'औट्' के स्थान पर 'शी' (ई) हो जाता है, जैसे—रमा + औ = रमा + ई = रमे।

२. सम्बुद्धि (सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन–'सु'), टा और ओस् परे होने पर आबन्त अङ्ग को एकार अन्तादेश होता है, यथा—रमा+आ (टा) = रमे + आ = रमया।

३. आबन्त अङ्ग से पर ङे, ङसि, ङस् और ङि को 'याट्' (या) आगम होता है। टित् होने से यह उनका आद्यवयव बनता है, जैसे—रमा या ए (= रमायै)। आबन्त सर्वनाम से पर इन प्रत्ययों को 'स्याट्' (स्या) आगम होता है और आप् (चाप्, टाप् तथा डाप्) को ह्रस्वादेश, यथा—सर्वा+ए (ङे) = सर्व स्या ए = सर्वस्यै।

४. नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से पर 'ङि' को 'आम्' होता है, जैसे—मति + ङि = मति + आम् = मत्याम्।

* किन्तु 'ङि' और सम्बुद्धि परे होने पर इस नकार का लोप नहीं होता। हां, उत्तरपद-परक 'ङि' परे होने पर नकार-लोप का निषेध नहीं होता।

५. स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' के स्थान पर 'तिसृ' और 'चतुर्' के स्थान पर 'चतसृ' हो जाता है। स्वरादि सुप्-प्रत्यय परे होने पर इन 'तिसृ' और 'चतसृ' शब्दों के ऋकार को रकार हो जाता है, यथा—तिसृ + अस् (जस्) = तिस् र् अस् = तिस्रः। 'आम्' परे होने पर 'तिसृ' और 'चतसृ' को दीर्घादेश नहीं होता, जैसे—तिसृ + आम् = तिसृ + नाम् = तिसृणाम्।

६. स्वरादि सुप्-प्रत्यय परे होने पर 'स्त्री' शब्द के ईकार को साधारणतः 'इय्' हो जाता है, यथा—स्त्री + औ = स्त्रिय् औ (= स्त्रियौ), किन्तु 'अम्' और 'शस्' परे रहते यह आदेश विकल्प से होता है, जैसे—स्त्री + अम् = स्त्रियम्, स्त्रीम्।

७. ऋकारान्त और नकारान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है, जैसे—कर्तृ + ङीप् = कर्त्री।

८. षट्संज्ञक और स्वसृ आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में भी 'ङीप्' और 'टाप्' (आ) प्रत्यय नहीं होते।*

अजन्त-नपुंसक-लिङ्ग-प्रकरण

इस प्रकरण में स्वरान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों के रूप बताये गये हैं। कुछ विशेष नियम निम्नांकित हैं :—

१. अकारान्त नपुंसकलिङ्ग से पर 'सु' को 'अम्' हो जाता है, यथा—ज्ञान + सु = ज्ञान + अम् = ज्ञानम्।

२. नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से पर 'औ' और 'औट्' के स्थान पर 'शी' (ई) होता है, जैसे—ज्ञान + औ = ज्ञान + ई (= ज्ञाने)।

३. नपुंसकलिङ्गवाची प्रातिपदिक से पर 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'शि' (इ) आदेश होता है और 'शि' परे होने पर झलन्त (जिस के अन्त में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय तृतीय या चतुर्थ वर्ण अथवा श्, ष्, स्, ह् हो) और स्वरान्त अङ्ग के अन्तिम स्वर के पश्चात् 'न्' (नुम्) आता है, जैसे—ज्ञान + जस् = ज्ञान + इ = ज्ञानन् इ (= ज्ञानानि)।

४. साधारणतया डतर-प्रत्ययान्त, डतम-प्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर और इतर—पांच नपुंसकलिङ्गी शब्दों से पर 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अद्' (अद्ड्) होता है और इस 'अद्' के परे होने पर भसंज्ञक टि का लोप हो जाता है, यथा—कतर + सु = कतर + अद् = कतर् अद् (= कतरद्, कतरत्)। हां, 'एकतर' शब्द से पर 'सु' और 'अम्' को 'अद्' नहीं होता।

५. ह्रस्व अकारान्त शब्दों को छोड़कर अन्य सभी नपुंसकलिङ्गवाची शब्दों से पर 'सु' और 'अम्' का लोप हो जाता है, जैसे—वारि + सु = वारि।

* विशेष विवरण के लिए २३३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

६. दीर्घ स्वरान्त प्रातिपदिक नपुंसकलिङ्ग में ह्रस्वान्त हो जाता है, यथा—श्रीपा = श्रीप। ए और ऐ के स्थान पर ह्रस्व इकार तथा ओकार और औकार के स्थान पर ह्रस्व उकार होता है।

७. स्वरादि सुप्-प्रत्यय परे होने पर इगन्त अङ्ग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ या ऌ हो) के अन्त्य स्वर के बाद 'न्' (नुम्) आ जाता है, जैसे—वारि + औ = वारि + ई (शी) = वारिन् ई (= वारिणी)।

८. 'अजन्त-पुँल्लिङ्ग-प्रकरण' में दिये हुए सामान्य नियम यहां भी प्रवृत्त होते हैं।

हलन्त-पुँल्लिङ्ग-प्रकरण

इस प्रकरण में व्यंजनान्त (जैसे—हकारान्त, रकारान्त आदि) शब्दों के रूप बताए गये हैं। इसका प्रारम्भ हकारान्त शब्द 'लिह्' से होता है। कुछ विशेष नियम नीचे दिये जा रहे हैं :—

१. पदान्त में या झलादि (जिसके आदि में कोई 'झल्' वर्ण हो) प्रत्यय परे होने पर हकार को ढकार हो जाता है, यथा—लिह्+स् = लिह् = लिढ् (= लिड्, लिट्), किन्तु दकारादि धातु के हकार के स्थान पर घकार होता है, जैसे—दुह्+स् = दुह् = दुघ् (= धुक्, धुग्)। द्रुह्, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह्—इन शब्दों के हकार के स्थान पर पदान्त में या झलादि प्रत्यय परे होने पर विकल्प से घकार होता है, जैसे—द्रुह् = द्रुघ् (= ध्रुक्, ध्रुग्) या द्रुढ् (= ध्रुट्, ध्रुँड्)।

२. भसंज्ञक 'वाह्'—शब्दान्त अङ्ग के अवयव 'वाह्' के स्थान पर सम्प्रसारण 'ऊठ्' (ऊ) होता है, यथा—विश्ववाह् + अस् (शस्) = विश्व ऊ आह अस्। यहां सम्प्रसारण 'ऊ' के पश्चात् स्वर होने से पूर्व-पर के स्थान पर पूर्वरूप 'ऊ' हो जाता है, जैसे—विश्व ऊह् अस् = विश्वौहः।

३. सर्वनामस्थान परे होने पर चतुर् और अनडुह् शब्दों के अन्तिम स्वर के पश्चात् 'आ' ('आम्') आ जाता है, यथा—अनडुह् + स् = अनडु आ ह् स्। यहाँ 'सु' परे होने के कारण 'अनडुह्' शब्द के अन्त्य स्वर के पश्चात् पुनः 'न्' (नुम्) आ जाता है, जैसे—अनडुआह् + स् = अनडुआ न् ह् स् (= अनड्वान्) सम्बुद्धि (सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन—'सु') परे होने पर 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दों के अन्त्य स्वर के पश्चात् पहले 'अ' (अम्) होता है और फिर 'न्' (नुम्), यथा—हे अनडुह् + स् = हे अनडु अ ह् स् = हे अनडु अन् ह् स् (= अनड्वन्)।

४. 'सु' परे होने पर 'दिव्' या 'दिव्-शब्दान्त प्रातिपदिक के वकार को औकार हो जाता है, यथा—सुदिव् + स् = सुदिऔस् (= सुद्यौः)। पदान्त में 'दिव्' या दिव्-शब्दान्त के वकार को उकार होता है, जैसे—सुदिव्भ्याम् = सुदिउभ्याम् (= सुद्युभ्याम्)।

५. षट्संज्ञक और 'चतुर्' शब्द से पर 'आम्' को 'नुट्' (न्) आगम होता है। टित् होने से यह 'आम्' का आद्यवयव बनता है, यथा—चतुर् आम् = चतुर् न् आम् (= चतुर्णाम्)।

६. सुप्-प्रत्यय परे होने पर 'किम्' शब्द को 'क' हो जाता है और उसके रूप अकारान्त सर्वनाम की भाँति बनते हैं, यथा—किम् + स् = कस् = कः, आदि।

७. 'सु' परे होने पर 'इदम्' का मकार मकार ही रहता है, किन्तु अन्यत्र उसको अकार हो जाता है। 'सु' परे रहते पुंल्लिङ्ग में 'इदम्' के 'इद्' भाग को 'अय्' हो जाता है, जैसे—इदम् + स् = अय् अम् स् = अयम्। 'सु' को छोड़कर प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के अन्य प्रत्यय परे होने पर 'इदम्' के दकार को मकार होता है, जैसे—इदम् + औ = इद औ = इम् अ औ = इमौ। तृतीया विभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति तक के स्वरादि प्रत्यय परे होने पर ककार रहित 'इदम्' के 'इद्' भाग को 'अन्' तथा व्यंजनादि प्रत्यय परे होने पर ककार रहित 'इदम्' के 'इद्' भाग का लोप हो जाता है, यथा—इदम् + आ (टा) = इद आ = अन् अ आ = अन + इन = अनेन। ककार रहित 'इदम्' और 'अदस्' से पर 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं होता। अन्वादेश के विषय में द्वितीया विभक्ति (सभी वचन), टा और ओस् परे होने पर 'इदम्' और 'एतद्' के स्थान पर 'एन' आदेश होता है।

८. 'मघवन्' शब्द के नकार के स्थान पर विकल्प से तकार भी होता है और इस प्रकार 'मघवन्' तथा 'मघवत्'—दोनों प्रकार से रूप चलते हैं।

९. 'सु' परे होने पर पथिन्, मथिन्, और ऋभुक्षिन् (इन्द्र) शब्दों के अन्त्य नकार को आकार होता है, यथा—पथिन् + स् = 'पथि आ स्'। 'सु' या अन्य सर्वनामस्थान परे होने पर पथिन् आदि शब्दों के इकार को अकार हो जाता है तथा 'पथिन्' और 'मथिन्' के थकार को 'न्थ्', जैसे—पथि आस् = पथ आस् = पन्थ आ स् (= पन्थाः)। भसंज्ञक पथिन् आदि की 'टि' का लोप हो जाता है, यथा—पथिन् + अस् (शस्) = पथ् अस् (= पथः)।

१०. व्यंजनादि विभक्ति परे होने पर 'अष्टन्' शब्द के स्थान पर विकल्प से आकार अन्त्यादेश होता है। जस् और शस् परे होने पर भी 'अष्टन्' के नकार को विकल्प से आकार होता है और आकारादेश होने पर उसके पश्चात् 'जस्' और शस् को 'औश्' (औ) हो जाता है, जैसे—'अष्टन् + अस् (शस्) = अष्टा + अस् = अष्टा औ (= अष्टौ)।

११. समास को छोड़कर अन्यत्र सर्वनामस्थान परे होने पर 'युज्' के अन्त्य स्वर के पश्चात् 'न्' (नुम्) आ जाता है, यथा—युज् + स् = युन् ज स् = युन् ज न् (= युङ्)।

१२. त्यद् , तद् , यद् और एतद्—इन को विभक्ति परे होने पर पहले अकार अन्तादेश होता है। 'सु' परे होने पर पुनः इन के अनन्त्य (अन्त में न आने वाले) तकार या दकार को सकार हो जाता है, जैसे—त्यद् + स् = त्य + स् = स्यः। शेष कार्य अकारान्त सर्वनाम के समान ही हैं।

१३. एकवचन में सु, ङे, ङस् को छोड़कर अन्यत्र सभी स्थलों पर 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग—'युष्म्' और 'अस्म्' के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं 'सु' परे होने पर उनको क्रमशः 'त्व' और 'अह', 'ङे' परे होने पर 'तुभ्य' और 'मह्य' तथा 'ङस्' परे होने पर 'तव' और 'मम' हो जाता है।

द्विवचनों में सर्वत्र ही मपर्यन्त भाग—युष्म् और अस्म् को क्रमशः 'युव' और 'आव' आदेश होते हैं। बहुवचन में 'जस्' को छोड़कर अन्यत्र मपर्यन्त भाग को कोई आदेश नहीं होता। हां, 'जस्' परे होने पर मपर्यन्त भाग—युष्म् और अस्म् के स्थान पर क्रमशः 'यूय' और 'वय' हो जाते हैं।

'युष्मद्' और 'अस्मद्' के पश्चात् सु, औ, जस् , अम् , औट् और ङे के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है। शस् (अस्) के अकार को नकार हो जाता है। 'साम्' (आम्) को 'आकम्', भ्यस् (चतुर्थी के बहुवचन) को 'अभ्यम्', ङसि और भ्यस् (पञ्चमी के बहुवचन) को 'अत्' तथा ङस् को 'अश्' (अ) हो जाता है।

औ, अम् , औट् , शस् , भ्याम् , भिस् और सुप् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् के दकार को आकार हो जाता है। टा, ओस् तथा ङि परे होने पर उस दकार को यकार आदेश होता है। सु, जस् , ङे, भ्यस् , ङसि, ङस् और आम् परे होने पर उस दकार का लोप हो जाता है।

१४. 'पाद्'-शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' को 'पद्' हो जाता है, यथा—सुपाद् + शस् = सुपद् + शस् = सुपदः।

१५. 'सु' परे होने पर 'अदस्' शब्द के अन्त में आनेवाले सकार को औकार आदेश तथा 'सु' का लोप होता है, यथा—अदस् + सु = अद औ (= असौ)। अन्यत्र 'अदस्' के सकार को अकार हो जाता है। इस अवस्था में बहुवचन में 'अदस्' शब्द के दकार से पर एकार को ईकार तथा स्वयं दकार को मकार हो जाता है, जैसे—अदस् + जस् = अदे = अम् ई = अमी। अन्य स्थलों पर 'अदस्' के दकार से पर ह्रस्व को उकार और दीर्घ को ऊकार तथा स्वयं दकार को मकार होता है, यथा—'अदस् + औ' = अदौ = अमू।

हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरण

इस प्रकरण में व्यञ्जनादि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बताये गये हैं। प्रकरण का प्रारम्भ 'उपानह्' (जूता) से होता है। कुछ विशेष नियम ये हैं—

१. सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् परे होने पर 'नह्' के हकार को धकार हो जाता है, जैसे—उपानह्+स् = उपानध् (= उपानद्, उपानत्)।

२. स्त्रीलिङ्ग में 'सु' परे होने पर 'इदम्' के दकार को यकार हो जाता है, यथा—इदम्+सु = इयम्। अन्यत्र 'इदम्' के मकार को अकार आदेश होता है।

३. भकारादि सुप्-प्रत्यय परे होने पर 'अप्' के पकार को तकार हो जाता है, जैसे—अप्+भिस् = अत् भिस् (= अद्भिः)।

हलन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरण

इस प्रकरण का प्रारम्भ हकारान्त 'स्वनडुह्' (अच्छे बैलोंवाला कुल आदि) से होता है। इसके अन्तर्गत व्यञ्जनादि नपुंसकलिङ्गवाची शब्दों का विवेचन हुआ है। 'अजन्तनपुंसकलिङ्ग-प्रकरण' में बताये गये प्रत्यय सम्बन्धी सामान्य नियम यहाँ भी चरितार्थ होते हैं। अन्य कुछ विशेष नियम निम्नांकित हैं—

१. पदान्त में 'अहन्' शब्द के नकार को 'रु' हो जाता है, यथा—अहन्+भ्याम् = अहरु भ्याम् = अह उ भ्याम् (= अहोभ्याम्)।

२. सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन-'सु' परे होने पर नपुंसकलिङ्गवाची शब्दों के नकार का विकल्प से लोप होता है, जैसे—हे दण्डिन्+स् = हे दण्डिन्, हे दण्डि!

अव्यय-प्रकरण

जो शब्द तीनों लिङ्गों, सातों विभक्तियों और तीनों वचनों में एक समान रहता है अर्थात् किसी प्रकार का उसमें परिवर्तन नहीं होता उसे 'अव्यय' कहते हैं। इसके अन्तर्गत निम्नांकित शब्द आते हैं :—

१. स्वरादि और निपात।

२. वे तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द, जिनके रूप सभी विभक्तियों में नहीं चलते।

३. वे शब्द, जिनके अन्त में मकारान्त या एकारान्त, ओकारान्त, ऐकारान्त और औकारान्त कृत्-प्रत्यय हों।

४. क्त्वा-प्रत्ययान्त, तोसुन्-प्रत्ययान्त और कसुन्-प्रत्ययान्त शब्द, और अव्ययीभावसमास।

५. अव्यय-संज्ञक शब्द से विहित 'आप्' (टाप्, डाप् आदि स्त्रीप्रत्यय) और (सु, औ, जस्, अम्, औट् आदि) प्रत्ययों का लोप हो जाता है। इस प्रकार इन अव्ययों के रूप नहीं चलते।

---

* कहा भी है—'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥'

† विशेष विवरण के लिए ३६७ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

उत्तरार्ध पूर्वाभास

तिङन्त-प्रकरण

धातुएं—जिस प्रकार प्रातिपदिक से संज्ञाएं और विशेषण आदि बनते हैं, उसी प्रकार धातुओं से क्रियाओं का निर्माण होता है। क्रियावाचक प्रकृति को ही 'धातु' कहते हैं, जैसे—'भू' (होना), 'श्रु' (सुनना) आदि। इन धातुओं का संग्रह हमें पाणिनि मुनि कृत 'धातुपाठ' में मिलता है। सुविधा के लिए इन सभी धातुओं को दस वर्गों में बांटा गया है जिन्हें 'गण' कहते हैं। इन का विवरण इस प्रकार है:—

(१) भ्वादिगण—इस गण की प्रथम धातु 'भू' है, इसी से इसको 'भ्वादिगण' कहते हैं। दसों गणों में यह प्रमुख है। 'धातुपाठ' में इसके अन्तर्गत १०३५ धातुएं गिनाई गई हैं। उनमें से ४८ धातुओं का उल्लेख 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में हुआ है। उल्लिखित धातुएं ये हैं :—

(क) **परस्मैपदी**—१. भू (होना). २—अत (अत्-निरन्तर जाना), ३—षिध (सिध् जाना), ४—चिती (चित्-होश में आना), ५—शुच (शुच्-शोक करना), ६-गद (गद्-स्पष्ट बोलना), ७-णद (णद्-अस्पष्ट बोलना, नाद करना), ८—टुनदि (टुनद्-समृद्ध होना), ९—अर्च (अर्च्-पूजा करना), १०—व्रज (व्रज्-जाना), ११—कटे (कट्-बरसना, ढकना), १२—गुपू (गुप्-रक्षा करना), १३—क्षि (नाश होना), १४—तप (तप्-तपना), १५—क्रमु (क्रम्-पैर रखना, चलना), १६—पा (पीना), १७—ग्लै (हर्ष का नाश होना, ग्लानि करना), १८—ह्वृ (कुटिल आचरण करना), १९-श्रु (सुनना) और २०—गम्लृ (गम्-जाना)।

(ख) **आत्मनेपदी**—१—एध (एध्-बढ़ना), २—कमु* (कम्-इच्छा करना), ३—अय (अय्-जाना), ४—द्युत (द्युत्-चमकना), ५—श्विता (श्वित्-श्वेत रंग में रंगना), ६—ञिमिदा (ञिमिद्-चिकना होना), ७—ञिष्विदा या ञिक्ष्विदा (ञिष्विद् या ञिक्ष्विद्-पसीना आना, पसीना निकलना), ८—रुच (रुच्-चमकना, अच्छा लगना), ९—घुट (घुट्-घोटना), १०—शुभ (शुभ्-शोभित होना), ११—क्षुभ (क्षुभ्-विचलित होना, व्याकुल होना), १२—णभ (णभ्-हिंसा करना), १३—तुभ (तुभ्-हिंसा करना), १४—स्रंसु (स्रंस्-गिरना),

---

* कोष्ठक में धातुओं के जो रूप दिये गये हैं वे अनुबन्ध-रहित हैं। व्यवहार में इन का ही प्रयोग होता है।

१५—भ्रंसु (भ्रंस्-गिरना), १६—ध्वंसु (ध्वंस्-नाश होना, चलना), १७—स्रम्भु (स्रम्भ्-विश्वास करना), १८—वृतु (वृत्-होना), १९-दद (दद्-देना) और २०—त्रपूष् (त्रप्-लजाना)।

(ग) उभयपदी—१—श्रिञ् (श्रि-सेवा करना), २-भृञ् (भृ-पालन करना), ३—हृञ् (हृ-हरना, चुराना), ४—धृञ् (धृ-धारण करना), ५—णीञ् (णी-ले जाना), ६—डुपचष् (डुपच्-पकाना), ७—भज (भज्-सेवा करना), ८—यज (यज्-देव-पूजा करना, यज्ञ करना) और ९—वह (वह-ले जाना)।

(२) अदादिगण—इस गण के आदि में 'अद्' धातु है। 'धातुपाठ' में इसके अन्तर्गत ७२ धातुएं पठित हैं। 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में उनमें से निम्नांकित २५ धातुओं को दिखाया गया है :—

(क) परस्मैपदी—१—अद (अद्-खाना), २—हन (हन्-हिंसा करना, जाना), ३—यु (मिलाना, अलग करना), ४—या (पहुँचना, जाना), ५—वा (हवा का चलना, महकना), ६—भा (चमकना), ७—ष्णा (स्नान करना, पवित्र होना), ८—श्रा (पकाना), ९—द्रा (बुरी चाल चलना), १०—प्सा (खाना) ११—रा (देना), १२—ला (लेना), १३—दाप् (दा-काटना); १४—पा (रक्षा करना), १५—ख्या (कहना), १६—विद (विद्-जानना), १७—अस (अस्-होना), १८—इण् (जाना)।

(ख) आत्मनेपदी—१—शीङ् (शी-सोना), २—इङ् (इ-पढ़ना)।

(ग) उभयपदी—१—दुह (दुह्-दुहना), २—दिह (दिह्-बढ़ना), ३—लिह (लिह्-चाटना), ४—ब्रूञ् (ब्रू-बोलना), ५—ऊर्णुञ् (ऊर्णु-ढकना)।

(३) जुहोत्यादिगण—इस गण की प्रथम धातु 'हु' है जिसके रूप 'जुहोति' 'जुहुतः' आदि होते हैं। इसी से इसको 'जुहोत्यादिगण' कहते हैं। इसमें २४ धातुएं आती हैं। उन में से केवल ११ धातुओं का विवेचन 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में हुआ है। विवेचित धातुएं ये हैं :—

(क) परस्मैपदी—१—हु (होम करना, खाना), २—ञिभी (डरना), ३—ह्री (लज्जित होना), ४—पॄ (पालन करना, पूर्ण करना), ५—ओहाक् (हा-छोड़ना)।

(ख) आत्मनेपदी—१—माङ् (मा-नापना, मिमियाना), २—ओहाङ् (हा-जाना)।

(ग) उभयपदी—१—डुभृञ् (डुभृ-धारण करना, पालन करना), २—डुदाञ् (डुदा-देना), ३—डुधाञ् (डुधा-धारण करना), ४—णिजिर (णिज्-शुद्ध करना, पोषण करना)।

(४) दिवादिगण—इस गण की आदि धातु 'दिवु' (दिव्) है। 'धातुपाठ' में इसके अन्तर्गत १४० धातुओं को गिनाया गया है। 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में उनमें से केवल २७ धातुओं को लिया गया है। उल्लिखित धातुएं ये हैं :—

(क) परस्मैपदी—१—दिवु (दिव्–खेलना, जुआ खेलना, जय की इच्छा करना, व्यवहार करना, चमकना आदि), २—षिवु (षिव्–सिलाई करना), ३—नृती (नृत्–नाचना), ४—त्रसी (त्रस्–डरना, घबराना), ५—शो (पतला करना, शस्त्र को तीक्ष्ण करना), ६—छो (काटना), ७—षो (नाश करना), ८—दो (काटना), ९—व्यध (व्यध्–वेधना), १०—पुष (पुष्–पुष्ट करना) ११—शुष (शुष्–सूखना), १२—णश (णश्–नष्ट होना)।

(ख) आत्मनेपदी—१—षूङ् (षू–पैदा होना, प्रसव करना), २—दूङ् (दू–दुःखी होना), ३—दीङ् (दी–क्षीण होना), ४—डीङ् (डी–उड़ना); ५—पीङ् (पी–पीना), ६—माङ् (मा–मापना), ७—जनी (जन्–उत्पन्न होना), ८—दीपी (दीप्–चमकना), ९—पद (पद्–जाना), १०—विद (विद्-होना), ११—बुध (बुध्–जानना), १२—युध (युध्–युद्ध करना), १३—सृज (सृज्–त्यागना)।

(ग) उभयपदी—१—मृष (मृष्–सहन करना), २—णह (णह्–बांधना)।

(५) स्वादि गण—इस गण की प्रथम धातु 'षुञ्' है, जिसका प्रचलित रूप 'सु' होता है। इसी से इसका नाम 'स्वादि गण' पड़ा। इसमें ३५ धातुएं हैं। उनमें से केवल ४ धातुओं का विवेचन 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में हुआ है। वे धातुएं हैं—

१—षुञ् (षु–स्नान कराना, सोम निचोड़ना, स्नान करना आदि), २—चिञ् (चि-चुनना), ३—स्तृञ् (स्तृ–ढकना) और ४—धूञ् (धू–कंपाना)। ये सभी धातुएं उभय पदी हैं।

(६) तुदादिगण—इस गण की प्रथम धातु 'तुद्' (तुद्) है। 'धातुपाठ' में इसके अन्तर्गत १५६ धातुओं का समावेश हुआ है। उनमें से केवल ४५ धातुओं का उल्लेख 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में हुआ है। उल्लिखित धातुएं इस प्रकार हैं :—

(क) उभयपदी—१—तुद (तुद्-कष्ट देना), २—णुद (णुद्–प्रेरित करना), ३—भ्रस्ज (भ्रस्ज्–भूनना), ४—कृष (कृष्–हल चलाना), ५—मिल (मिल्–मिलना), ६—मुच्लृ (मुच्–छोड़ना), ७—लुप्लृ (लुप्–लोप करना), ८—विद्लृ (विद्–प्राप्त करना), ९—षिच (षिच्–सींचना), १०—लिप (लिप्–लीपना)।

(ख) परस्मैपदी—१—कृती (कृत्–काटना), २—खिद (खिद्–खिन्न करना), ३—पिश (पिश्–पीसना), ४—ओव्रश्चू (व्रश्च्–काटना), ५—व्यच (व्यच्–ठगना), ६—उछि (उछ्–बीनना, चुराना), ७—ऋच्छ (ऋच्छ्–जाना,

इन्द्रियों का शिथिल होना), ८—उज्झ (उज्झ्-त्यागना), ९—लुभ (लुभ्-लुभाना), १०—तृप (तृप्-तृप्त होना), ११—तृम्फ (तृम्फ्-तृप्त होना), १२—मृड (मृड्-सुख देना), १३—पृड (पृड्-सुख देना), १४—शुन (शुन्-जाना) १५—इषु (इष्-इच्छा करना), १६—कुट (कुट्-कुटिलता करना), १७—पुट पुट्-जोड़ना), १८—स्फुट (स्फुट्-खिलना), १९—स्फुर (स्फुर्-चेष्टा करना, फरकना), २०—स्फुल (स्फुल्-फरकना), २१—णू (स्तुति करना), २२—टुमस्जो (मस्ज्-शुद्ध होना, नहाना), २३—रुजो (रुज्-तोड़ना), २४—भुजो (भुज्-कुटिल होना), २५—विश (विश्-घुसना), २६—मृश (मृश्-स्पर्श करना), २७—षद्लृ (षद्-बिखरना, जाना, दुःखी होना), २८—शद्लृ* (शद्-छीलना), २९—कॄ (बिखेरना), ३०—गॄ (निगलना), ३१—प्रच्छ (प्रच्छ्-पूंछना)।

(ग) आत्मनेपदी—१—मृङ्† (मृ-मरना), २—पृङ् (पृ-उद्योग करना) ३—जुषी (जुष्-प्रीति करना, सेवा करना), ४—ओविजी (विज्-डरना, कांपना)।

(७) रुधादिगण—इस गण की आदि धातु 'रुधिर्' है जिसका प्रयोग 'रुध्' रूप में होता है। इसी लिए इसको 'रुधादिगण' कहते हैं। इसमें २५ धातुएं हैं। उनमें से २२ धातुओं का विवेचन 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में हुआ है। विवेचित धातुएं ये हैं :—

(क) उभयपदी—१—रुधिर् (रुध्-रोकना), २—भिदिर् (भिद्-फोड़ना, तोड़ना), ३—छिदिर् (छिद्-तोड़ना), ४—युजिर् (युज्-जोड़ना), ५—रिचिर् (रिच्-रिक्त) ६—विचिर् (विच्-अलग होना), ७—क्षुदिर् (क्षुद्-पीसना), ८—उच्छृदिर् (छृद्-चमकना, खेलना), ९—उतृदिर् (तृद्-हिंसा करना, अनादर करना)।

(ख) परस्मैपदी—१—कृती (कृत्-सूत कातना), २—तृह (तृह्-हिंसा करना), ३—हिसि (हिंस्-हिंसा करना), ४—उन्दी (उन्द्-गीला करना), ५—अञ्जू (अञ्ज्-प्रकाशन करना, लेपन करना, सुन्दर होना, जाना), ६—तञ्चू (तञ्च्-संकुचित होना), ७—ओविजी (विज्-डरना,काँपना), ८—शिष्लृ (शिष्-विशेषित करना), ९—पिष्लृ पिष्-पीसना), १०—भञ्जो (भञ्ज्-तोड़ना), ११—भुज (भुज्-पालन करना‡)।

---

* इस धातु के रूप कुछ विशेष परिस्थितियों में आत्मनेपदी धातुओं के समान होते है। देखिये ६५६ वें सूत्र की व्याख्या।

† इस धातु से लिट्, लट् और लङ्—इन चार लकारों में परस्मैपद होता है। देखिये ६६४ वां सूत्र।

‡ भोजन करना' अर्थ में यह धातु आत्मनेपदी है। देखिये ६७२ वां सूत्र।

(ग) आत्मनेपदी—१—ञिइन्धी (ञिइन्ध्-चमकना), २—विद (विद्-विचार करना) ।

(८) तनादिगण—इस गण की प्रथम धातु 'तनु' (तन्) है, इसीसे इसको 'तनादि-गण' कहा गया है । 'धातुपाठ' में इसके अन्तर्गत १० धातुएं पठित हैं । उनमें से ८ धातुओं का उल्लेख 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में हुआ है । उल्लिखित धातुएं ये हैं :—

(क) उभयपदी—१—तनु (तन्-फैलना), २—षणु (षण्-दान देना), ३—क्षणु (क्षण्-हिंसा करना), ४—क्षिणु (क्षिण्-हिंसा करना), ५—तृणु (तृण्-खाना), ६—डुकृञ् (डुकृ-करना) ।

(ख) आत्मनेपदी—१—वनु (वन्-मांगना), २—मनु (मन्-जानना) ।

(९) क्र्यादिगण—इस गण की आदि धातु 'डुक्रीञ्' है जिसका व्यवहारिक रूप 'क्री' होता है । इसी लिए इसका नाम 'क्र्यादिगण' पड़ा । इसमें ६१ धातुएं हैं । उनमें से २२ धातुएं 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में दिखाई गई हैं । वे धातुएं इस प्रकार हैं :—

(क) उभयपदी—१—डुक्रीञ् (डुक्री-खरीदना), २—प्रीञ् (प्री-तृप्त करना, इच्छा करना), ३—श्रीञ् (श्री-पकाना), ४—मीञ् (मी-मारना, हिंसा करना), ५—षिञ् (षि-बांधना), ६—स्कुञ् (स्कु-उछलना), ७—युञ् (यु-बांधना), ८—क्नूञ् (क्नू-शब्द करना), ९—द्रूञ् (द्रू-मारना), १० द्रूञ् (द्रू-मारना), ११—पूञ् (पू-पवित्र करना), १२—लूञ् (लू-काटना), १३—स्तॄञ् (स्तॄ-ढक देना), १४—कॄञ (कॄ-हिंसा करना), १५—वॄञ् (वॄ-स्वीकार करना), १६—धूञ् (धू-कंपाना), १७—ग्रह (ग्रह्-ग्रहण करना, लेना) ।

(ख) परस्मैपदी—१—कुष (कुष्-निकालना), २—अश (अश्-भोजन करना), ३—मुष (मुष्-चुराना), ४—ज्ञा (जानना) ।

(ग) आत्मनेपदी—१—वृङ् (वृ-सेवा करना) ।

(१०) चुरादिगण—इस गण की प्रथम धातु 'चुर' (चुर्) है । 'धातुपाठ' में इसके अन्तर्गत ४११ धातुएं बताई गई हैं । उनमें से केवल ३ धातुओं की चर्चा 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में हुई है । चर्चित धातुएं ये हैं :—

* इसके पश्चात् प्रस्तुत पुस्तक में 'स्तम्भु' (रोकना) धातु को बताया गया है । इस धातु का उल्लेख 'धातुपाठ' में नहीं हुआ है । वैसे इसके रूप परस्मैपदी धातुओं के समान बनते हैं ।

† यद्यपि 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में यह धातु परस्मैपदी धातुओं के वर्ग में रखी गई है, किन्तु वास्तव में यह उभयपदी है ।

(क) उभयपदी—१—चुर (चुर्–चोरी करना), २—कथ (कथ्–कहना) ३—गण (गण्–गिनना) ।

'धातुपाठ' में पठित इन धातुओं के अतिरिक्त भी जिनके अन्त में 'सन्' आदि प्रत्यय आते हैं, उनकी 'धातु' संज्ञा होती है* । इन धातुओं के सम्बन्ध में निम्न-लिखित सामान्य नियमों को याद रखना चाहिये :—

१ धातु के आदि षकार के स्थान में सकार होता है।

२. धातु के आदि णकार को नकार होता है। पदान्त में भी धातु के मकार को नकार होता है।

३. उपदेश में धातु के आदि ञि, टु और डु इत्संज्ञक होते हैं। इत्संज्ञक होने से उनका लोप हो जाता है।

४. इदित् धातु (जिसका इकार इत्संज्ञक हो) से 'नुम्' होता है।

५. यदि धातु में दो व्यञ्जन-वर्ण हों तो उसके दीर्घ हुए अकार से पर को 'नुट्' होता है।

६. शित् प्रत्यय (जिनका शकार इत्संज्ञक हो) परे न होने पर उपदेश में एजन्त धातु (जिसके अन्त में ए, ऐ, ओ या औ) को आत्व–आकार अन्तादेश होता है।

क्रियाएँ—संस्कृत में क्रियाएँ लकारों के योग द्वारा धातुओं से बनाई जाती हैं। अतः लकारों को स्पष्ट रूप से समझ लेना बहुत ही आवश्यक है।

लकार—ये लकार संख्या में दस हैं—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्। इन दसों में लकार वर्तमान होने के कारण ही इन्हें लकार कहते हैं। इनमेंसे प्रथम छः लकारों का टकार इत्संज्ञक है, अतः उन्हें 'टित्' कहते हैं। शेष चार लकारों का ङकार इत् है, इसलिए वे 'ङित्' कहलाते हैं। इन दसों लकारों में से 'लेट्' का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में ही होता है, इसीसे 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में उसका विवेचन नहीं हुआ है। शेष नौ लकारों में भी छः लकार काल का बोध कराते हैं और तीन वृत्तियों का। इन सभी का विवरण इस प्रकार है :—

(क) काल-बोधक लकार :—

(१) लट्—इसका प्रयोग वर्तमान समय में होनेवाली क्रिया के लिए होता है, जैसे—'वह जाता है', 'वह जा रहा है' (सः गच्छति)।

(२) लुङ्—यह भूतकाल में होनेवाली साधारणतया सभी प्रकार की क्रियाओं

---

* देखिये ४६८ वें सूत्र की व्याख्या।

का बोध कराता है।* वैसे आसन्न भूतकालिक कार्यों के लिए इसका प्रयोग अधिक उचित होगा, जैसे—'वह आज पाठशाला क्यों नहीं गया ? (सः पाठशालां अद्य किं न अगमत् ?)

(३) लङ्—आज से पूर्व हुए कार्य का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग होता है, जैसे 'वह कल गाँव को गया' (सः ह्यः ग्राममगच्छत्)।

(४) लिट्—इसका प्रयोग आज से पहले हुए या किये गये ऐसे कार्य का बोध कराने के लिए होता है जिसे वक्ता ने स्वयं न देखा हो, जैसे—'युधिष्ठिर हुआ (युधिष्ठिरो बभूव)। यहाँ युधिष्ठिर का होना वक्ता ने स्वयं नहीं देखा है।

(५) लुट्—इसका प्रयोग ऐसी भविष्यकालिक क्रिया का बोध कराने के लिए होता है जो आज न होगी, जैसे—'वह कल जावेगा' (सः श्वः गन्ता)।

(६) लृट्—भविष्यकाल में होनेवाली सभी प्रकार की क्रियाओं का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग होता है, जैसे—'वह आज जावेगा' (सः अद्य गमिष्यति)।

(ख) वृत्ति-बोधक लकार :—

(७) लोट्—आज्ञा, निमन्त्रण और आमन्त्रण आदि द्योतित करने के लिए इसका प्रयोग होता है, जैसे—'सदा धर्म करो' (सदा धर्ममाचरतु)।

(८) लिङ—इसके दो रूप हैं—

(अ) विधिलिङ्—जिन अर्थों में लोट् का प्रयोग होता है, उन्हीं अर्थों में विधिलिङ् भी प्रयुक्त होता है। वैसे अनुमति देने में, पथ-प्रदर्शन के लिए उपदेश तथा नियमों के विधान करने में और धर्म अथवा कर्त्तव्यता दिखलाने के लिए इसका अधिकता से प्रयोग होता है, जैसे—'सत्य और प्रिय बोलना चाहिये' (सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्)।

(ब) आशीर्लिङ्—इसका प्रयोग केवल आशीर्वाद अर्थ द्योतित करने के लिए होता है, जैसे—'तुम सौ वर्ष तक जिओ' (त्वं जीव्याः शरदां शतम्)।

(९) लृङ्—यदि एक क्रिया का होना दूसरी क्रिया के होने पर निर्भर हो तो क्रिया की असिद्धि (न होना या न किया जाना) प्रतीत होने पर भविष्यत् अर्थ में धातु से 'लृङ्' लकार होता है, जैसे—'यदि वह आता तो मैं उसके साथ जाता' (यदि सः आगमिष्यत्तर्हि अहं तेन सह अगमिष्यम्)। यहाँ जाना क्रिया आना

---

* 'माङ' (निषेधार्थक अव्यय) उपपद रहते धातु से 'लुङ्' लकार ही होता है। स्म-परक 'माङ्' उपपद रहने पर धातु से लुङ् लकार होता है और लङ् लकार भी।

क्रिया पर निर्भर है और उसकी असिद्धि भी प्रतीत हो रही है। अतः भविष्यत् अर्थ में दोनों उपवाक्यों में लृङ् का प्रयोग हुआ है।

इन लकारों के विषय में कुछ विशेष बातें 'लकारार्थ-प्रक्रिया' में बताई गई हैं।

लकारों का प्रयोग--लकारो का प्रयोग तीन रूपों में होता है—कर्ता, कर्म और भाव में। इनको ही 'कर्त्तरि प्रयोग', 'कर्मणि प्रयोग' और 'भावे प्रयोग' अथवा कर्तृवाच्य कर्मवाच्य और भाववाच्य कहते हैं। इन तीनों रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं :--

(क) कर्तृवाच्य—'मैं खाना खाता हूँ' (अहं भोजनमद्मि)। यहाँ क्रिया का प्रयोग कर्ता के पुरुष और वचन के अनुसार होता है।

(ख) कर्मवाच्य—'मुझ से खाना खाया जाता है' (मया भोजनमद्यते)। यहां कर्ता तृतीया विभक्ति में और कर्म प्रथमा विभक्ति में होता है। कर्म के पुरुष और वचन के अनुसार ही क्रिया का प्रयोग होता है।

(ग) भाववाच्य--'मुझ से चला नहीं जाता' (मया न अस्यते)। यहां कर्ता कारक में तृतीया विभक्ति होती है और कर्म नहीं रहता। क्रिया सदा प्रथमपुरुष-एकवचन में होती है।

केवल सकर्मक धातुओं की क्रियाओं में कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य सम्भव हैं। अकर्मक धातुओं से भाववाच्य और कर्तृवाच्य होता है। इन तीन प्रकार के वाच्यों में कर्तृवाच्य का ही प्रयोग अधिक होता है, अतः प्रस्तुत पुस्तक में गुणों और प्रक्रियाओं में धातुओं के कर्तृवाच्य रूप ही बताये गये हैं। भाववाच्य और कर्मवाच्य के बारे में 'भावकर्म प्रक्रिया' में अलग से बताया गया है।

तिङ्-प्रत्यय :—धातुओं से वाग्व्यवहार के अनुकूल क्रियापद बनाने के लिए धातु के आगे आये हुए लकारों के स्थान में पुरुष तथा वचन के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रत्यय होते हैं।* सामूहिक रूप से इन प्रत्ययों को 'तिङ्' कहते हैं। ये संख्या में अठारह हैं—तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि और महिङ्। ये 'तिङ्' प्रत्यय सभी क्रियाओं के अन्त में रहते हैं, इसी से संस्कृत में क्रियाओं को 'तिङन्त' भी कहते हैं। इन सभी प्रत्ययों को साधारणतया तीन प्रकार से बांटा जाता है :—

(१) परस्मैपद और आत्मनेपद—इन अठारह 'तिङ्' प्रत्ययों को पहले परस्मैपद और आत्मनेपद—इन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। पुरुष और वचन के अनुसार यह वर्गीकरण इस प्रकार है :—

* प्रत्ययों का प्रयोग करते समय पूर्वार्धं के 'पूर्वाभास' में दिये गये 'प्रत्यय सम्बन्धी सामान्य नियम' याद रखना आवश्यक है।

परस्मैपद	एकवचन,	द्विवचन,	बहुवचन
प्रथमपुरुष	तिप्,	तस्,	झि
मध्यमपुरुष	सिप्,	थस्,	थ
उत्तमपुरुष	मिप्,	वस्,	मस्

आत्मनेपद	एकवचन,	द्विवचन,	बहुवचन
प्रथमपुरुष	त,	आताम्,	झ
मध्यमपुरुष	थास्,	आथाम्,	ध्वम्
उत्तमपुरुष	इट्,	वहि,	महिङ्

इसके अतिरिक्त परस्मैपद प्रत्ययों में 'चानश्' का भी समावेश होता है। 'शानच्' और 'कानच्' अन्य आत्मनेपद प्रत्यय हैं। साधारणतया यदि क्रिया दूसरे के लिए हो तो धातु से परस्मैपद और क्रिया अपने लिए हो तो धातु से आत्मनेपद प्रत्यय का प्रयोग करना चाहिये। 'परस्मैपद' और 'आत्मनेपद' शब्दों का अर्थ ही वास्तव में यही है। किन्तु व्यवहार में प्रायः इसका ध्यान नहीं रखा जाता। परस्मैपदी और आत्मनेपदी धातुओं का विभाजन अब अर्थ पर आधारित न होकर रूढ़िपर आधारित है। 'धातुपाठ' में ही कुछ धातुओं को परस्मैपदी और कुछ धातुओं को आत्मनेपदी बता दिया गया है। इसके साथ ही कुछ धातुओं को उभयपदी भी बताया गया है। इस प्रकार अब उक्त परस्मैपदी धातुओं से परस्मैपद और आत्मनेपदी धातुओं से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं। उभयपदी धातुओं से परस्मैपद और आत्मनेपद—दोनों ही प्रकार के प्रत्यय आते हैं।* 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में भी धातुओं का उल्लेख करते समय साथ ही साथ उनके पद का भी निर्देश कर दिया गया है। ऊपर धातुओं का विवरण देते समय इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया गया है। इस विषय में कुछ विशेष नियम 'आत्मनेपद प्रक्रिया' और 'परस्मैपद प्रक्रिया' में बताये गए हैं।

(२) सार्वधातुक और आर्धधातुक—सामान्यतया पूर्वोक्त अठारह 'तिङ्' प्रत्यय सार्वधातुक कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त जिन प्रत्ययों का शकार इत्संज्ञक होता है (जैसे 'शप्', 'श्यन्' आदि), उनको भी सार्वधातुक कहते हैं। इन तिङ् और शकार-इत्संज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर धातु से विहित अन्य प्रत्यय ('स्य', 'तासि' आदि) आर्धधातुक कहलाते हैं। इसके अलावा लिट् और आशीर्लिङ् के स्थान में आदेश हुए 'तिङ्' प्रत्यय भी आर्धधातुक संज्ञक होते हैं। लकारों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् शुद्ध सार्वधातुक और लिट् तथा आशीर्लिङ् शुद्ध आर्धधातुक लकार हैं। लुट् में 'तासि', लृट् और लृङ् में

---

* ध्यान रहे कि भाववाच्य और कर्मवाच्य में धातु से केवल आत्मनेपद प्रत्यय ही आते हैं। कर्तृवाच्य में ही परस्मैपद-आत्मनेपद विवेक की विशेष आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि वहां धातु से दोनों प्रकार के प्रत्यय आ सकते।

'स्य' तथा लुङ् से 'च्लि' के आदेश–'सिच्', 'चङ्', 'अङ्', 'क्स और 'चिण्' आर्धधातुक होते हैं, इसीसे इन लकारों को भी आर्धधातुक ही कहते हैं।

सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्ययों के विषय में कुछ नियमों को स्मरण रखना आवश्यक है। 'लघुसिद्धान्त कौमुदी' में ये नियम विभिन्न सूत्रों में पृथक्-पृथक् स्थलों पर बताये गये हैं। यहां सुविधा के लिए वे सभी नियम एक ही जगह पर दिये जा रहे हैं :—

१. सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर इगन्त अंग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ या लृ हो) को गुण होता है किन्तु सार्वधातुक तिङ् प्रत्यय परे होने पर 'भू' और 'सू' धातुओं को गुण नहीं होता।

२. 'ऊर्णु' धातु को हलादि पित् सार्वधातुक (तिप्, सिप्, मिप्) परे होने पर विकल्प से वृद्धि भी होती है, किन्तु अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक (जैसे लङ् में 'तिप्' और 'सिप्') परे होने पर गुण ही होता है।

३. सार्वधातुक अथवा आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर पुगन्त (जिसके अन्त में 'पुक्' आगम हो) और लघूपध अंग (जिसकी उपधा में ह्रस्व स्वर हो) के इ, उ, ऋ या लृ को गुण होता है, किन्तु अजादि पित् सार्वधातुक (जैसे लोट् में उत्तम पुरुष का 'आट्') परे होने पर अभ्यस्त धातु (जिसका द्वित्व होता हो) को लघूपध-गुण नहीं होता है।

४. यञादि सार्वधातुक (जिसके आदि में 'यञ्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) परे होने पर अकारान्त अंग को दीर्घ होता है।

५. कृत्-भिन्न यकारादि आर्धधातुक प्रत्यय (जैसे आशीर्लिङ् का 'यासुट्') परे होने पर अकारान्त-भिन्न अजन्त अंग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ या औ हो) को दीर्घ होता है।

६. आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर अकारान्त अंग के अन्त्य अकार का लोप होता है।

७. आर्धधातुक 'इट्'—साधारणतया वलादि आर्धधातुक (जिसके आदि में 'वल्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) को 'इट्' (इ) आगम होता है, किन्तु उपदेशावस्था में यदि धातु एकाच् और अनुदात्त* हो तो उसके पश्चात् वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता। किन्तु इसके भी अनेक अपवाद हैं। इस विषय में कुछ आवश्यक नियम† नीचे दिये जा रहे हैं :—

---

* एकाच् और अनुदात्त धातुओं के विवरण के लिए ४७४ वें सूत्र की व्याख्या देखना आवश्यक है।

† ध्यान रहे कि अनेकाच् धातुओं के पश्चात् वलादि आर्धधातुक हो तो 'इट्'

(अ) लिट् लकार में कृ, भृ, सृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु और श्रु—इन आठ धातुओं को छोड़कर अन्य एकाच् और अनुदात्त धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक—'व' और 'म' को 'इट्' होता है। इसी को 'क्रादि-नियम भी कहते हैं। हां, थल्' के विषय में कुछ वैशिष्ट्य है। ऋकारान्त धातु के बाद 'थल्' को 'इट्' नहीं होता, किन्तु उससे भिन्न अन्य अजन्त और अकारवान् हलन्त (जिसमें अकार हो और अन्त में कोई व्यंजन-वर्ण आया हो) धातुओं से परे 'थल्' को विकल्प से 'इट्' होता है।

(आ) स्वृ, षूङ् (अदादि० और दिवादि०), धूञ् और ऊदित् धातुओं (जिनका दीर्घ ऊकार इत् हुआ हो) के पश्चात् वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' होता है।

(इ) श्रिञ् तथा दीर्घ ॠकारान्त और दीर्घ ऊकारान्त* धातुओं के बाद साधारणतया वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु पित् या कित् वलादि आर्धधातुक को 'इट् नहीं होता। स्मरण रहे कि लिट् लकार में केवल 'व' और 'म' प्रत्यय ही कित् वलादि आर्धधातुक हैं। अतः यहाँ ही यह नियम लगता है ; किन्तु यहां भी पूर्वोक्त 'क्रादि-नियम' से इसका बाध हो जाता है। फलतः इन धातुओं के पश्चात् भी 'व' और 'म' प्रत्ययों को 'इट्' होता है। हां, प्रयोग-सिद्धि करते समय इस समस्त प्रक्रिया को दिखाना आवश्यक है।

(ई) कृती, चृती, उच्छृदिर्, तृदिर् तथा नृती धातुओं के पश्चात् सामान्यतया वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु 'सिच्'-भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय (जैसे 'लट्' और लङ् में 'स्य') को विकल्प से 'इट्' होता है।

(उ) 'हन्' और ह्रस्व ऋकारान्त (एकाच्) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को साधारणतया 'इट्' नहीं होता, किन्तु 'स्य' को नित्य 'इट्' होता है।

(ऊ) एकाच्-अनुदात्त होने के कारण 'गम्लृ' (गम्) धातु के बाद वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता, किन्तु 'स्य' को यहां भी 'इट्' होता है।

(ए) सामान्य रूप से स्तु और षुञ् (सु) धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता और धूञ् धातु से पर विकल्प से 'इट्' होता है, किन्तु परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर इन तीनों धातुओं के बाद 'सिच्' को नित्य 'इट्' आगम होता है।

(ऐ) एकाच् ह्रस्व ऋकारान्त धातुओं के पश्चात् एकाच्-अनुदात्त होने से सामान्यतया वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता, किन्तु आत्मनेपद प्रत्यय परे

होता ही है, केवल एकाच् धातुओं के बारे में ही नियमों को जानना आवश्यक है। उक्त सभी नियम एकाच् धातुओं से ही सम्बन्धित हैं।

* इनमें से 'पूङ्' और 'धूञ्' के बाद वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' होता है।

होने पर एकाच् संयोगादि ऋकारान्त धातु (जैसे 'स्तृञ्' आदि) के बाद 'सिच्' और आशीर्लिङ् के 'सीयुट्' को 'इट्' होता है।

(ओ) साधारणतया वृङ्, वृञ् और दीर्घ ॠकारान्त धातुओं* के पश्चात् वलादि आर्धधातुक को नित्य 'इट्' होता है, किन्तु आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर इन धातुओं के बाद 'सिच्' और आशीर्लिङ के 'यासुट्' को विकल्प से 'इट्' होता है।

(औ) 'अञ्जू' (अञ्ज्) धातु ऊदित् है अतः सामान्यता इसके बाद वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' होता है, किन्तु 'सिच्' को नित्य 'इट्' होता है।

(क) सामान्य रूप से वृत्, वृध्, शृध् और स्यन्द् धातुओं के बाद वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर इन धातुओं के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक (जैसे 'सिच्' 'स्य' आदि) को 'इट्' नहीं होता।

(ख) अनुदात्त होने के कारण साधारणतया यम्, रम्, नम् तथा आकारान्त धातुओं के पश्चात् वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता, किन्तु परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर इन धातुओं के बाद 'सिच्' को 'इट्' होता है और उस 'इट्' के सन्नियोग से इन धातुओं को 'सक्' आगम होता है।

(ग) वशादि कृत् प्रत्यय (जिसके आदि में 'वश्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) को 'इट' नहीं होता है।

(घ) ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स—इन दस कृत् प्रत्ययों को भी 'इट्' नहीं होता।

(ङ) सामान्यतया ग्रह्, गुह् तथा दीर्घॠकारान्त और ऊकारान्त धातुओं के वलादि आर्धधातुक को 'इट्' होता है, किन्तु 'सन्' प्रत्यय को 'इट्' नहीं होता।

(च) आर्धधातुक 'इट्' परे होने पर धातु के अन्तावयव आकार का लोप होता है।

(३) कित् और ङित्—सामान्य रूप से जिन प्रत्ययों का ककार इत्संज्ञक होता है, उन्हें 'कित्' कहते हैं। इसके अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में कुछ प्रत्ययों को 'कित्' कहा गया है :—

(क) आशीर्लिङ् में 'यासुट्' आगम 'कित्' होता है।

(ख) असंयोग से पर णल्, थल् और णल्—इन तीन प्रत्ययों को छोड़कर सभी लिट्-स्थानी प्रत्यय 'कित्' होते हैं।

(ग) आत्मनेपद में ऋवर्ण से पर झलादि लिङ् और 'सिच्' (जिनके आदि में 'झल्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) 'कित्' होते हैं।

---

* इन धातुओं से पर 'इट्' को विकल्प से दीर्घ होता है, किन्तु परस्मैपद-परक सिच् परे रहते यह दीर्घादेश नहीं होता।

(घ) आत्मनेपद में इक् (इ, उ, ऋ या ऌ) के समीप स्थित व्यञ्जन-वर्ण से पर झलादि लिङ् और सिच् 'कित्' होते हैं।

'ङित्' साधारणतया उन प्रत्ययों को कहते हैं जिनका ङकार इत् होता है। इसके अलावा परिस्थिति-वश कुछ अन्य प्रत्यय भी 'ङित्' होते हैं, जैसे—

(क) सभी अपित् सार्वधातुक प्रत्यय (जिनका पकार इत्संज्ञक न हो) 'ङित्' होते हैं।

(ख) विधिलिङ् में जो 'यासुट्' आगम होता है, वह भी 'ङित्' होता है।

(ग) 'गाङ्'–आदेश और 'कुट' आदि धातुओं* से परे ञित् तथा णित् भिन्न प्रत्यय 'ङित्' होते हैं।

(घ) 'ऊर्णु' धातु से पर इडादि प्रत्यय (जिनके आदि में 'इट्' आगम हो) विकल्प से 'ङित्' होते हैं।

(ङ) 'विज्' धातु से परे इडादि प्रत्यय 'ङित्' तुल्य होते हैं।

इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों के मुख्य कार्य ये हैं—

१—कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर यथाप्राप्त गुण और वृद्धि आदेश नहीं होते।

२—आर्धधातुक अजादि कित्–ङित् प्रत्यय (जिनके आदि में कोई स्वरवर्ण हो, जैसे 'लिट्' में अतुस्' आदि) परे होने पर धातु के अन्तावयव आकार का लोप होता है।

लकारों के सामान्य नियम—प्रत्येक लकार के सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियमों को जान लेना आवश्यक है। यद्यपि 'लघुसिद्धान्त-कौमुदी' में ये नियम यत्र-तत्र बिखरे हैं, किन्तु सुविधा के लिए उन्हें यहां एक ही स्थान पर दिया जा रहा है।

(१) लट्—

१—सामान्यतया परस्मैपद प्रत्यय 'झि' के स्थान पर 'अन्ति' होता है, किन्तु अभ्यस्त धातुओं (जैसे—जुहोत्यादिगण में) के पश्चाद् 'झि' के स्थान पर 'अति' होता है।

२—आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' (अन्तिम स्वर सहित अन्तिम व्यञ्जन) के स्थान पर एकार होता है।

३—अकार से पर आत्मनेपद प्रत्यय 'आताम्' और 'आथाम्' के आदि अकार के स्थान पर 'इय्' (इ) होता है।

४—आत्मनेपद प्रत्यय 'थास्' के स्थान पर 'से' होता है।

५—आत्मनेपद प्रत्यय 'झ' के स्थान पर 'अन्त' होता है।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ५८७ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

(२) लिट्—

१—परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान पर निम्नांकित प्रत्यय होते हैं—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष	णल् (अ)*	अतुस्	उस्
मध्यमपुरुष	थल्	अथुस्	अ
उत्तमपुरुष	णल् (अ)†	व	म

२—आत्मनेपद प्रत्ययों के सम्बन्ध में लट् लकार में उल्लिखित द्वितीय और चतुर्थ नियम यहां भी लगते हैं। इसके अतिरिक्त 'त' के स्थान पर 'एश्' (ए) और 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' (इरे) होता है।

३—लिट् प्रत्यय परे होने पर अभ्यास-रहित धातु (जिसका पहिले ही द्वित्व न हुआ हो) को द्वित्व होता है। यदि धातु एकाच् हो (जैसे—'जि' या 'अत्') तो सम्पूर्ण को द्वित्व होता है, किन्तु अनेकाच् होने पर हलादि धातु के प्रथम एकाच् (जैसे—'चकास्' का च) और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् (जैसे—'ऊर्णुञ्' का 'र्णु') को द्वित्व होता है। हां, स्वर से पर संयोगादि नकार, दकार और रकार का द्वित्व नहीं होता (जैसे—'ऊर्णुञ्' के 'र्णु' में रकार का द्वित्व नहीं होता, केवल 'णु' का ही द्वित्व होता है)। द्वित्व होने पर पूर्वरूप (जैसे—'भूव् भूव् अ' में प्रथम 'भूव्') की 'अभ्यास' संज्ञा होती है। अभ्यास के सम्बन्ध में इन नियमों को जानना आवश्यक है—

(क) अभ्यास में यदि धातु अजादि हो तो उसके व्यञ्जनों का लोप हो जाता है, किन्तु हलादि धातु का आदि हल् (व्यञ्जन) शेष रह जाता है; उसका लोप नहीं होता। हां, यदि हलादि धातु में श्, स्, ष् के ठीक पश्चात् पञ्चवर्गों में से किसी वर्ग का प्रथम या द्वितीय वर्ण आता हो तो उत्तरवर्ती हल् का लोप न होकर आदि हल् का लोप होता है (जैसे—'स्तॄ' से 'तॄ स्तॄ अ')।‡

(ख) अभ्यास के अवयव ऋवर्ण के स्थान पर 'अर्' होता है (जैसे—पूर्वोक्त 'तॄ' से 'तर्')।

(ग) अभ्यास के कवर्ग को क्रमशः चवर्ग (जैसे—'कम्' से चकम्') और हकार के स्थान पर झकार होता है।

---

* यह प्रत्यय विकल्प से णित् होता है।

† आकारान्त धातु से परे 'णल्' प्रत्यय के स्थान पर 'औ' आदेश होता है।

‡ ध्यान रहे कि अभ्यास में केवल एक ही हल् शेष रहता है—चाहे वह आदि हल् हो या शकार आदि का उत्तरवर्ती। अन्य सभी हलों का लोप हो जाता है।

(घ) अभ्यास में आनेवाले पञ्चवर्गों के द्वितीय वर्ण के स्थान पर प्रथम (जैसे—'छिद्' से 'चिच्छिद्') और चतुर्थ वर्ण के स्थान पर तृतीय वर्ण (जैसे 'भुज्' से 'बुभुज्') होता है।

(ङ) अभ्यास के दीर्घ स्वर को ह्रस्व होता है (जैसे—'भूव्' से 'भुव्')।

(च) 'भू' धातु के अभ्यास के उकार को अकार होता है (जैसे—'भुव्' से 'भव्')।

(छ) अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार को दीर्घ होता है (जैसे—'अ अत् अ' से 'आ अत् अ)।

(ज) द्युत् और स्वप् धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।

(झ) वच् और ग्रह् आदि धातुओं के अभ्यास को भी सम्प्रसारण होता है।*

(ञ) असमान स्वर-वर्ण परे होने पर अभ्यास के इवर्ण को 'इयङ्' (जैसे—इ आय् अ' से 'इय् आय् अ') और उवर्ण 'उवङ्' आदेश होता है।

(ट) कित् लिट् परे होने पर इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ होता है (जैसे—'इय् अतुस्' से 'ई य् अतुस्')।

(ठ) श्लु के विषय में (जैसे जुहोत्यादिगण में) ऋ और पृ धातु के अभ्यास को इकार अन्तादेश होता है (जैसे—'पृ पृ ति' से 'प् इर् पृ ति')।

(ड) श्लु के विषय में भृञ्, माङ् और ओहाङ् (जाना) धातुओं के अभ्यास को भी इकार अन्तादेश होता है (जैसे 'मा मा ते' से 'मि मा ते')।

(ढ) श्लु के विषय में णिज्, विज् और विष् धातुओं के अभ्यास को गुण होता है (जैसे—'नि नेज् ति' से 'ने नेज् ति')। यङ् परे रहते या यङ्लुक् में भी अभ्यास को गुण होता है।

(ण) सन् और लिट् प्रत्यय परे रहने पर अभ्यास से पर 'चि' धातु के चकार को विकल्प से ककार होता है (जैसे—चिकाय और चिचाय)।

(त) अभ्यास से पर 'हन्' धातु के हकार को घकार होता है।

(थ) 'हि' परे होने पर घुसंज्ञक धातुओं को एकार अन्तादेश होता है और उनके अभ्यास का लोप भी होता है।

(द) यदि लिट् को निमित्त मानकर आदेश न हुआ हो तो कित् लिट् परे होने पर अङ्ग के अवयव, संयोग-रहित हल् के साथ वर्तमान ह्रस्व अकार को एकार होता है और अभ्यास का लोप भी होता है।

(ध) 'इट्'–सहित 'थल्' परे होने पर भी पूर्वोक्त अवस्था में पूर्ववत् एकार-आदेश और अभ्यास-लोप होता है।

---

* विशेष विवरण के लिए ५४६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

(न) कित् लिट् और इट्-सहित 'थल्' परे होने पर तॄ, फल्, भज् और त्रप् (त्रपूष्)—इन धातुओं के अकार को एकार आदेश होता है और उनके अभ्यास का लोप भी होता है।

(प) जॄ, भ्रम् और त्रस्—इन तीन धातुओं को कित्, लिट् तथा सेट् ('इट्'-सहित) थल् परे रहने पर विकल्प से एत्व (अकार को एकार आदेश) और अभ्यास लोप होता है।

(फ) शस्, दद् और वकारादि धातुओं तथा गुण शब्द से विहित अकार को एकार नहीं होता है और उनके अभ्यास का लोप भी नहीं होता।

४. प्रत्ययान्त धातु (जिसके अन्त में कोई प्रत्यय हो, जैसे 'आय' आदि) से लिट् लकार में 'आम्' प्रत्यय होता है। 'ऋच्छ' और 'ऊर्णु' को छोड़कर अन्य जिन गुरुमान् (जिसमें कोई गुरु वर्ण आया हो) धातुओं के आदि में इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ या औ आता हो, उनसे भी 'आम्' प्रत्यय होता है। इसके अतिरिक्त दय्, अय्, आस्, कास्, भी, ह्री, भृ और हु धातुओं से भी 'आम्' होता है। हां, उष्, विद् और जागृ—इन तीन धातुओं से विकल्प से 'आम्' होता है। 'आम्' होने पर निम्नांकित नियमों को याद रखना आवश्यक है—

(क) भी, ह्री, भृ और हु—इन चार धातुओं को छोड़कर अन्य जिन धातुओं से 'आम्' प्रत्यय आता है, उनका द्वित्व नहीं होता।

(ख) 'आम्' से परे 'लिट्' का लोप हो जाता है।

(ग) 'आम्'—प्रत्ययान्त धातु से लिट्-परक कृ, भू और अस्—इन तीन धातुओं में से किसी का भी अनुप्रयोग होता है। जिस धातु का अनुप्रयोग होता है, उससे पूर्ववत् लिट्-प्रत्यय हो द्वित्व और अभ्यास-कार्य होता है।

(घ) अन्त में 'आम्'-प्रत्ययान्त और अनुप्रयोग वाले भाग की परस्पर सन्धि हो जाती है और इस प्रकार 'आम्' प्रत्ययान्त रूपसिद्ध होता है, जैसे—'गोपायाञ्चकार' ('कृ' का अनुप्रयोग), 'गोपायाम्बभूव' ('भू' का अनुप्रयोग) या 'गोपायामास' ('अस्' का अनुप्रयोग)।

(३) लुट्—

१. यहां धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में 'शप्' आदि के स्थान पर 'तासि' (तास्) प्रत्यय होता है। यह वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है, अतः पूर्वोक्त आर्धधातुक 'इट्' सम्बन्धी नियमों से इसको 'इट्' आगम होता है।

२. प्रथम पुरुष के परस्मैपद और आत्मनेपद प्रत्ययों के स्थान पर क्रमशः डा (आ), रौ और 'रस्' आदेश होते हैं। 'डा' परे होने पर 'तास्' के 'आस्' का लोप हो जाता है।

३, मध्यम और उत्तम पुरुष में लट् लकार के समान ही सामान्य परस्मैपद प्रत्यय आते हैं। आत्मनेपद प्रत्ययों में यहां भी 'टि' को एकार और 'थास्' के स्थान पर से होता है।

४. रकारादि, सकारादि या धकारादि प्रत्यय परे होने पर 'तास्' के सकार का लोप हो जाता है।

५. एकार परे होने पर 'तास्' के सकार को हकार होता है।

(४) लृट्—

१. यहां धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में 'स्य' प्रत्यय आता है। यह भी वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है, अतः पूर्वोक्त आर्धधातुक 'इट्'-सम्बन्धी नियमों से इसे 'इट्' आगम होता है।

२. 'इट्' आगम होने पर 'स्य' प्रत्यय के सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार हो जाता है।

३. शेष प्रक्रिया 'लट्' लकार के ही समान है।

(५) लोट्—

१. 'तिप्' और 'झि' ('अन्ति' या 'अति') के इकार के स्थान पर उकार आदेश होता है।

२. 'सिप्' (सि) को 'हि' होता है। यह 'हि' अपित् होने के कारण ङिद्वत् होता है। इस प्रकार उसके परे होने पर पूर्वोक्त ङित्-सम्बन्धी गुण-निषेध आदि कार्य होते हैं।

३. आशीर्वाद अर्थ में लोट् के 'तु' और 'हि' को विकल्प से 'तातङ्' (तात्) आदेश होता है।

४. अकारान्त अङ्ग के पश्चात् 'हि' का लोप हो जाता है।

५. 'हु' तथा अन्य झलन्त धातुओं (जिनके अन्त में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण हो अथवा श्, ष्, स् या ह् हो) के पश्चात् इस 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश होता है।

६. 'तस्' के स्थान पर 'ताम्', 'थस्' के स्थान पर 'तम्' और 'थ' के स्थान पर 'त' आदेश होता है।

७. 'मि' (मिप्) के स्थान पर 'नि' होता है।

८. 'वस्' और 'मस्' के सकार का लोप होता है।

९. 'मिप्' (नि), 'वस्' और मस् को 'आट्' (आ) का आगम होता है। यह आगम पित् भी होता है।

१०. उपसर्ग में स्थित निमित्त रकार के पश्चात् लोट् के 'आनि' के नकार को णकार हो जाता है, किन्तु 'दुर्' के पश्चात् ऐसा नहीं होता।

११. आत्मनेपद प्रत्ययों के सम्बन्ध में लट् लकार में दिये गये नियम तो लगेंगे ही, किन्तु उनके अतिरिक्त यहाँ कुछ अन्य नियम भी लगते हैं, जैसे—

(क) यहां प्रथम पुरुष (तीनों वचन) और मध्यम पुरुष-द्विवचन में 'टि' के स्थान पर आदेश हुए एकार को 'आम्' होता है।

(ख) मध्यमपुरुष-एकवचन और मध्यमपुरुष-बहुवचन में इस एकार के स्थान पर क्रमशः 'व' और 'अम्' आदेश होते हैं।

(ग) उत्तमपुरुष (तीनों वचन) में इस एकार को ऐकार हो जाता है।

(६) लङ्—

१. सामान्यतया अङ्ग को 'अट्' (अ) का आगम होता है, किन्तु अजादि अङ्ग (जिसके आदि में कोई स्वर हो) को 'आट्' (आ) आगम होगा। 'आट्' आगम होने पर पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है।

२. 'तस्' के स्थान पर 'ताम्', 'थस्' के स्थान पर 'तम्', 'थ' के स्थान पर त और मि (मिप्) के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

३. 'तिप्', 'सिप्' और 'झि'* ('अन्ति' या 'अति') के इकार का लोप होता है। 'वस्' और 'मस्' के सकार का भी लोप होता है।

४. यहां आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' को एकार नहीं होता और न तो 'थास्' के स्थान पर 'से' ही! हां, 'झ' के स्थान पर 'अन्त'† और अकार से पर 'आताम्' तथा 'आथाम्' के आदि आकार को 'इय्' (इ) आदेश यहां भी होगा।

(७) विधिलिङ्—

१. परस्मैपद प्रत्ययों को 'यासुट्' (यास्) का आगम होता है और इस 'यासुट्' के सकार का लोप भी प्रायः हुआ करता है।

२. अकारान्त अङ्ग के पश्चात् 'यासुट्' के स्थान पर 'इय्' आदेश होता है। यकार को छोड़कर अन्य व्यञ्जन परे होने पर इस 'इय्' के यकार का लोप हो जाता है।

३. 'झि' के स्थान पर 'जुस्' (उस्) आदेश होता है। अन्य परस्मैपद प्रत्यय सम्बन्धी कार्य लट् लकार की ही भाँति होंगे।

---

* लङ् लकार में आकारान्त से पर 'झि' को 'जुस्' (उस्) हो जाता है। ध्यान रहे कि यह 'जुस्' आदेश विकल्प से ही होता है और केवल लङ् लकार में ही।

† अकार, भिन्न वर्ण से पर 'झ्' के स्थान पर 'अन्' आदेश होता है।

४. आत्मनेपद प्रत्ययों को 'सीयुट्' (सीय्) का आगम होता है। इस 'सीयुट्' के सकार का तथा यकार-भिन्न व्यञ्जन परे होने पर यकार का भी लोप हो जाता है।

५. 'झ' के स्थान पर 'रन्' और 'इट्' के स्थान पर 'अत्' (अ) आदेश होते हैं। आत्मनेपद प्रत्यय सम्बन्धी अन्य कार्य लङ् लकार के समान ही हैं।

(८) आशीर्लिङ्—

१. यहां भी परस्मैपद प्रत्ययों को 'यासुट्' (यास्) आगम होता है, किन्तु यह 'यासुट्' कित् संज्ञक होगा। अतः उसके परे होने पर गुण और वृद्धि नहीं होते।

२. 'यासुट्' के सकार का लोप नहीं होता।

३. आत्मनेपद प्रत्ययों को यहां भी 'सीयुट्' (सीय्) आगम होता है, किन्तु इस 'सीयुट्' के सकार का लोप नहीं होता। हां, यकार-भिन्न व्यंजन परे होने पर इसके यकार का पूर्ववत् लोप हो जाता है।

४. 'सीयुट्' के पश्चात् 'त' और 'थास्' को 'सुट्' (स्) का आगम होता है। इस सकार का भी लोप नहीं होता।

५. 'सीयुट्' को पूर्वोक्त इट्-सम्बन्धी नियमों से 'इट्' (इ) का आगम होता है।

६. आत्मनेपद और परस्मैपद प्रत्ययों सम्बन्धी अन्य कार्य विधिलिङ् के समान ही होते हैं।

(९) लुङ्—

१. धातु और तिङ् प्रत्ययों के बीच में 'च्लि' प्रत्यय आता है। सामान्यतया इस 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' (स्) आदेश हो जाता है। कुछ अवस्थाओं में इस 'सिच्' का भी लोप हो जाता है—

(क) गा, स्था, घुसंज्ञक, पा और भू-इन धातुओं के पश्चात् परस्मैपदपरक 'सिच्' (जिसके पश्चात् परस्मैपद प्रत्यय आये हों) का लोप होता है।

(ख) ह्रस्वान्त अङ्ग के पश्चात् झल्-परक 'सिच्' (जिसके पश्चात् झल् प्रत्याहार का कोई वर्ण आया हो) का लोप होता है।

(ग) घ्रा (भ्वादि०, सूंघना), धेट् (भ्वादि०, पीना[1]), शा (शो—पतला करना), छा (छो—काटना) और सा (षो—नाश करना)—इन धातुओं के पश्चात् भी परस्मैपदपरक 'सिच्' का लोप होता है।

(घ) 'त' और 'थास्'—इन दो प्रत्ययों के परे होने पर 'तन्' (फैलाना) आदि (तनादिगण में पठित) दस धातुओं के पश्चात् 'सिच्' का विकल्प से लोप होता है।

२. 'सिच्' वलादि आर्धधातुक है, अतः इट्—सम्बन्धी नियमों से उसे 'इट्' (इ) का आगम होता है।

३. 'सिच्' के पश्चात् अपृक्त व्यंजन को 'ईट्' (ई) का आगम होता है। यदि

'सिच्' को 'इट्'-आगम हुआ होगा तो इस 'ईट्' (ई) के परे होने पर 'सिच्' (स्) का लोप हो जावेगा।

४. परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर सामान्यतया अङ्ग की वृद्धि हो जाती है। इस विषय में इन नियमों को याद रखना चाहिये—

(क) परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर इगन्त अङ्ग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ या ऌ हो) की वृद्धि होती है, किन्तु इडादि परस्मैपदपरक 'सिच्' (जिस परस्मैपदपरक 'सिच्' को 'इट्'-आगम हुआ हो) परे होने पर जागृ, श्वि (भ्वादि०, जाना) और णयन्त (जिनके अन्त में 'णि' आया हो)—इन धातुओं को वृद्धि नहीं होती।

(ख) परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर वद् और व्रज्—इन दो धातुओं को वृद्धि होती है। इडादि परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर भी इसका निषेध नहीं होता।

(ग) परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर हलन्त अङ्ग (जिसके अन्त में कोई व्यंजन हो) को वृद्धि होती है, किन्तु इडादि परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर उसका निषेध हो जाता है। हां, यदि हलन्त अङ्ग के आदि में ह्रस्व अकार-परक व्यंजन आया होगा तो इडादि परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर भी विकल्प से उसे वृद्धि होगी।

(घ) हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, एदित् (जिसका एकार इत् हो), क्षण् (हिंसा करना) तथा श्वस् (श्वास लेना)—इन धातुओं को इडादि परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर वृद्धि नहीं होती है। यह निषेध उन हलन्त धातुओं के विषय में भी प्रवृत्त होता है जिनके आदि में ह्रस्व अकार-परक व्यंजन आया हो।

(ङ) इडादि परस्मैपदपरक 'सिच्' परे होने पर 'ऊर्णु' (आच्छादन करना) धातु को विकल्प से वृद्धि होती है।

५. 'सिच्' से परे 'झि' के स्थान पर 'जुस्' (उस्) हो जाता है। 'सिच्' लोप हो जाने पर भी आकारान्त धातु के पश्चात् 'झि' को 'जुस्' होता है। हां, अन्य अवस्थाओं में 'झि' के स्थान पर पूर्ववत् 'अन्ति' या 'अति' ही होंगे।

६. यदि धातु अनिट् हो और उसकी उपधा में इक् (इ, उ, ऋ या ऌ) तथा अन्त में शल् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो उसके पश्चात् 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' (स) आदेश होता है। इस विषय में इन बातों का ध्यान रखना चाहिये—

(क) 'त', 'थास्' और 'ध्वम्' (तथा कभी कभी 'वहि')—इन आत्मनेपद प्रत्ययों के परे होने पर दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं के 'क्स' (स) का विकल्प से लोप होता है।

(ख) अजादि आत्मनेपद प्रत्यय (जिसके आदि में कोई स्वर हो, जैसे—

'आताम्' आदि) परे होने पर 'क्स' (स) का लोप होता है। ध्यान रहे कि यहां '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से 'क्स' के अन्त्य अकार का ही लोप होगा।

७. चङ्—ण्यन्त धातु* (जिस से 'णिङ्' प्रत्यय हुआ हो), श्रि, द्रु और स्रु धातुओं से पर 'च्लि' के स्थान पर कर्तृवाच्य में 'चङ्' (अ) आदेश होता है। इस विषय में निम्नांकित नियमों को स्मरण रखना चाहिये—

(क) अनिडादि चङ् (जिसके पहले 'इट्' न आया हो) परे होने पर 'णिङ्' (इ) का लोप होता है।

(ख) चङ्-परक (जिसके पश्चात् 'चङ्' आया हो, ऐसा) 'णिङ्' परे होने पर (लोप हो जाने पर भी प्रत्यय लक्षण द्वारा उसकी उपस्थिति मानकर) अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हो जाता है।

(ग) 'चङ्' परे होने पर अभ्यास रहित (जिसका द्वित्व न हुआ हो, ऐसी) धातु को द्वित्व होता है। यह द्वित्व हलादि धातु के प्रथम एकाच् और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को होगा।†

(घ) यदि 'णिङ्' को निमित्त मानकर अङ्ग के 'अक्' का लोप न हुआ हो तो चङ्—परक 'णिङ्' (लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण द्वारा) परे होने पर सन्वत् लघु-परक अभ्यास (जिससे परे लघु हो) के अकार को इकार और इकार को पुनः दीर्घ ईकार आदेश होता है।

(ङ) 'णिङ्' प्रत्यय न होने पर भी 'कम्' धातु से पर 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अ) आदेश होता है। ध्यान रहे कि यहां 'णिङ्' प्रत्यय न होने से उपधा को ह्रस्व और सन्वद्भाव नहीं होता।

८. अङ्—अस् (फेंकना, दिवादि०), वच् (बोलना, अदादि०) और ख्या (कहना, अदादि०) धातुओं से पर 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' (अ) आदेश होता है। 'अङ्' परे होने पर 'वच्' धातु को 'उम्' (उ) आगम होता है। जॄ आदि धातुओं से पर भी विकल्प से 'अङ्' होता है।‡

लिप्, सिच् और ह्वेञ् धातुओं से पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश होता है, किन्तु

---

* पुस्तक में णयन्त (जैसे—'कम्') और श्रि—इन दो धातुओं के ही उदाहरण मिलते हैं।

† द्वित्व होने पर अभ्यास—प्रक्रिया में आनेवाले परिवर्तनों के विषय में जानने के लिए लिट् लकार के अन्तर्गत तीसरा नियम देखिये।

‡ ६८८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

आत्मनेपदप्रत्यय परे रहते यह आदेश विकल्प से होता है। परस्मैपद परे रहते इरित् धातु* से पर 'च्लि' को विकल्प से 'अङ्' होता है।

९. चिण्—'त' (आत्मनेपद एकवचन) परे होने पर पद् (जाना) धातु के पश्चात् 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) आदेश होता है, किन्तु दीप् (चमकना, दिवादि०), जन् (उत्पन्न होना), बुध् (जानना), पूर् (भरना), ताय् (फैलना) और प्याय् (फूलना) धातुओं से पर 'च्लि' के स्थान पर यह 'चिण्' आदेश विकल्प से होता है। वहां पक्ष में 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्' आदेश भी होता है।

भावकर्मवाची 'त' परे होने पर भी 'च्लि' को 'चिण्' हो जाता है, किन्तु अनुताप और कर्मकर्ता अर्थ में 'तप्' धातु से पर 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' नहीं होता। वहां तो 'च्लि' को 'सिच्' हो जावेगा।

'चिण्' आदेश होने पर निम्नांकित कार्य होते हैं—

(क) 'चिण्' से पर 'त' (आत्मनेपद एकवचन) का लोप हो जाता है।

(ख) 'चिण्' परे होने पर 'जन्' और 'वध्' धातुओं की उपधा को वृद्धि नहीं होती।

(ग) 'चिण्' परे होने पर आकारान्त धातुओं को 'युक्' आगम होता है।

(घ) 'चिण्' परे होने पर 'भञ्ज' धातु के नकार का विकल्प से लोप होता है।

(ङ) 'चिण्' परे होने पर 'लभ्' धातु को विकल्प से 'नुम्' (न्) आगम होता है।

१०. लङ् लकार के अन्तर्गत दिये हुए नियम यहां भी चरितार्थ होते हैं।

(१०) लृङ्—

लृट् और लङ् के रूपों के सामञ्जस्य से इस लकार की प्रक्रिया चलती है। इसमें लृट् से 'स्य' का ग्रहण होता है और धातु से पूर्व 'अ' (आ) जोड़कर लङ् लकार के नियमों के अनुसार प्रत्यय लगाते हैं। लट् लकार के अन्तर्गत दिये हुए प्रथम और द्वितीय तथा लृट् लकार के अन्तर्गत दिये हुए सभी नियम यहां चरितार्थ होते हैं।

गण-सम्बन्धी कुछ विशेष नियम :—

(१) भ्वादिगण :—

१. लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ्—इन चार लकारों में धातु और तिङ्-प्रत्यय के बीच 'शप' (अ) प्रत्यय आता है, किन्तु भ्राश्, भ्लाश्, भ्रम्, क्रम्,

---

* जिस धातु का 'इर्' इत्संज्ञक होता है, उसे 'इरित्' कहते हैं, जैसे—णिजिर् , निज्—शुद्ध करना)।

क्लम्, त्रस्, त्रुट् और लष् धातुओं से यहां विकल्प से 'श्यन्' (य) प्रत्यय भी होता है। इस प्रकार उक्त लकारों में इन धातुओं के दो-दो रूप बनते हैं।

२. लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में 'श्रु' धातु से 'शप्' के स्थान पर 'श्नु' (नु) प्रत्यय होता है और स्वयं 'श्रु' धातु के स्थान पर भी 'शृ' आदेश हो जाता है। 'श्नु' प्रत्यय के सम्बन्ध में निम्नांकित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(क) अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते अनेकाच् श्नु-प्रत्ययान्त अङ्ग के असंयोग पूर्व उवर्ण के स्थान पर यण्-वकार आदेश होता है।

(ख) वकार और मकार परे होने पर 'श्नु' प्रत्यय के असंयोगपूर्व उकार का विकल्प से लोप होता है।

(ग) जिस अङ्ग के अन्त में 'श्नु' प्रत्यय का असंयोगपूर्व उकार होता है, उस से पर 'हि' का लोप हो जाता है।

३. गुप् धूप्, विच्छ् (जाना, तुदादि०), पण् (व्यवहार और स्तुति) और पन् (व्यवहार तथा स्तुति) धातुओं से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय होता है। 'आय,–' प्रत्ययान्त रूपों से ही तिङ् आदि प्रत्यय होते हैं। ध्यान रहे कि लिट्, लुट्, लृट् आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ् लकारों में यह 'आय' प्रत्यय विकल्प से होता है, अतः उक्त लकारों में 'गुप्' आदि मूल धातुओं से भी रूप बनते हैं।

४. 'कम्' धातु से लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में 'णिङ्' (इ) प्रत्यय स्वार्थ में होता है। लिट्, लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ् में 'कम्' धातु से यह प्रत्यय विकल्प से होता है।

५. लुङ् और लिट् का अच् परे होने पर 'भू' धातु को 'वुक्' (व्) आगम होता है।

६. इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय (जैसे 'शप्' आदि) परे होने पर पा धातु के स्थान पर 'पिब', घ्रा धातु के स्थान पर 'जिघ्र', ध्मा धातु के स्थान पर 'धम', स्था धातु के स्थान पर 'तिष्ठ', म्ना धातु के स्थान पर 'मन', सद धातु के स्थान पर 'सीद', दाण् धातु के स्थान पर 'यच्छ', दृश् धातु के स्थान पर 'पश्य', ऋ धातु के स्थान पर 'ऋच्छ', सृ धातु के स्थान पर 'धौ' और शद् धातु के स्थान पर 'शीय' आदेश होता है।

७. शित् प्रत्यय (जैसे 'शप्' आदि) परे होने पर इष्, गम् और यम्—इन तीन धातुओं के अन्त्य वर्ण के स्थान पर छकार आदेश होता है।

८. आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते घुसंज्ञक, मा स्था, पा, हा और सन् धातुओं के अन्त्य वर्ण के स्थान पर एकार आदेश होता है। ध्यान रहे कि आर्धधातुक कित् लिङ् का उदाहरण आशीर्लिङ् में मिलता है।

(२) अदादिगण :—

१. अदादिगण की धातुओं से पर 'शप्' का लोप हो जाता है।* ध्यान रहे कि यह 'शप्'–लोप लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में ही होता है।

२. कृञ् तथा तनादिगण† में पठित अन्य धातुओं से 'शप्' के स्थान पर 'उ' प्रत्यय होता है।

३. लुङ् और 'सन्' परे होने पर 'अद्' धातु के स्थान पर 'घस्लृ' (घस्) आदेश होता है। लिट् परे होने पर भी 'अद्' को विकल्प से 'घस्लृ' होता है।

४. 'हु' (हवन करना) और झलन्त धातुओं से पर 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश होता है, जैसे—'अद् + हि' = 'अद्धि'।

५. लुङ् और आशीर्लिङ् में 'हन्' धातु के स्थान पर 'वध' आदेश होता है। 'हि' परे होने पर 'हन्' को 'ज' हो जाता है।

६, विद् धातु (अदादि०) से पर लट् के परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान पर णल् आदि आदेश विकल्प से होते हैं।‡

७. लिट्, लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ् लकारों में 'अस्' धातु के स्थान पर 'भू' आदेश हो जाता है और वहां उसके रूप भ्वादिगणीय 'भू' धातु के समान ही बनते हैं। 'हि' परे होने पर 'अस्' के सकार को एकार हो जाता है।

८. अजादि प्रत्यय परे होने पर 'इण्' (जाना) धातु के इकार को यण्–यकार हो जाता है। हां, लुङ् लकार में 'इण्' धातु के स्थान पर 'गा' आदेश होता है।

९. शीङ् (सोना) धातु से परे 'झ' के स्थान पर आदेश हुए 'अत्' को 'रुट्' (र्) आगम होता है। ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर 'शीङ्' को गुण आदेश हो जाता है।

१०. लिट् लकार में 'इङ्' (पढ़ना) के स्थान पर 'गाङ्' (गा) आदेश हो जाता है। लुङ् और लृङ् में यह 'गाङ्' आदेश विकल्प से होता है।

११. ब्रू (बोलना) धातु से पर लट्–स्थानीय तिप् आदि पांच प्रत्ययों को विकल्प से णल् आदि आदेश होते हैं।§ और णल् आदि होने पर 'ब्रू' के स्थान पर 'आह्' आदेश हो जाता है, किन्तु झलादि प्रत्यय (थल्) परे होने पर इस 'आह्' के हकार को थकार हो जाता है। आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर (अर्थात्

---

* विशेष विवरण के लिए ५५२ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ५७१ वें सूत्र की व्याख्या देखना चाहिये।

‡ विस्तृत विवरण के लिए ५६८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

§ विशेष स्पष्टीकरण के लिए ५९३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

लिट्, लुट्, लृट्, आशीर्लिङ्, लुङ् और लृङ् लकारों में) 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्' आदेश होता है।

(३) जुहोत्यादिगण :—

१. जुहोत्यादिगण में पठित धातुओं से पर लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में 'शप्' का 'श्लु' (लोप) होता है। श्लु होने पर धातु का द्वित्व हो जाता है और लिट् लकार के अन्तर्गत उल्लिखित नियमों के अनुसार अभ्यास-कार्य होता है।*

२. भी, ह्री, भृ और हु धातुओं से लिट् परे होने पर विकल्प से 'आम्' प्रत्यय होता है और आम् प्रत्यय होने पर इन धातुओं को द्वित्व हो जाता है।

३. इस गण की धातुओं के पश्चात् प्रत्यय के झकार के स्थान पर लट् और लोट् में 'अत्' आदेश होता है।

४. लङ् लकार में 'झि' को 'जुस्' (उस्) हो जाता है। इस 'जुस्' प्रत्यय के परे रहते धातु के अन्त्य आकार का लोप हो जाता है और अन्तिम इ, उ, ऋ को गुण प्राप्त होता है।

५. कित् लिट् परे रहते शॄ, दॄ और पॄ धातुओं को विकल्प से ह्रस्व होता है।

६. सार्वधातुक कित्-ङित् हलादि प्रत्यय परे होने पर 'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक धातु (जिसका द्वित्व हुआ हो) के आकार को ईकार आदेश होता है, किन्तु घुसंज्ञक धातुओं के विषय में ऐसा नहीं होता। हा (ओहाक्–छोड़ना) धातु के आकार के स्थान पर विकल्प से इकारादेश भी होता है।

७. 'हि' परे रहते 'हा' धातु के आकार के स्थान पर इकार, ईकार और आकार आदेश होते हैं और इस प्रकार तीन रूप बनते हैं।

(४) दिवादिगण :—

१. लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में दिवादिगण की धातुओं से पर 'शप्' के स्थान पर 'श्यन्' (य) प्रत्यय होता है।

२. 'श्यन्' प्रत्यय परे होने पर धातु के ओकार का लोप हो जाता है।

३. शित्प्रत्यय (जैसे–श्यन्) परे होने पर 'ज्ञा' और 'जन्' धातुओं के स्थान पर 'जा' आदेश होता है।

४. कित् और ङित् ('श्यन्' प्रत्यय भी ङिद्वत् है) प्रत्यय परे होने पर ग्रह्, ज्या, वेञ्, व्यध् (वेधना, दिवादि०), वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज्—इन धातुओं को सम्प्रसारण होता है।

---

* देखिये लिट् लकार के अन्तर्गत दिया हुआ तीसरा नियम।

५. कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते सृज् और दृश् धातुओं को 'अम्' (अ) आगम होता है।

(५) स्वादिगण :—

१. स्वादिगण की धातुओं से लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में 'शप्' के स्थान पर 'श्नु' (नु) प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय शित् होने से सार्वधातुक और अपित् होने से ङिद्वत् होता है।

२. प्रत्यय के वकार और मकार के पूर्व 'नु' (श्नु) के उकार का विकल्प से लोप हो जाता है (जैसे—सु + नु + वः = सुन्वः, सुनुवः), किन्तु यदि 'नु' के पूर्व कोई व्यञ्जन हो तो उसके उकार का लोप नहीं होता (जैसे—साध् + नु + मः = साध्नुमः)।

(६) तुदादिगण :—

१. तुदादिगण की धातुओं से लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में 'शप्' के स्थान 'श' (अ) प्रत्यय हो जाता है। अपित् होने से यह प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

२. 'श्' प्रत्यय परे होने पर मुच्, लिप्, विद्, लुप्, सिच्, कृत्, खिद् और पिश् धातुओं को 'नुम्' (न्) आगम होता है।

३. दीर्घ ॠकारान्त धातु-अङ्ग के अन्त्य ॠकार के स्थान पर 'इर्' आदेश होता है।

४. अजादि प्रत्यय परे होने पर गॄ (निगलता) धातु के रकार को विकल्प से लकार होता है।

५. मृ (मरना) धातु से लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ् और लुङ् में आत्मनेपद तथा लिट्, लुट्, लृट् और लृङ् में परस्मैपद प्रत्यय होते हैं।

(७) रुधादिगण :—

१. रुधादिगण की धातुओं से पर 'शप्' के स्थान पर 'श्नम्' (न) प्रत्यय होता है। मित् होने से यह प्रत्यय धातु के अन्त्य अच् (स्वर-वर्ण) के बाद आता है। 'श्नम्' होने पर निम्नांकित कार्य होते हैं—

(क) यदि हलादि पित् प्रत्यय परे हो तो 'तृह्' धातु को 'श्नम्' करने पर 'इम्' (इ) आगम होता है।

(ख) 'श्नम्' से परे नकार का लोप होता है।

२. खाने के अर्थ में 'भुज्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं।

(८) तनादिगण :—

१. तनादिगण की धातुओं से लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में 'शप्' के स्थान पर 'उ' प्रत्यय होता है।

२. सार्वधातुक कित्-ङित् प्रत्यय परे रहते उ-प्रत्ययान्त 'कृञ्' धातु के अकार को उकार हो जाता है।

३, यकारादि, वकारादि और मकारादि प्रत्यय परे होने पर कृञ् धातु से पर 'उ' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

४. यकारादि कित् प्रत्यय परे रहते जन्, सन् और खन् धातुओं को आकार अन्तादेश होता है।

(९) क्र्यादिगण :—

१. क्र्यादिगण की धातुओं से पर 'शप्' के स्थान पर 'श्ना' (ना) प्रत्यय आदेश होता है।

२. स्तम्भु आदि धातुओं से पर 'शप्' के स्थान पर 'श्ना' और 'श्नु'—दोनों ही होते हैं।*

३. 'हि' परे रहते हल् (व्यञ्जन) से पर 'श्ना' को 'शानच्' (आन) हो जाता है।

४. शित् प्रत्यय (जैसे—'श्ना') परे रहते पूञ् आदि २४ धातुओं को ह्रस्व हो जाता है।†

(१०) चुरादिगण :—

१. चुरादिगण की धातुओं से लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में 'शप्' के स्थान पर 'णिच्' (इ) प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय णित् है, अतः इसके परे होने पर यथा-प्राप्त गुण और वृद्धि आदेश होते हैं।

२. णिजन्त धातुएं उभयपदी होती हैं।

३. लिट् में इन धातुओं से 'आम्' प्रत्यय होता है और कृ, भू तथा अस् का अनुप्रयोग होता है।

ण्यन्तप्रक्रिया

प्रेरणा अर्थ में धातु से 'णिच्' (इ) प्रत्यय लगता है। हिन्दी में पकाना से पकवाना, बनाना से बनवाना आदि प्रेरणार्थक क्रियाएं बनती हैं। संस्कृत में इन्हीं प्रेरणार्थक क्रियाओं (बनवाना, आदि) को प्रकट करने के लिए मूल धातु से 'णिच्' प्रत्यय जुड़ता है।

सादी धातु में जो कर्ता रहता है, वह प्रेरणार्थक धातु में स्वयं कार्य न करके किसी दूसरे से कार्य कराता है, जैसे 'राम खाता है'—इस वाक्य में राम खाने का काम

---

* ६८८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत विवरणके लिए ६९० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

स्वयं करता है, किन्तु 'राम खिलाता है'—इस वाक्य में राम स्वयं नहीं खाता, खाने का काम किसी और से कराता है।

इन प्रेरणार्थक धातुओं के रूप चुरादिगणी धातुओं के समान दसों लकारों, तीनों वाच्यों और दोनों पदों में चलते हैं। चुरादिगण की धातुओं के प्रेरणार्थक में भी वैसे ही रहते हैं जैसे सादे में।

सन्नन्तप्रक्रिया

किसी कार्य के करने की इच्छा का अर्थ बतलाने के लिए उस कार्य का अर्थ बतलानेवाली धातु के अनन्तर 'सन्' (स) प्रत्यय लगाया जाता है, जैसे—'वह पढ़ना, चाहता है' (स पिपठिषति)। किन्तु ध्यान रहे कि जो कर्ता पढ़ने की क्रिया का हो, वही इच्छा करनेवाला होना चाहिये। यदि दूसरा कर्ता होगा तो 'सन्' प्रत्यय नहीं लग सकता, जैसे—'मैं इच्छा करता हूँ कि वह पढ़े। उक्त वाक्य में इच्छा करनेवाला 'मैं' हूँ और पढ़नेवाला 'वह', अतः यहाँ 'सन्' प्रत्यय नहीं होगा। किन्तु 'मैं' उसे पढ़ाना चाहता हूँ'—इस वाक्य में 'सन्' लग सकता है, क्योंकि यहां 'पढ़ाना' और 'चाहना'—इन दोनों क्रियाओं का कर्ता एक ही है। इस प्रकार प्रेरणार्थक धातु के अनन्तर भी 'सन्' प्रत्यय लग सकता है, किन्तु तभी जब कि प्रेरणा करनेवाला और इच्छा करनेवाला व्यक्ति एक ही हो।

स्मरण रहे कि यह 'सन्' प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में इष्, अभिलष् आदि चाहने का अर्थ बतलानेवाली क्रियाओं का भी प्रयोग हो सकता है। उदाहरणार्थ 'वह पढ़ना चाहता है' का अनुवाद 'स पिपठिषति' और 'स पठितुमिच्छति अभिलषति वा'—इन दोनों ही रूपों में हो सकता है।

'सन्' परे होने पर लिट् लकार के अन्तर्गत दिये हुए नियमों के अनुसार धातु को द्वित्व हो जाता है। इस प्रकार बनी हुई सन्नन्त धातु के रूप धातु के पद के अनुसार दसों लकारों में चलते हैं। लिट् लकार में 'आम्' जोड़कर कृ, भू और अस् का अनुप्रयोग होता है।

यङन्तप्रक्रिया

क्रिया का बार-बार होना या अधिक होना अर्थ प्रकट करने के लिए एकाच् हलादि धातु (वह धातु जिसमें केवल एक ही स्वर आया हो और जिसके आदि में व्यञ्जन हो) से विकल्प से 'यङ्' (य) प्रत्यय होता है। पक्ष में 'पुनः पुनः', 'अतिशयेन' और 'भृशम्' आदि तदर्थवाचक शब्दों का भी प्रयोग हो सकता है, जैसे—'बार-बार होता है अथवा अधिक होता है' का अनुवाद 'बोभूयते' या 'पुनः पुनर्भवति अथवा अतिशयेन वा भृशं भवति–' इन दोनों ही रूपों में हो सकता है।

गत्यर्थक धातु (जैसे—व्रज्, जाना) से कौटिल्य अर्थ में 'यङ्' प्रत्यय होता है, बार-बार या अधिक अर्थ में नहीं, जैसे—'कुटिलं व्रजति इति वाव्रज्यते।'

सन्नन्त-प्रक्रिया की भांति यहां भी 'यङ्' होने पर धातु को द्वित्व होता है। अभ्यास के यहां कुछ विशेष कार्य होते हैं। इस प्रकार बनी हुई यङन्त धातु के आत्मनेपद में दसों लकारों में रूप चलते हैं।

यङ्लुगन्तप्रक्रिया

अजादि प्रत्यय परे रहते और कहीं-कहीं अन्यत्र भी धातु से विहित 'यङ्' का लुक् (लोप) हो जाता है, किन्तु 'यङ्' का लोप होने पर भी '१९०—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'यङ्' को उपस्थित मानकर यङन्त-प्रक्रिया के समान ही कार्य होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि यहां परस्मैपद में धातु के रूप बनते हैं, आत्मनेपद में नहीं।

नाम-धातु

जब किसी सुबन्त (संज्ञा आदि) के अनन्तर कोई प्रत्यय जोड़कर उसे धातु बना लेते हैं, तो उसे 'नामधातु' कहते हैं। 'नाम' वस्तुतः संज्ञा को ही कहते हैं, इसीलिए यह नाम पड़ा। पुस्तक में नाम-धातु सम्बन्धी दो प्रमुख प्रत्ययों का वर्णन किया गया है—

१. क्यच् प्रत्यय—

(क) जिस वस्तु की अपने लिए इच्छा करे, उस वस्तु के सूचक शब्द के अनन्तर 'क्यच्' (य) प्रत्यय लगता है, जैसे—'पुत्रम् आत्मनः इच्छति' (अपने लिए पुत्र की इच्छा करता है) वाक्य में अपने लिए पुत्र की इच्छा की जाती है, अतः तद्वाचक 'पुत्रम्' से 'क्यच्' प्रत्यय हो 'पुत्रीयति' रूप बनता है। इस अर्थ में विकल्प से 'काम्यच्' (काम्य) प्रत्यय भी होता है, यथा—पुत्रम् आत्मनः इच्छति = पुत्रीयति पुत्रकाम्यति वा।

(ख) किसी चीज को किसी के समान समझकर या मान कर उसके सम्बन्ध में तद्वत् आचरण करने के अर्थ में भी 'क्यच्' प्रत्यय प्रयुक्त होता है। इस अवस्था में जो या जिसके समान समझा जावे अर्थात् उपमान के अनन्तर 'क्यच्' प्रत्यय आता है, किन्तु इस उपमान को कर्म होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'छात्रं पुत्रमिवाचरति' (छात्र के साथ पुत्र का सा व्यवहार करता है)—इस वाक्य में उपमान 'पुत्रम्' है और वह कर्म भी है। अतः 'क्यच्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'पुत्रीयति'-रूप बनता है। इसी अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय भी होता है।

२. क्यङ् प्रत्यय :—

(क) चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' (पाप) शब्द से उत्साह अर्थ में 'क्यङ्' (य) प्रत्यय होता है, यथा—'कष्टाय क्रमते' (पाप करने को उत्साह करता है) = 'कष्टायते'।

(ख) कर्मभूत शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ—इन छः शब्दों से करने के अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है, जैसे—शब्दं करोति = शब्दायते।

ध्यान रहे कि क्यच्—प्रत्ययान्त धातुओं के परस्मैपद और क्यङ्—प्रत्ययान्त धातुओं के आत्मनेपद में रूप चलते हैं।

कण्ड्वादयः

कण्डूञ् (खुजलाना) आदि धातुओं से स्वार्थ में 'यक्' (य) प्रत्यय होता है।*

आत्मनेपदप्रक्रिया

१. कर्तृवाच्य में क्रिया का विनिमय (अदला-बदली) बताने में आत्मनेपद आता है। ध्यान रहे कि 'वि' और 'अति' उपसर्ग के योग से क्रिया-विनिमय सूचित होता है, अतः 'व्यति' युक्त धातुओं से ही आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं। किन्तु गति और हिंसा अर्थवाली धातुओं से क्रिया-विनिमय अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता, जैसे—व्यतिघ्नन्ति (दूसरे के बदले हिंसा करते हैं)।

२. 'नि' उपसर्गपूर्वक 'विश्' (प्रवेश करना, तुदादि०) धातु से आत्मनेपद होता है, यथा—'निविशते'।

३. 'परि', 'वि' या 'अव' उपसर्गपूर्वक 'क्री' (खरीदना, क्रयादि०) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं, जैसे—'परिक्रीणीते' आदि।

४. 'वि' या 'परा' उपसर्गपूर्वक 'जि' (जीतना, भ्वादि०) धातु से आत्मनेपद होता है, यथा—'विजयते'।

५. 'सम्', 'अव', 'प्र' या 'वि' उपसर्गपूर्वक 'स्था' (ठहरना, भ्वादि०) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं, जैसे—'संतिष्ठते' आदि।

६. छिपाने के अर्थ में 'ज्ञा' (जानना, क्रयादि०) धातु से आत्मनेपद होता है, यथा—'शतमपजानीते' (सौ को छिपाता है)। उक्त वाक्य में 'अप' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु छिपाने के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। अकर्मक 'ज्ञा' धातु से भी आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं।

७. 'उद्' उपसर्गपूर्वक सकर्मक 'चर्' (जाना, भ्वादि०) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं, जैसे—'धर्ममुच्चरते' (धर्म का उल्लंघन कर चलता है)। तृतीयान्त से युक्त 'सम्' पूर्वक 'चर्' धातु से भी आत्मनेपद होता है, यथा—'रथेन संचरते'।

* विशेष विवरण के लिए ७२० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

८. चतुर्थ्यर्थ में तृतीयान्त से युक्त 'सम्'पूर्वक 'दाण्' (देना, भ्वादि०) धातु से आत्मनेपद होता है। ध्यान रहे कि 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' वार्तिक से अशिष्ट-व्यवहार में ही 'दाण्' धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है, अतः वहीं पर 'सम्'पूर्वक 'दाण्' धातु से आत्मनेपद होगा, यथा—'दास्या संयच्छते कामी' (कामी पुरुषदासी के लिए देता है)।

९. आत्मनेपदी धातु से 'सन्' प्रत्यय होने पर भी आत्मनेपद ही होता है, जैसे—'एदिधिषते'।

१०. गन्धन (सूचन, शिकायत करना), अवक्षेपण (निन्दा, भर्त्सना), सेवन (सेवा करना), साहसिक्य (सहसा प्रवृत्त होना), प्रतियत्न (गुणों का आधान), प्रकथन (कहना) और उपयोग अर्थ में 'कृञ्' (करना, तनादि०) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं। यहां ध्यान रहे कि उपसर्ग जुड़ने पर ही 'कृञ्' धातु उक्त अर्थों का बोध करा सकती है, अतः उपर्युक्त अर्थों में उपसर्ग-युक्त 'कृञ्' धातु से ही आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं, जैसे—'उत्कुरुते' (शिकायत करता है) आदि।*

११. 'भोजन करना' अर्थ में 'भुज्' (रुधादि०) धातु से आत्मनेपद होता है—'ओदनं भुङ्क्ते' (भात खाता है)।

परस्मैपदप्रक्रिया

१. 'अनु' या 'परा' उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' (करना, तनादि०) धातु से (गन्धन आदि अर्थों और कर्तृगामी क्रिया-फल में भी†) परस्मैपद होता है, यथा—'अनुकरोति' या 'पराकरोति'।

२. 'अभि', 'प्रति' या 'अति' उपसर्गपूर्वक 'क्षिप्' (फेंकना, तुदादि०) धातु से कर्तृगामी क्रियाफल में भी परस्मैपद प्रत्यय होते हैं यथा—'अभिक्षिपति' आदि।

३. 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'वह्' (ले जाना, भ्वादि०) धातु से भी कर्तृगामी क्रिया-फल में परस्मैपद होता है, जैसे—'प्रवहति'।

४. 'परि' उपसर्गपूर्वक 'मृष्' (सहना, दिवादि०) धातु से परस्मैपद होता है, यथा—'परिमृष्यति'।

५. 'वि', 'आङ्' या 'परि' उपसर्गपूर्वक 'रम्' (खेलना, भ्वादि०) धातु से परस्मैपद प्रत्यय होते हैं, जैसे—'विरमति' आदि। 'उप'पूर्वक 'रम्' से भी परस्मैपद होता है, यथा—'उपरमति'।

---

* विस्तृत विवरण के लिए ७४४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ७४५ वें सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

भावकर्म-प्रक्रिया

१. भाववाच्य और कर्मवाच्य में धातुओं से आत्मनेपद प्रत्यय ही होते हैं।

२. सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते (लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् लकारों में) धातु से 'यक्' (य) प्रत्यय होता है। लिट्, लुट्, लृट्, लुङ्, लृङ् और आशीर्लिङ् लकारों में कर्म और भाव वाच्य में भी कर्तृवाच्यके समान ही रूप बनते हैं।

३. स्य, सिच्, सीयुट् और तास् परे होने पर हन्, ग्रह्, दृश् और स्वरान्त धातुओं को विकल्प से चिण्वद्भाव होता है और चिण्वद्भाव होने पर 'स्य' आदि को 'इट्' आगम भी होता है।*

कर्मकर्तृप्रक्रिया

जब सौकर्यातिशय बताने के लिए प्रसिद्ध कर्ता के व्यापार की अविवक्षा कर कर्म को ही अपने व्यापार में स्वतन्त्र होने से कर्ता बना दिया जाता है, तब उसे 'कर्मकर्ता' कहते हैं, जैसे—'पच्यते फलम्' (फल स्वयं पक रहा है) वाक्य में 'फलम्'। वस्तुतः समय फल पकाता है (कालः फलं पचति) और इस प्रकार फल कर्म है, किन्तु प्रसिद्ध कर्ता–'समय' की अविवक्षा कर कर्म–'फल' को ही कर्ता बना दिया गया है।

इस कर्मकर्तृवाच्य में कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रिय धातुओं से पूर्ववत् 'भावकर्म-प्रक्रिया' के समान ही आत्मनेपद और यक् आदि होते हैं। तात्पर्य यह कि कर्मकर्ता प्रथमा विभक्ति में होता है और क्रिया का रूप कर्मवाच्य की क्रिया के तुल्य होता है।

लकारार्थप्रक्रिया

१. स्मरणार्थक उपपद रहते अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से लृट् लकार होता है, यथा—'स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः' (कृष्ण, तुम्हें याद है हम लोग गोकुल में रहते थे)। किन्तु 'यत्' के योग में स्मरणार्थक उपपद रहते भी धातु से अनद्यतन भूत में लृट् नहीं होता। वहां यथाप्राप्त लङ् लकार ही होता है, जैसे—'अभिजानासि कृष्ण यद्वने अभुञ्ज्महि' (कृष्ण तुम्हें याद है कि हमने वन में खाया था)।

२. 'स्म' के योग में परोक्ष अनद्यतन भूत में लट् लकार होता है, यथा—'यजति स्म युधिष्ठिरः' (युधिष्ठिर ने यज्ञ किया था)। यह लिट् लकार का अपवाद है।

३. वर्तमान (लट्) में बताये गये प्रत्यय वर्तमान के निकटवर्ती भूत और भविष्यत् काल में भी विकल्प से होते हैं। उदाहरण के लिए 'कदाऽऽगतोऽसि' (कब आये हो ?) के उत्तर में कहा जा सकता है—'अयमागच्छामि' (यह आ ही रहा हूँ)। पक्ष में यथाप्राप्त लङ् हो 'अयमागमम्' रूप बनता है।

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ७५३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

४. हेतु और हेतुमान् क्रियाओं से विकल्प से लिङ् लकार होता है।* यथा—'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्' (कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख पावेगा)। पक्ष में लृट् हो 'कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति' रूप भी बनता है।

कृदन्तप्रकरण (कृत्यप्रक्रिया)

धातु में जिस प्रत्यय को जोड़कर संज्ञा, विशेषण या अव्यय बनता है, उसको 'कृत्' प्रत्यय कहते हैं और इसके द्वारा जो शब्द सिद्ध होता है उसको 'कृदन्त' (जिसके अन्त में 'कृत्' हो)।

कृत् और तिङ् प्रत्ययों में यह अन्तर है कि कृदन्त संज्ञा, विशेषण अथवा अव्यय होते हैं, क्रिया नहीं, किन्तु तिङन्त सदैव क्रिया ही होते हैं।

जो कृदन्त संज्ञा अथवा विशेषण होते हैं, उनके रूप चलते हैं और जो अव्यय होते हैं, वे एक-रूप रहते हैं। कभी-कभी कृदन्त क्रिया का कार्य करते दिखाई देते हैं, जैसे—'स गतः' (वह गया), किन्तु यहां भी कृदन्त वस्तुतः विशेषण ही होता है।

पुस्तक में आये हुए कृत् प्रत्ययों का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

कृत्य प्रत्यय—कृत्य प्रत्यय सात हैं—तव्यत् (तव्य), तव्य, अनीयर् (अनीय), केलिमर् (एलिम), यत् (य), क्यप् (य) और ण्यत् (य)। ये प्रत्यय सदा भाववाच्य और कर्मवाच्य में ही होते हैं, कर्तृवाच्य में नहीं, यथा—'छात्रैः पुस्तकं पठितव्यम्' (छात्रों को पुस्तक पढ़नी चाहिये) आदि। इनको संज्ञाओं के विशेषण स्वरूप भी प्रयोग में लाते हैं, जैसे—'पेयं जलम्' (पीने योग्य जल) आदि। हिन्दी में जो अर्थ 'चाहिए' और 'योग्य' आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है, प्रायः वही अर्थ संस्कृत में कृत्य-प्रत्ययों से प्रकट होता है। इस प्रकार कृत्य-प्रत्ययान्त शब्द धात्वर्थ के साथ ही साथ 'चाहिये' आदि अर्थों का भी बोध कराते हैं, जैसे—'पठितव्यम्' (पढ़ना चाहिये) आदि।

कृत्य-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप संज्ञाओं की भांति तीनों लिङ्गों में चलते हैं—पुँल्लिङ्ग में 'राम' की तरह, नपुंसकलिङ्ग में 'ज्ञान' की तरह और स्त्रीलिङ्ग में 'रमा' की तरह।

कृत्य प्रत्ययों के विषय में कुछ नियम आगे दिये जा रहे हैं—

(१) तव्यत्, तव्य, अनीयर् और केलिमर्—ये प्रत्यय साधारणतया सभी धातुओं से लगाये जा सकते हैं। इन प्रत्ययों के पूर्व धातु के अन्तिम स्वर और यदि अन्तिम स्वर न हो तो उपधा वाले ह्रस्व को गुण हो जाता है तथा साधारण सन्धि के नियम लगते हैं। 'सार्वधातुक और आर्धधातुक' शीर्षक के अन्तर्गत दिये हुए 'आर्धधातुक इट्' सम्बन्धी नियमों से यहाँ 'इट्' आगम भी होता है।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ७६५ वें सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

(२) यत्—यह प्रत्यय केवल ऐसी धातुओं से होता है जिनके अन्त में ऋकार को छोड़कर अन्य कोई स्वर हो अथवा जिनके अन्त में पवर्ग का कोई वर्ण हो और उपधा में अकार। 'यत्' के पूर्व स्वर को गुण हो जाता है। यदि आ, ए, ओ, ऐ या औ हो, उसके स्थान पर पहले ई होता है और फिर गुण आदेश।

(३) क्यप्—यह प्रत्यय इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ और जुष् धातुओं से होता है। 'क्यप्' परे रहते ह्रस्वान्त धातु को 'तुक्' (त्) आगम होता है। 'मृज्' धातु से विकल्प से 'क्यप्' प्रत्यय होता है। क्यप् के अभाव में उससे 'ण्यत्' प्रत्यय होता है।

(४) ण्यत्—यह प्रत्यय ऋवर्णान्त और हलन्त (व्यञ्जनान्त) धातुओं से होता है। इसके पूर्व ऋवर्ण को वृद्धि (आर्) हो जाती है। यदि उपधा में अकार हो तो उसे वृद्धि (आ) हो जाता है और यदि कोई और स्वर हो तो उसे बहुधा गुण प्राप्त होता है।

पूर्वकृदन्त

इस प्रकरण में ण्वुल्, तृच्, ल्यु, णिनि, अच्, क, अण्, ट, खश्, खच्, मनिन्, क्वनिप्, वनिप्, विच्, क्विप्, ड, क्त, क्तवतु, कानच्, क्वसु, शतृ, शानच्, तृन्, षाकन्, उ, ष्ट्रन् और इत्र—इन २७ कृत्-प्रत्ययों का वर्णन हुआ है। नीचे उनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

(क) कर्तृवाचक कृत्-प्रत्यय—

१. ण्वुल् (वु) और तृच् (तृ)—ये प्रत्यय किसी भी धातु के अनन्तर उस धातु से सूचित कार्य को करने वाले के अर्थ में लगाये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'पठ्' धातु का अर्थ है—'पढ़ना'। अब इस कार्य (पढ़ना) को करने वाला अर्थात् 'पढ़ने वाला' अर्थ प्रकट करने के लिए 'पठ्' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय हो 'पाठक' और 'तृच्' प्रत्यय हो 'पठितृ' रूप बनते हैं। 'ण्वुल्' प्रत्यय 'अक' रूप में प्रयुक्त होता है और उसके पूर्व धातु में वृद्धि हो जाती है। 'तृच्' परे होने पर धातु को प्रायः गुण हो जाता है। सेट् धातुओं के पश्चात् 'तृच्' को इट् आगम भी होता है। ण्वुल्-प्रत्ययान्त शब्दों के अकारान्त और तृच्-प्रत्ययान्त शब्दों के ऋकारान्त संज्ञाओं के समान रूप चलते हैं।

२. ल्यु और अच् (अ)—नन्दि (नन्द्) आदि धातुओं के अनन्तर 'ल्यु' (अन) प्रत्यय लगाकर और पच् आदि धातुओं के अनन्तर 'अच्' (अ) प्रत्यय लगाकर कर्तृवाचक शब्द बनाये जाते हैं,* जैसे—'नन्द्+ल्यु (अन) = नन्दन (आनन्द देने वाला) और 'पच्+अच् (अ) = पच (पचाने वाला)। इन शब्दों के रूप अकारान्त संज्ञाओं के समान चलते हैं।

---

* विस्तृत स्पष्टीकरण के लिए ७८६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

३. णिनि (इन्)—इस प्रत्यय का प्रयोग निम्न अवस्थाओं में होता है—

(अ) ग्रह् आदि धातुओं से 'णिनि' (इन्) प्रत्यय लगाकर कर्तृवाचक शब्द बनाये जाते हैं, यथा—ग्रह् + णिनि (इन्) = ग्राहिन् (ग्रहण करने वाला)।

(आ) जातिवाचक (जैसे-ब्राह्मण, गो आदि) से भिन्न सुबन्त (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण) उपपद रहते ताच्छील्य (स्वभाव, आदत) अर्थ में धातु से 'णिनि' (इन्) प्रत्यय होता है, जैसे—उष्णं + भुज् + णिनि = उष्णभोजिन् (उष्ण भोजन करने की आदत वाला)।

(इ) सुबन्त उपपद रहते 'मन्' धातु से भी (चाहे आदत प्रकट हो या न हो) 'णिनि' प्रत्यय लगता है, यथा—दर्शनीयं + मन् + णिनि = दर्शनीयमानिन् (सुन्दर समझने वाला)।

(ई) करण-कारक उपपद रहते भूतकाल में 'यज्' धातु से कर्ता अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होता है, जैसे—सोमेन + यज् + णिनि = सोमयाजिन् (जिसने सोम यज्ञ किया हो, वह)।

ध्यान रहे कि 'णिनि' परे रहते धातु को वृद्धि होती है। णिनि-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप नकारान्त संज्ञाओं के समान चलते हैं।

४. क (अ)—इगुपध (जिस धातु की उपधा में इ, उ, ऋ या ऌ हो), ज्ञा, प्री और कृ धातुओं से कर्ता-अर्थ में 'क' (अ) प्रत्यय होता है, यथा—बुध् + क = बुध (जानने वाला)। उपसर्ग-सहित आकारान्त धातु (तथा ए, ऐ, ओ और औ में अन्त होने वाली जो धातु आकारान्त हो जाती है, उस धातु) से भी 'क' प्रत्यय होता है, जैसे—प्रज्ञा + क = प्रज्ञ (प्रकृष्ट जानने वाला)। यदि गेह (घर) कर्ता हो तो उस अर्थ में 'ग्रह्' धातु से 'क' प्रत्यय होता है, यथा—ग्रह् + क = गृह।

'क' प्रत्यय परे होने पर यथाप्राप्त गुण और वृद्धि नहीं होते। क-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप अकारान्त संज्ञाओं के ही समान चलते हैं।

५. अण् (अ)—कर्म उपपद रहते धातु से कर्ता-अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है और अण् परे रहते धातु को वृद्धि हो जाती है, जैसे—कुम्भं + कृ + अण् = कुम्भकार (घड़ा बनाने वाला)। किन्तु कर्म उपपद रहने पर भी उपसर्ग-रहित आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है, अण् नहीं, यथा—'गां दा + क' = गोद (गाय देने वाला)। इसके अतिरिक्त 'मूलविभुज' आदि* शब्दों से भी उक्त अर्थ में 'क' प्रत्यय ही होता है, अण् नहीं।

अण्-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप क-प्रत्ययान्त शब्दों के समान ही चलते हैं।

---

* विस्तृत विवरण के लिए ७९१ वें सूत्र के अन्तर्गत वार्तिक की व्याख्या देखिये।

६. ट (अ)—अधिकरण उपपद रहते 'चर्' धातु से कर्ता-अर्थ में 'ट' (अ) प्रत्यय होता है, जैसे 'कुरुषु + चर् + ट' = 'कुरुचर' (कुरु देश में विचरण करने वाला) भिक्षा, सेना या आदाय उपपद रहते भी 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है, यथा—भिक्षां + चर् + ट = 'भिक्षाचर' (भिक्षा लाने वाला)। इसके अतिरिक्त हेतु, ताच्छील्य (स्वभाव) और आनुलोम्य (अनुकूलता) अर्थ में कर्म उपपद रहने पर भी 'कृञ्' (करना) धातु से 'ट' प्रत्यय होता है, जैसे—यशः + कृ + ट = यशस्कर (यश का हेतु या यश को करने वाली)।

ट-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त संज्ञाओं के समान और स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय लगकर बनते हैं।

७. खश् (अ)—णिजन्त एज् (कांपना) धातु से 'खश्' (अ) प्रत्यय होता है, यथा—जनम् एजि + खश् = 'जनमेजय' (लोगों को कँपाने वाला)। सुबन्त उपपद रहते स्वकर्मक मनन अर्थ में वर्तमान 'मन्' धातु से भी विकल्प से 'खश्' प्रत्यय होता है, यथा—'पण्डितं मन् + खश्' = पण्डितंमन्य (अपने को पण्डित मानने वाला)। खश् के अभाव में 'णिनि' प्रत्यय हो 'पण्डितमानिन्' रूप बनता है।

'खश्' प्रत्यय शित् होने से सार्वधातुक है, अतः उसके परे रहते धातु से यथा-प्राप्त 'शप्' और 'श्यन्' आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त 'खश्'-प्रत्ययान्त धातु परे होने पर अरुष् , द्विषत् और स्वरान्त उपपद (यदि वह अव्यय न हो) को 'मुम्' (म्) आगम होता है और पूर्वपद के दीर्घ स्वर (यदि पूर्वपद अव्यय न हो) को ह्रस्व भी होता है।

'खश्'-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त संज्ञाओं के समान और स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय लग कर बनते हैं।

८. खच् (अ)—'प्रिय' या 'वश' उपपद रहते 'वद्' धातु से कर्ता-अर्थ में 'खच्' (अ) प्रत्यय आता है, जैसे—प्रियम् + वद् + खच् = 'प्रियंवद' (प्रिय बोलने वाला)। ध्यान रहे कि यहां भी खच्-प्रत्ययान्त धातु परे होने पर पूर्ववत् उपपद को 'मुम्' (म्) आगम होता है। 'खच्'-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप 'खश्'-प्रत्ययान्त शब्दों के समान ही बनते हैं।

९. मनिन् (मन्), वनिप् (वन्) और विच्—ये प्रत्यय कुछ ही धातुओं से होते हैं, यथा—'सु शृ + मनिन्' = सुशर्मन् (अच्छी तरह हिंसा करने वाला), वि जन् + वनिप् = विजावन् (अनेक रूपों में होने वाला) तथा 'रिष् + विच्' = रेष् (हिंसक)। 'वनिप्' प्रत्यय परे रहते अनुनासिक वर्ण (जैसे-नकार आदि) को आकार हो जाता है और ह्रस्व वर्ण को 'तुक्' (त्) आगम होता है। 'विच्' प्रत्यय का सर्वापहार लोप हो जाता है, कुछ भी शेष नहीं रहता।

१०. क्वनिप् (वन्)—यह प्रत्यय भी कुछ विशेष धातुओं से कर्ता-अर्थ में होता है, जैसे—प्रातर् इण् + क्वनिप् = 'प्रातरित्वन्' (प्रातः जाने वाला)। इसके अतिरिक्त कर्म उपपद रहते भूतकाल में वर्तमान 'दृश्' धातु से भी कर्ता-अर्थ में 'क्वनिप्' (वन्) प्रत्यय होता है, यथा—पारम् + दृश् + क्वनिप् = पारदृश्वन् (जिसने पार देख लिया हो, वह)। इसी प्रकार कर्म—'राजन्' या 'सह' उपपद रहते भी युध् और कृञ् (करना) धातुओं से 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है, जैसे—'राजयुध्वन्' (राजा को लड़ाने वाला) और 'सहयुध्वन्' आदि।

'क्वनिप्' प्रत्यय परे होने पर भी पूर्ववत् अनुनासिक वर्ण को आकार हो जाता है और ह्रस्व वर्ण को 'तुक्' (त्) आगम। 'क्वनिप्' परे रहते यथाप्राप्त गुण और वृद्धि नहीं होते।

११. क्विप्—उपसर्ग या निरुपसर्ग सुबन्त उपपद रहते धातु से कर्ता-अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय होता है, जैसे—उखायाः + स्रंस् + क्विप् = उखास्रस् (हांडी से गिरने वाला)। भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, और ग्राव-पूर्वक 'स्तु' धातु से भी 'क्विप्' प्रत्यय होता है, यथा—भास् + क्विप् = भास् (चमक)। इसके अतिरिक्त वच्, प्रच्छ्, आयत-पूर्वक स्तु, कट-पूर्वक प्रु, जु, और श्रि धातु से 'क्विप्' होता है और 'क्विप्' होने पर धातु को दीर्घ होता है तथा 'प्रच्छ्' को सम्प्रसारण नहीं होता। ध्यान रहे कि उक्त धातुओं से यह प्रत्यय शील, धर्म या साधुकारिता अर्थ में होता है।

'क्विप्' प्रत्यय का सर्वापहार लोप हो जाता है, कुछ भी शेष नहीं रहता। लोप हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण द्वारा 'क्विप्' को उपस्थित मानकर धातु को यथाप्राप्त गुण-वृद्धि नहीं होता और यदि धातु में नकार हो तो उसका लोप हो जाता है। यदि धातु ह्रस्वान्त हो तो उसको 'तुक्' (त्) आगम होता है।

१२. ड (अ)—सप्तम्यन्त उपपद रहते 'जन्' धातु से 'ड' (अ) प्रत्यय होता है, यथा—सरसि + जन् + ड = 'सरसिज' अथवा 'सरोज' (तालाब में पैदा होने वाला)। उपसर्ग उपपद रहने पर भी 'जन्' धातु से संज्ञा अर्थ में 'ड' (अ) प्रत्यय होता है, जैसे—प्र + जन् + ड = प्रजा। 'ड' प्रत्यय परे होने पर धातु की 'टि' का लोप हो जाता है।

ड-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त संज्ञाओं के समान और स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय लगकर बनते हैं।

(ख) करणार्थक कृत्-प्रत्यय

१३. ष्ट्रन् (त्र)—दाप् (काटना), नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्

मिह्, पत्, दश् और नह्–इन धातुओं से करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' (त्र) प्रत्यय होता है, यथा—दाप्+ष्ट्रन् (त्र) = दात्र (जिससे काटा जावे, दराती आदि)।

ष्ट्रन् प्रत्यय को 'इट्' आगम नहीं होता और ष्ट्रन् प्रत्यय परे रहते यथाप्राप्त गुण होता है।

१४. इत्र—यह प्रत्यय भी ऋ (जाना), लू, धू, सू, खन्, सह् और चर् धातुओं से करण अर्थ में होता है, जैसे—लू+इत्र = लवित्र (जिससे काटा जावे, चाकू आदि)।

'इत्र' प्रत्यय आर्धधातुक है, अतः उसके परे रहते यथाप्राप्त गुण हो जाता है। 'इत्र' प्रत्ययान्त शब्द प्रायः नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

'पू' धातु से भी करण अर्थ में 'इत्र' प्रत्यय होता है, यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी की संज्ञा हो, यथा—पू+इत्र = 'पवित्र' (कुश से बना हुआ, दर्भ)।

(ग) शील-धर्म-साधुकारितावाचक कृत्-प्रत्यय :—

१५. तृन् (तृ)—किसी भी धातु से शील, धर्म या साधुकारिता (भली प्रकार सम्पादन) अर्थ में 'तृन्' (तृ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कृ' (करना) धातु से 'तृन्' प्रत्यय हो 'कर्तृ' रूप बनता है, जिसका अर्थ होगा—करना जिसका स्वभाव हो, जैसे—'कर्ता कटान्' (जो चटाइयां बनाया करता है अथवा जिसका धर्म चटाई बनाना हो या जो भली प्रकार चटाइयां बनाता हो)।

'तृन्' प्रत्यय आर्धधातुक है, अतः उसके परे रहते यथाप्राप्त गुण होता है। ध्यान रहे कि 'तृन्'–प्रत्ययान्त और 'तृच्'–प्रत्ययान्त शब्दों के रूप एक-से होते हैं, केवल अर्थ में ही अन्तर होता है।

१६. षाकन् (आक)—जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट् और वृङ्–इन धातुओं से शील, धर्म या साधुकारिता अर्थ में 'षाकन्' (आक) प्रत्यय होता है, जैसे—'जल्प्+षाकन् (आक) = जल्पाक (बोलना जिसका स्वभाव हो)।

षाकन्–प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त संज्ञाओं के समान और स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय लगकर बनते हैं।

१७. उ—यह प्रत्यय सन्-प्रत्ययान्त (इच्छावाची), आशंस् और भिक्ष् धातुओं से शील, धर्म या साधुकारिता अर्थ में होता है, यथा—भिक्ष्+उ = 'भिक्षु' (भीख मांगना जिसका स्वभाव हो)।

इसके अतिरिक्त शील आदि अर्थों में 'क्विप्' प्रत्यय भी होता है, जिसका उल्लेख 'कर्तृवाचक कृत्–प्रत्यय' (क) के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है।

(घ) भूतकाल के कृत्-प्रत्यय—

१८. क्त (त) और क्तवतु (तवत्)—इन दोनों प्रत्ययों को 'निष्ठा' भी

कहते हैं। ये दोनों प्रत्यय प्रायः सभी धातुओं के अनन्तर भूतकाल अथवा समाप्ति का अर्थ बताने के लिए लगाये जाते हैं। इनके रूप तीनों लिङ्गों और सातों विभक्तियों में विशेष्य के अनुसार होते हैं। क्त-प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त तथा स्त्री-लिङ्ग में आकारान्त होते हैं। क्तवतु-प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसक-लिङ्ग में तकारान्त और स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्त होते हैं।

क्तवतु-प्रत्यय कर्तृवाच्य और क्त-प्रत्यय कर्मवाच्य और भाववाच्य में होता है। इस प्रकार क्तवतु-प्रत्ययान्त शब्द कर्ता का विशेषण होता है और क्त-प्रत्ययान्त शब्द कर्मवाच्य में कर्म का विशेषण, यथा—स भुक्तवान् (कर्तृवाच्य) और 'रामेण सीता त्यक्ता' (कर्मवाच्य)। भाववाच्य में 'क्त'-प्रत्ययान्त शब्द सदा प्रथमा के नपुंसक-लिङ्ग-एकवचन में होते हैं, जैसे—स्नातं मया (मैं ने स्नान कर लिया)।

सेट् धातु से पर इन प्रत्ययों को 'इट्' आगम होता है और इन के परे रहते यथाप्राप्त गुण-आदेश नहीं होता। अन्य नियमों के लिए ८१६–८२७ सूत्रों की व्याख्या देखिये।

१९. कानच् (आन) और क्वसु (वस्)—धातु से लिट् (परोक्षभूत) के अर्थ का बोध कराने के लिए 'कानच्' (आन) और 'क्वसु' (वस्) प्रत्यय होते हैं। परस्मैपदी धातुओं से 'क्वसु' और आत्मनेपदी धातुओं से 'कानच्' प्रत्यय होता है, जैसे—'गम् + क्वसु' = जगन्वान् (गया) और 'कृ+कानच्' = चक्राण (किया)।

इन प्रत्ययों के परे होने पर भी लिट् के समान धातु को द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होते हैं। 'क्वसु' परे रहते मकारान्त धातु के अन्त्य मकार को नकार हो जाता है।

(ङ) वर्तमान और भविष्यकाल के प्रत्यय :

२०. शतृ (अत्) और शानच् (आन)—इन प्रत्ययों को 'सत्' भी कहते हैं। जब कई व्यापार एक ही समय में एक ही कर्ता के द्वारा हो रहे हों तो परस्मैपदी धातुओं से शतृ (अत्) और आत्मनेपदी धातुओं से 'शानच्' (आन) प्रत्यय होते हैं। अङ्ग्रेजी की क्रिया में 'ing' लगा कर या हिन्दी में क्रिया के साथ 'ता हुआ' लगाकर जिन अर्थों का बोध होता है, उन्हीं अर्थों की प्रतीति संस्कृत में 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय लगाने से होती है, यथा—पच् + शतृ = पचत् (पकाता हुआ) या 'पच् + शानच् = पचमान' (पकाता हुआ)। ये प्रत्यय किसी धातु में जुड़कर उस धातु द्वारा बोधित वर्तमान काल की क्रिया की प्रतीति कराते हैं। भविष्य काल (लृट्) में भी उक्त अर्थों में इन प्रत्ययों का प्रयोग होता है, जैसे—'करिष्यत्' (शतृ) और 'करिष्यमाण' (शानच्)।

इन प्रत्ययों के परे रहते वर्तमानकाल में यथाप्राप्त 'शप्' आदि और भविष्यकाल में 'स्य' आदि होते हैं। 'शानच्' परे होने पर अकारान्त अङ्ग को 'मुक्' (म्) आगम होता है और 'विद्' धातु से पर 'शतृ' के स्थान पर विकल्प से 'वसु' (वस्) हो जाता है।

शतृ और शानच्-प्रत्ययान्त शब्द विशेषण के रूप में प्रयोग होते हैं। प्रायः शतृ-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में तकारान्त और स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्त संज्ञाओं के समान बनते हैं। शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त और स्त्रीलिङ्ग में आकारान्त संज्ञाओं की भांति चलते हैं।

(च) उणादि प्रत्यय

२१. उण् (उ)—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अश् धातुओं से उण् (उ) प्रत्यय होता है, यथा—कृ + उण् = कारु। णित् होने से 'उण्' प्रत्यय परे रहते यथाप्राप्त वृद्धि आदि कार्य होते हैं।

उत्तरकृदन्त

इस प्रकरण के अन्तर्गत तुमुन्, घञ्, अच्, अप्, क्त्रि, अथुच्, नङ्, नन्, कि, क्तिन्, क्विप्, अ, युच्, क्त, ल्युट्, घ, खल्, क्त्वा, ल्यप् और णमुल्—इन शेष बीस कृत्-प्रत्ययों का विवेचन हुआ है, जिनका विवरण इस प्रकार है :—

(छ) क्रियार्थक प्रत्यय :—

२२. तुमुन् (तुम्)—जब एक क्रिया के लिए कोई दूसरी क्रिया की जाय तब क्रिया के लिए दूसरी क्रिया होती है, उस क्रिया के वाचक धातु से 'तुमुन्' (तुम्) प्रत्यय होता है, जैसे—'रामं द्रष्टुं गच्छामि' (राम को देखने के लिए जाता हूँ)। यहां 'देखना' और 'जाना' दो क्रियाएं हैं और जाने की क्रिया देखने के निमित्त होती है, इसलिए 'देखना' क्रिया के वाचक 'दृश्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय जोड़ कर 'द्रष्टुम्' बनाया गया है। ध्यान रहे कि जिस क्रिया के साथ तुमुन्-प्रत्ययान्त शब्द आता है, उस क्रिया का तथा तुमुन्-प्रत्ययान्त क्रिया का कर्ता एक ही होना चाहिये, भिन्न कर्ता होने से तुमुन्-प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। हां, काल, समय और वेला शब्दों के साथ एक कर्ता न होने पर भी तुमुन्-प्रत्ययान्त शब्द प्रयुक्त होता है, यथा—'गन्तुं कालोऽयम् अस्ति' (यह समय जाने के लिए है)।

तुमुन्-प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होता है, इसलिए उसके रूप नहीं चलते।

(ज) भावार्थ कृत्-प्रत्यय :—

२३. घञ् (अ)—भाव* का अर्थ प्रकट करने के लिए धातु से 'घञ्' (अ)

* जब कोई धात्वर्थ सिद्ध या पूरा हो जाता है, तब भाव कहलाता है।

प्रत्यय होता है, जैसे—पच् + घञ् = पाक (पक जाना)। इसके अतिरिक्त कर्ता से भिन्न कारक (जैसे—करण, अधिकरण आदि) अर्थ में भी धातु से संज्ञा में 'घञ्' प्रत्यय होता है, यथा—रञ्ज् + घञ् = राग (जिससे रंगा जावे, वह)। निवास चेतना, शरीर और उपसमाधान (राशीकरण, ढेर लगाना) अर्थ में 'चिञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है और 'चिञ्' धातु के चकार को ककार। उदाहरण के लिए 'नि' उपसर्गपूर्वक 'चिञ्' धातु से निवास अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय और चकार को ककार हो 'निकाय' (निवास) रूप बनता है।

'घञ्' प्रत्यय घित् और ञित् है, अतः इसके परे रहते यथाप्राप्त वृद्धि आदि कार्य होते हैं। घञ्-प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं।

२४. अच् (अ)—इकारान्त और ईकारान्त धातुओं से भाव अर्थ में 'अच्' (अ) प्रत्यय होता है, घञ् प्रत्यय नहीं, यथा—जि + अच् = जय (जीतना)।

'अच्' प्रत्यय परे होने पर यथाप्राप्त गुण होता है। अच्-प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग भी पुँल्लिङ्ग में ही होता है।

२५. अप् (अ)—दीर्घ ऋकारान्त और उवर्णान्त (उकारान्त और ऊकारान्त) धातुओं से भाव अर्थ में 'अप्' (अ) प्रत्यय होता है, जैसे—कॄ + अप् = कर (बिखेरना)।

इन अप्-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप अच्-प्रत्ययान्त शब्दों की भांति पुँल्लिङ्ग में ही चलते हैं।

२६. क्त्रि (त्रि)—यह प्रत्यय ऐसी धातुओं से होता है, जिनका 'डु' इत्संज्ञक हो। सिद्ध अर्थ में इस क्त्रि-प्रत्ययान्त में 'मप्' प्रत्यय भी होता है। उदाहरण के लिए 'पच्' (डुपचष्) धातु का 'डु' इत्संज्ञक है, अतः उससे 'क्त्रि' (त्रि) प्रत्यय हो 'पक्त्रि' रूप बनने पर 'मप्' (म) प्रत्यय हो 'पक्त्रिम' (पका हुआ) रूप सिद्ध होता है।

क्त्रि-प्रत्ययान्त शब्दों का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है।

२७. अथुच् (अथु)—यह प्रत्यय ऐसी धातुओं से होता है, जिनका 'टु' इत्संज्ञक हो। उदाहरणार्थ 'वेप्' (टुवेपृ—कांपना) धातुका 'टु' इत्संज्ञक है, अतः भाव अर्थ में उससे 'अथुच्' प्रत्यय हो 'वेपथु' (कांपना) रूप बनता है। ये अथुच्-प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं।

२८. नङ् (न)—यज्, याच्, यत्, विच्छ् (चमकना), प्रच्छ्, और रक्ष्—इन धातुओं से भाव अर्थ में 'नङ्' (न) प्रत्यय होता है, जैसे—यज् + नङ् = यज्ञ, या 'याच् + नङ्' = याच्ञा।

'याच्ञा' को छोड़कर अन्य नङ्-प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

२९. नन् (न)—यह प्रत्यय 'स्वप्' धातु से होता है, यथा—स्वप् + नन् = स्वप्न ।

३०. कि (इ)—उपसर्गपूर्वक घुसंज्ञक (जैसे—दा, धा आदि) धातुओं से भाव अर्थ में 'कि' (इ) प्रत्यय होता है, जैसे—प्र + धा + कि = प्रधि (नेमि) आदि।

कि-प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग होते हैं।

३१. क्तिन् (ति)—धातु से 'क्तिन्' (ति) प्रत्यय जोड़कर स्त्रीलिङ्ग भाववाचक शब्द बनाये जाते हैं, यथा—कृ + क्तिन् = कृति। दीर्घ ॠकारान्त और लू आदि धातुओं से पर 'क्तिन्' (ति) के तकार को नकार हो जाता है।

क्तिन्-प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं।

३२. क्विप्—यह प्रत्यय 'सम्' आदि उपसर्गपूर्वक 'पद्' धातु से विकल्प से होता है, जैसे—सम् + पद् + क्विप् = संपद्। ध्यान रहे कि 'क्विप्' प्रत्यय का सर्वापहार लोप हो जाता है, कुछ भी शेष नहीं रहता। क्विप्-प्रत्यय लगकर बने हुये ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

पक्ष में उपसर्ग-पूर्वक 'पद्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय हो 'संपत्ति' आदि रूप बनते हैं।

३३. अ—जिन धातुओं में पहले ही से कोई प्रत्यय (जैसे—सन्, यङ् आदि) लगा हो, उनसे स्त्रीलिङ्ग में भाववाचक शब्द बनाने के लिए 'अ' प्रत्यय जोड़ा जाता है। उदाहरण के लिए सन्-प्रत्ययान्त 'चिकीर्ष्' धातु से 'अ' प्रत्यय हो 'चिकीर्ष' रूप बनता है। यहां स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय हो 'चिकीर्षा' (करने की इच्छा) सिद्ध होता है।

यदि धातु हलन्त (व्यञ्जनान्त) हो और उसमें कोई गुरु अक्षर (संयुक्त व्यञ्जन अथवा दीर्घ स्वर) भी हो, तो उससे स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय होता है, यथा—ईह् + अ = ईह, ईह + टाप् = ईहा (चेष्टा)।

३४. युच् (अन)—आस्, श्रन्थ् और णिच्-प्रत्ययान्त (प्रेरणार्थक) धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में भावार्थ प्रत्यय 'युच्' (अन) होता है। वस्तुतः यह 'अ' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए णिच्-प्रत्ययान्त 'कारि' से 'युच्' प्रत्यय हो 'कारण' रूप बनता है। तब स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय हो 'कारणा' (यातना) रूप सिद्ध होता है।

३५. क्त (त) और 'ल्युट्' (अन)—नपुंसकलिङ्ग भाववाचक शब्द बनाने के लिए धातुओं से 'क्त' (त) या 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय जोड़ा जाता है, जैसे—'हस् + क्त' = हसित या 'हस् + ल्युट्' = हसन। ध्यान रहे कि सेट् धातुओं से पर 'क्त' को 'इट्' आगम हो जाता है। ये क्त-प्रत्ययान्त और ल्युट्-प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं।

३६. घ (अ)—पुँल्लिङ्ग संज्ञाएं बनाने के लिए प्रायः धातुओं से 'घ' (अ) लगाया जाता है। 'घ' प्रत्यय परे रहते द्वि-उपसर्गहीन (जिसमें दो उपसर्ग न हों) छादि अङ्ग की उपधा को ह्रस्व हो जाता है, जैसे—दन्तच्छद (दन्त + छादि + घ)। किन्तु हलन्त (व्यञ्जनान्त) तथा 'अव'-उपसर्गपूर्वक तॄ और स्तॄ धातुओं से 'घञ्' (अ) प्रत्यय होता है, 'घ' प्रत्यय नहीं, यथा—रम् + घञ् = राम।

ये 'घ'-प्रत्ययान्त और 'घञ्'-प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग होते हैं।

(झ) खलर्थ कृत्-प्रत्यय :—

३७. खल् (अ)—ईषद् (अल्प), दुस् (कठिनता से) और सु (सरलता से)-इन शब्दों के योग में धातुओं से 'खल्' (अ) प्रत्यय होता है। वास्तव में यह प्रत्यय कठिनता और सरलता का बोध कराता है, यथा—सुकृ + खल् = 'सुकर' आदि। आकारान्त धातुओं से उक्त अर्थ में 'युच्' (अन) प्रत्यय होता है, जैसे—ईषत् + पा + युच् = 'ईषत्पान' आदि।

ये 'खल्' और 'युच्' प्रत्यय भाववाच्य और कर्मवाच्य में ही होते हैं। इनसे बने हुए खल्-प्रत्ययान्त और युच्-प्रत्ययान्त शब्द कर्म के विशेषण हो सकते हैं।

(ञ) पूर्वकालिक-क्रियावाचक प्रत्यय :—

३८. क्त्वा (त्वा) और ल्यप् (य)—जब एक क्रिया हो चुकने पर दूसरी क्रिया होती है और दोनों क्रियाओं का कर्ता एक ही होता है, तब पहले हो चुकनेवाली क्रिया को 'पूर्वकालिक क्रिया' कहते हैं, जैसे—'वह खाकर जाता है।' यहाँ जाने की क्रिया खाने की क्रिया हो चुकने पर होती है और इन दोनों क्रियाओं का कर्ता भी एक ('वह') ही है, अतः 'खाना' क्रिया 'पूर्वकालिक-क्रिया' होगी। हिन्दी में इस पूर्वकालिक क्रिया को 'कर' या 'करके' जोड़कर प्रकट करते हैं और संस्कृत में 'क्त्वा' (त्वा) प्रत्यय लगाकर, यथा—'स भुक्त्वा व्रजति' (वह खाकर जाता है)। किन्तु 'नञ्' को छोड़कर अन्य कोई उपसर्ग या उपसर्गस्थानीय उपपद रहते पूर्वकालिक-क्रियावाचक धातु से 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' (य) प्रत्यय होता है, जैसे—प्रकृ + ल्यप् = प्रकृत्य (करके)। इन प्रत्ययों के विषय में निम्नांकित नियमों का ध्यान रखना चाहिये :—

(अ) सेट् धातुओं से पर 'क्त्वा' प्रत्यय को 'इट्' आगम होता है, किन्तु उदित् (जिनका उकार इत्संज्ञक हो) धातुओं से पर यह 'इट्'-आगम विकल्प से होता है।

(आ) 'क्त्वा' प्रत्यय परे रहते 'धा' (धारण करना) और 'हा' (छोड़ना) धातुओं को 'हि' हो जाता है।

(इ) 'ल्यप्' प्रत्यय परे रहते ह्रस्वान्त (जिसके अन्त में कोई स्वर ह्रस्व हो) अङ्ग को 'तुक्' (त्) आगम होता है।

'क्त्वा' और 'ल्यप्' प्रत्ययान्त शब्दों के रूप नहीं चलते।

पूर्वकालिक क्रिया का बोध कराने के अतिरिक्त 'क्त्वा' का प्रयोग एक अन्य रूप में भी होता है। प्रतिषेधार्थक 'अलम्' या 'खलु' उपपद रहते धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय ही होता है, यथा—पीत्वा खलु (मत पियो) या 'अलं दत्त्वा' (मत दो)।

(ट) आभीक्ष्ण्यवाचक कृत् प्रत्यय :—

३९. णमुल् (अम्)—जब किसी क्रिया को बार-बार करने का भाव सूचित करना हो तब तदर्थवाचक धातु से 'णमुल्' (अम्) प्रत्यय होता है और प्रत्ययान्त शब्द दो बार रक्खा जाता है। उदाहरण के लिए 'वह बार-बार याद करके शिव को प्रणाम करता है'—इस वाक्य में याद करने की क्रिया बार-बार होती है, अतः संस्कृत में तदर्थवाचक 'स्मृ' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय हो रूप बनता है—'स्मारं स्मारम्' (सम्पूर्ण वाक्य का अनुवाद होगा—'स्मारं स्मारं नमति शिवम्')। उक्त अर्थ में विकल्प से 'क्त्वा' प्रत्यय भी होता है, जैसे—'स्मृत्वा स्मृत्वा नमति शिवम्'।

इसके अतिरिक्त जब 'कृ' धातु के पूर्व अन्यथा, एवम्, कथम् और इत्थम् शब्द आवे और 'कृ' धातु का अर्थ वाक्य में इष्ट न हो, केवल इन अव्ययों का अर्थ प्रकट करना ही अभीष्ट हो, तो भी 'कृ' धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है, जैसे—अन्यथाकारम् (अन्य प्रकार से) आदि। ध्यान रहे कि 'णमुल्' प्रत्यय परे रहते यथाप्राप्त वृद्धि होती है।

'क्त्वा'–प्रत्ययान्त शब्दों की भाँति 'णमुल्'-प्रत्ययान्त शब्दों के भी रूप नहीं चलते।

विभक्त्यर्थ-प्रकरण

इस प्रकरण में यह बताया गया है कि कौन-सी विभक्ति किस अर्थ में होती है। नीचे सभी विभक्तियों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जा रहा है—

(१) **प्रथमा विभक्ति**—इस विभक्ति का उपयोग केवल प्रातिपदिक का अर्थ बतलाने के लिए, केवल लिङ्ग बतलाने के लिए, केवल परिमाण बतलाने के लिए अथवा केवल वचन बतलाने के लिए है, जैसे—'रामः' (प्रातिपदिकार्थ) आदि। ध्यान रहे कि कर्तृवाच्य में कर्ता और कर्मवाच्य में कर्म से प्रथमा विभक्ति होती है। इसके अतिरिक्त सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति होती है, यथा—'हे राम!'

(२) **द्वितीया विभक्ति**—कर्तृवाचक में कर्म से द्वितीया विभक्ति होती है। इस के अलावा दुह्, याच्, पच्, दण्ड्, रुध्, प्रच्छ्, चि (चुनना), ब्रू, शास्, जि, मथ्, मुष् (चुराना), नी (ले जाना), हृ, कृष् और वह्—इन १६ धातुओं के योग में अपादान आदि कारकों से भी (यदि वे अविवक्षित हों, तो) द्वितीया

विभक्ति होती है, जैसे—'गां दोग्धि पयः' (गाय से दूध दुहता है)। यहां 'दूध' (पय) कर्म है और 'गो' अपादान। फिर भी 'दुह्' धातु के योग में यहां 'गो' से द्वितीया विभक्ति हुई है।

(३) तृतीया विभक्ति—यह विभक्ति करण-कारक और भाव तथा कर्मवाच्य कर्ता-कारक से होती है, यथा—'रामेण बाणेन हतो बाली' (राम ने बाण से बाली को मारा)। उक्त वाक्य कर्मवाच्य में है और 'राम' कर्ता है तथा 'बाण' करण। इसी से दोनों से ही तृतीया विभक्ति हुई है।

(४) चतुर्थी विभक्ति—सम्प्रदान कारक से चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे—'विप्राय गां ददाति' (विप्र को गौ देता है)। इसके अतिरिक्त नमस् (नमः), स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् (समर्थ अर्थ में) तथा वषट्—इन शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है, यथा—'हरये नमः' (हरि को नमस्कार) आदि।

(५) पंचमी विभक्ति—अपादान कारक से पञ्चमी विभक्ति होती है, जैसे—'ग्रामात् आयाति' (ग्राम से आता है)।

(६) षष्ठी विभक्ति—यह विभक्ति स्वामि-भृत्य, जन्य-जनक और कार्य-कारण आदि सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होती है, यथा—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)। ध्यान रहे कि सम्बन्धी पदार्थों में जो विशेषण होता है, उसी से षष्ठी विभक्ति होती है। उदाहरणार्थ उक्त वाक्य में 'राजन्' विशेषण है, अतः उसी से षष्ठी विभक्ति हुई है।

(७) सप्तमी विभक्ति—अधिकरण कारक से सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे—'तिलेषु तैलम्' (तिलों में तैल है)।

इनके अतिरिक्त भी विभक्त्यर्थ-विषयक अन्य बहुत से नियम हैं, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में उनका उल्लेख नहीं हुआ है।

समास-प्रकरण

'समास' शब्द 'सम्' (भली प्रकार) उपसर्ग-पूर्वक 'अस्' (फेंकना) धातु से बना है और उसका प्रायः वही अर्थ है जो 'संक्षेप' शब्द का। जब दो या दो से अधिक शब्दों को इस प्रकार जोड़ा जावे कि उनके आकार में कमी हो जावे किन्तु अर्थ में कोई कमी न हो, तो उसे 'समास' कहते हैं, जैसे—सभायाः पतिः = 'सभापतिः'। यहाँ 'सभापतिः' का वही अर्थ है जो 'सभायाः पतिः' का, किन्तु दोनों शब्दों को मिला देने से 'सभायाः' शब्द के विभक्तिसूचक प्रत्यय (–याः) का लोप हो गया और इस प्रकार 'सभापतिः' शब्द 'सभायाः पतिः' से छोटा हो गया।

समास के मुख्य भेद पांच हैं—१. केवल-समास, २. अव्ययीभाव, ३. तत्पुरुष, ४. बहुव्रीहि और ५. द्वन्द्व। कर्मधारय और द्विगु—ये दोनों समास तत्पुरुष के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। अव्ययीभाव समास में समास का प्रायः प्रथम पद प्रधान रहता है, तत्पुरुष में प्रायः द्वितीय और द्वन्द्व में प्रायः दोनों ही। बहुव्रीहि समास में दोनों पदों में से एक भी प्रधान नहीं रहता, दोनों मिलकर किसी अन्यपद के विशेषण होते हैं। इन सभी समासों का पृथक् पृथक् वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

(१) केवल समास—जिस समास का कोई विशेष नाम न कहा गया हो, उसे 'केवल समास' कहते हैं, यथा—'भूतपूर्वः' (जो पहले हो चुका हो)।

(२) अव्ययीभाव—'अव्ययीभाव' शब्द का यौगिक अर्थ है—'जो अव्यय नहीं हो, उसका अव्यय हो जाना'। अव्ययीभाव समास में दो पद रहते हैं, जिनमें से प्रथम पद प्रायः अव्यय होता है और दूसरा पद संज्ञा। ये दोनों पद मिलकर अव्यय हो जाते हैं, यथा 'अधिहरि' (हरि में)। यहां 'अधि' अव्यय है और 'हरि' संज्ञा, किन्तु दोनों का मिला हुआ रूप 'अधिहरि' अव्यय हो जाता है। अव्यय होने से किसी भी अव्ययीभाव शब्द के रूप नहीं चलते। समस्त पद सदा नपुंसकलिङ्ग के एकवचन में रहता है।

(३) तत्पुरुष—तत्पुरुष उस समास को कहते हैं जिसमें प्रथम पद द्वितीय पद के विशेषण का कार्य करे। 'तत्पुरुष' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—१. तस्य पुरुषः = तत्पुरुषः और २. सः पुरुषः = तत्पुरुषः। इन दो अर्थों के अनुसार ही तत्पुरुष समास के दो मुख्य भेद होते हैं—(क) व्यधिकरण और (ख) समानाधिकरण या कर्मधारय।

(क) व्यधिकरण तत्पुरुष—जिस तत्पुरुष समास में प्रथम पद और द्वितीय पद भिन्न-भिन्न विभक्तियों में हों, उसे 'व्यधिकरण तत्पुरुष समास' कहते हैं, जैसे—'राज्ञः पुरुषः' = राजपुरुषः। यहां प्रथम पद 'राज्ञः' षष्ठी विभक्ति में है और द्वितीय पद 'पुरुषः' प्रथमा विभक्ति में। इस प्रकार दोनों पदों के भिन्न-भिन्न विभक्तियों में होने से 'व्यधिकरण तत्पुरुष' हुआ। इस 'व्यधिकरण तत्पुरुष' के छः भेद हैं—

१. द्वितीया तत्पुरुष	२. तृतीया तत्पुरुष
३. चतुर्थी तत्पुरुष	४. पञ्चमी तत्पुरुष
५. षष्ठी तत्पुरुष, और	६. सप्तमी तत्पुरुष

यदि समास का प्रथम पद द्वितीया विभक्ति में हो, तो वह द्वितीया 'तत्पुरुष' होगा, यथा—कृष्णं श्रितः = कृष्णश्रितः (कृष्ण पर आश्रित)। इसी प्रकार प्रथम पद जिस विभक्ति में होगा, उसी विभक्ति के नाम पर समास का भी नाम होगा। विशेष नियमों के लिए ९२४–९३४ सूत्रों की व्याख्या देखनी चाहिये।

(ख) समानाधिकरण तत्पुरुष (कर्मधारय)—जिस तत्पुरुष समास में प्रथम पद और द्वितीय पद एक ही विभक्ति में हों, उसे 'समानाधिकरण तत्पुरुष' कहते हैं, जैसे—कृष्णः सर्पः = कृष्णसर्पः (काला सांप) । यहां प्रथम पद 'कृष्णः' प्रथमा विभक्ति में है और द्वितीय पद 'सर्पः' भी प्रथमा विभक्ति में ही । अतः दोनों पदों के एक ही विभक्ति में होने से यहां 'समानाधिकरण तत्पुरुष' हुआ । इस समास को 'कर्मधारय' समास भी कहते हैं, क्योंकि इस समास की क्रिया समास के दोनों पदों को धारण करती है । उदाहरण के लिए 'कृष्णसर्पः अपसर्पति' (काला सांप जाता है)—इस वाक्य में सर्प जब क्रिया करता है तो उसके साथ 'कृष्णत्व' भी रहता है ।

'समानाधिकरण तत्पुरुष' (कर्मधारय) के कुछ भेद इस प्रकार हैं—

१. विशेषणपूर्वपद कर्मधारय—जिस समानाधिकरण तत्पुरुष में प्रथम पद विशेषण और दूसरा पद विशेष्य होता है, उसे 'विशेषणपूर्वपद कर्मधारय' कहते हैं, जैसे—'कृष्णसर्पः' ।

२. उपमानपूर्वपद कर्मधारय—यह उस समानाधिकरण तत्पुरुष को कहते हैं जिसमें एक पद उपमान (जिससे किसी की उपमा दी जावे) वाचक और दूसरा पद साधारणधर्म (वह गुण जिसके आधार पर उपमा दी जावे) वाचक हो, यथा—घनः इव श्यामः = घनश्यामः (मेघ के समान श्यामवर्ण वाला) ।

३. द्विगु—जिस समानाधिकरण तत्पुरुष में प्रथम पद संख्यावाची हो और दूसरा पद कोई संज्ञा, उसे 'द्विगु' समास कहते हैं, जैसे—पञ्चानां गवां समाहारः = पञ्चगवम् (पांच गायों का समुदाय) । ध्यान रहे कि समाहार (समूह) अर्थ में यह 'द्विगु' समास सदैव नपुंसकलिङ्ग के एकवचन में रहता है ।

इन मुख्य भेदों (व्यधिकरण और समानाधिकरण) के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के भी तत्पुरुष समास होते हैं, जैसे—

(अ) नञ् तत्पुरुष समास—यह उस तत्पुरुष समास को कहते हैं जिसका प्रथम पद 'नञ्' (न) हो और द्वितीय पद कोई संज्ञा या विशेषण, यथा—न ब्राह्मणः = अब्राह्मणः (ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण न हो) । उत्तरपद परे रहते 'नञ्' (न) के नकार का लोप हो जाता है और अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर हो) उत्तरपद को 'नुट्' (न्) आगम होता है ।

(आ) प्रादि तत्पुरुष समास—जिस तत्पुरुष समास का प्रथम पद 'कु', गति-संज्ञक या 'प्र' आदि होता है, उसे 'प्रादि तत्पुरुष समास' कहते हैं, जैसे—'कुपुरुषः' (कुत्सितः पुरुषः = बुरा आदमी), 'प्राचार्यः' (प्रगतः आचार्यः) आदि ।

(इ) उपपद तत्पुरुष समास—जिस तत्पुरुष समास का प्रथम पद उपपद

और द्वितीय पद कृदन्त (कृत्-प्रत्ययान्त) होता है, उसे 'उपपद तत्पुरुष समास' कहते हैं, जैसे—कुम्भं करोति = कुम्भकारः (कुम्हार)।

(४) बहुव्रीहि

जिस समास में आये हुए दोनों (या अधिक हों तो सब) पद किसी अन्य पद के विशेषणस्वरूप होते हैं, उसे 'बहुव्रीहि' समास कहते हैं। 'बहुव्रीहि' शब्द का अर्थ ही है—'बहुः व्रीहिः (धान्यं) यस्य अस्ति सः बहुव्रीहिः' (जिसके पास बहुत अन्न हो, वह)। इसमें दो शब्द हैं—'बहु' और 'व्रीहि'। यहां प्रथम पद दूसरे पद का विशेषण है, और दोनों मिलकर किसी अन्य (तीसरे) पद के विशेषण बनते हैं। इसीलिए इस प्रकार के समासों को 'बहुव्रीहि' कहते हैं।

तत्पुरुष समास में प्रथम पद द्वितीय पद का विशेषण होता है, जैसे—पीतम् अम्बरम् = पीताम्बरम् (कर्मधारय तत्पुरुष), किन्तु बहुव्रीहि में इसके अतिरिक्त दोनों मिलकर किसी तीसरे शब्द के विशेषण होते हैं, यथा—पीताम्बरः = पीतम् अम्बरं यस्य सः (जिसका पीला कपड़ा हो अर्थात् श्रीकृष्ण)। इस प्रकार प्रकरणानुसार एक ही समास तत्पुरुष या बहुव्रीहि हो सकता है।

तत्पुरुष के समान ही बहुव्रीहि भी व्यधिकरण और समानाधिकरण–इन दो प्रकार का होता है। यह समास प्रथमा विभक्ति को छोड़कर अन्य विभक्तियों के अर्थ में होता है। इस अर्थ को लौकिक विग्रह में 'यद्' (जो) शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है। जिस विभक्ति के अर्थ में समास होता है, 'यद्' शब्द से उस विभक्ति को जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार 'यद्' की विभक्ति को ही देखकर जाना जाता है कि समास किस अर्थ में हुआ है, जैसे—प्राप्तम् उदकं यम् = प्राप्तोदकः (द्वितीया विभक्ति)।

(५) द्वन्द्व

जब 'च' शब्द से जुड़ी हुई दो या दो से अधिक संज्ञाओं का समास होता है, तब उस समास को 'द्वन्द्व' कहते हैं। 'द्वन्द्व' का अर्थ ही है—दो।

इस समास के तीन भेद हैं—

(क) इतरेतर द्वन्द्व—जब समास में आई हुई संज्ञाएँ अपना प्रधानत्व और पृथक् व्यक्तित्व रखती हैं, तब उसे 'इतरेतर द्वन्द्व' कहते हैं, जैसे—शिवश्च केशवश्च = शिवकेशवौ (शिव और केशव)। यदि संज्ञाएँ दो हों तो समस्त पद द्विवचन में और यदि दो से अधिक संज्ञाए हों, तो समस्त पद बहुवचन में होता है। इसका लिङ्ग उत्तरपद (अन्तिम शब्द) के अनुसार ही होता है।

(ख) समाहार द्वन्द्व—जिस द्वन्द्व समास में आई हुई संज्ञाएँ अपना अर्थ

बतलाने के साथ ही साथ प्रधानतया समाहार (समूह) का बोध कराती हैं, उसे 'समाहार द्वन्द्व' कहते हैं, यथा—पाणी च पादौ च = पाणिपादम् (हाथ और पैर)। समस्त पद सदा नपुंसकलिङ्ग के एकवचन में होता है।

(ग) एकशेष द्वन्द्व—जिस द्वन्द्व समास में दो या दो से अधिक पदों में से केवल एक ही शेष रह जाता है, उसे 'एकशेष द्वन्द्व' कहते हैं, जैसे—माता च पिता च = पितरौ (माता और पिता)। समस्त पद का वचन समास के अङ्गभूत शब्दों की संख्या के अनुसार होता है। यदि समास में पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग-दोनों प्रकार के शब्द मिले हों तो समस्त पद पुँल्लिङ्ग में होता है।

तद्धित-प्रकरण

जिन प्रत्ययों को संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण आदि से जोड़ कर कुछ और अर्थ भी निकाला जाता है, उन प्रत्ययों को 'तद्धित' कहते हैं, यथा—संज्ञा-शब्द 'दिति' से 'ण्य' (तद्धित प्रत्यय) जुड़कर 'दैत्य' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—दिति की सन्तान। वस्तुतः 'तद्धित' शब्द का अर्थ ही है—ऐसे प्रत्यय जो विभिन्न प्रयोगों में काम आ सकें (तेभ्यः प्रयोगेभ्यः हिताः इति तद्धिताः)। पाणिनि मुनि ने 'अष्टाध्यायी' में इन प्रत्ययों का वर्णन 'तद्धिताः' (४.१.७६) सूत्र से लेकर पञ्चम अध्याय के अन्त तक किया है।

कृत् और तद्धित प्रत्ययों में यह अन्तर है कि 'कृत्' प्रत्यय सदा धातु से ही जोड़े जाते हैं, किन्तु तद्धित प्रत्यय किसी संज्ञा, सर्वनाम या विशेषण आदि से जुड़ते हैं।

ये तद्धित-प्रत्यय अनेक हैं और अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। कभी-कभी एक ही प्रत्यय कई-कई अर्थों में होता है, जैसे—ठञ् (इक) प्रत्यय 'खरीदा हुआ' अर्थ में होता है (यथा—'प्रास्थिकम्') और 'निर्वृत्त' अर्थ में भी (यथा—आह्निकम्)। इसलिए तद्धित-प्रत्ययान्त शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार करना चाहिये।

इन तद्धित-प्रत्ययों को जोड़ते समय कुछ सामान्य नियमों का ध्यान रखना चाहिये—

१. जिस शब्द से ञित्, कित् या णित् तद्धित-प्रत्यय जोड़ा जाता है, उस शब्द के प्रथम स्वर को वृद्धि-आदेश हो जाता है।

२. स्वरादि या यकारादि तद्धित-प्रत्यय परे रहते अङ्ग के अन्त में आने वाले अ, आ, इ या ई का लोप हो जाता है और उ या ऊ को गुण (ओ) आदेश।

३. स्वरादि और यकारादि तद्धित-प्रत्यय परे होने पर नकारान्त अङ्ग की 'टि' का लोप हो जाता है।

(क) अपत्यार्थ-प्रकरण

जिन तद्धित प्रत्ययों को संज्ञाओं में जोड़ने से अपत्य (सन्तान : पुत्र या पुत्री) अर्थ का बोध होता है, उन्हें 'अपत्यार्थ प्रत्यय' कहते हैं। इनमें से कुछ प्रत्यय गोत्रापत्य (पौत्र आदि) का भी बोध कराते हैं। नीचे कतिपय प्रमुख प्रत्ययों का वर्णन किया जा रहा है—

१. अण् (अ)—यह प्रत्यय अश्वपति आदि* और शिव आदि† शब्दों से अपत्यार्थ में होता है, जैसे—अश्वपति + अण् = आश्वपतम् (अश्वपति की सन्तान)। इसके अतिरिक्त इसी अर्थ में ऋषि, अन्धक (यादव), वृष्णि और कुरु–इन शब्दों से भी 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। सम्, संख्या और भद्र-पूर्वक 'मातृ' शब्द से भी 'अण्' प्रत्यय होता है और साथ ही 'मातृ' शब्द के ऋकार को 'उर्' आदेश, यथा—द्विमातृ + अण् = द्वैमातुरः (दो माताओं की सन्तान)। अपत्य अर्थ में 'कन्या' शब्द से 'अण्' होता है और 'कन्या' के स्थान पर 'कनीन' आदेश, जैसे—कन्या + अण् = कानीनः।

२. ण्य (य)—जिन शब्दों का उत्तरपद दिति, अदिति, आदित्य या पति हो, उनसे अपत्य अर्थ में 'ण्य' (य) प्रत्यय होता है, यथा—दिति + ण्य = दैत्यः (दिति की सन्तान)। इसके अतिरिक्त क्षत्रिय और जनपदवाचक 'कुरु' और नकारादि शब्दों से भी 'ण्य' प्रत्यय होता है, जैसे—कुरु + ण्य = 'कौरव्यः' (कुरु की सन्तान)।

३. अञ् (अ)—उत्स आदि‡ शब्दों से अपत्य अर्थ में यह प्रत्यय होता है, जैसे—उत्स + अञ् = औत्सः (उत्स की सन्तान)। इसके अतिरिक्त क्षत्रियवाचक जनपदवाची शब्द से भी अपत्य और राजा अर्थ में यह प्रत्यय होता है, यथा—पञ्चाल + अञ् = पाञ्चालः (पञ्चाल की सन्तान या पञ्चालों का राजा)। बिदादिगण§ में पठित ऋषि-वाचक शब्दों से गोत्रापत्य और ऋषिभिन्न-वाचक शब्दों से अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है, जैसे—बिद + अञ् = बैदः (बिद ऋषि का पौत्र आदि)।

४. नञ् (न) तथा स्नञ् (स्न)—'स्त्री' शब्द से 'नञ्' (न) और 'पुंस्' शब्द से 'स्नञ्' (स्न) प्रत्यय होता है, यथा—'स्त्री + नञ्' = स्त्रैणः (स्त्री की सन्तान) आदि।

---

* विस्तृत विवरण के लिए ९९५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत विवरण के लिए देखिये १०१४ वें सूत्र की व्याख्या।

‡ विस्तृत विवरण के लिए ९९९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

§ देखिये १०१३ वें सूत्र की व्याख्या।

५. यञ् (य)—'गर्ग' आदि* से गोत्रापत्य (पौत्र आदि) अर्थ में 'यञ्' (य) प्रत्यय होता है, जैसे—गर्ग + यञ् = गार्ग्यः (गर्ग का पौत्र आदि)।

६. इञ् (इ)—अकारान्त प्रातिपदिक तथा बाहु आदि† शब्दों से अपत्य अर्थ में 'इञ्' (इ) प्रत्यय होता है, यथा—दक्ष + इञ् = दाक्षिः (दक्ष की सन्तान) आदि।

७. ढक् (एय)—यह प्रत्यय स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से होता है, जैसे—विनता + ढक् = वैनतेयः (विनता की सन्तान)।

८. यत् (य)—'राजन्' शब्द से जाति अर्थ में और 'श्वशुर' शब्द से अपत्य अर्थ में 'यत्' (य) प्रत्यय होता है, यथा—राजन् + यत् = राजन्यः (क्षत्रिय जाति)। ध्यान रहे कि यहां यकारादि तद्धित-प्रत्यय परे होने के कारण 'टि'–'अन्' का लोप नहीं हुआ।

अपत्य अर्थ में 'राजन्' से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है और अण् परे होने पर भी टि–'अन्' का लोप नहीं होता, जैसे—'राजनः'–राजा की सन्तान (राजन् + अण्)।

९. घ (इय)—यह प्रत्यय 'क्षत्र' शब्द से जाति अर्थ में होता है, जैसे—क्षत्र + घ = क्षत्रियः (क्षत्रिय जाति)।

१०. ठक् (इक)—'रेवती' आदि‡ शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ठक्' (इक) प्रत्यय होता है, यथा—रेवती + ठक् = रैवतिकः (रेवती की सन्तान)।

ध्यान रहे कि अपत्य अर्थ में प्रत्यय षष्ठ्यन्त पद से ही होते हैं, यथा—'दितेरपत्यम्'—इस विग्रह में षष्ठ्यन्त 'दितेः' से 'ण्य' प्रत्यय हो 'दैत्यः' रूप बनता है।

(ख) रक्ताद्यर्थक-प्रकरण

जो तद्धित-प्रत्यय 'रक्त' (रँगा हुआ) आदि अर्थों में होते हैं, उन्हें 'रक्ताद्यर्थक-प्रत्यय' कहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उनका वर्णन हुआ है, इसी से इसे 'रक्ताद्यर्थक-प्रकरण' कहते हैं।

इस प्रकरण में 'रक्त', 'तेन दृष्टं साम' (उसने साम को देखा), नक्षत्र से युक्त काल, 'परिवृतो रथः' (उससे घिरा हुआ रथ), 'तत्रोद्धृतम्' (उसमें निकाल कर रखा हुआ), संस्कृत (यदि संस्कृत पदार्थ खाने की वस्तु हो, तो), 'साऽस्य देवता' (वह इसका देवता है), समूह और 'तदधीते तद्वेद' (उसको पढ़ता या जानता

---

* देखिये १००५ वें सूत्र की व्याख्या।

† विस्तृत विवरण के लिए देखिये १०१२ वें सूत्र की व्याख्या।

‡ देखिये १०२३ वें सूत्र की व्याख्या।

है)—इन अर्थों में 'अण्' आदि प्रत्ययों का विवेचन हुआ है। यहां इनमें से कुछ प्रमुख अर्थों और तत्सम्बन्धी प्रत्ययों का उल्लेख किया जा रहा है—

१. रक्त (रँगा हुआ)—इस अर्थ में वर्ण-वाचक तृतीयान्त पद से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है, जैसे—'कषायेण रक्तम्' में वर्ण-वाचक तृतीयान्त पद 'कषायेण' से 'अण्' प्रत्यय हो 'काषायम्' रूप बनता है।

२. साऽस्य देवता (वह इसका देवता है)—इस अर्थ में प्रथमान्त देवतावाचक शब्द से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है, जैसे—'इन्द्रो देवताऽस्य' = ऐन्द्रम् (इन्द्र + अण्)। इसी अर्थ में 'शुक्र' शब्द से घन् (इय), 'सोम' शब्द से 'ट्यण्' (य्) तथा वायु, ऋतु, पितृ और उषस् शब्दों से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है।

३. समूह—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त पद से 'अण्' प्रत्यय होता है, यथा—'काकानां समूहः' = काकम् (काक + अण्), किन्तु ग्राम, जन, बन्धु, गज और सहाय (सहायक) शब्दों से 'तल्' (त) प्रत्यय होता है। तल्-प्रत्ययान्त शब्द सदा स्त्रीलिङ्ग में ही रहते हैं। इसी अर्थ में 'अहन्' शब्द से 'ख' (ईन) प्रत्यय और अचित्त (अचेतन)-वाचक, हस्ती तथा धेनु शब्दों से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होगा।

४. तदधीते तद्वेद (उसको पढ़ता या जानता है)—इस अर्थ में साधारणतया द्वितीयान्त पद से 'अण्' प्रत्यय होता है, जैसे—व्याकरण + अण् = 'वैयाकरण' (व्याकरणमधीते वेत्ति वा), किन्तु 'क्रम' आदि* द्वितीयान्त पदों से 'वुन्' (अक) प्रत्यय होता है, यथा—'क्रमकः'।

इनके अतिरिक्त 'तेन दृष्टं साम', नक्षत्र से युक्त काल और 'परिवृतो रथः' अर्थों में तृतीयान्त पद से तथा 'तत्रोद्धृतम्' (उसमें निकाल कर रखा हुआ) और संस्कृत अर्थों में सप्तम्यन्त से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है।

(ग) चातुरर्थिक-प्रकरण

इस प्रकरण में 'इसमें है', 'उसने बसाया', 'उनका निवास' और 'उससे जो दूर नहीं है'—इन चार अर्थों में 'अण्' (अ) आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है, इसी से इसे 'चातुरर्थिक-प्रकरण' कहते हैं। ध्यान रहे कि ये चारों अर्थ देश के ही लिए आये हैं। प्रथम अर्थ में जिस देश में जो वस्तु अधिकता से होती है, उस वस्तु के नाम से उस देश को कहा जाता है, जैसे—उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे इति औदुम्बरो देशः (वह देश जिसमें उदुम्बर अर्थात् गूलर हों)। इस अर्थ में प्रथमान्त पद से प्रायः 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है, किन्तु प्रथमान्त कुमुद, नड और वेतस शब्दों से 'ड्मतुप्' (मत्) प्रत्यय होता है। शाद और नड शब्दों से

---

* विस्तृत विवरण के लिए १०५२ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

इसी अर्थ में 'ड्वलच्' (वल) तथा 'शिखा' शब्द से 'वलच्' (वल) प्रत्यय होता है।

दूसरे अर्थ में जिसने उस नगर को बसाया या बनवाया हो, उसके नाम से भी उसे कहा जाता है। इस अर्थ में तृतीयान्त पद से सामान्यतया 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है, यथा—कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी = कौशाम्बी (कुशाम्ब नाम के राजा के द्वारा बसाई गई नगरी)।

तीसरे अर्थ में देश के निवासियों के नाम से देश को कहा जाता है, जैसे—शिबीनां निवासो देशः—शैबः (शिबि नामक निवासियों का देश)। इस अर्थ में षष्ठयन्त पद से साधारणतया 'अण्' प्रत्यय होता है।

चौथे अर्थ में किसी नगर को उस नगर के नाम से भी कहा जाता है जिससे वह दूर न हो। तात्पर्य यह कि कभी-कभी किसी नगर या देश को उसके निकटवर्ती नगर या देश के नाम से भी जाना जाता है, यथा—विदिशायाः अदूरभवं नगरम् = वैदिशम् (वह नगर जो विदिशा नगरी से दूर न हो)। इस अर्थ में भी षष्ठ्यन्त पद से ही सामान्यतः 'अण्' प्रत्यय होता है।

(घ) शैषिक-प्रकरण

जिन अर्थों का उल्लेख अपत्यार्थ, रक्ताद्यर्थक और चातुरर्थिक प्रकरणों के अन्तर्गत नहीं हुआ है, उन अर्थों को 'शेष' कहते हैं और उन अर्थों में होने वाले प्रत्ययों को 'शैषिक'। प्रस्तुत प्रकरण में मुख्यतया 'जातः' (उत्पन्न हुआ), प्रायभव (अधिकतर होने वाला), सम्भूत (सम्भावना), भव (होने वाला), आगत (आया हुआ), प्रभवति (निकलना), 'जाता है' (यदि जाने वाला दूत या मार्ग हो, तो), अभिनिष्क्रमण (यदि अभिनिष्क्रमण का कर्ता द्वार हो), 'सोऽस्य निवासः' (यह इसका निवास है), प्रोक्त और 'तस्येदम्' (उसका यह है)—इन ग्यारह अर्थों में होने वाले शैषिक प्रत्ययों का वर्णन हुआ है। इन सभी अर्थों में सामान्यतः 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है—जातः, प्रायभव, संभूत और भव अर्थों में सप्तम्यन्त पद से, आगत और प्रभवति अर्थों में पञ्चम्यन्त पद से, 'जाता है' और अभिनिष्क्रमण अर्थों में द्वितीयान्त पद से, 'सोऽस्य निवासः' अर्थ में प्रथमान्त पद से, 'प्रोक्त' अर्थ में तृतीयान्त पद से तथा 'तस्येदम्' अर्थ में षष्ठ्यन्त पद से। कुछ विशेष परिस्थितियों में इस 'अण्' के स्थान पर 'घ' (इय), ख (ईन), य, खञ् (ईन), ढक् (एय), त्यक् (त्य), छ (ईय) और ठञ् (इक) आदि अन्य प्रत्यय भी होते हैं।

(ङ) प्राग्दीव्यतीय-प्रकरण

इस प्रकरण में मुख्य रूप से विकार और अवयव अर्थों में यथाविहित प्रत्ययों का विधान हुआ है। साधारणतया प्राणिवाचक, औषधिवाचक और वृक्षवाचक षष्ठयन्त शब्दों से विकार और अवयव अर्थों में तथा अन्य षष्ठ्यन्त शब्दों से विकार अर्थ में

'अण्' (अ) प्रत्यय होता है, जैसे—मयूर + अण् = मायूरः (मयूर का अङ्ग या विकार)। यदि अवयव या विकार भक्ष्य या आच्छादन न हो, तो किसी भी षष्ठ्यन्त पद से अवयव और विकार—इन दोनों ही अर्थों में 'मयट्' (मय) प्रत्यय होता है। वृद्धसंज्ञक और शर आदि शब्दों से भी यही प्रत्यय होगा*। हां, 'गो' शब्द से 'मयट्' प्रत्यय पुरीष (गोबर) अर्थ में होता है। अवयव और विकार अर्थों में 'गो' और 'पयस्' शब्द से 'यत्' (य) प्रत्यय होगा।

(च) ठगधिकार-प्रकरण

इस प्रकरण में 'ठक्' (इक) प्रत्यय का विवेचन हुआ है। सामान्यतः यह प्रत्यय तृतीयान्त पद से 'दीव्यति' (जुआ खेलता है), खनति (खोदता है), जयति (जीतता है), जितम् (जीता हुआ) और संस्कृतम् (संस्कार किया हुआ) अर्थों में होता है, यथा—अक्षैर्दीव्यति = आक्षिकः (अक्ष + ठक्)। इस 'आक्षिकः' का अर्थ होगा—'वह मनुष्य जो अक्ष (पाँसे) से जुआ खेलता है'। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अर्थों में 'ठक्' (इक) प्रत्यय होता है—

१. करण-वाचक तृतीयान्त पद से 'तरति' (तैरता है या पार जाता है), 'चरति' (चलता या खाता है) और संसृष्ट (मिला हुआ) अर्थों में, जैसे—उडुप + ठक् = औडुपिकः (नाव से पार जाने वाला)।

२. द्वितीयान्त पद से 'उञ्छति' (भूमि पर पड़े हुए दानों को चुनता है), रक्षति (रक्षा करता है), 'शब्द-दर्दुरं करोति' (शब्द या दर्दुर को करता है) और 'धर्मम् अधर्मं वा चरति' (धर्म या अधर्म का आचरण करता है) अर्थों में, यथा—बदर + ठक् = बादरिकः (बदर या बेरों को बीनने वाला)।

३. प्रथमान्त पद से 'यह शिल्प है इसका', 'यह प्रहरण (अस्त्र) है इसका' और 'यह शील (स्वभाव) है इसका' अर्थों में, जैसे—असि + ठक् = आसिकः (वह व्यक्ति जिसका असि या तलवार प्रहरण हो)।

४. सप्तम्यन्त 'निकट' शब्द से 'वसति' (बसता है) अर्थ में, यथा—निकट + ठक् = नैकटिकः (निकट में बसने वाला)।

(छ) यदधिकार-प्रकरण

इस प्रकरण में 'यत्' (य) प्रत्यय का वर्णन हुआ है। यह प्रत्यय निम्नांकित अर्थों में होता है—

१. द्वितीयान्त रथ, युग, प्रासङ्ग और धुर् शब्दों से 'वहति' (वहन करता है) अर्थ में, यथा—रथ + यत् = रथ्यः (वह जो रथ को वहन करता है, घोड़ा आदि)।

---

* विस्तृत स्पष्टीकरण के लिए १११० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

२. तृतीयान्त नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला शब्दों से क्रमशः तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित और संमित अर्थों में, जैसे—नौ + यत् = नाव्यम् (नौका से तरने योग्य) आदि।

३. सप्तम्यन्त पद से 'साधु' (प्रवीण) अर्थ में, यथा—अग्रे साधुः = अग्र्यः (अग्र + यत्)। हां, सप्तम्यन्त 'सभा' शब्द से 'साधु' अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है, 'यत्' नहीं, जैसे—सभा + य = सभ्यः (सभा में प्रवीण)।

(ज) छयतोरधिकार-प्रकरण

सामान्यतया चतुर्थ्यन्त पद से 'हित' अर्थ में 'छ' (ईय) प्रत्यय होता है, यथा—वत्स + छ = वत्सीयः (बछड़े के लिए हितकर), किन्तु शरीरावयव-वाचक, उकारान्त और गो आदि शब्दों से इसी अर्थ में 'यत्' (य) प्रत्यय होता है, जैसे—दन्त + यत् = दन्त्यम् (दाँतों के लिए हितकर)। आत्मन्, विश्वजन और भागोत्तर (मातृभोग आदि) शब्दों से इस अर्थ में 'ख' (ईन) प्रत्यय होता है।

(झ) ठञधिकार-प्रकरण

इस प्रकरण में मुख्य रूप से 'ठञ्' (इक) प्रत्यय का विवेचन हुआ है। यह प्रत्यय निम्नांकित अर्थों में होता है—

१. तृतीयान्त पद से 'क्रीत' (खरीदा हुआ) अर्थ में, यथा—प्रस्थ + ठञ् = प्रास्थिकम् (प्रस्थ से खरीदा हुआ)।

२. द्वितीयान्त पद से 'अर्हति' (प्राप्त करने योग्य होता है) अर्थ में, जैसे—श्वेतच्छत्र + ठञ् = श्वैतच्छत्रिकः (श्वेतच्छत्र—सफेद छाता प्राप्त करने योग्य)। किन्तु इसी अर्थ में 'दण्ड' आदि शब्दों* से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है, 'ठञ्' नहीं, यथा—दण्ड + यत् = दण्ड्यः (दण्ड पाने योग्य)।

(ञ) भावकर्मार्थ-प्रकरण

१. यदि किसी के तुल्य क्रिया करने का अर्थ हो तो जिसके समान क्रिया की जाती है, उस (तृतीयान्त पद) से 'वति' (वत्) प्रत्यय होता है, जैसे—ब्राह्मणेन तुल्यमधीते = ब्राह्मणवत् (ब्राह्मण + वति) अधीते।

२. 'इव' (समानता) अर्थ में भी सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त पदों से 'वति' (वत्) प्रत्यय होता है, यथा—चैत्रस्येव = चैत्रवत् (चैत्र के समान)।

३. भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त पद से 'त्व' और तल्' (त) प्रत्यय होते हैं, यथा—गो + त्व = गोत्वम् (गो का भाव) या गो + तल् = गोता (गो का भाव)। पृथु

* विस्तृत विवरण के लिए देखिये ११४६ वें सूत्र की व्याख्या।

आदि शब्दों* से इसी अर्थ में विकल्प से 'इमनिच्' (इमन्) प्रत्यय भी होता है, जैसे—पृथु + इमनिच् = प्रथिमन् (पृथु का भाव, विशालता)।

ध्यान रहे कि त्व-प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग, तल्-प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग और इमनिच्-प्रत्ययान्त शब्द पुँलिङ्ग होते हैं।

४. षष्ठ्यन्त गुणवाचक और ब्राह्मण† आदि शब्दों से भाव और कर्म—इन दोनों ही अर्थों में 'ष्यञ्' (य) प्रत्यय होता है, यथा—जडस्य कर्म भावो वा = जाड्यम् (जड + ष्यञ्)। भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त वर्णवाचक और दृढ आदि‡ शब्दों से 'ष्यञ्' (य) और 'इमनिच्' (इमन्)—दोनों ही प्रत्यय होते हैं।

ध्यान रहे कि 'ष्यञ्'-प्रत्ययान्त शब्द भी नपुंसकलिङ्ग होते हैं।

५. षष्ठ्यन्त 'सखि' शब्द से भाव और कर्म अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है, जैसे—सख्युः कर्म भावो वा = सख्यम् (सखि + य)।

६. षष्ठ्यन्त 'कपि' और 'ज्ञाति' शब्दों से कर्म और भाव अर्थ में 'ढक्' (एय) प्रत्यय होता है, यथा—कपेः कर्म भावो वा = कापेयम् (कपि + ढक्)।

७. षष्ठ्यन्त पति-अन्त वाले (जैसे—'सेनापति' आदि) और पुरोहित आदि§ शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में 'यक्' (य) प्रत्यय होता है, जैसे—सेनापतेः कर्म भावो वा = सैनापत्यम् (सेनापति + यक्)।

(ट) भवनाद्यर्थक-प्रकरण

इस प्रकरण में 'भवन या क्षेत्र', 'अस्य सञ्जातम्' (इसके हो गये हैं), 'प्रमाणमस्य' (इसका प्रमाण है), 'परिमाणमस्य' (इसका परिमाण है), 'अवयवा अस्य' (इसके अवयव हैं), 'पूरण' और 'अनेन' (कर्ता)—इन सात अर्थों में होने वाले प्रत्ययों का वर्णन हुआ है। इनमें से मुख्य मुख्य अर्थों में होने वाले प्रत्ययों को नीचे दिया जा रहा है—

१. भवन या क्षेत्र—इस अर्थ में सामान्यतया धान्यविशेष-वाचक षष्ठ्यन्त शब्दों से 'खञ्' (ईन) प्रत्यय होता है, यथा—मुद्गानां भवनं क्षेत्रं = मौद्गीनम् (मुद्ग + खञ्), किन्तु षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि शब्दों से इस अर्थ में 'ढक्' (एय) प्रत्यय होगा।

२. प्रमाणमस्य—इस अर्थ में प्रथमान्त पद से द्वयसच् (द्वयस), दघ्नच् (दघ्न) और मात्रच् (मात्र)—ये तीनों ही प्रत्यय होते हैं, जैसे—ऊरू प्रमाण-

---

* देखिये ११५२ वें सूत्र की व्याख्या।

† विस्तृत विवरण के लिए ११५६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ विस्तृत विवरण के लिए ११५५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

§ देखिये ११५९ वें सूत्र की व्याख्या।

मस्य = ऊरुद्वयसम् (ऊरु + द्वयसच्), ऊरुदघ्नम् (ऊरु + दघ्नच्) या ऊरुमात्रम् (ऊरु + मात्रच्)।

३. परिमाणमस्य—इस अर्थ में यत्, तत् और एतद् शब्दों से 'वतुप्' (वत्) प्रत्यय होता है. जैसे—यत् परिमाणमस्य = यावत् (यत् + वतुप्)। किम् और इदम् से पर इस 'वतुप्' प्रत्यय के स्थान पर 'इयत्' हो जाता है और उसके परे रहते 'किम्' को 'की' और 'इदम्' को 'ईश्' (ई) होता है, यथा—इदम् परिमाणमस्य = इयत् (इतना)।

४. अवयवा अस्य—साधारणतया इस अर्थ में संख्यावाचक प्रथमान्त पद से 'तयप्' (तय) प्रत्यय होता है, जैसे—पञ्च अवयवा अस्य = पञ्चतय (पञ्च + तयप्) द्वि और त्रि शब्दों के पश्चात् विकल्प से और 'उभ' शब्द के पश्चात् नित्य ही इस 'तयप्' के स्थान पर 'अयच्' (अय) हो जाता है।

५. पूरण*—इस अर्थ में संख्यावाचक षष्ठ्यन्त पद से सामान्यतया 'डट्' (अ) प्रत्यय होता है और इस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग की 'टि' का लोप हो जाता है, यथा—एकादशानां पूरणः = एकादश (एकादशन् + डट्)। इसी अर्थ में 'द्वि' और 'त्रि' शब्दों से 'तीय' प्रत्यय होता है और 'तीय' प्रत्यय परे रहते 'त्रि' को सम्प्रसारण भी, यथा—त्रि + तीय = तृतीय (तीसरा)।

ये पूरणार्थ-प्रत्ययान्त शब्द हिन्दी में क्रमवाचक विशेषण होते हैं, जैसे—एकादश = ग्यारहवां।

इनके अतिरिक्त 'अस्य सञ्जातम्' अर्थ में प्रथमान्त तारका† आदि शब्दों से 'इतच्' (इत) तथा 'अनेन' (कर्ता) अर्थ में 'इनि' (इन्) प्रत्यय होता है।

(ठ) मत्वर्थीय-प्रकरण

'तद् अस्य अस्ति' (वह इसका है) और 'तद् अस्मिन् अस्ति' (वह इसमें है)—इन दोनों ही अर्थों में प्रथमान्त पद से साधारणतया 'मतुप्' (मत्) प्रत्यय होता है, जैसे—गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति = गोमत् (गो + मतुप्)। गुणवाचक शब्दों से पर 'मतुप्' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

निम्नांकित अवस्थाओं में उक्त अर्थों में 'मतुप्' प्रत्यय के स्थान पर अन्य प्रत्यय भी होते हैं—

१. प्राणिस्थ अङ्गवाचक शब्दों से विकल्प से 'लच्' (ल) प्रत्यय होता है, यथा—चूडा अस्य सन्ति = चूडालः (चूडा + लच्)। पक्ष में 'मतुप्' प्रत्यय भी होता है।

---

* इसके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए ११७१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत स्पष्टीकरण के लिए देखिये ११६३ वें सूत्र की व्याख्या।

२. लोमन् आदि शब्दों से विकल्प से 'श', 'पामन्' आदि शब्दों से विकल्प से 'न' और 'पिच्छ' आदि* शब्दों से विकल्प से 'इलच्' (इल) प्रत्यय होता है, जैसे—लोमानि अस्य सन्ति = लोमशः (लोमन् + श)। पक्ष में इन सभी शब्दों से 'मतुप्' प्रत्यय भी होता है, यथा—'लोमवत्' आदि।

३. प्रथमान्त 'केश' शब्द से विकल्प से 'व' प्रत्यय होता है, जैसे—केशा अस्य सन्ति = केशवः (केश + व)। पक्ष में 'मतुप्' प्रत्यय भी होता है, यथा—केशवत्। इसके अतिरिक्त यहां 'इनि' (इन्) और 'ठन्' (इक) प्रत्यय भी होते हैं।

४. यदि दाँत ऊँचे हों, तो उक्त अर्थों में प्रथमान्त 'दन्त' शब्द से 'उरच्' (उर) प्रत्यय होता है, जैसे—उन्नताः दन्ताः सन्ति अस्य = दन्तुरः (दन्त + उरच्)।

५. अकारान्त तथा व्रीहि आदि† शब्दों से 'इनि' (इन्) और 'ठन्' (इक) प्रत्यय होते हैं, यथा—दण्डोऽस्यास्ति = दण्डिन् (दण्ड + इनि) या दण्डिक (दण्ड + ठन्)।

६. माया, मेधा, स्रज् और अस्-अन्तवाले शब्दों से विकल्प से 'विनि' (विन्) प्रत्यय होता है, जैसे—'मेधा अस्य अस्ति' = मेधाविन् (मेधा + विनि)। पक्ष में 'मतुप्' भी होता है, यथा—मेधावत्।

७. 'वाच्' शब्द से 'ग्मिन्' प्रत्यय होता है, यथा—'वाचोऽस्य सन्ति = वाग्मिन् (वाच् + ग्मिन्)।

८. अर्शस् आदि शब्दों से 'अच्' (अ) प्रत्यय होता है, जैसे—अर्शांसि सन्ति अस्य = अर्शसः (अर्शस् + अच्) आदि।

९. अहम् और शुभम्—इन अव्ययों से 'युस्' प्रत्यय होता है, यथा—अहम् अस्य अस्ति = अहंयुस् = अहंयुः (अहम् + युस्) आदि।

ध्यान रहे कि हिन्दी में जो अर्थ 'वान' या 'वाला' आदि प्रत्ययों से सूचित होता है (जैसे—गाड़ीवान, इक्कावाला आदि), संस्कृत में वही अर्थ इन 'मतुप्' आदि प्रत्ययों से प्रकट किया जाता है, जैसे मतुप्-प्रत्ययान्त 'गोमत्' का अर्थ होगा—गायवाला। इन मत्वर्थीय-प्रत्यय वाले शब्दों का प्रयोग भूमा (बाहुल्य, अधिकता), निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग (नित्य सम्बन्ध), अतिशय या संसर्ग (सम्बन्ध) का बोध कराने के लिए होता है। उदाहरण के लिए 'गोमत्' का अर्थ न केवल 'गायवाला' ही होगा, अपितु 'वह गायवाला जिसके पास अनेक गाएं हों' भी होगा।

---

* देखिये ११८४ वें सूत्र की व्याख्या।

† देखिये ११८८ वें सूत्र की व्याख्या।

(ड) प्राग्दिशीय-प्रकरण

१. पञ्चम्यन्त 'किम्' आदि* शब्दों से 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय होता है और इस प्रत्यय के परे रहते 'किम्' को 'कु', 'इदम्' को 'इश्' (इ) तथा 'एतद्' को 'अन्' आदेश हो जाता है, जैसे—कस्मात् = कुतः (किम् + तसिल्)।

२. परि और अभि शब्दों से भी 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय होता है, यथा—'परितः' आदि।

३. सप्तम्यन्त 'किम्' आदि शब्दों से साधारणतया 'त्रल्' (त्र) प्रत्यय होता है, जैसे—कस्मिन् = कुत्र (किम् + त्रल्)। सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से विकल्प से 'अत्' (अ) प्रत्यय भी होता है और इस प्रत्यय के परे रहते 'किम्' को 'क्व' हो जाता है, यथा—कस्मिन् = क्व (किम् + अत्)। सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से 'ह' प्रत्यय होता है और 'इदम्' को पूर्ववत् 'इश्' (इ) आदेश, जैसे—अस्मिन् = इह (इदम् + ह)।

४. सप्तम्यन्त कालवाचक सर्व, एक, किम्, यद् और तद्—इन शब्दों से 'दा' प्रत्यय होता है और इस प्रत्यय के परे रहते 'सर्व' को विकल्प से 'स' हो जाता है, यथा—सर्वस्मिन् काले = 'सर्वदा' या 'सदा' (सर्व + दा)। सप्तम्यन्त कालवाचक 'इदम्' से 'र्हिल्' (र्हि) प्रत्यय होता है और उस प्रत्यय के परे रहते 'इदम्' को 'एत' आदेश, जैसे—अस्मिन् काले = एतर्हि (इदम् + र्हिल्)।

५. प्रकारवाचक 'किम्' आदि शब्दों से साधारणतया 'थाल्' (था) प्रत्यय होता है, किन्तु प्रकारवाचक इदम्, एतद् और किम् शब्दों से 'थमु' (थम्) प्रत्यय होता है, यथा—तेन प्रकारेण = 'तथा' (तद् + थाल्) और केन प्रकारेण = कथम् (किम् + थमु) आदि।

ध्यान रहे कि ये सभी प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं अर्थात् इनके होने से शब्दार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता, यथा—'कुतः' का वही अर्थ है जो कि 'कस्मात्' का।

(ढ) प्रागिवीय-प्रकरण

१. यदि बहुतों में से एक का अतिशय (उत्कर्ष) बताना हो, तो अतिशय-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त पद से 'तमप्' (तम) या 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय होता है, जैसे—अयम् एषाम् अतिशयेन लघुः = 'लघुतमः' (लघु + तमप्) या 'लघिष्ठः' (लघु + इष्ठन्)। तिङ्-प्रत्ययान्त से भी अतिशय अर्थ में 'तमप्' प्रत्यय होता है और पुनः इस तमप्-प्रत्ययान्त से 'आमु' (आम्) प्रत्यय, यथा—पचति-

* विस्तृत विवरण के लिए ११९५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

तमाम् (उत्कृष्ट पकाता है)। वस्तुतः ये तमप् और इष्ठन् प्रत्ययान्त शब्द विशेषणों की 'सुपरलेटिव डिग्री' का बोध कराते हैं।

२. यदि दो में से एक का अतिशय बताना हो, तो अतिशय-विशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त पद से 'तरप्' (तर) या 'ईयसुन्' (ईयस्) प्रत्यय होता है, जैसे—अयम् अनयोरतिशयेन लघुः = 'लघुतरः' (लघु + तरप्) या 'लघीयस्' (लघु + ईयसुन्)। ये तरप् या ईयसुन् प्रत्ययान्त शब्द विशेषणों की 'कम्परेटिव डिग्री' के बोधक होते हैं।

३. ईषदसमाप्ति (कुछ कमी) अर्थ में सुबन्त या तिङन्त से कल्पप् (कल्प), 'देश्य' या देशीयर् (देशीय) प्रत्यय होता है, यथा—ईषद् ऊनो विद्वान् = विद्वत्कल्पः (विद्वस् + कल्पप्), विद्वद्देश्यः (विद्वस् + देश्य) या विद्वद्देशीयः (विद्वस् + देशीयर्)। इस अर्थ में सुबन्त से पूर्व विकल्प से 'बहुच्' (बहु) प्रत्यय भी होता है, जैसे—'बहुपटुः' 'पटुकल्पः' आदि।

४. अज्ञात और कुत्सित अर्थ में सुबन्त से सामान्यतः 'क' प्रत्यय होता है, किन्तु अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त से इन्हीं अर्थों में उनकी 'टि' के पूर्व 'अकच्' (अक्) प्रत्यय होता है,* यथा—अश्व + क = अश्वकः (अज्ञात या कुत्सित अश्व) आदि।

५. जब दो में से एक का निर्धारण करना हो, तो किम्, यद् और तद् शब्दों से 'डतरच्' (अतर) प्रत्यय होता है और उसके परे रहते अङ्ग की 'टि' का लोप हो जाता है, जैसे—अनयोः कः वैष्णवः = कतर (किम् + डतरच्)।

६. बहुतों में से जब एक का निर्धारण करना हो, तो किम्, यद् और तद् शब्दों से डतमच् (अतम) प्रत्यय होता है और उसके परे रहते पूर्ववत् अङ्ग की 'टि' का भी लोप होता है, यथा—एषां यः (इनमें से जो) = यतमः (यद् + डतमच्)।

(ग) स्वार्थिक-प्रकरण

जिन प्रत्ययों के जुड़ने से शब्दार्थ में कोई वृद्धि नहीं होती, उन्हें 'स्वार्थिक-प्रत्यय' कहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में इन स्वार्थिक-प्रत्ययों के साथ ही साथ अन्य अर्थों में होने वाले प्रत्ययों का भी विवेचन हुआ है। नीचे उनमें से कुछेक का विवरण दिया जा रहा है—

१. सभी प्रातिपदिकों से स्वार्थ में सामान्यतः 'कन्' (क) प्रत्यय होता है, जैसे—अश्व + कन् = अश्वकः (अश्व)। 'प्रज्ञ' आदि† शब्दों से स्वार्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होगा, यथा—प्रज्ञ + अण् = प्राज्ञः (प्रज्ञ)। बहु अर्थ वाले या अल्प

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए १२२९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† देखिये १२३६ वें सूत्र की व्याख्या।

अर्थ वाले कारक शब्द (यथा—कर्ता, कर्म, आदि) से स्वार्थ में 'शस्' प्रत्यय होता है, जैसे—बहूनि = बहुशः (बहु + शस्)।

२. यदि प्रचुरता या अधिकता प्रकट करना हो, तो प्राचुर्यविशिष्ट अर्थ में वर्तमान सुबन्त से 'मयट्' (मय) प्रत्यय होता है, जैसे—प्रचुराः अपूपाः = अपूपमय (अपूप+मयट्)।

३. जब किसी के समान किसी मूर्ति या चित्र (प्रतिकृति) को बताना हो तो तदर्थवाचक शब्द से 'कन्' (क) प्रत्यय होता है, यथा—अश्व इव प्रतिकृतिः = अश्वक (अश्व+कन्)। ध्यान रहे कि स्वार्थिक 'कन्' प्रत्यय जुड़ने पर भी ऐसा ही रूप बनता है।

४. जब कोई वस्तु कुछ से कुछ हो जावे (अर्थात् जो पहले नहीं थी, वह हो जाय), तो 'च्वि' प्रत्यय लगाकर इस भाव को प्रकट करते हैं। यह प्रत्यय केवल कृ, भू या अस् धातु के ही योग में आता है। 'च्वि' का लोप हो जाता है, किन्तु पूर्वपद (अङ्ग) के अकार या आकार को ईकार हो जाता है* और यदि कोई अन्य स्वर पूर्व में आवे तो वह दीर्घ हो जाता है, यथा—अकृष्णः कृष्णः क्रियते = कृष्ण + च्वि + क्रियते = कृष्णीक्रियते।

जब किसी वस्तु का पूर्णतया दूसरी वस्तु में परिणत होना दिखाना हो तो 'च्वि' के अतिरिक्त 'साति' (सात्) प्रत्यय भी होता है, जैसे—कृत्स्नं इन्धनम् अग्निः भवति = इन्धनम् 'अग्निसात्' भवति, 'अग्नीभवति' वा।

ये च्वि-प्रत्ययान्त और साति-प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं।

स्त्रीप्रत्यय

जिन प्रत्ययों को पुँल्लिङ्ग संज्ञाओं से जोड़ कर स्त्रीलिङ्ग शब्द बनाते हैं, उन्हें 'स्त्री-प्रत्यय' कहते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख प्रत्ययों को नीचे दिया जा रहा है—

१. टाप् (आ)—यह प्रत्यय अज आदि† तथा अकारान्त शब्दों से होता है, यथा—अजा (अज+टाप्) आदि।

ङीप् (ई)—ऋकारान्त और नकारान्त शब्दों से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है, यथा—क्रोष्टृ+ङीप् = क्रोष्ट्री। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अवस्थाओं में भी यह प्रत्यय होता है—

(क) उगित्-प्रत्ययान्त (यथा—शतृ-प्रत्ययान्त या ईयसुन्-प्रत्ययान्त) शब्दों से, जैसे—भवन्ती।

(ख) उस प्रातिपदिक से, जिसके अन्त में अनुपसर्जन टित् (इत्संज्ञक टकार

---

* ध्यान रहे कि अव्यय के अवर्ण को ईकार आदेश नहीं होता।

† विस्तृत विवरण के लिए १२४५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

या 'ट', 'टक्' आदि टित् प्रत्यय) या ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् और क्वरप् प्रत्यय हों, यथा—देवट्+ङीप् = देवी आदि।

(ग) नञ्, स्नञ्, ईकक् और ख्युन् प्रत्ययान्त तथा तरुण और तलुन शब्दों से, यथा—स्त्रैणी (स्त्रैण+ङीप्) आदि।

(घ) यञ्-प्रत्ययान्त से, जैसे—गार्गी (गार्ग्य+ङीप्)। यहां विकल्प से 'ष्फ' (आयन) प्रत्यय भी होता है और 'ष्फ' होने पर पुनः 'ङीष्' यथा—गार्ग्यायणी (गार्ग्य + ष्फ + ङीष्)।

(ङ) प्रथम वयस् (अन्तिम अवस्था को छोड़कर) का बोध कराने वाले अकारान्त शब्दों से, यथा—कुमारी (कुमार+ङीप्)।

(च) अकारान्त द्विगु से, जैसे—त्रिलोकी (त्रिलोक + ङीप्) आदि।

३. ङीष् (ई)—यह प्रत्यय निम्नांकित अवस्थाओं में होता है—

(क) षित् (जिसका षकार इत् हो) और गौर आदि* शब्दों से, यथा—गौरी आदि।

(ख) उकारान्त गुणवाचक शब्दों से, जैसे—मृद्वी (मृदु+ङीष्)। किन्तु यहाँ यह प्रत्यय विकल्प से ही होता है, अतः पक्ष में यथावत् 'मृदु' रूप भी रहता है। बहु आदि† शब्दों से भी विकल्प से 'ङीष्' होता है, यथा—बह्वी (बहु + ङीष्) आदि।

(ग) पुंयोग‡ में वर्तमान पुंवाचक शब्द से, जैसे—गोपी (गोप + ङीष्)। किन्तु जिन शब्दों के अन्त में 'पालक' हो उनसे पुंयोग में 'ङीष्' न होकर 'टाप्' (आ) प्रत्यय होता है, यथा—गोपालिका। 'सूर्य' शब्द से इस अर्थ में 'चाप्' (आ) प्रत्यय होता है, जैसे—सूर्या (सूर्य देवता की स्त्री)।

(घ) इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम (आधिक्य अर्थ में), अरण्य (आधिक्य अर्थ में), यव (दोषयुक्त अर्थ में), यवन (लिपि अर्थ में), मातुल और आचार्य शब्दों से, यथा—इन्द्राणी (इन्द्र+ङीष्)। ङीष् प्रत्यय परे रहते इन शब्दों को 'आनुक्' (आन्) आगम भी होता है।

(ङ) उस अकारान्त शब्द से, जिसके आदि में करण-कारक और अन्तमें 'क्रीत' शब्द हो, जैसे—वस्त्रक्रीती (वस्त्रक्रीत+ङीष्)। कहीं-कहीं यह 'ङीष्' नहीं भी होता है, यथा—धनक्रीता।

---

* विस्तृत विवरण के लिए १२५१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† देखिये १२५६ वें सूत्र की व्याख्या।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए १२५७ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

(च) उस अकारान्त शब्द से, जिसके अन्त में गौण और असंयोगोपध स्वाङ्गवाची शब्द हो,† जैसे—अतिकेशी (अतिकेश + ङीष्), किन्तु बह्वच् और क्रोड आदि स्वाङ्गवाचक शब्दों से 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता। इसी प्रकार स्वाङ्गवाचक नख और मुख शब्दों से भी संज्ञा अर्थ में 'ङीष्' नहीं होता है। इन सभी शब्दों से सामान्य 'टाप्' (आ) प्रत्यय हो 'कल्याणक्रोडा' आदि शब्द बनते हैं।

(छ) उस अकारान्त जातिवाचक शब्द (यदि वह नित्यस्त्रीलिङ्ग न हो) से, जिसकी उपधा में यकार न हो, जैसे—तटी (तट + ङीष्)।

(ज) मनुष्यजातिवाचक इकारान्त प्रातिपदिक से, यथा—दाक्षि (दाक्षि +) ङीष्)।

४. ऊङ् (ऊ)—उकारान्त मनुष्यजातिवाचक शब्द (यदि उसकी उपधा में यकार न हो) से 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होता है, जैसे कुरू (कुरु+ऊङ्)। इसके अतिरिक्त निम्न अवस्थाओं में भी 'ऊङ्' प्रत्यय होता है—

(क) उकारान्त पङ्गु शब्द से, यथा-पङ्गू।

(ख) उस प्रातिपदिक से, जिसका पूर्वपद उपमानवाची हो और उत्तरपद 'ऊरु', जैसे—करभोरू (करभोरु ऊङ्)।

(ग) उस प्रातिपदिक से, जिसका उत्तरपद 'ऊरु' हो और पूर्वपद संहित, शफ, लक्षण या वाम, यथा—'संहितोरू' आदि।

५. ङीन् (ई)—यह प्रत्यय अञ्-प्रत्ययान्त जातिवाची प्रातिपदिक और शार्ङ्गरव आदि शब्दों से होता है, जैसे—शार्ङ्गरवी (शार्ङ्गरव = ङीन्)। इसके अतिरिक्त नृ और नर शब्दों से भी 'ङीन्' प्रत्यय होता है और इस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग को वृद्धि आदेश भी, यथा—नारी (नृ या नर+ङीन्)।

६. ति—'युवन्' शब्द से 'ति' प्रत्यय होता है, जैसे—युवतिः (युवन्+ति)।

---

† देखिये १२६१ वें सूत्र की व्याख्या।

श्रीमद्वरदराजाचार्यविरचिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

अ इ उण् १ । ऋ लृक् २ । ए ओङ् ३ । ऐ औच् ४ । ह य व रट् ५ । लण् ६ । ञ म ङ ण नम् ७ । झ भञ् ८ । घ ढ धष् ९ । ज ब ग ड दश् १० । ख फ छ ठ थ च ट तव् ११ । क पय् १२ । श ष सर् १३ । हल् १४ ।*

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः ।

---

* इन चौदह सूत्रों को 'माहेश्वरसूत्र' कहा जाता है । वास्तव में ये सूत्र पाणिनीय व्याकरण की आधारशिला हैं । 'अच्' आदि प्रत्याहारों की सिद्धि इन्हीं सूत्रों से होती है । इनके अन्त के अक्षर—'ण्' आदि इत्संज्ञक हैं । हकार आदि अक्षरों में अकार केवल उच्चारण के लिए है । हां, 'लण्' सूत्र में लकारोत्तरवर्ती अकार इत्संज्ञक है ।

ध्यान देने की बात है कि इन सूत्रों में हकार का दो बार पाठ किया गया है । इसका कारण यह है कि उसका उपयोग अट् और शल् इन दो प्रत्याहारों में होता है । इन दोनों प्रत्याहारों का प्रयोग क्रमशः 'अर्हेण' और 'अधुक्षत्' की सिद्धि के लिए '१३८—अट्कुप्वाङ्—०' तथा '५९०—शल इगुपधादनिटः—०' सूत्रों में हुआ है । कहा भी है :—

'हकारो द्विरुपात्तोऽयमटि शल्यपि वाञ्छता ।
अर्हेणाधुक्षदित्येतद् द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥'

१. 'हलन्त्यम्'[1] ।* १ । ३ । ३

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ।

१. हलन्त्यमिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अन्त्यम्) अन्त्य (हल्) हल्... । किन्तु क्या होता है–इसका पता सूत्र से नहीं चलता । उसके स्पष्टीकरण के लिए '२८–उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से 'उपदेशे' और 'इत्' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'अन्त्य' का अर्थ है—अन्त में होनेवाला† । 'हल्'‡ प्रत्याहार है । इसके अन्तर्गत सभी व्यंजन आ जाते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपदेश में वर्तमान अन्त्य व्यंजन इत्संज्ञक होता है । तात्पर्य यह कि उपदेश के अन्त में होनेवाला व्यंजन 'इत्' कहलाता है ।

जिससे उपदेश दिया जाता है, उसे 'उपदेश' कहते हैं । काशिकाकार ने 'उपदेश' के अन्तर्गत सूत्रपाठ और खिलपाठ (धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ और लिङ्गानुशासन) का ही समावेश किया है ।§ किन्तु अन्य आचार्यों के अनुसार सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, उणादिपाठ, लिङ्गानुशासन, वार्तिकपाठ, आगम, प्रत्यय और आदेश—इन सभी को 'उपदेश' कहा जाता है । कहा भी है :—

> 'धातु-सूत्र-गणो-णादि-वाक्य-लिङ्गानुशासनम् ।
> आगम-प्रत्यया-देशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥'

कुछ लोग प्रत्याहार-सूत्र (माहेश्वर सूत्र), धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश—इनको ही 'उपदेश' कहते हैं, यथा :—

> 'प्रत्ययाः शिवसूत्राणि, आदेशा आगमास्तथा ।
> धातुपाठो गणपाठ उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥'

मेरी समझ से यही वर्गीकरण अधिक उपयुक्त रहेगा ।¶

इस प्रकार कहा जा सकता है कि माहेश्वर-सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय,

---

* सूत्र के ऊपर दी हुई संख्याएं विभक्तियों का निर्देश करती हैं । अव्यय का निर्देश ⌣ इस चिह्न द्वारा किया गया है । सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये ।

† 'अन्ते भवमन्त्यम्'—काशिका ।

‡ विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये ।

§ 'उपदिश्यतेऽनेनेत्युपदेशः, शास्त्रवाक्यानि, सूत्रपाठः खिलपाठश्च' (१.३.२) ।

¶ महाभाष्यकार ने भी कहा है :—'धातुप्रातिपदिकनिपातप्रत्याहारसूत्रप्रत्ययादेशागमानामन्त्यम् ।'

आगम और आदेश—इनके अन्त में होनेवाले व्यंजन को 'इत्' कहते हैं। उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(क) माहेश्वर-सूत्र :—उदाहरण के लिए प्रथम प्रत्याहार-सूत्र 'अ इ उण्' के अन्त में व्यंजन णकार है, अतः प्रकृत सूत्र से वह इत्संज्ञक होगा।

(ख) धातुपाठ :—उदाहरण के लिए 'डुपचष् पाके'—यह धातुपाठ में आया है। अतः 'डुपचष्' धातु के अन्त में होनेवाले षकार की इत्संज्ञा होगी।

(ग) गणपाठ :—गणपाठ में आनेवाले 'देवट्' 'नदट्' आदि शब्दों के अन्त्य व्यंजन टकार आदि की इत्संज्ञा होती है।

(घ) प्रत्यय :—'८६१–स्वपो नन्' आदि सूत्रों से विहित 'नन्' आदि प्रत्ययों में अन्त्य हल् (व्यंजन) नकार आदि इत्संज्ञक होते हैं।

(ङ) आगम :—'८६–ङ्णोः कुक् टुक्—०' आदि सूत्रों से प्राप्त 'कुक्' और 'टुक्' आदि आगमों के अन्त में होनेवाले ककार आदि व्यंजन 'इत्' होते हैं।

(च) आदेश :—उदाहरण के लिए '४७–अवङ् स्फोटायनस्य' आदि सूत्रों से प्राप्त 'अवङ्' आदि आदेशों के अन्तिम व्यंजन—ङकार आदि इत्संज्ञक होते हैं।

विशेष :—१. यहां पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सूत्र की व्याख्या के लिए 'उपदेशे' शब्द की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इसका उत्तर यही है कि यदि उपदेश का विधान न किया जाता तो लौकिक प्रयोगों में प्रचलित 'अग्निचित्' 'सोमसुत्' आदि शब्दों के अन्तिम व्यंजनों की इत्संज्ञा होती और इस प्रकार 'तस्य लोपः' (३) सूत्र से उनका लोप प्राप्त होता। इसी को रोकने के लिए ऐसा विधान किया गया है।

२—इस सूत्र का अपवाद '१३१–न विभक्तौ तुस्माः' है।

२. अदर्शनं[१] लोपः[२] । १ । १ । ६०

प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

२. **अदर्शनमिति**—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(अदर्शनम्) अदर्शन (लोपः) लोपसंज्ञक होता है। 'अदर्शन' का अर्थ है—श्रवणाभाव अर्थात् न सुना जाना।* 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० से 'स्थाने' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(स्थानस्य) विद्यमान

* 'दृश्' धातु यहां ज्ञानार्थक है। ज्ञान आंख, कान आदि सभी इन्द्रियों से हो सकता है, किन्तु 'शब्दानुशासन' का विषय होने से यहां कान-विषयक ज्ञान का ही ग्रहण होता है। शब्द आंख से देखे नहीं जाते, कान से सुने जाते हैं। कहा भी है :— 'अत्र दृशिर्ज्ञानसामान्यवचनः, दर्शनं ज्ञानम्, तदिह शब्दानुशासनप्रस्तावाच्छब्दविषयकं सत् श्रवणं सम्पद्यते'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

का (अदर्शनम्) न सुना जाना (लोपः) 'लोप' कहलाता है।* तात्पर्य यह कि 'लोप' का अर्थ है—उच्चारण से प्राप्त का न सुना जाना अर्थात् सुने को अनसुना कर देना। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति 'सखान्' पद का उच्चारण करता है, किन्तु '१८०–न लोपः—०' से उसके नकार का लोप हो जाता है। इसका अर्थ यह होगा कि सुननेवाला व्यक्ति नकार को नहीं सुनेगा। इस प्रकार श्रवण-निषेध हो जाने से नकार का उच्चारण भी व्यर्थ हो जावेगा।† फलतः व्यवहार में केवल 'सखा' का ही प्रयोग होगा, न कि 'सखान्' का।

विशेष :—ध्यान रहे कि पाणिनीय व्याकरण में शब्द को नित्य माना गया है। इस स्थिति में 'लोप' का 'विनाश' (विनष्ट होना) अर्थ लेने से अनित्यता दोष आता था। उसी को दूर करने के लिए 'प्राप्त के न सुने जाने' को लोप कहा गया है। 'लोप' का यह अर्थ करने से शब्द की नित्यता बनी रहती है।

३. तस्य[६] लोपः[१] । १ । ३ । ९

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।

३. तस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(तस्य) उसका (लोपः) लोप होता है। यहां 'तस्य' (उसका) का अभिप्राय 'उपदेशेऽजनुनासिक–०' १.३.२ सूत्र से लेकर 'लशक्वतद्धिते' १.३.८ सूत्र तक की गई 'इत्' संज्ञा से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उस इत्संज्ञक का लोप‡ होता है। तात्पर्य यह कि जिसकी भी 'इत्' संज्ञा होती है,§ उसका लोप हो जाता है। सूत्र में 'तस्य' का प्रयोग होने से यह लोप

---

* यदि 'स्थाने' की अनुवृत्ति न की जाय तो भी सूत्र का भावार्थ यही होगा, क्योंकि अदर्शन तो विद्यमान वस्तु का ही होता है। जो है ही नहीं उसका भला अदर्शन कैसे होगा।

† 'असति च श्रवणे उच्चारणमनर्थकमेवेति सामर्थ्याच्छ्रवणनिषेधे तद्धेतुभूतमुच्चारणमपि निषिद्धं भवतीति—' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्ववर्ती सूत्र (२) देखिये।

§ इत्संज्ञा-विधायक सूत्र ये हैं :—

(१) 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८)।
(२) 'हलन्त्यम्' (१)। इसका अपवाद 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) है।
(३) 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२)।
(४) 'षः प्रत्ययस्य' (८३९)।
(५) 'चुटू' (१२९)।
(६) लशक्वतद्धिते' (१३६)।

सम्पूर्ण इत्संज्ञक का होता है।* उदाहरण के लिए '४६२-आदिर्ञि—०' से 'टुनदि' धातु के आदि 'टु' की इत्संज्ञा होती है। प्रकृतसूत्र से इस इत्संज्ञक 'टु' का लोप हो जाता है, अतः केवल 'नदि†' (नद्) का ही व्यवहार होता है। इसी प्रकार प्रथम सूत्र में दिये गये उदाहरणों के इत्संज्ञक वर्णों का भी लोप हो जाता है।

४. [1]आदिरन्त्येन[3] सहेता[2] । १ । १ । ७१

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा—अणिति अ इ उ वर्णानां संज्ञा। एवमक् अच् हल् अलित्यादयः।

४. आदिरिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अन्त्येन) अन्त्य (इता) इत् से (सह) युक्त (आदिः) आदि। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता।

वास्तव में यह सूत्र संज्ञाधिकार के बीच में पढ़े जाने से संज्ञासूत्र है। यहां 'अन्त्य इत् से युक्त आदि'—यह संज्ञा है, किन्तु संज्ञी का पता नहीं चलता। सूत्र में भी उसका निर्देश नहीं हुआ है। 'आदि' और 'अन्त्य' तो अवयव हैं। अवयवों से अवयवी (समुदाय) लाया जाता है। अतः यहां अवयवी ही संज्ञी होगा। उस अवयवी (समुदाय) के 'आदि' और 'अन्त्य' संज्ञा होने के कारण निकल जावेंगे और इस प्रकार फलतः शेष मध्यगत वर्ण ही संज्ञी होंगे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सूत्रस्थ 'अन्त्य इत् से युक्त आदि' का अर्थ होगा—आदि और अन्त्य के बीच में आने वाले वर्ण।‡ इस स्थिति में पुनः 'स्वं रूपं शब्दस्य—०' १.१.६८ से 'स्वं' की अनुवृत्ति होती है। यह 'स्वम्' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो सूत्रस्थ 'आदिः' से अन्वित होता है।§ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(अन्त्येन) अन्त में होनेवाले (इता) इत् से (सह) युक्त (आदिः) आदि (स्वस्य) अपनी तथा मध्यगत वर्णों की संज्ञा होता

ये सभी सूत्र प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न स्थलों पर आये हैं। स्पष्टीकरण के लिए कोष्ठक में दिये हुये क्रमांकानुसार इन्हें तत्तत् स्थलों पर देखना चाहिये।

* 'तस्य ग्रहणं सर्वलोपार्थम्'—काशिका।

† '४६३—इदितो नुम्—०' से 'नुम्' आगम हो यह धातु 'नन्द्' रूप में प्रयुक्त होती है।

‡ कहा भी है—'अत्राद्यन्ताभ्यामवयवाभ्यामवयवी समुदाय आक्षिप्यते। तस्य च युगपल्लक्ष्ये प्रयोगाभावात्तदवयवेष्ववतरन्ती संज्ञा मध्यगेषु विश्राम्यति, न त्वाद्यन्तयोः, संज्ञास्वरूपान्तर्भावेण तयोः पारार्थ्यनिर्णयादिति'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

§ 'स्वं रूपं चादेरेव गृह्यते नान्त्यस्य, 'अन्त्येन' इति अप्रधानतृतीयानिर्देशात्—' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

है। तात्पर्य यह कि अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ आनेवाला आदि वर्ण अपना तथा बीच में आनेवाले अन्य वर्णों का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'अण्' प्रत्याहार लीजिये। यह प्रथम माहेश्वर-सूत्र 'अ इ उण्' के अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण–'ण्' के साथ आदिवर्ण–'अ' के योग से बना है। अतः यह 'अण्' आदि में आनेवाले 'अ' और मध्यवर्ती 'इ उ' का बोधक है। इसी प्रकार 'अ इ उण्। ऋ लृक् ॥' के आदि अकार और अन्त्य इत्संज्ञक ककार को लेकर बना हुआ 'अक्' प्रत्याहार 'अ इ उ ऋ' और 'लृ' का बोधक है। ध्यान रहे कि यहाँ मध्यवर्ती णकार का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि इत्संज्ञक होने के कारण '३–तस्य लोपः' से उसका लोप हो जाता है।

विशेष :—वस्तुतः इस सूत्र के दो कार्य हैं—संज्ञा (प्रत्याहार) बनाना और उनका स्वरूप निर्धारण करना। दोनों पक्षों को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है :—

१. अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ आदि वर्ण को मिलाने से प्रत्याहार बनता है। यहां 'अन्तिम' (अन्त्य) और 'आदि' शब्द अपनी इच्छानुसार ग्रहण किये जाते हैं, न कि स्थिति के अनुसार। यह आवश्यक नहीं कि अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण सूत्र के अन्त में होना चाहिये और आदि वर्ण उसके आदि में। उदाहरण के लिए 'अ इ उण्' सूत्र में स्थित अन्तिम वर्ण इत्संज्ञक 'ण्' के साथ 'इ' के योग से 'इण्' प्रत्याहार बनता है। यहां इकार सूत्र के आदि में नहीं है। इसी प्रकार 'ह य व रट्। लण् ॥' से 'र' प्रत्याहार बनता है। यहां लकारोत्तरवर्ती इत्संज्ञक अकार को रकार के साथ मिलाया गया है। ध्यान रहे कि न तो यह रकार सूत्र के आदि में है और न लकारोत्तरवर्ती इत्संज्ञक अकार उसके अन्त में ही।

इस प्रकार प्रत्याहार बनाने के लिए इच्छानुसार किसी भी समुदाय का ग्रहण किया जा सकता है। हां, उस समुदाय के अन्त में कोई इत्संज्ञक वर्ण अवश्य होना चाहिये। फिर उस इत्संज्ञक वर्ण को समुदाय के किसी अन्य वर्ण के साथ मिलाने से प्रत्याहार बन जाता है। उदाहरण के लिए 'र' प्रत्याहार बनानेवाला 'ह य व रट्। लण् ॥' में से केवल 'र ट् ल' समुदाय का ही ग्रहण करता है। इस समुदाय के अन्त में लकारोत्तरवर्ती इत्संज्ञक अकार है। इस इत्संज्ञक अकार का समुदाय के अन्य वर्ण—रकार के साथ संयोग होने पर 'र' प्रत्याहार बनता है जो रकार और लकार का बोधक है। वास्तव में इत्संज्ञक वर्ण के साथ जिस अन्य वर्ण का ग्रहण किया जाता है, वही 'आदि' होता है।*

* पुस्तक में आनेवाले सभी प्रत्याहार परिशिष्ट–१ में दे दिये गये हैं।

२. आदि और इत्संज्ञक वर्ण के संयोग से बनी हुई यह प्रत्याहार-संज्ञा आदि और मध्यगत (आदि और इत्संज्ञक वर्णों के बीच में आनेवाले) वर्णों की बोधक होती है।

५. [1]ऊकालोऽज्[2]ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः[3] । १ । २ । २७

उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्व-दीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा ।

५. ऊकाल इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(ऊकालः) ऊकालवाला (अच्) अच् (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः) ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञक होता है। यहां सूत्रस्थ 'ऊकालः'* का अर्थ है :—उ, ऊ और ऊ३ काल† वाले। 'अच्' प्रत्याहार है और उसमें सभी स्वर आ जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उ, ऊ और ऊ३ कालवाले स्वर ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञक होते हैं। संज्ञी और संज्ञा समान होने के कारण ये ह्रस्व आदि '२३–यथा संख्यमनुदेशः–०' परिभाषा से क्रमानुसार होते हैं। तात्पर्य यह कि उकालवाले स्वर को ह्रस्व, ऊकालवाले स्वर को दीर्घ और ऊ३ कालवाले स्वर को प्लुत कहते हैं। वास्तव में 'उ, ऊ और ऊ३' क्रमशः एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक के निर्देशक-मात्र है।‡ अतः सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—एकमात्रिक स्वर 'ह्रस्व', द्विमात्रिक स्वर 'दीर्घ' और त्रिमात्रिक स्वर 'प्लुत' कहलाता है। कहा भी है :—

> 'एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।
> त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम् ॥'

(एक मात्रा वाला 'ह्रस्व' होता है और द्विमात्रिक को 'दीर्घ' कहते हैं। त्रिमात्रिक को 'प्लुत' और व्यञ्जन को अर्धमात्रिक समझना चाहिये।)

विशेष :—कुक्कुट के 'कु कू कू३' शब्द में क्रमशः एकमात्रा, द्विमात्रा और

---

* इसका विग्रह है—'उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः, वः कालो यस्य सः ऊकालः'। (देखिये–तत्त्वबोधिनी)।

† 'काल' का अभिप्राय यहां उच्चारण में लगने वाले समय से है—'ऊशब्देन स्वोच्चारणकालो लक्ष्यते' (तत्त्वबोधिनी)।

‡ कहा भी है :—'ऊ इति त्रयाणामयं मात्रिकद्विमात्रिकत्रिमात्रिकाणां प्रश्लिष्ट-निर्देशः' (काशिका)।

त्रिमात्रा का स्पष्ट आरोह प्रतीत होता है। इसी से उसमें स्पष्ट प्रतीत होनेवाले उवर्ण को ही दृष्टान्त रूप में ग्रहण किया गया है, अकार आदि अन्य स्वर को नहीं।*

६. उच्चैरुदात्तः[1] । १ । २ । २९

६. उच्चैरिति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(उच्चैः) ऊँचा (उदात्तः) उदात्त-संज्ञक होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '५—ऊकालोऽज्—०' से 'अच्' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। सूत्रस्थ 'उच्चैः' का अभिप्राय स्थानकृत ऊँचाई से है, न कि आवाज की ऊँचाई (तेजी) से।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(उच्चैः) ऊपरवाले भाग में उच्चार्यमाण (अच्) स्वर (उदात्तः) उदात्त-संज्ञक होते हैं। तात्पर्य यह कि जिस स्वर का उच्चारण अपने निर्धारित स्थान के ऊपरवाले भाग से होगा, वह उदात्त कहलावेगा। उदाहरण के लिए अकार का स्थान 'कण्ठ' है। यदि उसका उच्चारण कण्ठ के ऊपरी भाग से किया जावेगा तो वह उदात्त-संज्ञक होगा। इसी प्रकार इकार आदि अन्य स्वरों के बारे में भी समझना चाहिये।

७. नीचैरनुदात्तः[1] । १ । २ । ३०

७. नीचैरिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(नीचैः)नीचा (अनुदात्तः) अनुदात्त होता है। यह भी संज्ञा-सूत्र है और पूर्वसूत्र (६) के समान इसका भावार्थ होगा—निर्धारित स्थान के निचले भाग से उच्चारण किया जानेवाला स्वर 'अनुदात्त' संज्ञक होता है। उदाहरण के लिए अकार का उच्चारण यदि कण्ठ के निचले भाग से होगा तो वह 'अनुदात्त' कहलावेगा।

८. समाहारः[1] स्वरितः[1] । १ । २ । ३१

स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।

८. समाहार इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(समाहारः) समाहार (स्वरितः) स्वरित-संज्ञक होता है। सूत्रस्थ 'समाहार' का अर्थ है—समुच्चय अथवा एकीकरण। किन्तु वह एकीकरण किसका होता है—यह जानने के लिए '६—उच्चैरुदात्तः' से

---

* विभिन्न पक्षियों के उच्चारण-काल के विषय में कहा है :—'चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं त्वेव वायसः। शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम्' (शिक्षा)॥

† 'उच्चैरिति च श्रुतिप्रकर्षो न गृह्यते। किं तर्हि, स्थानकृतमुच्चत्वं संज्ञिनो विशेषणम्' (काशिका)।

'उदात्तः' तथा '७—नीचैरनुदात्तः' से 'अनुदात्तः' की अनुवृत्ति करनी होगी। ये दोनों पद षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाते हैं। इसके साथ ही साथ '५—ऊकालः—०' से 'अच्' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(उदात्तस्य) उदात्त, (अनुदात्तस्य) और अनुदात्त के (समाहारः)* एकीकरण या मेलवाला (अच्) स्वर (स्वरितः) 'स्वरित' कहलाता है। 'उदात्त' का अभिप्राय यहां उदात्त के गुण (उदात्तत्व) और 'अनुदात्त' का अभिप्राय अनुदात्त के गुण से है।† फलतः जिस स्वर में उदात्त और अनुदात्त के गुणों का मेल होगा, वह 'स्वरित' कहलावेगा।

उदात्त का गुण ऊपरी भाग से उच्चारण करना और अनुदात्त का गुण निचले भाग से उच्चारण करना है—यह पहले ही बताया जा चुका है। इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस स्वर का उच्चारण निर्धारित स्थान के ऊपरी और निचले भागों को मिलाकर होता है, उसे 'स्वरित' कहते हैं। उदाहरण के लिए अकार का उच्चारण जब कण्ठ के ऊपरी और निचले—इन दोनों ही भागों से होगा, तब वह 'स्वरित' कहलावेगा।

विशेष :—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग केवल वेदों में मिलता है। वहां इनका संकेत चिह्नों द्वारा किया जाता है। उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं होता, किन्तु अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा और स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न होता है, यथा :—

(१) उदात्त—अ, इ आदि।
(२) अनुदात्त—अ॒ इ॒ आदि।
(३) स्वरित—अ॑ इ॑ आदि।

९. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः । १ । १ । ८

मुखसहित-नासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्।

तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

९. मुखनासिकेति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(मुखनासिकावचनः‡)

---

* इसका विग्रह है—'समाहारोऽस्त्यस्मिन्निति समाहारः'।

† 'सामर्थ्याच्चात्र लोकवेदयोः प्रसिद्धौ गुणावेव वर्णधर्मावुदात्तानुदात्तौ गृह्येते' (काशिका)।

‡ इसका विग्रह इस प्रकार है :—'मुखेन सहिता नासिकेति मुखनासिका। उच्यते उच्चार्यते इति वचनः (वर्ण इत्यर्थः)। मुखनासिकया वचनः=मुखनासिकावचनः।'

मुख सहित नासिका से बोला जानेवाला वर्ण (अनुनासिकः) अनुनासिक-संज्ञक होता है। तात्पर्य यह कि जिस वर्ण का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से ही होगा, वह 'अनुनासिक' कहलावेगा। उदाहरण के लिए ङ्, ञ्, ण्, न् और म्—ये पांचों वर्ण मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं, अतः प्रकृत सूत्र से ये 'अनुनासिक' संज्ञक होंगे। इनके अतिरिक्त भी जिन अन्य व्यञ्जनों और स्वरों का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से किया जावेगा, वे 'अनुनासिक' कहलावेंगे, यथा :—कँ खँ और अँ इँ आदि।

विशेष :—प्रत्येक वर्ण का उच्चारण सामान्यतया मुख से ही होता है, अतः प्रश्न उठ सकता है कि सूत्र में 'मुख' शब्द का प्रयोग क्यों हुआ ? 'मुखनासिकावचनः' के स्थान पर 'नासिकावचनः' क्यों नहीं कहा गया ? इसका उत्तर यही है कि यदि सूत्र में 'मुख' शब्द का प्रयोग न किया जाता तो अनुस्वार को भी अनुनासिक मानना पड़ता, क्योंकि अनुस्वार का उच्चारण केवल नासिका से ही होता है।

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं[१] सवर्णम्[१] । १ । १ । ९

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

(वा०) ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अ कु ह विसर्जनीयानां कण्ठः। इ चु य शानां तालु। ऋ टु र षाणां मूर्धा। लृ तु ल सानां दन्ताः। उ पूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञ म ङ ण नानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य।

यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृत-संवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः, संवारः, श्वासो नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍क ≍ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍प ≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

१०. तुल्यास्यप्रयत्नमिति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(तुल्यास्य-प्रयत्नम्*) समान कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तर यत्नवाले वर्ण (सवर्णम्) सवर्ण-संज्ञक होते हैं। तात्पर्य यह कि जिन वर्णों के कण्ठादि स्थान और आभ्यन्तर यत्न दोनों ही समान होते हैं, वे परस्पर (एक दूसरे के) 'सवर्ण' कहलाते हैं। उदाहरण के लिए तकार और थकार का स्थान 'दन्त' है और आभ्यन्तर यत्न 'स्पृष्ट' । अतः आभ्यन्तरयत्न और स्थान एक ही होने के कारण तकार और थकार परस्पर 'सवर्ण' संज्ञक होंगे।

विशेष :—१. ध्यान रहे कि जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण आभ्यन्तरयत्न समान न होगा, तब तक वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा न होगी। उदाहरणार्थ 'इ' और 'ए' वर्णों का आभ्यन्तरयत्न (विवृत) समान है और दोनों का तालुस्थान भी समान है, परन्तु 'ए' का 'इ' से कण्ठस्थान अधिक है।† अतः इनकी परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती।

यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सम्पूर्ण स्थान + आभ्यन्तरयत्न का साम्य होने पर ही सावर्ण्य माना जायगा तो 'क्' और 'ङ्' की सवर्ण संज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के समान होने पर भी ङकार का नासिकास्थान अधिक होता है। और यदि इनकी सवर्ण संज्ञा न होगी तो '३०४—क्विन्प्रत्ययस्य कुः' में ककार ङकार का ग्रहण न करायेगा और इस प्रकार नकार को ङकार होकर 'प्राङ्' आदि प्रयोग भी सिद्ध न होंगे। इसका समाधान यह है कि सूत्र में 'आस्य' का प्रयोग होने से केवल 'मुख में होनेवाले स्थान' को ही ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह कि मुखगत (मुख में होनेवाला) स्थान समान होना चाहिये, मुख के बाहर का स्थान समान हो या न हो। ङकार और ककार का मुखगत स्थान 'कण्ठ' समान ही है। नासिका तो मुख के बाहर का स्थान है, अतः उसके असमान होने पर भी ङकार और ककार की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा हो जाती है।

२. सम्पूर्ण स्थान + प्रयत्न समान होने पर भी 'ए' और 'ऐ' तथा 'ओ' और 'औ' की परस्पर 'सवर्ण' संज्ञा नहीं होती, क्योंकि 'ए ओङ्' और 'ऐ औच्' में दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश हुआ है।

३. वर्णों के मुखगत स्थान और आभ्यन्तर यत्न इस प्रकार हैं :—

---

* विग्रह इस प्रकार है :—'आस्ये मुखे भवमास्यं कण्ठादिस्थानम्। प्रकृष्टः यत्नः प्रयत्नः (आभ्यन्तरयत्न इत्यर्थः)। आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ। तुल्यौ समानौ आस्यप्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत् तुल्यास्यप्रयत्नम्।'

† ध्यान रहे कि 'इ' का स्थान 'तालु' तथा 'ए' का स्थान 'कण्ठतालु' है।

मुखगत-स्थान-बोधक चक्र

कण्ठ	तालु	ओष्ठ	मूर्धा	दन्त	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठ	दन्तोष्ठ	जिह्वामूल
अ	इ	उ	ऋ	ऌ	ए	ओ	व्	≍क
क्	च्	प्	ट्	त्	ऐ	औ	—	≍ख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	—	—	—	—
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	—	—	—	—
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	—	—	—	—
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	—	—	—	—
ह्	य्	≍प	र्	ल्	—	—	—	—
विसर्ग*	श्	≍फ	ष्	स्	—	—	—	—

आभ्यन्तरयत्न-बोधक चक्र†

स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	विवृत	ईषद्विवृत	संवृत
क ख ग घ ङ	य	अ ए	श	॰अ प्रयोग (सिद्ध रूप) ह्रस्व 'अ'
च छ ज झ ञ	र	इ ओ	ष	
ट ठ ड ढ ण	ल	उ ऐ	स	
त थ द ध न	व	ऋ औ	ह	
प फ ब भ म		ऌ		

---

* अकाराश्रित (अकार से परे) होने पर ही विसर्ग का कण्ठस्थान होगा। वस्तुतः विसर्ग का स्थान उसके आश्रयभूत वर्ण के अनुसार होता है, यथा 'कविः' में इकाराश्रित होने से विसर्ग का स्थान तालु होगा। 'पाणिनीय शिक्षा' में कहा भी है :—'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः।'

† 'सवर्ण' संज्ञा में स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत—इन चार आभ्यन्तरयत्नों का ही उपयोग होता है (देखिये काशिका १.१.९)। इनमें भी संवृत ह्रस्व 'अ' सूत्रों का कार्य (प्रक्रिया या साधन) करते समय विवृत ही माना जाता है। फलतः 'सवर्ण' संज्ञा के लिए केवल स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट और विवृत प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है।

(वा०) ऋऌ इति—वार्तिक का अर्थ है :—ऋ और ऌ वर्ण की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिये। तात्पर्य यह कि स्थान भिन्न होने पर भी ऋ और ऌ वर्ण परस्पर 'सवर्ण' संज्ञक होते हैं।

विशेष :—ध्यान रखना होगा कि ऋकार मूर्धास्थानीय है, और ऌकार दन्त-स्थानीय। अतः प्रकृत सूत्र 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से इनकी 'सवर्ण' संज्ञा न होने के कारण प्रस्तुत वार्तिक की आवश्यकता पड़ी।

११. अणुदित्[१] सवर्णस्य[६] चाऽप्रत्ययः[१]। १। १। ६९

प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्–'अ' इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं ऌकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुनासिकाननुनासिक-भेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

११. अणुदिदिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अप्रत्ययः) प्रत्यय-भिन्न (अणुदित्= अण्+उदित्) अण् और उदित् (सवर्णस्य) सवर्ण की (च) तथा...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'स्वं रूपं शब्दस्य—०' १.१.६८ से 'स्वम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'स्वम्' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। सूत्रस्थ 'अप्रत्ययः' यहां यौगिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिसका किसी सूत्र द्वारा विधान किया जाता है, उसे 'प्रत्यय' कहते हैं, यथा—प्रत्यय, आदेश, आगम आदि। इस प्रकार 'अप्रत्ययः' का अर्थ होगा—जिसका विधान न हुआ हो अर्थात् अविधीयमान। इस अर्थ में 'अप्रत्ययः' का अन्वय केवल 'अण्' से ही होता है, 'उदित्' से नहीं।* 'अण्' प्रत्याहार अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह् य् व् र् और ल् का बोधक है।† 'कु चु टु तु पु' को 'उदित्' कहते

* 'इह अविधीयमान इति न सम्बध्यते, उदित्करणसामर्थ्यात्'–सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† ध्यान रहे कि णकार 'अ इ उण्' और 'लण्'—इन दोनों ही सूत्रों में पाया जाता है। यहां 'लण्' वाले णकार का ग्रहण होता है। कहा भी है :—

'परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥'

('इण्' प्रत्याहार सर्वत्र पर-णकार से तथा '११–अणुदित्सवर्णस्य—०' सूत्र को छोड़कर 'अण्' प्रत्याहार पूर्व-णकार से लेना चाहिये। केवल '११–अणुदित्–०' सूत्र में ही 'अण्' प्रत्याहार पर-णकार से लिया जाता है।)

हैं, क्योंकि इनका उकार इत् होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अविधीयमान (जिसका विधान न किया गया हो, ऐसा) 'अण्' (अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह् य् व् र् ल्) और उदित् (कु चु टु तु पु) सवर्ण की तथा 'अपने स्वरूप की संज्ञा होता है।* तात्पर्य यह कि अविधीयमान अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह् य् व् र् और ल् तथा कु, चु, टु, तु और पु अपना तथा अपने सवर्णों का भी बोध कराते हैं। उदाहरण के लिए '१५—इको यणचि' में 'इक्' अविधीयमान है, क्योंकि विधान तो उसके स्थान पर 'यण्' का हुआ है। 'इक्' प्रत्याहार में इ उ ऋ और ऌ वर्ण आते हैं। अविधीयमान होने के कारण इ उ ऋ और ऌ यहां अपना तथा अपने सवर्णों (दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त आदि अन्य भेदों) का बोध कराते हैं। इसी से यद्यपि सूत्र में ह्रस्व इकार के ही स्थान पर यण्—यकार का विधान हुआ है, किन्तु यहां इकार से अन्य सवर्णों का भी ग्रहण होने से 'सुधी+उपास्य' आदि स्थलों पर दीर्घ ईकार के स्थान पर भी यण्—यकार हो 'सुध्युपास्य' आदि रूप बनते हैं। इसी प्रकार अविधीयमान होने के कारण उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'अच् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) भी अपना तथा अपने सवर्णों—दीर्घ, प्लुत आदि का बोध कराता है। इसी से तो 'प्रभु+आज्ञा' आदि स्थलों पर दीर्घ आकार परे होने पर भी यणादेश हो 'प्रभ्वाज्ञा' आदि रूप बनते हैं। किन्तु अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र् और ल् का प्रयोग यदि किसी सूत्र से विहित आदेश, आगम और प्रत्यय आदि में हुआ होगा, तो वहां उससे उसके सवर्णों का बोध न होगा। उदाहरण के लिए '८४०—सनाशंस-भिक्ष उः' से 'उ' का विधान हुआ है। अतः यहां 'उ' अपने सवर्णों (दीर्घ, प्लुत आदि अन्य भेदों) का बोध न करावेगा, उससे केवल अपने स्वरूप—ह्रस्व उकार का ही बोध होगा। हां, कु, चु, टु, तु और पु के विषय में यह प्रतिबन्ध नहीं लगता। कु चु आदि चाहे विधीयमान हों या अविधीयमान—दोनों ही अवस्थाओं में उनसे उनका तथा उनके सवर्णों का बोध होगा। उदाहरण के लिए '३०६—चोः कुः' में 'कु' विधीयमान है, फिर भी उससे 'क्' तथा अन्य सवर्ण ख्, ग्, घ् और ङ् का ग्रहण होता है। इसी से 'सुयुज्' में पदान्त जकार के स्थान पर गकार हो 'सुयुग्' रूप बनता है।

विशेष :—१. यह सूत्र 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' १.१.६८ का अपवाद है और इस सूत्र का अपवाद है—'२६—तपरस्तत्कालस्य'।

२. सूत्र के अनुसार सूत्रस्थ वर्णों का बोध-क्षेत्र इस प्रकार होगा :—

---

* ध्यान रहे कि यह भी संज्ञा-सूत्र है।

(क) अविधीयमान अ इ उ=ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक अ इ उ ।

(ख) अविधीयमान ऋ या ऌ=ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक ऋ तथा दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक ऌ ।*

(ग) अविधीयमान ए ओ ऐ औ=दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक ए ओ ऐ औ ।

(घ) अविधीयमान य् व् ल्=अनुनासिक और अननुनासिक य् व् ल् ।

(ङ) अविधीयमान ह् र्=ह् र् ।†

(च) विधीयमान या अविधीयमान 'कु'=क् ख् ग् घ् ङ् ।

(छ) विधीयमान या अविधीयमान 'चु'=च् छ् ज् झ् ञ् ।

(ज) विधीयमान या अविधीयमान 'टु'=ट् ठ् ड् ढ् ण् ।

(झ) विधीयमान या अविधीयमान 'तु'=त् थ् द् ध् न् ।

(ञ) विधीयमान या अविधीयमान 'पु'=प् फ् ब् भ् म् ।

१२. परः[1] सन्निकर्षः[1] संहिता[2] । १ । ४ । १०९

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।

१२. पर इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है । शब्दार्थ है :—(परः)‡ अतिशय (सन्निकर्षः§) समीपता (संहिता) 'संहिता' संज्ञक होती है । 'शब्दानुशासन' का विषय होने से 'अतिशय समीपता' का अभिप्राय यहां वर्णों की अतिशय समीपता से है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वर्णों की अतिशय समीपता (अर्थात् व्यवधान-रहित उच्चारण) को 'संहिता' कहते हैं । उदाहरण के लिए 'सुधी+उपास्यः' में

---

* ध्यान रहे कि ऋ और ऌ वर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं (देखिये १० वें सूत्र पर वार्तिक) ।

† रकार और हकार अपने स्वरूप का ही बोध कराते हैं, क्योंकि उनके सवर्ण नहीं होते—'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' (काशिका) ।

‡ 'परशब्दोऽतिशये वर्तते । सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः ।' (काशिका)

§ सूत्रस्थ 'सन्निकर्षः' का एक अन्य अर्थ 'समीप लाना' भी होता है (देखिये—वी०एस० आप्टे : द प्रैक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, भाग—२) । इस प्रकार सूत्र का गौण अर्थ होगा—वर्णों को अतिशय समीप में लाने (अर्थात् परस्पर मिलाने) को 'संहिता' कहते हैं । उदाहरण के लिए 'सुधी उपास्यः' में ईकार और उकार को

ईकार के पश्चात् बिना किसी व्यवधान के उकार आया है, अतः इन दोनों की समीपता को 'संहिता' कहा जाता है।

१३. हलोऽनन्तराः[1] संयोगः[1] । १ । १ । ७

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञाः स्युः ।

१३. हल इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अनन्तराः)* व्यवधानरहित अर्थात् जिनमें व्यवधान न हो ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-संज्ञक होते हैं। 'हल्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत सभी व्यञ्जन आ जाते हैं। 'व्यवधान' का अभिप्राय यहां स्वर (अच्) के व्यवधान से है, क्योंकि व्यवधान सदा विजातीयों का ही होता है; सजातीयों का नहीं। सूत्रस्थ 'हलः' में जाति-बहुवचन है, अतः इससे दो या दो से अधिक हलों (व्यंजनों) का ग्रहण होता है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि स्वर वर्ण का व्यवधान न हो तो दो या दो से अधिक व्यंजनों को 'संयोग' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'कर्ण' में रकार और णकार के बीच में कोई स्वर-वर्ण नहीं आया है, अतः प्रकृत सूत्र से दोनों की 'संयोग' संज्ञा होगी। इसी प्रकार 'इन्द्र' में स्वर-वर्ण का व्यवधान न होने से नकार, दकार और रकार की 'संयोग' संज्ञा होती है।

विशेष :—ध्यान रहे कि सम्पूर्ण व्यंजन-समुदाय की 'संयोग' संज्ञा होती है, प्रत्येक व्यंजन की नहीं, यथा—'कर्ण' में रकार और णकार के समुदाय की 'संयोग' संज्ञा होती है, रकार और णकार की पृथक्-पृथक् नहीं।

१४. सुप्तिङन्तं[1] पदम्[1] । १ । ४ । १४

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ।

इति संज्ञाप्रकरणम् ।

१४. सुप्तिङिति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(सुप्तिङन्तम्‡) सुप् और तिङ् अन्तवाले (पदम्) पद-संज्ञक होते हैं। '१२१—स्वौजसमौट्—०' से विहित २१ प्रत्ययों को 'सुप्' तथा '३७५—तिप्तस्झि—०' से विहित १८ प्रत्ययों को 'तिङ्' कहते हैं। 'शब्दानुशासन' का विषय प्रस्तुत होने से 'शब्द-स्वरूपम्' का यहां अध्या-

---

परस्पर मिलाने को 'संहिता' कहेंगे। इस अर्थ में 'संहिता' वस्तुतः 'सन्धि' का ही दूसरा नाम है।

* 'अविद्यमानम् अन्तरम्—व्यवधानं येषां ते अनन्तराः, बहुव्रीहि-समासः'।

† 'जातौ चेदं बहुवचनं तेन द्वयोर्बहूनां च संयोगसंज्ञा सिद्धा भवति'—काशिका।

‡ इसका विग्रह है :—'सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ। सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत् सुप्तिङन्तम्।'

हार कर लिया जाता है। सूत्रस्थ 'सुतिङन्तम्' उसका विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुप्-प्रत्ययान्त और तिङ्-प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप को 'पद' कहते हैं। उदाहरण के लिए प्रातिपदिक 'राम' से सुप्—'सु' प्रत्यय हो 'रामः' शब्द बनता है। सुप्-प्रत्ययान्त होने के कारण प्रकृत सूत्र से यह 'पद' संज्ञक होगा। इसी प्रकार अन्त में तिङ्—'तिप्' प्रत्यय होने के कारण 'भवति' भी 'पद'-संज्ञक होता है।

विशेष :—यहां प्रश्न हो सकता है कि 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्*' परिभाषा से 'अन्त' का ग्रहण स्वतः प्राप्त होने पर भी सूत्र में 'अन्तम्' का प्रयोग क्यों किया गया है? 'सुतिङन्तं पदम्' के स्थान पर 'सुतिङ् पदम्' का प्रयोग क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर यही है कि प्रत्यय की संज्ञा होने पर 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।† यहां सूत्र में 'सुप्' और 'तिङ्' प्रत्ययों की 'पद' संज्ञा की गई है। इस प्रकार प्रत्यय की संज्ञा होने से सूत्र में 'अन्तम्' का प्रयोग हुआ है।

संज्ञा-प्रकरण समाप्त हुआ

---

* इसका अर्थ है—'प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्त [प्रत्ययान्त] का भी ग्रहण होता है।

† 'पदसंज्ञायामन्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधेः प्रतिषेधार्थम्'—काशिका।

अच्सन्धिप्रकरणम्

१५. इको यणचि ६ । १ । ७७

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते—

१५. इक इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अचि) अच् परे होने पर (इकः) इक् के स्थान पर (यण्) यण् होता है । 'इक्' प्रत्याहार में इ उ ऋ और लृ तथा अच् प्रत्याहार में सभी स्वरों का समावेश होता है । अविधीयमान होने के कारण इक् और अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत आनेवाले वर्ण अपना तथा अपने सवर्णों का भी बोध कराते हैं । 'यण्' प्रत्याहार के अन्तर्गत य् व् र् और ल् वर्ण आते हैं । 'यण्' विधीयमान है, अतः उसके अन्तर्गत आनेवाले उक्त वर्ण केवल अपने स्वरूप का ही बोध कराते हैं ।* 'संहितायाम्' ६.१.७२ का यहां अधिकार है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्वर-वर्ण परे होने पर संहिता के विषय में इ उ ऋ लृ के स्थान पर य् व् र् ल् आदेश होते हैं । 'संहिता के विषय में' कहने से व्यवधान-रहित स्वर-वर्ण परे होने पर ही इ उ ऋ लृ के स्थान पर य् व् र् ल् आदेश होते हैं ।†

---

* इस विषय में विशेष स्पष्टीकरण के लिए ११ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

† देखिये १२ वें सूत्र की व्याख्या । कहा भी है :—"एतेन 'इगुच्चारणोत्तरं यत्रार्धमात्रान्तराल एवाजुच्चारणं, तत्रैव यणुच्चारणम्, यत्र त्वर्धमात्राधिककालव्यवधानं तत्र यण् न साधुः' इति नियमः सूच्यते—" सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (पाद-टिप्पणी) ।

हां, यदि यहां 'संहिता' का गौण अर्थ 'परस्पर मिलाना' या 'सन्धि' लिया जावे तो सूत्र का भावार्थ इस प्रकार होगा—जहां सन्धि होती हो, वहां स्वर-वर्ण पर होने पर इक् के स्थान पर यण् आदेश होता है । सन्धि के विषय में यह नियम है :—

> 'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
> नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥'

(अखंडपद में, धातु और उपसर्ग में तथा समास में सन्धि नित्य करनी चाहिये, वाक्य में सन्धि करना वक्ता की इच्छा पर निर्भर है) इस प्रकार उक्त स्थलों पर ही स्वर परे होने पर इक् के स्थान पर यण् होगा । उदाहरण के लिए 'सुधी उपास्यः' में तृतीया तत्पुरुष समास है, अतः नियमानुसार यहां प्रकृत सूत्र प्रवृत्त होगा ।

तात्पर्य यह कि यदि इ, उ, ऋ, ऌ के अनन्तर कोई स्वर-वर्ण हो तो इ उ ऋ ऌ के स्थान पर य् व् र् ल् आदेश होंगे। उदाहरण के लिए 'सुधी उपास्यः' में इक्—ईकार के अनन्तर अच्—उकार आया है, अतः प्रकृत सूत्र से उस इक् के स्थान पर 'यण्' आदेश होगा। इसी बात को आगामी सूत्र के द्वारा भी प्रकट किया गया है :—

*१६. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य। १। १। ६६

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

१६. तस्मिन्निति—यह परिभाषा-सूत्र† है। शब्दार्थ है :—(तस्मिन्) उसमें (इति) ऐसा (निर्दिष्टे) निर्दिष्ट होने पर (पूर्वस्य) पूर्व के स्थान पर—। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में सूत्रस्थ 'तस्मिन्' का अभिप्राय यहाँ केवल सप्तम्यर्थ पद से है, चाहे वह कोई भी हो। इसी प्रकार सूत्र में 'निर्दिष्टे'‡ का ग्रहण होने से 'पूर्वस्य' का अर्थ होगा—'अव्यवहित' पूर्व के स्थान पर। अतः सम्पूर्ण सूत्र का भावार्थ होगा—सप्तम्यर्थ पद से निर्दिष्ट किया हुआ अव्यवहित पूर्व के स्थान पर होता है। तात्पर्य यह कि सप्तम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया जाता है, वह कार्य व्यवधान-रहित पूर्व के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए '१५—इको यणचि' सूत्र में सप्तम्यन्त पद 'अचि' का उच्चारण कर 'इक्' के स्थान पर 'यण्' का विधान किया गया है। प्रकृत सूत्र की सहायता से 'इक्' के स्थान पर यह

---

* पूर्वसूत्र (१५) की उक्त व्याख्या की दृष्टि से यह सूत्र यहाँ अनावश्यक है। वास्तव में इस सूत्र की आवश्यकता तो तभी पड़ेगी जब पूर्वसूत्र का पाद-टिप्पणी में दिया हुआ गौण अर्थ लिया जावे, क्योंकि उस स्थिति में ज्ञात नहीं होता कि किस इक् के स्थान पर यण् हो। 'सुधी उपास्यः' में तीन इक् आये हैं—सकारोत्तरवर्ती उकार, धकारोत्तरवर्ती ईकार, 'उपास्यः' का आदि उकार। इन तीनों इकों के परे अच् भी आया है। अतः यहाँ किस इक् के स्थान पर यण् हो—इस बात का निर्णय करने के लिए इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता पड़ती है।

† नियम बतानेवाले सूत्रों को 'परिभाषा-सूत्र' कहते हैं—'परितः सर्वतो भाष्यन्ते नियमा याभिस्ताः परिभाषाः।' ये सूत्र स्वयं कोई कार्य नहीं करते, किंतु अन्य विधि या निषेध सूत्रों की सहायता करते हैं।

‡ 'निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम्'—काशिका। वास्तव में 'निर्दिष्ट' का अर्थ ही है—'निरन्तर उच्चरित'—'निःशब्दो नैरन्तर्यपरः, दिशिरुच्चारणक्रियः'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या। यह 'निरन्तर उच्चारण' तभी सम्भव है जब सप्तम्यर्थ निर्देश और पूर्व के बीच कोई अन्तर (व्यवधान) न हो।

'यण्' तभी होगा जब 'इक्' और 'अच्' के बीच* में किसी वर्ण का व्यवधान न होगा। इसीलिए यद्यपि 'सुधी उपास्यः' में तीन इक् हैं, किन्तु यण् आदेश धकारोत्तरवर्ती ईकार के ही स्थान पर होगा, क्योंकि यहाँ इक्–ईकार और अच्–उकार के बीच में अन्य वर्ण नहीं आया है। अन्य इकों और अचों के बीच में किसी न किसी अन्य वर्ण का व्यवधान है, यथा—इक्–सकारोत्तरवर्ती उकार और अच्–धकारोत्तरवर्ती ईकार के बीच में धकार का व्यवधान है।

इस प्रकार धकारोत्तरवर्ती ईकार के स्थान पर यण् आदेश प्राप्त होने पर प्रश्न उठता है कि यण् प्रत्याहार में तो चार वर्ण आते हैं—य्, व्, र् और ल्, इनमें से ईकार के स्थान पर कौन वर्ण आवेगा? इसके समाधान के लिए अग्रिम सूत्र दिया गया है :—

१७. स्थानेऽन्तरतमः । १ । १ । ५०

प्रसंगे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते —

१७. स्थान इति—यह भी परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(स्थाने)† प्रसंग में (अन्तरतमः‡) सदृशतम होता है। यहाँ 'प्रसंग में' (स्थाने) का अर्थ समझने के लिए इस सूत्र को उसके सन्दर्भ में देखना होगा।

इसके पूर्व 'षष्ठी स्थानेयोगा' १.१.४९ सूत्र में बताया गया है कि षष्ठ्यन्त पद का अर्थ करते समय सामान्यतया 'स्थाने' जुड़ जाता है, यथा—'१५–इको यणचि' में षष्ठ्यन्त पद 'इकः' का अर्थ होगा—'इकः स्थाने' (इक् के प्रसंग में)। प्रस्तुत सूत्र में 'स्थाने' का अभिप्राय इसी 'षष्ठी स्थानेयोगा' से है। यहाँ बताया गया है कि षष्ठ्यन्त पद के प्रसंग में जो हो, उसे सदृशतम होना चाहिये। वास्तव में इस परिभाषा की आवश्यकता

---

* यहाँ कहा जा सकता है कि स्थानी–इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) और आदेश–यण् (य् व् र् ल्) तो संख्या में समान ही हैं, अतः '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' सूत्र से ये आदेश क्रमानुसार क्यों नहीं होते? इसका उत्तर यह है कि इक् तो अविधीयमान है, किन्तु यण् विधीयमान। अविधीयमान होने के कारण इक् अपना तथा अपने सवर्णों का भी बोधक है और इस प्रकार सब मिलाकर उनकी संख्या ६६ हो जाती है। विधीयमान होने से यण् केवल अपने स्वरूप—य् व् र् ल्—इन चार का ही बोधक होता है (देखिये ११ वें सूत्र की व्याख्या)। इस प्रकार स्थानी और आदेश समानसंख्यक न होने से '२३–यथासंख्यम्—०' से क्रमानुसार आदेश होना सम्भव नहीं।

† 'स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची'–काशिका (१.१.४९)।

‡ 'अतिशयेन अन्तरः सदृशः–इति अन्तरतमः (सदृशतम इत्यर्थः)।

तभी होती है जब षष्ठी के स्थान पर एक से अधिक आदेश प्राप्त होते हैं।* अतः सूत्र का तात्पर्य होगा—प्रसंग में एक से अधिक आदेश प्राप्त होने पर षष्ठी के स्थान पर वही आदेश होगा जो उसके अत्यन्त सदृश होगा। उदाहरण के लिए 'सुधी उपास्यः' में धकारोत्तरवर्ती इक्—ईकार के स्थान पर '१५—इको यणचि' से य् व् र् और ल्—ये चार आदेश प्राप्त होते हैं। इनमें से यकार ही इक्—ईकार के सदृशतम है, क्योंकि दोनों का ही स्थान तालु है।† अतः ईकार के स्थान पर केवल यकार ही आदेश होगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'सुध् य् उपास्यः'।

विशेष :—१. शब्दों की सदृशता चार प्रकार की होती है‡ :—

(१) **स्थानकृत**—जो स्थान षष्ठी का हो, वही आदेश का भी होना चाहिये, यथा—'सुधी उपास्यः' = 'सुध् य् उपास्यः' में तालुस्थानीय ईकार के स्थान पर तालुस्थानीय यकार ही आदेश होता है।§

(२) **अर्थकृत**—एकार्थवाची के स्थान पर एकार्थवाची, द्व्यर्थवाची के स्थान पर द्व्यर्थवाची और बह्वर्थवाची के स्थान पर बह्वर्थवाची आदेश होता है, यथा—'भव तस्' = 'भवताम्' में '४१४—तस्थस्थमिपां—०' से द्व्यर्थवाची 'तस्' के स्थान पर द्व्यर्थवाची 'ताम्' ही होता है।

(३) **प्रमाणकृत**—एकमात्रिक के स्थान पर एकमात्रिक और द्विमात्रिक के स्थान पर द्विमात्रिक होता है, यथा—'अदस्मै' = 'अमुष्मै' और 'अदाभ्याम्' = 'अमूभ्याम्' में '३५६—अदसोऽसेर्दादु दो मः' से क्रमशः एकमात्रिक अकार के स्थान पर उकार और द्विमात्रिक आकार के स्थान पर ऊकार आदेश होता है।

(४) **गुणकृत**—अल्पप्राण के स्थान पर अल्पप्राण और महाप्राण के स्थान पर महाप्राण आदेश होता है। इसी प्रकार विवार, संवार आदि अन्य बाह्य अथवा स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट आदि आभ्यन्तरयत्नवाले के स्थान पर उसी प्रकार के यत्नवाला आदेश होता है। वास्तव में यहाँ 'गुण' का अभिप्राय 'यत्न' से है। जो यत्न (आभ्यन्तर या बाह्य) षष्ठी का हो, वही आदेश का भी होना चाहिये।¶ उदाहरण के लिए

---

* 'प्रसङ्ग इति—बहूनामादेशानामित्यादिः। तथा चैकस्यानेकादेशप्राप्तिरेतस्या उपस्थितौ लिङ्गम्'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (पाद-टिप्पणी)।

† 'इचुयशानां तालु'।

‡ 'कुतश्च शब्दस्यान्तर्यम्। स्थानार्थगुणप्रमाणतः'—काशिका।

§ वर्णों का स्थान जानने के लिए १० वें सूत्र के अन्तर्गत 'स्थान-बोधक चक्र' देखिये।

¶ वर्णों के यत्न-निर्देश के लिए पुस्तक के पूर्वार्ध का 'पूर्वाभास' देखिये।

'वाक्-हरिः' = 'वाग्घरिः' में '७५—झयो होऽन्यतरस्याम्' से नाद, घोष, संवार और महाप्राण यत्नवाले हकार के स्थान पर उसी प्रकार के यत्नवाला घकार होता है।

२. जहाँ अनेक प्रकार की सदृशता (सादृश्य) प्राप्त हो, वहाँ स्थानकृत सदृशता बलवती मानी जाती है—'यत्रानेकमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः' (काशिका)। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जहाँ स्थानकृत सादृश्य के अतिरिक्त प्रमाणकृत आदि अन्य सादृश्य प्राप्त होते हैं, वहाँ आदेश स्थानकृत सादृश्य के ही आधार पर होता है, अन्य प्रकार के सादृश्य के आधार पर नहीं।

१८. अनचि च। ८। ४। ४७

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम्।

१८. अनचि चेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(च) और (अनचि) अच् न परे होने पर। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '६८—यरोऽनुनासिके—०' से 'यरः' और 'वा' तथा '६९—अचो रहाभ्यां द्वे' से 'अचः' और 'द्वे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(अनचि) अच् परे न होने पर (अचः) अच् के पश्चात् (यरः) यर् के स्थान पर (वा) विकल्प* से (द्वे)† दो होते हैं। अच् और यर्—ये दोनो प्रत्याहार हैं। अच् के अन्तर्गत सभी स्वर और यर् के अन्तर्गत हकार को छोड़कर सभी व्यञ्जन आ जाते हैं। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि स्वर-वर्ण परे न हो तो स्वर-वर्ण के पश्चात् हकार को छोड़कर अन्य व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है, हाँ, यह द्वित्व विकल्प से ही होता है।

संक्षेप में, द्वित्व होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

१. यर् स्वर-वर्ण के पश्चात् आना चाहिये :—उदाहरण के लिए 'स्मितम्' में यर्—सकार स्वर-वर्ण के पश्चात् नहीं है, अतः उससे स्वर परे न होने पर भी प्रकृत सूत्र से द्वित्व नहीं होता।

२. यर् के पश्चात् स्वर-वर्ण न होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'स्मितम्' में यर्—तकार के पश्चात् स्वर—अकार आया है, अतः स्वर-वर्ण (अकार) पूर्व में होने पर भी उसको द्वित्व नहीं होता।

ये दोनो ही बातें 'सुध् य् उपास्यः' में मिलती हैं। यहाँ स्वर-वर्ण उकार के पश्चात्

---

* एक पक्ष में कार्य का होना और दूसरे पक्ष में न होना 'विकल्प' कहलाता है।

† 'दो' का अभिप्राय यहां 'एक' को दो करने से है। इसी को 'द्वित्व' भी कहते हैं।

यर्–धकार आया है, और उसके पश्चात् कोई स्वर भी नहीं है। अतः प्रकृतसूत्र से उसका द्वित्व होकर 'सुध् ध् य् उपास्यः' रूप बनता है। द्वित्व के अभावपक्ष में 'सुध् य् उपास्यः' ही रहता है।

विशेष :—ध्यान रहे कि सूत्रस्थ 'अनचि' (अच् परे न होने पर) प्रसज्य-प्रतिषेध है।* अतः उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि अच् (स्वर) परे न होना चाहिये, यह आवश्यक नहीं कि अच् भिन्न वर्ण (व्यञ्जन) परे हो ही। व्यंजन-वर्ण न परे होने पर भी द्वित्व होता है, यथा—'वाक्' से 'वाक्क्'। यहाँ यर्–ककार के पश्चात् कोई व्यञ्जन नहीं आया है, फिर भी अच्–अकार के पश्चात् होने से उसका द्वित्व हो जाता है। इस प्रकार व्यञ्जन-वर्ण परे हो या न हो, दोनों ही अवस्थाओं में अच् के पश्चात् यर् का द्वित्व होता है। हां, स्वर-वर्ण परे होने पर द्वित्व नहीं होता।

१६. झलां[३] जश्[१] झशि[७]। ८। ४। ५३

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

१९. झलामिति—वृत्तिकार ने इसका अर्थ लिखते समय केवल 'स्पष्टम्' लिखा है किन्तु इसकी व्याख्या के लिए इतना ही लिखना पर्याप्त नहीं। 'स्पष्टम्' का तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि सूत्र अपने आप में पूर्ण है और स्पष्टीकरण के लिए किसी प्रकार की अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। सूत्र का अर्थ होगा (झशि) झश् परे होने पर (झलां) झलों के स्थान पर (जश्) जश् होते हैं। झश्, झल् और जश् प्रत्याहार हैं। झश् के अन्तर्गत वर्गों के तृतीय और चतुर्थ वर्ण, झल् के अन्तर्गत वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण तथा श् ष् स् ह् और जश् के अन्तर्गत वर्गों के तृतीय वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का सरलार्थ होगा—वर्गों के तृतीय और चतुर्थ वर्ण परे होने पर वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण या श् ष् स् ह् के स्थान पर वर्गों के तृतीय वर्ण (ज् , ब् , ग् , ड् , द्) आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'सुध् ध् य् उपास्यः' में उकारोत्तरवर्ती धकार झल् है और उसके पश्चात् झश्–धकार भी आया है। अतः प्रकृत सूत्र से झल्–उकारोत्तरवर्ती धकार के स्थान पर वर्गों का तृतीय वर्ण आदेश होगा। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से दन्तस्थानीय धकार के स्थान पर दन्तस्थानीय तृतीय वर्ण–दकार ही होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'सु द् ध् य् उपास्यः'। 'सुध् य् उपास्यः' में झश् परे न होने के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता।

---

* देखिये इस सूत्र पर तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

विशेष :—'१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से झश् परे होने पर झलों के स्थान पर जश् आदेश इस प्रकार होंगे :—

झल् वर्ण (जिनके स्थान पर 'जश्' होता है)	साम्य, स्थान	जश् वर्ण (जो आदेश होते हैं)
झ् ज् छ् च् श्	तालु	ज्
भ् ब् फ् प्	ओष्ठ	ब्
घ् ग् ख् क् ह्	कण्ठ	ग्
ढ् ड् ठ् ट् ष्	मूर्धा	ड्
ध् द् थ् त् स्	दन्त	द्

२०. संयोगान्तस्य लोपः । ८ । २ । २३

संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात् ।

२०. संयोगान्तस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(संयोगान्तस्य) संयोगान्त का (लोपः) लोप होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। यह सूत्रस्थ 'संयोगान्तस्य' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संयोगान्त पद (जिस पद के अन्त में संयोग हो) का लोप होता है। दूसरे शब्दों में, जिस पद* के अन्त में संयोग† हो, उसका लोप‡ हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सु द् ध् य् उपास्यः' और 'सु ध् य् उपास्यः' में क्रमशः 'सु द् ध् य्' और 'सु ध् य्' पद हैं।§ उनके अन्त में क्रमशः 'द्ध्य्' और 'ध् य्' संयोग-संज्ञक हैं। अतः दोनों ही संयोगान्त-पद हैं। संयोगान्त-पद होने के कारण प्रकृतसूत्र से सम्पूर्ण 'सु द् ध् य्' और 'सुध् य्' का लोप प्राप्त होता है। इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है :—

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ 'लोप' का अर्थ है—अदर्शन। देखिये दूसरे सूत्र की व्याख्या।

§ ध्यान रहे कि 'सुद्ध्य्' और 'सुध्य्' के अन्त में यद्यपि सुप् (भिस्) का लोप हो गया है तथापि '१९०—प्रत्ययलोपे—०' परिभाषा से उनकी पद संज्ञा हो जाती है।

२१. [१]अलोऽन्त्यस्य[१] । १ । १ । ५२

षष्ठी-निर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते-(वा०) यणः प्रतिषेधो वाच्यः ।

सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः । मद्ध्वरिः, मध्वरिः । धात्त्रंशः, धात्रंशः । लाकृतिः ।

२१. अलोऽन्त्यस्येति—यह परिभाषासूत्र है । शब्दार्थ है :—(अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल् के स्थान पर···। वास्तव में यह सूत्र 'षष्ठी स्थानेयोगा' १.१.४९ के प्रसंग में आया है । सूत्रस्थ 'अल्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत सभी वर्ण आ जाते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठयन्त पद के स्थान पर जिस आदेश का विधान किया जावे, वह आदेश उस षष्ठयन्त पद के अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है ।* उदाहरण के लिए '२०–संयोगान्तस्य लोपः' से षष्ठयन्त संयोगान्त—'सुद्ध्य्–के स्थान पर लोप आदेश हुआ है । प्रकृतसूत्र से यह लोपादेश उनके अन्तिम वर्ण–यकार को ही होगा । इस प्रकार 'सुद्ध्य्' और 'सुध्य्' के यकार का लोप प्राप्त होने पर अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है :—

(वा०) यण इति—भावार्थ है :—यदि संयोगान्त पद का अन्तिम वर्ण यण् (य् व् र् ल्) हो तो उसका लोप नहीं होता । उदाहरण के लिए संयोगान्त पद 'सु द् ध् य्' और 'सु ध् य्' का अन्तिम वर्ण–यकार यण् है, अतः प्रकृत वार्तिक से उसके लोप का निषेध हो जाता है । तब 'सु द् ध् य् उपास्यः' = 'सुद्ध्युपास्यः' और 'सु ध् य्-उपास्यः' = 'सुध्युपास्यः' रूप सिद्ध होते हैं ।†

---

* इस सूत्र का अपवाद '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' है और '४५–अनेकाल्०'—का अपवाद है—'४६–ङिच्च' । इस प्रकार प्रकृत सूत्र का व्यवहारोपयोगी अर्थ होगा—यदि आदेश एकाल् (एक वर्णवाला) या ङित् अनेकाल् (जिसका ङकार इत्संज्ञक हो ऐसा अनेक वर्णवाला) हो, तो वह षष्ठयन्त पद के अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है । हां, केवल अनेकाल् या शित् (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा ।

† कुछ लोगों का कथन है कि प्रक्रिया–दशा में 'सुधी उपास्यः' न होकर 'सुधी उपास्य' होना चाहिये, क्योंकि समास में विभक्तियों के लुक् के पश्चात् सन्धि और उसके बाद 'सु' आदि प्रत्यय आते हैं । यह ठीक तो है, लेकिन इससे अनावश्यक जटिलता बढ़ जाती है । इसी से प्रक्रिया-दशा में भी यहां 'सुधी उपास्यः' का ही प्रयोग किया गया है ।

२२. एचोऽयवायावः । ६ । १ । ७८

एचः क्रमाद् अय् , अव् , आय् , आव् एते स्युरचि ।

२२. एचोऽयविति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(एचः) एच् के स्थान पर (अयवायावः = अय्+अव्+आय्+आवः) अय् , अव् , आय् और आव् आदेश होते है। किन्तु यह किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए '१५—इको यणचि' से 'अचि' और अधिकार-सूत्र 'संहितायाम्' ६.१.७२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एच्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत ए ओ ऐ तथा औ वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संहिता के विषय में* अच् (स्वर-वर्ण) परे होने पर ए ओ ऐ और औ के स्थान पर अय्, अव्, आय् और आव् आदेश होते हैं। किन्तु कौन किस के स्थान पर होता है—इस बात का पता अग्रिम सूत्र से चलता है :—

२३. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ।† १ । ३ । १७

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः ।

२३. यथासंख्यमिति—यह परिभाषा-सूत्र है । शब्दार्थ है :—(समानां)‡ समान संख्यावालों का (अनुदेशः) अनुदेश (यथासंख्यम्§) क्रमानुसार होता है। 'अनुदेश' का अर्थ है—पीछे कहा जानेवाला|| अर्थात् विधेय।¶ सूत्र में 'विधेय' का प्रयोग होने में 'उद्देश्य' का स्वतः ही अध्याहार हो जाता है। इन दोनों—'उद्देश्य' और 'विधेय' का अन्वय सूत्रस्थ 'समानाम्' के साथ होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जहाँ उद्देश्य() और विधेय समानसंख्यक होते हैं, वहाँ विधेय क्रमानुसार होता है। उदाहरण के लिए '२२—एचोऽयवायावः' से ए, ओ, ऐ, औ के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् आदेश होते हैं। यहाँ उद्देश्य ए ओ ऐ और औ चार हैं,

---

* 'संहिता' के स्पष्टीकरण के लिए १५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† यहां '९०१—षष्ठी शेषे' द्वारा सम्बन्ध अर्थ में षष्ठी हुई है।

‡ 'साम्यं च संख्याकृतमेव, यथासंख्यमित्युक्तेः'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (पादटिप्पणी)।

§ 'संख्याशब्देन क्रमो लक्ष्यते। यथासंख्यम् , यथाक्रमम्—' काशिका।

|| 'अनुदिश्यत इत्यनुदेशः। पश्चादुच्चार्यत इत्यर्थः'—काशिका।

¶ ध्यान रहे कि उद्देश्य पहले आता है और विधेय बाद में। अतः 'अनुदेश' का 'विधेय' अर्थ लेना अनुचित न होगा।

() जिसके विषय में कुछ कहा जाता है, उसे 'उद्देश्य' (सब्जेक्ट) कहते हैं और किसी के विषय में जो कुछ कहा जाता है उसे 'विधेय' (प्रेडीकेट)।

और विधेय अय् , अव् , आय् और आव् भी चार ही हैं। अतः उद्देश्य और विधेय समानसंख्यक होने के कारण विधेय क्रमानुसार होंगे, अर्थात् प्रथम उद्देश्य के साथ प्रथम विधेय होगा और द्वितीय के साथ द्वितीय आदि। इस प्रकार इस सूत्र की सहायता से '२२—एचः—०' सूत्र का स्फुटार्थ होगा—संहिता के विषय में स्वर-वर्ण परे होने पर 'ए' के स्थान पर 'अय्', 'ओ' के स्थान पर 'अव्', 'ऐ' के स्थान पर 'आय्' और 'औ' के स्थान पर 'आव्' आदेश होते हैं। उदाहरणार्थ 'हरे + ए' में स्वर-वर्ण—एकार परे होने के कारण 'हरे' के एकार के स्थान पर 'अय्' आदेश हो 'हर् अय् ए' = 'हरये' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'विष्णो + ए' में ओकार के स्थान पर 'अव्' हो 'विष्ण् अव् ए' = 'विष्णवे', 'नै + अकः' में ऐकार के स्थान पर 'आय्' हो 'न् आय् अकः' = 'नायकः' और 'पौ + अकः' में औकार के स्थान पर 'आव्' हो 'प् आव् अकः' = 'पावकः' रूप बनते हैं।

विशेष :—कुछ लोग सूत्रस्थ 'समानाम्' से केवल स्थानी + आदेश सम्बन्ध का ही ग्रहण करते हैं, किन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं। स्थानी + आदेश सम्बन्ध के अतिरिक्त धातु + प्रत्यय आदि अन्य सम्बन्धों में भी उद्देश्य और विधेय समान-संख्यक होने पर यथा-क्रम विधि होती है, जैसे—'४०५—स्यतासी लृलुटोः' इसी से 'समानाम्' से किसी सम्बन्ध-विशेष का ग्रहण न कर केवल उद्देश्य-विधेय सम्बन्ध ही ग्रहण करना चाहिये।

२४. [१]वान्तो यि[७] प्रत्यये[७] । ६ । १ । ७९

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः। गव्यम्। नाव्यम्।
(वा०) अध्वपरिमाणे च।

२४. वान्तो यीति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(यि)* यकारादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (वान्तः) वकारान्त आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र की सहायता लेनी होगी।

पूर्वसूत्र '२२—एचोऽयवायावः' से अय् , अव् , आय् और आव्—इन चार आदेशों का विधान किया गया है। इनमें से अव् और आव्—ये दो वकारान्त आदेश हैं। सूत्रस्थ 'वान्तः' (वकारान्त) का अभिप्राय इन्हीं से है। ये आदेश '२३—यथासंख्यमनुदेशः—०' से क्रमशः 'ओ' और 'औ' के स्थान पर होते हैं। अतः इनका भी अध्याहार हो जाता है। 'संहितायाम्' ६.१.७२ का अधिकार तो है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संहिता के विषय में यकारादि प्रत्यय परे होने पर भी ओकार और औकार के स्थान पर क्रमशः 'अव्' और 'आव्' आदेश होते हैं।

---

* 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा से यहां तदादि-विधि हो जाती है।

उदाहरण के लिए 'गो + यम्' में यकारादि प्रत्यय 'यत्' (य) परे होने के कारण ओकार के स्थान पर 'अव्' हो 'ग् अव् यम्' = 'गव्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'नौ + यम्' में भी औकार के स्थान पर 'आव्' हो 'न् आव् यम्' = 'नाव्यम्' रूप बनता है।

विशेष :—यह सूत्र वास्तव में '२२–एचोऽयवायावः' का विस्तारक मात्र है। '२२–एचः–०' में केवल स्वर-वर्ण परे होने पर ही ओकार और औकार के स्थान पर क्रमशः 'अव्' और 'आव्' का आदेश हुआ है। यहाँ उसके अतिरिक्त यकारादि प्रत्यय परे होने पर भी ओकार और औकार के स्थान पर 'अव्' और 'आव्' का विधान किया गया है। इस प्रकार दोनों सूत्रों का सम्मिलित अर्थ होगा—संहिता के विषय में स्वर-वर्ण या यकारादि प्रत्यय परे होने पर ओकार के स्थान पर 'अव्' और औकार के स्थान पर 'आव्' आदेश होता है। हाँ, एकार के स्थान पर 'अय्' और ऐकार के स्थान पर 'आय्' आदेश स्वर-वर्ण परे होने पर ही होते हैं।

(वा०) अध्वेति—यह उक्त सूत्र पर वार्तिक है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '२४–वान्तो यि–०' से 'वान्तः' तथा 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्' वार्तिक से 'गोः' और 'यूतौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार इसका अर्थ होगा—(अध्व-परिमाणे) मार्ग के परिमाण अर्थ में (यूतौ) 'यूति' परे होने पर (गोः) 'गो' शब्द के ओकार के स्थान पर (वान्तः) वकारान्त 'अव्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'गो + यूतिः' में 'यूति' परे होने के कारण 'गो' के ओकार को 'अव्' आदेश हो 'ग् अव् यूतिः' = 'गव्यूतिः' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'दो कोस' ('गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुग'मित्यमरः)।

विशेष :—यहाँ पर यकारादि प्रत्यय परे न होने के कारण ही यह वार्तिक बनाना पड़ा। 'गो + यूतिः' में 'यूति' यकारादि तो है, लेकिन प्रत्यय नहीं।

२५. अदेङ्[1] गुणः[1] । १ । १ । २

अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

२५. अदेङिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(अत् + एङ्) अ और एङ् (गुणः) गुणसंज्ञक होते हैं। 'एङ्' प्रत्याहार है, और उसके अन्तर्गत 'ए' और 'ओ' वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अ, ए और ओ को 'गुण' कहते हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण अग्रिम सूत्र से होता है :—

२६. तपरस्तत्कालस्य[1] । १ । १ । ७०

तः परो यस्मात् स च तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात्।

२६. तपर इति—यह संज्ञा-परिभाषा सूत्र है। शब्दार्थ है :—(तपरः) तपर

(तत्कालस्य) तत्काल की संज्ञा होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११—अणुदित्सवर्णस्य—०' से 'अण्*', 'अप्रत्ययः' तथा 'सवर्णस्य' और 'स्वं रूपं शब्दस्य—०' १.१.६८ से 'स्वम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'स्वम्' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। सूत्रस्थ 'तपरः' के दो अर्थ हैं—१. जिसके पश्चात् तकार हो और २. जो तकार के पश्चात् हो।† और 'तत्काल' का अर्थ है :—उस (तपर) के उच्चारण काल के ही समान जिसका (उच्चारण) काल हो (तस्य—तपरत्वेनोच्चार्यमाणस्य काल इव कालो यस्य स तत्कालः)। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस अविधीयमान अण्‡ (अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य, व्, र्, ल्) के पहले या बाद में तकार होता है, वह अविधीयमान अण् अपना तथा अपने समान उच्चारणकालवाले सवर्णों का ही बोध कराता है, सभी सवर्णों का नहीं।§ तात्पर्य यह कि अविधीयमान तपर अण् यदि एकमात्रिक (ह्रस्व) होगा, तो वह अपना एकमात्रिक सवर्ण—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक का ही बोध करावेगा, द्विमात्रिक (दीर्घ) और त्रिमात्रिक (प्लुत) सवर्णों का नहीं। इसी प्रकार द्विमात्रिक अविधीयमान तपर अण् द्विमात्रिक सवर्णों का बोध करावेगा, त्रिमात्रिक का नहीं।¶ उदाहरण के लिए पूर्वसूत्र '२५—अदेङ्गुणः' में

---

* यद्यपि काशिकाकार ने कहा है कि यहाँ 'अण्' की अनुवृत्ति नहीं होती, किन्तु तपर के अधिकांश उदाहरण अण्-सम्बन्धी ही मिलते हैं। वस्तुतः यह सूत्र '११—अणुदित्—०' के अपवाद रूप से आया है। अतः सुविधा और स्पष्टीकरण के लिए 'अण्' का अनुवर्तन करना अनुचित न होगा। कम से कम 'लघुसिद्धान्त-कौमुदी' में ऐसा करने से कोई अनर्थ नहीं होता।

† 'तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः, तादपि परस्तपरः' काशिका।

‡ 'अण्' में भी तपर के उदाहरण अधिकांशतः स्वर अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ सम्बन्धी ही मिलते हैं।

§ 'अविधीयमान' आदि के स्पष्टीकरण के लिए ११वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

¶ '११—अणुदित्—०' सूत्र से अविधीयमान ह्रस्व स्वर—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तथा दीर्घ स्वर—ए, ओ, ऐ, औ दीर्घ और प्लुत सवर्णों का बोध कराते हैं। यहाँ प्रकृतसूत्र में बताया गया है कि तपर ह्रस्व केवल ह्रस्व के भेदों का ही बोधक होगा, और तपर दीर्घ केवल दीर्घ के भेदों का। ह्रस्व और दीर्घ प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक रूप से छः,छः भेद होते हैं। किन्तु इनमें से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का प्रयोग केवल वेद में होता है, और अनुनासिक और अननुनासिक के अन्तर की भी कोई

अविधीयमान अण्-अ के पश्चात् तकार आया है। अतः तपर होने के कारण 'अ' यहाँ केवल एकमात्रिक-ह्रस्व का ही बोधक है। तपर के द्वितीय अर्थ (जो तकार के पश्चात् हो) का उदाहरण भी इसी सूत्र के 'एङ्' (ए, ओ) में मिल जाता है, क्योंकि उसके पूर्व तकार आया है। अतः यहाँ ए-ओ भी केवल दीर्घ के ही बोधक हैं। इस प्रकार इस सूत्र की सहायता से पूर्वसूत्र '२५-अदेङ्-०' का अर्थ होगा—ह्रस्व (एकमात्रिक) अकार और दीर्घ (द्विमात्रिक) एकार और ओकार को 'गुण' कहते हैं। यदि ऐसा अर्थ न होता तो 'गङ्गा+उदकम्' में पूर्व द्विमात्रिक आकार और पर एकमात्रिक उकार के स्थान पर द्विमात्रिक गुण-ओकार न होकर प्रमाणकृत सादृश्य के आधार पर त्रिमात्रिक (प्लुत) आदेश होता। यहाँ दीर्घ ओकार आदेश इसीलिए होता है कि '२४-अदेङ्-०' सूत्र में दीर्घ-द्विमात्रिक ओकार की ही गुण संज्ञा हुई है, प्लुत-त्रिमात्रिक ओकार की नहीं।

विशेष :—ध्यान रहे कि तकार का प्रयोग तपर-निर्देश के अतिरिक्त पञ्चमी विभक्ति के निर्देश के लिए भी होता है, यथा—'२२-आद् गुणः' में 'आ' के पश्चात् तकार पञ्चमी का है। 'आत्' 'अ' का पञ्चम्यन्तरूप है, अतः यहाँ इसका अर्थ होगा—अवर्ण ह्रस्व या दीर्घ 'अ' से···। सूत्रार्थ के समय इस अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है।

२७. आद्[1] गुणः[1] । ६ । १ । ८७

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

२७. आदिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(आद्) अवर्ण के पश्चात् (गुणः) गुण आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१५-इको यणचि' से 'अचि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ 'संहितायाम्' ६.१.७२ और 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(संहितायाम्) संहिता के विषय में (आत्) अवर्ण से (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के स्थान पर (एकः) एक (गुणः) गुण आदेश होता है। तात्पर्य यह कि यदि ह्रस्व या दीर्घ अकार के बाद कोई स्वर-वर्ण हो तो पूर्व अवर्ण और पर (बाद में आनेवाला) स्वर-वर्ण—दोनों के स्थान पर एक ही गुण अ, ए या ओ आदेश होता है। यह आदेश '१७-स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से होता है। उदाहरण के लिए 'उप+इन्द्रः' में

विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः सूत्र का व्यवहारोपयोगी अर्थ होगा—अविधीयमान ह्रस्व केवल ह्रस्व का और अविधीयमान दीर्घ केवल दीर्घ का ही बोध कराता है।

पकारोत्तरवर्ती अकार के बाद अच्—इकार आया है। अतः प्रकृत सूत्र से 'अ+इ'—इन दोनों के ही स्थान पर स्थानकृत सादृश्य* से गुण—'ए' हो 'उप् ए न्द्रः'='उपेन्द्रः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गङ्गा+उदकम्' में 'आ+उ' के स्थान पर गुण—'ओ' हो 'गङ् ओ दकम्'='गङ्गोदकम्' रूप बनता है।

विशेष :—१. इस सूत्र के दो अपवाद हैं—'४२—अकः सवर्णे दीर्घः' और '३३—वृद्धिरेचि'। इस प्रकार इस सूत्र का व्यवहारोपयोगी अर्थ होगा—अवर्ण (ह्रस्व या दीर्घ 'अ') से इकार, उकार, ऋकार और ऌकार परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर एक गुण (अ, ए या ओ) आदेश होता है।

२. '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के अनुसार पूर्व-पर के स्थान पर गुण आदेश इस प्रकार होंगे :—

अ या आ+इ=ए

अ या आ+उ=ओ

अ या आ+ऋ=अर् } ये दोनों आदेश '२९—उरण् रपरः' की सहायता से
अ या आ+ऌ=अल् } होते हैं।

२८. उपदेशेऽजनुनासिक इत्। १। ३। २

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण्सूत्रस्थाऽवर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा।

२८. उपदेश इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(उपदेशे) उपदेश में (अनुनासिकः) अनुनासिक (अच्) अच् (इत्) 'इत्' संज्ञक होते हैं। तात्पर्य यह कि उपदेश† अवस्थामें जो स्वर-वर्ण (अच्) अनुनासिक‡ होता है, वह 'इत्' कहलाता है। इत्संज्ञा होने पर '४—आदिरन्त्येन सहेता' से प्रत्याहार-सिद्धि और '३—तस्य लोपः' से लोप—ये दो कार्य होते हैं।

अनुमान है कि महामुनि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनुनासिक स्वरों पर चन्द्र-बिन्दु‡ लगाया था, किन्तु अब वह अनुनासिक-पाठ लुप्त हो गया है। अब तो

---

* ध्यान रहे कि 'अ' का स्थान 'कण्ठ' और 'इ' का स्थान तालु है। अतः दोनों के स्थान पर कण्ठ-तालु-स्थानीय 'ए' होता है। विशेष स्पष्टीकरण के लिए १० वें सूत्र के अन्तर्गत 'स्थान-बोधक चक्र' देखना चाहिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए प्रथम सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ स्पष्टीकरण के लिए देखिये ९ वें सूत्र की व्याख्या। लिखावट में अनुनासिक का चिह्न चन्द्र-बिन्दु (ँ) है।

अनुनासिक स्वर का ज्ञान केवल प्रतिज्ञा से ही होता है।* गुरुपरम्परा से जो स्वर अनुनासिक माना जा रहा हो, उसे ही अनुनासिक मानना चाहिये। उदाहरण के लिए प्रत्याहार-सूत्र 'लण्' में लकारोत्तरवर्ती अच्-अकार की इत्संज्ञा होती है, क्योंकि 'लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः'—ऐसा प्रवाद चला आता है। इसी से पता चलता है कि यह लकारोत्तरवर्ती अकार अनुनासिक है। '४—आदिरन्त्येन सहेता' की सहायता से इस इत्संज्ञक-अकार के साथ प्रत्याहार-सूत्र 'हयवरट्' का 'र्' मिलाने से 'र' प्रत्याहार बनता है, जो कि 'र्' और 'ल्'—इन दो वर्णों का बोधक है।

२९. [६]उरण्[१] रपरः[२]। १। १। ५१

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्। तत्स्थाने योऽण्, स रपरः सन्नेव प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

२९. उरण् इति—यह परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(उः†) 'ऋ' वर्ण के स्थान पर (अण्) अण् (रपरः) रपर होता है। 'अण्' प्रत्याहार के अन्तर्गत अ, इ और उ वर्ण आते हैं। 'रपर' का अर्थ है—जिसके पश्चात् 'र' हो। 'र' भी यहां प्रत्याहार है और 'र्' और 'ल्' का बोधक है। 'ऋ' वर्ण ऋ और ऌ के सभी भेदों का बोधक है।‡ इसके साथ ही साथ यहां 'षष्ठी स्थानेयोगा' १.१.४९ से 'स्थाने' तथा 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० से 'स्थाने' की अनुवृत्ति होती है। यह द्वितीय 'स्थाने' प्रथमा में विपरिणत हो जाता है और सूत्रस्थ 'अण्' का विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(उः) ऋ वर्ण के (स्थाने) स्थान पर (स्थानम्) प्राप्त होता हुआ (अण्) अ, इ या उ (रपरः) रकार-परक या लकार-परक होता है। तात्पर्य यह कि ऋ वर्ण (ऋ और ऌ के सभी भेद) के स्थान पर यदि किसी दूसरे सूत्र से अ, इ या उ का विधान होता है, तो वह अ, इ या उ रकार-परक हो अर्, इर् या उर् रूप में अथवा लकार-परक से अल्, इल् या उल् रूप में प्रयुक्त होता है। '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से ऋकार के स्थान पर रकार-परक (अर्, इर् या उर्) और ऌकार के स्थान पर लकार-परक (अल्, इल् या उल्) रूप प्रयुक्त होगा। उदाहरण के लिए 'कृष्ण+ऋद्धिः' में '२७—आद् गुणः' से णकारोत्तरवर्ती अकार और ऋकार के स्थान पर एक गुण आदेश प्राप्त होता है। 'गुण' तीन हैं—अकार, एकार और ओकार। एकार का स्थान कण्ठतालु

---

* 'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः'—काशिका।

† यह 'ऋ' का षष्ठ्यन्त रूप है।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए ११ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

और ओकार का स्थान कण्ठोष्ठ है, अतः आन्तरतम्य के अभाव से ये तो होंगे नहीं। शेष अकार ही होता है। प्रकृत सूत्र से यह अकार रपर हो जाता है। '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से यहाँ अकार और ऋकार के स्थान पर रकार-परक 'अर्' हो 'कृष्ण् अर् द्धिः'='कृष्णर्द्धिः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तव + ऌकारः' में अकार और ऌकार के स्थान पर 'अल्' हो 'तव् अल् कारः'='तवल्कारः' रूप बनेगा।

३०. लोपः[1] शाकल्यस्य[2] । ८ । ३ । १९

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे।

३०. लोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(लोपः) लोप होता है (शाकल्यस्य)—यह शाकल्य* का मत है। किन्तु यह लोप किसका होता है और किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य—०' ८.३.१७ से 'अपूर्वस्य' और 'अशि', 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः—०' ८.३.१८ से 'व्योः' तथा अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अपूर्वस्य' 'व्योः' का विशेषण है, अतः वचन-विपरिणाम हो जाता है। इसी प्रकार 'व्योः' का विशेषण होने से 'पदस्य' भी तदन्त होकर द्विवचन में विपरिणत हो जाता है। 'अश्' प्रत्याहार है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अश् (स्वर-वर्ण, वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण तथा ह्, य्, व्, र् या ल्) परे होने पर अवर्णपूर्वक (जिसके पहले 'अ' या 'आ' हो) पदान्त (पद के अन्त में आने वाले) यकार और वकार का लोप होता है। दूसरे शब्दों में, यकार और वकार के लोप के लिए तीन बातें आवश्यक हैं :—

(क) यकार या वकार पद के अन्त में होना चाहिये।

(ख) उस यकार या वकार के पश्चात् अश्-प्रत्याहार का कोई वर्ण होना चाहिये।

(ग) और उस यकार या वकार के पूर्व अवर्ण (अकार या आकार) होना चाहिये।

यह कार्य शाकल्य के मत से होने के कारण विकल्प से होता है।‡ उदाहरण के

---

* यह पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य थे। इनके पितामह का नाम शकल था। युधिष्ठिर मीमांसक ने इनका काल ४००० वि० पूर्व माना है। देखिये—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—प्रथम भाग (प्रथम संस्करण)'—पृ० १२२-२६।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए १४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ 'शाकल्यग्रहणं विभाषार्थम्'—काशिका। ध्यान रहे कि जहां-जहां पाणिनि ने अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, वहां उन्हें विकल्प रूप से ही ग्रहण किया है।

लिए 'हरे+इह' और 'विष्णो+इह' में '२२—एचोऽयवायावः' से 'अय्' और 'अव्' आदेश हो क्रमशः 'हर् अय् इह'='हरय् इह' और 'विष्ण् अव् इह'='विष्णव् इह' रूप बनते हैं। यहाँ पदान्त यकार और वकार के पूर्व अवर्ण—अकार है और बाद में अश्—इकार भी आया है। अतः प्रकृत सूत्र से इन पदान्त यकार और वकार का लोप हो क्रमशः 'हर इह' और 'विष्ण इह' रूप बनते हैं। लोपाभाव-पक्ष में 'हरय् इह'='हरयिह' और 'विष्णव् इह'='विष्णविह' रूप सिद्ध होते हैं।

अब यहाँ लोप-पक्ष ('हर इह' और 'विष्ण इह') में 'अ+इ' के स्थान पर '२७—आद् गुणः' से गुण एकादेश प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका निवारण हो जाता है :—

३१. पूर्वत्राऽसिद्धम् । ८ । २ । १

सपाद-सप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

३१. पूर्वत्र इति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(पूर्वत्र) पर (असिद्धम्) असिद्ध होता है। इस सूत्र का अधिकार आठवें अध्याय के अन्तिम पाद के अन्तिम सूत्र तक जाता है। ये सभी सूत्र अपने पूर्ववर्ती सूत्रों की दृष्टि में 'पर' हैं। इन सूत्रों में भी पूर्व के प्रति पर-सूत्र असिद्ध होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इस सूत्र से लेकर 'अष्टाध्यायी' के अन्त तक जितने सूत्र आये हैं, वे सभी सूत्र अपने पूर्ववर्ती सूत्रों के प्रति असिद्ध हैं और उन सूत्रों में भी पूर्ववर्ती (पहले आने वाले) सूत्र के प्रति परवर्ती (बाद में आने वाला) सूत्र असिद्ध होता है अर्थात् पूर्ववर्ती सूत्र की दृष्टि में परवर्ती सूत्र का कार्य न होने के समान होता है।

प्रकृत सूत्र आठवें अध्याय के दूसरे पाद का पहला सूत्र है। उसके पूर्व सात अध्याय और आठवें अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र आये हैं। वृत्तिकार ने इन्हीं को 'सपादसप्ताध्यायी' कहा है। इन सूत्रों की दृष्टि में प्रस्तुत सूत्र के अधिकार-क्षेत्र—आठवें अध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद के सूत्र असिद्ध होते हैं। इस आठवें अध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद के सूत्रों में भी पूर्वसूत्र के प्रति परसूत्र असिद्ध होता है। इस प्रकार इस सूत्र के दो कार्य हैं :—

(अ) सपादसप्ताध्यायी (प्रथम सात अध्याय और आठवें अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र) के प्रति त्रिपादी (आठवें अध्याय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद के सूत्र) असिद्ध हैं।

(ब) उस त्रिपादी में भी पूर्वसूत्र के प्रति परसूत्र असिद्ध होता है।

उदाहरण के लिए 'हर इह' और 'विष्ण इह' में क्रमशः यकार और वकार का

लोप '३०—लोपः शाकल्यस्य' से होता है और गुणादेश '२७—आद्गुणः' से। 'लोपः शाकल्यस्य' ८.३.१९ आठवें अध्याय के तृतीय पाद का उन्नीसवां सूत्र है और 'आद्गुणः' ६.१.८७ छठे अध्याय के प्रथम पाद का सत्तासीवां सूत्र है। अतः पर होने के कारण '२७—आद्गुणः' के प्रति '३०—लोपः शाकल्यस्य' असिद्ध है। परिणामतः 'आद्गुणः' की दृष्टि में 'लोपः शाकल्यस्य' से किया हुआ यकार और वकार का लोप न होने के समान होगा। तात्पर्य यह कि '२७—आद्गुणः' की दृष्टि में 'हर इह' और 'विष्ण इह' अपने पूर्वरूप 'हरय् इह' और 'विष्णव् इह' में ही रहते हैं। फलतः यकार और वकार का व्यवधान होने से '२७—आद्गुणः' सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रकार 'हर इह' और 'विष्ण इह' रूप सिद्ध होते हैं।

३२. 'वृद्धिरादैच्' । १ । १ । १

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् ।

३२. वृद्धिरिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(आदैच्=आत्+ऐच्) दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार और दीर्घ औकार* (वृद्धिः) 'वृद्धि' संज्ञक होते हैं। तात्पर्य यह कि 'वृद्धि' शब्द से दीर्घ औकार, दीर्घ ऐकार और दीर्घ आकार का ग्रहण होता है।

३३. 'वृद्धिरेचि' । ६ । १ । ८८

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाऽपवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

३३. वृद्धिरेचि इति—यह विधि-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(एचि) एच् परे होने पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश होता है। किन्तु यह वृद्धि-आदेश किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए '२७—आद्गुणः' से 'आत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ 'एकः पूर्वपरयोः' ६—१—८४ और 'संहितायाम्' ६—१—७२ का अधिकार प्राप्त होता है। 'एच्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत ए, ओ, ऐ और औ—ये चार वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(संहितायाम्) संहिता के विषय में (आत्) अवर्ण से (एचि) ए, ओ, ऐ और औ परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व और पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश होता

---

* यह अर्थ '२६—तपरस्तत्कालस्य' की सहायता से होता है। ध्यान रहे कि यहां 'आदैच्' में तपर 'आ' के लिए नहीं, अपितु 'ऐच्' के लिए किया गया है, क्योंकि 'आ' तो अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से '११—अणुदित्-०' द्वारा स्वतः ही सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता। कहा भी है—'तपरकरणमैजर्थं' (काशिका)।

है। तात्पर्य यह कि यदि अवर्ण (ह्रस्व या दीर्घ 'अ') के पश्चात् एकार, ऐकार, ओकार या औकार आवे तो पूर्व (अवर्ण) और पर (ए, ऐ, ओ या औ)—दोनों के स्थान पर एक ही वृद्धि (दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार या दीर्घ औकार) आदेश होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से 'अवर्ण + ए या ऐ' के स्थान पर दीर्घ ऐकार और 'अवर्ण + ओ या औ' के स्थान पर दीर्घ औकार होता है। उदाहरण के लिए 'कृष्ण + एकत्वम्' में णकारोत्तरवर्ती ह्रस्व अकार से एकार पर होने पर प्रकृतसूत्र से पूर्व–अकार और पर–ऐकार के स्थान पर वृद्धि–ऐकार हो 'कृष्ण ऐ कत्वम्' = 'कृष्णैकत्वम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार ऐकार परे होने पर भी 'देव + ऐश्वर्यम्' में पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि–ऐकार हो 'देव् ऐ श्वर्यम्' = 'देवैश्वर्यम्' रूप बनता है। ओकार परे होने का उदाहरण 'गङ्गा + ओघः' में मिलता है। यहाँ पूर्व–आकार और पर–ओकार के स्थान पर वृद्धि–औकार हो 'गङ्ग् औ घः' = 'गङ्गौघः' रूप सिद्ध होता है। 'कृष्ण + औत्कण्ठ्यम्' में भी इसी भांति औकार परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर वृद्धि–औकार हो 'कृष्ण् औ त्कण्ठ्यम्' = 'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' रूप बनता है।

विशेष :—यह सूत्र '१७–आद्गुणः' का अपवाद है और इस सूत्र का अपवाद है—'३८–एङि पररूपम्'।

३४. एत्येधत्यूठ्सु । ६ । १ । ८९

अवर्णाद् एजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूप-गुणाऽपवादः। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्-उपेतः, मा भवान् प्रेदिधत्।

(वा०–१) अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्। अक्षौहिणी सेना।

(वा०–२) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

(वा०–३) ऋते च तृतीयासमासे। सुखेन ऋतः सुखार्तः। तृतीयेति किम्–परमर्तः।

(वा०–४) प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे। वत्सतरार्णमित्यादि।

३४. एत्येधत्यूठिति—यह भी विधि-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(एत्येधत्यूठ्सु = एति + एधति* + ऊठ्सु) इण्, एध् और ऊठ् परे होने पर··· । किन्तु क्या होता

---

* 'एति' और 'एधति' क्रमशः 'इण्' (जाना) और 'एध्' (बढ़ना) धातुओं के लट् लकार में प्रथमपुरुष–एकवचन के रूप हैं, अतः इनसे मूलधातुओं का ही ग्रहण होता है।

है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '२७—आद्गुणः' से 'आत्', '३३—वृद्धिरेचि' से 'वृद्धिः' तथा 'एचि', और अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६. १. ८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एचि' सूत्रस्थ 'एति' और 'एधति' का विशेषण बनता है, असम्भव होने से 'ऊठ्' का नहीं।* विशेषण होने के कारण 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा से उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अवर्ण (ह्रस्व या दीर्घ 'अ') से एजादि 'इण्' और एध् धातु (जिस 'इण्' और 'एध्' धातु के आदि में ए, ओ, ऐ या औ हो) तथा 'ऊठ्'† परे होने पर पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर एक वृद्धि (आ, ऐ या औ) आदेश होता है। '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से 'अ या आ + ए या ऐ' के स्थान पर वृद्धि—ऐकार तथा 'अ या आ + ओ या औ' के स्थान पर वृद्धि—औकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'उप + एति' में पकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् एकारादि 'इण्' (जाना) धातु आयी है, अतः प्रकृत सूत्र से 'अ + ए' के स्थान पर वृद्धि—ऐकार हो 'उप् ऐति' = 'उपैति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार एकारादि 'एध्' धातु परे होने के कारण 'उप + एधते' में भी पूर्व-पर के स्थान पर ऐकार हो 'उप् ऐ धते' = 'उपैधते' रूप बनता है। यहां ध्यान रहे कि 'इण्' और 'एध्' धातुएं यदि एजादि न होंगी तो यह वृद्धि एकादेश भी न होगा। उदाहरण के लिए 'उप + इतः' में यद्यपि 'इतः' इण् धातु का ही रूप है, किन्तु यह एजादि नहीं है। अतः यहां प्रकृतसूत्र से वृद्धि न होकर '२७—आद् गुणः' से गुण हो 'उपेतः' रूप बनता है। 'प्र + इदिधत्' में भी इसी प्रकार 'इदिधत्' णिजन्त 'एध्' धातु के लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है, किन्तु एजादि नहीं है। अतः यहां भी वृद्धि एकादेश न होकर गुण हो 'प्रेदिधत्' (जैसे—'मा भवान् प्रेदिधत्') रूप बनेगा।

'ऊठ्' परे होने का उदाहरण 'प्रष्ठ + ऊहः' में मिलता है। यहाँ 'ऊहः' 'वाह्' के स्थान पर किये गये सम्प्रसारण 'ऊठ्' का ही रूप है।‡ अतः प्रकृतसूत्र से 'अ + ऊ' के स्थान पर वृद्धि—औकार हो 'प्रष्ठ् औ हः'='प्रष्ठौहः' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अ + ऊ' के स्थान पर यह वृद्धि आदेश '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से ही होता है।

---

* 'अत्र एचीत्यनुवर्तते। तच्च एत्येधत्योर्विशेषणं, न तूठः, असंभवात्'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† 'ऊठ्' का अभिप्राय यहां '२५७—वाह ऊठ्' से विहित सम्प्रसारण 'ऊठ्' से है।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए २५७ वें और २५८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

इस प्रकार इस सूत्र के वास्तव में दो कार्य हैं :—

(क) यदि अकार या आकार के पश्चात् एकारादि और ऐकारादि* 'इण्'(जाना) या 'एध्' (बढ़ना) धातु आवे तो पूर्व और पर वर्ण (अ या आ + ए या ऐ) के स्थान पर वृद्धि (दीर्घ ऐकार) आदेश होता है। यह कार्य '३८—एङि पररूपम्' से विहित पर-रूप एकादेश का बाधक है।

(ख) यदि अकार या आकार के पश्चात् सम्प्रसारण 'ऊठ्' हो तो पूर्व और पर वर्ण (अ या आ + ऊ) के स्थान पर वृद्धि (औकार) आदेश होता है। यह कार्य '२७—आद्गुणः' से प्राप्त गुण का अपवाद है।

(वा०—१) अक्षादिति—यह प्रकृतसूत्र पर वार्तिक है। भावार्थ है :—यदि 'अक्ष्' शब्द के पश्चात् 'ऊहिनी' शब्द आवे तो पूर्व और पर वर्ण (अ + ऊ) के स्थान पर वृद्धि (औकार) एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'अक्ष + ऊहिनी' में पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि—औकार हो 'अक्ष् औ हिनी' = 'अक्षौहिनी' रूप बनता है। यहां 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' ८. ४. ३ से णत्व हो 'अक्षौहिणी' रूप सिद्ध होगा, जिसका अर्थ है—विशेष परिमाण वाली सेना।

विशेष :—यह '२७—आद्गुणः' से विहित गुण का अपवाद है।

(वा०—२) प्रादिति—यह भी प्रकृतसूत्र पर वार्तिक है। इसका पदच्छेद है—'प्रात् + ऊहोढोढ्येषैष्येषु (ऊह + ऊढ + ऊढि + एष + एष्येषु)'। इस प्रकार भावार्थ होगा—(प्रात्) 'प्र' से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष और एष्य परे होने पर पूर्व और पर वर्ण के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से 'अ + ऊ' के स्थान पर वृद्धि औकार और 'अ + ए' के स्थान पर वृद्धि ऐकार आदेश होगा।

उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(अ) प्र + ऊहः='प्र् औ हः'='प्रौहः' (उत्तम तर्क या उत्तम तर्क करनेवाला)

(आ) प्र + ऊढः='प्र् औ ढः'='प्रौढः' (बढ़ा हुआ)

(इ) प्र + ऊढिः='प्र् औ ढिः'='प्रौढिः' (प्रौढता)

(ई) प्र + एषः='प्र् ऐ षः'=प्रैषः (प्रेरणा)

(उ) प्र + एष्यः 'प्र् ऐ ष्यः'='प्रैष्यः' (प्रेरणीय, सेवक)

---

* यद्यपि सूत्र में एजादि कहने से ओकारादि और औकारादि का भी समावेश हो जाता है, किन्तु व्यवहार में 'इण्' और 'एध्' के ओकारादि और औकारादि रूप नहीं मिलते। इसी से सुविधा के लिए केवल एकारादि और ऐकारादि का ही ग्रहण किया है।

विशेष :—'प्र + एषः' और 'प्र + एष्यः' में '३८–एङि पररूपम्' से पररूप एकादेश प्राप्त होता है और शेष स्थलों पर '२७–आद्गुणः' से गुण आदेश। यह वार्तिक इन दोनों का ही अपवाद है।

(वा०-३) ऋते इति—वार्तिक का भावार्थ है :—तृतीया-तत्पुरुष समास में अवर्ण (ह्रस्व या दीर्घ 'अ') से 'ऋतः' शब्द परे होने पर पूर्व और पर वर्ण (अ/आ + ऋ) के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। 'अ/आ + ऋ' के स्थान पर '२९–उरण् रपरः' की सहायता से वृद्धि 'आर्' आदेश होता है।

उदाहरण के लिए 'सुखेन ऋतः' (सुख से प्राप्त) इस विग्रह में तृतीया-तत्पुरुष समास हो 'सुख + ऋतः' रूप बनने पर प्रकृतसूत्र से पूर्व-पर के स्थान पर 'आर्' हो 'सुख् आर् तः' = 'सुखार्तः' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह वृद्धि आदेश तृतीया-तत्पुरुष समास में ही होता है, अन्य विभक्तियों से बने हुए समास में नहीं। उदाहरणार्थ 'परमश्चासौ ऋतः'—इस विग्रह में कर्मधारय समास हो 'परम + ऋतः' रूप बनने पर ह्रस्व अकार से 'ऋतः' परे होने पर भी वृद्धि आदेश नहीं होता, क्योंकि यहाँ तृतीया विभक्ति से समास नहीं हुआ है। इस स्थिति में '२७–आद्गुणः' से गुणादेश हो 'परम् अर् तः' = 'परमर्तः' रूप बनता है।

विशेष :—यह वार्तिक '२७–आद्गुणः' का अपवाद है।

(वा०-४) प्र इति—वार्तिक का भावार्थ है :—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण और दश—इन छः शब्दों के पश्चात् यदि 'ऋण' शब्द आवे तो पूर्व और पर वर्ण (अ + ऋ) के स्थान पर वृद्धि (आर्) एकादेश होता है। उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(१) प्र + ऋणम् = प्र् आर् णम् = प्रार्णम् (अधिक या उत्तम ऋण)।

(२) वत्सतर + ऋणम् = वत्सतर् आर् णम् = वत्सतरार्णम् (बछड़े के लिए लिया हुआ ऋण)।

(३) कम्बल + ऋणम् = कम्बल् आर् णम् = कम्बलार्णम् (कम्बल का ऋण)।

(४) वसन + ऋणम् = वसन् आर् णम् = वसनार्णम् (कपड़े का ऋण)।

(५) ऋण + ऋणम् = ऋण् आर् णम् = ऋणार्णम् (ऋण चुकाने के लिए लिया हुआ ऋण)।

(६) दश + ऋणम् = दश् आर् णम् = दशार्णम् (देश-विशेष)।

विशेष :—यह वार्तिक भी '२७–आद्गुणः' का अपवाद है।

३५. उपसर्गाः क्रियायोगे । १ । ४ । ५९

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव,

निस् , निर् , दुस् , दुर् , वि, आङ् , नि, अधि, अपि, अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप—एते प्रादयः ।

३५. उपसर्गा इति—यह संज्ञा-सूत्र है । शब्दार्थ है :—(क्रियायोगे*) क्रिया के योग में अथवा क्रिया के साथ अन्वय होने पर (उपसर्गाः) उपसर्ग-संज्ञक होते हैं । किन्तु 'उपसर्ग' संज्ञा किसकी होती है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'प्रादयः' १.४.५८ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्रिया के योग में प्रादि 'उपसर्ग' संज्ञक होते हैं । 'प्रादि' २२ हैं† :— १–प्र, २–परा, ३–अप, ४–सम् , ५–अनु, ६–अव, ७–निस् , ८–निर् , ९–दुस् , १०–दुर् , ११–वि, १२–आङ् , १३–नि, १४–अधि, १५–अपि, १६–अति, १७–सु, १८–उद् , १९–अभि, २०–प्रति, २१–परि और २२–उप । इनमें से जब किसी का योग क्रिया के साथ होता है तब वह 'उपसर्ग' कहलाता है । उदाहरण के लिए 'उप एधते' (उपैधते–पास बढ़ता है) में 'उप' का योग क्रिया 'एधते' (बढ़ता है) के साथ हुआ है, अतः प्रकृतसूत्र से 'उप' यहाँ उपसर्ग-संज्ञक होगा । अन्य प्रादियों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये ।

विशेष :—ध्यान रहे कि जहाँ 'उपसर्ग' संज्ञा होती है, वहीं 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' १.४.५६ से 'निपात' और '२०१–गतिश्च' से 'गति'—ये अन्य दो संज्ञाएँ भी प्राप्त होती हैं । इस प्रकार क्रिया के योग में प्रादि आवश्यकतानुसार उपसर्ग, निपात और गति—ये तीनों ही हो सकते हैं । वैसे 'उपसर्ग' की अपेक्षा 'गति' और 'निपात' का क्षेत्र अधिक विस्तृत है ।

३६. भूवादयो धातवः । १ । ३ । १

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः ।

३६. भूवादय इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है । शब्दार्थ है :—(भूवादयः‡) 'भू' आदि और 'वा' सदृश (धातवः) धातु-संज्ञक होते हैं । 'भू' आदि का अभिप्राय सम्पूर्ण 'धातुपाठ' से है । 'वा' धातु है जिसका अर्थ है—जाना आदि (वा गति-गन्धनयोः) । यहाँ सूत्र में 'वा सदृश' कहने का अभिप्राय क्रियावाचकत्व-रूप सदृशता

* इसका विग्रह दो प्रकार से हो सकता है :—१. 'क्रियायाः योगः क्रियायोगः, तस्मिन्' और २. 'क्रियया योगः क्रियायोगः, तस्मिन्' ।

† देखिये—'५४–प्रादयः' की व्याख्या ।

‡ इसका विग्रह है :—'भूश्च वाश्च भूवौ, इतरेतरद्वन्द्वः । आदिश्च आदिश्च आदी । भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, बहुव्रीहि-समासः । प्रथम आदिः क्रमवाची, द्वितीयस्तु सादृश्यवाची ।'

प्रकट करना है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'वा' सदृश क्रिया-वाची 'भू' आदि 'धातु' कहलाते हैं। तात्पर्य यह कि जब 'धातुपाठ' में पठित शब्द क्रिया अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, तब उन्हें 'धातु' कहते हैं। क्रिया काम (एक्शन) को कहते हैं, जैसे—खाना, पीना, करना आदि। 'धातुपाठ' में पठित शब्द यदि इस प्रकार की किसी क्रिया को प्रकट करता है तो वह 'धातु' संज्ञक होता है। उदाहरण के लिए 'भू' (होना) क्रिया-वाचक होने के कारण 'धातु' है। किन्तु यही 'भू' यदि 'पृथ्वी' अर्थ में प्रयुक्त होगा तो 'धातु' संज्ञक नहीं होगा, क्योंकि इस स्थिति में वह क्रिया-वाचक न होकर केवल संज्ञा-मात्र है।

विशेष :—कुछ लोगों का कथन है कि सूत्रस्थ 'भूवादयः' में वकार केवल मङ्गलार्थक है—'भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते।' उनके अनुसार 'भू' कहने से स्वतः क्रिया-वाचकत्व का अध्याहार हो जाता है, क्योंकि क्रियावाची 'भू' का ही 'धातुपाठ' में समावेश होता है। इस मतानुसार भी सूत्र का पूर्वोक्त अर्थ ही होगा।

३७. उपसर्गाद्[५] ऋति[७] धातौ[७] । ६ । १ । ९१

अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

३७. उपसर्गादिति—यह विधि-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(उपसर्गात्) उपसर्ग से (ऋति†) ह्रस्व ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ तथा '३२—वृद्धिरेचि' से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ '२७—आद्गुणः' से 'आत्' की अनुवृत्ति होती है। यह 'आत्' सूत्रस्थ 'उपसर्गात्' का विशेषण है, अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' १.१.७२ परिभाषा से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अवर्णान्त उपसर्ग (वह उपसर्ग, जिसके अन्त में 'अ' या 'आ' हो) के पश्चात् ऋकारादि धातु (जिसके आदि में ऋकार हो) हो तो पूर्व और पर वर्ण ('अ' या 'आ' + ऋ) के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यहां '२९—उरण् रपरः' की सहायता से वृद्धि 'आर्' होगा। उदाहरण के लिए 'प्र + ऋच्छति' में 'प्र' उपसर्ग है और उसके अन्त में अवर्ण—अकार भी आया है। उसके पश्चात् 'ऋच्छति' (जाता है) धातु है, जिसके

---

* 'सादृश्यं च क्रियावाचित्वेन'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† तपर यहां '२६—तपरस्तत्कालस्य' से तत्काल का बोध कराता है। 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा से तदादि-विधि हो जाती है।

आदि में ऋकार आया है। अतः प्रकृत सूत्र से अकार और ऋकार के स्थान पर 'आर्' हो 'प्र् आर् च्छति' = 'प्रार्च्छति' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—यह सूत्र '२७—आद्गुणः' से प्राप्त गुण का अपवाद है।

३८. 'एङि पररूपम्' । ६ । १ । ९४

आदुपसर्गाद् एङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते। उपोषति।

३८. एङि इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(एङि) एङ् परे होने पर (पररूपम्) पररूप आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '२७—आद्गुणः' से 'आत्', '३७—उपसर्गात्—०' से 'उपसर्गात्' और 'धातौ' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१. ८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आत्' 'उपसर्गात्' का विशेषण होता है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। सूत्रस्थ 'एङ्' प्रत्याहार है और इसके अन्तर्गत ए और ओ—ये दो वर्ण आते हैं। 'धातौ' का विशेषण होने से इसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अवर्णान्त उपसर्ग (जिसके अन्त में 'अ' या 'आ' हो) के पश्चात् एकारादि या ओकारादि धातु आवे तो पूर्व और पर वर्ण ('अ' या 'आ' + 'ए' या 'ओ') के स्थान पर पररूप ('ए' या 'ओ') एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'प्र + एजते' में अकारान्त उपसर्ग 'प्र' के पश्चात् एकारादि धातु 'एजते' आई है, अतः प्रकृत सूत्र से अकार और एकार के स्थान पर पररूप—एकार हो 'प्र् ए जते' = 'प्रेजते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'उप + ओषति' में ओकारादि धातु 'ओषति' परे होने के कारण पूर्व-पर के स्थान पर पररूप—ओकार आदेश हो 'उप् ओ षति' = 'उपोषति' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—यह सूत्र '३३—वृद्धिरेचि' से प्राप्त वृद्धि का अपवाद है। 'इण्' और 'एध्' धातु के विषय में इस सूत्र का अपवाद है—'३४—एत्येधत्यूठ्सु'।

३९. 'अचोऽन्त्यादि टि' । १ । १ । ६४

अचां मध्ये योऽन्त्यः, स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्।

(वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

३९. अच इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(अचः*) अचों के मध्य

---

* यहां 'यतश्च निर्धारणम्' २.३.४१ से निर्धारण में षष्ठी हुई है। इसके साथ ही साथ यहां जाति में एकवचन हुआ है। कहा भी है—'अच इति निर्धारणे षष्ठी। जातावेकवचनम्'—काशिका।

में (अन्त्यादि*) अन्त्य अच् जिसके आदि में हो, ऐसा शब्द-स्वरूप (टि) 'टि' संज्ञक होता है। तात्पर्य यह कि शब्द के अन्त में आनेवाला अच् (स्वर-वर्ण) जिस वर्णसमुदाय के आदि में आता है, उस वर्ण-समुदाय को 'टि' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'मनस्' का अन्त्य अच् नकारोत्तरवर्ती अकार है। यह सकार के पूर्व या आदि में आया है। अतः प्रकृत सूत्र से यहां 'अस्' की 'टि' संज्ञा होगी। यहां प्रश्न उठता है कि जहां अन्त्य अच् के पश्चात् कोई अन्य वर्ण नहीं होगा, वहां 'टि' संज्ञा किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर यह है कि वहां 'व्यपदेशिवद्भाव' न्याय से अन्तिम अच् की ही 'टि' संज्ञा होगी।† उदाहरण के लिए 'शक' का अन्त्य अच् ककारोत्तरवर्ती अकार है। उसके पश्चात् कोई अन्य वर्ण नहीं आया है। अतः इस अन्त्य 'अ' की ही 'टि' संज्ञा होती है।

स्पष्टीकरण के लिए सूत्रार्थ को इस रूप में प्रकट किया जा सकता है :—

(क) शब्द के अन्तिम स्वर के पश्चात् यदि कोई व्यंजन आवे तो उस अन्तिम स्वर और व्यंजन के सम्मिलित रूप को 'टि' कहते हैं, यथा—'मनस्' में 'अस्' 'टि' संज्ञक है।

(ख) शब्द के अन्तिम स्वर के पश्चात् यदि कोई व्यंजन न आवे तो उस अन्तिम स्वर को ही 'टि' कहते हैं, यथा—'शक' में अन्त्य अकार 'टि' संज्ञक है।

(वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्—यह '३८–एङि पररूपम्' पर वार्तिक है। शब्दार्थ है :—(शकन्ध्वादिषु) शकन्धु आदि के विषय में (पररूपम्) पर-रूप (वाच्यम्) कहना चाहिये। किन्तु यह पररूप किसके स्थान पर होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। प्रसंगवश यहाँ '१५–इको यणचि' से 'अचि' तथा '२७–आद्गुणः' से 'आत्' की अनुवृत्ति प्राप्त होती है। इसके साथ ही साथ 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ का अधिकार प्राप्त होता है। 'शकन्धु' आदि आकृतिगण है और उसके अन्तर्गत 'मनीषा' और 'पतञ्जलि' आदि शब्द आते हैं।‡ इस प्रकार प्रसंगानुसार सूत्र का अर्थ होगा—

---

* इसका विग्रह है—'अन्ते भवोऽन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत् अन्त्यादिः।'

† लोक में भी यदि किसी व्यक्ति के एक ही पुत्र होता है तो उसमें ज्येष्ठ और कनिष्ठ का भेद नहीं किया जाता है। वह अपने में ज्येष्ठ और कनिष्ठ—दोनों ही होता है—'देवदत्तस्य एकः पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव कनिष्ठः'। इसी प्रकार यदि अन्त्य अच् के पश्चात् कोई अन्य वर्ण नहीं आता तो वह अन्त्य अच् ही अपने में आदि और अन्त्य—दोनों ही होता है।

‡ विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

'अवर्ण से अच् (स्वर-वर्ण) परे होने पर शकन्धु आदि के विषय में पूर्व—अवर्ण और पर—अच् के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।' ऐसा अर्थ लेने से गण-पठित 'मनीषा' और 'पतञ्जलिः' को छोड़कर अन्य सभी शब्द सिद्ध हो जाते हैं। हां, 'मनीषा' और 'पतञ्जलि' शब्द सिद्ध नहीं होते, क्योंकि 'मनस्+ईषा' और 'पतत्+अञ्जलि'—इस प्रकार छेद होने से पूर्व-अवर्ण नहीं मिलता। इसी से पूर्वाचार्यों ने कहा है कि यह पररूप अवर्ण का न होकर 'टि' का होना चाहिये—'तच्च टेः'। इस प्रकार वार्तिक का भावार्थ होगा—'शकन्धु' आदि के विषय में पूर्व—टि और पर—अच् के स्थान पर पररूप (पर—अच्) आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'शक+अन्धुः' में टि—ककारोत्तरवर्ती अकार और पर—अकार के स्थान पर पररूप—अकार हो 'शक् अ न्धुः' = 'शकन्धुः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पतत्+अञ्जलिः' में भी टि—'अत्' के स्थान पर पररूप—अकार हो 'पत् अ ञ्जलिः' = 'पतञ्जलिः' रूप बनता है। 'मनस्+ईषा' में भी इसी भाँति टि—'अस्' के स्थान पर पररूप—ईकार हो 'मन् ई षा' = 'मनीषा' रूप सिद्ध होगा।

ध्यान रहे कि 'शकन्ध्वादि' आकृतिगण* है, अतः उसमें केवल गणपाठ में पठित शब्द ही नहीं, अपितु वे अन्य शब्द भी सम्मिलित होंगे जिनमें पर-रूप कार्य हुआ होगा। उदाहरण के लिए 'मार्तण्डः' शब्द शकन्ध्वादिगण में नहीं आया है, किन्तु फिर भी उसमें पररूप कार्य होता है। 'मृत+अण्डः'—इस छेद में टि के स्थान पर पररूप—अकार हो 'मृत् अ ण्डः' = 'मृतण्डः' रूप बनने पर अण्यादि-वृद्धि हो 'मार्तण्डः' रूप सिद्ध होता है। यदि यह पररूप कार्य न होता, तो 'मार्ताण्डः' रूप बनता, न कि 'मार्तण्डः'। इसी प्रकार 'शकन्ध्वादि' गण के आकृतिगण होने का अन्य प्रमाण 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' १.३.४२ आदि सूत्रों में 'समर्थ' आदि शब्दों का प्रयोग है। यह 'समर्थ' शब्द भी शकन्ध्वादिगण में नहीं आया है, अतः 'सम+अर्थः'—इस छेद में '४२—अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर 'समार्थः' रूप बनना चाहिये, किन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं। इससे ज्ञात होता है कि 'समर्थः' भी शकन्ध्वादिगण में है।

विशेष :—कुछ लोगों का कथन है कि सूत्रार्थ के लिए 'टि'-ग्रहण ('तच्च टेः')

---

* 'आकृतिगण' का अर्थ है—'आकृत्या स्वरूपेण कार्यदर्शनेन गण्यते परिच्छिद्यते—इति आकृतिगणः'। तात्पर्य यह कि जिसका ज्ञान कार्य देखकर किया जावे, उसे 'आकृतिगण' कहते हैं। इस प्रकार 'आकृतिगण' का क्षेत्र निश्चित नहीं होता। उसके अन्तर्गत गणपाठ में पठित शब्दों के अतिरिक्त समान कार्य वाले अन्य शब्द भी आ जाते हैं।

की कोई आवश्यकता नहीं। उनके अनुसार 'मनस् + ईषा' आदि स्थलों पर अङ्ग के अन्त्य व्यंजन–सकार आदि का 'पृषोदरादीनि–० ६.३.१०९ से लोप हो जाने पर अङ्ग अवर्णान्त बन जाता है।* अतः 'अवर्ण से अच् (स्वर-वर्ण) परे होने पर पूर्व और पर (अवर्ण + अच्) के स्थान पर (शकन्धु आदि के विषय में) पर-रूप एकादेश होता है'–ऐसा अर्थ लेने पर भी कोई अनर्थ नहीं होगा।

४०. ओमाङोश्च। ६।१।९५

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। 'शिव + एहि'—इति स्थिते—

४०. ओमिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(च) और (ओमाङोः) ओम् तथा आङ् परे होने पर...। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '२७–आद्गुणः' से 'आत्', '३८–एङि पररूपम्' से 'पररूपम्' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ओम्' अव्यय है तथा 'आङ्' उपसर्ग। इस 'आङ्' का ङकार इत्संज्ञक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अवर्ण (ह्रस्व या दीर्घ 'अ') से 'ओम्' या 'आङ्' (आ) परे होने पर पूर्व और पर ('अ' या 'आ' + 'ओ' या 'आ') के स्थान पर पररूप ('आ' या 'ओ') एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'शिवाय + ओं नमः' में यकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् 'ओम्' आया है। अतः पूर्व और पर के स्थान पर पररूप–ओकार हो 'शिवाय ओं नमः' = 'शिवायों नमः' रूप सिद्ध होता है। 'आङ्' परे होने का उदाहरण 'शिव + आ + इहि' में मिलता है। यहाँ वकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् 'आङ्' (आ) आया है। अतः प्रकृतसूत्र से 'अ + आ' के स्थान पर पररूप आदेश प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ इस 'अ + आ' के स्थान पर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ तथा 'आ + इ' के स्थान पर '२७–आद्गुणः' से गुण आदेश प्राप्त होते हैं। गुण आदेश अन्तरङ्ग तथा पररूप और दीर्घ आदेश बहिरङ्ग हैं।† 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (अन्तरङ्ग

---

* देखिये सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (पाद-टिप्पणी सहित)।

† 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्, अन्यद् बहिरङ्गम्' परिभाषा से धातु और उपसर्ग के कार्य को 'अन्तरङ्ग' कहते हैं। इससे भिन्न कार्य 'बहिरङ्ग' कहलाते हैं। उदाहरणार्थ 'शिव + आ + इहि' में 'आ' उपसर्ग है तथा 'इहि' धातु। अतः 'आ + इ' के स्थान पर होनेवाला गुण आदेश 'अन्तरङ्ग' होगा और उससे भिन्न दीर्घ और पररूप आदेश 'बहिरङ्ग'।

और बहिरङ्ग कार्य युगपत् प्राप्त होने पर बहिरङ्ग को असिद्ध समझकर प्रथम अन्तरङ्ग कार्य कर लेना चाहिये)—इस परिभाषा से प्रथम अन्तरङ्ग कार्य–गुण हो 'शिव एहि' = 'शिव एहि' रूप बनता है । अब यहां सवर्ण परे न होने से दीर्घादेश तो होगा ही नहीं, 'आङ्' न परे होने से प्रकृत सूत्र से पररूप आदेश भी प्राप्त नहीं होता । इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है :—

४१. अन्तादिवच्च । ६ । १ । ८५

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् । शिवेहि ।

४१. अन्तादिवदिति—यह अतिदेश* सूत्र है । शब्दार्थ है :—(च) और (अन्तादिवत्†) अन्त और आदि के समान होता है । किन्तु वास्तव में होता क्या है—इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'अन्तादिवत्' का अन्वय 'पूर्वपरयोः' से होता है । '२३–यथासंख्यम्–०' परिभाषा से 'अन्त' का अन्वय 'पूर्व' से और 'आदि' का अन्वय 'पर' से होगा । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—एकादेश पूर्व (पूर्ववर्ती वर्ण-समुदाय) के अन्त के समान और पर (परवर्ती वर्णसमुदाय) के आदि के समान होता है । तात्पर्य यह कि पूर्व और पर के स्थान पर जो एकादेश होगा, वह पूर्ववर्ती वर्णसमुदाय के अन्त के समान तथा परवर्ती वर्ण-समुदाय के आदि के समान होगा । उदाहरण के लिए 'उप+इन्द्रः' में '२७–आद्गुणः' से पूर्व अकार और पर इकार को गुण–एकार एकादेश हो 'उपेन्द्रः' रूप बनता है । यहाँ एकादेश 'ए' है । प्रकृतसूत्र से यह पूर्ववर्ती वर्णसमुदाय 'उप' के अन्त–अकार के समान और परवर्ती वर्णसमुदाय—'इन्द्रः' के आदि–इकार के समान होगा । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस 'ए' को अकार मानकर अकाराश्रित कार्य और इकार मानकर इकाराश्रित हो सकते हैं ।

इसी प्रकार 'शिव+एहि' में 'ए' एकादेश है । यह एकादेश पूर्ववर्ती वर्णसमुदाय के अन्त के समान होगा । यहां पूर्ववर्ती वर्णसमुदाय 'आ' (आङ्) है । इसका अन्त भी 'आ' ही है ।‡ अतः प्रकृतसूत्र से यह 'ए' 'आ' (आङ्) के सदृश होगा अर्थात्

---

* जिससे किसी की समता या तुल्यता लेकर कार्य करें, उसे 'अतिदेश' कहते हैं । इस प्रकार जिस सूत्र से समता के आधार पर कार्य होता है, उसे 'अतिदेश-सूत्र' कहेंगे ।

† इसका विग्रह है—'अन्तश्च आदिश्च अन्तादी । अन्तादिभ्यां तुल्यमिति अन्तादिवत् ।'

‡ एकाक्षर वर्णसमुदाय 'व्यपदेशिवद्भाव' से अपना ही आदि और अपना ही

जो कार्य 'आङ्' के रहने पर हो सकते हैं, वे कार्य इस 'ए' के रहने पर भी होंगे। '४०–ओमाङोश्च' से 'आङ्' परे होने पर पररूप एकादेश का विधान हुआ है। अत्र प्रकृतसूत्र की सहायता से यहां एकादेश 'ए' परे होने पर भी वही कार्य होगा। इस प्रकार '४०–ओमाङोश्च' से पूर्व-वकारोत्तरवर्ती अकार और पर–एकार के स्थान पर पररूप–एकार आदेश हो 'शिव् ए हि' = 'शिवेहि' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—ध्यान रहे कि यह '४०–ओमाङोश्च' सूत्र 'ओम्' के विषय में '३३–वृद्धिरेचि' तथा 'आङ्' के विषय में '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' का अपवाद है।

४२. अकः सवर्णे दीर्घः । ६ । १ । १०१

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकारः।

४२. अक इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अकः) अक् से (सवर्णे) सवर्ण परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१५–इको यणचि' से 'अचि' और सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' का अन्वय सूत्रस्थ 'सवर्णे' से होता है। 'अक्' और 'अच्' प्रत्याहार हैं। 'अक्' के अन्तर्गत अ, इ, उ, ऋ और ऌ तथा 'अच्' के अन्तर्गत सभी स्वर-वर्ण आ जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अ, इ, उ, ऋ या ऌ के पश्चात् यदि सवर्ण* स्वर-वर्ण हो, तो पूर्व और पर के स्थान पर दीर्घ† एकादेश होता है। '१०–तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र से अ का सवर्ण अ, इ का सवर्ण इ, उ का सवर्ण उ, ऋ का सवर्ण ऋ और ऌ का सवर्ण ऌ होगा। इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि अ के पश्चात् अ,‡ इ के पश्चात् इ, उ के पश्चात् उ, ऋ के पश्चात् ऋ या ऌ के पश्चात् ऌ हो, तो पूर्व और पर स्वर के स्थान पर दीर्घ (स्वर) आदेश होता

अन्त होता है। तात्पर्य यह कि उसका प्रयोग आदि और अन्त—दोनों ही रूपों में हो सकता है। देखिये २९ वें सूत्र की व्याख्या।

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† द्विमात्रिक स्वर को 'दीर्घ' कहते हैं। देखिये ५ वें सूत्र की व्याख्या।

‡ ध्यान रहे कि यहां अ, इ, उ आदि से केवल ह्रस्व का ही ग्रहण न करना चाहिये। अविधीयमान होने से ये दीर्घ आदि अपने सभी भेदों के बोधक हैं। इस प्रकार 'अ के पश्चात् अ' कहने का अभिप्राय ह्रस्व या दीर्घ अ के पश्चात् ह्रस्व या दीर्घ अ से है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिये।

है। उदाहरण के लिए 'दैत्य+अरिः' में अकार के पश्चात् अकार आया है, अतः प्रकृतसूत्र से इन दोनों के स्थान पर दीर्घ-आकार हो 'दैत्् आ रिः' = 'दैत्यारिः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'श्री+ईशः' में ईकार और ईकार के स्थान पर दीर्घ-ईकार हो 'श्र् ई शः' = 'श्रीशः', 'विष्णु+उदयः' में उकार और उकार के स्थान पर दीर्घ-ऊकार हो 'विष्ण् ऊ दयः' = 'विष्णूदयः' और 'होतृ+ऋकारः' में ऋकार और ऋकार के स्थान पर दीर्घ-ॠकार हो 'होत् ॠ कारः' = 'होतॄकारः' रूप सिद्ध होगा।

विशेष :—१. '१७-स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से पूर्व और पर के स्थान पर दीर्घ आदेश इस प्रकार होंगे :—

अ या आ + अ या आ = आ
इ या ई + इ या ई = ई
उ या ऊ + उ या ऊ = ऊ
ऌ या ॡ + ऌ या ॡ = ॡ
ऋ या ॠ + ऋ या ॠ = ॠ

२. अवर्ण के विषय में यह सूत्र '२७-आद्गुणः' का तथा अन्यत्र '१५-इको यणचि' का अपवाद है।

४३. एङः पदान्तादति । ६ । १ । १०९

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

४३. एङ इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(पदान्तात्) पदान्त (एङः) एङ् से (अति*) ह्रस्व अकार परे होने पर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'अमि पूर्वः' ६.१.१०७ से 'पूर्वः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एङ्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत 'ए' और 'ओ' वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि पदान्त 'ए' या 'ओ' (पद† के अन्त में आनेवाले 'ए' या 'ओ') के पश्चात् ह्रस्व अकार हो तो पूर्व और पर (ए या ओ + अ) के स्थान पर पूर्वरूप (ए या ओ) एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'हरे + अव' में पदान्त एकार के पश्चात् ह्रस्व अकार आया है। अतः प्रकृतसूत्र से पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप-एकार हो 'हर् ए व'=

---

* ध्यान रहे कि यहाँ '२६-तपरस्तत्कालस्य' परिभाषा से 'अत्' से ह्रस्व अकार का ग्रहण होता है।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

'हरेव' या 'हरेऽव'* रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'विष्णो+अव' में भी पदान्त ओकार के पश्चात् ह्रस्व अकार होने से पूर्वरूप–ओकार हो 'विष्ण् ओ व' = 'विष्णोऽव' रूप बनता है।

सूत्र में 'पदान्त ए या ओ' कहने से 'ने+अ:' और 'भो+अ:' आदि स्थलों पर अपदान्त एकार और ओकार से ह्रस्व अकार परे होने पर पूर्वरूप एकादेश नहीं होगा। इन स्थलों पर '२२–एचोऽयवायाव' से क्रमशः 'अय्' और 'अव्' आदेश हो 'न् अय् अ:' = 'नय:' और 'भ् अव् अ:' = 'भव:' रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष :—यह सूत्र '२२–एचोऽयवायाव:' का अपवाद है।

४४. सर्वत्र विभाषा[१]† [२]गोः[६] । ६ । १ । १२२

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते। गो अग्रम्, गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम्–चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम्–गोः।

४४. सर्वत्रेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सर्वत्र) सर्वत्र (गोः) 'गो' शब्द का (विभाषा‡) विकल्प से···। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '४३–एङः पदान्तादति' से 'एङः', 'पदान्तात्' और 'अति' तथा 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' ६.१.११५ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एङः' और 'पदान्तात्' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाते हैं। इस रूप में ये दोनों सूत्रस्थ 'गोः' के विशेषण बनते हैं। विशेषण होने से 'एङः' में तदन्त-विधि हो जाती है अर्थात् वह 'एङन्तस्य' रूप में प्रयुक्त होता है। सूत्रस्थ 'सर्वत्र' का अभिप्राय है कि यह कार्य लौकिक और वैदिक—दोनों ही प्रकार की संस्कृत भाषा में होता है।§

---

* 'ऽ–' यह चिह्न लगाना या न लगाना अपनी इच्छा पर निर्भर है। यह केवल इतना ही सूचित करता है कि यहाँ पहले अकार था।

† 'विभाषा' संज्ञा है, अतः प्रथमा-निर्देश उचित ही है, किन्तु इससे आदेश का भ्रम हो सकता है। इसी से अर्थ की सुविधा के लिए आगामी सूत्रों में इसके ऊपर अव्यय-चिह्न '◡' लगाया गया है।

‡ कार्य का होना या न होना 'विभाषा' कहलाता है—'न वेति विभाषा' १.१.४४।

§ वास्तव में सूत्र में 'सर्वत्र' का ग्रहण 'यजुष्युरः' ६.१.११७ से प्राप्त 'यजुषि' (यजुर्वेद में) की निवृत्ति के लिए है। संस्कृत भाषा के दो रूप हैं—वैदिक (Vedic) और लौकिक (Classical)। लौकिक संस्कृत काव्यादि लौकिक ग्रन्थों में और वैदिक संस्कृत केवल वेदों में प्रयुक्त होती है। दोनों के अपने कुछ विशेष नियम हैं। सूत्रों में लौकिक और वैदिक संस्कृत सम्बन्धी इन विशेष नियमों को प्रकट करने के

इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्व अकार परे होने पर पदान्त और एङन्त (जिसके अन्त में एङ्—ए या ओ हो) 'गो' शब्द का लौकिक और वैदिक संस्कृत में विकल्प से प्रकृति (स्वभाव) से अवस्थान होता है। 'प्रकृति से' कहने का अभिप्राय है कि उसमें कोई विकार या संहिता-कार्य नहीं होता।* 'एङन्त गो' शब्द से ओकारान्त गो का ही ग्रहण होता है, क्योंकि 'गो' शब्द एकारान्त तो होता ही नहीं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि पदान्त ओकारान्त 'गो' शब्द के पश्चात् ह्रस्व अकार आवेगा तो विकल्प से सन्धि-कार्य न होगा। वास्तव में यह सूत्र '४३—एङः पदान्तादति' से प्राप्त पूर्वरूप—एकादेश का विकल्प-रूप से अपवाद है। वैकल्पिक अपवाद होने के कारण पदान्त ओकारान्त 'गो' शब्द से ह्रस्व अकार परे होने पर प्रकृतिरूप (संहिता-कार्य न होना) और पूर्वरूप-एकादेश—दोनों ही कार्य होंगे।

प्रकृतिरूप के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

१. 'गो' शब्द ओकारान्त होना चाहिये—यदि 'गो' शब्द ओकारान्त न होगा तो यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'चित्रगु+अग्रम्' में 'गु' शब्द '९५२—गो-स्त्रियोरुपसर्जनस्य' से प्राप्त 'गो' शब्द का ह्रस्व रूप है। उसके पश्चात् 'अग्रम्' का ह्रस्व अकार भी है। किन्तु यह 'गु' शब्द ओकारान्त नहीं है, अतः प्रकृति-भाव नहीं होगा। फलतः '१५—इको यणचि' से यणादेश हो 'चित्रग् व् अग्रम्'= 'चित्रग्वग्रम्' रूप बनता है।

२. यह ओकारान्त 'गो' शब्द पद के अन्त में होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'गो+अः' में यद्यपि 'गो' शब्द ओकारान्त है, किन्तु वह पद के अन्त में नहीं है। अतः यहां पर प्रकृतिभाव न होकर '१७३—ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप एकादेश हो 'गोः' रूप सिद्ध होता है।

ये सभी बातें 'गो+अग्रम्'† में मिलती हैं। यहां 'गो' शब्द ओकारान्त है और

लिए क्रमशः 'भाषा' और 'छन्दसि' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'सर्वत्र' का प्रयोग सूत्रों में उन नियमों के लिए हुआ है जो लौकिक और वैदिक—दोनों में समान रूप से प्रवृत्त होते हैं।

* 'प्रकृतिरिति स्वभावः कारणं वाऽभिधीयते। प्रकृत्या भवति—स्वभावेन कारणाऽऽत्मना वा न विकारमापद्यते—'काशिका (६.१.११५)।

† ध्यान रहे कि 'गवाम् अग्रम्'—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास हो प्रस्तुत रूप बनता है। समास होने के कारण यद्यपि 'गो' से परे सुप्—'आम्' का लोप हो गया है, तथापि '१९०—प्रत्ययलोपे—०' परिभाषा से यह 'गो' पद-संज्ञक होता है।

वह पद के अन्त में भी आया है। उसके पश्चात् 'अग्रम्' का ह्रस्व अकार है। अतः प्रकृति-भाव होने से यहां संहिता-कार्य न हो 'गो अग्रम्' रूप ही रहेगा। ध्यान रहे कि यह कार्य विकल्प से होता है। अतः पक्ष में '४३-एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप एकादेश हो 'गोऽग्रम्' रूप बनता है।

४५. अनेकाल्[1] शित्[1] सर्वस्य[2]। १। १। ५५ +

इति प्राप्ते—

४५. अनेकालिति—यह परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(अनेकाल्–शित्) अनेक अलों वाला और शित् आदेश (सर्वस्य) सम्पूर्ण के··· । वास्तव में यह सूत्र 'षष्ठी स्थानेयोगा' १.१.४९ के प्रसंग में आया है। सूत्रस्थ 'शित्' का अर्थ है—'जिसका शकार इत्संज्ञक हो।' 'अल्' प्रत्याहार है, जिसके अन्तर्गत सभी वर्ण आ जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठी के स्थान पर होने वाला आदेश यदि अनेक वर्णों वाला या शित् होगा, तो वह सम्पूर्ण षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान पर होगा। तात्पर्य यह कि जिस आदेश में एक से अधिक वर्ण होंगे या जिस आदेश का शकार इत्संज्ञक होगा, वह आदेश सम्पूर्ण षष्ठ्यन्त पद के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'राम + भिस्' में '१४२-अतो भिस ऐस्' से 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश का विधान किया गया है। इस आदेश में दो वर्ण हैं, अतः अनेकाल् होने से यह सम्पूर्ण 'भिस्' के स्थान पर होगा और रूप बनेगा—'राम + ऐस्'='रामैः' इसी प्रकार 'ज्ञान + जस्' में '२३७-जश्शसोः शिः' से 'जस्' के स्थान पर 'शि' (इ) आदेश हुआ है। इस 'शि' का शकार इत्संज्ञक है, अतः प्रकृतसूत्र से शित् होने के कारण यह सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान पर होता है और रूप बनता है—'ज्ञान + इ'='ज्ञानानि'।

विशेष :—यह सूत्र '२१-अलोऽन्त्यस्य' का अपवाद है।

४६. ङिच्च[1]। १। १। ५३ +

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

४६. ङिच्चेति—यह भी परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(च) और (ङित्) ङित्। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '२१-अलोऽन्त्यस्य' १. १. ५२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ङित्' का अर्थ है—जिसका ङकार इत्संज्ञक हो। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ङकार इत् वाला आदेश अन्त्य अल् (वर्ण) के स्थान पर होता है। यह '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' सूत्र का अपवाद है। फलतः कहा जा सकता है कि यदि आदेश का ङकार इत्संज्ञक होगा तो अनेकाल् (एक से अधिक अक्षर वाला) होने

पर भी वह षष्ठ्यन्तपद के अन्तिम वर्ण के ही स्थान पर होगा, सम्पूर्ण षष्ठ्यन्त पद (स्थानी) के स्थान पर नहीं। उदाहरण के लिए 'सखि+सु' में '१७५–अनङ् सौ' से 'सखि' के स्थान पर 'अनङ्' आदेश प्राप्त होता है। 'अनङ्' में एक से अधिक अक्षर हैं, अतः यह अनेकाल् आदेश है। किन्तु 'अनङ्' का ङकार इत्संज्ञक है, अतः अनेकाल् होने पर भी प्रकृत सूत्र से वह 'सखि' के अन्तिम वर्ण–इकार के स्थान पर होता है और रूप बनता है—'सख् अन् सु' = 'सखा'।*

विशेष :—'२१–अलोऽन्त्यस्य,' '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' और '४६–ङिच्च' इन तीनों सूत्रों का सम्मिलित अर्थ इस प्रकार होगा—'एकाक्षर आदेश स्थानी के अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है। शित् (जिसका शकार इत् हो) या अनेकाक्षर आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है। हां, यदि अनेकाक्षर आदेश का ङकार इत् होगा तो वह स्थानी के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा, सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर नहीं।' इस प्रकार तीनों सूत्रों का क्षेत्र बँट जाता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' एकाक्षर आदेश के विषय में, '४५–अनेकाल्–०' ङित्-भिन्न अनेकाल् और शित् आदेश के विषय में तथा '४६–ङिच्च' ङित् अनेकाल् आदेश (जिसमें एक से अधिक अक्षर हों और जिसका ङकार इत्संज्ञक हो) के विषय में प्रवृत्त होता है।

४७. अवङ् स्फोटायनस्य । ६ । १ । १२३

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वाऽचि । गवाग्रम्, गोऽग्रम् । पदान्ते किम्–गवि ।

४७. अवङिति—यह विधि-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(अवङ्) अवङ् आदेश होता है—(स्फोटायनस्य) यह स्फोटायन† का मत है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '४३–एङः पदान्तादति' से 'एङः' और 'पदान्तात्', '४४–सर्वत्र विभाषा गोः' से 'विभाषा' और 'गोः' तथा '१५–इको यणचि' से 'अचि' की अनुवृत्ति होती है। 'एङः' और 'पदान्तात्'—दोनों ही 'गोः' के विशेषण हैं, अतः षष्ठ्यन्त में विपरिणत

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए इसकी रूप-सिद्धि देखिये।

† यह पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य थे। पदमञ्जरीकार हरदत्त ने इन्हें स्फोट-तत्त्व का उपज्ञाता माना है। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इनका काल २९०० वि० पू० है। देखिये—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास–प्रथम भाग (प्रथम संस्करण)'–पृ० १२६-२८।

हो जाते हैं। सूत्र में 'स्फोटायन' आचार्य का ग्रहण आदर के लिए हुआ है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—(अचि) स्वर-वर्ण परे होने पर (एङन्तस्य†) ओकारान्त और (पदान्तस्य) पदान्त (गोः) 'गो' शब्द के स्थान पर (विभाषा‡) विकल्प से (अवङ्) 'अवङ्' आदेश होता है। तात्पर्य यह कि ओकारान्त और पदान्त (पद के अन्त में आनेवाले) 'गो' शब्द के पश्चात् यदि कोई स्वर-वर्ण होगा तो उस 'गो' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'अवङ्' आदेश होगा। 'अवङ्' का ङकार इत् है, अतः ङित् होने से यह '४६–ङिच्च' सूत्र की सहायता से 'गो' शब्द के अन्तिम वर्ण–ओकार के स्थान पर ही होगा।

उदाहरण के लिए 'गो + अग्रम्' में 'गो' शब्द पदान्त और ओकारान्त है। उसके पश्चात् स्वर-वर्ण–अकार भी आया है। अतः प्रकृत सूत्र से 'गो' के अन्त्य वर्ण–ओकार के स्थान पर 'अवङ्' (अव) आदेश हो 'ग् अव अग्रम्' = 'गव अग्रम्' रूप बनता है। यहाँ '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घादेश हो 'गव् आ ग्रम्' = 'गवाग्रम्' रूप सिद्ध होता है। 'अवङ्' के अभावपक्ष में '४३–एङः पदान्तादति' से 'गोऽग्रम्' और '४४–सर्वत्र विभाषा गोः' से 'गो अग्रम्' रूप बनते हैं।

ध्यान रहे कि 'अवङ्' आदेश के लिए भी ४४ वें सूत्र के समान दो बातें आवश्यक हैं :—

१. 'गो' शब्द पदान्त में होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'गो + इ' में 'गो' शब्द पदान्त में नहीं है, क्योंकि उसके पश्चात् 'इ' सप्तमी के एकवचन 'ङि' प्रत्यय का है। अतः अच्–इकार परे होने पर भी 'अवङ्' आदेश न हो '२२–एचोऽयवायावः' से 'अव्' आदेश हो जाता है और इस प्रकार रूप बनता है—'ग् अव् इ' = 'गवि'।

२. 'गो' शब्द ओकारान्त होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'चित्रगु + अग्रम्' में 'गु' शब्द उकारान्त है, ओकारान्त नहीं। अतः अच्–अकार परे

---

* 'स्फोटायनग्रहणं पूजार्थं, विभाषेत्येव हि वर्तते–' काशिका।

† 'एङ्' से यहाँ केवल ओकार का ही ग्रहण होता है। देखिये ४४ वें सूत्र की व्याख्या।

‡ यह व्यवस्थित-विभाषा है—'व्यवस्थितविभाषेयम्' (काशिका)। 'व्यवस्थित-विभाषा' का अर्थ है—'किसी प्रयोग में सूत्रोक्त कार्य का नित्य होना और किसी प्रयोग में बिलकुल ही न होना।' इस प्रकार प्रकृतसूत्र में व्यवस्थित-विभाषा होने से 'अवङ्' आदेश कहीं-कहीं नित्य भी होता है—यथा 'गवाक्षः' (गो + अक्षः) में।

होने पर भी 'अवङ्' आदेश न हो '१५–इको यणचि' से यण्–वकार आदेश होकर 'चित्रग् व् अग्रम्' = 'चित्रग्वग्रम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—ध्यान रहे कि 'गो + अग्रम्'–इस स्थिति में तीन सूत्रों द्वारा तीन रूप बनते हैं :—

१. गो अग्रम् ('४४–सर्वत्र विभाषा गोः' से)
२. गवाग्रम् ('४७–अवङ् स्फोटायनस्य' से)
३. गोऽग्रम् ('४३–एङः पदान्तादति' से)

४८. इन्द्रे च । ६ । १ । १२४

गोरवङ् स्याद् इन्द्रे । गवेन्द्रः ।

४८. इन्द्र इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(च) और (इन्द्रे) 'इन्द्र' शब्द परे होने पर...। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '४३–एङः पदान्तादति' से 'एङः', '४४–सर्वत्र विभाषा गोः' से 'गोः' तथा '४७–अवङ् स्फोटायनस्य' से 'अवङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एङः' पष्ठयन्त में विपरिणत हो 'गोः' का विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि 'इन्द्र' शब्द परे हो तो ओकारान्त 'गो' शब्द के स्थान पर 'अवङ्' (अव) आदेश होता है। आरम्भ-सामर्थ्य से यह आदेश नित्य होता है।* उदाहरण के लिए 'गो + इन्द्रः' में ओकारान्त 'गो' शब्द के पश्चात् 'इन्द्रः' शब्द आया है। अतः प्रकृतसूत्र से यहाँ 'गो' शब्द के स्थान पर 'अवङ्' आदेश होगा। '४६–ङिच्च' परिभाषा से यह 'अवङ्' (अव) आदेश 'गो' शब्द के अन्त्य वर्ण–ओकार के स्थान पर होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'ग् अव इन्द्रः' = 'गव इन्द्रः'। यहाँ '२७–आद्गुणः' से गुण एकादेश हो 'गव् ए न्द्रः' = 'गवेन्द्रः' रूप सिद्ध होगा।

ध्यान रहे कि 'गो' शब्द यदि ओकारान्त न होगा तो 'इन्द्र' शब्द परे होने पर भी 'अवङ्' आदेश नहीं होगा। उदाहरणार्थ 'चित्रगु + अग्रम्' में 'गु' ओकारान्त नहीं है, अतः प्रकृतसूत्र से 'अवङ्' आदेश न होकर '१५–इको यणचि' से यण्–वकार आदेश हो 'चित्रग् व् अग्रम्' = 'चित्रग्वग्रम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—यह सूत्र '४७–अवङ् स्फोटायनस्य' का अपवाद है। उस सूत्र से यहाँ विकल्प करके 'अवङ्' प्राप्त होता था, इस सूत्र से वह नित्य हो जाता है।

---

* 'आरम्भसामर्थ्यान्नित्यमिदम्'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

४६. दूराद्धूते च । ८ । २ । ८४

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात् ।

४९. दूरादिति—सूत्र का पदच्छेद है—'दूरात् + हूते + च' । शब्दार्थ है :—(दूरात्) दूर से (हूते*) सम्बोधन में (च) और···। किन्तु होता है क्या—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' ८.२.८२ की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'दूर' का अभिप्राय उस स्थान से है जहाँ से बोला हुआ वाक्य सम्बोध्यमान (जिससे कहा जा रहा हो) साधारण प्रयत्न से न सुन सके, किन्तु विशेष प्रयत्न से उसे सुन सकता हो।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—दूर से सम्बोधन (पुकारने) में प्रयुक्त वाक्य की 'टि‡' प्लुत§ और उदात्त होती है । तात्पर्य यह कि यदि किसी को दूर से पुकारने के लिए किसी वाक्य का प्रयोग हो तो उस वाक्य की 'टि' प्लुत होती है । उदाहरण के लिए 'आगच्छ कृष्ण' (कृष्ण, आओ)—इस वाक्य का प्रयोग दूर से कृष्ण को पुकारने के लिए होता है । अतः प्रकृतसूत्र से इस वाक्य की 'टि'—णकारोत्तरवर्ती अकार—प्लुत-संज्ञक होती है । इसी बात को प्रकट करने के लिए णकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् '३' का चिह्न लगा दिया जाता है, यथा—'आगच्छ कृष्ण ३' ।

यहाँ ध्यान रहे कि जिस वाक्य में सम्बोध्यमान (जिसको पुकारा जा रहा हो) अन्त में होगा, उसी वाक्य की 'टि' को प्लुत होगा|| । यदि सम्बोध्यमान वाक्य के अन्त में न होगा तो वाक्य की 'टि' को प्लुत न होगा, यथा—'कृष्ण ! आगच्छ ।' यहाँ सम्बोध्यमान पद—'कृष्ण' वाक्य के अन्त में न होकर उसके आदि में आया है । इससे वाक्य की 'टि'—छकारोत्तरवर्ती अकार की प्लुत-संज्ञा नहीं होती । इस प्रकार वाक्य की 'टि' के प्लुत होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

(क) वाक्य का प्रयोग दूर से सम्बोधन (पुकारने) के लिए होना चाहिये,

(ख) और सम्बोध्यमान (जिसे पुकारा जा रहा हो) उस वाक्य के अन्त में आना चाहिये ।

---

* 'आह्वानं हूतं शब्देन सम्बोधनम्···हूतग्रहणं च सम्बोधनमात्रोपलक्षणार्थम्—' काशिका ।

† 'यत्र प्राकृतात् प्रयत्नाद्यत्नविशेषे आश्रीयमाणे शब्दः श्रूयते तद्दूरम्'—काशिका ।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए ३९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

§ इसके स्पष्टीकरण के लिए ५ वें सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये ।

|| 'दूरादाह्वाने वाक्यस्यान्ते यत्र सम्बोधनपदं भवति तत्रायं प्लुत इष्यते—' काशिका ।

५०. प्लुतप्रगृह्या[1] अचि[2] नित्यम् । ६ । १ । १२५

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति ।

५०. प्लुतेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अचि) अच् परे होने पर (प्लुत-प्रगृह्याः) प्लुत और प्रगृह्य (नित्यम्) नित्य ही···। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' ६.१.११५ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अच् (स्वर-वर्ण) परे होने पर प्लुत और प्रगृह्य* प्रकृति से रहते हैं अर्थात् सन्धि-कार्य नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, यदि प्लुत या प्रगृह्य संज्ञक वर्ण के पश्चात् कोई स्वर-वर्ण आता है तो परस्पर सन्धि-कार्य नहीं होता। उदाहरण के लिए 'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' (कृष्ण ! आओ, यहाँ गौ चर रही है) इस वाक्य में णकारोत्तरवर्ती अकार प्लुत है और उसके पश्चात् 'अत्र' का अकार आया है। अतः प्रकृतसूत्र से परस्पर सन्धि-कार्य नहीं होता है। सन्धि-कार्य का निषेध हो जाने से '४२—अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त दीर्घादेश नहीं होता और प्रकृतरूप 'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' ही रहता है। इसी प्रकार प्रगृह्य के उदाहरण 'हरी एतौ' और 'विष्णू इमौ' में मिलते हैं। यहाँ '५१—ईदूदेद्—०' से 'हरी' के ईकार और 'विष्णू' के ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा होने से प्रकृतिभाव हो जाता है और '१५—इको यणचि' से प्राप्त यणादेश न हो 'हरी एतौ' और 'विष्णू इमौ'—ये प्रकृतरूप ही रहते हैं।

५१. ईदूदेद्[1] द्विवचनं[2] प्रगृह्यम्[3] । १ । १ । ११

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू ।

५१. ईदूदेदिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(ईदूदेद्†) ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त (द्विवचनम्) द्विवचन (प्रगृह्यम्) प्रगृह्य-संज्ञक होता है। तात्पर्य यह कि यदि किसी शब्द का द्विवचन ईकारान्त, ऊकारान्त या एकारान्त होगा तो वह 'प्रगृह्य' संज्ञक होगा। यह प्रगृह्य-संज्ञा अन्त्य ईकार, ऊकार या एकार की ही होती है। उदाहरण के लिए 'हरी' शब्द 'हरि' का द्विवचन है और ईकारान्त भी। अतः प्रकृतसूत्र से अन्त्य ईकार की प्रगृह्य संज्ञा होगी। इसी प्रकार 'विष्णू' शब्द 'विष्णु' का ऊकारान्त द्विवचन होने से और 'गङ्गे' शब्द 'गङ्गा' का

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए अग्रिम सूत्र (५१) देखिये।

† इसका विग्रह है—'ईच्च ऊच्च एच्चेति ईदूदेत् ।' यह 'ईदूदेत्' पद सूत्रस्थ 'द्विवचनम्' का विशेषण है, अतः तदन्त-विधि हो जाती है।

एकारान्त द्विवचन होने से 'प्रगृह्य' संज्ञक हैं अर्थात् इनके ऊकार और एकार की 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है।

ध्यान रहे कि इन प्रगृह्य-संज्ञक ईकार, ऊकार और एकार के पश्चात् स्वर-वर्ण आने पर '५०—प्लुतप्रगृह्या—०' से सन्धि-कार्य नहीं होता, यथा—'हरी एतौ,' 'विष्णू इमौ' और 'गङ्गे अमू'।*

५२. अदसो[1] मात्[5] । १ । १ । १२

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम्—अमुकेऽत्र।

५२. अदस इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है:—(अदसः) 'अदस्' शब्द के अवयव (मात्) मकार से परे...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए '५१—ईदूदेद्—०' से 'ईदूत्' और 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अदस्' शब्द के अवयव मकार से पर ईकार और ऊकार प्रगृह्य-संज्ञक होते हैं। 'अदस् (वह) सर्वनाम है। इसके मकार से पर ईकार और ऊकार के उदाहरण पुँल्लिङ्ग में प्रथमा के बहुवचन (अमी) और प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन (अमू) में एवं स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा-द्वितीया के द्विवचन (अमू) में मिलते हैं। इनमें से स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग वाले उदाहरणों में '५१—ईदूदेद्—०' से प्रगृह्य संज्ञा सिद्ध हो जाती है। अतः प्रकृतसूत्र से केवल पुँल्लिङ्ग 'अमू'‡ और 'अमी'—इन दो रूपों के ही ईकार और ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा होती है।

---

* यहाँ पहले दो उदाहरणों में '१५—इको यणचि' से यण् और अन्तिम उदाहरण में '४३—एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप प्राप्त था। '५०—प्लुतप्रगृह्या—०' से इन दोनों का निषेध हो प्रकृतिभाव हो जाता है।

† यहाँ अवयव-षष्ठी है।

‡ यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग में 'अमू' के ऊकार की '५१—ईदूदेद्—०' से ही प्रगृह्य संज्ञा हो जाती है तो फिर पुँल्लिङ्ग में 'अमू' के ऊकार की भी '५१—ईदूदेद्—०' से प्रगृह्य संज्ञा क्यों नहीं होती? इसका उत्तर यह है कि पुँल्लिङ्ग-द्विवचन में 'अदस्' का मूलरूप 'अदौ' होता है। इस 'अदौ' के दकार और औकार को '३५६—अदसोऽसेर्दाद्—०' से क्रमशः मकार और ऊकार हो 'अमू' रूप बनता है। किन्तु '३५६-अदसोऽसेः—०' सूत्र त्रिपादी का होने से '३१—पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से '५१—ईदूदेद्—०' की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार '५१—ईदूदेद्—०' की दृष्टि में 'अदौ' ही रहता है। तब औकारान्त होने से '५१—ईदूदेद्—०' सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में 'अमू' के विषय में ऐसा नहीं होता।

प्रगृह्य-संज्ञा होने से इनके पश्चात् स्वर-वर्ण आने पर '५०-प्लुतप्रगृह्या—०' से प्रकृतिभाव हो जाता है।

उदाहरण के लिए 'अमी ईशाः' (वे स्वामी हैं) में ईकार के पश्चात् ईकार आने से '४२-अकः सवर्णे—०' से दीर्घादेश प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ 'अमी' का ईकार प्रगृह्यसंज्ञक है। अतः '५०-प्लुतप्रगृह्या—०' से प्रकृतिभाव हो जाने से सन्धि-कार्य का निषेध हो जाता है और प्रकृतरूप 'अमी ईशाः' ही रहता है। इसी प्रकार 'अमू आसाते' (वे दो बैठे हैं) में भी 'अमू' के ऊकार की प्रगृह्य संज्ञा होने के कारण प्रकृतिभाव हो जाता है। प्रकृतिभाव होने से '१५-इको यणचि' से प्राप्त यण् आदेश न हो मूलरूप 'अमू आसाते' ही रहता है।

५३. चादयोऽसत्त्वे । १ । ४ ।५७

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः ।

५३. चादय इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(असत्त्वे*) द्रव्य-भिन्न अर्थ में (चादयः) चादि शब्द...। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' १. ४. ५६ से 'निपाताः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'चादि' गण है और उसके अन्तर्गत 'च', 'पशु' और 'वट्' आदि शब्दों का ग्रहण होता है।† 'द्रव्य' 'पदार्थ' का पर्याय है। जिसमें लिङ्ग और संख्या का अन्वय होता है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं।‡ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि द्रव्य अर्थ न हो, तो चादिगण में पठित शब्द 'निपात' संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए 'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः' में 'पशु' शब्द का अर्थ है—'सम्यक्' (ठीक प्रकार से)। अतः अद्रव्यवाची होने से यह 'निपात' संज्ञक होगा। किन्तु यदि 'पशु' शब्द का अर्थ 'जानवर' होगा, तो द्रव्यवाची होने से वह 'निपात'संज्ञक न होगा—यथा 'पशुं नयन्ति'।

५४. प्रादयः । १ । ४ । ५८

एतेऽपि तथा।

५४. प्रादय इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(प्रादयः) प्रादि...।

यहां मूलरूप 'अदे' होता है। अतः '३५६-अदसोऽसेः-०' सूत्र असिद्ध होने पर भी एकारान्त होने से '५१-ईदूदेद्-०' से 'प्रगृह्य' संज्ञा हो जाती है।

* 'सत्त्वमिति द्रव्यमुच्यते—' काशिका।

† विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

‡ 'लिङ्गसंख्यान्वितं द्रव्यम्'-सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' १.४.५६ से 'निपाताः' और '५३—चादयः—०' से 'असत्त्वे' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रादि' गण है और उसके अन्तर्गत 'प्र,' 'आङ्' और 'वि' आदि शब्द आते हैं।* इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—यदि द्रव्य अर्थ न हो तो प्रादिगण में पठित शब्द 'निपात' संज्ञक होते हैं, यथा—'वि' आदि। किन्तु यह 'वि' शब्द यदि पक्षी अर्थ में प्रयुक्त होगा तो द्रव्यार्थक होने से 'निपात' संज्ञक न होगा, यथा—'विं पश्य'।

विशेष :—इन दोनों सूत्रों (५३ तथा ५४) का मिला-जुला अर्थ इस प्रकार होगा—'यदि द्रव्य अर्थ न हो तो चादि और प्रादि गण में पठित शब्द 'निपात' संज्ञक होते हैं।'

५५. निपात[१] एकाजनाङ्[१] । १ । १ । १४

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्यस्मरणयोरङित्-आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्-ईषदुष्णम्-ओष्णम्।

५५. निपात इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(अनाङ्) आङ्-भिन्न (एकाच्†) एक अच् रूप (निपातः) निपात...। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '५१—ईदूदेद्—०' से 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'आङ्' को छोड़कर अन्य एक अच् (स्वर-वर्ण) रूप निपात 'प्रगृह्य' संज्ञक होते हैं। तात्पर्य यह कि 'प्रगृह्य' संज्ञा के लिए निपात में दो बातें आवश्यक हैं :—

१. निपात एकाक्षर (एक अक्षरवाला) होना चाहिये,

२. और वह अक्षर स्वर-वर्ण ही होना चाहिये। हां, 'आङ्' (आ) प्रगृह्य-संज्ञक नहीं होता।

'५३—चादयोऽसत्त्वे' और '५४—प्रादयः' से अद्रव्यार्थक चादि और प्रादि की 'निपात' संज्ञा की गई है। इनमें से अ (आक्षेप अर्थ में), आ (वाक्य और स्मरण), इ (सम्बोधन, विस्मय), ई (सम्बोधन), उ‡ (सम्बोधन, वितर्क), ऊ (सम्बोधन),

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

† इसका विग्रह है :—'एकश्चासौ अच्च इति एकाच्' अर्थात् एक हो और वही अच् हो। तात्पर्य यह कि स्वर-रूप एकाक्षर शब्द को 'एकाच्' कहते हैं।

‡ यहाँ उकार से 'उ' और 'उञ्' इन दोनों निपातों का ग्रहण होता है, क्योंकि

ए (सम्बोधन), ऐ (सम्बोधन), ओ (सम्बोधन), औ (सम्बोधन) और आङ् (अल्प, मर्यादा आदि)—ये ग्यारह एकाच् निपात हैं। प्रकृतसूत्र से 'आङ्' को छोड़कर शेष दस एकाच् निपातों की 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है। प्रगृह्य संज्ञा होने से उनके पश्चात् स्वर-वर्ण आने पर '५०—प्लुतप्रगृह्या—०' से प्रकृति भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए 'इ+इन्द्रः' (यह इन्द्र हैं!) में 'इ' एकाच् निपात होने से प्रगृह्य संज्ञक है। अतः उसके पश्चात् इकार रहने से '४२—अकः सवर्णे—०' से प्राप्त दीर्घादेश न हो प्रकृतिभाव होकर 'इ इन्द्रः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'उ उमेशः' (जान पड़ता है कि यह शिव हैं) में भी एकाच् निपात—'उ' की प्रगृह्य संज्ञा होने से सवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है और प्रकृतिभाव हो 'उ उमेशः' रूप ही रहता है।

ध्यान रहे कि सूत्र से चादिगण में पठित 'आ' की प्रगृह्य संज्ञा हुई है, प्रादिगण में पठित 'आङ्' की नहीं। किन्तु व्यवहार में 'आङ्' भी 'आ' रूप में ही प्रयुक्त होता है। अतः प्रश्न उठता है कि 'आ' और 'आङ्' (आ) का अन्तर कैसे मालूम हो? इसका उत्तर यह है कि वाक्य और स्मरण अर्थ में 'आ' का अभिप्राय 'आ' से होता है, किन्तु अन्यत्र 'आ' का अभिप्राय 'आङ्' से होता है।* उदाहरण के लिए 'आ एवं नु मन्यसे' (अब तुम ऐसा मानते हो)—यहां 'आ' वाक्य में प्रयुक्त हुआ है, अतः पूर्वोक्त वचन से यह 'आ' निपात है, 'आङ्' नहीं। इसी प्रकार 'आ एवं किल तत्' (हां, ऐसा ही था) में 'आ' स्मरण अर्थ में प्रयुक्त होने से निपात है। प्रकृतसूत्र से इसकी प्रगृह्य संज्ञा होने से '३३—वृद्धिरेचि' से प्राप्त वृद्धि आदेश नहीं होता और प्रकृतरूप 'आ एवं नु मन्यसे' और 'आ एवं किल तत्' ही रहते हैं। किन्तु यह 'आ' जब वाक्य और स्मरण से भिन्न अल्प आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है तब 'आङ्' होता है, 'आ' निपात नहीं। उदाहरण के लिए 'आ+उष्णम्' में 'आ' अल्पार्थ में प्रयुक्त होने से 'आङ्' है, अतः प्रकृतसूत्र से 'प्रगृह्य' संज्ञक नहीं होता। प्रगृह्य-संज्ञा न होने पर '२७—आद्गुणः' से गुणादेश हो 'ओष्णम्' (कुछ गरम) रूप बनता है।

'उञ्' भी 'उ' रूप में ही प्रयुक्त होता है। हाँ, '५८—मयः—०' से बाध होने के कारण 'उञ्' की प्रगृह्य-संज्ञा वैकल्पिक होती है।

* कहा भी है :—'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्यात् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥' (अल्प अर्थ में, क्रिया के योग में और मर्यादा तथा अभिविधि अर्थ में आकार को 'आङ्' समझना चाहिये। वाक्य और स्मरण अर्थ में आकार को 'आ' समझना चाहिये।)

५६. ओत्[१] । १ । १ । १५

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः । अहो ईशाः ।

५६. ओदिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(ओत्) ओकार...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए '५५–निपात एकाच्–०' से 'निपातः' और '५१–ईदूदेद्–०' से 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ओत्' 'निपातः' का विशेषण है, अतः तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ओकारान्त निपात प्रगृह्य-संज्ञक होता है।

'५३–चादयोऽसत्त्वे' और '५४–प्रादयः' से अद्रव्यार्थक चादि और प्रादि की निपात संज्ञा की गई है। इनमें से ओ, आहो, उताहो, हो, अहो और अथो—ये छः ओकारान्त निपात हैं। इनमें भी 'ओ' की प्रगृह्यसंज्ञा तो पूर्वसूत्र (५५) से ही हो जाती है, अतः प्रकृत सूत्र से शेष पांच ओकारान्त निपातों की ही प्रगृह्य-संज्ञा होती है। प्रगृह्य-संज्ञा होने से इनके पश्चात् स्वर-वर्ण आने पर '५०–प्लुत-प्रगृह्या–०' से प्रकृतिभाव हो जाता है और सन्धि-कार्य नहीं होता। उदाहरण के लिए 'अहो ईशाः' में 'अहो' ओकारान्त निपात है। अतः प्रकृतसूत्र से उसकी प्रगृह्य-संज्ञा होने के कारण अच्–ईकार परे होने पर प्रकृतिभाव हो जाता है। प्रकृतिभाव होने पर '२२–एचोऽयवायावः' से प्राप्त अवादेश न हो मूलरूप 'अहो ईशाः' ही रहता है।

विशेष :—ध्यान रहे कि एकाच् न होने से आहो, उताहो आदि की पूर्वसूत्र (५५) से प्रगृह्य-संज्ञा नहीं हो सकती थी। इसी से उनकी प्रगृह्य-संज्ञा करने के लिए प्रस्तुत सूत्र की आवश्यकता पड़ी।

५७. *सम्बुद्धौ[३] [६]शाकल्यस्येता[५]वनार्षे[७] । १ । १ । १६

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति। विष्ण इति। विष्णविति।

५७. सम्बुद्धाविति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। पदच्छेद है :—'सम्बुद्धौ + शाकल्यस्य + इतौ + अनार्षे'। शब्दार्थ है :—(अनार्षे†) अवैदिक (इतौ) इति परे होने पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि-निमित्तक···(शाकल्यस्य) यह शाकल्य का मत है। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '५६–ओत्' और '५१–ईदूदेद्–०' से 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ओत्' का

---

* यह निमित्त-सप्तमी है।

† इसका विग्रह है—"ऋषिर्वेदः। ऋषौ (वेदे) भवः = आर्षः। न आर्षः = अनार्षस्तस्मिन् = अनार्षे, 'अवैदिके' इत्यर्थः।"

अन्वय सूत्रस्थ 'सम्बुद्धौ' से होता है। 'शाकल्य' पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य थे।* यहाँ उनका ग्रहण विकल्पार्थ हुआ है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अवैदिक 'इति' परे होने पर सम्बुद्धि-निमित्तक ओकार (सम्बुद्धि‡ को निमित्त मानकर पैदा हुआ ओकार) विकल्प से प्रगृह्य-संज्ञक होता है।§ दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वेद को छोड़कर अन्यत्र 'इति' परे होने पर सम्बुद्धि-निमित्तक ओकार विकल्प से 'प्रगृह्य' संज्ञक होता है। प्रगृह्य-संज्ञा होने पर '५०—प्लुतप्रगृह्या—०' से प्रकृतिभाव हो जाता है। उदाहरण के लिए 'विष्णो + इति' में णकारोत्तरवर्ती ओकार सम्बुद्धि-निमित्तक है, क्योंकि वह '१६९—ह्रस्वस्य गुणः' से सम्बुद्धि को निमित्त मानकर हुआ है। उसके पश्चात् अवैदिक 'इति' है। अतः प्रकृतसूत्र से इस णकारोत्तरवर्ती ओकार की प्रगृह्य-संज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य-संज्ञा होने पर प्रकृतिभाव हो जाने के कारण '२२—एचोऽयवायावः' से प्राप्त 'अव्' आदेश नहीं होता और मूलरूप 'विष्णो इति' ही रहता है। किन्तु यह प्रगृह्य-संज्ञा विकल्प से होती है। अतः पक्ष में प्रगृह्य-संज्ञा न होने पर '२२—एचोऽयवायावः' से 'अव्' आदेश हो 'विष्ण् अव् इति' = 'विष्णविति' रूप बनता है।

विशेष :—इस सूत्र को मिलाकर पुस्तक में प्रगृह्य-संज्ञा सम्बन्धी पाँच सूत्र आये हैं। यहाँ सूत्रांक सहित उनके नियमों को दिया जा रहा है :—

१. ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन की 'प्रगृह्य' संज्ञा होती है (५१)।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ३० वें सूत्र से सम्बन्धित पाद-टिप्पणी देखिये।

† 'शाकल्यग्रहणं विभाषार्थम्'-काशिका (१.१.१६)।

‡ प्रथमा के एकवचन को सम्बोधन में 'सम्बुद्धि' कहते हैं। देखिये १३२ वें सूत्र की व्याख्या।

और उसके पश्चात् स्वर-वर्ण—उकार भी आया है । अतः प्रकृत सूत्र से 'उ' को वकार हो 'किम् व् उक्तम्' = 'किम्वुक्तम्' रूप सिद्ध होता है । वकारादेश के अभाव पक्ष में प्रकृति भाव हो 'किमु उक्तम्' रूप ही रहता है ।

विशेष :—यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'किम्वुक्तम्' में हल्-वकार परे होने पर '७७—मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि '३१—पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से '७७—मोऽनुस्वारः' की दृष्टि में प्रकृतसूत्र '५८—मयः—०' असिद्ध है । दूसरे शब्दों में, प्रकृतसूत्र से किया गया वकारादेश '७७—मोऽनुस्वारः' की दृष्टि में न होने के समान है अर्थात् '७७—मोऽनुस्वारः' की दृष्टि में उकार ही रहता है । इस स्थिति में हल् परे न होने पर '७७—मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार भी नहीं होता ।

५९. इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च । ६ । १ । १२७

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि । ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चक्रि अत्र, चक्र्यत्र । पदान्ता किम्—गौर्यौ ।

(वा०) न समासे । वाप्यश्वः ।

५९. इक इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(असवर्णे) असवर्ण परे होने पर (इकः) इक् के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है (च) और... (शाकल्यस्य) यह मत शाकल्य का है । यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए '१५—इको यणचि' से 'अचि', '४३—एङः पदान्तादति' से 'पदान्तात्' तथा 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' ६.१.११५ से 'प्रकृत्या'* की अनुवृत्ति करनी होगी । 'पदान्तात्' सूत्रस्थ 'इकः' का विशेषण है । अतः षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाता है । 'अचि' का अन्वय सूत्रस्थ 'असवर्णे' से होता है । 'असवर्ण' का अर्थ है—जो सवर्ण† न हो । 'अच्' और 'इक्' प्रत्याहार हैं । 'अच्' के अन्तर्गत सभी स्वर और 'इक्' के अन्तर्गत इ, उ, ऋ और ऌ—ये चार स्वर आते हैं । '११—अणुदित्—०' परिभाषा से 'अच्' और 'इक्' अपने अन्तर्गत आने वाले वर्णों के ह्रस्व और दीर्घ आदि सभी भेदों के बोधक हैं । सूत्र में शाकल्य‡ का ग्रहण विकल्पार्थ है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—असवर्ण स्वर

* महाभाष्यकार के अनुसार 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति करना व्यर्थ है, क्योंकि ह्रस्व-विधान सामर्थ्य से ही प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है ।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १० वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

‡ 'शाकल्य' पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य थे । देखिये ३० वें सूत्र से सम्बन्धित पाद-टिप्पणी ।

परे होने पर पदान्त (पद* के अन्त में आने वाले) ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ और ऌ के स्थान पर विकल्प से क्रमशः ह्रस्व इकार, उकार, ऋकार और ऌकार आदेश होते हैं और ये ह्रस्व आदेश प्रकृति से रहते हैं अर्थात् इनको निमित्त मानकर कोई सन्धि कार्य नहीं होता। यहाँ ह्रस्व इ, उ, आदि के स्थान पर ह्रस्वादेश करने का अभिप्राय इतना ही है कि इन स्थलों पर भी विकल्प से सन्धि-कार्य नहीं होता। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि—

(क) असवर्ण स्वर परे होने पर पदान्त दीर्घ ई, ऊ, ॠ और ॡ के स्थान पर विकल्प से क्रमशः ह्रस्व इ, उ, ऋ और ऌ आदेश होते हैं और ह्रस्वादेश होने पर प्राप्त सन्धि-कार्य नहीं होता।

(ख) असवर्ण स्वर परे होने पर पदान्त ह्रस्व इ, उ, ऋ या ऌ को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है अर्थात् उसको निमित्त मानकर सन्धि-कार्य नहीं होता।

ध्यान रहे कि असवर्ण स्वर परे होने पर इ, उ, ऋ और ऌ के स्थान पर '१५-इको यणचि' से यणादेश प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र उसका अपवाद है। किन्तु यह अपवाद वैकल्पिक है। अतः यहाँ एक पक्ष में प्रकृतिभाव होता है और दूसरे पक्ष में यणादेश। उदाहरण के लिए 'चक्री + अत्र' में पदान्त दीर्घ ईकार के पश्चात् असवर्ण स्वर—अकार आया है। अतः प्रकृतसूत्र से इस ईकार के स्थान पर ह्रस्व-इकार हो 'चक्रि अत्र' रूप बनता है। यहाँ पुनः प्रकृतसूत्र से प्रकृतिभाव होने के कारण '१५—इकः—०' से प्राप्त यणादेश नहीं होता और 'चक्रि अत्र' रूप ही रहता है। हाँ, ह्रस्वादेश के अभाव पक्ष में 'चक्री + अत्र' में '१५—इकः—०' से ईकार को यण्—यकार हो 'चक्र् य् अत्र' = 'चक्रयत्र' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मधु + अत्र' में भी पदान्त ह्रस्व उकार के पश्चात् असवर्ण स्वर—अकार आने से एक पक्ष में सन्धि-कार्य न हो 'मधु अत्र' रूप रहता है और दूसरे पक्ष में '१५—इकः—०' से उकार को यण्—वकार हो 'मध् व् अत्र' = 'मध्वत्र' रूप बनता है।

किन्तु स्मरण रहे कि ह्रस्वादेश और प्रकृतिभाव अथवा केवल प्रकृतिभाव के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

१. इक् (ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ या ऌ) पद के अन्त में होना चाहिये— यदि इक् पद के अन्त में न होगा तो ह्रस्वादेश या प्रकृतिभाव नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'गौरी + औ' में इक्-ईकार के पश्चात् असवर्ण स्वर—औकार आया है। किन्तु यह ईकार पद के अन्त में नहीं है, अतः प्रकृतसूत्र से उसको ह्रस्वादेश नहीं होता। तब ह्रस्वादेश न होने पर '१५—इको यणचि' से यण्—यकार हो 'गौर् य्

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १४वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

औ' = 'गौयौं' रूप बनता है। इसी प्रकार 'हरि + ओस्' में भी अपदान्त ह्रस्व इकार से असवर्ण स्वर–ओकार परे होने पर पूर्ववत् यण्–यकार हो 'हर् य् ओस्' = 'हयोंस्'= 'हर्योः' रूप सिद्ध होता है। यहां ह्रस्व इकार के पदान्त न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता।

२. उस इक् के पश्चात् असवर्ण स्वर होना चाहिये :—यदि सवर्ण स्वर परे होगा तो इक् को ह्रस्वादेश या प्रकृतिभाव नहीं होगा। उदाहरणार्थ 'कुमारी+इन्द्रः' में पदान्त इक्–दीर्घ ईकार के पश्चात् सवर्ण स्वर–इकार आया है। अतः प्रकृतसूत्र से दीर्घ ईकार को ह्रस्वादेश न होगा। तब ह्रस्वादेश के अभाव में '४२–अकः सवर्णे–०' से दीर्घादेश हो 'कुमार् ई न्द्रः'='कुमारीन्द्रः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'रवि+इन्द्रः' में भी सवर्ण स्वर परे होने कारण प्रकृतिभाव न होकर दीर्घादेश हो 'रवीन्द्रः' रूप ही बनता है।

(वा०) **न समासे इति**—यह प्रकृतसूत्र पर वार्तिक है। अर्थ है—असवर्ण स्वर परे होने पर समास में पदान्त इक् (ह्रस्व या दीर्घ इ, उ, ऋ, ऌ) को ह्रस्वादेश या प्रकृतिभाव नहीं होता। वास्तव में यह प्रकृतसूत्र '५९–इकोऽसवर्णे–०' का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'वाप्यामश्वः' (वापी में अश्व)–इस विग्रह में सुप्-लोप हो 'वापी + अश्व' रूप बनता है। यहां समास होने के कारण असवर्ण स्वर–अकार परे होने पर भी पदान्त इक्–ईकार के स्थान पर ह्रस्व–इकार आदेश नहीं होता। तब ह्रस्वादेश न होने पर '१५–इको यणचि' से यण्–यकार हो 'वाप् य् अश्व'='वाप्यश्व'= 'वाप्यश्वः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सुधी + उपास्यः'* में भी समास होने के कारण पदान्त इक् को ह्रस्वादेश न होकर '१५–इकः–०' से यणादेश हो 'सुध्युपास्यः' रूप बनता है।

विशेष :—इस वार्तिक को ध्यान में रखते हुए प्रकृतसूत्र '५९–इकोऽसवर्णे–०' का अर्थ इस प्रकार होगा—'यदि समास न हुआ हो तो असवर्ण स्वर परे होने पर इक् को विकल्प से ह्रस्व आदेश होता है और ह्रस्वादेश होने पर प्राप्त सन्धि-कार्य नहीं होता।'

६०. अचो रहाभ्यां द्वे। ८। ४। ४६

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ।

६०. अच इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अचः) अच् के पश्चात् (रहाभ्याम्†) रकार और हकार से पर (द्वे) द्वित्व होता है। किन्तु यह द्वित्व किसका होता है और

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए १५ वें सूत्र से सम्बन्धित अन्तिम टिप्पणी देखिये।

† इनका विग्रह है—'रश्च हश्च इति रहौ ताभ्याम्, रहाभ्याम्'।

किस प्रकार होता है—यह जानने के लिए '६८—यरः—०' से 'यरः' और 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अच्' और 'यर्' प्रत्याहार हैं*। 'अच्' के अन्तर्गत सभी स्वर और 'यर्' के अन्तर्गत हकार को छोड़कर सभी व्यंजन आ जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्वर-वर्ण के पश्चात् रकार और हकार से पर 'यर्' (हकार-भिन्न व्यंजन) का विकल्प से द्वित्व होता है। दूसरे शब्दों में, द्वित्व के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

१. 'यर्' के पूर्व रकार या हकार होना चाहिये।

२. और उस रकार या हकार के पूर्व कोई स्वर-वर्ण होना चाहिये।

उदाहरण के लिए 'गौर्य् औ'† में 'यर्'—यकार आया है। उस यकार के पूर्व रकार है और उसके पूर्व स्वर-वर्ण—औकार। अतः प्रकृतसूत्र से इस 'यर्'—यकार को द्वित्व हो 'गौर् य् य् औ' = 'गौर्य्यौ' रूप सिद्ध होता है। किन्तु यह द्वित्व विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभावपक्ष में 'गौर्यौ' रूप ही रहता है।

६१. ऋत्यकः। ६। १। १२८

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा। ब्रह्मऋषिः, ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्—आर्च्छत्।

इति अच्सन्धिः।

६१. ऋतीति—सूत्र का पदच्छेद है—'ऋति + अकः'। अर्थ है :—(ऋति) ह्रस्व ऋकार परे होने पर (अकः) अक् के स्थान पर ··· । किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '५९—इकः—०' से 'शाकल्यस्य' तथा 'ह्रस्वः', 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' ६.१.११५ से 'प्रकृत्या' और '४३—एङः—०' से 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदान्तात्' 'अकः' का विशेषण है, अतः षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। 'अकः' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत अ, इ, उ, ऋ और ऌ—ये पांच स्वर आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्व ऋकार परे होने पर पदान्त दीर्घ या ह्रस्व अ, इ, उ, ऋ और ऌ के स्थान पर विकल्प से क्रमशः ह्रस्व अकार, इकार, उकार, ऋकार और ऌकार आदेश होते हैं और ह्रस्वादेश प्रकृति से रहते हैं अर्थात् ह्रस्वादेश होने पर सन्धि-कार्य नहीं होता। यहां ह्रस्व अ, इ आदि के स्थान पर ह्रस्वादेश करने का अभिप्राय इतना ही है कि इन स्थलों पर भी विकल्प से सन्धि-कार्य नहीं होता।‡ उदाहरण के लिए

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये।

† स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (५९) की व्याख्या देखिये।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए ५९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

'ब्रह्मा + ऋषिः' में ह्रस्व ऋकार परे होने के कारण पदान्त अक्–आकार को ह्रस्व-अकार हो 'ब्रह्म् अ ऋषिः' 'ब्रह्म ऋषिः' रूप सिद्ध होता है। यहां प्रकृतसूत्र से प्रकृतिभाव होने के कारण '२७–आद्गुणः' से प्राप्त गुणादेश नहीं होता। किन्तु यह ह्रस्वादेश विकल्प से होता है, अतः उसके अभावपक्ष में 'ब्रह्मा + ऋषिः' में '२७–आद्–०' से गुण–'अर्' हो 'ब्रह्म् अर् षिः'='ब्रह्मर्षिः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'होतृ + ऋष्यः' में पदान्त-ह्रस्व ऋकार के पश्चात् ह्रस्व ऋकार आने के कारण प्रकृति-भाव हो जाता है। प्रकृतिभाव होने से '४२–अकः सवर्णे–०' से प्राप्त दीर्घादेश नहीं होता और 'होतृ ऋष्यः' रूप ही रहता है। किन्तु यह प्रकृतिभाव विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव पक्ष में '४२–अकः–०' से सवर्णदीर्घ-हो 'होत् ॠ ष्यः' = 'होतॄष्यः' रूप सिद्ध होता है।

यहां स्मरण रहे कि पदान्त 'अक्' को ही ह्रस्वादेश होता है, अपदान्त 'अक्' को नहीं। उदाहरण के लिए 'आ + ऋच्छत्' में 'आ' अक् तो है, किन्तु पदान्त नहीं। अतः ह्रस्व ऋकार परे होने पर भी उसको ह्रस्वादेश नहीं होता। तब ह्रस्वादेश के अभावपक्ष में '१९७–आटश्च' से वृद्धि–'आर्' एकादेश हो 'आर्च्छत्' = 'आर्च्छत्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—१. यह सूत्र वास्तव में '५९–इकोऽसवर्णे–०' का पूरक है। '५९–इकः–०' सूत्र सवर्ण परे होने पर प्रवृत्त नहीं होता था और न 'अ' (ह्रस्व या दीर्घ) को ह्रस्व ही करता था। इन्हीं दो आवश्यकताओं के लिए प्रस्तुत सूत्र बनाया गया है।* अतः यह सूत्र दो अवस्थाओं में प्रवृत्त होता है :—

(क) पदान्त ह्रस्व या दीर्घ 'अ' से ह्रस्व ऋकार परे होने पर :—यहां प्रकृतसूत्र '२७–आद्गुणः' का वैकल्पिक अपवाद है।

(ख) पदान्त ह्रस्व या दीर्घ 'ऋ' से ह्रस्व ऋकार परे होने पर :—यहां प्रकृत-सूत्र '४२–अकः सवर्णे–०' का वैकल्पिक अपवाद है।

२. '५९–इकोऽसवर्णे–०' सूत्र समास में प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु प्रकृतसूत्र समास में भी प्रवृत्त हो जाता है,† यथा—'सप्तऋषीणाम्', 'सप्तर्षीणाम्'।

अच्सन्धिप्रकरण समाप्त।

---

* 'सवर्णार्थमनिगर्थं च वचनम्–' काशिका।

† 'समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः'—सिद्धान्तकौमुदी।

हल्सन्धिप्रकरणम्

६२. स्तोः[6] श्चुना[3] श्चुः[1] । ८ । ४ । ४०

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । रामश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।

६२. स्तोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(श्चुना)* शकार और चवर्ग के साथ (स्तोः) सकार और तवर्ग के स्थान पर (श्चुः) शकार और चवर्ग आदेश होते हैं । तात्पर्य यह कि यदि शकार और चवर्ग (च् , छ् , ज् , झ् , ञ्) के साथ सकार और तवर्ग (त् , थ् , द् , ध् , न्) का योग हो तो सकार और तवर्ग के स्थान पर शकार और चवर्ग आदेश होते हैं । यहाँ स् , त् , थ् , द् , ध् और न्—ये छः स्थानी तथा श् , च् , छ् , ज् , झ् और ञ्—ये छः आदेश हैं । अतः समान होने के कारण '२३—यथासंख्यमनुदेशः—०' परिभाषा से ये आदेश क्रमशः होते हैं अर्थात् स् के स्थान पर श् , त् के स्थान पर च् , थ् के स्थान पर छ् , द् के स्थान पर ज् , ध् के स्थान पर झ् और न् के स्थान पर ञ् होता है । उदाहरण के लिये 'रामस् + शेते' में सकार का योग शकार से हुआ है । अतः प्रकृतसूत्र से इस सकार के स्थान पर शकार हो 'रामश् शेते'='रामश्शेते' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'सत् + चित्' में भी चकार के योग में तकार को चकार हो 'सच् चित्'='सच्चित्' रूप बनता है ।

प्रयोगों के आधार पर इस सूत्र के विषय में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

१. यद्यपि आदेश यथासंख्य (क्रमशः) होते हैं, किन्तु योग के विषय में यथासंख्य नहीं होता अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि सकार का योग शकार से, तकार का योग चकार से, थकार का योग छकार से, दकार का योग जकार से, धकार का योग झकार से और नकार का योग ञकार से होने पर ही सकार आदि को क्रमशः शकार आदि आदेश हो ।† दूसरे शब्दों में, शकार या चवर्गस्थ किसी वर्ण के साथ

---

* यहां 'सहयुक्तेऽप्रधाने' २.३.१९ से 'सह' अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है । 'विनापि तद्योगं तृतीया' (काशिका) वचन से 'सह' शब्द के अभाव में भी तृतीया हो जाती है ।

† 'स्तोः श्चुनेति यथासंख्यमत्र नेष्यते' (काशिका) । यह बात अग्रिम सूत्र '६३—शात्' से भी स्पष्ट हो जाती है ।

योग होने पर सकारादि के स्थान पर शकारादि होते हैं। उदाहरण के लिए 'रामस्+चिनोति' में सकार का योग चकार से हुआ है। फिर भी इस सकार को शकार हो 'रामश् चिनोति' = 'रामश्चिनोति' रूप बनता है।

२. यह आवश्यक नहीं कि शकारादि परे होने पर ही सकारादि को शकारादि हो। वस्तुतः शकारादि चाहे सकारादि के आगे आवें या पीछे—दोनों ही अवस्थाओं में सकारादि के स्थान पर शकारादि होते हैं। उदाहरण के लिए 'याच्+ना' में चकार के पश्चात् नकार आया है। फिर भी यहां चकार के योग में इस नकार को ञकार हो 'याच् ञ् आ' = 'याच्ञा' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—१. उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—'चाहे स्, त्, थ्, द्, ध्, न् के पश्चात् श्, च्, छ्, ज, झ् या ञ् आवे और चाहे श्, च्, छ्, ज्, झ् या ञ् के पश्चात् स्, त्, थ्, द्, ध्, न् हो—दोनों ही अवस्थाओं में स्, त्, थ्, द्, ध्, न् के स्थान पर क्रमशः श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ् आदेश होते हैं।

२. इस सूत्र का अपवाद है—'६३–शात्'।

६३. शात् । ८ । ४ । ४४

शात्परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः।

६३. शादिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(शात्) शकार से पर...। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तोः षि' ८.४.४३ से 'तोः', '६२–स्तोः–' से 'श्चुः' तथा '६५–न पदान्तात्–०' से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्रार्थ होगा—शकार के पश्चात् तवर्ग के स्थान पर श्चुत्व नहीं होता।

वास्तव में यह सूत्र '६२–स्तोः–०' का अपवाद है। शकार का योग (पूर्व या पर) होने पर '६२–स्तोः–०' से तवर्ग के स्थान पर चवर्ग प्राप्त होता है। यहां उसी का निषेध किया गया है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—शकार के पश्चात् त्, थ्, द्, ध् और न् के स्थान पर क्रमशः च्, छ्, ज्, झ् और ञ् आदेश नहीं होते। उदाहरण के लिए 'प्रश्+नः' में शकार के पश्चात् नकार आया है। '६२–स्तोः–०' से शकार के योग में इस नकार को ञकार प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जाता है। निषेध हो जाने पर 'प्रश् नः'+'प्रश्नः' रूप ही रहता है। इसी प्रकार 'विश्+नः' में भी नकार को ञकार न हो 'विश्नः' रूप ही रहेगा।

ध्यान रहे कि यहां शकार से पर तवर्ग के स्थान पर ही चवर्ग का निषेध किया

गया है, अतः यदि तवर्ग से पर शकार होगा तो '६२–स्तोः–०' से तवर्ग के स्थान पर चवर्ग हो जावेगा। उदाहरण के लिए 'यावत् + शक्यम्' में तवर्गस्थ तकार के पश्चात् शकार आया है, अतः '६२–स्तोः–०' से तकार के स्थान पर चकार हो 'यावच् शक्यम्'='यावच्शक्यम्'* रूप बनता है।

विशेष :—१. इस सूत्र से विहित निषेध अधिकांशतः नकार के विषय में ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि त्, थ्, द् और ध् परे होने पर बहुधा '३०७–व्रश्चभ्रस्ज–०' से शकार को षकार हो जाता है।

२. '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से '६२–स्तोः–०' (८.४.४०) की दृष्टि में प्रकृतसूत्र (८.४.४४) असिद्ध होता है, किन्तु यहां वचन-सामर्थ्य से वह असिद्ध न होकर '६२–स्तोः–०' का अपवाद हो जाता है ('अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम्)।

६४. ष्टुना[३] ष्टुः[१] । ८ । ४ । ४१

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।

६४. ष्टुनेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(ष्टुना) षकार और टवर्ग के साथ (ष्टुः) षकार और टवर्ग होता है। किन्तु यह षकार और टवर्ग किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए '६२–स्तोः–०' से 'स्तोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां भी ६२वें सूत्र की भांति स्थानी और आदेश के विषय में तो यथासंख्य होता है, किन्तु योग के विषय में यथासंख्य नहीं होता। पूर्ववत् यहां भी 'योग' से पूर्व और पर—दोनों प्रकार के योगों का ग्रहण होता है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ् या ण् के योग में स्, त्, थ्, द्, ध् और न् के स्थान पर क्रमशः ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ् और ण् आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'रामस् + षष्ठः' में षकार का योग सकार से हुआ है, अतः प्रकृतसूत्र से यहाँ सकार के स्थान पर षकार हो 'रामष् षष्ठः' = 'रामष्षष्ठः' रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहां योग के विषय में यथासंख्य आवश्यक नहीं अर्थात् षकारादि आदेश के लिए यह आवश्यक नहीं कि षकार का योग सकार से या टकार का योग तकार से ही हो। उदाहरण के लिए 'रामस् + टीकते' में सकार का योग टकार से

---

* यहां '७६–शश्छोऽटि' से शकार के स्थान पर विकल्प से छकार हो 'यावच्छक्यम्' रूप भी बनता है।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६२ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

हुआ है, फिर भी यहां सकार को षकार हो 'रामष् टीकते' = 'रामष्टीकते' रूप बनता है।

इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि षकारादि सकारादि से पर ही हों। षकारादि चाहे सकारादि से पूर्व हों या पर—दोनों ही अवस्थाओं में सकारादि को षकारादि होता है। उदाहरण के लिए 'पेष् + ता' में षकार के पश्चात् तकार आया है, किन्तु फिर भी यहां षकार के योग में तकार को टकार हो 'पेष् ट् आ' = 'पेष्टा' रूप बनता है।

विशेष :—इस सूत्र के दो अपवाद हैं :—'६५–न पदान्तात्–०' और '६६–तोः षि'।

६५. न पदान्ताट्टोरनाम्* । ८ । ४ । ४२

पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट्सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्–ईट्टे। टोः किम्–सर्पिष्टमम्।

(वा०) अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

६५. न पदान्तादिति—सूत्र का पदच्छेद है—'न + पदान्तात् + टोः + अनाम्।' अर्थ है :—(पदान्तात्) पदान्त (टोः) टवर्ग से पर (अनाम्) 'नाम' को छोड़कर अन्य के स्थान पर (न) नहीं होता है। किन्तु क्या नहीं होता—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '६२–स्तोः–०' से 'स्तोः' तथा '६४–ष्टुना ष्टुः' से 'ष्टुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पदान्त (पदों के अन्त में आए हुये) टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ् या ण्) के पश्चात् स्, त्, थ्, द्, ध् और न् के स्थान पर क्रमशः ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ् और ण् आदेश नहीं होते हैं, लेकिन टवर्ग के पश्चात् 'नाम्' शब्द के नकार को णकार होता ही है। उदाहरण के लिए 'षड् + सन्तः' में डकार के योग में '६४–ष्टुना ष्टुः' से सकार को षकार प्राप्त होता है। किन्तु यह डकार पदान्त में है, अतः प्रकृतसूत्र से उसके पश्चात् सकार के स्थान पर षकार आदेश का निषेध हो जाता है। इस स्थिति में तब '७४–खरि च' से डकार को टकार हो 'षट्सन्तः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'षड् + ते' में भी टवर्ग–डकार से पर तकार के स्थान पर टकार का निषेध हो पूर्ववत् 'षट् ते' रूप बनेगा।

---

* यहां षष्ठी है। कहा भी है–'अनामिति लुप्तषष्ठीकं पदम्' (सिद्धान्तकौमुदी)।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

इस सूत्र के विषय में दो बातों का स्मरण रखना आवश्यक है :—

१. टवर्ग पदान्त में होना चाहिये—यदि टवर्ग पद के अन्त में न हो तो उसके पश्चात् सकार और तवर्ग के स्थान पर क्रमशः षकार और टवर्ग हो जाता है। उदाहरण के लिए 'ईट्+ते' में टवर्गस्थ टकार के पश्चात् तकार आया है। किन्तु यह टकार पदान्त में नहीं है, अतः यहां प्रकृतसूत्र से उससे पर तकार के स्थान पर टकार का निषेध नहीं होता। निषेध न होने पर '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार हो 'ईट् टे' = 'ईट्टे' रूप सिद्ध होता है।

२. पदान्त टवर्ग के पश्चात् ही सकार और तवर्ग के स्थान पर षकार और टवर्ग का निषेध होता है, पदान्त षकार के पश्चात् सकार और तवर्ग के विषय में यह निषेध नहीं होता। उदाहरण के लिए 'सर्पिष्+तमम्' में पदान्त षकार के पश्चात् तकार होने से '६४–ष्टुना ष्टुः' से तकार को टकार हो 'सर्पिष् ट् अमम्' = 'सर्पिष्टमम्' रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि इस सूत्र से टवर्ग का पूर्व-योग होने पर ही ष्टुत्व (सकार और तवर्ग के स्थान पर षकार और टवर्ग) का निषेध होता है, टवर्ग का पर-योग होने पर नहीं। टवर्ग परे होने पर सकार और तकार के स्थान पर क्रमशः षकार और टवर्ग तो होंगे ही। उदाहरण के लिए 'तत्+टीका' में तकार के पश्चात् टवर्गस्थ टकार आया है, अतः '६४–ष्टुना ष्टुः' से यहाँ पूर्व-तकार को टकार हो 'तट् टीका' = 'तट्टीका' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **अनामिति**—वार्तिक का अर्थ है :—पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति तथा नगरी शब्दों के नकार को छोड़कर अन्य सकार और तवर्ग के स्थान पर षकार और टवर्ग का निषेध कहना चाहिये। तात्पर्य यह कि पदान्त टवर्ग के पश्चात् नाम्, नवति और नगरी—इन तीन शब्दों के नकार को णकार होता है।

प्रकृतसूत्र '६५–न पदान्तात्–०' से केवल 'नाम्' के नकार को ही णकार प्राप्त होता है, यहाँ वार्तिक से नवति और नगरी–इन अन्य दो शब्दों के नकार के स्थान पर भी णकार हो जाता है। तीनों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१. 'षड्+नाम्'—यहां टवर्गस्थ डकार के पश्चात् 'नाम्' के नकार को '६४–ष्टुना ष्टुः' से णकार हो 'षड् णाम्' रूप बनता है। तब 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्तिक से डकार को णकार हो 'षण् णाम्' = 'षण्णाम्' रूप सिद्ध होता है।

२. 'षड्+नवतिः'—यहाँ भी टवर्ग से पर 'नवति' के नकार को '६४–ष्टुना ष्टुः' से णकार हो 'षड् णवति' रूप बनता है। तब '६८–यरः–०' से डकार को विकल्प से णकार हो 'षण् णवति' = 'षण्णवतिः' रूप सिद्ध होता है। डकार को णकार न होने पर 'षड्णवतिः' रूप ही रहता है।

३. 'षड्+नगर्यः'—यहाँ भी टवर्ग से पर 'नगर्यः' के नकार को णकार हो द्वितीय उदाहरण 'ख' की भांति 'षण्णगर्यः' और 'षड्णगर्यः'—ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष :—१. प्रस्तुत सूत्र '६४—ष्टुना ष्टुः' का अपवाद है।

२. वार्तिक को ध्यान में रखते हुए प्रकृतसूत्र '६५—न पदान्तात्-०' का स्पष्टार्थ होगा—'पदान्त टवर्ग से पर सकार और तवर्ग के स्थान पर '६४—ष्टुना ष्टुः' से प्राप्त षकार और टवर्ग नहीं होता, किन्तु पदान्त टवर्ग से पर नाम्, नवति और नगरी शब्दों के नकार को '६४—ष्टुना ष्टुः' से णकार हो जाता है।'

६६. तोः[६] षि[७] । ८ । ४ । ४३

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्षष्ठः ।

६६. तोरिति—सूत्र का अर्थ है :—(षि) षकार परे होने पर (तोः) तवर्ग के स्थान पर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए '६४—ष्टुना ष्टुः' से 'ष्टुः' तथा '६५—न पदान्तात्-०' से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा—षकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर ष्टुत्व (षकार और टवर्ग) नहीं होता।

वास्तव में यह सूत्र '६४—ष्टुना ष्टुः' का अपवाद है। '६४—ष्टुना ष्टुः' से षकार के योग में तवर्ग के स्थान पर क्रमशः टवर्ग प्राप्त होता है; यहां प्रकृतसूत्र से उसी का निषेध किया गया है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—षकार परे होने पर त्, थ्, द्, ध् और न् के स्थान पर क्रमशः ट्, ठ्, ड्, ढ् और ण् आदेश नहीं होते। उदाहरण के लिए 'सन्+षष्ठः' में षकार के योग में नकार के स्थानपर '६४—ष्टुना ष्टुः' से णकार प्राप्त होता है, किन्तु षकार परे होने के कारण प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जाने पर 'सन् षष्ठः' रूप ही रहता है।

ध्यान रहे कि षकार का पर-योग होने पर ही ष्टुत्व का निषेध होता है, पूर्व-योग होने पर नहीं। षकार से पर तवर्ग के स्थान पर टवर्ग ही होता है। उदाहरण के लिए 'पेष्+ता' में षकार के पश्चात् तकार आया है, अतः '६४—ष्टुना ष्टुः' से इस तकार को टकार हो 'पेष् ट् आ' = 'पेष्टा' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—यद्यपि '३१—पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से यह सूत्र (८.४.४३) '६४—ष्टुना ष्टुः' (८.४.४१) की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचन-सामर्थ्य से यह असिद्ध न हो उसका अपवाद होता है—'अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम्।

६७. झलां जशोऽन्ते । ८ । २ । ३९

पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

६७. झलामिति— सूत्र का अर्थ है :—(अन्ते) अन्त में (झलाम्) झलों के स्थान पर (जशः) जश् आदेश होते हैं । यहां 'पदस्य' ८.१.१६ का अधिकार प्राप्त होता है । इस 'पदस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'अन्ते' से होता है । 'झल्' और 'जश्' प्रत्याहार हैं ।* 'झल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह् और 'जश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्गों के तृतीय वर्ण आते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पदान्त (पद के अन्त में आये हुए) झल् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह्) के स्थान पर जश् (ग्, ज्, ड्, द् तथा ब्) आदेश होते हैं । ये आदेश '१७–स्थानेऽन्तरतमः'† परिभाषा से होंगे । उदाहरण के लिए 'वाक्+ईशः'‡ में पदान्त झल्–ककार को जश्–गकार हो 'वाग् ईशः'='वागीशः' रूप सिद्ध होता है ।

विशेष :—१. '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से झलों के स्थान पर जश् आदेश इस प्रकार होंगे :—

झल् वर्ण	साम्य–स्थान	जश् वर्ण
झ्, ज्, छ्, च्, श्	तालु	ज्
भ्, ब्, फ्, प्	ओष्ठ	ब्
घ्, ग्, ख्, क्, ह्§	कण्ठ	ग्
ढ्, ड्, ठ्, ट्, ष्	मूर्धा	ड्
ध्, द्, थ्, त्, स्¶	दन्त	द्

२. इस सूत्र का फल प्रायः तभी दिखलाई पड़ता है जब झलों से परे 'खर्'

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये ।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

‡ 'वाचामीशः'—यहां इस विग्रह में षष्ठीतत्पुरुष समास हो 'वाच्+ईशः' रूप बनने पर '३०६–चोः कुः' से चकार को ककार हो 'वाक्+ईशः' रूप बनता है । इस स्थिति में सुप् (षष्ठी विभक्ति) का लोप होने पर भी '१९०–प्रत्ययलोपे–०' परिभाषा से ककार पदान्त हो जाता है ।

§ हकार के स्थान पर '२५१–हो ढः' से ढकार हो जाता है ।

¶ सकार के स्थान पर '१०५–ससजुषो रुः' से 'रु' (र्) हो जाता है ।

(वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण तथा श्, ष्, स्) न हों, क्योंकि 'खर्' परे होने पर '७४—खरि च' से प्रकृतसूत्र '६७—झलाम्—०' से विहित 'जश्' के स्थान पर पुनः 'चर्' (च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष् या स्) आदेश हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'जगत्+तिष्ठति' में '६७—झलाम्—०' से पूर्व तकार को दकार हो 'जगद् तिष्ठति' रूप बनने पर पुनः '७४—खरि च' से दकार को तकार होकर 'जगत् तिष्ठति' रूप बन जाता है। इस प्रकार स्वर-वर्ण, वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ण अथवा हकार परे होने पर ही यह सूत्र चरितार्थ होता है।

३. ध्यान रहे कि प्रस्तुत सूत्र की दृष्टि में '७४—खरि च' और '६२—स्तोः—०' आदि सूत्र असिद्ध हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में यह असिद्ध नहीं है।

६८. यरो॒ऽनुनासिके॒ऽनुनासिको॑ वा। ८। ४। ४५

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः।

(वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

६८. यर इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अनुनासिके) अनुनासिक परे होने पर (यरः) यर् के स्थान पर (वा) विकल्प से (अनुनासिकः) अनुनासिक आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '६५—न पदान्तात्—०' से 'पदान्तात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'पदान्तात्' सूत्र 'यरः' का विशेषण होने से षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। 'यर्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत हकार को छोड़कर सभी व्यञ्जन आ जाते हैं। 'अनुनासिक' उस वर्ण को कहते हैं जो मुख और नासिका—दोनों की सहायता से बोला जाय।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनुनासिक परे होने पर पदान्त (पद के अन्त में आये हुए) यर् (हकार-भिन्न व्यञ्जन) के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।

अनुनासिक स्वर और व्यञ्जन—दोनों ही हो सकते हैं, किन्तु पदान्त यर् के पश्चात् अनुनासिक स्वर न दिखाई देने से यहाँ अनुनासिक से केवल व्यञ्जन अनुनासिकों का ही ग्रहण होता है। व्यञ्जन अनुनासिक पाँच हैं—ङ्, ञ्, ण्, न और म्। 'यर्' प्रत्याहार में यद्यपि वर्गस्थ वर्ण और श्, ष्, स्, र् का ग्रहण होता है, तथापि वर्गस्थ वर्णों (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग) को छोड़कर श्, ष्, स्, और र् के स्थान पर अनुनासिक के उदाहरण नहीं मिलते। इस प्रकार सूत्र

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

का व्यवहारोपयोगी अर्थ होगा—ङकार, ञकार, णकार, नकार या मकार परे होने पर पदान्त कवर्गस्थ, चवर्गस्थ, टवर्गस्थ, तवर्गस्थ और पवर्गस्थ वर्णों के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक वर्ण आदेश होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से कवर्गस्थ वर्ण (क्, ख्, आदि) के स्थान पर ङकार, चवर्गस्थ वर्ण (च्, छ्, आदि) के स्थान पर ञकार, टवर्गस्थ वर्ण (ट्, ठ्, आदि) के स्थान पर णकार, तवर्गस्थ वर्ण (त्, थ् आदि) के स्थान पर नकार और पवर्गस्थ वर्ण (प्, फ् आदि) के स्थान पर मकार आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'एतद् + मुरारिः'* में पदान्त तवर्गस्थ दकार के पश्चात् मकार आया है। अतः प्रकृत सूत्र से इस दकार के स्थान पर अनुनासिक–नकार हो 'एतन् मुरारिः' = 'एतन्मुरारिः' रूप सिद्ध होता है। किन्तु यह अनुनासिक आदेश विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'एतद्मुरारिः' रूप ही रहता है।

यहां ध्यान रहे कि पदान्त 'यर्' के स्थान पर ही अनुनासिक होता है, अपदान्त 'यर्' के स्थान पर नहीं। उदाहरणार्थ 'क्षुभ्नाति' में अनुनासिक नकार परे होने पर भी अपदान्त यर्—भकार के स्थान पर अनुनासिक नहीं होता।

(वा०) प्रत्यय इति—वार्तिक का अर्थ है :—लोक में अनुनासिकादि (जिसके आदि में अनुनासिक हो) प्रत्यय परे होने पर पदान्त यर् के स्थान पर नित्य अनुनासिक आदेश होता है।

वास्तव में यह वार्तिक प्रकृतसूत्र '६८–यरः–०' का अपवाद है। प्रकृतसूत्र से यर् को विकल्प से अनुनासिक होता है, वार्तिक से अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर नित्य अनुनासिक होगा। यहां भी प्रकृतसूत्र की भाँति 'अनुनासिक' का अभिप्राय व्यञ्जन अनुनासिकों से और 'यर्' का अभिप्राय वर्गस्थ वर्णों से है। 'भाषायाम्' कहने से यह वार्तिक लौकिक संस्कृत में ही प्रवृत्त होता है, वैदिक संस्कृत में नहीं। इस प्रकार वार्तिक का स्पष्टार्थ होगा—लोक में ङकारादि, ञकारादि, णकारादि, नकारादि या मकारादि प्रत्यय परे होने पर पदान्त कवर्गस्थ, चवर्गस्थ, टवर्गस्थ, तवर्गस्थ और पवर्गस्थ वर्णों के स्थान पर क्रमशः ङकार, ञकार, णकार, नकार और मकार आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'तद् + मात्रम्' में पदान्त तवर्गस्थ दकार के पश्चात् मकारादि प्रत्यय 'मात्रच्' आया है। अतः प्रकृत वार्तिक से इस दकार को नकार हो 'तन् मात्रम्' = 'तन्मात्रम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तद् + मयम्'

---

* 'एष मुरारिः'–इस विग्रह में कर्मधारय समास हो 'एतद् + मुरारि' रूप बनता है। यहां सुप् लोप होने पर भी '१९०–प्रत्ययलोपे–०' परिभाषा से दकार पदान्त हो जाता है।

और 'चिद्+मयम्' में भी मकारादि प्रत्यय 'मयट्' परे होने के कारण यर्—दकार को नकार हो 'तन्मयम्' और 'चिन्मयम्' रूप बनते हैं।

ध्यान रहे कि इस वार्तिक से भी सूत्रवत् पदान्त यर् को ही अनुनासिक होता है, अपदान्त यर् को नहीं। इसी से 'स्वप्नः' आदि प्रयोगों में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर भी अपदान्त यर्—पकार आदि को अनुनासिक नहीं होता।

विशेष :—'६७–झलाम्–०' की दृष्टि में यह सूत्र असिद्ध है, अतः जहां '६७–झलाम्–०' का विषय होगा, वहाँ पहले 'जश्' होगा और फिर अनुनासिक।

६९. तोर्लि । ८ । ४ । ६०

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः । तल्लयः । विद्वाँल्ँ लिखति । नस्यानुनासिको लः ।

६९. तोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(लि) लकार परे होने पर (तोः) तवर्ग के स्थान पर··· । किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'अनुस्वारस्य ययि–०' ८.४.५८ से 'परसवर्णः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लकार परे होने पर तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान पर पर-सवर्ण होता है। यहां पर लकार है। लकार का लकार के सिवा अन्य कोई सवर्ण नहीं। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि लकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर लकार ही आदेश होता है।

लकार दो प्रकार का होता है, एक अनुनासिक (लँ्) और दूसरा अननुनासिक (ल्)। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के अनुसार तवर्गस्थ अनुनासिक वर्ण के स्थान पर अनुनासिक लकार तथा अननुनासिक वर्ण के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। तवर्गों में नकार के सिवा अन्य कोई अनुनासिक नहीं है। अतः केवल नकार के स्थान पर ही अनुनासिक लकार (लँ्) होता है। शेष तवर्गस्थ वर्णों (त्, थ्, द्, ध्) के स्थान पर अननुनासिक लकार (ल्) होता है।

उदाहरण के लिए 'तद्+लयः' में तवर्गस्थ दकार के पश्चात् लकार आया है। अतः प्रकृतसूत्र से इस दकार के स्थान पर अननुनासिक लकार हो 'तल् लयः' = 'तल्लयः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'विद्वान्+लिखति' में भी लकार परे होने के कारण तवर्गस्थ नकार के स्थान पर अनुनासिक लकार (लँ्) हो 'विद्वाल्ँ लिखति' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—यह सूत्र भी '६७–झलाम्–०' की दृष्टि में असिद्ध है, अतः जहाँ '६७–झलाम्–०' का विषय हो, वहां पहले 'जश्' होकर बाद में प्रकृतसूत्र से लकार होगा, यथा—'जगत्+लीयते' = 'जगद्+लीयते' = 'जगल्लीयते।'

७०. उदः[5] स्थास्तम्भोः[6] पूर्वस्य[6] । ८ । ४ । ६१

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः ।

७०. उद इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(उदः) 'उद्' से (स्थास्तम्भोः) स्था और स्तम्भ् के स्थान पर (पूर्वस्य) पूर्व का...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुस्वारस्य ययि-०' ८.४.५८ से 'सवर्णः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उद्' उपसर्ग से स्था और स्तम्भ् के स्थान पर पूर्व का सवर्ण* आदेश होता है ।

सूत्रस्थ 'उदः' में दिग्योग में पञ्चमी है, अतः 'उद्' से किसी दिशा में स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा । वर्णों की दो ही दिशाएँ सम्भव हैं—एक पूर्व और दूसरी पर । अब यहां प्रश्न होता है कि क्या 'उद्' से पूर्वस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा अथवा 'उद्' से परस्थित स्था और स्तम्भ् को ? इसके साथ ही साथ यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या व्यवधान-रहित पूर्व या परवर्ती स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा अथवा व्यवहित पूर्व या परवर्ती स्था और स्तम्भ को ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर अग्रिम सूत्र से प्राप्त होता है—

७१. तस्मादित्युत्तरस्य । १ । १ । ६७

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ।

७१. तस्मादिति—यह परिभाषा-सूत्र है । शब्दार्थ है :—(तस्मात्) उससे (इति) ऐसा होने पर (उत्तरस्य) बाद में होने वाले के स्थान पर... । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में सूत्रस्थ 'तस्मात्' केवल पञ्चम्यन्त पद का बोधक है ।† '१६-तस्मिन्निति-०' से 'निर्दिष्टे' की अनुवृत्ति होती है । सूत्रस्थ 'तस्मात्' से अन्वित होने के कारण यह 'निर्दिष्टे' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है । इस पञ्चम्यन्त 'निर्दिष्टात्' का ग्रहण होने से 'उत्तरस्य' का अर्थ होगा—अव्यवहित (व्यवधान-रहित) पर के स्थान पर ।‡ इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का भावार्थ होगा—पञ्चम्यन्तपद से निर्दिष्ट किया हुआ अव्यवहित पर के स्थान पर होता है । तात्पर्य यह कि पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर जिस कार्य का विधान किया जाता है, वह कार्य व्यवधान-रहित पर के स्थान पर होता है, पूर्व अथवा व्यवहित-पर के स्थान

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए १० वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

† 'तस्मादिति पञ्चम्यर्थनिर्देशः' (काशिका) ।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए १६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

पर नहीं।* उदाहरण के लिए पूर्वसूत्र '७०—उदः—०' में पञ्चम्यन्त 'उद्' उपसर्ग का उच्चारण कर 'स्था' और 'स्तम्भ्' के स्थान पर पूर्वसवर्ण आदेश का विधान किया गया है, अतः सूत्र की सहायता से यह कार्य 'उद्' से पर अव्यवहित (व्यवधान-रहित) 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातुओं के ही स्थान पर होगा। उदाहरणार्थ 'उद्+स्थानम्' और 'उद्+स्तम्भनम्' में 'उद्' से पर क्रमशः 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातुओं से बने हुए 'स्थानम्' और 'स्तम्भनम्' हैं। यहां 'उद्' और 'स्थानम्' तथा 'उद्' और 'स्तम्भनम्' के बीच में कोई अन्य वर्ण भी नहीं आया है। अतः पूर्वसूत्र (७०) से 'उद्' से पर व्यवधान-रहित 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातुओं को पूर्वसवर्ण होगा। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह पूर्वसवर्ण आदेश 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातुओं के अन्त्य वर्ण के स्थान पर प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से इसका बाध हो जाता है :—

७२. आदेः[६] परस्य[६] । १ । १ । ५३

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम् । इति सस्य थः ।

७२. आदेरिति—यह भी परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(परस्य) पर के स्थान पर विहित कार्य (आदेः†) उसके आदि के स्थान पर होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '२१—अलः—०' से 'अलः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस 'अलः' का अन्वय सूत्रस्थ 'आदेः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पर के स्थान पर विधान किया गया कार्य उसके आदि अल् (वर्ण) के स्थान पर होता है। तात्पर्य यह कि पञ्चम्यन्त पद का उच्चारण कर जो आदेश पर के स्थान पर किया जाता है, वह आदेश पर के आदि वर्ण के ही स्थान पर होता है, सम्पूर्ण पर या पर के अन्त्य वर्ण के स्थान पर नहीं। उदाहरण के लिए 'उद्+स्थानम्' और 'उद्+स्तम्भनम्' में '७०—उदः—०' से परवर्ती 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातुओं के स्थान पर पूर्वसवर्ण आदेश का विधान किया गया है। प्रकृतसूत्र की सहायता से यह आदेश इन धातुओं के आदि वर्ण—सकार के ही स्थान पर होगा। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) परिभाषा से गुणकृत सादृश्य के

---

* इस सूत्र की सहायता से पूर्वसूत्र '७०—उदः—०' का अर्थ होगा—"—'उद्' उपसर्ग से पर व्यवधान-रहित 'स्था' और 'स्तम्भ्' धातुओं के स्थान पर पूर्वसवर्ण आदेश होता है।"

† "आदेशविधौ 'परस्य' इति पष्ठ्यन्ततयोपस्थितिरेवास्योपस्थितौ लिङ्गम्। अत एवादिरपि प्रत्यासत्त्या परत्वेन निर्दिष्टस्यैवेति बोध्यम्—" सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (पाद-टिप्पणी)।

आधार पर विवार, श्वास, अघोष, और महाप्राण यत्नवाले तकार के स्थान पर उसी प्रकार का पूर्वसवर्ण—थकार हो जाता है और इस प्रकार रूप बनते हैं :—'उद् थ् थानम्' और 'उद् थ् तम्भनम्'। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है :—

७३. झरो[1] झरि[2] सवर्णे[3] । ८ । ४ । ६५

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि ।

७३. झर इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(सवर्णे) सवर्ण (झरि) झर् परे होने पर (झरः) झर् का ... । किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'झयो होः–०' ८.४.६२ से 'अन्यतरस्याम्' तथा 'हलो यमां–०' ८.४.६४ से 'हलः' और 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हलः' में पञ्चमी विभक्ति है। सूत्रस्थ 'झर्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स् आते हैं।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सवर्ण† झर् परे होने पर हल् (व्यञ्जन-वर्ण) के पश्चात् झर् का (अन्यतरस्याम्) विकल्प से लोप होता है। दूसरे शब्दों में, झर् का लोप होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

१. झर् के पश्चात् सवर्ण झर् होना चाहिये :—उदाहरण के लिए 'तर्ता' में झर्—षकार के पश्चात् झर्—तकार तो आया है, किन्तु यह झर्—तकार सवर्ण नहीं है। अतः प्रकृतसूत्र से उसके परे होने पर भी झर्—षकार का लोप नहीं होता।

२. उस झर् के पूर्व कोई व्यंजन होना चाहिये :—उदाहरणार्थ 'अत्तम्' में झर्—तकार के पश्चात् सवर्ण झर्—तकार आया है, किन्तु इस झर्—तकार के पूर्व स्वर—अकार है, व्यंजन नहीं। अतः प्रकृतसूत्र से पूर्व तकार का लोप नहीं होता।

ये दोनों ही बातें 'उद् थ् थानम्' और 'उद् थ् तम्भनम्' में मिलती हैं। यहां झर्—थकार के पश्चात् एक स्थान पर सवर्ण झर्—थकार और दूसरे स्थान पर सवर्ण झर्—तकार आया है। पुनः इस झर्—थकार के पूर्व व्यञ्जन दकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस थकार का लोप हो 'उद् थानम्' और 'उद् तम्भनम्' रूप बनते हैं। किन्तु यह लोप विकल्प से ही होता है, अतः लोपाभावपक्ष में 'उद् थ् थानम्' और 'उद् थ् तम्भनम्' रूप ही रहेंगे।

विशेष :—१. ध्यान रहे कि यहां निमित्त और स्थानियों में यथासंख्य नहीं होता अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि झकार का झकार परे होने पर या जकार का

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

जकार परे होने पर ही लोप हो।* झर् से पर जो झर् हो, उसे सवर्ण होना चाहिये—बस इतना ही आवश्यक है। यह बात उपर्युक्त 'उद् थ् तम्भनम्'='उद् तम्भनम्' उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाती है।

२. '१०—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' परिभाषा से झर् के पश्चात् सवर्ण झर् इस प्रकार होंगे :—

स्थानी (जिन वर्णों का लोप होगा)	निमित्त (जिन वर्णों के परे होने पर)
क्, ख्, ग्, घ्	क्, ख्, ग् या घ्
च्, छ्, ज्, झ्	च्, छ्, ज् या झ्
ट्, ठ्, ड्, ढ्	ट्, ठ्, ड् या ढ्
त्, थ्, द्, ध्	त्, थ्, द् या ध्
प्, फ्, ब्, भ्	प्, फ्, ब् या भ्
श्	श्
ष्	ष्
स्	स्

७४. खरि च । ८ । ४ । ५५

खरि झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः—उत्थानम्, उत्तम्भनम् ।

७४. खरि इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(च) और (खरि) खर् परे होने पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झलां जश्झशि' ८.४.५३ से 'झलाम्' तथा 'अभ्यासे चर्च' ८.४.५४ से वचन-विपरिणाम करके 'चरः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'झल्', 'खर्' और 'चर्'—ये तीनों ही प्रत्याहार हैं। झल् प्रत्याहार के अन्तर्गत वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड़कर सभी व्यंजन आ जाते हैं। 'खर' के अन्तर्गत वर्गों के द्वितीय और प्रथम वर्ण तथा श्, ष्, स् और 'चर' के अन्तर्गत वर्गों के प्रथमवर्ण और श्, ष्, स् आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा :—खर् (क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, श्, ष् या स्) परे होने पर झल् (ङ्, ञ्, ण्, न् और म् को छोड़कर अन्य व्यञ्जन) के स्थान पर चर् (क्, च्, ट्, त्, प्, श्, ष् और स्) आदेश होते हैं। ये आदेश '२१—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के अनुसार होंगे।

---

* 'सवर्णग्रहणमानर्थक्यादिह सङ्ख्यातानुदेशो न भवति । सवर्णमात्रे लोपो विधीयते' (काशिका)।

उदाहरण के लिए 'उद् थानम्' और 'उद् तम्भनम्' में क्रमशः खर् थकार और तकार परे होने से झल्–उकारोत्तरवर्ती दकार के स्थान पर चर्–तकार हो 'उत् थानम्' = 'उत्थानम्' और 'उत् तम्भनम्' = 'उत्तम्भनम्' रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'उद् थ् थानम्' और 'उद् थ् तम्भनम्' में भी खर्–थकार परे होने के कारण उकारोत्तरवर्ती दकार को तकार हो क्रमशः 'उत् थ् थानम्'='उत्थ्थानम्' और 'उत् थ् तम्भनम्' = 'उत्थ्तम्भनम्' रूप बनेंगे।

विशेष :—१. यहां प्रश्न हो सकता है कि 'उत्थ्थानम्' और 'उत्थ्तम्भनम्' में तकारोत्तरवर्ती झल्–थकार के पश्चात् क्रमशः खर् थकार और तकार आये हैं, अतः प्रकृतसूत्र से इस थकार को चर्–तकार क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि प्रकृतसूत्र '७४–खरि च' की दृष्टि में '७०–उदः–०' सूत्र असिद्ध है, अतः उसके द्वारा तकार के स्थान पर किया हुआ थकार प्रकृत सूत्र की दृष्टि में न होने के समान है। फिर जब प्रकृतसूत्र की दृष्टि में झल्–थकार का अस्तित्व ही नहीं रहता, तब उसके स्थान पर तकार होने का प्रश्न भी नहीं उठता।

२. '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से झल् के स्थान पर चर् आदेश इस प्रकार होंगे :—

झल् (वे वर्ण जिनके स्थान पर आदेश होंगे)	साम्य-स्थान	चर् (आदेश होनेवाले वर्ण)
क्, ख्, ग्, घ्	कंठ	क्
च्, छ्, ज्, झ्	तालु	च्
ट्, ठ्, ड्, ढ्	मूर्धा	ट्
त्, थ्, द्, ध्	दन्त	त्
प्, फ्, ब्, भ्	ओष्ठ	प्

शेष श्, ष्, स् के स्थान पर क्रमशः श, ष्, स् ही आदेश होते हैं और हकार को '२५१–हो ढः' से ढकार हो जाता है।

७५. झयो होऽन्यतरस्याम्। ८।४।६२

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः—वाग्घरिः, वाग्हरिः।

७५. झय इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(झयः) झय् से पर (हः) हकार के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से...। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '७०–उदः–०' से 'पूर्वस्य' और 'अनुस्वारस्य ययि–०'

८.४.५८ से 'सवर्णः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'झय्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण के पश्चात् हकार के स्थान पर विकल्प से पूर्व वर्ण का सवर्ण होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से गुणकृत सादृश्य के आधार पर संवार, नाद, घोष और महाप्राण यत्नवाले हकार के स्थान पर उसी प्रकार का वर्गों का चतुर्थ वर्ण आदेश होगा। दूसरे शब्दों में क्, ख्, ग् या घ् के पश्चात् हकार के स्थान पर घकार; च्, छ्, ज् या झ् के पश्चात् हकार के स्थान पर झकार; ट्, ठ्, ड् या ढ् के पश्चात् हकार के स्थान पर ढकार; त्, थ्, द् या ध् के पश्चात् हकार के स्थान पर धकार और प्, फ्, ब् या भ् के पश्चात् हकार के स्थान पर भकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'वाग्+हरिः' में गकार के पश्चात् हकार के स्थान पर घकार हो 'वाग् घ् अ रिः' = 'वाग्घरिः' रूप बनता है। किन्तु यह आदेश विकल्प से होता है, अतः उसके अभाव में 'वाग्हरिः' रूप ही रहता है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :—

१. 'अज्+हीनम्'=अज्झीनम्, अज्हीनम्।
२. 'मधुलिड्+हसति' = मधुलिड् ढसति, मधुलिड् हसति।
३. 'तद्+हानिः'=तद्धानिः, तद्हानिः।
४. 'त्रिष्टुब्+हसति'=त्रिष्टुब् भसति, त्रिष्टुब् हसति।

विशेष :—ध्यान रहे कि '६७–झलां–०' की दृष्टि में प्रकृतसूत्र असिद्ध है, अतः जहां दोनों सूत्रों का विषय होता है, वहां पर पहले '६७–झलाम्–०' सूत्र प्रवृत्त होता है और बाद में प्रकृतसूत्र।

७६. 'शश्छोऽटि' । ८ । ४ । ६३

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद्+शिवः' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' इति जकारस्य चकारः—तच्छिवः, तच् शिवः।

(वा०) छत्वममीति वाच्यम्। तच्छ्लोकेन।

७६. शश्छोऽटीति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अटि) अट् परे होने पर (शः) शकार के स्थान पर (छः) छकार आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '७५–झयः–०' से 'झयः' और 'अन्यतरस्याम्' तथा 'वा पदान्तस्य' ८.४.५९ से 'पदान्तस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'पदान्तस्य' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो 'झयः' का विशेषण बनता है।* 'झय्'

* 'इह पदान्तादित्यनुवर्त्य पदान्ताज्झय इति व्याख्येयम्' —सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

और 'अट्'—ये दोनों प्रत्याहार हैं।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अट् (सभी स्वर और ह् , य् , व् , र्) परे होने पर पदान्त झय् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण) के पश्चात् शकार के स्थान पर विकल्प से छकार आदेश होता है। दूसरे शब्दों में, शकार के स्थान पर छकार होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं :—

१. शकार के पश्चात् कोई स्वर या ह् य् व् अथवा र् होना चाहिये।

२. और उस शकार के पूर्व पद के अन्त में आनेवाले किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण होना चाहिये।

उदाहरण के लिए 'तद् + शिवः' में '६२—स्तोः—०' से दकार को जकार हो 'तज् शिवः' रूप बनने पर '७८—खरि च' से जकार को चकार हो 'तच् शिवः' रूप बनता है। इस स्थिति में पदान्त झय्—चकार के बाद शकार आया है और उस शकार के पश्चात् अट्—इकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस शकार के स्थान पर छकार हो 'तच् छ् इ वः' = 'तच्छिवः' रूप सिद्ध होता है। किन्तु यह छकारादेश विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'तच् शिवः' = 'तच्शिवः' रूप ही रहता है।

(वा०) छत्वममीति—यह प्रकृतसूत्र पर वार्तिक है। अर्थ है :—'अम् परे होने पर पदान्त झय् से पर शकार के स्थान पर विकल्प से छकार हो'—ऐसा कहना चाहिये। यहां 'अम्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत सभी स्वर-वर्ण, ह् , य् , व् , र् , ल् , ञ् , ङ् , ण् , न् और म् आते हैं।

वास्तव में यह वार्तिक प्रकृतसूत्र का विस्तारक मात्र है। प्रकृतसूत्र से 'अट्' परे होने पर ही शकार को छकार आदेश होता है और इस प्रकार 'तच् + श्लोकेन' = 'तच्छ्लोकेन' आदि रूप सिद्ध नहीं होते। इस कमी को दूर करने के ही लिए वार्तिककार ने सूत्रस्थ 'अटि' के स्थान पर 'अमि' रखने को कहा है। 'अम् परे होने पर' कहने से सभी रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार वार्तिक की सहायता से प्रकृतसूत्र का व्यवहारोपयोगी अर्थ होगा—'अम् (सभी स्वर-वर्ण और ह् , य् , व् , र् , ल् , ङ् , ञ् , ण् , न् तथा म्) परे होने पर पदान्त झय् के पश्चात् शकार के स्थान पर विकल्प से छकार होता है।' उदाहरण के लिए 'तद् + श्लोकेन' में '६२—स्तोः—०' से दकार को जकार हो 'तज् श्लोकेन' रूप बनने पर '७४—खरि च' से जकार को चकार हो 'तच् + श्लोकेन' रूप बनता है। इस स्थिति में पदान्त झय्—चकार के पश्चात् शकार आया है और उस शकार के पश्चात् अम्—लकार भी है। अतः प्रकृत वार्तिक से इस शकार को छकार हो 'तच् छ्लोकेन' = 'तच्छ्लोकेन' रूप सिद्ध होता है। छकारादेश के अभावपक्ष में 'तच्श्लोकेन' रूप ही रहता है।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये।

ध्यान रहे कि पदान्त झय् से पर शकार को ही छकार होता है, अपदान्त झय् से पर शकार को नहीं। उदाहरणार्थ 'विरप्शम्' में झय्–पकार के पश्चात् शकार है और उस शकार के पश्चात् अम्–मकार भी। फिर भी झय्–पकार के पदान्त में न होने के कारण इस शकार को छकार नहीं होता।

विशेष :—प्रकृतसूत्र '६२–स्तोः–०' और '७४–खरि च'—दोनों की दृष्टि में असिद्ध है। इन दोनों में भी '६२–स्तोः–०' की दृष्टि में '७४–खरि च' असिद्ध है, अतः सबसे पहले '६२–स्तोः–०', फिर '७४–खरि च' और तदनन्तर प्रकृतसूत्र (७६) प्रवृत्त होगा।

७७. मोऽनुस्वारः । ८ । ३ । २३

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे।

७७. म इति—सूत्र का अर्थ है :—(मः) मकार के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार होता है। किन्तु यह आदेश किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'हलि सर्वेषाम्' ८.३.२२ से 'हलि' तथा अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'मः' 'पदस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'अनुस्वार' वर्णों के ऊपर रखे हुए बिन्दु (ं) को कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हल् (व्यञ्जन) परे होने पर मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार (ं) आदेश होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह अनुस्वार पद के अन्त्य वर्ण–मकार के स्थान पर ही होता है। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यञ्जन-वर्ण परे हो तो पद के अन्त में आनेवाले मकार के स्थान पर अनुस्वार होता है। उदाहरण के लिए 'हरिम् वन्दे' में पदान्त मकार है और उसके पश्चात् व्यञ्जन वकार भी आया है, अतः प्रकृतसूत्र से इस मकार के स्थान पर अनुस्वार हो 'हरिं वन्दे' रूप बनता है।

मकार के स्थान पर अनुस्वार होने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है :—

१. मकार के पश्चात् कोई व्यञ्जन होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'तम्+आगच्छति' में पदान्त मकार तो है, किन्तु उसके पश्चात् स्वर–आकार है, व्यञ्जन नहीं। अतः यहाँ मकार को अनुस्वार न हो 'तमागच्छति' रूप बनता है।

२. उस मकार को पद के अन्त में होना चाहिये—उदाहरणार्थ 'गम्यते' में मकार के पश्चात् व्यञ्जन–यकार तो है, किन्तु यह मकार पदान्त नहीं है। अतः प्रकृतसूत्र से इस अपदान्त मकार को अनुस्वार नहीं होता और 'गम्यते' रूप ही बनता है।

७८. 'नश्चाऽपदान्तस्य झलि' । ८ । ३ । २४

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि, आक्रंस्यते। झलि किम्-मन्यसे।

७८. नश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(झलि) झल् परे होने पर (अपदान्तस्य) अपदान्त (नः) नकार के स्थान पर (च) और...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '७७–मोऽनुस्वारः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'मः' का अन्वय 'अपदान्तस्य' से होता है। 'झल्' प्रत्याहार है और इसके अन्तर्गत वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह् आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वर्गों का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण अथवा श्, ष्, स् या ह् परे होने पर अपदान्त नकार और अपदान्त मकार के स्थान पर अनुस्वार (ं) आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'यशान्+सि' में अपदान्त नकार के पश्चात् झल्-सकार आया है, अतः प्रकृतसूत्र से इस नकार को अनुस्वार हो 'यशांसि' रूप बनता है। इसी प्रकार 'आक्रम् स्यते' में भी झल्–सकार परे होने के कारण अपदान्त मकार को अनुस्वार हो 'आक्रंस्यते' रूप बनेगा।

ध्यान रहे कि झल् परे होने पर ही यह आदेश प्रवृत्त होगा, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ 'मन्यसे' में अपदान्त नकार तो है, किन्तु उसके पश्चात् झल्-प्रत्याहार का वर्ण नहीं है। अतः इस नकार को प्रकृतसूत्र से अनुस्वार नहीं होता और 'मन्यसे' रूप ही रहता है।

विशेष :—यह सूत्र मकार के विषय में पूर्वसूत्र '७७–मोऽनुस्वारः' का अपवाद है। पूर्वसूत्र (७७) से व्यञ्जन परे होने पर पदान्त मकार के ही स्थान पर अनुस्वार का विधान किया गया है, किन्तु इस सूत्र से झल् परे होने पर अपदान्त मकार के स्थान पर भी अनुस्वार प्राप्त होता है। अतः झल् परे होने पर तो पदान्त तथा अपदान्त–दोनों ही प्रकार के मकार के स्थान पर अनुस्वार होगा, झल् के अतिरिक्त अन्य य्, व्, र्, ल्, ञ्, ङ्, ण्, न् और म् व्यञ्जन परे होने पर पदान्त मकार के ही स्थान पर अनुस्वार होगा। इस प्रकार दूसरे शब्दों में इन दोनों सूत्रों का मिला-जुला अर्थ इस प्रकार होगा :—

(क) झल् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह्) परे होने पर पदान्त और अपदान्त—दोनों प्रकार के मकार के स्थान पर अनुस्वार होता है। हां, य्, व्, र्, ल्, ङ्, ञ्, ण्, न् और म् परे होने पर केवल पदान्त मकार के ही स्थान पर अनुस्वार होता है।

(ख) झल् परे होने पर केवल अपदान्त नकार के स्थान पर अनुस्वार होता है, पदान्त नकार के स्थान पर नहीं। उदाहरण के लिए 'राजन् भुङ्क्ष्व' में झल्—भकार परे होने पर भी पदान्त नकार को अनुस्वार नहीं होता और 'राजन् भुङ्क्ष्व' रूप ही रहता है।

७९. अनुस्वारस्य[६] ययि परसवर्णः[१] । ८ । ४ । ५८

स्पष्टम्। शान्तः।

७९. अनुस्वारस्येति—सूत्र का अर्थ है:—(ययि) यय् परे होने पर (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (परसवर्णः) परसवर्ण आदेश होता है। 'यय्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत वर्गों के समस्त वर्ण और य्, व्, र्, ल् आते हैं। '१७-स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से अनुस्वार के स्थान पर वर्गस्थ वर्ण परे होने पर तद्वर्गीय पञ्चम वर्ण, य् परे होने पर अनुनासिक यँ, व् परे होने पर अनुनासिक वँ और ल् परे होने पर अनुनासिक लँ आदेश होता है। 'र्' का कोई अनुनासिक रूप नहीं होता, अतः रकार परे होने पर अनुनासिक के स्थान पर परसवर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता।* साथ ही ध्यान रहे कि यह सूत्र अपदान्त अनुस्वार के विषय में ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि पदान्त अनुस्वार के विषय में तो अग्रिमसूत्र '८०—वा पदान्तस्य' प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—अपदान्त अनुस्वार के स्थान पर कवर्गस्थ वर्ण परे होने पर ङकार, चवर्गस्थ वर्ण परे होने पर ञकार, टवर्गस्थ वर्ण परे होने पर णकार, तवर्गस्थ वर्ण परे होने पर नकार, पवर्गस्थ वर्ण परे होने पर मकार, ल् परे होने पर लँ, व् परे होने पर वँ और य् परे होने पर यँ आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'शाम्+तः' में '७८—नश्चापदान्तस्य—०' से मकार को अनुस्वार हो 'शां+तः' रूप बनता है। यहां तवर्गस्थ तकार परे होने के कारण अपदान्त अनुस्वार के स्थान पर नकार हो 'शान् तः' = 'शान्तः' रूप सिद्ध होता है। अन्य उदाहरण इस प्रकार है:—

(क) अन्+कितः = अं+कितः' = 'अङ्कितः' (कवर्गस्थ वर्ण परे होने पर)।
(ख) अन्+चितः = अं+चितः = 'अञ्चितः' (चवर्गस्थ वर्ण परे होने पर)।
(ग) कुन्+ठितः = कुं+ठितः = 'कुण्ठितः' (टवर्गस्थ वर्ण परे होने पर)।
(घ) गुन्+फितः = गुं+फितः = 'गुम्फितः' (पवर्गस्थ वर्ण परे होने पर)।
(अपदान्त अनुस्वार से पर य्, व् और ल् के उदाहरण नहीं मिलते।)

विशेष:—१. ध्यान रहे कि '७८—नश्चापदान्तस्य—०' से पहले अपदान्त नकार

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ११ वें सूत्र की व्याख्या का 'विशेष' वक्तव्य देखिये।

या मकार के स्थान पर अनुस्वार होता है और फिर प्रकृतसूत्र से उस अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण।

२. '७८—नश्चापदान्तस्य-०' से हुए अनुस्वार के स्थान पर सामान्यतया प्रकृतसूत्र '७९—अनुस्वारस्य-०' से परसवर्ण हो जाता है, केवल श्, ष्, स् और ह् परे होने पर ही अनुस्वार रहता है।

८०. वा पदान्तस्य । ८ । ४ । ५९

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

८०. वेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(पदान्तस्य) पदान्त के स्थान पर (वा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है और किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण पूर्वसूत्र '७९—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अनुस्वारस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'पदान्तस्य' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यय् परे होने पर पदान्त अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण आदेश होता है।* यहाँ भी पूर्वसूत्र (७९) की भाँति पदान्त अनुस्वार के स्थान पर कवर्गस्थ वर्ण परे होने पर ङकार, चवर्गस्थ वर्ण परे होने पर ञकार, टवर्गस्थ वर्ण परे होने पर णकार, तवर्गस्थ वर्ण परे होने पर नकार, पवर्गस्थ वर्ण परे होने पर मकार, य् परे होने पर यँ्, व् परे होने पर वँ् और ल् परे होने पर लँ् आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'त्वम्+करोषि' में '७७—मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार हो 'त्वं+करोषि' रूप बनता है। यहाँ कवर्गस्थ वर्ण—ककार परे होने के कारण प्रकृतसूत्र से इस पदान्त अनुस्वार को ङकार हो 'त्वङ् करोषि' = 'त्वङ्करोषि' रूप सिद्ध होता है। किन्तु यह परसवर्ण आदेश विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'त्वं करोषि' रूप ही रहता है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(क) आम्रम्+चूषति = आम्रं चूषति = 'आम्रञ्चूषति, आम्रं चूषति' (चवर्ग परे होने पर)।

(ख) ऊर्ध्वम्+डीयते = ऊर्ध्वं डीयते = 'ऊर्ध्वण्डीयते, ऊर्ध्वं डीयते' (टवर्ग परे होने पर)।

(ग) नदीम्+तरति = नदीं तरति = 'नदीन्तरति, नदीं तरति' (तवर्ग परे होने पर)।

(घ) शिवम्+भजति = शिवं भजति = 'शिवम्भजति, शिवं भजति' (पवर्ग परे होने पर)।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (७९) की व्याख्या देखिये।

(ङ) दानम् + यच्छति = दानं यच्छति = 'दानयँ् यच्छति, दानं यच्छति' (यकार परे होने पर)।

(च) 'हरिम् + वन्दे' = हरिं वन्दे = 'हरिवँ् वन्दे, हरिं वन्दे' (वकार परे होने पर)।

(छ) अहम् + लिखामि = अहं लिखामि = 'अहलँ् लिखामि, अहं लिखामि' (लकार परे होने पर)।

विशेष :—१. '७७–मोऽनुस्वारः' से विहित अनुस्वार के स्थान पर सामान्यतया प्रकृतसूत्र से विकल्प से परसवर्ण हो जाता है, किन्तु श्, ष् , स् और ह् परे होने पर अनुस्वार ही रहता है।

२. पहले '७७–मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार होता है और तदनन्तर प्रकृत सूत्र (८०) से परसवर्ण।

८१. मो[1] राजि[7] समः[5] क्वौ[7] । ८ । ३ । २५

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

८१. मो राजीति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(क्वौ)* क्विप्-प्रत्ययान्त (राजि) 'राज्' धातु परे होने पर (समः) सम् के स्थान पर (मः) मकार आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '७७–मोऽनुस्वारः' से षष्ठयन्त 'मः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस 'मः' का अन्वय सूत्रस्थ 'समः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि क्विप्-प्रत्ययान्त 'राज्' धातु परे हो तो 'सम्' के मकार के स्थान पर मकार ही आदेश होता है।

ध्यान रहे कि अव्यय होने के कारण 'सम्' पद-संज्ञक है। अतः '७७–मोऽनुस्वारः' से उसके मकार के स्थान पर अनुस्वार प्राप्त होता है। प्रकृतसूत्र से उसका बाध कर इस मकार के स्थान पर मकार का ही विधान किया गया है। अभिप्राय यह कि क्विप्-प्रत्ययान्त 'राज्' धातु परे होने पर 'सम्' के मकार के स्थान पर मकार ही रहता है, अनुस्वार नहीं होता।

उदाहरण के लिए 'सम् + राट्' में रकार परे होने के कारण '७७–मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार प्राप्त होता है। किन्तु यह 'राट्' 'राज्' धातु का क्विप्-प्रत्ययान्त रूप है,† अतः उसके परे होने पर प्रकृतसूत्र से मकार के स्थान पर प्राप्त

---

* 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से यहां तदन्त-विधि हो जाती है।

† ध्यान रहे कि 'सत्सूद्विष–०' ३.२.६१ सूत्र से 'राज्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। 'क्विप्' होने पर उसका सर्वापहार (लोप), '३०७–व्रश्च–०' से 'राज्' के जकार को षकार, '६७–झलाम्–०' से षकार को डकार और पुनः '१४६–वाऽवसाने' से डकार को टकार हो 'राट्' रूप बनता है।

अनुस्वार आदेश न होकर मकार ही रहता है। इस प्रकार अनुस्वार आदेश न होने पर 'सम् राट्'='सम्राट्' रूप सिद्ध होता है।

८२. हे मपरे वा। ८।३।२६

मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति।

(वा०) यवलपरे यवला वा। किय्ँ ह्यः, किं ह्यः। किव्ँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किल्ँ ह्लादयति, किं ह्लादयति।

८२. हे मपरे इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(मपरे) मकारपरक (हे) हकार परे होने पर (वा) विकल्प से...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए '७७–मोऽनुस्वारः' से 'मः' तथा '८१–मो राजि–०' से 'मः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—मकारपरक (जिसके पश्चात् मकार हो, ऐसा) हकार परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प से मकार ही होता है। यह सूत्र भी '७७–मोऽनुस्वारः' का अपवाद है। किन्तु यह अपवाद वैकल्पिक है। अतः मकारपरक हकार परे होने पर एक पक्ष में मकार के स्थान पर मकार ही रहता है, और दूसरे पक्ष में '७७–मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार हो जाता है। उदाहरण के लिए 'किम्+ह्मलयति' में मकार के पश्चात् हकार आया है और उस हकार के पश्चात् मकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस मकार को मकार ही रहता है और रूप बनता है—'किम् ह्मलयति'='किम्ह्मलयति'। दूसरे पक्ष में मकार को '७७–मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार हो 'किं ह्मलयति' रूप बनता है।

(वा०) यवलपरे इति—यह प्रकृतसूत्र पर वार्तिक है। अर्थ है :—यकारपरक हकार, वकारपरक हकार और लकारपरक हकार परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प से यकार, वकार और लकार आदेश होते हैं। '२३–यथासंख्यम्–०' परिभाषा से ये आदेश यथाक्रम होते हैं अर्थात् यकारपरक हकार परे होने पर मकार के स्थान पर यकार, वकारपरक हकार परे होने पर मकार के स्थान पर वकार और लकार-परक हकार परे होने पर मकार के स्थान पर लकार आदेश होता है। '१७–स्थानेऽन्त-रतमः' परिभाषा से अनुनासिक मकार के स्थान पर अनुनासिक यकार, वकार और लकार ही आदेश होंगे। किन्तु ये आदेश विकल्प से होते हैं, अतः पक्ष में '७७–मोऽनुस्वारः' से मकार के स्थान पर अनुस्वार भी होता है।

उदाहरण के लिए 'किम्+ह्यः' में मकार के पश्चात् हकार आया है और उस हकार के पश्चात् यकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस मकार के स्थान पर अनुनासिक 'यँ' हो 'किय्ँ ह्यः' रूप सिद्ध होता है। किन्तु यह कार्य विकल्प से ही होता है, अतः

उसके अभाव में '७७—मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार हो 'किं ह्यः' रूप बनता है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(क) किम्+ह्वलयति=किव्ँ ह्वलयति, किं ह्वलयति (वकारपरक हकार परे होने पर)।

(ख) किम्+ह्लादयति=किल्ँ ह्लादयति, किं ह्लादयति (लकारपरक हकार परे होने पर)।

८३. नपरे नः । ८ । ३ । २७

नपरे हकारे मस्य नो वा । किन्ह्नुते, किं ह्नुते ।

८३. नपर इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(नपरे) नपरक हकार परे होने पर (नः) नकार होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर और किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '७७—मोऽनुस्वारः' से 'मः' तथा '८२=हे मपरे वा' से 'हे' और 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नपरक या नकारपरक (जिसके पश्चात् नकार हो, ऐसा) हकार परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प से नकार आदेश होता है।

यह सूत्र '७७—मोऽनुस्वारः' का अपवाद है, किन्तु यह अपवाद वैकल्पिक है। अतः नकारपरक हकार परे होने पर मकार के स्थान पर एक पक्ष में प्रकृतसूत्र से नकार होता है और दूसरे पक्ष में '७७—मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार। उदाहरण के लिए 'किम्+ह्नुते' में मकार के पश्चात् हकार आया है और उस हकार के पश्चात् नकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस मकार को नकार हो 'किन् ह्नुते' = 'किन्ह्नुते' रूप बनता है। नकारादेश के अभावपक्ष में '७७—मोऽनुस्वारः' से मकार को अनुस्वार हो 'किं ह्नुते' रूप सिद्ध होता है।

८४. डः सि धुट् । ८ । ३ । २९

डात्परस्य सस्य धुड् वा ।

८४. ड इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(डः) डकार से पर (सि) सकार

---

* सूत्र में पञ्चमी और सप्तमी—इन दोनों विभक्तियों का प्रयोग होने से परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि पञ्चमीनिर्देश '७१—तस्मात्–०' परिभाषा से पर को और सप्तमीनिर्देश '१६—तस्मिन्–०' परिभाषा से पूर्व को 'धुट्' का विधान करता है। इस स्थिति में 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से पञ्चमीनिर्देश ही बलवान् माना जाता है और सप्तमीनिर्देश षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिये।

का अवयव (धुट्) धुट् होता है। यहाँ '८२–हे मपरे वा' से 'वा' की अनुवृत्ति होती है। 'धुट्' में उकार और टकार इत्संज्ञक हैं, केवल धकार ही शेष रहता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि डकार के पश्चात् सकार आवे तो सकार का अवयव विकल्प से 'धुट्' (ध्) होता है। उदाहरण के लिए 'षड्+सन्तः' में डकार के पश्चात् सकार आया है, अतः प्रकृतसूत्र से 'धुट्' (ध्) इस सकार का अवयव बनता है। किन्तु यह 'धुट्' सकार का आद्यवयव होगा या अन्तावयव—यह शंका उत्पन्न हो जाती है। इस शंका का समाधान अग्रिम सूत्र से होता है :—

८५. आद्यन्तौ[१] टकितौ[२] । १ । १ । ४६

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। षट्त्सन्तः, षट्सन्तः।

८५. आद्यन्ताविति—यह परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(टकितौ)* टित् और कित् (आद्यन्तौ†) आद्यवयव और अन्तावयव होते हैं। '२३–यथासंख्यम्–०' परिभाषा से टित् (जिसका टकार इत्संज्ञक हो) आद्यवयव और कित् (जिसका ककार इत्संज्ञक हो) अन्तावयव होता है। तात्पर्य यह कि टित् और कित् यदि किसी के अवयव विधान किये जावें तो टित् उसका आद्यवयव और कित् उसका अन्तावयव होता है। उदाहरण के लिए 'षड्+सन्तः' में '८४–डः सि–०' से 'धुट्' (ध्) सकार का अवयव विधान किया गया है। यह 'धुट्' टित् है, क्योंकि इसका टकार इत्संज्ञक है। अतः प्रकृतसूत्र से यह सकार का आद्यवयव होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'षड् ध् सन्तः'। इस स्थिति में '७४–खरि च' से धकार को तकार हो 'षड् त् सन्तः' रूप बनने पर पुनः '७४–खरि च' से डकार को टकार होकर 'षट् त् सन्तः' = 'षट्त्सन्तः' रूप सिद्ध होता है। यहाँ ध्यान रहे कि 'धुट्' आगम विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'षड् सन्तः' में '७४–खरि च' से डकार को टकार हो 'षट् सन्तः' रूप बनता है।

८६. ङ्णोः[६] कुक्[१] टुक्[१] शरि[७] । ८ । ३ । २८

वा स्तः।

(वा०) चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्।

प्राङ्ख् षष्ठः, प्राङ्क् षष्ठः, प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ् षष्ठः, सुगण्ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः।

८६. ङ्णोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(शरि) शर् परे होने पर (ङ्णोः)

---

* इसका विग्रह है :—'टश्च कश्चेति टकौ। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ।'

† विग्रह है—'आदिश्च अन्तश्चेति आद्यन्तौ'।

ङकार और णकार के अवयव (कुक्टुक्) कुक् और टुक् होते हैं। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '८२—हे मपरे वा' से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'शर्' प्रत्याहार है और इसके अन्तर्गत श्, ष्, स्, वर्ण आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श्, ष् या स् परे होने पर ङकार और णकार के अवयव विकल्प से कुक् और टुक् होते हैं। '२३—यथासंख्यम्–०' परिभाषा से कुक् ङकार का अवयव होता है और टुक् णकार का अवयव।

'कुक्' और 'टुक्' के उकार और अन्त्य ककार इत्संज्ञक हैं, अतः कित् होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'कुक्' (क्) ङकार का अन्तावयव और 'टुक्' (ट्) णकार का अन्तावयव बनता है। उदाहरण के लिए 'प्राङ्+षष्ठः' और 'सुगण्+षष्ठः' में षकार परे होने के कारण ङकार और णकार को क्रमशः ककार और टकार हो 'प्राङ् क् षष्ठः' और 'सुगण् ट् षष्ठः' रूप बनते हैं। इस स्थिति में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है:—

(वा०) चय इति:—वार्तिक का अर्थ है:—पौष्करसादि* आचार्य के मत में शर् (श्, ष् या स्) परे होने पर 'चय्' अर्थात् वर्गों के प्रथम वर्णों के स्थान पर तद्वर्गीय द्वितीय वर्ण आदेश होते हैं। तात्पर्य यह है कि श्, ष् या स् परे होने पर क् के स्थान पर ख्, च् के स्थान पर छ्, ट् के स्थान पर ठ्, त् के स्थान पर थ् और प् के स्थान पर फ् आदेश होते हैं। किन्तु पौष्करसादि का मत होने से यह कार्य विकल्प से ही होता है। उदाहरण के लिए 'प्राङ् क् षष्ठः' और 'सुगण् ट् षष्ठः' में षकार परे होने के कारण ककार और टकार को क्रमशः खकार और ठकार हो 'प्राङ् ख् षष्ठः' और 'सुगण्ठ् षष्ठः' रूप सिद्ध होते हैं। किन्तु यह कार्य विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'प्राङ् क् षष्ठः' = 'प्राङ्क्षष्ठः'† और 'सुगण् ट् षष्ठः' रूप ही रहते हैं। यहां ध्यान रहे कि 'कुक्' और 'टुक्' भी विकल्प से ही होते हैं, अतः उनके अभाव में 'प्राङ् षष्ठः' और 'सुगण् षष्ठः' रूप बनते हैं। इस प्रकार प्रत्येक के तीन-तीन रूप बनते हैं:—

'कुक्' पक्ष में { १ प्राङ्ख् षष्ठः (पौष्करसादि के मत में)।
२. प्राङ् क्षष्ठः।

'कुक्' के अभाव में—३. प्राङ् षष्ठः।

---

* ये पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने इनका काल ३१०० वि० पू० माना है। देखिये—'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास'-प्रथम भाग (प्र० सं०)-पृ० ७८–६।

† ध्यान रहे कि यहां ककार और षकार के मिलने से क्षकार हो जाता है।

'टुक्' पक्ष में { १. सुगण् ठ् षष्ठः (पौष्करसादि के मत में)।
२. सुगण् ट् षष्ठः ।

'टुक्' के अभाव में—३. सुगण् षष्ठः ।

८७. नश्च । ८ । ३ । ३०

नान्तात् परस्य सस्य धुड् वा । सन्त् सः, सन् सः ।

८७. नश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(च) और (नः) नकार से पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '८४–डः सि–०' से 'सि' और 'धुट्' तथा '८२–हे मपरे वा' से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां भी 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से सतम्यन्त 'सि' षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नकार के पश्चात् सकार का अवयव विकल्प से 'धुट्' (ध्) होता है। टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'धुट्' सकार का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'सन् + सः' में नकार के पश्चात् सकार आया है, अतः प्रकृतसूत्र से इस सकार को 'धुट्' (ध्) हो 'सन् ध् सः' रूप बनता है। इस स्थिति में '७४-खरि च' से धकार को तकार हो 'सन् त् सः'='सन्त्सः' रूप सिद्ध होता है। 'धुट्' के अभाव में 'सन् सः'='सन्सः' रूप ही रहता है।

८८. शि तुक् । ८ । ३ । ३१

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा । सञ्शम्भुः, सञ् छम्भुः, सञ् च् छम्भुः, सञ्च्शम्भुः ।

८८. शीति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(शि) शकार परे होने पर (तुक्) तुक् होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '८७–नश्च' से 'नः', '८२–हे मपरे वा' से 'वा' तथा अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'नः' 'पदस्य' का विशेषण होने से षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। इसके साथ ही साथ विशेषण होने से 'नः' में तदन्त-विधि भी हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शकार परे होने पर नकारान्त पद का अवयव विकल्प से 'तुक्' (त्) होता है। कित् होने के कारण 'तुक्' (त्) '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से नकारान्त पद का अन्तावयव बनता है।

उदाहरण के लिए 'सन् + शम्भुः' में शकार परे होने के कारण नकारान्त पद—'सन्' को 'तुक्' (त्) आगम हो 'सन् त् शम्भुः' रूप बनता है। इस स्थिति में '६२–स्तोः–०' से तकार को चकार हो 'सन् च् शम्भुः' रूप बनने पर पुनः '६२–स्तो–०'

से नकार को ञकार हो 'सञ्च् शम्भुः' रूप बनेगा। तब '७६—शश्छोऽटि' से विकल्प करके शकार के स्थान पर छकार हो 'सञ्च् छम्भुः' रूप बनने पर पुनः '७३—झरो झरि-०' से विकल्प करके चकार का लोप हो 'सञ् छम्भुः'='सञ्छम्भुः' रूप सिद्ध होता है। किन्तु चकार-लोप और शकार को छकारादेश विकल्प से ही होते हैं, अतः चकार-लोप के अभाव में 'सञ्च् छम्भुः = 'सञ्च्छम्भुः' और छकारादेश के अभाव में 'सञ्च् शम्भुः'='सञ्च्शम्भुः' रूप भी रहते हैं। ध्यान रहे कि यह 'तुक्' (त्) आगम भी विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'सन्+शम्भुः' में '६२—स्तोः-०' से नकार को ञकार हो 'सञ् शम्भुः'='सञ्शम्भुः' भी बनता है। इस प्रकार यहां चार रूप बनते हैं—

१. सञ्छम्भुः (तुक्, छकारादेश और चकार-लोप होकर)

२. सञ्च्छम्भुः (चकार-लोप के अभाव में—केवल तुक् और छकारादेश होकर)

३. सञ्च्शम्भुः (चकार-लोप और छकारादेश के अभाव में—केवल 'तुक्' होकर)

४. सञ्शम्भुः ('तुक्' के अभाव में)

८९. ङमो ह्रस्वादचि* ङमुण्नित्यम् । ८ । ३ । ३२

ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदम्, तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुट्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः।

८९. ङम इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(ह्रस्वात्) ह्रस्व से परे (ङमः) ङम् से पर (अचि) अच् का अवयव (नित्यम्) नित्य (ङमुट्) ङमुट् होता है। 'ङम्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत ङ्, ण्, न् आते हैं। 'अच्' प्रत्याहार सभी स्वरों का बोधक है। इसके साथ ही साथ यहां 'पदस्य' ८.१.१६ का अधिकार प्राप्त होता है। 'ङमः' का विशेष्य होने से 'पदस्य' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है। विशेषण होने से 'ङमः' में तदन्त-विधि हो जाती है। 'ङमुट्' में भी 'ङम्' प्रत्याहार है, क्योंकि उसका उकार उच्चारणार्थ है और टकार इत्संज्ञक। 'ङम्' प्रत्याहार को टित् करने का कोई प्रयोजन नहीं, अतः सञ्ज्ञियां अर्थात् ङ्, ण्, न् के साथ टित्व का सम्बन्ध होकर 'ङुट्', 'णुट्' और 'नुट्'—ये तीन आगम फलित होते

---

* यहां 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से सप्तम्यन्त 'अचि' षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाता है।

हैं।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्व से परे जो ङम् (ङ्, ण्, न्), तदन्त पद के पश्चात् स्वर-वर्ण के अवयव नित्य ङुट्, णुट् और नुट् होते हैं। तात्पर्य यह कि ह्रस्व से पर पदान्त ङकार, णकार और नकार के पश्चात् स्वर-वर्ण को ङुट् (ङ्), णुट् (ण्) और नुट् (न्) होते हैं। '२३–यथासंख्यम्-०' परिभाषा से पदान्त ङकार के पश्चात् स्वर को ङुट्, पदान्त णकार के पश्चात् स्वर को णुट् और पदान्त नकार के पश्चात् स्वर को नुट् होता है। दूसरे शब्दों में ये आगम† इस प्रकार होंगे :—

(क) ह्रस्व + पदान्त ङकार + स्वरवर्ण—इस स्थिति में स्वरवर्ण को 'ङुट्' (ङ्) होगा।

(ख) ह्रस्व + पदान्त णकार + स्वरवर्ण—इस स्थिति में स्वरवर्ण को 'णुट्' (ण्) होगा।

(ग) ह्रस्व + पदान्त नकार + स्वरवर्ण—इस स्थिति में स्वरवर्ण को 'नुट्' (न्) होगा।

टित् होने के कारण ये सभी आगम '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से स्वर-वर्ण के आद्यवयव बनते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रत्यङ् + आत्मा' में यकारोत्तरवर्ती ह्रस्व अकार के पश्चात् पदान्त ङकार है और उस पदान्त ङकार के पश्चात् स्वर-वर्ण—आकार। अतः प्रकृतसूत्र से इस 'आ' को 'ङुट्' (ङ्) हो 'प्रत्यङ् ङ् आत्मा'= 'प्रत्यङ्ङात्मा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सुगण् + ईशः' में पदान्त णकार से पर ईकार को 'णुट्' (ण्) हो 'सुगण् ण् ईशः' = 'सुगण्णीशः' और 'सन् + अच्युतः' में पदान्त नकार से पर अकार को 'नुट्' हो 'सन् न् अच्युतः' = 'सन्नच्युतः' रूप सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि पदान्त ङकारादि जब ह्रस्व से पर होंगे तभी उनके पश्चात् 'ङुट्' आदि आगम होंगे। उदाहरणार्थ 'भवान् + अत्र' में पदान्त नकार के पश्चात् स्वर—अकार आया है, किन्तु इस पदान्त नकार के पूर्व दीर्घ आकार है, ह्रस्व अकार नहीं। अतः प्रकृतसूत्र से स्वर अकार को 'नुट्' न होकर 'भवान् अत्र' = 'भवानत्र' रूप ही रहता है।

विशेष :—सूत्रस्थ 'नित्यम्' का अर्थ 'प्रायः' है, क्योंकि स्वयं सूत्रकार पाणिनि ने ही कई स्थलों पर 'ङमुट्' नहीं किया है, यथा—'१४–सुप्तिङन्तं पदम्' में 'तिङन्तम्' (तिङ् + अन्तम्) में 'ङुट्' नहीं हुआ है।

---

* 'ङम् प्रत्याहारः, संज्ञायां च कृतं टित्त्वं सामर्थ्यात्संज्ञिभिः संबध्यते'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† ध्यान रहे कि जो किसी का अवयव होता है, उसे 'आगम' कहते हैं।

९०. समः[१] सुटि[७] । ८ । ३ । ५

समो रुः सुटि ।

९०. सम इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(सुटि) सुट् परे होने पर (समः) सम् के स्थान पर...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ से 'रु' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुट् परे होने पर सम् के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है । '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह 'रु' 'सम्' के अन्त्य मकार के ही स्थान पर होता है ।

उदाहरण के लिए 'सम्+स्कर्ता'* में सुट्—सकार परे होने पर 'सम्' के मकार को 'रु' (र्) हो 'सर् स्कर्ता' रूप बनता है । इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है :—

९१. अत्रानुनासिकः[१] पूर्वस्य[६] तु वा । ८ । ३ । २

अत्र रु-प्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा ।

९१. अत्रेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अत्र) यहां (पूर्वस्य तु) पूर्व के स्थान पर (अनुनासिकः) अनुनासिक (वा) विकल्प से होता है । सूत्रस्थ 'अत्र' (यहां) का अभिप्राय 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ के प्रसंग में हुए 'रु' से है ।† एवं सूत्रस्थ 'पूर्वस्य' का तात्पर्य 'रु' की अपेक्षा पूर्व से है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जहां-जहां 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ के प्रसंग में 'रु' आदेश होता है, वहां-वहां 'रु' से पूर्व वर्ण के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक‡ हो जाता है । उदाहरण के लिए 'सर् स्कर्ता' में 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ के प्रसंग में '९०–समः सुटि' से मकार को 'रु' हुआ है । अतः प्रकृत सूत्र से इस 'रु' (र्) के पूर्ववर्ती वर्ण—सकारोत्तरवर्ती अकार को अनुनासिक 'अँ' हो 'स् अँ र् स्कर्ता=सँर् स्कर्ता' रूप बनता

---

* 'कृञ्' धातु को 'तृच्' प्रत्यय होने पर '६८१–सम्परिभ्याम्–०' से 'सुट्' (स) आगम हो 'स्कर्ता' रूप बनता है । अतः 'स्कर्ता' का आदि सकार 'सुट्' है ।

† ध्यान रहे कि 'अष्टाध्यायी' में रु–प्रकरण दो बार आया है—एक 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ के प्रसंग में और दूसरा 'ससजुषो रुः' ८.२.६६ के प्रसंग में । यहां 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ के प्रसंग में कहने से यह कार्य 'ससजुषो रुः' ८.२.६६ के प्रसंग में होनेवाले 'रु' के विषय में नहीं होगा । 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ से प्रारम्भ होनेवाला रु-प्रकरण 'कानाम्रेडिते' ८.३.१२ तक जाता है । दूसरे शब्दों में, इस रु–प्रकरण के अन्तर्गत आठवें अध्याय के तृतीय पाद के प्रथम बारह सूत्र आते हैं ।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए ९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

है। अनुनासिक के अभाव पक्ष में 'सर् स्कर्ता' रूप रहने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है :—

९२. अनुनासिकात्[२] परोऽनुस्वारः[३] । ८ । ३ । ४

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः ।

९२. अनुनासिकादिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अनुनासिकात्*) अनुनासिक को छोड़कर... (परः) पर (अनुस्वारः) अनुस्वार होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'मतुवसो रु—०' ८.३.१ से 'रु' तथा '९१—अत्रानुनासिकः—०' से 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। ये 'रुः' और 'पूर्वस्य'—दोनों ही पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनुनासिकवाले पक्ष को छोड़कर 'रु' से पूर्ववर्ण के पश्चात् अनुस्वार होता है। तात्पर्य यह कि जिस पक्ष में '९१—अत्रानुनासिकः—०' से अनुनासिक नहीं होता, उस पक्ष में इस सूत्र से 'रु' के पूर्ववर्ती वर्ण के पश्चात् अनुस्वार (ं) का आगम हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सर् स्कर्ता' में '९१—अत्रानुनासिकः—०' से 'रु' के पूर्व सकारोत्तरवर्ती अकार को अनुनासिक नहीं हुआ है। अतः प्रकृतसूत्र से इस सकारोत्तरवर्ती अकार को अनुस्वार हो 'संर् स्कर्ता' रूप बनता है।

विशेष :—ध्यान रहे कि 'मतुवसो रु—०' ८.३.१ से प्रारम्भ होनेवाले रु-प्रकरण में 'रु' आदेश होने पर दो रूप बनते हैं—एक पक्ष में '९१—अत्रानुनासिकः—०' से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण को अनुनासिक होकर और दूसरे पक्ष में '९२—अनुनासिकात्—०' से 'रु' से पूर्ववर्ती वर्ण को अनुस्वार होकर, यथा—'सँर् स्कर्ता' और 'संर् स्कर्ता'।

९३. खरवसानयोर्विसर्जनीयः[१] । ८ । ३ । १५

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः ।

(वा०) सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः । सँस्कर्ता, संस्कर्ता ।

९३. खरवसानयोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(खरवसानयोः)† खर् परे होने पर और अवसान में (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए 'रो रि' ८.३.१४ से 'रः' तथा अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'रः' 'पदस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। तन्नस्थ 'खर्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण और श्, ष्, स् आते हैं। इस

---

* यहां ल्यब्लोप में पञ्चमी हुई है, अतः अर्थ होगा—'अनुनासिकं विहाय'।

† इसका विग्रह है—'खर् च अवसानं चेति खरवसाने, तयोः खरवसानयोः।'

मकार सूत्र का भावार्थ होगा—खर् (वर्गों के प्रथम या द्वितीय वर्ण अथवा श्, ष्, स्) परे होने पर और अवसान* में रकारान्त पद के स्थान पर विसर्ग होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह विसर्ग आदेश अन्त्य रकार के ही स्थान पर होता है।

उदाहरण के लिए 'सँर् स्कर्ता' और 'संर् स्कर्ता' में खर्—सकार परे होने के कारण पदान्त रकार को विसर्ग हो क्रमशः 'सँः स्कर्ता' और 'संः स्कर्ता' रूप बनते हैं। इस स्थिति में '१०३-विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग के स्थान पर सकार प्राप्त होता है, किन्तु '१०४-वा शरि' से उसका बाध हो विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग ही प्राप्त होता है। किन्तु अग्रिम वार्तिक से इसका भी बाध हो जाता है :—

(वा०) समिति—वार्तिक का अर्थ है :—सम्, पुङ् और कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'सँः स्कर्ता' और 'संः स्कर्ता'—इन दोनों स्थलों पर 'सम्' का विसर्ग है, अतः प्रकृत सूत्र से इस विसर्ग के स्थान पर सकार हो क्रमशः 'सँस्स्कर्ता' और 'संस्स्कर्ता' रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष :—'समो वा लोपमेके'—इस भाष्य-वचनानुसार मकार का विकल्प से लोप भी होता है। यह लोप भी रु-प्रकरण में है। इसलिए 'अनुनासिक और अनुस्वार-इन दोनों पक्षों में एक सकार वाले रूप भी बनते हैं—'सँस्कर्ता' और 'संस्कर्ता'।

९४. पुमः[6] खय्यम्परे[7] । ८ । ३ । ६

अम्परे खयि पुमो रुः । पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः ।

९४. पुम इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अम्परे) अम्परक (खयि) खय् परे होने पर (पुमः) 'पुम्' के स्थान पर ''। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'मतुवसो रु-०' ८.३.१ से 'रुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अम्परक खय्' का अर्थ है—वह खय् जिसके पश्चात् अम् हो। 'खय्' और 'अम्'-दोनों ही प्रत्याहार हैं। 'खय्' के अन्तर्गत वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण और 'अम्' के अन्तर्गत सभी स्वर, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण् और न् आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अम्परक खय् (जिस 'खय्' प्रत्याहार के वर्ण के पश्चात् 'अम्' प्रत्याहार का वर्ण हो) परे होने पर 'पुम्' के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह 'रु' (र्) आदेश अन्त्य मकार के ही स्थान पर होगा।

* इसके स्पष्टीकरण के लिए '१२४-विरामोऽवसानम्' सूत्र की व्याख्या देखिये।

उदाहरण के लिए 'पुम्+कोकिलः' में 'पुम्' के पश्चात् खय्—ककार है और उससे परे 'अम्'—ओकार भी है। अतः अम्परक खय् परे होने के कारण प्रकृतसूत्र से इस 'पुम्' के मकार को 'रु' (र्) हो 'पुर् कोकिलः' रूप बनता है। इस स्थिति में 'सर् स्कर्ता' की भांति अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम, विसर्ग तथा 'सम्पुङ्कानाम्–०' वार्तिक से सकारादेश हो 'पुँस्कोकिलः' और 'पुंस्कोकिलः' रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष :—ध्यान रहे कि विसर्ग हो 'पुँःकोकिलः' और 'पुंःकोकिलः' रूप बनने पर '९८–कुप्वोः–०' से विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय प्राप्त होता है, किन्तु 'सम्पुङ्कानाम्–०' वार्तिक से उसका बाध हो विसर्ग के स्थान पर सकार हो 'पुँस्कोकिलः' और 'पुंस्कोकिलः' रूप सिद्ध होते हैं।

९५. [६]नश्छव्य[७]प्रशान्[७]* । ८ । ३ । ७

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः।

९५. **नश्छवीति**—सूत्र का पदच्छेद है—'नः+छवि+अप्रशान्'। अर्थ है :—(छवि) छव् परे होने पर (अप्रशान्) प्रशान् को छोड़कर (नः) नकार के स्थान पर···। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ से 'रुः', '९४–पुमः–०' से 'अम्परे' तथा अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अम्परे' का अन्वय सूत्रस्थ 'छवि' से होता है। 'नः' 'पदस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'छव्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त् का समावेश होता है। 'अम्' भी प्रत्याहार है। इस प्रकार पूर्वसूत्र (९४) की भांति इस सूत्र का भी भावार्थ होगा—अम्परक (जिसके पश्चात् 'अम्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो, ऐसा) छ्, ठ्, थ्, च्, ट् या त् परे होने पर 'प्रशान्' शब्द को छोड़कर अन्य नकारान्त पद के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह 'रु' (र्) आदेश अन्त्य नकार के ही स्थान पर होगा। दूसरे शब्दों में, नकार के स्थान पर 'रु' (र्) होने के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है :—

(क) नकार पदान्त में होना चाहिये :—उदाहरण के लिए 'हन्+ति' में अम्परक छव्—तकार परे होने पर भी अपदान्त नकार को 'रु' नहीं होता और 'हन् ति' = 'हन्ति' रूप ही रहता है।

---

* यहां षष्ठ्यर्थ में प्रथमा विभक्ति हुई है। सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या के टिप्पणीकार ने 'अप्रशान्' में लुप्तषष्ठी मानी है—"सूत्रे 'अप्रशान्' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्"।

(ख) किन्तु यह नकार 'प्रशान्' का न होना चाहिये :—उदाहरणार्थ 'प्रशान्+तनोति' में पदान्त नकार है और उसके पश्चात् अम्परक छव्–तकार भी है। किन्तु यह नकार 'प्रशान्' शब्द का है, अतः प्रकृतसूत्र से उसके स्थान पर 'रु' न होकर 'प्रशान्तनोति' रूप ही रहता है।

(ग) इस पदान्त नकार के पश्चात् 'छव्' प्रत्याहार का वर्ण होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'भवान्+करोति' में 'प्रशान्'-भिन्न पदान्त नकार है, किन्तु उसके पश्चात् ककार आया है जो कि 'छव्' प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं आता। अतः प्रकृतसूत्र से इस नकार को 'रु' न होकर 'भवान् करोति' रूप ही रहता है।

(घ) और उस 'छव्'-प्रत्याहारवर्ती वर्ण के पश्चात् 'अम्' प्रत्याहार का कोई वर्ण होना चाहिये :—उदाहरणार्थ 'भवान्+त्सरुकः' में पदान्त नकार के पश्चात् छव्–तकार आया है, किन्तु इस तकार के पश्चात् सकार है जो कि 'अम्' प्रत्याहार के अन्तर्गत नहीं आता। अतः प्रकृतसूत्र से यहां नकार को 'रु' भी नहीं होता और 'भवान्त्सरुकः' = 'भवान्त्सरुकः' रूप ही रहता है।

ये सभी बातें 'चक्रिन्+त्रायस्व' में मिलती हैं। यहां पदान्त नकार के पश्चात् छव्–तकार आया है और उसके पश्चात् अम्–रकार भी है। साथ ही यह नकार 'प्रशान्' शब्द का भी नहीं है। अतः प्रकृतसूत्र से इस नकार को 'रु' (र्) हो 'चक्रिर् त्रायस्व' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा विसर्ग-आदेश हो 'चक्रिँः त्रायस्व' और 'चक्रिंः त्रायस्व' रूप बनने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है :—

९६. विसर्जनीयस्य[1] सः[1] । ८ । ३ । ३४

खरि। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्—प्रशान्तनोति। पदान्तस्येति किम्—हन्ति।

९६. विसर्जनीयस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) सकार होता है। किन्तु यह सकारादेश किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '९३—खरवसानयोः–०' से 'खरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—खर् (वर्गों के प्रथम या द्वितीय वर्ण अथवा श्, ष्, स्) परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'चक्रिँः त्रायस्व' और 'चक्रिंः त्रायस्व' में खर्–तकार परे होने के कारण विसर्ग के स्थान पर सकार होकर क्रमशः 'चक्रिँस् त्रायस्व' = 'चक्रिँस्त्रायस्व' और 'चक्रिंस् त्रायस्व' = 'चक्रिंस्त्रायस्व' रूप सिद्ध होते हैं।

९७. नॄन्* पे† । ८ । ३ । १०

नॄन् इत्यस्य रुर्वा पे ।

९७. नॄनिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(पे) पकार परे होने पर (नॄन्) नॄन् के स्थान पर···। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ से 'रुः' तथा 'उभयथर्क्षु' ८.३.८ से 'उभयथा' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पकार परे होने पर 'नॄन्' के स्थान पर (उभयथा) विकल्प से 'रु' (र्) आदेश होता है। यह 'रु' (र्) आदेश '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य नकार के ही स्थान पर होगा।

उदाहरण के लिए 'नॄन्+पाहि' में पकार परे होने के कारण प्रकृतसूत्र से 'नॄन्' के नकार को 'रु' (र्) होकर 'नॄर् पाहि' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम और विसर्ग-आदेश हो 'नॄँः पाहि' और 'नॄंः पाहि'—ये दो रूप बनेंगे। यहां खर्—पकार परे होने के कारण '९६–विसर्जनीयस्य–०' से विसर्ग के स्थान पर सकारादेश प्राप्त होता है किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है :—

९८. कुप्वोः‡ ≍क≍पौ§ च¶ । ८ । ३ । ३७

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः । चाद्विसर्गः । नॄँ≍पाहि, नॄं≍पाहि । नॄँः पाहि, नॄंः पाहि । नॄन्पाहि ।

९८. कुप्वोरिति :—सूत्र का शब्दार्थ है :—(कुप्वोः‡) कवर्ग और पवर्ग परे होने पर (≍क ≍पौ§) जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश होते हैं (च) और...। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '९६–विसर्जनीयस्य–०' से 'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में 'च' (और) कहने से पक्ष में विसर्ग भी होता है।¶ 'क' अथवा 'ख' के पूर्व अर्धविसर्ग-सदृश '≍'—इस चिह्न को जिह्वामूलीय तथा 'प' अथवा 'फ' से पूर्व इसी अर्ध-विसर्गसदृश चिह्न (≍) को उपध्मानीय कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कवर्ग और पवर्ग परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश होते हैं तथा पक्ष में विसर्ग भी रहते हैं। दूसरे शब्दों में, कवर्ग और पवर्ग परे होने पर दो कार्य होते हैं :—

---

* यहां लुप्तषष्ठी है।

† 'नकारोपरि अकार उच्चारणार्थः'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

‡ इसका विग्रह है–'कुश्च पुश्चेति कुपू, तयोः कुप्वोः।'

§ 'कपावुच्चारणार्थौ। जिह्वामूलीयोपध्मानीयावेतावादेशौ।'—काशिका।

¶ 'चकाराद्विसर्जनीयश्च'—काशिका।

१. एक पक्ष में विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश होते हैं। '२३-यथासंख्यम्-०' परिभाषा से कवर्ग परे होने पर जिह्वामूलीय और पवर्ग परे होने पर उपध्मानीय आदेश होता है।

२. दूसरे पक्ष में विसर्ग के स्थान पर विसर्ग ही रहते हैं।

ध्यान रहे कि सम्पूर्ण कवर्ग और पवर्ग परे होने पर न तो विसर्ग ही सम्भव हैं और न उनके स्थान पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय। इसका कारण यह है कि विसर्ग-विधायक सूत्र केवल एक '९३-खरवसानयोः-०' ही है और उससे 'खर्' परे होने पर ही विसर्ग होता है। कवर्ग और पवर्ग में 'खर्' केवल चार ही हैं—क्, ख्, प् और फ्। अतः प्रकृतसूत्र क्, ख्, प् और फ् परे होने पर ही विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का विधान करता है। दूसरे शब्दों में, क् या ख् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और प् या फ् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर उपध्मानीय आदेश होता है। पक्ष में विसर्ग तो रहेगा ही।

उदाहरणके लिए 'नॄँः पाहि' और 'नॄंः पाहि' में पकार परे होने के कारण विसर्ग के स्थान पर उपध्मानीय हो 'नॄँᳶपाहि' और 'नॄंᳶपाहि' रूप सिद्ध होते हैं। पक्ष में विसर्ग के स्थान पर विसर्ग ही रहने से 'नॄँः पाहि' और 'नॄंः पाहि' रूप भी रहते हैं। यहां स्मरण रहे कि 'नॄन्' के स्थान पर 'रु' आदेश भी विकल्प से ही होता है, अतः उसके अभाव में 'नॄन् पाहि' = 'नॄन्पाहि' रूप भी रहता है। इस प्रकार 'नॄन्+पाहि'—इस स्थिति में पांच रूप बनते हैं :—

१. 'नॄँᳶपाहि' और २. 'नॄंᳶपाहि' (उपध्मानीय आदेश होकर)

३. 'नॄँः पाहि' और ४. 'नॄंः पाहि' (उपध्मानीय के अभाव पक्ष में)

५. 'नॄन्पाहि' ('रु' आदेश के अभाव पक्ष में)।

९९. तस्य परमाम्रेडितम्। ८। १। २

द्विरुक्तस्य परम् आम्रेडितं स्यात्।

९९. तस्येति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(तस्य) उसका (परम्) पीछेवाला (आम्रेडितम्) आम्रेडितसंज्ञक होता है। 'तस्य' (उसका) का अभिप्राय यहां 'सर्वस्य द्वे' ८.१.१ के अधिकार में होनेवाले द्वित्व से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिसका द्वित्व हुआ हो अर्थात् जो दो बार पढ़ा गया हो, उसका पीछेवाला रूप 'आम्रेडित' कहलाता है। उदाहरण के लिए 'कान्+कान्' में 'कान्' शब्द दो बार पढ़ा गया है, अतः प्रकृतसूत्र से पीछेवाले अर्थात् द्वितीय 'कान्' शब्द की 'आम्रेडित' संज्ञा होती है।

१०० *कानाम्रेडिते । ८ । ३ । १२

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते । काँस्कान् , कांस्कान् ।

१००. कानिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(आम्रेडिते) आम्रेडित परे होने पर (कान्) 'कान्' शब्द के स्थान पर...। किन्तु क्या आदेश होता है—यह जानने के लिए 'मतुवसो रु–०' ८.३.१ से 'रुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आम्रेडित परे होने पर 'कान्' शब्द के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह 'रु' (र्) आदेश अन्त्य नकार के ही स्थान पर होगा।

उदाहरण के लिए 'कान्+कान्' में आम्रेडित—द्वितीय 'कान्' शब्द परे होने के कारण प्रथम 'कान्' शब्द के नकार को 'रु' (र्) आदेश हो 'कार् कान्' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम, विसर्ग तथा 'सम्पुङ्‌कानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से विसर्ग के स्थास पर सकार हो 'काँस्कान्' और 'कांस्कान्'—ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

१०१. छे च । ६ । १ । ७३

ह्रस्वस्य छे तुक् । शिवच्छाया ।

१०१. छे चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (छे) छकार परे होने पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि मह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ह्रस्वस्य पिति कृति–०' ६.१.७१ से 'ह्रस्वस्य' और 'तुक्' तथा अधिकार-सूत्र 'संहितायाम्' ६.१.७२ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संहिता† के विषय में छकार परे होने पर ह्रस्व का अवयव 'तुक्' (त्) हो जाता है। कित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'तुक्' (त्) अन्तावयव होता है। उदाहरण के लिए 'शिव+छाया' (शिवस्य छायेति विग्रहः, षष्ठी-तत्पुरुषसमासः) में ह्रस्व अकार से छकार परे है और समास होने से संहिता का विषय भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस वकारोत्तरवर्ती अकार को 'तुक्' (त्) हो 'शिवत् छाया' रूप बनता है। इस स्थिति में '६२–स्तोः–०' ८.४.४० के असिद्ध होने से पहले '६७–झलाम्–०' ८.२.३९ से तकार को दकार हो 'शिवद् छाया' रूप बनेगा। तब '७४–खरि च' ८.४.५५ के असिद्ध होने से प्रथम '६२–स्तोः–०' से दकार को जकार हो 'शिवज् छाया' रूप बनने पर पुनः

---

* यहां लुप्तषष्ठी है।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

'७४–खरि च' से जकार को चकार हो 'शिवच्छाया'* रूप सिद्ध होता है।

१०२. पदान्ताद्वा† । ६ । १ । ७६

दीर्घात् पदान्ताच्छे तुग्वा । लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया ।

इति हल्सन्धिः ।

१०२. पदान्तादिति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(पदान्तात्) पदान्त का (वा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'ह्रस्वस्य पिति–०' ६.१.७१ से 'तुक्', '१०१–छे च' से 'छे' तथा 'दीर्घात्' ६.१.७५ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'पदान्तात्' से अन्वित होने के कारण 'दीर्घात्' भी षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—छकार परे होने पर पदान्त (पद के अन्त में आनेवाले) दीर्घ (आ, ई, ऊ आदि) का अवयव विकल्प से 'तुक्' (त्) होता है। कित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'तुक्' (त्) पदान्त दीर्घ का अन्तावयव होगा।

उदाहरण के लिए 'लक्ष्मी + छाया' में दीर्घ ईकार पद के अन्त में आया है और उसके पश्चात् छकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस दीर्घ-ईकार को 'तुक्' (त्) हो 'लक्ष्मीत् छाया' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्वसूत्र (१०१) की भांति तकार के स्थान पर दकार, दकार के स्थान पर जकार और पुनः जकार को चकार हो 'लक्ष्मीच्छाया' रूप सिद्ध होता है। 'तुक्'-आगम के अभावपक्ष में 'लक्ष्मीछाया' रूप ही रहता है।

विशेष :—पूर्ववर्ती (१०१) और इस सूत्र का मिला-जुला अर्थ इस प्रकार होगा—'छकार परे होने पर पदान्त और अपदान्त—इन दोनों ही अवस्थाओं में ह्रस्व (अ, इ आदि) को 'तुक्' आगम होता है, किन्तु दीर्घ (आ, ई आदि) को 'तुक्' आगम पदान्त में ही होता है और वह भी विकल्प से।

हल्सन्धि-प्रकरण समाप्त ।

---

* ध्यान रहे कि यहां '३०६–चोः कुः' से कुत्व नहीं होता, क्योंकि इस सूत्र की दृष्टि में '६२–स्तोः–०' और '७४–खरि च'—ये दोनों ही सूत्र असिद्ध हैं।

† यहां पञ्चमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में हुई है। यदि ऐसा न माना जावे तो 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से 'तुक्' आगम सप्तम्यन्त छकार को प्राप्त होगा। किन्तु यह इष्ट नहीं है, क्योंकि स्वयं पाणिनि ने 'विभाषा सेना–सुराच्छाया–०' २.४.२५ में स्थित 'सुराच्छाया' शब्द में 'तुक्' को दीर्घ पदान्त का ही अवयव बनाया है, न कि छकार का।

विसर्गसन्धिप्रकरणम्

१०३. विसर्जनीयस्य सः । ८ । ३ । ३४

खरि । विष्णुस्त्राता ।

१०३. विसर्जनीयस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) सकार होता है। किन्तु यह सकार किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '९३–खरवसानयोः–०' से 'खरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—खर् (वर्गों के प्रथम या द्वितीय वर्ण अथवा श्, ष्, स्) परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'विष्णुः + त्राता' में खर्-तकार परे होने के कारण विसर्ग के स्थान पर सकार हो 'विष्णुस् त्राता' = 'विष्णुस्त्राता' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि इस स्थिति में '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर पुनः 'रु' आदेश नहीं होता, क्योंकि '१०५–ससजुषो–०' की दृष्टि में प्रकृतसूत्र से विहित सकारादेश असिद्ध है।

विशेष :—इस सूत्र के दो अपवाद हैं—'९८–कुप्वोः–०' और '१०४–वा शरि।'

१०४. वा शरि । ८ । ३ । ३६

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा । हरिः शेते, हरिश्शेते ।

१०४. वेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(शरि) शर् परे होने पर (वा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१०३–विसर्जनीयस्य-०' से 'विसर्जनीयस्य' तथा 'शर्परे विसर्जनीयः' ८.३.३५ से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शर् (श्, ष्, या स्) परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग ही होता है। यह विसर्ग आदेश विकल्प से होने के कारण पक्ष में '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से सकारादेश भी होता है।

उदाहरण के लिए 'हरिः + शेते' में शर्–शकार परे होने के कारण विसर्ग के स्थान पर विसर्ग आदेश हो 'हरिः शेते' ही रहता है। विसर्गादेश के अभाव पक्ष में '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग को सकार हो 'हरिस् शेते' रूप बनने पर '६२–स्तोः–०' से सकार को शकार होकर 'हरिश् शेते' = 'हरिश्शेते' रूप सिद्ध होता है।

'७४—खरि च' से जकार को चकार हो 'शिवच्छाया'* रूप सिद्ध होता है।

१०२. पदान्ताद्वा† । ६ । १ । ७६

दीर्घात् पदान्ताच्छे तुग्वा। लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः।

१०२. पदान्ताद्विति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(पदान्तात्) पदान्त का (वा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'ह्रस्वस्य पिति—०' ६.१.७१ से 'तुक्', '१०१—छे च' से 'छे' तथा 'दीर्घात्' ६.१.७५ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'पदान्तात्' से अन्वित होने के कारण 'दीर्घात्' भी षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—छकार परे होने पर पदान्त (पद के अन्त में आनेवाले) दीर्घ (आ, ई, ऊ आदि) का अवयव विकल्प से 'तुक्' (त्) होता है। कित् होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'तुक्' (त्) पदान्त दीर्घ का अन्तावयव होगा।

उदाहरण के लिए 'लक्ष्मी + छाया' में दीर्घ ईकार पद के अन्त में आया है और उसके पश्चात् छकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस दीर्घ-ईकार को 'तुक्' (त्) हो 'लक्ष्मीत् छाया' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्वसूत्र (१०१) की भांति तकार के स्थान पर दकार, दकार के स्थान पर जकार और पुनः जकार को चकार हो 'लक्ष्मीच्छाया' रूप सिद्ध होता है। 'तुक्'-आगम के अभावपक्ष में 'लक्ष्मीछाया' रूप ही रहता है।

विशेष :—पूर्ववर्ती (१०१) और इस सूत्र का मिला-जुला अर्थ इस प्रकार होगा—'छकार परे होने पर पदान्त और अपदान्त—इन दोनों ही अवस्थाओं में ह्रस्व (अ, इ आदि) को 'तुक्' आगम होता है, किन्तु दीर्घ (आ, ई आदि) को 'तुक्' आगम पदान्त में ही होता है और वह भी विकल्प से'।

हल्सन्धि-प्रकरण समाप्त।

---

* ध्यान रहे कि यहां '२०६—चोः कुः' से कुत्व नहीं होता, क्योंकि इस सूत्र की दृष्टि में '६२—स्तोः—०' और '७४—खरि च'—ये दोनों ही सूत्र असिद्ध हैं।

† यहां पञ्चमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में हुई है। यदि ऐसा न माना जावे तो 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से 'तुक्' आगम सप्तम्यन्त छकार को प्राप्त होगा। किन्तु यह इष्ट नहीं है, क्योंकि स्वयं पाणिनि ने 'विभाषा सेना—सुराच्छाया—०' २.४.२५ में स्थित 'सुराच्छाया' शब्द में 'तुक्' को दीर्घ पदान्त का ही अवयव बनाया है, न कि छकार का।

विसर्गसन्धिप्रकरणम्

१०३. विसर्जनीयस्य सः । ८ । ३ । ३४

खरि । विष्णुस्त्राता ।

१०३. विसर्जनीयस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) सकार होता है। किन्तु यह सकार किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '९३–खरवसानयोः–०' से 'खरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—खर् (वर्गों के प्रथम या द्वितीय वर्ण अथवा श्, ष्, स्) परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'विष्णुः + त्राता' में खर्-तकार परे होने के कारण विसर्ग के स्थान पर सकार हो 'विष्णुस् त्राता' = 'विष्णुस्त्राता' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि इस स्थिति में '१०५–ससजुषो रुः' से सकार के स्थान पर पुनः 'रु' आदेश नहीं होता, क्योंकि '१०५–ससजुषो–०' की दृष्टि में प्रकृतसूत्र से विहित सकारादेश असिद्ध है।

विशेष :—इस सूत्र के दो अपवाद हैं—'९८–कुप्वोः–०' और '१०४–वा शरि।'

१०४. वा शरि । ८ । ३ । ३६

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा । हरिः शेते, हरिश्शेते ।

१०४. वेति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(शरि) शर् परे होने पर (वा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१०३–विसर्जनीयस्य–०' से 'विसर्जनीयस्य' तथा 'शर्परे विसर्जनीयः' ८.३.३५ से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शर् (श्, ष्, या स्) परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग ही होता है। यह विसर्ग आदेश विकल्प से होने के कारण पक्ष में '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से सकारादेश भी होता है।

उदाहरण के लिए 'हरिः + शेते' में शर्—शकार परे होने के कारण विसर्ग के स्थान पर विसर्ग आदेश हो 'हरिः शेते' ही रहता है। विसर्गादेश के अभाव पक्ष में '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग को सकार हो 'हरिस् शेते' रूप बनने पर '६२–स्तोः–०' से सकार को शकार होकर 'हरिश् शेते' = 'हरिश्शेते' रूप सिद्ध होता है।

१०५. स-सजुषो[१] रुः[२] । ८ । २ । ६६

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात् ।

१०५. स-सजुषो इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(स-सजुषोः) सकार और सजुष् के स्थान पर (रुः) 'रु' आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'स-सजुषोः' इस 'पदस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सकारान्त और सजुष्-शब्दान्त पद के स्थान पर 'रु' (र) आदेश होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह 'रु' (र्) आदेश सकारान्त पद के अन्त्य सकार और सजुष्-शब्दान्त पद के अन्त्य षकार के ही स्थान पर होगा। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पदान्त सकार तथा पदान्त 'सजुष्' के षकार के स्थान पर 'रु' (र्) आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'सजुष् ऋषिभिः' में पदान्त 'सजुष्' के षकार को 'रु' (र्) हो 'सजुर् ऋषिभिः' = सजूर्ऋषिभिः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'शिवस् + अर्च्यः' में पदान्त सकार को 'रु' होकर 'शिवर् अर्च्यः' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है :—

१०६. अतो रोरप्लुतादप्लुते । ६ । १ । ११३

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्यः ।

१०६. अत इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अप्लुते) अप्लुत परे होने पर (अप्लुतात्) अप्लुत (अतः) अकार से पर (रोः) 'रु' के स्थानपर...। किन्तु क्या होता है और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'ऋत उत्' ६.१.१११ से 'उत्' तथा 'एङः पदान्तादति' ६.१.१०९ से 'अति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस 'अति' का अन्वय सूत्रस्थ 'अप्लुते' से होता है। 'अप्लुत' का अर्थ है—जो प्लुत* न हो। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अप्लुत अकार (अर्थात् ह्रस्व अकार) परे होने पर अप्लुत अकार (अर्थात् ह्रस्व अकार) से पर 'रु' (र्) के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश होता है। दूसरे शब्दों में, ह्रस्व अकार + रु + ह्रस्व अकार—इस स्थिति में 'रु' को ह्रस्व उकार होता है। उदाहरण के लिए 'शिवर् अर्च्यः' में वकारोत्तरवर्ती ह्रस्व अकार के पश्चात् 'रु' (र्) आया है, और उस 'रु' के पश्चात् भी 'अर्च्यः का ह्रस्व अकार है। अतः प्रकृतसूत्र से इस 'रु'† (र्)

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† यद्यपि '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से प्रकृतसूत्र की दृष्टि में '१०५–ससजुषो रुः' से विहित यह 'रु' असिद्ध होना चाहिये, तथापि वचनसामर्थ्य से वह

के स्थान पर उकार हो 'शिव उ अर्च्यः' रूप बनता है। तब '२७-आद्गुणः' से वकारोत्तरवर्ती अकार और उकार के स्थान पर ओकार हो 'शिवओ अर्च्यः' = 'शिवो अर्च्यः' रूप बनने पर '४३-एङः-०' से पूर्वरूप एकादेश हो 'शिवोऽर्च्यः' रूप सिद्ध होता है।

१०७. हशि[०] च । ६ । १ । ११४

तथा । शिवो वन्द्यः ।

१०७. हशीति— सूत्र का शब्दार्थ है :—(च) और (हशि) हश् परे होने पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१०६-अतो रोरप्लुतात्-०' से 'अप्लुतात्', 'अतः' और 'रोः' तथा 'ऋत उत्' ६.१.१११ से 'उत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हश्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत वर्गों के तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम वर्ण और ह्, य्, व्, र्, ल् आते हैं। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—हश् (वर्गों के तृतीय, चतुर्थ या पञ्चम वर्ण अथवा ह्, य्, व्, र् या ल्) परे होने पर भी अप्लुत अकार (अर्थात् ह्रस्व अकार) के पश्चात् 'रु' के स्थान पर ह्रस्व उकार होता है। उदाहरण के लिए 'शिवस् वन्द्यः' में पूर्ववत् सकार को 'रु' हो 'शिवर् वन्द्यः' रूप बनता है। यहाँ हश्—वकार परे होने के कारण वकारोत्तरवर्ती ह्रस्व अकार के पश्चात् 'रु' (र्) को उकार हो 'शिव उ वन्द्यः' रूप बनेगा। तब '२७-आद् गुणः' से गुण—ओकार एकादेश हो 'शिव् ओ वन्द्यः' = 'शिवो वन्द्यः' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—वास्तव में यह सूत्र पूर्वसूत्र (१०६) का विस्तारक मात्र है। अतः इन दोनों सूत्रों का मिश्रित अर्थ होगा—'ह्रस्व अकार या हश् परे होने पर ह्रस्व अकार के पश्चात् 'रु' (र्) के स्थान पर ह्रस्व उकार होता है।'

१०८. भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य[६] 'योऽशि'[७] । ८ । ३ । १७

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि । देवा इह, देवायिह । भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते—

१०८. भो इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अशि) अश् परे होने पर (भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य*) भो, भगो, अघो और अवर्ण जिसके पूर्व हों ऐसे के स्थान

असिद्ध नहीं होता। कहा भी है—'वत्वमस्याश्रयत्वात् पूर्वत्रासिद्धमित्यसिद्धं न भवति'—काशिका।

* इसका विग्रह है—'भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्चेति भो-भगो-अघो-आः। भो-भगो-अघो-आः पूर्वे यस्मात् स भो-भगो-अघो-अपूर्वः, तस्य' (बहुव्रीहि-समासः)।

पर (यः) यकार आदेश होता है। किन्तु ये 'भगो' आदि किसके पूर्व हों—यह जानने के लिए 'रोः सुपि' ८.३.१६ से 'रोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस 'रोः' का अन्वय सूत्रस्थ 'भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य' से होता है। 'अश्' प्रत्याहार है और इसके अन्तर्गत सभी स्वर, वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण तथा ह्, य्, व्, र्, ल् आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस 'रु' के पूर्व भो, भगो, अघो* या अवर्ण हो, उस 'रु' (र्) के स्थान पर अश् (स्वर, वर्गों के तृतीय, चतुर्थ या पञ्चम वर्ण अथवा ह्, य्, व्, र् या ल्) परे होने पर यकार आदेश होता है। दूसरे शब्दों में, भो, भगो, अघो या अवर्ण + रु + अश—इस स्थिति में 'रु' (र्) को यकार होता है। उदाहरण के लिये 'देवास् + इह' में '१०५—स-सजुषो रुः' से सकार को रु (र्) होकर 'देवार् इह' रूप बनता है। इस स्थिति में वकारोत्तरवर्ती आकार के पश्चात् 'रु' (र्) है और उस 'रु' के पश्चात् अश्-इकार भी आया है। अतः प्रकृतसूत्र से इस 'रु' को यकार हो 'देवाय् इह' रूप बनेगा। तब '३०—लोपः शाकल्यस्य' से यकार का वैकल्पिक लोप हो 'देवा इह।' रूप सिद्ध होता है। यकार-लोप के अभाव-पक्ष में 'देवाय इह' = 'देवायिह' रूप ही रहता है।

इसी प्रकार 'भोस् + देवाः', 'भगोस् + नमस्ते' और 'अघोस + याहि' में सकार को 'रु' (र्) हो 'भोर् देवाः', 'भगोर् नमस्ते' और 'अघोर् याहि' रूप बनते हैं। यहां अश परे होने के कारण भो, भगो और अघो से पर 'रु' (र्) को यकार हो क्रमशः 'भोय् देवाः', 'भगोय् नमस्ते' और 'अघोय् याहि' रूप बनेंगे। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है :—

१०९. हलि[७] सर्वेषाम्[६] । ८ । ३ । २२

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि।

१०९. हलीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलि) हल् परे होने पर... (सर्वेषाम्) यह सभी का मत है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१०८—भो—भगो—०' से 'भो—भगो—अघो—अ—पूर्वस्य'; 'व्योर्लघुप्रयत्नतर—०' ८.३.१८ से 'यस्य' तथा '३०—लोपः शाकल्यस्य' से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६ का यहाँ अधिकार है। 'पदस्य' का विशेषण

* 'भो, भगो और अघो क्रमशः भोस्, भगोस् और अघोस् के एकदेशीय रूप हैं। ये भोस्, भगोस् और अघोस् निपात हैं और इनका प्रयोग सम्बोधन में होता है।

† ध्यान रहे कि यहां '३०—लोपः—०' से विहित लोप के असिद्ध होने के कारण '२७—आद् गुणः' से गुण आदेश नहीं होता।

होने के कारण 'यस्य' में तदन्त-विधि हो जाती है, अतः 'यस्य पदस्य' का अर्थ होता है—यकारान्त पद या पदान्त यकार। इस अर्थ में 'यस्य' का अन्वय पुनः 'भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य' से होता है। सूत्रस्थ 'हल्' प्रत्याहार सभी व्यंजनों का बोधक है। सूत्र में 'सर्वेषाम्' कहने का तात्पर्य यह है कि शाकटायन के मत से भी यही कार्य होता है, न कि 'व्योर्लघु-०' ८.३.१८ से लघुप्रयत्नतर*। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस पदान्त यकार के पूर्व भो, भगो, अघो या अवर्ण (अ अथवा आ) हो, उस पदान्त यकार का व्यंजन-वर्ण परे होने पर लोप होता है। यह लोप सभी आचार्यों के मत में होता है। दूसरे शब्दों में, भो, भगो, अघो या अवर्ण+ पदान्त यकार+व्यंजन—इस स्थिति में यकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'भोय् देवाः', 'भगोय् नमस्ते', और 'अघोय् याहि' में क्रमशः भो, भगो और अघो के पश्चात् पदान्त यकार आया है और उस यकार के पश्चात् क्रमशः व्यंजन दकार, नकार और यकार भी आये हैं। अतः इस यकार का लोप हो क्रमशः 'भो देवाः', 'भगो नमस्ते' और 'अघो याहि' रूप सिद्ध होते हैं। अवर्णपूर्वक यकार का उदाहरण 'छात्रास् हसन्ति'='छात्रार् हसन्ति' = 'छात्राय् हसन्ति' में मिलता है। यहां आकार के पश्चात् यकार है और उसके पश्चात् व्यंजन हकार भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इस यकार का लोप हो 'छात्रा हसन्ति' रूप बनता है।

विशेष :—१. यद्यपि सूत्र में 'हल्' कहने से सभी व्यंजनों का ग्रहण होता है, किन्तु यहां उससे केवल 'अश्–' प्रत्याहारवर्ती वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्णों तथा ह्, य्, व्, र् और ल् का ही ग्रहण होता है। इसका कारण यह है कि केवल अश् परे होने पर ही '१०८–भो–भगो–०' से यकारादेश प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का व्यवहारोपयोगी अर्थ होगा—'वर्गों के तृतीय, चतुर्थ या पञ्चम वर्ण अथवा ह्, य्, व्, र्, या ल् परे होने पर भो-पूर्वक, भगो-पूर्वक, अघो-पूर्वक और अवर्ण-पूर्वक पदान्त यकार का लोप होता है।'

२. ध्यान रहे कि 'अश्' परे होने पर 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः–०' ८.३.१८ से यकार के स्थान पर विकल्प से लघुप्रयत्नतर और '३०–लोपः शाकल्यस्य' से यकार का वैकल्पिक लोप प्राप्त होता है। किन्तु प्रकृतसूत्र में 'सर्वेषाम्' कहने के कारण 'अश्'–प्रत्याहारवर्ती व्यंजन परे होने पर इन दोनों का बाध हो यकार का नित्य लोप होता है।

* 'सर्वेषां ग्रहणं शाकटायनस्यापि लोपो यथा स्यात्, लघुप्रयत्नतरो मा भूदिति।' (काशिका)

११०. रोऽसुपि । ८ । २ । ६९

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि । अहरहः । अहर्गणः ।

११०. रो इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(असुपि) सुप् न परे होने पर (रः) रकार आदेश होता है । किन्तु यह रकारादेश किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए 'अहन्' ८.२.६८ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अहन्' में लुप्त-षष्ठी है । सूत्रस्थ 'सुप्' 'सु', 'औ' आदि इक्कीस प्रत्ययों का बोधक है ।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि सुप्-प्रत्यय परे न हो तो 'अहन्' शब्द के स्थान पर रकार आदेश होता है । '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह रकार अन्त्य नकार के ही स्थान पर होगा ।

उदाहरण के लिए 'अहन्+अहन्'† में सुप्-प्रत्यय परे न होने के कारण प्रकृत सूत्र से उभयत्र 'अहन्' के नकार को रकार आदेश हो 'अहर् अहर्' = 'अहरहर्' रूप बनता है । इस स्थिति में '९३–खरवसानयोः–०' से अन्त्य रकार को विसर्ग होकर 'अहरहः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'अह्नां गणः'—इस विग्रह में '७२१–सुपो धातु–०' से सुप्–आम् का लुक् हो 'अहन्+गणः' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'अहन्' के नकार को रकार हो 'अह गणः'र् = 'अहर्गणः' रूप सिद्ध होता है ।

यहां ध्यान रहे कि सुप् न परे होने पर ही 'अहन्' के नकार को प्रकृत सूत्र से रकार होता है । यदि सुप्-प्रत्यय परे होगा तो 'अहन्' ८.२.६८ से 'अहन्' के नकार को 'रु' हो जावेगा । उदाहरणार्थ 'अहन्+भ्याम्' में सुप्-प्रत्यय–'भ्याम्' परे होने के कारण 'अहन्' के नकार को 'रु' हो 'अहर् भ्याम्' रूप बनता है । इस स्थिति में '१०७–हशि च' से 'रु' को उकार हो 'अह उ भ्याम्' रूप बनने पर '२७–आद् गुणः' से गुण हो 'अहोभ्याम्' रूप सिद्ध होता है ।

विशेष :—१. वस्तुतः यह सूत्र 'अहन्' ८.२.६८ का अपवाद है ।

२. स्मरण रहे कि प्रकृत सूत्र से विहित रकार के स्थान पर '१०६–अतो रोः–०' या '१०७–हशि च' से उकार नहीं होता, क्योंकि उक्त दोनों सूत्र 'रु' के रकार के ही स्थान पर उकार का विधान करते हैं ।

---

* देखिये ११८ वें सूत्र की व्याख्या ।

† ध्यान रहे कि 'अहन् सु'–इस स्थिति में 'नित्यवीप्सयोः' ८.१.४ से द्वित्व हो 'अहन् सु अहन् सु' रूप बनता है । यहां '२४४–स्वमोः–०' से सुप्–सु का लोप हो 'अहन् अहन्' रूप बनने पर '१९०–प्रत्ययलोपे–०' से सुप् प्राप्त होता है, किन्तु '१९१–न लुमताङ्गस्य' से उसका निषेध हो जाता है ।

१११. रो[६] रि[७] । ८ । ३ । १४

रेफस्य रेफे परे लोपः ।

१११. रो रीति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(रि) रकार परे होने पर (रः) रकार का...। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढो ढे लोपः' ८.३.१३ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—रकार परे होने पर रकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'पुनर्+रमते' में 'रमते' का आदि रकार परे होने के कारण 'पुनर्' के अन्त्य रकार का लोप हो 'पुन रमते' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है :—

११२. ढ्रलोपे[७] पूर्वस्य[६] दीर्घोऽ[१]णः[६] । ६ । ३ । १११

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणः दीर्घः । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । अणः किम्—तृढः, वृढः ।

'मनस्+रथः' इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' इत्युत्वे 'रो रि' इति लोपे च प्राप्ते—

११२. ढ्रलोपे इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(ढ्रलोपे*) ढकार और रकार का लोप करने वाले अर्थात् ढकार और रकार परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अण् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है। सूत्रस्थ 'अण्' प्रत्याहार है और उसके अन्तर्गत अ, इ, उ—ये तीन स्वर आते हैं।† इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—ढकार और रकार का लोप करने वाले अर्थात् ढकार और रकार परे होने पर उनसे पूर्व अ, इ और उ के स्थान पर क्रमशः दीर्घ—आकार, ईकार और ऊकार आदेश होते हैं।‡ उदाहरण के लिए 'पुन रमते' में रलोप-निमित्त रकार परे होने के कारण

---

* इसका विग्रह है—'ढ्र् इत्यकार उच्चारणार्थः । ढश्च रश्च ढ्रौ, तौ लोपयतीति ढ्रलोपः । णिजन्तात्कर्मण्यणि उपपदसमासः' । इस प्रकार 'ढ्रलोपे' का अर्थ होगा—ढकार और रकार का लोप करनेवाले परे होने पर। ढकार और रकार का लोप करनेवाले '५५०—ढो ढे लोपः' और '१११—रो रि' से ढकार और रकार ही हैं। अतः यहां उन्हीं का ग्रहण होता है।

† इस सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार पूर्व णकार से लिया जाता है। देखिये ११ वें सूत्र से सम्बन्धित पाद-टिप्पणी।

‡ ध्यान रहे कि यह सूत्र उन्हीं स्थलों पर प्रवृत्त होगा जहां '५५०—ढो ढे लोपः' या '१११—रो रि' से ढकार या रकार का लोप हुआ होगा।

नकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार हो 'पुन् आ रमते' = 'पुना रमते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'हरिस् + रम्यः' = 'हरिरु + रम्यः' = 'हरिर् + रम्यः' = 'हरि + रम्यः' = 'हरी रम्यः' और 'शम्भुस् + राजते' = 'शम्भुरु + राजते' = 'शम्भुर् राजते' = 'शम्भु + राजते' = 'शम्भू राजते' रूप भी बनते हैं। ढकार परे होने का उदाहरण 'लिढ् + ढः' में मिलता है। यहां '५५०—ढो—०' से पूर्व ढकार का लोप हो 'लि ढः' रूप बनने पर इकार को दीर्घ ईकार होकर 'लीढः' रूप बनता है।

ध्यान रहे कि ढकार या रकार परे होने पर अ, इ, उ—इन तीन को ही दीर्घादेश होता है, अन्य स्वरों को नहीं। उदाहरणार्थ 'तृढ् + ढः' और 'वृढ् + ढः' में पूर्व ढकार का लोप हो 'तृ + ढः' और 'वृ + ढः' रूप बनते हैं। यहां ढकार परे होने पर भी ऋकार को दीर्घादेश नहीं होता और 'तृढः' तथा 'वृढः' रूप ही रहते हैं।

'मनस् + रथः'—इस स्थिति में '१०५—ससजुषो रुः' से सकार को 'रु' (र्) हो 'मनर् + रथः' रूप बनने पर '१०७—हशि च' से उकारादेश और '१११—रो रि' से रकार का लोप प्राप्त होता है। किन्तु ये दोनों आदेश एक साथ तो हो नहीं सकते, अतः इन दोनों में से एक ही आदेश होगा। अब इन दोनों में से कौन आदेश हो—इस बात का निर्णय अग्रिम सूत्र से होता है :—

११३. विप्रतिषेधे[3] परं[1] कार्यम्[2] । १ । ४ । २

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

११३. विप्रतिषेधे इति—सूत्र का शब्दार्थ है :-(विप्रतिषेधे) विप्रतिषेध होने पर (परम्) पर (कार्यम्) कार्य होता है। सूत्रों में पूर्व पर भाव पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' के क्रमानुसार लिया जाता है। 'विप्रतिषेध' का अर्थ है—तुल्यबलविरोध, और 'तुल्यबलविरोध' का अर्थ है—दो विभिन्न स्थलों पर चरितार्थ होने वाले सूत्रों का एक ही स्थल पर प्राप्त होना।[*] इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—यदि विभिन्न स्थलों पर चरितार्थ होने वाले दो सूत्र एक ही स्थल पर प्राप्त हों तो उनमें से परवर्ती ('अष्टाध्यायी' के क्रमानुसार) सूत्र ही प्रवृत्त होता है। उदाहरण के लिए '१०७—हशि च' सूत्र 'शिवो वन्द्यः' आदि स्थलों पर चरितार्थ होता है। उन स्थलों पर '१११—रो रि' सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार '१११—रो रि' सूत्र 'हरी रम्यः'

---

[*] 'तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः। यत्र द्वौ प्रसङ्गावन्यार्थावेकस्मिन् युगपत्प्राप्नुतः स तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः।' (काशिका)

आदि स्थलों पर चरितार्थ होता है, क्योंकि उन स्थलों पर '१०७–हशि च' सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। 'मनर्+रथः'–इस स्थल पर '१०७–हशि च' ६.१.११४ और '१११–रो रि' ८.३.१४–ये दोनों ही सूत्र प्राप्त होते हैं। प्रकृत सूत्र के अनुसार यहां परवर्ती सूत्र '१११-रो रि' से रकार-लोप प्राप्त होता है। किन्तु '३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' परिभाषा से '१०७–हशि च' की दृष्टि में '१११–रो रि' सूत्र असिद्ध है अर्थात् '१०७–हशि च' की दृष्टि में '१११–रो रि' का अस्तित्व ही नहीं रहता। इस अवस्था में '१०७–हशि च' से ही रकार को उकार हो 'मन उ रथः' रूप बनता है। यहां '२७–आद् गुणः' से गुण एकादेश हो 'मन् ओ रथः'='मनोरथः' रूप सिद्ध होता है।

११४ एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि। ६।१।१३२

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्–एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम्–असः शिवः। हलि किम्–एषोऽत्र।

११४. एतत्तदोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है:—(अनञ्समासे) नञ् समास न होने पर (अकोः*) ककाररहित (एतत्तदोः) एतद् और तद् के (सुलोपः†) सु का लोप होता है (हलि) हल् परे होने पर। तात्पर्य यह कि यदि नञ् समास न हो तो हल् (व्यञ्जन-वर्ण) परे होने पर ककाररहित एतद् और तद् के 'सु' (प्रथमा विभक्ति के एकवचन) का लोप होता है। दूसरे शब्दों में, सु-लोप के लिए तीन बातें आवश्यक हैं:—

१. एतद् और तद् को नञ् समास में न होना चाहिये—यदि 'एतद्' या 'तद्' शब्द नञ् समास में होगा तो उसके 'सु' का लोप न होगा। उदाहरण के लिए 'असस्‡+शिवः' में 'असस्' रूप 'तद्' का ही है, किन्तु यह रूप नञ्-समास में बना है। अतः हल् परे होने पर भी इसके 'सु' (स्) का लोप नहीं होता और '१०५–ससजुषो रुः' से 'रु' (र्) तथा पुनः 'रु' को विसर्ग हो 'असः+शिवः' रूप बनने पर '१०४–वा शरि' से विकल्प से विसर्ग हो 'असः शिवः' रूप बनता है। पक्ष में '१०३–विसर्जनीयस्य सः' से सकार हो 'असस् शिवः' रूप बनने पर '६२–स्तोः–०' से सकार को शकार होकर 'असश्शिवः' रूप सिद्ध होता है।

---

* विग्रह है—'अविद्यमानः ककारो ययोस्तौ=अकौ, तयोः–अकोः, बहुव्रीहिसमासः'।

† विग्रह है—'सोर्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः।'

‡ 'न सः'—इस विग्रह में '९४६–नञ्' से समास हो'

२. एतद् और तद् शब्द ककार-रहित होना चाहिए—यदि एतद् या तद् में ककार होगा तो उसके 'सु' का लोप नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'एषकस्*+रुद्रः' में 'एषकस्' ककारसहित 'एतद्' का रूप है। अतः हल् परे होने पर भी 'एषकस्' के 'सु' (स्) का लोप प्रकृतसूत्र से नहीं होता और रुत्व-विसर्ग हो 'एषकः रुद्रः' रूप सिद्ध होता है।

३. एतद् और तद् से परे हल् या व्यञ्जन होना चाहिये—यदि एतद् या तद् के पश्चात् हल् न होगा तो उसके 'सु' (स्) का लोप भी न होगा। उदाहरण के लिए 'एषस्+अत्र' में 'एषस्' शब्द 'एतद्' का ककाररहित रूप है और वह नञ्-समास में भी नहीं है। फिर व्यंजन परे न होने के कारण उसके 'सु' (स्) का लोप नहीं होता और रुत्व हो 'एषर्+अत्र' रूप बनने पर '१०६–अतो रोः–०' से रकार को उकार हो 'एष उ अत्र' रूप बनता है। यहां गुण और पूर्वरूप एकादेश हो 'एषोऽत्र' रूप बनता है।

ये सभी बातें 'एषस्+विष्णुः' में मिलती हैं। यहां 'एषस्' एतद् का ककार-रहित रूप है और उसके पश्चात् हल्—वकार भी आया है। साथ ही यह 'एषन्' नञ्-समास में भी नहीं है। अतः प्रकृतसूत्र से इसके 'सु' (स्) का लोप हो 'एष विष्णुः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सस् शम्भुः' में ककाररहित 'तद्'–'सस्' के सकार का लोप हो 'स शिवः' रूप बनता है।

११५. सो[६]ऽचि[७] लोपे[७] चेत्पादपूरणम्[१] । ६ । १ । १३४

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। सैष दाशरथी रामः।

इति विसर्गसन्धिः।

११५. स इति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(अचि) अच् परे होने पर (सः) 'सस्' का†(लोपे) लोप होने पर (चेत्) यदि (पादपूरणम्) पाद-पूर्ति होती हो। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए '११४–एतत्तदोः–०' से 'सुलोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। श्लोक आदि के एक विशेष भाग को छन्दःशास्त्र में

---

* 'एतत्' शब्द से '१२२९–अव्यय-सर्वनाम्नाम्–०' से 'अकच्' प्रत्यय हो 'एषकस्' रूप बनता है।

† यहां लुप्तषष्ठी है।

'पाद'* कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अच् (स्वर) परे होने पर 'सस्' के 'सु' (प्रथमा विभक्ति के एकवचन) का लोप होता है, यदि उसका लोप होने पर ही पाद की पूर्ति होती हो। तात्पर्य यह कि यदि 'सस्' के 'सु' के लोप के बिना पाद-पूर्ति न होती हो तो स्वर परे होने पर भी 'सस्' के 'सु' का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे' (ऋग्वेद २।२४।१)—यह वैदिक छन्द जगती का एक पाद है। इसके प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। यहां 'सस्+इमाम्'—इस अवस्था में 'सस्' के 'सु' (स्) का लोप होकर 'स इमाम्' रूप बनने पर गुण हो जाने से बारह अक्षरों का पाद पूरा हो जाता है। यदि इस 'सु' का लोप न होता तो सकार को रुत्व, रुत्व को यकार और यकार का वैकल्पिक लोप हो 'स इमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे'—इस प्रकार तेरह अक्षरों वाला पाद हो जाता, क्योंकि यकार लोप के असिद्ध होने से गुण प्राप्त नहीं हो सकता था। अतः यहां पाद-पूर्ति के लिए 'सस्' के 'सु' का लोप आवश्यक था।

इसी प्रकार 'सैष दाशरथी रामः†'—इस श्लोक-पाद में 'सस्+एषः'—इस अवस्था में 'सस्' के 'सु' (स्) का लोप हुआ है। सुप्-लोप होने पर वृद्धि एकादेश हो 'सैषः' रूप बना है। ध्यान रहे कि यह अनुष्टुप् छन्द का एक पाद है और इसके प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। यदि यहां 'सस्' के 'सु' का लोप न होता तो रुत्व आदि हो 'स एषः' या 'सयेषः' रूप बनता। इससे पाद में नौ अक्षर होकर छन्दोभङ्ग हो जाता। अतःपाद-पूर्ति के लिए यहां भी 'सस्' का स्-लोप आवश्यक था।

किन्तु ध्यान रहे कि पाद-पूर्ति यदि किसी अन्य उपाय से सम्भव हो तो 'सस्' के 'सु' का लोप न होगा। उदाहरणार्थ 'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्'‡ में 'सस्' के 'सु'

---

* आचार्य वामन सूत्रस्थ 'पाद' शब्द से ऋग्वेद के पाद का ही ग्रहण करते हैं, किन्तु अन्य आचार्यों के अनुसार यहां श्लोक के पाद का भी ग्रहण होता है। वस्तुतः सूत्र में किसी विशेष स्थान के पाद का उल्लेख न होने से दोनों का ही ग्रहण हो जाता है।

† समग्र श्लोक इस प्रकार है—

'सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः॥'

‡ समग्र श्लोक इस प्रकार है :—

'सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥'
(रघुवंश, १।५)

का लोप नहीं होता। यहां 'स स् + अहम्'–इस स्थिति में सकार का लोप करने पर 'साहम्' रूप बन जाने से पाद-पूर्ति हो जाती है, किन्तु यह पाद-पूर्ति रुत्व, उत्व और पूर्वरूप एकादेश हो 'सोऽहम्' रूप बन जाने पर भी हो जाती है। अतः यहां अन्य उपाय से पाद-पूर्ति संभव होने के कारण 'सस्' के 'सु' का लोप नहीं होता। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'सस्' के 'सु' का लोप वहीं पर होगा जहां उसके किये बिना पाद-पूर्ति न होगी।

विशेष :—वास्तव में यह सूत्र पूर्वसूत्र (११४) का विस्तारक मात्र है। पूर्वसूत्र से हल् परे होने पर ही सु-लोप प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से अच् परे होने पर भी 'सस्' ('तद्' के प्रथमा के एकवचन का रूप) के सु-लोप का विधान किया गया है। किन्तु यह सु-लोप तभी होगा जब कि उसके बिना पाद-पूर्ति सम्भव न हो।

विसर्ग-सन्धि प्रकरण समाप्त।

अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

११६. अर्थवदधातुरप्रत्ययः* प्रातिपदिकम् । १ । २ । ४५

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात् ।

११६. अर्थवदिति—यह संज्ञा-सूत्र है । शब्दार्थ है :—(अधातुः) धातु-भिन्न और (अप्रत्ययः) प्रत्यय-भिन्न (अर्थवत्) अर्थवान् (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक-संज्ञक होता है । यहां पर सूत्रस्थ 'प्रत्यय' से प्रत्यय और प्रत्ययान्त—इन दोनों का ही ग्रहण होता है ।† 'शब्दानुशासन' का विषय होने के कारण 'शब्दस्वरूपम्'–इस विशेष्य का अध्याहार हो जाता है । सूत्रस्थ 'अर्थवत्' (अर्थवान्) का अर्थ है—जिसका कुछ अर्थ हो अर्थात् सार्थक । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अन्य अर्थवान् (सार्थक) शब्दस्वरूप की 'प्रातिपदिक' संज्ञा होती है । दूसरे शब्दों में, प्रातिपदिक संज्ञा के लिए चार बातें आवश्यक हैं :—

१. जिस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ हो, वही प्रातिपदिक हो सकता है । इस प्रकार निरर्थक शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी ।

२. किन्तु वह अर्थवान् शब्द धातु न होना चाहिये । यह सूत्र का निषेधात्मक पक्ष है । इसके कहने से 'अहन्' की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती, क्योंकि यह 'हन्' धातु के लङ् लकार का रूप है । यदि यहां प्रातिपदिक संज्ञा होती तो 'नलोप०–' ८.२.७ से अन्तिम नकार का लोप हो जाता जो कि अभीष्ट नहीं है ।

३. और उस अर्थवान् शब्द को प्रत्यय भी न होना चाहिये—इस कथन से 'रामेषु' तथा 'करोषि' आदि स्थलों पर सुप् तथा सिप् आदि प्रत्ययों की प्रातिपदिक संज्ञा न होगी । यदि यहां प्रत्यय की प्रातिपदिक संज्ञा मान ली जाती तो औत्सर्गिक एकवचन आने पर 'सात्पदाद्योः' ८.३.१११ से षत्व का निषेध हो जाता जो कि इष्ट नहीं है ।

४. तथा वह अर्थवान् शब्द प्रत्ययान्त भी न होना चाहिये—इस व्यवस्था से 'रामेषु'–इस प्रत्ययान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती । यदि प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होती तो 'सुपो धातु–०' २.४.७१ से 'सु' का लोप हो जाता जो कि अभीष्ट नहीं है ।

---

* इसका पदच्छेद है—'अर्थवत् + अधातुः + अप्रत्ययः' ।

† 'सूत्रे तन्त्रादिनोभयं विवक्षितमिति भावः'–सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

इस प्रकार अर्थवान् होना तो प्रातिपदिक की मुख्य विशेषता है, किन्तु वह अर्थवान् शब्द धातु, प्रत्यय या प्रत्ययान्त न होना चाहिये। ये सभी विशेषताएँ हमें 'राम' शब्द में मिलती हैं। 'राम' शब्द न तो धातु है, न प्रत्यय और न प्रत्ययान्त ही। साथ ही यह शब्द अर्थवान् भी है, क्योंकि 'राम' शब्द का अर्थ है—दशरथ का पुत्र आदि। इस प्रकार 'राम' प्रातिपदिक-संज्ञक होगा।*

११७. कृत्तद्धितसमासाश्च। १।२।४६

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

११७. कृत्तद्धितेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (कृत्तद्धितसमासाः†) कृत्, तद्धित तथा समास... । सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '११६–अर्थवत्–०' से 'प्रातिपदिकम्' और 'अर्थवत्' की अनुवृत्ति होती है। 'प्रातिपदिकम्' पुँल्लिङ्ग-बहुवचन में विपरिणत हो जाता है। 'अर्थवत्' का अन्वय सूत्रस्थ कृत्, तद्धित और समास से होता है। समास तो अर्थवान् होता ही है, किन्तु प्रत्यय होने से कृत् और तद्धित स्वतः अर्थवाले नहीं होते। वे जब प्रकृति से युक्त होते हैं तभी अर्थवान् होते हैं। अतः यहां कृत् से कृदन्त और तद्धित से तद्धितान्त का ग्रहण होता है।‡ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—

---

* इस सूत्र के विषय में एक बहुत ही रोचक सुभाषित प्रचलित है :—

'विद्वान् कीदृग् वचो ब्रूते ? को रोगी ? कश्च नास्तिकः ?
कीदृक् चन्द्रं न पश्यन्ति ? सूत्रं तत्पाणिनेर्वद ॥'

अर्थ :—विद्वान् कैसे वचन बोलता है ? कौन नास्तिक है ? कैसा चन्द्रमा लोग नहीं देखते ? इसका उत्तर पाणिनीय सूत्र है, उसे कहो।

सुभाषितोक्त पाणिनीय सूत्र यही है। इन चारों प्रश्नों का उत्तर सूत्रस्थ अर्थवत्, अधातु, अप्रत्यय और प्रातिपदिक—इन चार पदों से मिलता है। विद्वान् अर्थवत् (सार्थक) वचन बोलता है। अधातु (बलरहित) मनुष्य रोगी होता है। अप्रत्ययवाला (विश्वास से रहित) नास्तिक होता है और प्रातिपदिक (प्रतिपदा के) चन्द्रमा को लोग नहीं देख पाते।

† इसका विग्रह है—'कृच्च तद्धितश्च समासाश्च इति कृत्तद्धितसमासाः', इतरेतरद्वन्द्वः।

‡ 'अर्थवदित्यनुवर्तते, तत्सामर्थ्यात्तदन्तविधिः'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या। कृत् प्रत्यय तो अन्त में ही होते हैं, किन्तु सभी तद्धितप्रत्यय अन्त में नहीं होते। उदाहरणार्थ 'अकच्' प्रत्यय 'टि' को और 'बहुच्' प्रत्यय पूर्व में होता है। अतः 'तद्धितान्त' न कहकर यदि 'तद्धितयुक्त' कहा जावे तो अधिक उचित होगा, क्योंकि

कृदन्त (जिसके अन्त में कृत्-प्रत्यय हो), तद्धितान्त (जिसके अन्त में तद्धित प्रत्यय हो) और समास भी 'प्रातिपदिक' संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए 'पाचक', 'कारक' आदि कृदन्तों, 'औपगव' आदि तद्धितान्तों और 'राजपुरुष' आदि समासों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

विशेष :—१. ध्यान रहे कि प्रत्ययान्त होने के कारण पूर्वसूत्र (११६) से कृदन्त और तद्धितान्तों की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध प्राप्त होता है। इसी को रोकने के लिए प्रकृतसूत्र की आवश्यकता पड़ी। इससे कृत् और तद्धित प्रत्ययान्त भी प्रातिपदिक-संज्ञक हो जाते हैं। किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि सूत्र में 'समास' का कथन क्यों हुआ, क्योंकि अर्थवान् होने से 'समास' की प्रातिपदिक संज्ञा तो पूर्वसूत्र (११६) से ही प्राप्त थी? इसका उत्तर वैयाकरण यह देते हैं कि यहां समास का ग्रहण नियमार्थ है।* अभिप्राय यह कि जहां अनेक पदों के समूह की प्रातिपदिक संज्ञा हो वहां समास की ही प्रातिपदिक संज्ञा की जावे, अन्य प्रकार के समूहों की नहीं। कहा भी है :—

'यत्रार्थवति संघाते पूर्वो भागस्तथोत्तरः।
स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हः समासस्यैव तस्य चेत्॥'

(जिस अर्थवान् शब्दसमुदाय के पूर्व तथा उत्तर—दोनों भाग स्वतन्त्र रूप से प्रयोग के योग्य हों, उसकी यदि प्रातिपदिक संज्ञा हो तो समास की ही हो, अन्य की नहीं।)

इस नियम से 'राजपुरुष' आदि समस्त पदों की तो प्रातिपदिक संज्ञा होगी, किन्तु 'राज्ञः पुरुषः' आदि वाक्यों की नहीं।

२. कृत्-प्रत्यय 'अष्टाध्यायी' के तृतीय अध्याय के 'कृदतिङ्' ३.१.९३ के अधिकार में तथा तद्धित-प्रत्यय चतुर्थाध्याय के 'तद्धिताः' ४.१.७६ के अधिकार में पढ़े गये हैं। इनका विशेष विवरण तत्तत् स्थलों पर ही प्राप्त होगा।

११८. प्रत्ययः† । ३ । १ । १ (१२०)

(आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्)

'तद्धितान्त' कहने से 'सर्वक' आदि अकच् प्रत्यययुक्त और 'बहुपट' आदि बहुच्-प्रत्यय-युक्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती।

* 'अर्थवत्समुदायानां समासग्रहणं नियमार्थम्'—काशिका।

† लघुसिद्धान्तकौमुदीकार ने इस स्थान पर '११८—स्वौजस्—०' सूत्र दिया है, और उसके पश्चात् '११९—ङ्याप्—०', '१२०—प्रत्ययः' तथा '१२१—परश्च'। किन्तु यह क्रम ठीक नहीं है। 'स्वौजस्—०' सूत्र 'प्रत्ययः', 'परश्च' तथा 'ङ्याप्—०

११८. प्रत्यय इति—यह संज्ञा तथा अधिकार-सूत्र* है। अर्थ है :—(प्रत्ययः) प्रत्यय संज्ञा होती है—यह अधिकार समझना चाहिये। यह 'अष्टाध्यायी' के तृतीयाध्याय के प्रथम पाद का प्रथम सूत्र है और इसका अधिकार पांचवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तीसरे, चौथे और पांचवें अध्याय में आने वाले सूत्रों से जिनका विधान किया जावे, उनको 'प्रत्यय' कहते हैं।

जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है, उसे 'प्रकृति' कहते हैं। जहां-जहां प्रकृति से प्रत्यय का विधान होता है, वहां-वहां प्रकृति पञ्चम्यन्त होती है, यथा—'६४५–स्वादिभ्यः श्नुः' में 'स्वादिभ्यः'। यहां पञ्चमी दिग्योग में होती है। अतः शंका होती है कि प्रत्यय प्रकृति से पर होगा या पूर्व? इसका समाधान अग्रिम सूत्र से होता है :—

११९. परश्च। ३। १। २ (१२१)

(अयमपि तथा)

११९. परश्चेति—यह अधिकार भी है और परिभाषा-सूत्र भी। शब्दार्थ है :—(च) और (परः) पर होता है। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र '११८–प्रत्ययः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा–प्रत्यय परे (पश्चात्) होता है। तात्पर्य यह कि जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है, प्रत्यय उससे परे आता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यय सदैव प्रकृति के पश्चात् आता है, न कि उसके पूर्व। उदाहरणार्थ '६४५–स्वादिभ्यः श्नुः' से जो 'श्नु' प्रत्यय होता है, वह 'सु' आदि धातुओं के पश्चात् आता है, न कि उनके पूर्व।

सूत्रों के अधिकार में आता है, अतः पहले तीनों अधिकारसूत्र आने चाहिये। इनमें भी 'ङ्याप्–०' यह अधिकार 'प्रत्ययः' और 'परश्च'–इन दोनों अधिकारों के अन्तर्गत आता है। अतः इन सूत्रों का उचित क्रम होगा—'११८–प्रत्ययः', '११९–परश्च', '१२०–ङ्याप्–०' और '१२१–स्वौजस्–०'। यहां ये चारों सूत्र इसी क्रम से दिये गये हैं। सिद्धान्तकौमुदीकार ने भी इन सूत्रों को इसी क्रम से रखा है। स्पष्टार्थ इन सूत्रों की वृत्ति भी यहां सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार दे दी गई है। सूत्रों के पुराने क्रमांक कोष्ठक में दिये हुए हैं।

* 'अधिकार-सूत्र' उन सूत्रों को कहते हैं जो निश्चित अवधि तक के सूत्रों से अन्वित होते चले जाते हैं अर्थात् निश्चित अवधि तक के परवर्ती सूत्रों में उन सूत्रों अथवा उन सूत्रों में आनेवाले शब्दों की अनुवृत्ति होती है।

१२०. ङ्याप्प्रातिपदिकात् । ४ । १ । १ (११६)

(ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः)

१२०. ङ्याबिति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(ङ्याप्प्रातिपदिकात्*) ङी, आप् और प्रातिपदिक से होते हैं—यह अधिकार समझना चाहिये। यह 'अष्टाध्यायी' के चतुर्थ पाद का प्रथम सूत्र है और इसका अधिकार पांचवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। सूत्रस्थ 'ङी' से ङीप्, ङीष् और ङीन् प्रत्ययों का तथा 'आप्' से टाप्, चाप् और डाप् प्रत्ययों का ग्रहण होता है।† 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' परिभाषा से यहां तदन्त-विधि हो जाती है। 'प्रातिपदिक' संज्ञा अर्थवान् शब्द, कृदन्त, तद्धित-युक्त और समास की होती है।‡ इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा—चौथे और पांचवें अध्याय में आने वाले सूत्रों से जिनका विधान किया जाता है, वे ङी-प्रत्ययान्त, आप्-प्रत्ययान्त और प्रातिपदिक से होते हैं। ध्यान रहे कि चौथे और पांचवें अध्यायों में '११८—प्रत्ययः' से प्रत्ययों का विधान किया गया है, और ये प्रत्यय '११९—परश्च' से पर होते हैं। अतः सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—चौथे और पांचवें अध्याय में जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे ङी-प्रत्ययान्त (जिसके अन्त में ङीप्, ङीष् या ङीन् हो), आप्-प्रत्ययान्त (जिसके अन्त में टाप्, चाप् या डाप् हो) और प्रातिपदिक (अर्थवान् शब्द, कृदन्त, तद्धित-युक्त या समास) से पर होते हैं।

१२१. स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्-ङेभ्याम्भ्यस्-ङसिभ्याम्भ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्सुप् । ४ । १ । २ (११८)

(ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः)

सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया। टा, भ्याम्, भिस् इति तृतीया। ङे, भ्याम्, भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि, भ्याम्, भ्यस् इति पञ्चमी। ङस्, ओस्, आम् इति षष्ठी। ङि, ओस्, सुप् इति सप्तमी।

१२१. स्वौजसिति—सूत्र का पदच्छेद है—सु+औ+जस्+अम्+औट्+शस्+टा+भ्याम्+भिस्+ङे+भ्याम्+भ्यस्+ङसि+भ्याम्+भ्यस्+ङस्+ओस्+आम्+ङि+ओस्+सुप्। शब्दार्थ है :—(स्वौजस्—सुप्) सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्,

* विग्रह है—'ङी च आप् च प्रातिपदिकञ्च एषां समाहारः = ङ्याप्प्रातिपदिकम्, तस्मात्।'

† 'ङीब्ङीष्ङीनां सामान्येन ग्रहणं ङीति। टाब्डाप्चापामाबिति'—काशिका।

‡ देखिये ११६ वें और ११७ वें सूत्र की व्याख्या।

टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् और सुप् होते हैं। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११८–प्रत्ययः', '११९–परश्च' और '१२०–ङ्याप्–०'—इन तीन अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ङी-प्रत्ययान्त, आप्-प्रत्ययान्त और प्रातिपदिक* से पर सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् और सुप्—ये इक्कीस प्रत्यय होते हैं।

विशेष :—इन इक्कीस प्रत्ययों के सात त्रिक (तीन-तीन के समूह) बनते हैं :—

१. सु, औ, जस् (इसे 'प्रथमा' कहते हैं†)
२. अम्, औट्, शस् (इसे 'द्वितीया' कहते हैं)
३. टा, भ्याम्, भिस् (इसे 'तृतीया' कहते हैं)
४. ङे, भ्याम्, भ्यस् (इसे 'चतुर्थी' कहते हैं)
५. ङसि, भ्याम्, भ्यस् (इसे 'पञ्चमी' कहते हैं)
६. ङस्, ओस्, आम् (इसे 'षष्ठी' कहते हैं)
७. ङि, ओस्, सुप् (इसे 'सप्तमी' कहते हैं)

१२२. सुपः[६] । १ । ४ । १०३

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसञ्ज्ञानि स्युः।

१२२. सुप इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है :—(सुपः) सुप् के...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तिङस्त्रीणि त्रीणि–०' १.४.१०१ से 'त्रीणि त्रीणि' तथा 'तान्येकवचन–०' से 'एकवचनद्विवचनबहुवचनानि' और 'एकशः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'सुप्' प्रत्याहार है, और उसके अन्तर्गत '१२१–स्वौजस्–०' में आये हुए सु, औ आदि इक्कीस प्रत्यय आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुप् (सु औ जस् आदि इक्कीस प्रत्ययों) के (त्रीणि त्रीणि) तीन-तीन वचन (एकशः) क्रमशः (एकवचन–द्विवचन–बहुवचनानि) एकवचन, द्विवचन और बहुवचन-संज्ञक होते हैं।

ध्यान रहे कि सुप्-प्रत्याहार के सात त्रिक होते हैं और प्रत्येक त्रिक में तीन वचन। प्रकृतसूत्र से इन त्रिकों के तीन वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है। उदाहरणार्थ प्रथम त्रिक में सु, औ, जस्—ये तीन वचन

---

* इनके विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (१२०) की व्याख्या देखिये।

† 'तत्र सु औ जस् इत्यादीनां सप्तानां त्रिकाणां प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां संज्ञास्ताभिरिहापि व्यवहारः'–सिद्धान्तकौमुदी।

हैं। प्रकृतसूत्र से यहां 'सु' की एकवचन, 'औ' को द्विवचन और 'जस्' की बहुवचन संज्ञा होती है। अन्य त्रिकों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिये।

विशेष :—१. सुविधा के लिए सम्पूर्ण त्रिकों का वचनबोधक चक्र नीचे दिया जा रहा है :—

त्रिकांक। विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
१ (प्रथमा)	सु (स्)	औ	जस् (अस्)
२ (द्वितीया)	अम्	औट् (औ)	शस् (अस्)
३ (तृतीया)	टा (आ)	भ्याम्	भिस्
४ (चतुर्थी)	ङे (ए)	भ्याम्	भ्यस्
५ (पञ्चमी)	ङसि (अस्)	भ्याम्	भ्यस्
६ (षष्ठी)	ङस् (अस्)	ओस्	आम्
७ (सप्तमी)	ङि (इ)	ओस्	सुप् (सु)

२. ध्यान रहे कि 'सु' का उकार, 'ङसि' का इकार, 'जस्' का जकार, 'शस्' का शकार, 'औट्' और 'टा' का टकार, 'ङे', 'ङसि', 'ङस्' और 'ङि' का ङकार तथा 'सुप्' का पकार इत्संज्ञक है। अतः '३—तस्य लोपः' से इनका लोप हो जाता है। व्यवहार में इन इत्संज्ञक—अनुबन्धरहित प्रत्ययों का ही प्रयोग होता है। चक्र में इन रूपों का संकेत कोष्ठकों द्वारा किया गया है।

१२३. द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने । १ । ४ । २२

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ।

१२३. द्व्येकयोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(*द्व्येकयोः=द्वि+एकयोः) द्वित्व और एकत्व अर्थ में (द्विवचनैकवचने=द्विवचन+एकवचने) द्विवचन और एकवचन होते हैं। '२३—यथासंख्यम्—०' परिभाषा से द्वित्व (दो) की विवक्षा में द्विवचन और एकत्व (एक) की विवक्षा में एकवचन होगा। उदाहरण के लिए जब एक राम को कहना होगा, तब 'राम' शब्द से 'सु' आदि एकवचन के प्रत्यय आवेंगे और जब दो रामों का कथन इष्ट होगा तो 'राम' शब्द से द्विवचन के प्रत्यय 'औ' आदि आवेंगे।

* 'इह द्व्येकशब्दो संख्यापरो—' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

१२४. विरामो[1]ऽवसानम्[1] । १ । ४ । ११०

वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् । रुत्व-विसर्गौ—रामः ।

१२४. विराम इति— यह संज्ञा-सूत्र है। अर्थ है :—(विरामः) विराम (अवसानम्) अवसान संज्ञक होता है। 'विराम*' शब्द के दो अर्थ हैं—१. उच्चारण न होना अर्थात् किसी वर्ण से परे उच्चारण का न होना और २. वह, जिससे उच्चारण ठहरे अर्थात् वह वर्ण जिस पर आकर उच्चारण रुके। प्रथम अर्थ में उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण से आगे अभाव की अवसान संज्ञा होती है किन्तु द्वितीय अर्थ में उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण की ही 'अवसान' संज्ञा होगी। इस प्रकार सूत्र के दो अर्थ होंगे :—

१. उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण से आगे उच्चारणाभाव 'अवसान' संज्ञक होता है।

२. उच्चार्यमाण अन्तिम वर्ण ही 'अवसान' संज्ञक होता है।

उदाहरणार्थ 'राम + सु' में उकार-लोप और रुत्व हो 'रामर्' रूप बनता है। यहाँ प्रथम अर्थ में रकार के पश्चात् उच्चारणाभाव की 'अवसान' संज्ञा होती है और दूसरे अर्थ में स्वतः रकार की। दोनों ही अर्थों में अवसान-संज्ञा होने पर '९३—खरवसानयोः—०' से रकार को विसर्ग हो 'रामः' रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—ध्यान रहे कि जिस पक्ष में उच्चारणाभाव की अवसान संज्ञा होगी, उस पक्ष में '९३—खरवसानयोः' में स्थित 'खरवसानयोः' का अर्थ होगा—'खर् और अवसान परे होने पर', किन्तु जिस पक्ष में अन्तिम वर्ण (यथा—रकार) की अवसान संज्ञा होगी, उस पक्ष में 'खरवसानयोः' का अर्थ होगा—'खर् परे होने पर और अवसान में वर्तमान'।

१२५. सरूपाणा[6]मेकशेष[1] एकविभक्तौ[7] । १ । २ । ६४

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि, तेषामेक एव शिष्यते।

१२५. सरूपाणामिति—सूत्र का शब्दार्थ है:—(एकविभक्तौ†) समान विभक्ति परे होने पर (सरूपाणाम्‡) समान रूप वाले शब्दों का (एकशेषः) एक रूप ही शेष रहता है। तात्पर्य यह कि दो या दो से अधिक समान रूप वाले शब्दों के पश्चात् जब कोई समान विभक्ति§ आती है, तब उन समान रूप वाले

---

* 'विरतिर्विरामः। विरम्यतेऽनेनेति वा विरामः'—काशिका।

† 'एका चासौ विभक्तिश्च, तस्याम्=एकविभक्तौ', कर्मधारयसमासः (समान-विभक्तावित्यर्थः)।

‡ 'समानं रूपमेषामिति सरूपाः' (काशिका)।

§ इसके स्पष्टीकरण के लिए १३० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

शब्दों में से एक रूप ही शेष रहता है, अन्यों का लोप हो जाता है।*

ध्यान रहे कि 'प्रत्यर्थं शब्दः' परिभाषा से प्रत्येक अर्थ के लिए शब्द के उच्चारण की आवश्यकता होती है। अतः यदि दो राम कहने हों तो 'राम' शब्द का उच्चारण भी दो बार होगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'राम राम।' अब यदि यहाँ दोनों समान रूप वाले शब्दों के पश्चात् एक ही विभक्ति 'सु' आवे, तो प्रकृतसूत्र से एक ही 'राम' शेष रहता है, दूसरे का लोप हो जाता है। इसी प्रकार बहुवचन में 'राम राम राम+सु' रूप बनने पर भी एक ही 'राम' शेष रह जाता है, अन्य दो का लोप हो जाता है। 'यः शिष्यते न लुप्यमानार्थाभिधायी' परिभाषा से यह शेष एकरूप 'राम' प्रसङ्गानुसार दो या तीन रामों का बोधक होता है।

१२६. प्रथमयोः[६] पूर्वसवर्णः[१] । ६ । १ । १०२

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते—

१२६. प्रथमयोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है:—(प्रथमयोः) प्रथमा विभक्तियों का...(पूर्वसवर्णः) पूर्वसवर्ण होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '४२—अकः—०' से 'अकः' और 'दीर्घः', '१५—इकः—०' से 'अचि' तथा अधिकार-सूत्र 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' का अन्वय सूत्रस्थ 'प्रथमयोः' से होता है। इस 'प्रथमयोः' से यहाँ प्रथमा और द्वितीया—इन दोनों ही विभक्तियों का ग्रहण होता है।† प्रथमा विभक्ति के अन्तर्गत सु, औ, जस् और द्वितीया विभक्ति के अन्तर्गत अम्, औट्, शस् आते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अक् अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ से प्रथमा या द्वितीया विभक्ति का अच् अर्थात् कोई स्वर परे हो, तो पूर्व-पर के स्थान में पूर्वसवर्णदीर्घ‡ एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'राम+औ' में

---

* यह व्याख्या 'काशिका' के अनुसार है। सिद्धान्तकौमुदीकार ने विभक्ति का अन्वय सारूप्य से किया है (विभक्तिः सारूप्ये उपलक्षणं, न त्वेकशेषे निमित्तम्)। इस प्रकार उनके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—'समान विभक्ति परे होने पर जो शब्द एक जैसे ही देखे जाते हैं, उनमें से एक ही शेष रहता है।' इसके अनुसार जिन शब्दों के रूप सभी विभक्तियों में एक समान होंगे, उन्हीं शब्दों में एकशेष हो सकेगा।

† 'प्रथमाशब्दो विभक्तिविशेषे रूढस्तत्साहचर्यात् द्वितीयापि प्रथमेत्युक्ता' (काशिका)।

‡ 'पूर्वसवर्ण दीर्घ' का अर्थ है—पूर्व वर्ण का सवर्ण दीर्घ। यहाँ पूर्ववर्ण अ, इ, उ, ऋ और ऌ हैं। इनके सवर्ण दीर्घ क्रमशः आ, ई, ऊ, ॠ और ॡ ही होंगे।

अन्त्य अक्-अकार से परे प्रथमा विभक्ति का अच्-औकार है, अतः प्रकृतसूत्र पूर्वपर के स्थान में आकार दीर्घादेश प्राप्त होता है। ध्यान रहे कि यह सूत्र 'वृद्धिरेचि' ६.१.८८ से प्राप्त वृद्धि एकादेश का बाध करता है। किन्तु इस सूत्र का भी बाध अग्रिम सूत्र से हो जाता है :—

१२७. नाऽऽदिचि । ६ । १ । १०४

आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि—रामौ ।

१२७. नादिचीति—यह सूत्र स्वयं पूर्ण नहीं है। सूत्र का शब्दार्थ है :— (आत्) अवर्ण से (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (न) नहीं। इसकी व्याख्या के लिए पूर्व की भाँति 'अकः सवर्णे दीर्घः' ६.१.१०१ से 'दीर्घः' तथा सम्पूर्ण 'एकः पूर्वपरयोः' सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। इसके साथ ही साथ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ से 'पूर्वसवर्णः' की अनुवृत्ति होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अवर्ण से इच् अर्थात् इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ में से कोई परे हो, तो पूर्व पर के स्थान में दीर्घ एकादेश नहीं होता। उदाहरण के लिए 'राम + औ' में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त था, लेकिन अवर्ण से परे इच्-औकार होने के कारण यह सूत्र प्रवृत्त न हो सकेगा। इसका बाध हो जाने पर 'वृद्धिरेचि' ६.१.८८ से वृद्धि एकादेश होकर 'रामौ' रूप बन जाता है।

१२८. बहुषु बहुवचनम् । १ । ४ । २१

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ।

१२८. बहुष्विति—सूत्र का शब्दार्थ है :—(बहुषु) बहुत्व में (बहुवचनम्) बहुवचन होता है। तात्पर्य यह है कि यदि दो से अधिक संख्या की विवक्षा होती है, तो बहुवचन के प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए यदि हमें तीन रामों का कथन अभिप्रेत है, तो हमें 'राम' शब्द में बहुवचनवाची 'जस्' प्रत्यय को लगाना होगा।

१२९. चुटू । १ । ३ । ७

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः ।

१२९. चुटू इति :—सूत्र का शब्दार्थ है—(चुटू) चवर्ग और टवर्ग। स्पष्टतः ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिए 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से 'इत्', 'आदिर्ञिटुडवः' १.३.५ से 'आदिः' तथा 'षः प्रत्ययस्य' १.३.६ से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रत्यय के आदि चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) और टवर्ग (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) इत्संज्ञक

होते हैं। इत्संज्ञा का परिणाम लोप होता है—'तस्य लोपः' १.३.९। उदाहरण के लिए 'राम + जस्' में प्रत्यय के आदि में चवर्गीय जकार है अतः उसकी इत्संज्ञा होगी। इत्संज्ञा होने पर उसका लोप होकर 'राम+अस्' रूप की प्राप्ति होगी।

१३०. विभक्तिश्च । १ । ४ । १०४

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः ।

१३०. विभक्तिरिति—यह भी संज्ञा-सूत्र है और स्वतः पूर्ण नहीं है। सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (विभक्तिः) विभक्ति। इसकी व्याख्या के लिए 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' १.४.१०१ से 'तिङ्' तथा 'सुपः' १.४.१०३ से 'सुप्' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। सुप् प्रत्याहार में 'सु' से लेकर सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' के पकार तक इक्कीस प्रत्ययों का समावेश होता है, जिनकी गणना '१२१—स्वौजस्—०' ४.१.२ सूत्र में की गई है। तिङ् प्रत्याहार में 'तिप्' से लेकर 'महिङ्' तक अठारह धातुप्रत्ययों का ग्रहण होता है।* इस प्रकार अर्थ होगा—सुप् और तिङ् विभक्ति-संज्ञक होते हैं। उदाहरणार्थ 'सु औ जस्' आदि सुप् तथा 'तिप् तस् झि' आदि तिङ् विभक्तिसंज्ञक होंगे। विभक्तिसंज्ञा का फल अग्रिम सूत्र में बताया गया है—

१३१. न विभक्तौ[७] तुस्माः[२] । १ । ३ । ४

विभक्तिस्थास्तवर्ग-सकारमकारा नेतः । इति सस्य नेत्त्वम् । रामाः ।

१३१. न विभक्तौ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(विभक्तौ) विभक्ति में स्थित (तुस्माः) तवर्ग, सकार और मकार (न) नहीं। स्पष्टतः ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिए 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से 'इत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा—विभक्ति में स्थित तवर्ग (त, थ, द, ध, न), सकार और मकार इत्संज्ञक नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए 'राम + अस्' में 'हलन्त्यम्' १.३.३ सूत्र द्वारा अन्त्य हल्—सकार की इत्संज्ञा प्राप्त थी, किन्तु प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जाता है और इस प्रकार सकार का लोप नहीं होगा। तब 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ से दीर्घ सवर्ण होकर 'रामास्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग हो 'रामाः' रूप सिद्ध होगा।

१३२. एकवचनं[१] सम्बुद्धिः[१] । २ । ३ । ४९

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् ।

१३२. एकवचनमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एकवचनं) एकवचन (सम्बुद्धिः) सम्बुद्धि-संज्ञक हो। परन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसके

---

* तिङ् प्रत्यय ये हैं—'तिप्—तस्—झि—सिप्—थस्—थ—मिप्—वस्—मस्—ता—आतां—झ—थास्—आथां—ध्वम्—इड्—वहि—महिङ्।' ३.४.७८

होगा—ए, ओ तथा ह्रस्व से परे सम्बुद्धि* के हल् (व्यञ्जन) का लोप हो जाता है। किन्तु ऐसा कहने से 'कतरद्' की रूपसिद्धि में बाधा पड़ती है। अतः सूत्र को व्यापक बनाने के लिए 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' १.४.१३ से 'अङ्गम्' की अनुवृत्ति करनी होगी जो 'एङ्ह्रस्वात्' का विशेष्य बनेगा। इस प्रकार अब सूत्र का भावार्थ होगा—एङन्त (जिसके अन्त में ए या ओ हो) और ह्रस्वान्त अङ्ग से परे हल् सम्बुद्धि का लोप हो। उदाहरण के लिए 'राम + स्' में ह्रस्वान्त अंग 'राम' से परे सम्बुद्धि का हल् सकार है, अतः उसका लोप हो गया। इसी प्रकार एङन्त अंग के उदाहरण 'हरे + स्' और 'विष्णो + स्' हैं जिनके सम्बुद्धि के हल्—सकार का लोप हो जाने पर क्रमशः 'हरे' और 'विष्णो' रूप बनते हैं।

१३५. अमि पूर्वः । ६ । १ । १०७

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः । रामम् । रामौ ।

१३५. अमीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अमि) अम् अर्थात् द्वितीया विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय परे होने पर (पूर्वः) पूर्व हो। स्पष्ट ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिए 'इको यणचि' ६.१.७७ से 'अचि', 'अकः सवर्णे दीर्घः' ६.१.१०१ से 'अकः' तथा सम्पूर्ण 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.७४ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अ, इ, उ, ऋ, ऌ (अक्) से परे अम् का अच् (कोई स्वर) हो, तो पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'राम + अम्' में अक्—अकार से परे अम् का अच् अकार है, अतः पूर्वरूप आदेश होकर 'रामम्' रूप बनेगा। यह सूत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' ६.१.१०१, 'अतो गुणे' ६.१.६७ और 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२—इन तीनों सूत्रों का बाध करता है।

१३६. लशक्वतद्धिते । १ । ३ । ८

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा इतः स्युः ।

१३६. लशक्वेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लशकु) लकार, शकार और कवर्ग (अतद्धिते) तद्धितभिन्न के। किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसकी व्याख्या के लिए 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से 'इत्', 'आदिर्ञिटुडवः' १.३.५ से 'आदिः' तथा 'षः प्रत्ययस्य' १.३.६ से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि लकार, शकार अथवा कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) की इत्संज्ञा होगी। तद्धित प्रत्यय के निषेध होने से

* सम्बुद्धि की परिभाषा के लिए देखिये—'१३२-एकवचनं सम्बुद्धिः'।

कप् , लच् आदि में इत्संज्ञा नहीं होगी। उदाहरण के लिए 'राम+शस्' में तद्धित-भिन्न प्रत्यय का आदि शकार है, अतः उसकी इत्संज्ञा होगी। इत्संज्ञा होने पर शकार का लोप होकर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ से सवर्णदीर्घ होकर 'रामास्' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१३७. तस्माच्छसो नः पुंसि । ६ । १ । १०३

पूर्वसवर्णदीर्घात् परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि ।

१३७. तस्मादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तस्मात्) उससे पर (शसः) शस् के स्थान पर (नः) नकार हो, (पुंसि) पुँल्लिंग में। यह सूत्र 'प्रथमयोः पूर्व-सवर्णः' ६.१.१०२ के प्रकरण में आया है और इसका 'तस्मात्' पद पूर्वसवर्ण की ओर संकेत करता है। अतः 'तस्मात्' का अर्थ होगा—'पूर्वसवर्णदीर्घात्'। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से नकार आदेश शस् के अन्त्य अल्—सकार को ही होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का अर्थ है—पूर्वसवर्णदीर्घ से परे शस् के सकार को नकार आदेश होता है।* उदाहरण के लिए 'रामास्' में पूर्वसवर्णदीर्घ मकारोत्तरवर्ती आकार है, अतः इससे पर शस् के सकार को नकार होकर 'रामान्' रूप बनेगा।

१३८. अट्-कु-प्वाङ्-नुम्-व्यवायेऽपि । ८ । ४ । २

अट् कवर्गः पवर्ग आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे । इति प्राप्ते—

१३८. अट्कुप्विति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अट्-कु-प्वाङ्-नुम्-व्यवाये) अट् , कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् के व्यवधान होने पर (अपि) भी। स्पष्ट ही यह सूत्र अपूर्ण है। इसकी व्याख्या के लिए सम्पूर्ण 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। अट् प्रत्याहार में अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह् , य् , व् , र् का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अट् प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम्—इनसे व्यवधान होने पर भी रकार या षकार से परे नकार को णकार हो, समान अर्थात् अखंड पद में। यह व्यवधान अट् आदि का पृथक्-पृथक् अथवा दो-तीन आदि का एक साथ भी हो सकता है। पूर्व सूत्र में व्यवधानरहित नकार को णत्व का विधान किया गया था, अतः व्यवधान-सहित नकार के णत्व-विधान के लिए इस सूत्र की आवश्यकता हुई।

णत्वविधान के लिए पद का अखंड होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए

---

* ध्यान रहे कि जहां '१२६–प्रथमयोः–०' से पूर्वसवर्णदीर्घ होगा, वहीं पर प्रकृतसूत्र प्रवृत्त होगा।

'रामनाथ' 'रघुनाथ' आदि पद अखंड नहीं हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक पद अर्थात् 'राम' और 'नाथ' आदि का अलग-अलग प्रयोग हो सकता है। अतः रकार से पर नकार होते हुए भी यहां प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है। सूत्रोक्त सभी विशेषताएं हमें 'रामान्' (र्+आ+म्+आ+न्) में मिलती हैं। यहां रकार से परे 'आ'= अट्, 'म्'=पवर्ग और 'आ' = अट्—इन तीन वर्णों से व्यवहित नकार है, अतः प्रस्तुत सूत्र से नकार के स्थान में णकार प्राप्त होता है। किन्तु इसका निषेध अग्रिम सूत्र से हो जाता है—

१३९. पदान्तस्य । ८ । ४ । ३७

नस्य णो न । रामान् ।

१३९. पदान्तस्येति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसका शब्दार्थ है—(पदान्तस्य) पदान्त के। इसकी व्याख्या के लिए सम्पूर्ण 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ तथा 'न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम्' ८.४.३४ में से 'न' अव्ययपद की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—रकार और षकार से परे पदान्त नकार को णकार न हो। उदाहरण के लिए 'रामान्' सुबन्त होने के कारण 'सुप्तिङन्तं पदम्' १.१.१४ परिभाषा से पदसंज्ञक होगा। नकार अन्त में होने के कारण पदान्त है। अतः प्रस्तुत सूत्र से नकार को णकार न होकर नकार ही रहेगा और रूप बनेगा—'रामान्'।

१४०. टा-ङसि-ङसामिनात्स्याः । ७ । १ । १२

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः । णत्वम्—रामेण ।

१४०. टाङसीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(टा-ङसि-ङसाम्) टा, ङसि, ङस् के स्थान पर (इनात्स्याः) इन्, आत् और स्य आदेश हों। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां 'अङ्गस्य' अधिकृत है जिसका विभक्तिपरिणाम 'अङ्गात्' होगा। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अतः' में तदन्तविधि हो जाती है—'अदन्ताद् अङ्गात्'। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अदन्त अंग* से परे टा, ङसि और ङस् के स्थान पर 'इन', 'आत्' और 'स्य' हों। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० परिभाषा से टा के स्थान पर इन, ङसि के स्थान पर आत् और ङस् के स्थान पर 'स्य' होगा। उदाहरण के लिये 'राम+टा' में अदन्त अङ्ग से परे 'टा' के स्थान में 'इन' हो जावेगा और रूप बनेगा—रामेन।

---

* इसका अर्थ है—जिस अङ्ग के अन्त में ह्रस्व अकार हो। देखिये २८ वें सूत्र की व्याख्या।

यहां पर 'अट्कु–०' ८.४.२ सूत्र से णत्व होकर 'रामेण' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार पञ्चमी एकवचन की विवक्षा में 'राम + ङसि' में ङसि के स्थान पर आत् होकर 'रामात्' रूप बनेगा और षष्ठी एकवचन में 'राम + ङस्' में ङस् के स्थान पर 'स्य' होकर 'रामस्य' रूप सिद्ध होगा।

१४१. सुपि च । ७ । ३ । १०२

यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः । रामाभ्याम् ।

१४१. सुपीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (सुपि) सुप् परे होने पर।-स्पष्टतः ही यह सूत्र अपूर्ण है और इसकी व्याख्या के लिये सम्पूर्ण 'अतो दीर्घो यञि' ७.३.१०१ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यञि' पद 'सुपि' का विशेषण है और अल् है, इसलिए इससे तदादि विधि होकर 'यञादौ सुपि' बन जावेगा। 'अङ्गस्य' यहां भी अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यञादि (यञ् आदि में हो जिसके) सुप् प्रत्यय परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। 'यञ्' प्रत्याहार में य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, न्, ङ्, ण्, झ् और भ् तथा 'सुप्' में सु, औ आदि २१ प्रत्ययों का ग्रहण होता है*। वस्तुतः यञादि सुप् तीन ही हैं—भ्याम्, भ्यस् और भिस्। 'ङे' के स्थान पर आदेश हुआ 'य' भी यञादि सुप् होता है। इसमें से 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' (सूत्र–१४२) और 'भ्यस्' परे होने पर एकारादेश (सूत्र–१४५) हो जाता है। अतः केवल 'भ्याम्' और 'ङे' के स्थान पर आदेशित 'य' परे होने पर ही अकारान्त अङ्ग को दीर्घ (आ) होता है। उदाहरण के लिए 'राम + भ्याम्' में यञादि सुप् प्रत्यय 'भ्याम्' परे होने के कारण अदन्त अङ्ग 'राम' को दीर्घ हो जावेगा। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से 'राम' के अन्त्य अकार का दीर्घ होकर 'रामाभ्याम्' रूप बनेगा।

१४२. अतो भिस ऐस् । ७ । १ । ९

'४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' । रामैः ।

पर ऐस् आदेश होकर 'राम + ऐस्' रूप बनेगा। तब वृद्धि होकर रुत्व-विसर्ग करने पर 'रामैः' रूप सिद्ध होगा।

१४३. ङेर्यः । ७ । १ । १३

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः ।

१४३. ङेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ङेः) ङे के स्थान पर (यः) य हो। किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। यह सूत्र भी अङ्गाधिकार में आया है, अतः 'अत्' से अदन्त अङ्ग का ही ग्रहण होगा। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है—अदन्त अङ्ग से परे ङे (चतुर्थी एकवचन) के स्थान पर 'य' आदेश हो। ध्यान रहे कि 'य' आदेश सस्वर है। उदाहरण के लिए 'राम + ङे' में अदन्त अङ्ग से परे ङे के स्थान पर 'य' होकर 'राम + य' रूप बनेगा।

१४४. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १ । १ । ५६

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् '१४१–सुपि च' ७.३.१०२ इति दीर्घः। रामाय। रामाभ्याम्।

१४४. स्थानिवदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आदेशः) आदेश (स्थानिवत्) स्थानिवत् होता है, यदि वह (अनल्विधौ) अल्विधि में न हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए हमें स्थानी, आदेश, स्थानिवत् और अनल्विधि का अर्थ जानना आवश्यक है—

स्थानी—जिसके स्थान पर कुछ विधान किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'ङेर्यः' ७.१.१३ में ङे के स्थान पर 'य' का विधान किया गया है, अतः 'ङे' स्थानी है।

आदेश—जो स्थानी के स्थान पर किया जाता है, उसे 'आदेश' कहते हैं। उदाहरणार्थ 'ङेर्यः' सूत्र में 'ङे' स्थानी के स्थान पर 'य' का विधान किया गया है, अतः 'य' आदेश होगा।

स्थानिवत्—इसका तात्पर्य यह है कि जो धर्म स्थानी में हो, वह आदेश में भी रहे या समझा जावे। उदाहरण के लिए 'राम + ङे' के 'ङे' में सुप्त्व धर्म है, अतः उसके स्थान पर आदेशित 'य' में भी सुप्त्व धर्म होगा। इस प्रकार 'य' में सुप्त्व मान लेने पर '१४१–सुपि च' ७.३.१०२ से 'राम + य' में अकार को दीर्घ होकर 'रामाय' रूप बन जावेगा।

अनल्विधि—इसका अर्थ है कि अलाश्रय विधि में आदेश स्थानिधर्मक नहीं होता। अल् प्रत्याहार में सभी वर्ण आ जाते हैं। अतः एक वर्ण

का जहाँ पर आश्रयण होगा, उस विधि के करने में आदेश स्थानिवत् नहीं होगा। समास-विग्रह के अनुसार इस विधि के चार रूप हो सकते हैं—

१. अला विधिः इति अल्विधिः, तृतीयातत्पुरुषः। तात्पर्य यह कि स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। उदाहरण के लिए 'व्यूढोरस्केन' में विसर्ग के स्थान पर सकार हुआ है, और विसर्ग को अट् माना गया है। अतः यदि आदेश को स्थानिवत् माना जावे, तो '१३८-अट्कु-०' ८.४.२ से अन्त्य नकार को णकार होकर 'व्यूढोरस्केण' रूप बनेगा जो कि अभीष्ट नहीं है।

२. अलः (परस्य) विधिः, इति पंचमीतत्पुरुषः। अर्थात् स्थानी अल् से परे कोई विधि हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'दिव्' शब्द से 'सु' विभक्ति परे होने पर 'दिव औत्' ७.१.८४ से वकार के स्थान पर औकार आदेश होकर 'दि औ स्' रूप बनेगा। फिर 'इको यणचि' ६.१.७७ से यणादेश होकर 'द्यौस्' की दशा में यदि स्थानिवद्भाव से औकार में स्थानी वकार का धर्म हल्त्व मान लिया जावे, तो '१७९-हल्ङयाब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' ६.१.६८ से सकार का लोप प्राप्त होता है जो कि अभिप्रेत नहीं है।

३. अलि (परे) विधिः, इति सप्तमीतत्पुरुषः। स्थानी अल् के परे होने पर यदि उससे पूर्व कोई विधि करनी हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'कर् + इष्टः' में यदि 'इष्ट' के इकार आदेश को स्थानिवत् अर्थात् यकारवत् हश् प्रत्याहार के अन्तर्गत मानें तो 'हशि च' ६.१.११४ से रकार के स्थान पर उत्व प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहाँ स्थानी अल्—यकार है, उसके परे होने पर उससे परे रकार को उत्व प्राप्त होता है, अतः आदेश (इ) स्थानिवत् (यकारवत्) नहीं होगा।

४. अलः (स्थाने) विधिः इति षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थात् स्थानी अल् के स्थान पर यदि कोई विधि करनी हो, तो आदेश स्थानिवत् नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'द्युकामः' में 'दिव उत्' ६.१.१३१ से वकार के स्थान पर उकार हुआ है। यदि 'उ' को स्थानी(वकार ,वत् माना जावे, तो वकार के वल् प्रत्याहार में होने के कारण 'लोपो व्योर्वलि' ६.१.६६ से उसका लोप प्राप्त होता है जो कि अनिष्ट है।

इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य है कि अल्-विधि को छोड़ कर अन्य स्थानों पर आदेश स्थानिधर्मक होगा।

१४५. बहुवचने[२] झल्येत्[३] । ७ । ३ । १०३

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुपि किं—पचध्वम्।

१४५. बहुवचने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(बहुवचने) बहुवचन में

(झलि) झल् प्रत्याहार परे होने पर (एत्) एत् या एकार आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो दीर्घो यञि' ७.३.१०१ से 'अतः', '१४१–सुपि च' से 'सुपि' और अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अतः' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से तदन्त-विधि होती है। 'सुपि' का विशेषण होने के कारण 'झलि' से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' परिभाषा द्वारा तदादि विधि का ग्रहण होगा—झलादि सुप्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झलादि (जिसके आदि में झल् हो) बहुवचन सुप् परे होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश अदन्त अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ही होगा। झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह का समावेश होता है। अतः यदि इनमें से कोई भी वर्ण सुप् प्रत्याहार के बहुवचन के आदि में होगा, तो अदन्त अंग के अन्त्य को एकार हो जावेगा। उदाहरण के लिए 'राम+भ्यस्' में झल्–भकारादि सुप् परे होने पर अन्त्य अकार को एकार होकर 'रामेभ्यस्' रूप बनेगा। फिर रुत्व और विसर्ग होकर 'रामेभ्यः' रूप सिद्ध होगा।

ध्यान रहे कि यह सूत्र सुप् प्रत्याहार परे होने पर ही प्रवृत्त होगा। अन्यथा 'पचध्वम्' (तुम सब पकाओ) में भी एकार होकर 'पचेध्वम्' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। 'ध्वम्' झलादि बहुवचन तो है, किन्तु यह तिङ् है सुप् नहीं। अतः यहां प्रस्तुत सूत्र से एकार नहीं होगा।

१४६. वाऽवसाने । ८ । ४ । ५६

अवसाने झलां चरो वा। रामात्, रामाद्। रामाभ्याम्। रामेभ्यः। रामस्य।

१४६. वाऽवसाने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वा) विकल्पतः (अवसाने) अवसान में। स्पष्ट ही यह सूत्र अपूर्ण है। इसकी व्याख्या के लिए 'झलां जश् झशि' ८.४.५३ से 'झलां' तथा 'अभ्यासे चर्च' ८.४.५४ से 'चर्' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अवसान* में झलों को विकल्प से चर् हों। झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह्, का समावेश होता है। चर् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम वर्ण तथा श्, ष्, स् का समावेश होता है। अतः यदि अवसान में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण या श्, ष्, स्, ह् में से कोई वर्ण हो, तो उसके स्थान

* 'अवसान' के अर्थ के लिए '१२४–विरामोऽवसानम्' १.४.११० की व्याख्या देखिये।

पर सवर्ण वर्ग का प्रथम वर्ण अथवा श्, ष्, स् विकल्प से आदेश होगा* । उदाहरण के लिए 'रामाद्' में दकार को तकार होकर विकल्प से 'रामात्' रूप बनेगा । दूसरे पक्ष में 'रामाद्' ही रहेगा ।

१४७. ओसि च । ७ । ३ । १०४

अतोऽङ्गस्यैकारः । रामयोः ।

१४७. ओसीति—सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है—(च) और (ओसि) 'ओस्' परे रहने पर । इसकी व्याख्या के लिए 'अतो दीर्घो यञि' ७.३.१०१ से 'अतः' तथा 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ से 'एत्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अत्' से तदन्तविधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ओस् परे होने पर अदन्त अंग के स्थान पर एकार आदेश हो । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश अंग के अन्त्य वर्ण को ही होगा । उदाहरण के लिए 'राम + ओस्' में 'ओस्' परे होने पर अदन्त अंग 'राम' के अकार को एकार आदेश होकर 'रामे + ओस्' रूप बनेगा । तब अयादेश और रुत्व-विसर्ग होकर 'रामयोः'† रूप सिद्ध होगा ।

१४८. ह्रस्वनद्यापो नुट् । ७ । १ । ५४

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः ।

१४८. ह्रस्वनद्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ह्रस्वनद्यापः) ह्रस्व, नदी और आप् के बाद (नुट्) नुट् आगम हो । किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है । इसके लिए 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' ७.१.५२ से 'आमि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' यहां भी अधिकृत है अतः ह्रस्व आदि से तदन्त अंग का ग्रहण होगा । 'नदी' एक पारिभाषिक शब्द है । दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिंग शब्द नदी-संज्ञक होते हैं—'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३ । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्वान्त, नद्यन्त (जिसके अन्त में दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिंग शब्द हों) तथा आबन्त (जिसके अन्त में टाप्, चाप् और डाप्—ये तीन स्त्रीबोधक प्रत्यय हों)‡ अंग से परे आम् को नुट् का आगम होता है । नुट् में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८४–आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से 'आम्' का आद्यवयव होगा । 'नुट्' में टकार तो इत्संज्ञक है ही, उकार भी उच्चारणार्थक है, अतः नकार ही शेष रहता है ।

---

* विशेष विवरण के लिए ७४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'रामयोः' की रूप-सिद्धि देखिये ।

‡ 'टाब्डाप्चापामाचिति'–काशिका (४.१.१.) ।

उदाहरण के लिए 'राम+आम्' में ह्रस्वान्त अंग से 'आम्' परे होने के कारण नुडागम होकर 'राम+नाम्' रूप बनता है। नद्यन्त अङ्ग का उदाहरण 'बहुश्रेयसीनाम्' में मिलता है। 'बहुश्रेयसी' शब्द की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३ से नदी संज्ञा होती है अतः यह नद्यन्त है। इसी प्रकार आबन्त का उदाहरण 'रमाणाम्' में मिलता है। यहां 'रमा' शब्द में 'अजाद्यतष्टाप्' ४.१.४ से टाप् प्रत्यय हुआ है अतः आबन्त है। इसीलिए इनसे परे भी 'आम्' को 'नुट्' आगम हो गया है।

१४९. नामि[७] । ६ । ४ । ३

(नामि परे) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः। रामाणाम्। रामे। रामयोः। एत्त्वे कृते—

१४९. नामीति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(नामि) नाम् के परे होने पर। इसकी व्याख्या के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः' तथा सम्पूर्ण अधिकारसूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचश्च' १.२.२८ परिभाषा द्वारा 'अचः' पद आकर 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजन्त अङ्ग (जिसके अन्त में कोई स्वर हो) को 'नाम्' परे होने पर दीर्घ होता है। उदाहरण के लिए 'राम + नाम्' में 'नाम्' परे होने के कारण अजन्त अंग 'राम' के अकार को दीर्घ होकर 'रामा + नाम्' रूप बनेगा। फिर '१३८—अट्कु—०' ८.४.२ से नकार को णकार होकर 'रामाणाम्' रूप सिद्ध होगा।

१५०. आदेशप्रत्यययोः[६] । ८ । ३ । ५९

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

१५०. आदेशेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आदेशप्रत्यययोः) आदेश और प्रत्यय के। स्पष्ट ही इससे सूत्र का भावार्थ ज्ञात नहीं होता। इसकी व्याख्या के लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५, 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से 'सः' की, तथा सम्पूर्ण 'इण्कोः' ८.३.५७ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आदेशप्रत्यययोः' में 'आदेश' के साथ अभेदात्मिका षष्ठी और 'प्रत्यय' के साथ अवयवषष्ठी है। इसी से 'प्रत्ययस्य' का अर्थ यहां 'प्रत्यय का अवयव' होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इण् प्रत्याहार और कवर्ग से पर अपदान्त आदेशरूप और प्रत्ययावयव सकार के स्थान पर मूर्धास्थानीय वर्ण आदेश होता है। इण् प्रत्याहार में इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल् का समावेश होता है। अतः इनमें से किसी वर्ण अथवा कवर्ग

में से किसी वर्ण के परे जब अपदान्त आदेशरूप या प्रत्यय का अवयव सकार होगा, तभी उसके स्थान पर मूर्धन्य वर्ण का आदेश होगा। मूर्धन्य वर्ण आठ हैं—ऋ, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, र्, ष्। यहां स्थानी सकार के साथ इनमें से किसी का स्थान तुल्य नहीं है। अतः अब यत्न में समता देखनी है। सकार का ईषद्विवृत आभ्यन्तर यत्न तथा विवार, श्वास, अघोष-यह बाह्ययत्न है। मूर्धन्य वर्णों में केवल 'ष' ही इस प्रकार के यत्नवाला है। अतः सकार के स्थान पर षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा।

उदाहरण के लिये 'रामे+सु' में मकारोत्तरवर्ती एकार-इण् के परे अपदान्त प्रत्ययावयव सकार है। अतः उसके स्थान पर षकार होकर 'रामेषु' रूप सिद्ध होगा। आदेश रूप सकार के स्थान पर षकार-आदेश के उदाहरण 'सुष्वाप' (वह सोया) और 'सिषेवे' (उसने सेवा की) आदि में मिलते हैं। षत्व-विधान के लिए दो बातें आवश्यक हैं—१. सकार को इण् प्रत्याहार या कवर्ग से परे होना चाहिये और २. सकार को अपदान्त होना चाहिये। इण् या कवर्ग से परे न होने के कारण 'रामस्य' आदि में षकार नहीं होता। इसी प्रकार अपदान्त में न होने के कारण 'हरिस्तत्र' आदि में सकार को षकार नहीं होता।

१५१. सर्वादीनि सर्वनामानि। १। १। २७

सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम।

(ग० सू०) पूर्वपराऽवर दक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्।
(ग० सू०) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।
(ग० सू०) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्।

१५१. **सर्वादीनीति**—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(सर्वादीनि) सर्व आदि (सर्वनामानि) सर्वनाम-संज्ञक हैं। तात्पर्य यह कि सर्वादिगण में पढ़े हुए शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है।

सर्वनाम संज्ञा अन्वर्थक अर्थात् अर्थानुसार है। 'सर्वस्य नामेति सर्वनाम' तात्पर्य यह है कि इस गण में पढ़े हुए शब्द यदि 'सभी' के अर्थ में प्रयुक्त हों, तो सर्वनाम-संज्ञक होंगे, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए यदि 'सर्व' शब्द किसी व्यक्ति-विशेष का वाचक होगा, तो उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। इसी प्रकार 'सर्वमतिक्रान्तः' इस विग्रह से बने हुए 'अतिसर्व' आदि शब्द भी सर्वनाम-संज्ञक नहीं हैं, क्योंकि 'सर्व' शब्द यहां गौण है। इसीसे कहा गया है—'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' अर्थात्

संज्ञार्थक या गौणार्थक सर्वादि शब्द सर्वनाम-संज्ञक नहीं होते हैं। सर्वादियों का परिगणन इस प्रकार है—सर्व (सब), विश्व (सब), उभ (दो), उभय (दो का समुदाय), अन्य (दूसरा), अन्यतर (दो में से एक), इतर (अन्य), त्व (अन्य), नेम (आधा), सम (सब), सिम (सब) आदि।*

(ग० सू०) **पूर्वपरेति**—यह उपर्युक्त सूत्र से सम्बन्धित गणपाठ है। इसका शब्दार्थ है—पूर्व (पहला), पर (दूसरा), अवर (पश्चिम), दक्षिण (दक्षिण दिशा), उत्तर (उत्तर दिशा), अपर (पश्चिम) और अधर (नीचा)—ये सात शब्द व्यवस्था और असंज्ञा में सर्वनामवाची होते हैं। व्यवस्था का अर्थ है—'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था' अर्थात् जहां 'यह किससे पूर्व है ? किससे पर है ?' इत्यादि अवधि के नियम की आकांक्षा हो, वहां पर प्रयुक्त पूर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'दक्षिणा गाथकाः' में दक्षिण शब्द चतुरवाचक है और अवधि की आकांक्षा नहीं होती, अतः इसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। इसी प्रकार 'पूर्व' आदि जब किसी के नाम होंगे, तब उनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी।

(ग० सू०) **स्वमिति**—सूत्र का अर्थ है—(अज्ञातिधनाख्यायाम्) ज्ञाति अर्थात् बान्धव तथा धन अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थों में (स्वम्) 'स्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा होती है। 'स्व' शब्द के चार अर्थ हैं†—आत्मा, आत्मीय (अपना), ज्ञाति (बान्धव) और धन। इनमें से पहले दो अर्थात् आत्मा और आत्मीय अर्थों में 'स्व' की सर्वनाम संज्ञा होगी, अन्य अर्थों में नहीं।

(ग० सू०) **अन्तरमिति**—बहिर्योग (बाहर का) और उपसंव्यान (अधीनस्थ) अर्थ में 'अन्तर' शब्द सर्वनाम-संज्ञक होता है।

अन्य सर्वनामसंज्ञक शब्द ये हैं—त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह), इदम् (यह), अदस् (वह), एक, द्वि (दो), युष्मद् (तुम), अस्मद् (मैं), भवतु (आप), किम् (कौन)। इस प्रकार सर्वादिगण में ३५ शब्द आते हैं जिनको इस प्रकार श्लोक-बद्ध किया गया है—

'सर्वान्यविश्वोभयनेमयत्तदः, किंयुष्मदस्मद्द्विभवत्त्यदेतदः।
उभत्वतौ विज्ञजनैरुदीरितौ, समः सिमत्वान्यतरेतरा अपि ॥
एकेदमदसो ज्ञेया डतरो डतमस्तथा।
स्वमज्ञातिधनेऽनाम्नि, कालदिग्देशवृत्तयः ॥
पूर्वापरावरपरा उत्तरो दक्षिणाधरौ।
अन्तरं चोपसंव्याने बहिर्योगे तथाऽपुरि ॥'

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

† 'स्वं ज्ञातावात्मधनयोरात्मीये च प्रचक्ष्यते' इति विश्वः।

१५२. जसः[६] शी[१] । ७ । १ । १७

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः । सर्वे ।

१५२. जस इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जसः) जस् के स्थान पर (शी) 'शी' हो । इसकी व्याख्या के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः स्मै' ७.१.१४ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने के कारण 'अतः' से तदन्तविधि का ग्रहण होगा । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अदन्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान पर 'शी' आदेश होता है । 'शी' में श् और ई–दो वर्ण हैं, अतः 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण 'जस्' के स्थान पर आदेश होगा* । उदाहरण के लिए 'सर्व + जस्' में अदन्त सर्वनाम 'सर्व' सेपरे होने के कारण 'जस्' के स्थान पर 'शी' आदेश होकर 'सर्व + शी' रूप बनेगा । इस अवस्था में 'लशक्वतद्धिते' १.३.८ से शकार-लोप तथा फिर गुणादेश होकर 'सर्वे' रूप सिद्ध होता है ।†

१५३. सर्वनाम्नः[५] स्मै[१] । ७ । १ । १४

अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै । सर्वस्मै ।

१५३. सर्वनाम्न इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है—(सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (स्मै) 'स्मै' आदेश हो । इसकी व्याख्या के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' तथा 'ङेर्यः' ७.१.१३ से 'ङेः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अतः' 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है, अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होगा । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अदन्त सर्वनाम से परे ङे के स्थान पर 'स्मै' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण यह आदेश भी 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'ङे' के स्थान पर होगा । उदाहरण के लिए 'सर्व+ङे' में अदन्त सर्वनाम से परे होने के कारण 'ङे' को 'स्मै' आदेश होकर 'सर्वस्मै' रूप बनेगा ।

१५४. ङसिङ्योः[६] स्मात्स्मिनौ[१] । ७ । १ । १५

अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात् ।

१५४. ङसीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ङसिङ्योः) ङसि और ङि के स्थान

---

* यहां शंका हो सकती है कि 'शी' तो शित् है, अतः अनेकाल् मानने की क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर यह है कि शित् होने से सर्वादेश नहीं हो सकता क्योंकि शकार की इत्संज्ञा तो आदेश हो जाने पर स्थानिवद्भाव से 'शी' में प्रत्ययत्व लाने पर होती है । अतः आदेशावस्था में अनेकाल् से ही सर्वादेश होगा ।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'सर्वे' की रूप-सिद्धि देखिये ।

पर (स्मात्स्मिनौ) 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश हों। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'अतः' तथा 'सर्वनाम्नः स्मै' ७.१.१४ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अतः' 'सर्वनाम्नः' का विशेषण है, अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अदन्त सर्वनाम से परे 'ङसि' और 'ङि' के स्थान पर 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होते हैं। '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० परिभाषा से 'ङसि' के स्थान पर 'स्मात्' और 'ङि' के स्थान पर 'स्मिन्' आदेश होगा। अनेकाल् होने से ये आदेश 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे। ध्यान रहे कि 'स्मात्' और 'स्मिन्' के अन्त्य तकार और नकार की 'हलन्त्यम्' १.३.३ द्वारा इत्संज्ञा न होगी, क्योंकि 'न विभक्तौ तुस्माः' १.३.४ से इसका निषेध हो जाता है।

उदाहरण के लिए 'सर्व+ङसि' में अदन्त सर्वनाम से परे ङसि के स्थान पर 'स्मात्' होकर 'सर्वस्मात्' रूप बनेगा। इसी प्रकार सप्तमी एकवचन की विवक्षा पर 'ङि' को 'स्मिन्' होकर 'सर्वस्मिन्' रूप बनेगा।

१५५. आमि* सर्वनाम्नः सुट् । ७ । १ । ५२

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः। एत्वषत्वे–सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्। एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः।

उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभौ २। उभाभ्याम् ३। उभयोः २। तस्येह पाठोऽकजर्थः। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतर-डतमौ प्रत्ययौ। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तदन्ता ग्राह्याः।

नेम इत्यर्धे।

समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति निर्देशात्।

१५५. आमीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (आमि) 'आम्' का अवयव (सुट्) 'सुट्' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'आज्जसेरसुक्' ७.१.५० से 'आत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'आत्' सूत्रस्थ 'सर्वनाम्नः' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अवर्णान्त सर्वनाम के पश्चात् 'आम्' (षष्ठी-बहुवचन) का अवयव 'सुट्' (स्) होता है।†

---

* 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से सप्तमी विभक्ति यहां षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाती है।

† यह अर्थ 'काशिका' के अनुसार है। 'सिद्धान्तकौमुदी' के अनुसार इसका अर्थ होगा—"अवर्णान्त से पर और सर्वनाम से विहित 'आम्' को सुट् आगम होता है।"

टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'सुट्' 'आम्' का आद्यवयव होता है। उदाहरण के लिए 'सर्व+आम्' में अवर्णान्त सर्वनाम 'सर्व' के पश्चात् षष्ठी-बहुवचन 'आम्' आया है। प्रकृतसूत्र से इस 'आम्' को 'सुट्' हो 'सर्व+स् आम्' = 'सर्व+साम्' रूप बनता है। यहां 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा से झलादि बहुवचन 'साम्' परे होने के कारण '१४५–बहुवचने–०' से अकार को एकार हो 'सर्व् ए साम्' = 'सर्वेसाम्' रूप बनेगा। तब इस स्थिति में '१५०–आदेश–०' से एकार को षकार होकर 'सर्वेषाम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—कुछ लोगों का कथन है कि 'अवर्णान्त सर्वनाम' कहने से 'यद्' 'तद्' आदि का ग्रहण न हो सकेगा और इस प्रकार 'येषाम्' 'तेषाम्' आदि रूप भी न बन सकेंगे। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इन स्थलों पर '१९३–त्यदादीनाम्–०' से पहले अकार अन्तादेश हो जाता है और फिर अकारान्त हो जाने पर प्रकृतसूत्र प्रवृत्त होता है।

१५६. पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्[7]। १। १। ३४

एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वाः। असंज्ञायाम् किम्—उत्तराः कुरवः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्—दक्षिणा गाथकाः, कुशला इत्यर्थः।

१५६. पूर्वपरेति—यह सूत्र सर्वादिगण के परिगणन में पहले आ चुका है,* और यहां पुनः अष्टाध्यायी सूत्र के रूप में आया है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहां गणसूत्र सामान्यतया सर्वनाम संज्ञा का विधान करता है, वहां अष्टाध्यायीसूत्र 'जस्' प्रत्यय में विकल्प से। यहां पर सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'सर्वादीनि सर्वनामानि' १.१.२७ से 'सर्वनामानि' तथा सम्पूर्ण 'विभाषा जसि' १.१.३२ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'विभाषा' का अर्थ है—विकल्प। अतः सूत्र का तात्पर्य है कि इन पूर्व आदि सात शब्दों की व्यवस्था और असंज्ञा में 'जस्' परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होगी। उदाहरण के लिए 'पूर्व+जस्' में सर्वनाम पक्ष में 'जस्' के स्थान पर 'शी' होकर 'पूर्वे' रूप बनेगा और अभाव पक्ष में राम की भांति सवर्णदीर्घ होकर 'पूर्वाः' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार पर, अवर आदि अन्य शब्दों के भी दो-दो रूप बनेंगे।

---

* देखिये १५१ में सूत्र की व्याख्या।

व्यवस्था और असंज्ञा आदि के स्पष्टीकरण के लिए गणसूत्र में दी गई इस सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

१५७. स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् । १ । २ । ३५

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। स्वे, स्वाः= आत्मीयाः आत्मन इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः–ज्ञातयोऽर्था वा।

१५७. स्वमिति—यह सूत्र भी सर्वादिगण के परिगणन में पहिले ही दिया जा चुका है,* अतः इसका अर्थ वहीं देखा जा सकता है। यहां अष्टाध्यायीसूत्र के रूप में 'जस्' परे होने पर 'स्व' को विकल्प से सर्वनाम संज्ञा का विधान करता है। अनुवृत्ति पूर्वसूत्र (१५६) की ही भांति है। इस प्रकार ज्ञाति और धन भिन्न अर्थ में 'स्व + जस्' अवस्था में सर्वनाम पक्ष में 'स्वे' और अभाव पक्ष में 'स्वाः'–ये दो रूप बनेंगे। ज्ञाति और धन के अर्थ में 'स्वाः' रूप ही होगा।

१५८. अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः । १ । १ । ३६

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः—बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः–परिधानीया इत्यर्थः।

१५८. अन्तरमिति—यह सूत्र भी सर्वादिगण के परिगणन में पहले आ चुका है, अतः इसका शब्दार्थ वहां देखा जा सकता है। यहां पर अष्टाध्यायीसूत्र के रूप में अन्तर शब्द को 'जस्' परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हो। यहाँ भी सूत्र के भावार्थ को स्पष्ट करने के लिए 'सर्वादीनि सर्वनामानि' १.१.२७ से 'सर्वनामानि' और सम्पूर्ण 'विभाषा जसि' १.१.३२ सूत्र की अनुवृत्ति की गई है। किन्तु ध्यान रहे कि 'अन्तर' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं†, पर जस् परे होने पर उसकी विकल्पतः सर्वनाम संज्ञा तभी होगी जब उसका अर्थ बहिर्योग (बाहर का) या उपसंव्यान (अधोवस्त्र) हो। उदाहरण के लिए 'अन्तरे अन्तरा वा गृहाः' में 'अन्तर' शब्द बाहर के अर्थ में आया है अतः विकल्प से सर्वनाम होने पर 'अन्तरे' रूप हुआ। इसका अर्थ है—'बाहर के घर'। उपसंव्यानार्थ का उदाहरण 'अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः' में मिलता है जिसका अर्थ है—नीचे पहनने योग्य वस्त्र अर्थात् धोती आदि। किन्तु अन्य अर्थों में 'अन्तर' की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। उदाहरण के

---

* देखिये १५१ वें सूत्र की व्याख्या।

† "अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये।
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च॥" इत्यमरः।

लिए 'इमे अत्यन्तरा मम' (ये मेरे आत्मीय हैं) में 'अन्तर' शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि इसका अर्थ है—आत्मीय ।

१५९. पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा । ७ । १ । १६

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । एवं परादीनामपि । शेषं सर्ववत् ।

१५९. पूर्वादिभ्य इति—(पूर्वादिभ्यः) पूर्व आदि (नवभ्यः) नौ से परे (वा) विकल्प से । स्पष्ट ही यह सूत्र अपूर्ण है । इसकी व्याख्या के लिए 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' ७.१.१५ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूर्व आदि नौ शब्दों से परे ङसि और ङि के स्थान पर क्रमशः विकल्प से 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश होते हैं । पूर्वोक्त तीन सूत्रों (१५६, १५७ और १५८) में जिन नौ शब्दों का उल्लेख हुआ है, यहां उन्हीं का ग्रहण होता है । नौ शब्द ये हैं—पूर्व, पर, अवर, अवर, उत्तर, दक्षिण, अपर, स्व और अन्तर । गणसूत्रों द्वारा नित्य सर्वनाम संज्ञा विहित होने से इनसे परे 'स्मात्' और 'स्मिन्' आदेश नित्य प्राप्त होते थे । इस सूत्र से विकल्प किया जाता है । इस प्रकार 'पूर्व + ङसि' इस अवस्था में सर्वनाम पक्ष में 'पूर्वस्मात्' और अभावपक्ष में राम के समान 'पूर्वात्' रूप बनेगा । इसी प्रकार 'पूर्व + ङि' में भी 'पूर्वस्मिन्' और 'पूर्वे' दो रूप बनेंगे ।

१६०. प्रथम-चरम-तयाल्पार्धकतिपय-नेमाश्च । १ । १ । ३३

एते जसि उक्तसंज्ञाः स्युः । प्रथमे, प्रथमाः । तयः प्रत्ययः—द्वितये, द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे, नेमाः, शेषं सर्ववत् ।

१६०. प्रथमेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रथम—नेमाः) प्रथम, चरम, तय-प्रत्ययान्त,* अल्प, अर्ध, कतिपय तथा नेम शब्द (च) और... । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सर्वादीनि सर्वनामानि' १.१.२७ से 'सर्वनामानि' और सम्पूर्ण 'विभाषा जसि' १.१.३२ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा—प्रथम आदि सात शब्द जस् परे होने पर विकल्प से सर्वनाम-संज्ञक होते हैं । उदाहरण के लिए 'प्रथम + जस्' में सर्वनाम पक्ष में 'जस्' के स्थान पर 'शी' होकर 'प्रथमे' रूप बनेगा । अभावपक्ष में राम के समान 'प्रथमाः' रूप बनेगा ।

इन शब्दों में 'नेम' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द का सर्वादिगण में पाठ

---

* तयप्रत्ययान्त के उदाहरण हैं—द्वितय, द्वय, त्रय आदि ।

नहीं है, अतः शेष सब शब्दों की जस् को छोड़कर अन्य विभक्तियों में रामवत् प्रक्रिया होगी।

(वा०) तीयस्य[६] ङित्सु[७] वा[१]।

द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः।

(वा०) तीयस्येति—यह उपर्युक्त सूत्र पर वार्तिक है। इसका तात्पर्य है—(ङित्सु) ङित् प्रत्यय परे होने पर (तीयस्य) तीय प्रत्ययान्त की (वा) विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हो। तीय-प्रत्ययान्त दो शब्द हैं—द्वितीय और तृतीय। ङित् प्रत्यय चार हैं—ङे, ङसि, ङस् और ङि। अतः इन प्रत्ययों में से किसी के भी परे रहते द्वितीय और तृतीय शब्द विकल्प से सर्वनाम-संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए चतुर्थी एकवचन में 'द्वितीय + ङे' में सर्वनाम संज्ञा होकर 'द्वितीयस्मै' रूप बनेगा। अभावपक्ष में रामवत् 'द्वितीयाय' होगा।

१६१. जराया[६] जरसन्यतरस्याम्[७]। ७। २। १०१

अजादौ विभक्तौ।

(प०) पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च।

(प०) निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति।

(प०) एकदेशविकृतमनन्यवत्।

इति जरशब्दस्य जरस्–निर्जरसौ, निर्जरसः। पक्षे हलादौ च रामवत्। विश्वपाः।

१६१. जराया इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जरायाः) 'जरा' के स्थान पर (जरस्) जरस् आदेश हो (अन्यतरस्याम्) विकल्प से। किन्तु सूत्र के आशय के स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' और 'अचि र ऋतः' ७.२.१०० से 'अचि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'विभक्तौ' का विशेषण होने से 'अचि' से तदादि विधि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'जरा' (बुढ़ापा) शब्द के स्थान पर अजादि विभक्ति (जिसके आदि में कोई स्वर हो) परे होने पर विकल्प से 'जरस्' आदेश होता है। अजादि विभक्तियां ये हैं—औ, जस् (अस्), अम्, औट्, शस् (अस्), टा (आ), ङे (ए), ङसि (अस्), ङस् (अस्), ओस्, आम्, ङि (इ) और ओस्। अतः इन विभक्तियों में से किसी के भी परे होने पर 'जरा' के स्थान पर विकल्पतः 'जरस्' आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'निर्जर + औ' में अजादि विभक्ति 'औ' परे है, अतः यह सूत्र प्रवृत्त होना चाहिये। किन्तु यहां एक बाधा उपस्थित हो जाती है। यहां 'जरा' शब्द न होकर 'निर्जर' शब्द है, अतः यह सूत्र कैसे लगेगा? किन्तु इसका समाधान आगामी परिभाषा से होता है—

(प०-१) पदाङ्गेति—अर्थ है—'पद' और 'अंग' के अधिकार में जिसके स्थान पर आदेश किया गया हो, वह उसके तथा (तदन्तस्य) वह जिसके अन्त में हो, उस समुदाय के भी स्थान पर होता है। 'पद' और 'अंग' पारिभाषिक शब्द हैं। पदाधिकार का प्रकरण आठवें अध्याय के प्रथम पाद के 'पदस्य' (८.१.१६) सूत्र से प्रारम्भ होकर आठवें अध्याय के तृतीय पाद के 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८.३.५५) तक है। इसी प्रकार अंगाधिकार छठे अध्याय के चतुर्थ पाद (६.४.१) से प्रारम्भ होकर सातवें अध्याय की समाप्ति तक है। प्रस्तुत सूत्र (७.२.१०१) अंगाधिकार में आता है। इसके अनुसार 'जरस्' आदेश 'जरा' के स्थान पर होगा और 'जरा' शब्द जिसके अन्त में होगा, ऐसे 'निर्जर' आदि शब्दों के भी स्थान पर होगा। यहां 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' (१.१.५५) परिभाषा से सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द के स्थान पर 'जरस्' आदेश प्राप्त होता है। इसका निषेध अग्रिम परिभाषा से होता है—

(प०-२) निर्दिश्यमानस्येति—अर्थ है—(निर्दिश्यमानस्य) 'निर्दिश्यमान' के स्थान पर ही (आदेशाः) आदेश (भवन्ति) होते हैं। 'निर्दिश्यमान' का अर्थ है—'षष्ठीप्रकृतिजन्यप्राथमिकोपस्थितिविषय' अर्थात् आदेशविधायक शास्त्र में स्थानी का बोध कराने वाला जो षष्ठ्यन्त पद है, उसमें जिससे षष्ठी विभक्ति हुई है, उसके द्वारा जिसकी सबसे पहले उपस्थिति होती है, वह 'निर्दिश्यमान' कहा जाता है। यह आदेश उसी के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए प्रस्तुत सूत्र में 'जरायाः' पद षष्ठ्यन्त है, अतः सबसे पहले उपस्थित होने के कारण षष्ठी विभक्ति की प्रकृति 'जरा' की 'निर्दिश्यमान' संज्ञा होगी। इसलिए 'निर्जर' शब्द में केवल 'जरा' शब्द के स्थान पर ही 'जरस्' आदेश होगा, सम्पूर्ण 'निर्जर' के स्थान पर नहीं।

किन्तु 'जरा' के स्थान पर 'जरस्' की स्वीकृति मिल जाने पर भी एक शंका शेष रह जाती है। 'निर्जर' शब्द में 'जरा' नहीं, अपितु 'जर' आया है। आदेश 'जरा' के ही स्थान पर होता है, फिर यहां 'जर' के स्थान पर 'जरस्' आदेश किस प्रकार होगा ? इसका समाधान अग्रिम परिभाषा से होता है—

(प०-३) एकदेश इति—अर्थ है—(एकदेशविकृतम्) अवयव के विकृत हो जाने पर भी वस्तु (अनन्यवत्) अन्य के समान नहीं होती। यह परिभाषा लोकन्याय पर आश्रित है। लोक में देखा जाता है कि कुत्ते की पूंछ कट जाने पर वह घोड़ा या गधा नहीं होता, अपितु कुत्ता ही रहता है—'छिन्नेऽपि पुच्छे श्वा श्वैव, न चाश्वो न गर्दभः।' इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'निर्जर' के अन्तर्गत 'जरा' के 'जर' हो जाने पर भी वह जरा ही रहता है, कुछ अन्य नहीं हो जाता। इससे 'जर' के स्थान पर भी 'जरस्' आदेश होता है। इस प्रकार 'निर्जर + औ' में 'जर' के स्थानपर 'जरस्' आदेश होकर 'निर्जरसौ' रूप बनेगा। विकल्पावस्था में राम की भांति 'निर्जरौ' रूप बनेगा।

१६२. दीर्घाज्जसि च । ६ । १ । १०५

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिः—विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । विश्वपाम् । विश्वपौ ।

१६२. दीर्घादिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । इसका शब्दार्थ है—(च) और (दीर्घात्) दीर्घ से (जसि) जस् परे होने पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ से 'पूर्वसवर्णः' और 'नादिचि' ६.१.१०४ से 'न' तथा 'इचि' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी । 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ यहां अधिकृत है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—दीर्घ से 'जस्' अथवा 'इच्' (इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ) परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान पर सवर्ण दीर्घ आदेश नहीं होता है । उदाहरण के लिए प्रथमा द्विवचन के 'विश्वपा + औ' में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ से पूर्वसवर्ण दीर्घादेश प्राप्त था, किन्तु यहां दीर्घ आकार से परे इच्—औकार है, अतः प्रस्तुत सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है । तब 'वृद्धिरेचि' ६.१.८८ से वृद्धि होकर 'विश्वपौ' रूप बनेगा ।

१६३. सुडनपुंसकस्य । १ । १ । ४३

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य ।

१६३. सुडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनपुंसकस्य) नपुंसक से भिन्न अन्य लिङ्ग का (सुट्) सुट् प्रत्याहार । किन्तु इससे सूत्रार्थ स्पष्ट नहीं होता । उसके लिए 'शि सर्वनामस्थानम्' १.१.४२ से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । सुट् प्रत्याहार है और इसमें सु, औ, जस्, अम् और औट्—इन पांच प्रत्ययों का समाहार होता है ।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सु आदि ये पांच प्रत्यय जब पुँल्लिंग या स्त्रीलिंग से परे होते है, तो इनकी सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ।

१६४. स्वादिष्वसर्वनामस्थाने । १ । ४ । १७

कप्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात् ।

१६४. स्वादिष्विति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण हैं । शब्दार्थ है—(स्वादिषु) सु आदि प्रत्ययों के परे होने पर (असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान-संज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर । इसकी व्याख्या के लिए 'सुप्तिङन्तं पदम्' १.४.१४ से 'पदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'स्वादिषु' पद सप्तम्यन्त है, अतः 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' १.१.६६ परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय की ही पदसंज्ञा होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सर्वनामस्थानभिन्न सु आदि प्रत्ययों के परे होने पर पूर्व शब्दसमुदाय की पद

---

* 'सुडिति पञ्चवचनानि'—काशिका ।

संज्ञा होगी। चतुर्थ अध्याय के प्रथम प्रत्यय 'सु' से लेकर पांचवें अध्याय के अन्तिम प्रत्यय 'कप्' तक सब प्रत्यय 'स्वादि' कहलाते हैं।* 'सु' प्रत्यय '१२१—स्वौजस्—०' ४.१.२ सूत्र से होता है और 'कप्' प्रत्यय 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' ५.४.१५१ सूत्र से होता है। इस प्रकार 'सु' से 'कप्' तक चतुर्थ और पंचम अध्याय के सारे प्रत्यय संगृहीत हो जाते हैं। इन स्वादि प्रत्ययों में 'सु, औ, जस्, अम्, 'औट्'—इन पांच प्रत्ययों की सर्वनामस्थान संज्ञा है। इन सर्वनामस्थान-संज्ञक प्रत्ययों से भिन्न अन्य स्वादिप्रत्यय यदि परे हों, तो उनसे पूर्व शब्द पदसंज्ञक होता है। उदाहरण के लिए 'विश्वपा + अस् (शस्)' में 'शस्' प्रत्यय सर्वनामस्थान से भिन्न है, अतः इसके परे होने पर पूर्व शब्द-समुदाय 'विश्वपा' की पद संज्ञा होगी। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१६५. यचि भम् । १ । ४ । १८

यादिषु अजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात्।

१६५. यचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यचि) यच् परे होने पर (भम्) 'भ' संज्ञा हो। किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' १.४.१७—इस सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यच्' में यकार और अच् का समावेश होता है—य् च अच् च इति यच्। यहां भी पहले की भांति 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' १.१.६६ परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय की ही भसंज्ञा होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सर्वनामस्थान से भिन्न यकारादि और अजादि (जिनके अन्त में कोई स्वर हो) स्वादि† प्रत्यय परे होने पर पूर्वशब्द-समुदाय की भसंज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'विश्वपा + अस्' (शस्) में अजादि प्रत्यय 'अस्' परे होने पर 'विश्वपा' की भसंज्ञा होगी।

किन्तु यहां एक समस्या उठ खड़ी होती है। पूर्वसूत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' १.४.१७ से 'विश्वपा + अस् (शस्)' इस स्थिति में 'विश्वपा' को पद संज्ञा प्राप्त है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र से उसको भसंज्ञा प्राप्त होती है। अतः दोनों संज्ञाएं की जावें या एक ? और यदि एक की जावे तो कौन-सी एक ? इसका समाधान अग्रिमसूत्र से होता है—

१६६. आकडारादेका संज्ञा । १ । ४ । १

इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् एकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च।

---

* 'स्वादिष्विति सुशब्दादेकवचनादारभ्य आ कपः प्रत्यया गृह्यन्ते—' काशिका।
† 'स्वादि' के स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (१६४) की व्याख्या देखिये।

१६६. आकडारादिति—अर्थ है—(आकडारात्) 'कडाराः कर्मधारये' २.२.३८ सूत्र तक (एका) एक (संज्ञा) संज्ञा होगी। तात्पर्य यह कि प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के प्रारम्भ से लेकर द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के अड़तीसवें सूत्र के पहले तक एक पद या शब्द की एक ही संज्ञा होगी, दो नहीं। इस प्रकार 'विश्वपा + शस् (अस्)' में 'विश्वपा' को पदसंज्ञा और भसंज्ञा में से कोई एक ही संज्ञा होगी, दोनों नहीं। परन्तु इनमें से कौन-सी संज्ञा होगी, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके समाधान के लिए कहा गया है—'या पराऽनवकाशा च* ।' इसका यही अभिप्राय है कि जो संज्ञा पर और निरवकाश (जिसको चरितार्थ होने के लिए सामान्य सूत्र से प्राप्त स्थल के अतिरिक्त स्थल न हो) हो, वही होना चाहिये।

प्रकृत में जहां भसंज्ञा प्राप्त है, वहां पद संज्ञा भी अवश्य प्राप्त है। इसलिए भसंज्ञा निरवकाश है। साथ ही साथ यह पर भी है क्योंकि पदसंज्ञाविधायक सूत्र प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद का सत्रहवां सूत्र है, और भसंज्ञाविधायक अठारहवां। इस प्रकार यह निर्णय प्राप्त होता है—यकार और अजादि प्रत्यय परे होने पर भसंज्ञा तथा शेष हलादि प्रत्यय परे रहते पदसंज्ञा होगी। उदाहरण के लिए 'विश्वपा + अस् (शस्)' में अजादिप्रत्यय शस् परे होने पर 'विश्वपा' की भसंज्ञा हुई।

१६७. आतो धातोः । ६ । ४ । १४०

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः । अलोऽन्त्यस्य । विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्याम् इत्यादि । एवं शंखध्मादयः । धातोः किम्—हाहान् । हाहा । हाहै । हाहाः । हाहौः । हाहाम् । हाहे । इत्यादन्ताः । हरिः, हरी ।

१६७. आत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(आतो) आकारान्त (धातोः) धातु का। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ और 'भस्य' ६.४.१२९—ये दोनों यहां अधिकृत हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आकारान्त धातु जिसके अन्त में हो, ऐसे भसंज्ञक† अङ्ग का लोप हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह लोप भसंज्ञक अङ्ग के अन्त्यवर्ण को ही प्राप्त होगा। उदाहरण के लिए 'विश्वपा + अस्' में आकारान्त धातु 'पा' है, तदन्त भसंज्ञक अङ्ग 'विश्वपा' है अतः अन्त्य आकार का लोप होकर 'विश्वप् + अस्' रूप बनेगा। इस अवस्था में सकार को रुत्व-विसर्ग होकर 'विश्वपः' रूप सिद्ध होगा।

---

* काशिका (१.४.१)।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १६५ वें और १६६ वें सूत्रों की व्याख्या देखिये।

ध्यान रहे कि धातु के ही आकार का लोप होता है, अतः 'हाहा'* (गन्धर्व-विशेष) शब्द के आकार का लोप न होगा। यह अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है और धातु से प्रत्यय लगाकर नहीं बना है। इसीलिए शसादियों में भसंज्ञा होने पर भी इसके आकार का लोप नहीं होता।

१६८. जसि च। ७। ३। १०९

ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः। हरयः।

१६८. जसीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (जसि) जस् परे होने पर। किन्तु सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'ह्रस्वस्य गुणः' ७.३.१०८ सूत्र की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। साथ ही 'अङ्गस्य' ६.४.१ से अङ्गाधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जस् परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण आदेश होता है। यह गुण-विधान 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अन्त्य वर्ण को ही होगा। उदाहरण के लिए 'हरि+अस् (जस्)' में ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' से परे 'जस्' है। अतः अन्त्य वर्ण को गुणादेश होकर 'हरे+अस्' रूप बनेगा। इस अवस्था में पहले एकार को अयादेश होकर और फिर सकार को रुत्व-विसर्ग होकर 'हरयः' रूप सिद्ध होगा।

१६९. ह्रस्वस्य गुणः। ७। ३। १०८

सम्बुद्धौ। हे हरे! हरिम्। हरीन्।

१६९. ह्रस्वस्येति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। सूत्र का शब्दार्थ है—(ह्रस्वस्य) ह्रस्व के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश हो। इसकी व्याख्या के लिए 'सम्बुद्धौ च' ७.३.१०६ से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार यहां भी प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्बुद्धि (सम्बोधन का एकवचन) परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है। उदाहरण के लिए 'हे हरि+स्' में सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' के अन्त्य इकार को एकार होकर 'हे हरे+स्' रूप बनेगा। फिर 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' ६.१.६९ से सकार का लोप होकर 'हे हरे!' रूप सिद्ध होगा।

१७०. शेषो घ्यसखि। १। ४। ७

शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञम्।

---

* 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्' इत्यमरः।

१७० शेष इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(असखि) 'सखि' शब्द को छोड़कर (शेषः) शेष (घि) 'घि' संज्ञक हों। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३ से 'यू' तथा 'ङिति ह्रस्वश्च' १.४.६ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यू' में इकार और उकार का समावेश होता है। 'ह्रस्व' विशेषण होने के कारण इससे ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार का ग्रहण होगा। 'शेष' का अभिप्राय है—नदी संज्ञा से भिन्न ह्रस्व। इस सूत्र से पूर्व विशेष-विशेष अवस्थाओं में ह्रस्व की नदी संज्ञा की गई है, अतः जिस ह्रस्व की नदी संज्ञा नहीं की गई है, उस ह्रस्व का ग्रहण 'शेष' पद से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सखि' शब्द को छोड़कर नदी-संज्ञक-भिन्न ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्द घिसंज्ञक होते हैं। नदी संज्ञा दो अवस्थाओं में नहीं होती है—(१) पुँल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसंज्ञक नहीं होते, जैसे—हरि, भानु, गुरु आदि। (२) स्त्रीलिंग में ङित् विभक्तियों के परे होने पर जिस पक्ष में 'ङिति ह्रस्वश्च' १.४.६ द्वारा नदी संज्ञा नहीं होती है। अतः इन दो स्थलों पर ही 'घि' संज्ञा प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए 'हरि' शब्द की नदी संज्ञा नहीं हुई, अतः इसकी 'घि' संज्ञा होगी।

१७१. आङो नाऽस्त्रियाम् । ७ । ३ । १२०

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम् । आङ् इति टासंज्ञा । हरिणा । हरिभ्याम् । हरिभिः ।

१७१. आङ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग में (आङः) आङ् के स्थान पर (ना) 'ना' आदेश हो। इसकी व्याख्या के लिए 'अच्च घेः' ७.३.११९ से 'घेः' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग में घिसंज्ञक से परे होने पर आङ् के स्थान पर 'ना' आदेश हो। 'आङ्' 'टा' की ही प्राचीन संज्ञा है।* अतः 'टा' के स्थान पर 'ना' आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'हरि + टा' में घिसंज्ञक 'हरि' शब्द से पर 'टा' को 'ना' आदेश होकर 'हरि + ना' रूप बनेगा। तब 'अट्कु–०' ८.४.२ से नकार को णत्व होकर 'हरिणा' रूप सिद्ध होगा।

१७२. घेर्ङिति । ७ । ३ । १११

घिसंज्ञकस्य ङिति गुणः । हरये ।

१७२. घेरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(घेः) घिसंज्ञक

---

* 'आङिति टासंज्ञा प्राचाम्'— सिद्धान्तकौमुदी।

के स्थान पर (ङिति) ङित् प्रत्यय परे होने पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुपि च' ७.३.१०२ से 'सुपि' तथा 'ह्रस्वस्य गुणः' ७.३.१०८ से 'गुणः' की अनुवृत्ति करनी होगी। ङित् में चार प्रत्यय आते हैं—ङे, ङसि, ङस् और ङि। अतः सूत्र का भावार्थ होगा—घिसंज्ञक अङ्ग को ङित् अर्थात् ङे, ङसि, ङस् और ङि प्रत्यय परे रहते गुण आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से गुणादेश अन्त्य वर्ण को ही होगा। उदाहरण के लिए 'हरि + ए (ङे)' में घिसंज्ञक 'हरि' है और उससे परे ङित् सुप् का 'ए' है। अतः इकार को गुण–एकार आदेश होकर 'हरे + ए' रूप बनेगा। इस अवस्था में अयादेश होकर 'हरये' रूप सिद्ध होगा।

१७३. ङसिङसोश्च । ६ । १ । ११०

एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः २। हर्योः। हरीणाम्।

१७३. ङसीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ङसिङसोः) ङसि तथा ङस् का...। किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए 'अमि पूर्वः' ६.१.१०७ से 'पूर्वः' तथा 'एङः पदान्तादति' ६.१.१०९ से 'एङः' और 'अति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ सूत्र यहां अधिकृत है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र का भावार्थ होगा—एङ् (ए ओ) से ङसि और ङस् का अकार परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो। उदाहरण के लिए पंचमी एकवचन 'हरि + अस्' '(ङसि)' में पहले 'घेर्ङिति' ७.३.१११ से इकार को गुण होकर 'हरे + अस्' रूप बनता है। फिर ङसि का अकार परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर एकार होकर 'हर् ए स्' = 'हरेस्' रूप बनने पर रुत्व-विसर्ग हो 'हरेः' रूप सिद्ध होगा।[*] ओकार का उदाहरण 'भानोः' में मिलता है।

१७४. अच्च घेः । ७ । ३ । ११९

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरत्। हरौ। हर्योः। हरिषु। एवं कव्यादयः।

१७४. अच्चेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (घेः) घि-संज्ञक के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार हो। इसकी व्याख्या के लिए 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' ७.३. ११६ से 'ङेः', सम्पूर्ण 'इदुद्भ्याम्' ७.३.११७ और 'औत्' ७.३.११८ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्व इकार (इत्) और उकार (उत्) से पर 'ङि' को 'औत्' तथा घिसंज्ञक को अकार आदेश हो। उदाहरण के लिए 'हरि + ङि' में घिसंज्ञक 'हरि' के इकार के स्थान पर ('अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से) ह्रस्व अकार और 'ङि' के स्थान पर

[*] विस्तृत प्रक्रिया के लिये 'हरेः' की रूपसिद्धि देखिए।

'औत्' (औ) होकर 'हर+औ' रूप बनेगा। इस अवस्था में वृद्धि एकादेश होकर 'हरौ' रूप सिद्ध होगा। ह्रस्व* उकार का उदाहरण 'भानौ' में मिलता है।

१७५. अनङ् सौ । ७ । १ । ९३

सख्युरङ्गस्यानङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ।

१७५. अनङिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सौ) 'सु' परे होने पर (अनङ्) अनङ् आदेश हो। किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए सम्पूर्ण 'सख्युरसम्बुद्धौ' ७.१.९२ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अंगस्य' ६.४.१ यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्बुद्धिभिन्न 'सु' परे होने पर 'सखि' अङ्ग के स्थान पर 'अनङ्' आदेश हो। यहां 'अनङ्' में ङकार इत्संज्ञक है। नकारोत्तरवर्ती अकार उच्चारणार्थक है। अतः ङित् होने के कारण 'ङिच्च' १.१.५३ परिभाषा से 'अनङ्' आदेश 'सखि' अङ्ग के अन्त्य वर्ण इकार के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए प्रथमा एकवचन में 'सखि+सु' इस स्थिति में सम्बुद्धिभिन्न 'सु' परे होने पर 'सखि' के इकार के स्थान पर अनङ् होकर 'सख् अन्+स्' रूप बना।

१७६. अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा । १ । १ । ६५

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

१७६. अल इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(अलोऽन्त्यात्) अन्त्य अल् से (पूर्वः) पूर्व वर्ण (उपधा) उपधासंज्ञक हो। अल् प्रत्याहार में सब वर्ण आ जाते हैं। अतः समुदाय के अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होगी। उदाहरण के लिए 'सख् अन्' में अन्त्य अल् नकार है, और उससे पूर्व वर्ण ह्रस्व अकार है, अतः उसकी उपधा संज्ञा हुई।

१७७. सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ । ६ । ४ । ८

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने।

१७७. सर्वनामस्थाने इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसका शब्दार्थ है—(च) और (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः' तथा 'नोपधायाः' ६.४.७ से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ यह यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनाम-स्थान परे होने पर नान्त अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घ आदेश हो। 'सु, औ,

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिये 'हरौ' की रूपसिद्धि देखिये।

जस्, अम् और औट्'—इन पांच प्रत्ययों की पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग में सर्वनामस्थान संज्ञा होती है।* अतः सम्बुद्धि(सम्बोधन एकवचन)भिन्न इनमें से किसी प्रत्यय के परे होने पर भी नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सख् अन्+स्' में नकारान्त अङ्ग 'सख् अन्' है और उससे परे सम्बुद्धिभिन्न प्रथमा एकवचन का सर्वनामस्थान 'स्' है। अतः खकारोत्तरवर्ती उपधा अकार को दीर्घ आदेश हो 'सखान्+स्' रूप बनेगा।

१७८. अपृक्त एकाल्[1] प्रत्ययः[1] । १ । २ । ४१

एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्।

१७८. अपृक्त इति—यह संज्ञा-सूत्र है। इसका अर्थ है—(एकाल्) एक अल् अर्थात् एक वर्ण वाला (प्रत्ययः) प्रत्यय (अपृक्त) अपृक्त-संज्ञक हो। भाव यह कि जो प्रत्यय एकवर्णरूप हो अथवा एकवर्णरूप हो गया हो, उसकी अपृक्त संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'सखान्+स्' में 'स्' प्रत्यय है और साथ ही एकाल् (एकवर्ण वाला) भी है, अतः इसकी 'अपृक्त' संज्ञा होगी।

१७९. हल्ङ्याब्भ्यो[5] दीर्घात्[5] सुतिस्यपृक्तं[1] हल्[1] । ६ । १ । ६८

हल्न्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परम् 'सु–ति–सि' इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते।

१७९. हलिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हल्) हल् (दीर्घात्) दीर्घ (ङ्याब्भ्यो) 'ङी' और 'आप्' से पर (सुतिस्यपृक्तं) 'सु-ति-सि' के अपृक्त (हल्) हल्। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोपो व्योर्वलि' ६.१.६६ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'दीर्घात्' पद 'ङी' और 'आप्' का ही विशेषण हो सकता है, क्योंकि हल् दीर्घ नहीं हुआ करता। हल् प्रत्याहार में स्वर-रहित सभी व्यंजनों का समाहार हो जाता है। 'ङी' और 'आप' स्त्रीप्रत्यय हैं। 'ङी' से ङीप्, ङीष्, और ङीन् तथा 'आप्' से टाप्, डाप् और चाप् प्रत्ययों का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलन्त (जिसके अन्त में व्यंजन हो), ङ्यन्त (जिसके अन्त में 'ङी' प्रत्यय हो) तथा आबन्त (जिसके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हो) अङ्ग से परे 'सु' 'ति' तथा 'सि' के अपृक्त रूप† हल् का लोप हो।

'सु' सुप् है और प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। 'ति' और 'सि' तिङ् हैं और

---

* विस्तृत विवरण के लिए १६३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† यहां 'अपृक्त' का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। इसके लिए देखिये १७८ वें सूत्र की व्याख्या।

क्रमशः प्रथम तथा मध्यम पुरुष के एकवचन हैं। अन्त्य स्वर का लोप हो जाने पर ये अपृक्त रूप बनते हैं। तब इनका रूप होता है—स्, त् और स्। 'सु' के उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से तथा 'सि' 'ति' के इकार की 'इतश्च' ३.४.१०० से इत्संज्ञा होकर उनका लोप होता है। हलन्त से 'सु-ति-सि' ये तीनों प्रत्यय मिलते हैं, किन्तु ङी और आप् से परे केवल 'सु' ही।

हलन्त से पर 'सु' के लोप का उदाहरण 'सखान्+स्' में मिलता है। यहां हल् नकारान्त अङ्ग 'सखान्' है और उससे पर 'सु' अपृक्त है, अतः उसका लोप होकर 'सखान्' रूप बनेगा। 'अहन्+त्' में नकार हल् से परे अपृक्त 'ति' का लोप होकर 'अहन्' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अहन्+स्' में हल् से परे अपृक्त 'सि' का लोप होकर 'अहन्' (मध्यमपुरुष एकवचन) रूप बनता है।

दीर्घ ङी से परे 'सु' के लोप का उदाहरण 'कुमारी + स्' में मिलता है जहां अपृक्त स् का लोप होकर 'कुमारी' रूप बनता है। अन्य उदाहरण हैं—दण्डिनी (ङीबन्त), गौरी (ङीषन्त) और शार्ङ्गरवी (ङीनन्त)।

दीर्घ आप् से परे 'सु' के लोप का उदाहरण 'बाला + स्' में मिलता है, जहां अपृक्त सकार का लोप हो 'बाला' रूप बनता है। अन्य उदाहरण हैं—रमा (टाबन्त), सीमा (डाबन्त) और सूर्या (चाबन्त)।

१८०. न[६] लोपः[१] प्रातिपदिकान्तस्य[६] । ८ । २ । ७

प्रातिपदिक संज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा।

१८०. न लोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रातिपदिकान्तस्य) प्रातिपादिक के अन्त्य (नः) न का (लोपः) लोप हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पदस्य' ८.१.१६ से पदाधिकार को लाना होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—प्रातिपदिक-संज्ञक पद के अन्त्य नकार का लोप हो। तात्पर्य यह कि नकार को प्रातिपदिक का अवयव और साथ ही साथ पद का अन्त्य भी होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'सखान्' यह पद है और उसके अन्त में नकार है जो प्रातिपदिक का अवयव भी है। अतः उसका लोप होकर 'सखा' रूप सिद्ध होता है।

१८१. सख्युरसम्बुद्धौ[७] । ७ । १ । ९२

सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्।

१८१. सख्युरिति—यह अतिदेश-सूत्र* है—शब्दार्थ है—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न परे होने पर (सख्युः) 'सखि' शब्द से। इसकी व्याख्या के लिए

* समानता का अधिकार प्राप्त करानेवाले सूत्रों को 'अतिदेश-सूत्र' कहते हैं।

'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' ७.१.८६ से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'गोतो णित्' ७.१.९० से 'णित्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ यहाँ अधिकृत है जिसका विभक्ति-विपरिणाम करके 'अङ्गात्' के रूप में ग्रहण होता है। पञ्चमी और सप्तमी—इन दो विरोधी विभक्तियों की उपस्थिति में 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से पंचमी की प्रधानता से प्रस्तुत आदेश उत्तरपक्ष में होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अङ्गसंज्ञक 'सखि' शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान णित् हो। सर्वनामस्थान पाँच हैं—सु, औ, जस्, अम्, औट्। अतः 'सखि' शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न इनमें से यदि कोई प्रत्यय होगा, तो वह णित् अर्थात् णित्-वत् होगा। तात्पर्य यह कि णित् परे रहते जो कार्य होते हैं, उसके परे रहते भी वही कार्य होंगे। उदाहरण के लिए 'सखि + औ' में अङ्गसंज्ञक 'सखि' से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'औ' है। अतः वह णिद्वत् होगा।

१८२. अचो ञ्णिति। ७। २। ११५

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः, ञिति णिति परे। सखायौ, सखायः। सखे। सखायम्। सखायौ, सखीन्। सख्या। सख्ये।

१८२. अच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ञ्णिति) ञित् और णित् परे होने पर (अचः) अच् के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से 'वृद्धिः' तथा अधिकारसूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ञित् अथवा णित् परे होने पर अजन्त अङ्ग (जिसके अन्त में कोई स्वर हो) के स्थान पर वृद्धि हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'सखि + औ' में णित् 'औ' परे होने पर अन्त्य अल्—इकार को वृद्धि—ऐकार आदेश होकर 'सखै + औ' रूप बनेगा। तब आयादेश होकर 'सखायौ' रूप सिद्ध होगा।

१८३. ख्यत्यात् परस्य। ६। १। ११२

'खि' 'ति' शब्दाभ्यां 'खी' 'ती' शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः।

१८३. ख्यत्यादिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ख्यत्यात्*) ख्य् और त्य् से (परस्य) पर के स्थान में। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एङः पदान्तादति' ६.१.१०९ से 'अतः' (विभक्ति-विपरिणाम करके), 'ङसिङसोश्च'

* इनका विग्रह है—'ख्यश्च त्यश्च, ख्यत्यम्, तस्मात् ख्यत्यात्, समाहारद्वन्द्वः। यकारादकार उच्चारणार्थः।'

६.१.११० से 'ङसिङसोः' तथा 'ऋत उत्' ६.१.१११ से 'उत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'खि' या 'खी' शब्द के इवर्ण को यण् करने से 'ख्य्' तथा 'ति' या 'ती' शब्द के इवर्ण को यण् करने से 'त्य्' रूप बनता है। इसीसे 'ख्यत्यात्' से यणादेश किए हुए 'खि' 'ति' आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिनको यण् आदेश किया गया हो, उन ह्रस्वान्त 'खि' 'ति' तथा दीर्घान्त 'खी' और 'ती' शब्द से परे ङसि और ङस् के अकार के स्थान पर उकार आदेश हो। उदाहरण के लिए 'सख्य् + अस् (ङसि)' में यणादेश किया हुआ 'खि' शब्द है अतः उससे परे ङसि के अकार को उकार हो 'सख्य् + उस्' रूप बना। तब रुत्व-विसर्ग हो 'सख्युः' रूप सिद्ध होगा।

१८४. औत्[1] । ७ । ३ । ११८

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्।

१८४. औदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(औत्) औकार। किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' ७.३.११६ से 'ङेः' तथा सम्पूर्ण 'इदुद्भ्याम्' ७.३.११७ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'औत्' 'तपरस्तत्कालस्य' १.१.२० परिभाषा से औकार का बोधक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्व इकार और उकार से पर 'ङि' के स्थान पर औकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'सखि + ङि' में ह्रस्व इकार से पर 'ङि' को औकार आदेश होकर 'सखि+औ' रूप बना। फिर यणादेश हो 'सख्यौ' रूप सिद्ध होगा।

१८५. पतिः[1] समास एव । १ । ४ । ८

घिसंज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु—भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः।

१८५. पतिरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(पतिः) 'पति' शब्द (समासे) समास में (एव) ही। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शेषो घ्यसखि' १.४.७ से 'घिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—'पति' शब्द समास में ही घिसंज्ञक हो, तात्पर्य यह कि समास से भिन्न स्थल में अर्थात् केवल 'पति' शब्द की घिसंज्ञा नहीं होगी।

समास और असमास दोनों अवस्थाओं में पति शब्द की 'शेषो घ्यसखि' १.४.७ सूत्र से घिसंज्ञा प्राप्त होती है। अब इस सूत्र से नियम किया जाता है कि समास में ही 'पति' शब्द की घिसंज्ञा होगी, असमास में नहीं।

घिसंज्ञा के तीन कार्य हैं—

१. टा को 'ना' आदेश ('आङो नाऽस्त्रियाम्'–१७१)।
२. ङे, ङसि और ङस् में गुण आदेश ('घेर्ङिति'–१७२)
३. ङि को औकार और इकार को अकार आदेश ('अच्च घेः'–१७४)

असमासावस्था में 'पति' की घिसंज्ञा न होने पर ये कार्य नहीं होंगे और उसके रूप 'सखि' की भांति ही चलेंगे, यथा–'पत्या', 'पत्ये' आदि।

समासावस्था में घिसंज्ञा होने पर 'पति' के रूप हरिवत् चलेंगे। उदाहरण के लिए 'भूपति' शब्द 'भुवः पतिः' इस विग्रह में षष्ठीतत्पुरुष समास से बना है अतः यहां 'पति' की घिसंज्ञा होगी। घिसंज्ञा होने पर 'हरि' के समान 'भूपतये' 'भूपतिना' आदि रूप बनेंगे।

१८६. बहुगण-वतु-डति संख्या। १। १। २३

बहुगणशब्दौ वतुडत्यन्ताश्च संख्यासंज्ञकाः स्युः।

१८६. बहुगणेति—यह संज्ञा-सूत्र है। इसका अर्थ है—(बहुगणवतुडति) बहु, गण, वतु और डति (संख्या) संख्यासंज्ञक होते हैं। यहां 'प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्' परिभाषा से 'वतु' से वतु-प्रत्ययान्त (यावत्, तावत् आदि) तथा 'डति' से डति-प्रत्ययान्त ('कति' आदि) शब्दों का ग्रहण होगा। इस प्रकार सूत्र के अनुसार बहु शब्द, गण शब्द, 'वतु' प्रत्ययान्त तथा 'डति'प्रत्ययान्त शब्दों की संख्या संज्ञा होगी। उदाहरण के लिए डतिप्रत्ययान्त होने के कारण 'कति' शब्द की संख्या संज्ञा हुई।

१८७. डति च। १। १। २५

डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात्।

१८७. डतीति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसका शब्दार्थ है—(च) और (डति) डति प्रत्यय। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुगणवतुडति संख्या' १.१.२३ से 'संख्या' तथा 'ष्णान्ता षट्' १.१.२४ से 'षट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—डति प्रत्ययान्त संख्यासंज्ञक शब्द षट्संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए 'कति' शब्द डतिप्रत्ययान्त संख्या है, अतः इसकी षट् संज्ञा हुई। 'आकडारादेका संज्ञा' १.४.१ के अधिकार से बाहर होने के कारण यहां एक शब्द की दो संज्ञाएं हुईं।

१८८. षड्भ्यो लुक्। ७। १। २२

जश्शसोः।

१८८. षड्भ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(षड्भ्यः) षट्संज्ञक शब्दों से पर

(लुक्) लुक् हो। किन्तु इसकी व्याख्या के लिए 'जश्शसोः शिः' ७.१.२० से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षट्संज्ञक शब्दों से पर जस् और शस् का लुक् हो जाता है। उदाहरण के लिए 'कति' शब्द षट्संज्ञक है अतः उससे पर 'जस्' और 'शस्' का लुक् हो जावेगा। लुक् के अर्थ को अग्रिमसूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

१८९. प्रत्ययस्य[6] लुक्श्लुलुपः[1] । १ । १ । ६१

लुक्-श्लु-लुप्-शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात्।

१८९. प्रत्ययस्येति—यह संज्ञासूत्र है। शब्दार्थ है—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय की (लुक्श्लुलुपः) लुक्, श्लु और लुप् संज्ञा हो। किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए 'अदर्शनं लोपः' १.१.६० से अदर्शनम् की अनुवृत्ति करनी होगी। अनेक संज्ञाएं होने से 'लुक्श्लुलुप्' का ग्रहण पुनः तृतीयान्त में होगा।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुक्, श्लु और लुप् शब्दों का उच्चारण कर किया हुआ प्रत्यय का अदर्शन क्रम से लुक्, श्लु और लुप्-संज्ञक होता है। तात्पर्य यह कि लुक् श्लु, और लुप् अदर्शन के पर्यायवाची हैं। शब्द-भेद से अदर्शन की लुक् आदि संज्ञाएं होंगी। जहां लुक् से प्रत्यय का अदर्शन होगा, वहां वह लुक्संज्ञक और जहां श्लु से, वहां श्लुसंज्ञक होता है। यही सूत्र का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए 'कति + जस्' में 'षड्भ्यो लुक्' ७.१.२२ से 'जस्' की लुक् संज्ञा होती है। अतः प्रस्तुत सूत्र से उसका अदर्शन प्राप्त होता है। अदर्शन का फल है—लोप ('अदर्शनं लोपः' १.१.६०)। इसीसे जस् का लोप होकर 'कति' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'कति + शस्' में भी 'शस्' का लोप हो जावेगा।

१९०. प्रत्ययलोपे[7] प्रत्ययलक्षणम्[1] । १ । १ । ६२

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते—

१९०. प्रत्ययलोपे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप होने पर भी (प्रत्ययलक्षणम्) प्रत्यय का लक्षण होता है। 'प्रत्ययलक्षण' का अर्थ है—'प्रत्ययो लक्षणं निमित्तं यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, कार्यमित्यर्थः' अर्थात् प्रत्ययलक्षण प्रत्ययनिमित्तक कार्य को कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय को मानकर होने वाला कार्य हो जाता है। उदाहरण के लिए 'कति' में 'जस्' प्रत्यय का लोप हो चुका है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र से उसके न रहने पर भी

---

* 'अनेकसंज्ञाविधानाच्च तद्भावितद्ग्रहणमिह विज्ञायते—' काशिका।

उसको मानकर 'जसि च' ७.३.१०९ द्वारा गुण प्राप्त होता है। किन्तु इसका निषेध अग्रिम सूत्र करता है—

१९१. न लुमताऽङ्गस्य । १ । १ । ६३

लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति २। कतिभिः। कतिभ्यः २। कतीनाम्। कतिपु।

युष्मदस्मद्षट्संज्ञकास्त्रिपु सरूपाः।

त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः २।

१९१. न लुमतेति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(लुमता) 'लु' वाले (लुक्, श्लु तथा लुप्) शब्दों से (अङ्गस्य) अंग का (न) नहीं। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' १.१.६२ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। लुमता का अर्थ है—'लु इत्येकदेशोऽस्त्यस्य स लुमान्, तेन लुमता।' इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लु वाले शब्द (लुक्, श्लु तथा लुप्) से प्रत्यय का लोप होने पर अंग के स्थान पर उस प्रत्यय को मानकर होने वाला कार्य नहीं होता। यह पूर्वकथित प्रत्ययलक्षण सूत्र का अपवाद (Exception) है। उदाहरण के लिए 'कति' में जस् प्रत्यय का लु वाले शब्द 'लुक्' से अदर्शन हुआ है, अतः यहां 'जसि च' ७.३.१०९ से प्रत्ययलक्षण मानकर गुणादेश नहीं होगा और 'कति' ही रहेगा।

१९२. त्रेस्त्रयः। ७ । १ । ५३

त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिपु। गौणत्वेऽपि—प्रियत्रयाणाम्।

१९२. त्रेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(त्रेः) 'त्रि' शब्द के स्थान पर (त्रयः) 'त्रय' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' ७.१.५२ से 'आमि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'आम्' परे होने पर 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'त्रय' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'त्रि' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'त्रि + आम्' में आम् परे होने पर 'त्रि' को 'त्रय' आदेश होकर 'त्रय + आम्' रूप बनेगा। फिर नुट् आगम तथा यकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ होकर 'त्रया + नाम्' रूप बनेगा। अन्त में नकार को णत्व होकर 'त्रयाणाम्' रूप सिद्ध होगा*।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिये 'त्रयाणाम्' की रूपसिद्धि देखिए।

१६३. त्यदादीनामः । ७ । २ । १०२

एषामकारो विभक्तौ । द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः । द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ । पाति लोकमिति पपीः सूर्यः । दीर्घाज्जसि च—पप्यौ २ । पप्यः । हे पपीः । पपीम् । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम् ३ । पपीभिः । पप्ये । पपीभ्यः २ । पप्यः २ । पप्योः । दीर्घत्वान्न नुट्—पप्याम् । सवर्णदीर्घः-पपी । पप्योः । पपीषु । एवं वातप्रम्यादयः ।

बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी ।

१९३. त्यदादीनामिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(त्यदादीनाम्) त्यदादि के स्थान पर (अः) अकार आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी । त्यदादिगण सर्वादि-गण के अन्तर्गत आया है । यह 'त्यद्' शब्द से प्रारम्भ होता है । भाष्यकार ने इसकी अवधि 'द्वि' शब्द पर्यन्त निश्चित की है—'द्विपर्यन्तानामेवेष्टि' । इस प्रकार इस गण में आठ शब्द आते हैं—त्यद् , तद् , यद् , एतद् , इदम् , अदस् , एक, और द्वि । अतः सूत्र का भावार्थ होगा—विभक्ति परे होने पर त्यद् आदि (जिनका ऊपर गणन किया जा चुका है) शब्दों के स्थान पर अकार आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से त्यदादि के अन्त्य वर्ण को ही अकार आदेश होगा । विभक्ति सामान्य निमित्त होने से यह कार्य सब से पहले होगा ।

अकार अन्तादेश होने पर त्यदादि शब्द अकारान्त बन जाते हैं, अतः 'राम' के समान ही इनमें सब कार्य होंगे । उदाहरण के लिए प्रथमा द्विवचन में 'द्वि + औ' इस स्थिति में पहले इकार के स्थान पर अकार आदेश होकर 'द्व + औ' रूप बनेगा । फिर वृद्धि एकादेश हो 'द्वौ' रूप सिद्ध होता है ।

१६४. यू स्त्र्याख्यौ नदी । १ । ४ । ३

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसञ्ज्ञौ स्तः ।

(वा०) प्रथमलिङ्गग्रहणं च ।

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः ।

१९४. यू इति—शब्दार्थ है—(यू = ई च ऊ च) दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिंगी शब्द (नदी) नदीसंज्ञक हों । नित्यस्त्रीलिङ्ग उन शब्दों को कहते हैं जिनका प्रयोग केवल स्त्रीलिंग में ही होता है, अन्य लिंग में नहीं । उदाहरण के लिए 'गौरी' 'नदी' और 'वधू' आदि शब्द नित्यस्त्रीलिंग हैं, क्योंकि इनका स्त्रीलिंग के अतिरिक्त अन्य किसी लिंग में प्रयोग नहीं होता । ईकारान्त और ऊकारान्त होने के कारण ये शब्द 'नदी'संज्ञक भी हैं । इसी प्रकार 'श्रेयसी'

शब्द ङ्यन्त होने के कारण नित्यस्त्रीलिङ्ग है, अतः प्रस्तुत सूत्र से इसकी नदी संज्ञा होगी ही, किन्तु 'बहुश्रेयसी' में 'श्रेयसी' शब्द गौण हो जाता है। इससे इस सूत्र की नदी संज्ञा प्राप्त नहीं होती। किन्तु यहां पर वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०) प्रथमेति—प्रथमलिङ्ग का भी यहां—नदी संज्ञा में—ग्रहण होता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग है, किन्तु बाद को समास हो जाने पर गौण हो जाता है, उसकी भी समास के पहले के लिङ्ग द्वारा नदी संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'बहुश्रेयसी' शब्द में इस वार्तिक के अनुसार 'श्रेयसी' शब्द नदीसंज्ञक होगा। नदीसंज्ञा के कार्य हैं—

१. सम्बुद्धि में ह्रस्व होता है।
२. ङे, ङसि, ङस् और ङि को आट् आगम होता है।
३. आम् को नुट् आगम होता है।
४. ङि को आम् आदेश होता है।

इस प्रकार नदीसंज्ञक होने पर 'बहुश्रेयसी' के 'बहुश्रेयस्यौ' आदि रूप बनते हैं।

१९५. अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः। ७। ३। १०७

सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि।

१९५. अम्बार्थेति—शब्दार्थ है—(अम्बार्थनद्योः) अम्बा के अर्थवाले और नदीसंज्ञक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सम्बुद्धौ च' ७.३.१०६ से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अंगस्य' ६.४.१ यह यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अम्बा (माता) अर्थवाले तथा नद्यन्त* अंगों के स्थान पर सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्व आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह ह्रस्वादेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'हे बहुश्रेयसी + स्' में 'श्रेयसी' की नदी संज्ञा है और नद्यन्त शब्द 'बहुश्रेयसी' है। इससे परे सम्बुद्धि का सकार भी है। अतः प्रस्तुत सूत्र से अङ्ग के ईकार के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होकर 'हे बहुश्रेयसि + स्' रूप बना। तब ह्रस्वान्त अंग होने से 'स्' का लोप होकर 'बहुश्रेयसि' रूप सिद्ध होता है।

१९६. आण् नद्याः। ७। ३। ११२

नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागमः।

१९६. आणिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(नद्याः) 'नदी'-

---

* यहाँ नदी संज्ञा का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। देखिये १९४ वें सूत्र की व्याख्या।

संज्ञक से पर (आण् = आट्*) आट् होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'घेर्ङिति' ७.३.१११ से 'ङिति' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' पञ्चम्यन्त में और 'ङिति' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। विशेषण होने से 'नद्याः' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नद्यन्त अङ्ग (जिस अङ्ग के अन्त में कोई नदीसंज्ञक शब्द हो) से परे ङित् (ङे, ङसि, ङस् और ङि) का अवयव आट् (आ) होता है। '८५—आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा द्वारा टित् होने के कारण 'आट्' आगम ङितों का आद्यवयव होगा। उदाहरण के लिए चतुर्थी एकवचन में 'बहुश्रेयसी + ए (ङे)' इस स्थिति में नद्यन्त शब्द 'बहुश्रेयसी' से परे होने के कारण ङित्—एकार को 'आट्' आगम होगा और रूप बनेगा—'बहुश्रेयसी + आ ए'।

१९७. आटश्च । ६ । १ । ९०

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः २। नद्यन्तत्वान्नुट्—बहुश्रेयसीनाम्।

१९७. आटश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (आटः) आट् से। किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए 'इको यणचि' ६.१. ७७ से 'अचि' तथा 'वृद्धिरेचि' ६.१. ८८ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। साथ ही 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ का अधिकार भी प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आट् से अच् (कोई स्वर) परे होने पर पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'बहुश्रेयसी + आ ए' में 'आट्' से अच्—एकार परे होने पर वृद्धि—ऐकार एकादेश होकर 'बहुश्रेयसी + ऐ' रूप बना। तब यणादेश होकर 'बहुश्रेयस्यै' रूप सिद्ध होगा।

१९८. ङेराम्नद्याम्नीभ्यः । ७ । ३ । ११६

नद्यन्ताद्, आबन्ताद्, 'नी'शब्दाच्च परस्य ङेराम्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्।

१९८. ङेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नद्याम्नीभ्यः) 'नदी'संज्ञक शब्द, 'आप्' प्रत्यय तथा 'नी' से पर (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश होता है। नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों की नदीसंज्ञा होती है। 'आप्' में 'चाप्', 'डाप्' और 'टाप्'—इन तीन प्रत्ययों का समावेश होता है। 'प्रत्यय-

---

* 'आण्' वस्तुतः 'आट्' ही है। सन्धिवश '६८—यरः—०' से अन्त्य टकार को णकार हो जाता है।

ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से यहां आबन्त शब्दों का ग्रहण होगा। 'अंगस्य' ६.४.१ सूत्र से यहाँ अङ्गाधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—नद्यन्त (जिनके अन्त में नदीसंज्ञक शब्द हों), आबन्त (जिनके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हों) और 'नी'—इन अंगों से परे ङि के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'बहुश्रेयसी + ङि' में नद्यन्त अङ्ग से परे होने के कारण 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश होकर 'बहुश्रेयसी + आम्' रूप बनेगा। इस अवस्था में 'आम्' को आट् आगम, 'आटश्च' ६.१.९० से वृद्धि तथा यण् होकर 'बहुश्रेयस्याम्' रूप सिद्ध होगा*।

१९९. अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ। ६। ४। ७७

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः, भ्रू इत्यस्य च, अङ्गस्य इयङुवङौ-स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते—

१९९. अचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अच् परे होने पर (श्नु-धातुभ्रुवां य्वोः) श्नु-प्रत्यय, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातुरूप तथा भ्रू शब्दों के स्थान पर (इयङुवङौ) 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश हों। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा द्वारा सूत्रस्थ 'श्नु' से श्नुप्रत्ययान्त का ग्रहण होगा। 'य्वोः' 'श्नु-धातु-भ्रुवाम्' पद के 'धातु' अंश का ही विशेषण है, क्योंकि 'श्नु' और 'भ्रू' के सदा उवर्णान्त होने से उनके साथ इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। 'य्वोः' का पदच्छेद है—इश्च उश्च = यू, इतरेतरद्वन्द्वः, तयोः = य्वोः। 'अङ्गस्य' ६.४.१ से यहां अङ्गा-धिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—अजादि (जिनके आदि में कोई स्वर हो) प्रत्यय परे होने पर श्नु-प्रत्ययान्त रूप, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातुरूप तथा 'भ्रू' रूप अङ्ग को इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं। 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० परिभाषा से इकार को इयङ् और उकार को उवङ् आदेश होगा। इन आदेशों में 'अङ्' इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण ये आदेश 'ङिच्च' १.१.५३ परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य इकार और उकार के स्थान पर ही होंगे। उदाहरण के लिए 'प्रधी + औ' में अजादि प्रत्यय 'औ' परे है, और 'प्रधी' में 'धी' इवर्णान्त धातु है। अतः प्रकृत सूत्र से अन्त्य ईकार के स्थान पर इयङ् आदेश प्राप्त होता है। किन्तु अग्रिम सूत्र से इसका निषेध हो जाता है—

२००. एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य। ६। ४। ८२

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्याने-काचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यम्। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं पपीवत्। एवं ग्रामणीः। ङौ तु—ग्रामण्याम्। अनेकाचः किम्—नीः, नियौ,

* विस्तृत प्रक्रिया के लिये 'बहुश्रेयस्याम्' की रूपसिद्धि देखिए।

नियः। अमि शसि च परत्वादियङ्—नियम्, नियः। ङेराम्—नियाम्। असंयोगपूर्वस्य किम्—सुश्रियौ, यवक्रियौ।

२००. एरनेकाच इति—शब्दार्थ है—(असंयोगपूर्वस्य) असंयोगपूर्व (एः*) इवर्णान्त (अनेकाचः) अनेकाच् के स्थान पर...। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१९९–अचि–०' से 'अचि' और षष्ठ्यन्त 'धातोः', 'इणो यण्' ६.४.८१ से 'यण्' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' पद दो बार पढ़ा जाता है, एक बार वह 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है और दूसरी बार 'असंयोगपूर्वस्य' के 'संयोग' अंश का†। इस प्रकार 'असंयोगपूर्व' का अर्थ है—जिससे पूर्व धातु के अवयव का संयोग‡ न हो, ऐसा। यह सूत्रस्थ 'एः' का विशेषण है, अतः 'असंयोगपूर्वस्य एः' का अर्थ है—जिस इवर्ण से पूर्व धातु के अवयव का संयोग न हो, वह इवर्ण। इस अर्थ में यह धातु का विशेषण बनता है और धातु पुनः अङ्ग का। विशेषण होने से दोनों में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अच् (स्वर) परे होने पर उस अनेकाच् अङ्ग के स्थान पर यण् (य्, व्, र् या ल्) आदेश होता है जिसके अन्त में धातु हो और उस धातु के अन्त में ऐसा इवर्ण (इ या ई) हो जिससे पूर्व धातु के अवयव का संयोग न हो। तात्पर्य यह कि अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर हो, ऐसा) प्रत्यय परे होने पर उस अनेकाच् (अनेक स्वर वाले) *अङ्ग को यण् आदेश होता है, जिसके अन्त में इवर्णान्त धातु है। किन्तु धातु के* इवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'प्रधी+औ' में 'धी' इवर्णान्त धातु है और इससे पूर्व धातु का कोई अवयव संयोग-युक्त नहीं है। तदन्त अनेकाच् अङ्ग 'प्रधी' है और उससे परे अजादिविभक्ति 'औ' है। अतः ईकार के स्थान पर यकार आदेश होकर 'प्रध् य्+औ' = 'प्रध्यौ' रूप बनेगा। यह सूत्र 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६.४.७७ सूत्र का बाधक है।

इस सूत्र के चरितार्थ होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

१. अङ्ग को अनेकाच् होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'नी' (ले जाने वाला) शब्द में 'यण्' आदेश नहीं होगा, क्योंकि यह शब्द एकाच् है। अतः

---

* यह 'इ' के षष्ठी-एकवचन का रूप है। विशेषण होने से इसमें तदन्त-विधि हो जाती है।

† 'धातुग्रहणं चात्रस्योभयोर्विशेषणं संयोगस्याङ्गस्य चेति–' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

‡ *इसके स्पष्टीकरण के लिए १३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।*

'अचि श्नु–०' ६.४.७७ से ईकार के स्थान पर इयङ् आदेश होकर प्रथमा द्विवचन में 'नियौ' रूप बनेगा।

२. धातु के इवर्ण से पूर्व संयोग नहीं होना चाहिये। ऐसा न होने पर यण् आदेश नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'सुश्रियौ' और 'यवक्रियौ' में यणादेश नहीं हुआ, क्योंकि दोनों जगह इवर्ण से पूर्व संयोग है। अतः इयङ् आदेश होकर उक्त रूप बनते हैं। किन्तु ध्यान रहे कि संयोग जब धातु का अवयव होगा, तभी यण् निषेध होता है। उदाहरणार्थ 'उन्नी' (उन्नति करने वाला) शब्द में संयोग तो है, किन्तु वह उत् उपसर्ग के तकार को मिलाकर हुआ है। इस प्रकार धातु का अवयव न होने से यहां यण् आदेश होकर 'उन्न्यौ', 'उन्न्यः' आदि रूप बनेंगे।

२०१. गतिश्च। १। ४। ६०

प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः।

(वा०) गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण नेष्यते—शुद्धिधियौ।

२०१. गतिश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (गतिः) गतिसंज्ञा हो। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए सम्पूर्ण सूत्र 'प्रादयः' १.४.५८, तथा 'उपसर्गाः क्रियायोगे' १.४.५९ से 'क्रियायोगे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'प्र' आदि बाईस शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक भी होते हैं। 'प्र' आदि* की 'उपसर्गाः क्रियायोगे' १.४.५९ से उपसर्ग संज्ञा तो प्राप्त होती ही है, यहां उनकी 'गति' संज्ञा का भी विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'प्रधी' शब्द में 'प्र' का 'धी' क्रिया के साथ योग होता है, अतः इसकी गति संज्ञा होगी।

(वा०) गतिकारकेति—जिस अङ्ग का पूर्वपद गति और कारक से भिन्न हो, उसे यण् आदेश नहीं होता। उदाहरण के लिए 'शुद्धा धीर्यस्य सः' से सिद्ध 'शुद्धधी' शब्द में पूर्वपद न तो गतिसंज्ञक है और न कारक ही, अतः यण् आदेश न होगा। तब 'शुद्धधी + औ' इस स्थिति में ईकार को 'अचि श्नु–०' ६.४.७७ से 'इयङ्' आदेश होकर 'शुद्धधियौ' रूप बनेगा।

२०२. न भूसुधियोः। ६। ४। ८५

एतयोरचि सुपि यण् न। सुधियौ, सुधियः इत्यादि।

सुखमिच्छतीति–सुखीः। सुतमिच्छतीति–सुतीः। सुख्यौ। सुत्यौ। सुख्युः। सुत्युः। शेषं प्रधीवत्। शम्भुर्हरिवत्। एवं भान्वादयः।

२०२. न भू इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(भूसुधियोः) 'भू'

---

* इनके स्पष्टीकरण के लिए ३५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

और 'सुधी' शब्द के स्थान पर (न) नहीं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६.४.७७ से 'अचि', 'इणो यण्' ६.४.८१ से 'यण्' तथा 'ओः सुपि' ६.४.८३ से 'सुपि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर हो) सुप् परे होने पर 'भू' और 'सुधी' शब्द के स्थान में यण् आदेश नहीं होता। उदाहरण के लिए 'सुधी + औ' में अजादि सुप् 'औ' परे होने पर 'सुधी' के ईकार को यण् आदेश नहीं होगा। तब 'अचि श्नु-०' ६.४.७७ से इयङ् आदेश होकर 'सुधियौ' रूप बनता है।

२०३. तृज्वत् क्रोष्टुः । ७ । १ । ९५

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः।

२०३. तृज्वदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्रोष्टुः) 'क्रोष्टु' शब्द (तृज्वत्) तृच् प्रत्यय के समान हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' ७.१.८६ से 'सर्वनामस्थाने' और 'सख्युरसम्बुद्धौ' ७.१.९२ से 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तृच्प्रत्यय से तदन्त-'तृजन्त' का ग्रहण होता है। तृजन्त शब्द कर्तृ, हर्तृ आदि अनेक हैं। यहां 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० परिभाषा से अर्थकृत आन्तर्य द्वारा 'क्रोष्टु' के स्थान पर तृजन्त 'क्रोष्टृ' ही आदेश होगा। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम् और औट्) परे होने पर 'क्रोष्टु' (गीदड़) शब्द के स्थान पर ऋकारान्त 'क्रोष्टृ' शब्द होता है। उदाहरण के लिए प्रथमा एकवचन में 'क्रोष्टु + सु' इस स्थिति में सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'सु' परे होने पर 'क्रोष्टु' के स्थान पर 'क्रोष्टृ' आदेश होकर 'क्रोष्टृ + सु' रूप बनेगा।

२०४. ऋतो ङि-सर्वनामस्थानयोः । ७ । ३ । ११०

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते—

२०४. ऋत इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ङि-सर्वनामस्थानयोः) ङि और सर्वनामस्थान परे होने पर (ऋतः) ऋकार के स्थान पर। इसकी व्याख्या के लिए 'ह्रस्वस्य गुणः' ७.३.१०८ से 'गुणः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ यहां अधिकृत है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'ऋतः' से तदन्तविधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ है—ङि अथवा सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम् तथा औट्) परे हों तो ऋकारान्त अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'क्रोष्टृ + स् (सु)' में 'सु' सर्वनामस्थान परे है, अतः प्रस्तुत सूत्र

से ऋवर्ण के स्थान पर 'अर्' गुण प्राप्त होता है। किन्तु अग्रिम सूत्र से इसका बाध हो जाता है—

२०५. ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च। ७। १। ९४

ऋदन्तानाम् उशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ।

२०७. ऋदुशन इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ऋत् + उशनस् + पुरुदंसः + अनेहसां) ऋकारान्त, उशनस् [शुक्राचार्य], पुरुदंसस् [बिल्ली] और अनेहस् [समय] शब्दों के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सख्युरसम्बुद्धौ' ७.१.९२ से 'असम्बुद्धौ' और सम्पूर्ण 'अनङ् सौ' ७.१.९३ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१–यह यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्बुद्धिभिन्न 'सु' परे होने पर ऋकारान्त, उशनस्, पुरुदंसस् तथा अनेहस् शब्दान्त अङ्गों के स्थान पर अनङ् आदेश होता है। 'अनङ्' में 'अङ्' इत् है, अतः 'ङिच्च' १.१.५३ सूत्र के द्वारा यह आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'क्रोष्टृ + स् (सु)' में सम्बुद्धिभिन्न सकार परे होने के कारण ऋकार के स्थान पर 'अनङ्' आदेश होकर 'क्रोष्ट् अन् स्' रूप बनेगा।

२०६. अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम्। ६। ४। ११

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्, क्रोष्टून्।

२०६. अबिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(अप्—प्रशास्तृणाम्) अप्, तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों की। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः', 'नोपधायाः' ६.४.७ से 'उपधायाः' तथा सम्पूर्ण 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' ६.४.८ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का शब्दार्थ होगा—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर अप् (जल), तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ (बहिन), नप्तृ (दोहता), नेष्टृ (दान देनेवाला), त्वष्टृ (एक विशेष असुर), क्षत्तृ (सारथि वा द्वारपाल), होतृ (हवन करनेवाला), पोतृ (पवित्र करनेवाला) और प्रशास्तृ (शासन करनेवाला) शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है। अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक होता है।* उदाहरण के लिए 'कोष्ट् अन् स्' में 'कोष्टन्'

---

* विशेष विवरण के लिए १७६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

शब्द तृजन्त है और उससे परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'सु' है, अतः उपधा अकार को दीर्घ होकर 'क्रोष्टान् स्' रूप बनेगा। इस स्थिति में पहले 'हल्ङ्याब्भ्यो…' ६.१.६८ से अपृक्त सकार का और फिर 'न लोपः…' ८.२.७ से नकार का लोप होकर 'क्रोष्टा'* रूप सिद्ध होता है।

२०७. विभाषा तृतीयादिष्वचि। ७। १। ९७

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा, क्रोष्ट्रे।

२०७. विभाषेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अजादि (तृतीयादिषु) तृतीयादि विभक्ति परे होने पर (विभाषा) विकल्प से। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'तृज्वत् क्रोष्टुः' ७.१.९५ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। तृतीयादि विभक्तियों में अजादि विभक्तियां आठ हैं—टा (आ), ङे (ए), ङसि (अस्), ङस् (अस्), ओस्, आम्, ङि और ओस्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'टा' आदि तृतीयादि विभक्तियां परे होने पर 'क्रोष्टु' शब्द विकल्प से तृज्वत् अर्थात् ऋकारान्त हो। उदाहरण के लिए तृतीया एकवचन में 'क्रोष्टु+आ (टा)' इस अवस्था में अजादि विभक्ति 'आ' परे होने पर विकल्प से तृज्वद्भाव होकर 'क्रोष्टृ+आ' रूप बनेगा। इस दशा में ऋकार को यण् रेफ होकर 'क्रोष्ट्रा' रूप सिद्ध होगा। जिस पक्ष में 'क्रोष्टृ' आदेश न होगा, वहां सर्वत्र घिसंज्ञा होकर 'शम्भु' शब्द के समान प्रक्रिया होगी।

२०८. ऋत उत्। ६। १। १११

ऋतो ङसि-ङसोरति उद्एकादेशः। रपरः।

२०८. ऋत इति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(ऋतः) ऋकारान्त से पर (उत्) 'उत्' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एङः पदान्तादति' ६.१.१०९ से 'अति' तथा 'ङसिङसोश्च' ६.१.११० से 'ङसिङसोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४—यह अधिकृत है। 'तपरः तत्कालस्य' १.१.७० परिभाषा से 'ऋत्' तथा 'उत्' से क्रमशः ह्रस्व ऋकार और ह्रस्व उकार का ग्रहण होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—ह्रस्व ऋकार से यदि ङसि अथवा ङस् का अत् (ह्रस्व अकार) परे हो, तो पूर्व-पर के स्थान पर एक ह्रस्व उकार आदेश हो। '२९—उरण्—०' परिभाषा से यह उकार 'उर्' रूप में ही आदेश होगा। उदाहरण के लिए ङसि और ङस् में 'क्रोष्टृ+अस्' इस दशा में ऋकार से ङसि और ङस् का अकार परे होने से दोनों के स्थान पर 'उर्' एकादेश होकर 'क्रोष्टुर् स्' रूप बनेगा।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिये 'क्रोष्टा' की रूपसिद्धि देखिए।

२०९. रात् सस्य । ८ । २ । २४

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । रस्य विसर्गः–क्रोष्टुः, क्रोष्टोः । (वा०) नुम्-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन ।

क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् ।

हूहूः । हूह्वौ । हूह्वः । हूहून् इत्यादि । अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्वाः । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् । खलपूः ।

२०९. रात्सस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(रात्) रकार से पर (सस्य) सकार का । इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—रेफ से पर संयोगान्त सकार का ही लोप हो, अन्य का नहीं । उदाहरण के लिए 'क्रोष्ट् उर् स्' में इस नियम से रेफ से पर संयोग 'र् स्' के अन्त सकार का लोप होकर 'क्रोष्टुर्' रूप बनता है । फिर रेफ का विसर्ग होकर 'क्रोष्टुः' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि रकार से परे संयोगान्त सकार का लोप 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से भी प्राप्त हो जाता है, अतः इसका पुनः कथन 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' परिभाषा के अनुसार नियमार्थ ही है ।

(वा०) नुमिति—नुम् ('इकोऽचि विभक्तौ' ७.१.७३ से), अच् परे रहते रकार आदेश ('अचि र ऋतः' ७.२.१०० से) और तृज्वद्भाव ('तृज्वत् क्रोष्टुः' ७.१.९५ से)—इनकी अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध* से नुट् ('ह्रस्वनद्यापो नुट्' ७.१.५४ से) ही होता है । तात्पर्य यह कि इनमें से यदि सभी आदेश एक साथ ही प्रवृत्त होंगे, तो उनमें से 'नुट्' आदेश ही चरितार्थ होगा । उदाहरण के लिए 'क्रोष्टु + आम्' में नुट् का तृज्वद्भाव के साथ विप्रतिषेध है, अतः प्रकृत वार्तिक द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से 'नुट्' हो 'नामि' ६.४.३ से दीर्घ करने पर 'क्रोष्टूनाम्' रूप सिद्ध होगा ।

२१०. ओः सुपि । ६ । ४ । ८३

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अचि सुपि । खलप्वौ । खलप्वः । एवं सुल्वादयः । स्वभूः, स्वभुवौ, स्वभुवः । वर्षाभूः ।

२१०. ओः सुपीति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है—(ओः) उकार के स्थान पर (सुपि) सुप् प्रत्यय परे होने पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६.४.७७ से 'अचि' तथा 'धातोः' (विभक्ति-विपरिणाम

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ११३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

करके), 'इणो यण्' ६.४.८१ से 'यण्' और 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' ६.४.८२ से 'अनेकाचः' तथा 'असंयोगपूर्वस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां 'अङ्गस्य' ६.४.१ यह अधिकृत है। सूत्रस्थ 'ओः' 'पद' 'उ' शब्द के षष्ठी का एकवचन है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है जिस उवर्ण के, वह उवर्ण अन्त में है जिसके, ऐसा जो धातु, वह धातु है अन्त में जिसके, ऐसा जो अनेकाच् (अनेक स्वरों वाला) अंग है, उसको अजादि (जिसके आदि में स्वर हो) सुप् परे रहते 'यण्' आदेश हो। तात्पर्य यह है कि अजादि सुप् प्रत्यय परे होने पर उस अनेकाच् अंग को यण् आदेश होता है, जिसके अन्त में उवर्णान्त धातु हो परन्तु धातु के उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो। उदाहरण के लिए 'खलपू+औ' में उवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयुक्त नहीं है, तदन्त धातु 'पू' है और तदन्त अंग 'खलपू' है। उससे परे अजादि सुप् 'औ' भी है, अतः यण् होकर 'खलप्वौ' रूप बनेगा। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यण् अन्त्य ऊकार के स्थान पर हुआ है।

विशेष—एरनेकाचः—६.४.८२ सूत्र का विषय इवर्णान्त धातु है और प्रस्तुत सूत्र का विषय उवर्णान्त धातु। वह प्रत्येक प्रकार के अजादि प्रत्ययों में यण् करता है, किन्तु यह केवल अजादि सुप् में ही। शेष सब बातें दोनों में एक-सी हैं। दोनों ही 'अचि श्नु—' ६.४.७७ के अपवाद हैं।

२११. वर्षाभ्वश्च। ६। ४। ८४

अस्य यण् स्याद् अचि सुपि। वर्षाभ्वौ इत्यादि।

(वा०) दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः। दृन्भ्वौ। एवं करभूः। धाता। हे धातः। धातारौ। धातारः।

(वा०) ऋवर्णान्तस्य णत्वं वाच्यम्।

धातॄणाम्। एवं नप्त्रादयः। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न—पिता, पितरौ, पितरः। पितरम्। शेषं धातृवत्। एवं जामात्रादयः। ना। नरौ।

२११. वर्षाभ्व इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (वर्षाभ्वः) वर्षाभू के स्थान पर। किन्तु इससे सूत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अचि श्नु-धातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६.४.७७ से 'अचि', 'इणो यण्' ६.४.८१ से 'यण्' तथा 'ओः सुपि' ६.४.८३ से 'सुपि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर हो) सुप् परे होने पर 'वर्षाभू' शब्द के स्थान पर 'यण्' आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अन्त्य अल्—ऊकार

के स्थान पर ही यण् आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'वर्षाभू+औ' में '२०२-न भूसुधियोः' से यण्-निषेध प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृतसूत्र से उसका बाध होकर अन्त्य ऊकार के स्थान पर यण्—वकार हो जाता है और इस प्रकार 'वर्षाभ् व् औ'= 'वर्षाभ्वौ' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) दृन्करेति—अजादि सुप् परे होने पर 'दृन्', 'कर' और 'पुनः' शब्द-पूर्वक 'भू' शब्द को यण् आदेश हो। उदाहरण के लिए प्रथमा द्विवचन में 'दृन्भू+औ' इस अवस्था में 'दृन्'पूर्वक 'भू' शब्द से अजादि सुप् 'औ' परे होने के कारण यण् होकर 'दृन्भ्वौ' रूप सिद्ध होगा।

(वा०) ऋवर्णान्तेति—ऋवर्ण से पर नकार को णकार हो। उदाहरण के लिए 'धातृनाम्' में प्रस्तुत वार्तिक से ऋवर्ण से परे नकार को णकार होकर 'धातृणाम्' रूप सिद्ध होगा।

२१२. नृ* च। ६। ४। ६

अस्य नामि वा दीर्घः। नृणाम्, नृणाम्।

२१२. नृ चेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (नृ) नृशब्द के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः', सम्पूर्ण 'नामि' ६.४.३ तथा 'छन्दस्युभयथा' ६.४.५ से 'उभयथा' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'नाम्' परे होने पर नृशब्द के स्थान पर विकल्प (उभयथा) से दीर्घ आदेश होता है। 'अचश्च' १.२.२८ परिभाषा से ऋवर्ण को ही दीर्घ होगा। उदाहरण के लिए 'नृ+नाम्' में वैकल्पिक दीर्घ होकर 'नॄनाम्' रूप बनेगा। फिर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से नकार के स्थान पर णकार होकर 'नॄणाम्' रूप सिद्ध होगा। दूसरे पक्ष में दीर्घ न होने पर 'नृणाम्' रूप बनेगा।

२१३. गोतो णित्। ७। १। ९०

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत्। गौः, गावौ, गावः।

२१३. गोत इति—यह अतिदेश-सूत्र है। शब्दार्थ है—(गोतः†) ओकारान्त 'गो' शब्द से...(णित्) णित् होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '२९४—इतोऽत्—०' से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'सर्वनामस्थाने' प्रथमान्त में विपरिणत हो जाता है। 'णित्' का तात्पर्य

---

* ध्यान रहे कि यहां लुप्तषष्ठी है।

† 'गोत इत्येव तपरकरणनिर्देशाद्ोकारान्तोपलक्षणम्'—काशिका।

है—णिद्वत् या णित् के समान । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ओकारान्त 'गो' शब्द से पर सर्वनामस्थान प्रत्यय (सु, औ, जस्, अम् तथा औट्) णिद्वत् हों ।*
उदाहरण के लिए प्रथमा एकवचन के 'गो + स्' में ओकारान्त 'गो' शब्द से परे होने के कारण सर्वनामस्थानीय प्रत्यय 'सु' णिद्वत् होगा । णिद्वत् होने पर 'अचो ञ्णिति' ७.२.११५ से 'गो' के अन्त्य ओकार को वृद्धि—औकार तथा फिर रुत्व-विसर्ग करने से 'गौः' रूप सिद्ध होता है ।

२१४. औतोऽम्शसोः† । ६ । १ । ९३

ओतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः । गाम् । गावौ, गाः । गवा । गवे । गोः २ इत्यादि ।

२१४. औत इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(ओतः) ओकार से (अम्शसोः) 'अम्' और 'शस्' का...(आ) आकार हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इको यणचि' ६.१.७७ से 'अचि' तथा सम्पूर्ण 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ओकारान्त शब्द से 'अम्' और 'शस्' का अच् (स्वर) परे होने पर आकार एकादेश हो । उदाहरण के लिए 'गो + अम्' में ओकारान्त शब्द 'गो' से 'अम्' का अकार परे है । अतः प्रकृतसूत्र से पूर्व-पर के स्थान पर आकार एकादेश होकर 'गाम्' रूप सिद्ध होगा ।

२१५. रायो हलि । ७ । २ । ८५

अस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ । राः, रायौ, रायः । राभ्याम् । ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः । ग्लौभ्याम् इत्यादि ।

इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गाः ।

२१५. राय इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलि) हल् परे होने पर (रायः) 'रै' शब्द के स्थान पर । किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता है । इसके लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'आ' तथा 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—हलादि (जिसके आदि में कोई व्यञ्जन हो) विभक्ति परे होने पर 'रै' शब्द के स्थान पर आकार आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य'

---

* कुछ लोग सूत्रस्थ 'गोतः' के स्थान पर 'ओतः' ग्रहण करते हैं । उनके अनुसार सूत्र का अर्थ होगा—'ओकारान्त शब्द से पर सर्वनामस्थान णिद्वत् होते हैं ।'

† सूत्र का पदच्छेद है—'आ + ओतः + अम्शसोः' ।

१.१.५२ परिभाषा से अन्त्य अल्—ऐकार के स्थान पर ही आकार आदेश होगा। हलादि विभक्तियां आठ हैं—सु, भ्याम् (३), भिस्, भ्यस् (२) और सुप्। अतः इनमें से किसी भी विभक्ति के परे होने पर ऐकार को आकार आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'रै + सु' (स्) में हलादि विभक्ति 'सु' परे रहने से ऐकार को आकार आदेश होकर 'रास्' रूप बनेगा। फिर रुत्व-विसर्ग होकर 'राः' रूप सिद्ध होगा।

अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण समाप्त।

अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

रमा ।

२१६. औङ आपः । ७ । १ । १८

आबन्तादङ्गात् परस्य औङः शी स्यात् । 'औङ्' इति औकारविभक्तेः संज्ञा । रमे । रमाः ।

२१६. औङ इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(आपः) 'आप्' प्रत्यय से परे (औङः) 'औङ्' के स्थान पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'जसः शी' ७.१.१७ से 'शी' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार है । यह 'अङ्गस्य' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है और सूत्रस्थ 'आपः' इसका विशेषण बनता है । विशेषण होने से 'आपः' में तदन्त-विधि हो जाती है । टाप्, डाप् और चाप्—इन तीन स्त्रीलिङ्गी प्रत्ययों को 'आप्' कहते हैं । सूत्रस्थ 'औङ्' में ङकार सामान्यग्रहणार्थ है, अतः 'औङ्' से 'औ' और 'औट्'—इन दो विभक्तियों का ग्रहण होता है ।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आबन्त अङ्ग (जिसके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हो) से परे 'औ' तथा 'औट्' को 'शी' आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'रमा + औ' में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे होने के कारण 'औ' को 'शी' आदेश हुआ । तब 'लशक्वतद्धिते' १.३.८ से शकार की इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' १.३.९ से लोप हो 'रमा + ई' रूप बनेगा । फिर 'आद् गुणः' ६.१.८७ से गुण होकर 'रमे' रूप सिद्ध होगा ।

२१७. सम्बुद्धौ च । ७ । ३ । १०६

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ । 'एङ्ह्रस्वात्—' इति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे, हे रमे, हे रमाः । रमाम्, रमे, रमाः ।

२१७. सम्बुद्धौ चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ से 'एत्' तथा 'आङि चापः' ७.३.१०५ से 'आपः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ यहां अधिकृत है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—सम्बुद्धि† परे होने पर

---

* 'ङकारः सामान्यग्रहणार्थः । औटोऽपि ग्रहणं यथा स्यात्—' काशिका ।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १३२ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

आबन्त अङ्ग (जिसके अन्त में 'आप्' प्रत्यय हो) के स्थान पर एकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से एकार आदेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'हे रमा + स् (सु)' में सम्बुद्धि 'सु' परे होने के कारण 'रमा' के अन्त्य आकार के स्थान पर एकार आदेश होकर 'हे रमे + स्' रूप बनेगा। इस अवस्था में 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' ६.१.६९ से सकार का लोप होकर 'हे रमे' रूप सिद्ध हुआ।

२१८. आङि चापः[६] । ७ । ३ । १०५

आङि ओसि चाप एकारः। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः।

२१८. आङीति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। अर्थ है—(च) और (आङि) आङ् परे होने पर (आपः) 'आप्' प्रत्यय के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ से 'एत्' तथा 'ओसि च' ७.३.१०४ से 'ओसि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है। 'टा' विभक्ति को ही पूर्वाचार्यों ने 'आङ्' कहा है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'टा' तथा 'ओस्' परे होने पर आबन्त अङ्ग (जिसके अन्त में 'चाप्', 'डाप्' या 'आप्' प्रत्यय हो) के स्थान पर एकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य आकार के स्थान पर ही एकार आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'रमा + आ (टा)' में आङ्—'टा' परे रहते आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार को एकार होकर 'रमे + आ' रूप बनेगा। तब अयादेश होकर 'रमया' रूप सिद्ध होगा।

२१९. याडापः। ७ । ३ । ११३

आपो ङितो याट्। वृद्धिः। रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्, रमासु। एवं दुर्गाम्बिकादयः।

२१९. याडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आपः) 'आप्' से परे···(याट्) 'याट्' हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'घेर्ङिति' ७.३.१११ से 'ङिति' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ङिति' षष्ठ्यन्त में और 'अङ्गस्य' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है। 'ङित्' का अभिप्राय ङे, ङसि, ङस् और ङि—इन चार विभक्तियों से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आबन्त अङ्ग से परे ङे, ङसि, ङस् और ङि का अवयव 'याट्' होता है। 'याट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'या' ही शेष रहता है। टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६

---

* 'आङिति पूर्वाचार्यनिर्देशेन तृतीयैकवचनं गृह्यते'—काशिका।

परिभाषा से 'या' ङित् वचनों का आद्यवयव होगा। उदाहरण के लिए 'रमा+ए (ङे)' में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे 'ङे' ङित् है, अतः उसको 'याट्' आगम होकर 'रमा + या ए' रूप बनेगा। तब वृद्धि एकादेश होकर 'रमायै' रूप सिद्ध होगा।

२२०. सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ।* ७ । ३ । ११४

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङितः स्याट् स्याद्, आपश्च ह्रस्वः। सर्वस्यै। सर्वस्याः २। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेषं रमावत्।

२२०. सर्वनाम्न इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(सर्वनाम्नः) सर्वनाम से पर (स्याट्) स्याट् (च) और (ह्रस्वः) ह्रस्व हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'घेर्ङिति' ७.३.१११ से 'ङितः' (विभक्ति-विपरिणाम करके) और 'याडापः' ७.३.११३ से 'आपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आबन्त सर्वनाम से परे ङित् प्रत्ययों का अवयव 'स्याट्' (स्या) हो तथा आबन्त के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो। ङित् विभक्तियाँ चार हैं—ङे, ङसि, ङस् और ङि। इनमें 'याडापः' ७.३.११३ से 'याट्' का आगम प्राप्त था, किन्तु इस सूत्र से 'स्याट्' का आगम विधान किया गया है। अतः प्रस्तुत सूत्र उक्त सूत्र का अपवाद है। 'स्याट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से यह ङित् का आद्यवयव होगा। दूसरी ओर 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से आबन्त के अन्त्य आकार के स्थान पर ही ह्रस्व होगा।

उदाहरण के लिए 'सर्वा+ए (ङे)' में प्रस्तुत सूत्र से 'स्याट्' का आगम तथा 'सर्वा' के अन्त्य आकार को ह्रस्व होकर 'सर्व+स्य ए' रूप बनेगा। तब वृद्धि एकादेश कर देने से 'सर्वस्यै' रूप सिद्ध हो जाता है।

२२१. विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ । १ । १ । २८

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै।
तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा। द्वितीयस्यै, द्वितीयायै। एवं तृतीया।
'अम्बार्थे'ति ह्रस्वः—हे अम्ब! हे अक्क! हे अल्ल!
जरा, जरसौ इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्।
गोपा विश्वपावत्। मतीः। मत्या।

२२१. विभाषेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दिक्समासे बहुव्रीहौ) दिक्-वाचक शब्दों के बहुव्रीहि समास में (विभाषा) विकल्प से। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'सर्वादीनि सर्वनामानि' १.१.२७ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार

---

* सूत्र का पदच्छेद है—'सर्वनाम्नः + स्याट् + ह्रस्वः + च'।

सूत्र का भावार्थ होगा—दिशाओं के बहुव्रीहि समास* में सर्वादिगण में पठित शब्द† विकल्प से सर्वनामसंज्ञक होते हैं। चार मुख्य दिशाओं के बीच की दिशाओं का बोध कराने में समास होता है। उदाहरण के लिए 'उत्तरपूर्वा' दिक्समास से बना है, क्योंकि इसका अर्थ है उत्तर और पूर्व के बीच की दिशा। अतः दिक्समास होने से 'उत्तरपूर्वा + ए (ङे)' इस स्थिति में स्याट् आगम और ह्रस्व होने पर वृद्धि एकादेश होकर 'उत्तरपूर्वस्यै' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में 'याट्' आगम होकर 'उत्तरपूर्वायै' रूप बनता है।

२२२. ङिति ह्रस्वश्च । १ । ४ । ६

इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसञ्ज्ञौ स्तः ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः २। मतेः २।

२२२. ङितीति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(च) और (ङिति) ङित् परे होने पर (ह्रस्वः) ह्रस्व। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३ 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' १.४.४ से 'इयङुवङ्स्थानावस्त्री' तथा 'वाऽमि' १.४.५ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। वास्तव में इस सूत्र के दो खंड हैं। प्रथम खंड में 'यू' का अर्थ होगा—ईकार और ऊकार तथा 'स्त्र्याख्यौ' का नित्यस्त्रीलिङ्ग। दूसरे खंड में सूत्रस्थ 'ह्रस्वः' शब्द 'यू' का विशेषण हो जाता है और उसका अर्थ ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार होगा। 'स्त्र्याख्यौ' का अर्थ है—स्त्रीलिङ्ग। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—

१. 'स्त्री' शब्द को छोड़कर अन्य जिनके स्थान पर इयङ्-उवङ् आदेश होते हों, उन नित्यस्त्रीलिङ्गी ईकार और ऊकार की ङित्—ङे, ङसि, ङस् और ङि प्रत्यय परे होने पर विकल्प से नदी संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'श्री' और 'भ्रू' क्रमशः ईकारान्त और ऊकारान्त नित्यस्त्रीलिङ्गी शब्द हैं और इनके स्थान पर क्रमशः इयङ् और उवङ् आदेश भी होते हैं, अतः ङित् विभक्तियों के परे रहते विकल्प से इनकी नदी संज्ञा होगी। इसका उपयोग आगे आवेगा।

२. स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द भी ङित् विभक्तियों के परे होने पर विकल्प से नदीसंज्ञक होते हैं। इस नियम के प्रभाव से स्त्रीलिङ्ग में प्रत्येक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द ङिद्वचनों में विकल्प से नदीसंज्ञक हो जाता है। नदीत्वपक्ष में आट् आदि नदीकार्य और अभाव पक्ष में घिसंज्ञा होकर गुण आदि कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए चतुर्थी एकवचन में 'मति + ए (ङे)'

* दिशाओं का बहुव्रीहि समास 'दिङ्नामान्यन्तराले' २.२.२६ सूत्र से होता है।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १५१ में सूत्र की व्याख्या देखिये।

इस अवस्था में ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्गी 'मति' शब्द से पर ङित्प्रत्यय 'ङे' होने से उसकी वैकल्पिक नदी संज्ञा हुई। नदी संज्ञा होने पर ङित्प्रत्यय को आट् आगम, पुनः वृद्धि तथा अन्त में यण् आदेश होकर 'मत्यै' रूप सिद्ध होता है।* अभाव पक्ष में गुण आदेश होने पर 'अय्' आदेश होकर 'मतये' रूप सिद्ध होगा।

२२३. इदुद्भ्याम् । ७ । ३ । ११७

इदुद्भ्यां नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

२२३. इदुदिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' ७.३.११६ से 'नदीभ्याम्' (विभक्तिविपरिणाम करके) तथा 'आम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ङेः' का भी अनुवर्तन होगा। इस प्रकार भावार्थ है—नदी-संज्ञक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्दों से पर 'ङि' के स्थान पर 'आम्' आदेश हो। यहां यद्यपि 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' ७.३.११६ से भी 'ङि' को 'आम्' हो सकता था तथापि उसका 'औत्' ७.३.११८ से बाध हो जाने के कारण इस सूत्र की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार यह सूत्र 'औत्' का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'मति + ङि' में इकारान्त नदीसंज्ञक 'मति' से परे होने के कारण 'ङि' के स्थान पर 'आम्' हो गया—'मति + आम्'। तब यण् होकर 'मत्याम्' रूप सिद्ध होगा।

२२४. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ । ७ । २ । ९९

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

२२४. त्रिचतुरोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्त्रियां) स्त्रीलिङ्ग में (त्रिचतुरोः) 'त्रि' और 'चतुर्' के स्थान पर (तिसृचतसृ) 'तिसृ' और 'चतसृ' आदेश हों। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विभक्ति परे होने पर स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' तथा 'चतुर्' के स्थान पर 'तिसृ' और 'चतसृ' आदेश होंगे। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० परिभाषा से 'त्रि' के स्थान पर 'तिसृ' और 'चतुर्' के स्थान पर 'चतसृ' होगा। उदाहरण के लिए 'त्रि + जस्' में जस् विभक्ति परे होने के कारण 'त्रि' को 'तिसृ' आदेश होकर 'तिसृ + जस् (अस्)' रूप बनेगा।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'मत्यै' की रूप-सिद्धि देखिये।

२२५. अचि र ऋतः । ७ । २ । १००

तिसृचतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि । गुण-दीर्घोत्त्वानामपवादः । तिस्रः । तिस्रः । तिसृभिः । तिसृभ्यः । आमि नुट् ।

२२५. अचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अच् परे होने पर (ऋतः) ऋकार के स्थान पर (र) रकार हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' ७.२.९९ से 'तिसृचतस्रोः' (विभक्ति-विपरिणाम करके) की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि कोई स्वर परे हो, तो तिसृ और चतसृ शब्द के ऋकार के स्थान पर रकार आदेश हो । उदाहरण के लिए 'तिसृ + अस् (जस्)' में अच्—अकार परे होने पर ऋकार के स्थान पर रकार होकर 'तिस् र् + अस्' रूप बना । तब सकार का रुत्व-विसर्ग होकर 'तिस्रः' रूप सिद्ध होगा ।*

प्रस्तुत सूत्र गुण, दीर्घ और उत्त्व का अपवाद है ।

२२६. न तिसृचतसृ । ६ । ४ । ४

एतयोर्नामि दीर्घो न । तिसृणाम् । तिसृषु । द्वे । द्वे । द्वाभ्याम् । द्वाभ्याम् । द्वयोः । द्वयोः । गौरी । गौर्यौ । गौर्यः । हे गौरि ! गौर्यै इत्यादि । एवं नद्यादयः । लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि !

२२६. नेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ के स्थान पर (न) नहीं । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः' तथा 'नामि' ६.४.३ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तिसृ और चतसृ शब्दों को नाम् परे होने पर दीर्घ नहीं होता है । उदाहरण के लिए 'तिसृ + नाम्' में दीर्घ का निषेध हो जाने पर 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से नकार को णकार होकर 'तिसृणाम्' रूप सिद्ध होता है ।

यह सूत्र 'नामि' ६.४.३ का अपवाद है ।

२२७. स्त्रियाः । ६ । ४ । ७९

अस्येयङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे । स्त्रियौ । स्त्रियः ।

२२७. स्त्रिया इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्त्रियाः) 'स्त्री' शब्द के स्थान पर । किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है । उसके लिए 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६.४.७७ से 'अचि' तथा 'इयङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'प्रत्यये' का अध्याहार कर तदादिविधि से 'अजादौ प्रत्यये' का ग्रहण होता है । इस

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'तिस्रः' की रूप-सिद्धि देखिये ।

प्रकार सूत्र का भावार्थ है—अजादि प्रत्यय (जिसके आदि में कोई स्वर हो) परे होने पर 'स्त्री' शब्द के स्थान पर 'इयङ्' आदेश होता है। 'इयङ्' में 'अङ्' मात्र इत्संज्ञक है, अतः ङित् होने के कारण 'ङिच्च' १.१.५३ सूत्र द्वारा यह अन्त्य ईकार के ही स्थान पर आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'स्त्री + औ' में अजादि प्रत्यय 'औ' परे होने के कारण ईकार के स्थान पर इयङ् आदेश होकर 'स्त्रियौ' रूप सिद्ध होता है।

२२८. वाऽम्शसोः । ६ । ४ । ८०

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः। परत्वान्नुट्—स्त्रीणाम्। स्त्रीषु। श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

२२८. वामिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(अम्शसोः) अम् और शस् परे होने पर (वा) विकल्प से। इसके स्पष्टीकरण के लिए भी '२२७-स्त्रियाः' तथा '१९९–अचि श्नुधातुभ्रुवां-०' से 'इयङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अम् और शस् परे होने पर स्त्रीशब्द के स्थान पर विकल्प से इयङ् आदेश होता है। पूर्ववत् ङित् होने के कारण 'ङिच्च' १.१.५३ सूत्र द्वारा यह आदेश अन्त्य ईकार के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'स्त्री + अम्' में 'अम्' परे होने के कारण ईकार को इयङ् आदेश होकर 'स्त्रियम्' रूप बनता है। अभाव पक्ष में पूर्वरूप होकर 'स्त्रीम्' रूप बनेगा।

२२९. नेयङुवङ्स्थानावस्त्री । १ । ४ । ४

इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री। हे श्रीः। श्रियै, श्रिये। श्रियाः २। श्रियः २।

२२९. नेयङिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अस्त्री) 'स्त्री' शब्द को छोड़कर (इयङुवङ्स्थानौ) इयङ् और उवङ् स्थानी* (न) नहीं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३ से 'यू' और 'नदी' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिनके स्थान पर 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हों, ऐसे दीर्घ ईकार और ऊकार की नदी संज्ञा नहीं होती, किन्तु 'स्त्री' शब्द पर यह नियम लागू नहीं होता अर्थात् 'स्त्री' शब्द की तो नदी संज्ञा होती ही है। उदाहरण के लिए 'श्री' शब्द के ईकार के स्थान पर अजादि प्रत्ययों के परे होने पर 'अचि श्नु-०' ६.४.७७ सूत्र द्वारा इयङ् आदेश होता है, अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अजादि प्रत्ययों में तथा अन्यत्र भी इसकी नदी संज्ञा का निषेध प्राप्त होता है। नदी संज्ञा का

---

* 'इयङ् और उवङ् स्थानी' का वास्तविक अर्थ है—'जिनके स्थान पर इयङ् और उवङ् आदेश होते हों, ऐसे'।

निषेध हो जाने पर 'हे श्री + स् (सु)' में ईकार को ह्रस्व न होने के कारण सम्बुद्धि के सकार का लोप नहीं होता है। तब रुत्व-विसर्ग होकर 'हे श्रीः' रूप सिद्ध होता है।

२३०. वाऽऽमि । १ । ४ । ५

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसञ्ज्ञौ स्तः, न तु स्त्री। श्रीणाम्। श्रियाम्। श्रियाम्, श्रियि। धेनुर्मतिवत्।

२३०. वेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(आमि) 'आम्' परे होने पर (वा) विकल्प से। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' १.४.३ तथा 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' १.४.४ से 'इयङुवङ्स्थानौ' तथा 'अस्त्री' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—'स्त्री' शब्द को छोड़कर, जिनके स्थान पर इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं ऐसे नित्यस्त्रीलिङ्गी दीर्घ ईकार और ऊकार 'आम्' परे होने पर विकल्प से नदीसंज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए 'श्री + आम्' में इयङ्-स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द 'श्री' है, अतः 'आम्' परे होने पर प्रकृतसूत्र से ईकार की विकल्पतः नदी संज्ञा हुई। नदी संज्ञा होने पर आम् को नुट् आगम तथा नकार को णकार होकर 'श्रीणाम्' रूप सिद्ध होगा।* अभावपक्ष में इयङ् आदेश होकर 'श्रियाम्' रूप बनेगा।

२३१. स्त्रियां च । ७ । १ । ९६

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद् रूपं लभते।

२३१. स्त्रियामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (स्त्रियां) स्त्रीलिङ्ग में। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'तृज्वत् क्रोष्टुः' ७.१.९५ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग में भी 'क्रोष्टु' शब्द तृजन्त के समान होता है। अर्थकृत सादृश्य द्वारा 'क्रोष्टु' के स्थान पर 'क्रोष्टृ' ही आदेश होता है।†

२३२. ऋन्नेभ्यो‡ ङीप् । ४ । १ । ५

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप्। क्रोष्ट्री गौरीवत्। भ्रूः श्रीवत्। स्वयम्भूः पुंवत्।

२३२. ऋन्नेभ्य इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(ऋन्नेभ्यो) ऋदन्त और नान्त शब्दों से पर (ङीप्) 'ङीप्' प्रत्यय हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा सम्पूर्ण 'स्त्रियाम्' ४.१.३

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'श्रीणाम्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विशेष विवरण के लिए २०३ में सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ इसका विग्रह है—'ऋतश्च नाश्च इति ऋन्नाः, तेभ्यः।' विशेषण होने से तदन्त-विधि हो जाती है।

सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ऋदन्त (ऋकारान्त) और नान्त प्रातिपदिकों से परे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो। ऋदन्त प्रातिपदिकों से परे ङीप् प्रत्यय के उदाहरण 'कर्तृ + ङीप् = कर्त्री' आदि में मिलते हैं। नान्त प्रातिपदिकों से परे 'ङीप्' के उदाहरण 'योगिन् + ङीप् = योगिनी' आदि में प्राप्त हैं। इसी प्रकार 'क्रोष्टृ' शब्द के भी ऋदन्त होने के कारण उससे परे 'ङीप्' प्रत्यय होगा। 'ङीप्' में 'ई' शेष रहता है। ङकार का '१३६–लशक्वतद्धिते' से और पकार का '१–हलन्त्यम्' से लोप हो जाता है। इस प्रकार 'क्रोष्टृ + ई' रूप प्राप्त होने पर यण् होकर 'क्रोष्ट्री' रूप सिद्ध होता है।

२३३. न षट्स्वस्रादिभ्यः । ४ । १ । १०

ङीप्टापौ न स्तः।

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः॥'

स्वसा, स्वसारौ। माता पितृवत्। शसि–मातॄः। द्यौर्गोवत्। राः पुंवत्। नौर्ग्लौवत्।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः।

२३३. न षडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(षट्स्वस्रादिभ्यः) षट्संज्ञक और स्वसृ आदियों से पर (न) नहीं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अजाद्यतष्टाप्' ४.१.४ से 'टाप्' तथा 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्' की अनुवृत्ति करनी होगी। '१८७–ष्णान्ताः षट्' से 'षष्' (छः), 'पञ्चन्' और 'सप्तन्' आदि की षट् संज्ञा होती है। स्वस्रादि शब्द सात हैं जिनका गणन कारिका में किया गया है—स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ और मातृ। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्, पञ्चन् आदि षट्संज्ञकों और स्वसृ (बहिन), तिसृ (तीन स्त्रियां), चतसृ (चार स्त्रियां), ननान्दृ (पति की बहिन, ननन्द), दुहितृ (लड़की), यातृ (पति के भाई की पत्नी) तथा मातृ (माता) शब्दों से परे 'ङीप्' और 'टाप्' प्रत्यय नहीं होते। उदाहरण के लिए षट्संज्ञकों में नान्तों से पर 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से 'ङीप्' तथा अन्यों से पर 'टाप्' प्राप्त है, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। इसी प्रकार स्वसृ आदियों से पर भी ऋकारान्त होने से '२३२–ऋन्नेभ्यो ङीप्' से जो 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त था, उसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो जाता है। अतः ये स्त्रीलिङ्ग में जैसे के तैसे प्रयुक्त होते हैं। 'स्वसृ' शब्द के रूप अजन्तपुँलिङ्गान्तर्गत 'धातृ' शब्द के समान और 'मातृ' के रूप 'पितृ' (अजन्तपुँल्लिङ्ग) के समान होंगे।

अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण समाप्त।

अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

२३४. अतोऽम् । ७ । १ । २४

अतोऽङ्गात् क्लीवात् स्वमोरम् । अमि पूर्वः—ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वात्-०' इति हल्लोपः—हे ज्ञान ।

२३४. अत इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(अतः) ह्रस्व अकार से पर (अम्) अम् हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'स्वमोर्नपुंसकात्' ७.१.२३ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । साथ ही अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ का भी पञ्चम्यन्त में अनुवर्तन होगा । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्व अकारान्त नपुंसक अङ्ग से परे 'सु' और 'अम्' के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा । उदाहरण के लिए 'ज्ञान + सु' में ह्रस्व अकारान्त नपुंसक अङ्ग 'ज्ञान' से परे होने के कारण 'सु' को 'अम्' आदेश होकर 'ज्ञान + अम्' रूप बना । तब '१३५–अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होकर 'ज्ञानम्' रूप सिद्ध होता है ।

२३५. नपुंसकाच्च । ७ । १ । १९

क्लीवाद् औङः शी स्यात् । भसञ्ज्ञायाम्—

२३५ नपुंसकादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (नपुंसकात्) नपुंसक से पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'जसः शी' ७.१.१७ से 'शी' तथा 'औङ आपः' ७.१.१८ से 'औङः' की अनुवृत्ति करनी होगी । पूर्ववत् 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार यहां भी है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नपुंसक अंग से परे औङ् के स्थान पर 'शी' आदेश हो । 'औङ्' प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन—'औ' और 'औट्'—की संज्ञा है । अतः नपुंसक अङ्ग से परे होने पर 'औ' और 'औट्' के स्थान पर 'शी' आदेश होगा । उदाहरण के लिए 'ज्ञान + औ' में नपुंसक अङ्ग 'ज्ञान' से परे होने के कारण 'औ' को 'शी' आदेश होगा और अनुबन्ध-लोप करने पर 'ज्ञान + ई' रूप बनेगा ।

२३६. यस्येति* च । ६ । ४ । १४८

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः । इत्यलोपे प्राप्ते—
(वा०) औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः । ज्ञाने ।

---

* इसका पदच्छेद है—'यस्य + इति' ।

२३६. यस्येतोति— यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है–(च) और (ईति) ईकार परे होने पर (यस्य = इश्च अश्च इति यम्, तस्य) इवर्ण और अवर्ण के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'भस्य' ६.४.१२९ सूत्र, 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'लोपः' तथा 'नस्तद्धिते' ६.४.१४४ से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ईकार अथवा तद्धित प्रत्यय परे होने पर भसंज्ञक* इवर्ण और अवर्ण का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'ज्ञान + ई' में 'ई' 'औ' के स्थान पर आदेश होने के कारण स्थानिवद्भाव से स्वादि है, किंच यह सर्वनामस्थानभिन्न अजादि भी है। अतः इसके परे होने पर '१६५–यचि भम्' से 'ज्ञान' शब्द की भसंज्ञा होती है। अत्र प्रकृत सूत्र से भसंज्ञक अंग 'ज्ञान' के अन्त्य अकार रूप अवर्ण का ईकार परे होने से लोप प्राप्त होता है, पर अग्रिम वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है—

(वा०) औङ इति—औङ् ('औ' और 'औट्') के स्थान पर आदेश हुए 'शी' के परे होने पर 'यस्येति च' ६.४.१४८ सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है। उदाहरण के लिए'ज्ञान +ई' में वार्तिक के द्वारा 'यस्येति च' से प्राप्त अकार-लोप का निषेध हो जाता है। तत्र गुण–एकार होकर 'ज्ञाने' रूप सिद्ध होता है।

२३७. जश्शसोः[६] शिः[१] । ७ । १ । २०

क्लीबादनयोः शिः स्यात्।

२३७. जश्शसोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जश्शसोः) जस् और शस् के स्थान पर (शिः) 'शि' हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नपुंसकाच्च' ७.१.१९ से 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नपुंसक-लिङ्ग अङ्ग से परे 'जस्' और 'शस्' को 'शि' आदेश होता है। उदाहरण के लिए नपुंसकलिङ्गी 'ज्ञान' से परे 'जस्' और 'शस्' को 'शि' आदेश हुआ। 'शि' का शकार इत्संज्ञक है, अतः 'ज्ञान + इ' रूप बनेगा।

२३८. शि[१] सर्वनामस्थानम्[१] । १ । ४ । ४२

शि इत्येतद् उक्तसञ्ज्ञं स्यात्।

२३८. शीति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(शि) शि (सर्वनाम-स्थानम्) सर्वनामस्थानसंज्ञक हो। इस सूत्र के द्वारा 'ज्ञान+इ' में 'शि' के शेष इकार की सर्वनामस्थान संज्ञा होगी।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १६५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

२३९. नपुंसकस्य[5] झलचः[6] । ७ । १ । ७२

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने ।

२३९. नपुंसकस्येति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(नपुंसकस्य) नपुंसकलिङ्गी (झलचः) झलन्त और अजन्त के । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इदितो नुम् धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' तथा 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' ७.१.७० से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ यह यहां अधिकृत है । झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह् का समावेश होता है । अच् प्रत्याहार में सभी स्वर सम्मिलित हैं । सु, औ, जस्, अम् और औट्—इन पाँच प्रत्ययों की सर्वनामस्थान संज्ञा है । इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—सर्वनामस्थान (सु, औ आदि) परे होने पर झलन्त (जिसके अन्त में कोई झल् वर्ण हो) और अजन्त (जिसके अन्त में कोई स्वर हो) नपुंसकलिङ्ग अङ्ग का अवयव 'नुम्' (न्) हो । 'नुम्' का 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः नकार ही शेष रहता है । उदाहरण के लिए 'ज्ञान + इ' में सर्वनामस्थान 'शि' पर है और 'ज्ञान' अङ्ग अजन्त है । अतः प्रकृत सूत्र से नुम् का आगम प्राप्त होता है । किन्तु अब यह प्रश्न आता है कि नुम् आगम कहां हो—अङ्ग के आदि में, मध्य में या अन्त में ? इसका समाधान अग्रिम सूत्र से प्राप्त होता है—

२४०. मिदचो[3]ऽन्त्यात्[2] परः[1] १ । १ । ४७

अचां मध्ये योऽन्त्यः तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात् । उपधादीर्घः—ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं धनवनफलादयः ।

२४०. मिदिति—यह परिभाषा-सूत्र है । शब्दार्थ है—(अचः*) अचों में से (अन्त्यात्) अन्त्य से (परः) पर (मित्) मित् होता है । तात्पर्य यह कि अचों में से अन्त्य अच् के पश्चात् ही मित् होता है । अच् स्वर को कहते हैं और 'अन्त्य' का अर्थ है—अन्त में आनेवाला । 'मित्' उसको कहते हैं जिसका मकार इत्संज्ञक हो । इस प्रकार प्रकृतसूत्र के अनुसार मित् यदि किसी समुदाय का अवयव होगा, तो उस समुदाय के अन्तिम स्वर के पश्चात् ही आवेगा । उदाहरण के लिए 'ज्ञान + इ' में '२३९—नपुंसकस्य-०' से 'नुम्' (न्) 'ज्ञान'—इस समुदाय का अवयव होता है । 'नुम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'नुम्' अन्त्य अच्—नकारोत्तरवर्ती अकार से परे रखा जायगा और 'ज्ञान' शब्द का अन्तावयव होगा—'ज्ञानन् + इ' । इस स्थिति में 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' ६.४.८ से नान्त

* 'अच इति निर्धारणे षष्ठी । जातौ चेदमेकवचनम्'—काशिका ।

अङ्ग 'ज्ञानन्' की उपधा को दीर्घ कर 'ज्ञानानि' रूप सिद्ध होगा।*

२४१. अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः । ७ । १ । २५

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड् आदेशः स्यात्।

२४१. अद्ड् इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(डतरादिभ्यः) डतरादि (पञ्चभ्यः) पाँच से पर (अद्ड्) अद्ड् हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'स्वमोर्नपुंसकात्' ७.१.२३ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। डतर आदि पाँच हैं—डतर, डतम, अन्य, अन्यतर और इतर। डतर और डतम प्रत्यय हैं अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तदन्त कतर, कतम आदि शब्द लिये जावेंगे। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—डतरप्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर और इतर—इन पाँच नपुंसकलिङ्गी शब्दों से परे होने पर 'सु' और 'अम्' के स्थान पर अद्ड् आदेश हो। अनेकाल् होने से 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा द्वारा 'अद्ड्' आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'कतर+सु' में 'कतर' शब्द डतरप्रत्ययान्त है, अतः इससे पर 'सु' को अद्ड् आदेश हो गया। डकार की इत्संज्ञा होने के कारण केवल 'अद्' ही शेष रह जाता है। अतः रूप बनेगा—'कतर अद्'।

२४२. टेः । ६ । ४ । १४३

डिति भस्य टेर्लोपः। कतरत्, कतरद्। कतराणि। हे कतरत्। शेषं पुंवत्। एवं कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत्। अन्यतमस्य तु अन्यतममित्येव।

(वा०) एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः। एकतरम्।

२४२. टेरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(टेः) टि के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'भस्य' ६.४.१२९, 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'लोपः' तथा 'तिविंशतेर्डिति' ६.४.१४२ से 'डिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—डित् परे होने पर भसंज्ञक अङ्ग की 'टि' का लोप होता है। अचों में जो अन्त्य अच् (स्वर) है, वह जिसके आदि में हो, उस शब्द-समुदाय की 'टि' संज्ञा होती है—'अचोऽन्त्यादि टि' १.१.६४।† उदाहरण के लिए 'कतर अद्' में भसंज्ञक अङ्ग 'कतर' की 'टि'–रेफोत्तरवर्ती अकार–का डित् 'अद्' परे होने पर लोप होकर 'कतर्अद्' रूप बनेगा। इस अवस्था में '१४५–वाऽवसाने' से

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'ज्ञानानि' की रूपसिद्धि देखिये।

† विशेष विवरण के लिए ३९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

अवसान में स्थित दकार को विकल्प से चर्–तकार होकर 'कतरत्' रूप सिद्ध होगा। अभावपक्ष में 'कतरद्' रूप ही रहेगा।

(वा०) एकतरादिति—नपुंसकलिङ्ग में 'एकतर' शब्द से परे 'सु' और 'अम्' को 'अद्ड्' आदेश नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'एकतर' शब्द डतरप्रत्ययान्त है, अतः '२४१–अद्ड् डतरादिभ्यः–०' ७.१.२५ सूत्र से 'अद्ड्' आदेश प्राप्त होता है पर वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है। तब 'ज्ञान' शब्द के समान '२३४–अतोऽम्' ७.१.२४ से 'अम्' आदेश होकर 'एकतरम्' रूप सिद्ध होगा।

२४३. ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य। १। २। ४७

अजन्तस्येत्येव। श्रीपम् ज्ञानवत्। द्वे २। त्रीणि २।

२४३. ह्रस्व इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग में (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सदा अच् के स्थान पर ही हुआ करते हैं, अतः 'अचः' 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण बन जाता है। इस प्रकार अजन्त (जिसके अन्त में कोई स्वर हो) प्रातिपदिक के स्थान पर ही ह्रस्व आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश प्रातिपदिक के अन्त्य स्वर के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'श्रीपा' (लक्ष्मी का पालन करनेवाला) में अन्त्य आकार को ह्रस्व अकार होकर 'श्रीप' रूप बनेगा। अब स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होने पर 'ज्ञान' की भाँति ही 'श्रीपम्' आदि रूप सिद्ध होंगे।

२४४. स्वमोर्नपुंसकात्। ७। १। २३

लुक् स्यात्। वारि।

२४४. स्वमोरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(नपुंसकात्) नपुंसक से पर (स्वमोः) 'सु' और 'अम्' का। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'षड्भ्यो लुक्' ७.१.२२ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नपुंसक से परे 'सु' और 'अम्' का लुक् होता है। लुक् का अर्थ है—लोप*। किन्तु यह लोप सभी नपुंसकलिङ्गी शब्दों से परे नहीं होता है, क्योंकि 'अतोऽम्' ७.१.२४ से ह्रस्व अकारान्त शब्दों से पर लोप का बाध होता है। अतः सूत्र का तात्पर्य है कि ह्रस्व अकारान्त शब्दों को छोड़कर सभी अजन्त तथा हलन्त शब्दों से पर 'सु' और 'अम्' का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'वारि + सु' और 'वारि + अम्' में 'सु' और 'अम्' का लोप होकर 'वारि' रूप सिद्ध होता है।

---

* विशेष विवरण के लिए १८९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

२४५. इकोऽचि विभक्तौ । ७ । १ । ७३

इगन्तस्य नुम् अचि विभक्तौ । वारिणी । वारीणि ।

'न लुमता—' इत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः—हे वारे, हे वारि ! आङो ना—वारिणा । 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते—

(वा०) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन ।

वारिणे । वारिणः २ । वारिणोः २ । 'नुमचिर—' इति नुट्—वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् ।

२४५. इक इति । सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इकः) इक् प्रत्याहार का······ । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इदितो नुम् धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' तथा 'नपुंसकस्य झलचः' ७.१.७२ से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी । इक् प्रत्याहार में इ, उ, ऋ और लृ का समाहार होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि विभक्ति (जिसके आदि में कोई स्वर हो) परे होने पर इगन्त नपुंसक (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ या ऌ हो) का अवयव 'नुम्' (न्) होता है । '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' १.१.४७ परिभाषा से नपुंसक के अन्त्य अच् के आगे 'नुम्' होगा और वह अङ्ग का अवयव समझा जावेगा । उदाहरण के लिए 'वारि + औ' में 'औ' को 'शी' आदेश हुआ और तब अजादि विभक्ति 'ई' परे होने पर इगन्त अङ्ग 'वारि' को 'नुम्' आगम होकर 'वारिन् + ई' रूप बनेगा । यहां पर 'अट्कु–०' ८.४.२ से णत्व होकर 'वारिणी' रूप सिद्ध होगा ।

(वा०) वृद्ध्यौत्वेति—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से (तुल्यबल विरोध होने पर पूर्व की प्रबलता से) नुम् पहले हो । उदाहरण के लिए 'वारि + ए (ङे)' में पूर्वविप्रतिषेध के कारण गुण को बाधकर '२४५–इकोऽचि विभक्तौ' से नुम् आगम होकर 'वारिन् ए' रूप बनने पर णत्व हो 'वारिणे' रूप सिद्ध होता है ।

२४६. अस्थि-दधि-सक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः* । ७ । १ । ७५

एषामनङ् स्यात् टादावचि ।

२४६. अस्थीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्†) अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि के स्थान पर (उदात्तः) उदात्त (अनङ्) 'अनङ्' आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इकोऽचि विभक्तौ' ७.१.७३ से 'अचि' तथा 'विभक्तौ' और '२४९–

* इसका पदच्छेद है—'अस्थि + दधि + सक्थि + अक्ष्णाम् + अनङ् + उदात्तः' ।

† इसका विग्रह है—'अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च = अस्थिदधिसक्थ्यक्षीणि, तेषाम्' ।

तृतीयादिषु—०' से 'तृतीयादिषु' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तृतीयादिषु' से अन्वित होने के कारण 'अचि' और 'विभक्तौ' सप्तमी-बहुवचन में बदल जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि तृतीया आदि विभक्तियों के परे होने पर अस्थि (हड्डी), दधि (दही), सक्थि (जंघा) और अक्षि (आंख) शब्दों के स्थान पर अनङ् आदेश होता है और वह उदात्त होता है। अजादि (जिनके आदि में कोई स्वर हो) तृतीया आदि विभक्तियां आठ हैं—टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि और ओस्। अतः इनके परे होने पर उपर्युक्त शब्दों के स्थान पर अनङ् होगा। 'अनङ्' में ङकार इत्संज्ञक है और नकारोत्तरवर्ती अकार उच्चारणार्थक। अतः ङित् होने के कारण 'ङिच्च' १.१.५३ परिभाषा द्वारा यह अङ्ग के अन्त्य इकार के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'दधि + आ (टा)' में अजादि तृतीया 'टा' परे होने पर प्रकृतसूत्र से अन्त्य इकार के स्थान पर अनङ् आदेश होकर 'दधन् + आ' रूप बनेगा।

२४७. *अल्लोपोऽनः । ६ । ४ । १३४

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याऽकारस्य लोपः दध्ना। दध्ने। दध्नः २। दध्नोः २।

२४७. अल्लोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनः) अन् के (अत्) ह्रस्व अकार का (लोपः) लोप हो। यहाँ पर 'अङ्गस्य' ६.४.१ और 'भस्य' ६.४.१२९ ये दोनों सूत्र अधिकृत हैं। जिससे परे सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि प्रत्यय हों, उसे 'भ' कहते हैं†। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—भ-संज्ञक तथा अङ्ग के अवयव 'अन्' के ह्रस्व अकार का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'दधन् + आ' में सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय 'टा' परे होने के कारण अङ्ग के अवयव 'अन्' के अकार का लोप होकर 'दध् न् + आ' = 'दध्ना' रूप बनेगा।

२४८. विभाषा ङिश्योः । ६ । ४ । १३६

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याऽकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि। शेषं वारिवत्। एवं अस्थि-सक्थ्यक्षि। सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे! हे सुधि!

२४८. विभाषेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ङिश्योः) 'ङि' और 'शी' के परे होने पर (विभाषा) विकल्प से। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। पूर्व सूत्र की भांति यहां भी

---

* यहां तपरी है।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए १६५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा— 'ङि' और 'शी' परे होने पर अङ्ग के अवयव 'अन्' के ह्रस्व अकार का विकल्प से लोप होता है।* वस्तुतः यह पूर्व-सूत्र (२४७) का अपवाद है। पूर्वसूत्र से 'ङि' और 'शी' परे होने पर अकार-लोप नित्य प्राप्त होता था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका विधान विकल्प से होता है। उदाहरणार्थ 'दधि + ई (ङि)' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से अन् के अकार का सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय 'ङि' परे होने के कारण लोप हो गया और रूप बना—दध् न् + इ = दध्नि। लोपाभाव पक्ष में 'दधनि' रूप बनेगा।

२४९. तृतीयादिषु[७] भाषितपुंस्कं[१] पुंवद् गालवस्य[६] ।७।१।७४

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कम् इगन्तम् क्लीबं पुंवद्वा टादावचि। सुधिया, सुधिनेत्यादि।

मधु, मधुनी, मधूनि।

सुलु, सुलुनी, सुलूनि। सुल्वा, सुलुना।

धातृ, धातृणी, धातॄणि। हे धातः, हे धातृ! धात्रा, धातृणा। धातॄणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

२४९. तृतीयादिष्विति—सूत्र का शब्दार्थ है—(गालवस्य) गालव के मतानुसार (तृतीयादिषु) तृतीया आदि विभक्तियों के परे होने पर (भाषितपुंस्कं) भाषितपुंस्क (पुंवद्) पुंवत् अर्थात् पुँल्लिङ्ग के समान हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इकोऽचि विभक्तौ' ७.१.७३ से 'इकः', 'अचि' और 'विभक्तौ' तथा 'नपुंसकस्य–०' ७.१.७२ से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' और 'विभक्तौ' सप्तमी-बहुवचन में तथा 'इकः' और 'नपुंसकस्य' प्रथमान्त में विपरिणत हो जाते हैं। विशेषण होने से इस 'इक्' में तदन्त-विधि हो जाती है। 'भाषितपुंस्क' उस शब्द को कहते हैं जिसका प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिंग—दोनों में हो और अर्थ (प्रवृत्तिनिमित्त) भी दोनों लिङ्गों में समान हो। इस भाव को निम्नांकित कारिका में बहुत ही स्पष्ट कर दिया गया है—

यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते। क्लीबवृत्तौ तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥

पीलुर्वृक्षः फलं पीलु 'पीलुने' न तु 'पीलवे'। वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥†

---

* विशेष विवरण के लिए पूर्वसूत्र (२४७) की व्याख्या देखिये।

† अर्थ है—जिस निमित्त (अर्थ) को लेकर पुँल्लिङ्ग में शब्द प्रवृत्त होता है, यदि नपुंसकलिङ्ग में प्रवृत्ति का भी वही निमित्त (अर्थ) हो, तो उस शब्द को

इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तृतीया आदि अजादि विभक्तियों* के परे होने पर इगन्त नपुंसक शब्द (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ या ऌ हो), जो पुँल्लिङ्ग में भी उसी अर्थ में भाषित हुआ हो, गालव आचार्य के मतानुसार पुँल्लिङ्गवत् होता है अर्थात् उसमें पुँल्लिङ्ग के समान कार्य होते हैं। गालव के मत में पुंवत् और अन्य आचार्यों के मत में पुंवत् न होने से पुंवद्भाव विकल्प से होता है, अतः दो-दो रूप बनते हैं। उदाहरण के लिए 'सुधी' शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनों जगह प्रयुक्त होता है और दोनों स्थलों में इसका अर्थ अच्छी बुद्धि वाला है। अतः यह 'भाषितपुंस्क' शब्द है और विकल्प से पुंवद्भाव होता है। पुंवद्भाव होने पर 'सुधी + आ (टा)' में '१९९-अचि श्नु-०' सूत्र से इयङ् आदेश होकर 'सुधिया' रूप बनता है। अभाव पक्ष में 'नुम्' आगम होकर 'सुधिना' रूप बनेगा।

२५०. एच[६] इग्घ्रस्वादेशे[७] । १ । १ । ४८

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात् । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्यूनि । प्रद्युनेत्यादि ।

प्ररि, प्ररिणी, प्ररीणि । प्ररिणा । एकदेशविकृतमनन्यवत्-प्रराभ्याम् । सुनु, सुनुनी, सुनूनि । सुनुनेत्यादि ।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

२५०. एच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ह्रस्वादेशे) ह्रस्व आदेश का विधान होने पर (एचः) ए ऐ तथा ओ औ के स्थान पर (इक्) इ उ ऋ तथा ऌ हों। यहां 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० से एकार और ऐकार के स्थान पर इकार तथा ओकार और औकार के स्थान पर उकार होगा। उदाहरण के लिए 'प्रद्यो' (सुन्दर आकाश वाला दिन) शब्द में प्रकृत सूत्र से ओकार के स्थान पर उकार होकर 'प्रद्यु' रूप बनेगा। तब 'मधु' के समान इसके रूप बनेंगे।

'भाषितपुंस्क' कहा जाता है। 'पीलु' वृक्ष को भी कहते हैं और उसके फल को भी। अतः पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होने पर भी दोनों का प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) भिन्न होने के कारण यह शब्द 'भाषितपुंस्क' नहीं होगा। अतः फल अर्थ में नपुंसकलिङ्ग में 'पीलुने' रूप बनेगा, पुँल्लिङ्ग के समान 'पील्वे' नहीं। 'पीलु' शब्द की वृक्ष अर्थ में प्रवृत्ति का निमित्त पीलुत्व है और फल अर्थ में पीलुजत्व। अतः दोनों का अर्थ एक नहीं है।

* विशेष विवरण के लिए २४६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

विशेष—'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' १.२.४७ सूत्र से नपुंसकलिङ्ग में एजन्त शब्दों को ह्रस्व तो प्राप्त ही था, पर ह्रस्व कौन हो ? इसका निर्णय नहीं होता। एचों के अपने ह्रस्व नहीं होते—'एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्'। ये एच् संयुक्त स्वर हैं अर्थात् दो-दो स्वर मिलकर बने हैं। अकार और इकार के संयोग से एकार और ऐकार तथा अकार और उकार के संयोग से ओकार और औकार की उत्पत्ति हुई है। इस अवस्था में एचों को ह्रस्व अकार, इकार तथा उकार प्राप्त होते हैं। तब '२५०–एचः–०' सूत्र नियम करता है कि इकार और उकार ह्रस्व हों, अवर्ण कभी नहीं। यही प्रकृत सूत्र का महत्त्व है।

अजन्तनपुंसकलिङ्ग प्रकरण समाप्त।

हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

२५१. हो ढः । ८ । २ । ३१

हस्य ढः स्याज् झलि पदान्ते वा। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु।

२५१. हो ढ इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(हः) हकार के स्थान पर (ढः) ढकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६ यह यहां अधिकृत है। झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श्, ष्, स्, ह् का समाहार होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् परे होने पर या पद के अन्त में हकार के स्थान पर ढकार हो जाता है। उदाहरण के लिए 'लिह् (चाटनेवाला) + सु (स्)' में सर्वप्रथम '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः–०' द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो जाता है। तत्पश्चात् पदान्त होने से हकार को ढकार होकर 'लिढ्' रूप बना। इस अवस्था में ढकार को '६७–झलां–०' से डकार और अवसान डकार को '१४६–वाऽवसाने' से विकल्पतः टकार हो जाता है, अतः 'लिट्' और 'लिड्'—ये दो रूप बनते हैं।

२५२. दादेर्धातोर्घः । ८ । २ । ३२

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः।

२५२. दादेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दादेः) दादि (धातोः) धातु के स्थान पर (घः) घकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि', 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' तथा 'हो ढः' ८.२.३१ से 'हो' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६ यहां भी अधिकृत है। यहां महाभाष्यकार के व्याख्यान से उपदेश में ही 'दादि' ग्रहण किया जाता है क्योंकि 'अधोक्' में 'दुह्' के अजादि होने पर भी घत्व हो जाता है और 'दामलिट्' में 'दादि' धातु परे होने पर भी घत्व नहीं होता। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपदेश में दकारादि (दकार जिसके आदि में हो) धातु के हकार को झल्[*] परे होने पर या पदान्त में घकार आदेश होता है। यह सूत्र 'हो ढः' ८.२.३१ का अपवाद है। उदाहरण के

---

[*] विशेष विवरण के लिए पूर्वसूत्र (२५१) की व्याख्या देखिये।

लिए 'दुह्' (दुहनेवाला) उपदेश में दकारादि धातु है। उससे पर प्रथमा एकवचन 'सु' का '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः—०' से लोप हो जाता है। तब पदान्त होने से हकार को घकार होकर 'दुघ्' रूप बनता है।

२५३. एकाचो[6] बशो[6] भष् झषन्तस्य[6] स्ध्वोः[7] । ८ । २ । ३७

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात्, से ध्वे पदान्ते च। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु।

२५३. एकाच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्ध्वोः) सकार और ध्व परे होने पर (एकाचः) एक अच् वाले (झषन्तस्य) झषन्त के अवयव (बशः) बश् के स्थान पर (भष्) भष् हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' तथा 'दादेर्धातोर्घः' ८.२.३२ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६—यह अधिकृत है। झष् प्रत्याहार में सभी वर्गों के चतुर्थ वर्ण आते हैं। बश् प्रत्याहार में ब् ग् ड् और द् तथा भष् प्रत्याहार में भ्, घ्, ढ् और ध् का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सकार या 'ध्व' परे होने पर अथवा पदान्त में धातु के अवयव झषन्त एकाच् (वह एक अच्—स्वर वाला समुदाय, जिसके अन्त में किसी वर्ग का चतुर्थ वर्ण हो) के ब्, ग्, ड् और द् के स्थान पर भ्, घ्, ढ् और ध् आदेश हों। ये आदेश 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० परिभाषा से आन्तरतम्य के आधार पर होंगे*। उदाहरण के लिए 'दुघ्' व्यपदेशिवद्भाव से धातु का अवयव है तथा एकाच् झषन्त—घकारान्त भी है। अतः स्थानकृत आन्तर्य से दकार को धकार होकर 'धुघ्' रूप बनेगा। फिर जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करने से 'धुक्' और 'धुग्' रूप सिद्ध होंगे।

२५४. वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्[6] । ८ । २ । ३३

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवं मुक्, मुग् इत्यादि।

२५४. वेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(द्रुहमुहृष्णुहृष्णिहाम्) द्रुह्, मुह्, ष्णुह् और ष्णिह् का (वा) विकल्प से। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि', 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते', 'हो ढः' ८.२.३१ से 'हो' तथा 'दादेर्धातोर्घः' ८.२.३२ से 'घः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६ यहाँ भी अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् परे रहते अथवा पदान्त में द्रुह् (द्रोही), मुह् (मुग्ध), ष्णुह् (वमनकारी) तथा

---

* 'आन्तर्यतो व्यवस्था विज्ञास्यते'—काशिका।

ष्णिह् (स्नेही)—इन शब्दों के हकार के स्थान पर विकल्प से घकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'द्रुह्+स् (सु)' में '१७९-'हल्ङ्याब्भ्यः-०' सूत्र से सकार-लोप होकर पदान्त में हकार को प्रकृतसूत्र द्वारा वैकल्पिक घकार आदेश होकर 'द्रुघ्' रूप बनता है। अभावपक्ष में ढकार होकर 'द्रुढ्' रूप बनेगा। फिर दोनों पक्षों में '२५३-एकाचः-०' सूत्र से दकार को धकार तथा जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करने पर ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट् और ध्रुड्—ये चार रूप सिद्ध होंगे।*

२५५. धात्वादेः षः सः । ६ । १ । ६४

स्नुक्, स्नुग्, स्नुट्, स्नुड्। एवं स्निक् इत्यादि। विश्ववाट्, विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ।

२५५. धात्वादेरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(धात्वादेः) धातु के आदि (षः) षकार के स्थान पर (सः) सकार हो। उदाहरण के लिए 'ष्णुह्' धातु है अतः आदि षकार को दन्त्य सकार होकर 'स्णुह्' रूप बनेगा। फिर णकार को नकार होकर 'द्रुह्' के समान 'स्नुक्' 'स्नुग्', 'स्नुट्' और 'स्नुड्' रूप बनेंगे।†

धातु कहने से 'षोडशः' 'षट्' आदि में षकार को सकार नहीं होगा तथा 'आदि' कथन से 'कर्षति' आदि में धातु के अन्य षकार को सकार नहीं होगा।

२५६. इग्यणः संप्रसारणम् । १ । १ । ४५

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारणसंज्ञः स्यात्।

२५६. इग्यण इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(यणः) यण् के स्थान पर विधान किया गया (इक्) इक् (सम्प्रसारणम्) संप्रसारणसंज्ञक हो। यण् प्रत्याहार में य्, व्, र्, ल् और इक् में इ, उ, ऋ, ऌ का समावेश होता है। इस प्रकार यहाँ 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० अथवा 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० परिभाषा से यकारस्थानिक इवर्ण, वकारस्थानिक उवर्ण, रकारस्थानिक ऋवर्ण और लकारस्थानिक ऌवर्ण की संप्रसारण संज्ञा होगी। उदाहरण के लिए 'वाह ऊठ्' ६.४.१३२ सूत्र से 'विश्ववाह्' में 'वाह्' के यण्—वकार के स्थान पर ऊकार—इक् प्रयुक्त होता है अतः उसकी संप्रसारण संज्ञा होगी।

२५७. वाह ऊठ् । ६ । ४ । १३२

भस्य वाहः संप्रसारणम् ऊठ्।

२५७. वाह इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वाहः) वाह् के स्थान पर (ऊठ्)

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'ध्रुक्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'स्नुक्' की रूप-सिद्धि देखिये।

ऊठ् हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भस्य' ६.४.१२९ तथा 'वसोः सम्प्रसारणम्' ६.४.१३१ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भसंज्ञक वाह् के स्थान पर सम्प्रसारण* ऊठ् आदेश हो। पूर्वसूत्रानुसार 'वाह्' के वकार के स्थान पर ही 'ऊठ्' होगा। उदाहरण के लिए 'विश्ववाह्+अस् (शस्)' में '१६५–यचि भम्' से 'वाह्' की भसंज्ञा होने पर प्रकृत सूत्र से वकार के स्थान पर ऊठ् होता है। 'ऊठ्' में ठकार इत्संज्ञक है अतः ऊकार ही शेष रहता है। इस प्रकार 'विश्व ऊ आह्+अस्' रूप बनेगा।

२५८. सम्प्रसारणाच्च। ६। १। १०८

संप्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः। वृद्धिः–विश्वौहः। इत्यादि।

२५८. सम्प्रसारणादिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। अर्थ है—(च) और (सम्प्रसारणात्) सम्प्रसारण से। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इको यणचि' ६.१.७७ से 'अचि', सम्पूर्ण 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८३ सूत्र और 'अमि पूर्वः' ६.१.१०७ से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्प्रसारण† से अच् (कोई स्वर) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर एक पूर्वरूप आदेश हो। उदाहरण के लिए 'विश्व ऊ आह् अस्' में संप्रसारण 'ऊ' से अच्–आकार परे है, अतः पूर्व-पर के स्थान पर पूर्वरूप 'ऊ' होकर 'विश्व ऊह्+अस्' रूप बनेगा। इस अवस्था में अकार और ऊ के स्थान पर वृद्धि 'औ' होकर तथा अन्त्य सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'विश्वौहः' रूप सिद्ध होता है।‡

२५९. चतुरनडुहोरामुदात्तः। ७। १। ९८

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

२५९. चतुरनडुहोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चतुरनडुहोः) चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव (उदात्तः) उदात्त (आम्) आम् हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' ७.१.८६ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम् और औट्) परे होने पर 'चतुर्' और 'अनडुह्' (बैल) शब्दों का अवयव 'आम्' होता है और यह 'आम्' उदात्त भी होता है। 'आम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दों के अन्त्य

---

*† यहाँ पर 'सम्प्रसारण' का अर्थ स्पष्ट करना चाहिये। देखिये २५६ वें सूत्र की व्याख्या।

‡ विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'विश्वौहः' की रूप-सिद्धि देखिये।

अच् से आगे होगा और समुदाय का अवयव बनेगा। उदाहरण के लिए 'अनडुह् + स् (सु)' में सर्वनामस्थान 'सु' परे होने से अन्त्य अच्–डकारोत्तरवर्ती उकार के आगे 'आम्' आगम होकर 'अनडु आ ह् + स्' रूप बनेगा। इस अवस्था में यण् होकर 'अनड्वाह्-स्' रूप बनेगा।

२६०. सावनडुहः[6*] । ७ । १ । ८२

अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्।

२६०. सावनडुह इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सौ) 'सु' परे होने पर (अनडुहः) अनडुह् का अवयव...। किन्तु क्या होना चाहिये-यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता है। इसके लिए 'आच्छीनद्योर्नुम्' ७.१.८० से 'नुम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सु' परे होने पर 'अनडुह्' शब्द का अवयव 'नुम्' होता है।† 'नुम्' में मकार इत्संज्ञक है और उकार उच्चारणार्थक, अतः केवल नकार ही शेष रहता है। '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से मित् होने से 'नुम्' 'अनडुह्' शब्द के अन्त्य अच् के आगे होगा और समुदाय का अवयव बनेगा। उदाहरण के लिए 'अनडवाह् + स्' में सु परे होने से 'अनडुह्' के अन्त्य अच् आकार के आगे नुम् आगम होकर 'अनड्वान् ह् + स्' रूप बनेगा। इस अवस्था में '१७९–'हल्ङ्याब्भ्यः–०' से सकार तथा '२०–संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से हकार का लोप होने पर 'अनड्वान्' रूप सिद्ध होता है।

२६१. अम्[1] सम्बुद्धौ[7] । ७ । १ । ९९

चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ। हे अनड्वन्! हे अनड्वाहौ! हे अनड्वाहः! अनडुहः। अनडुहा।

२६१. अमिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (अम्) अम् हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' ७.१.९८ से 'चतुरनडुहोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्बुद्धि (सम्बोधन में प्रथमा का एकवचन) परे होने पर 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दों का अवयव 'अम्' होता है। 'अम्' का मकार इत्संज्ञक है अतः मित् होने से '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा द्वारा 'अम्' 'अनडुह्' के अन्त्य अच् के आगे होगा तथा उस समुदाय का अवयव भी होगा। उदाहरण के लिए 'हे अनडुह् +

---

* इसका पदच्छेद है—'सौ + अनडुहः'।

† ध्यान रहे कि यह पूर्वसूत्र (२५९) का अपवाद नहीं है। 'आम्' होने पर पुनः 'नुम्' होता है। देखिये 'काशिका' (७.१.८२)।

स्' में सम्बुद्धि परे होने के कारण अन्त्य अच्—डकारोत्तरवर्ती उकार के आगे 'अम्' होकर 'अनडु अ ह् + स्' रूप बनेगा। इस दशा में '२६०—सावनडुहः' से 'अम्' के अकार के आगे नुम् होगा और रूप बनेगा—'अनडु अ न् ह् + स्'। तत्र पहिले उकार को यण्—वकार और फिर सकार का '१७९—हल्ङ्याब्भ्यः—०' से लोप तथा हकार का संयोगान्त-लोप होने से 'हे अनड्वन्' रूप सिद्ध होता है।*

२६२. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः। ८। २। ७२

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम्—विद्वान्। पदान्तेति किम्—स्रस्तम्, ध्वस्तम्।

२६२. वसु इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम्) वसु, स्रंसु, ध्वंसु और अनडुह् के स्थान पर (दः) दकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ससजुषो रुः' ८.२.६६ से 'स.' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६ यहां अधिकृत है, जो विभक्ति-विपरिणाम से 'पदानाम्' के रूप में अनुवृत्त होता है। 'सः' 'वसु' अंश का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सान्त (जिसके अन्त में सकार हो), वसु प्रत्ययान्त, 'स्रंसु', 'ध्वंसु' तथा 'अनडुह्' अन्तवाले पदों के स्थान पर दकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह दकारादेश पद के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'अनडुह् + भ्याम्' में हलादि विभक्ति परे होने से '१६२—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र द्वारा पूर्व 'अनडुह्' की पद संज्ञा है। अत पदान्त हकार के स्थान पर दकार होकर 'अनडुद्भ्याम्' रूप सिद्ध होगा।

ध्यान रखना होगा कि सूत्र की प्रवृत्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

१. वसुप्रत्ययान्त शब्द को सकारान्त होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'विद्वान्' शब्द वसु-प्रत्ययान्त है ('विद्' धातु से 'वसु' प्रत्यय होने पर 'विद्वस्' शब्द बनता है), किन्तु अन्त में सकार न होने के कारण दकार आदेश नहीं होगा।

२. 'स्रंसु' आदि शब्दों को पदान्त में होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'स्रस्तम्' और 'ध्वस्तम्' (ये दोनों रूप 'स्रंसु' और 'ध्वंसु' धातुओं से 'क्त' होकर बने है) में दकार नहीं होता, क्योंकि यहां 'स्रंसु' और 'ध्वंसु' पदान्त में नहीं हैं।

२६३. सहेः[६] साडः[६] सः[६] । ८ । ३ । ५६

साडरूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्, तुराषाड्। तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्याम् इत्यादि।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अनड्वन्' की रूप-सिद्धि देखिये।

२६३. सहेरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(सहेः) सह् धातु का जो (साडः) 'साड्' रूप उसके (सः) सकार के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५ से 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'साड्' रूप सह् धातु के सकार के स्थान पर मूर्धन्य (मूर्धास्थानीय वर्ण) आदेश होता है अर्थात् जब सह् का 'साड्' रूप बनेगा, तभी मूर्धन्य आदेश होगा। सकार के स्थान पर आन्तर्य से ईषद्विवृत प्रयत्नवाला षकार ही मूर्धन्य होता है। ध्यान रहे कि 'सह्' का 'साड्' रूप हलादि विभक्तियों में ही बनता है और वहां पदान्त रहता ही है अतः पदान्त में सह् के सकार को मूर्धन्य षकार आदेश होगा—यही इसका फलितार्थ है। उदाहरण के लिए 'तुरासाड्' में 'साड्' रूप 'सह्' धातु से बना है, अतः प्रकृतसूत्र से मूर्धन्य षकार होकर 'तुराषाड्' रूप बनेगा। फिर '१४६–वाऽवसाने' से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'तुराषाट्' और 'तुराषाड्'—ये दो रूप बनते हैं।*

२६४. दिव औत् । ७ । १ । ८४

'दिव्' इति प्रातिपदिकस्य 'औत्' स्यात् सौ। सुद्यौः। सुदिवौ।

२६४. दिव इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दिवः) 'दिव्' के स्थान पर (औत्) औकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सावनडुहः' ७.१.८२ से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां एक बात का और ध्यान रखना होगा। संस्कृत में दो 'दिव्' शब्द हैं। यहां 'दिव्' से अव्युत्पन्न प्रातिपदिक का ही ग्रहण होता है, 'दिव्' धातु का नहीं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सु' परे होने पर प्रातिपदिकसंज्ञक 'दिव्' के स्थान पर औकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अन्त्य वर्ण वकार के स्थान पर ही औकार होगा।

यह सूत्र अङ्गाधिकार में आया है। अतः 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' परिभाषा से तदन्त का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार 'दिव्' तथा 'दिव्' शब्दान्त 'सुदिव्' शब्द में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी। उदाहरण के लिए 'सुदिव्+स् (सु)' में 'सु' परे होने के कारण वकार को औकार होकर 'सुदि औ स्' रूप बनेगा। इस स्थिति में इकार को यण् तथा अन्त्य सकार को रुत्व-विसर्ग होकर 'सुद्यौः' रूप सिद्ध होता है।

२६५. दिव उत् । ६ । १ । १३१

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्याम् इत्यादि।
चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः २।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'तुराषाट्' की रूप-सिद्धि देखिये।

२६५. दिव उदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दिवः) दिव् के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एङः पदान्तादति' ७.१.१०९ से 'पदान्ते' (विभक्ति-विपरिणाम करके) की अनुवृत्ति करनी होगी। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् 'दिव्' प्रातिपदिक का ही ग्रहण होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पदान्त में प्रातिपदिकसंज्ञक 'दिव्' के स्थान पर ह्रस्व उकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अन्त्य वर्ण—वकार के स्थान पर ही उकार होगा। यहां भी पूर्ववत् 'दिव्' से तदन्त 'सुदिव्' शब्द का भी ग्रहण होगा। इसीलिए 'सुदिव्+भ्याम्' में '१६४—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' द्वारा 'सुदिव्' की पदसंज्ञा होने पर पदान्त वकार को उकार होकर 'सुदि उ+भ्याम्' रूप बनेगा। फिर यण् आदेश होने पर 'सुद्युभ्याम्' रूप सिद्ध होगा।

२६६. षट्चतुर्भ्यश्च। ७। १। ५५

एभ्य आमो नुडागमः।

२६६. षडिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(च) और (षट्चतुर्भ्यः) षट् तथा चतुर् शब्दों से पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' ७.१.५२ से 'आमः' (विभक्ति-विपरिणाम करके) तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' ७.१.५४ से 'नुट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षट्संज्ञकों* (षट्, पञ्चन् आदि) तथा 'चतुर्' शब्द से पर 'आम्' का अवयव 'नुट्' होता है। 'नुट्' में टकार इत्संज्ञक है और उकार उच्चारणार्थक, अतः केवल नकार ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'चतुर्+आम्' में प्रकृत सूत्र से नुट् आगम होकर 'चतुर्+नाम्' रूप बनेगा। यहां ध्यान रखना चाहिये कि टित् होने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से 'नुट्' 'आम्' का आद्यवयव हुआ है।

२६७. रषाभ्यां[5] नो[6] णः समानपदे[7]। ८। ४। १

रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यादेकपदे—इति वृत्तिः।
'६०—अचो रहाभ्यां द्वे'—चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्।

२६७. रषाभ्यामिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(समानपदे) एक पद में या अखण्डपद में (रषाभ्याम्) रकार और षकार से पर (नः) नकार के स्थान पर (णः) णकार आदेश हो। उदाहरण के लिए 'चतुर् नाम्' एक पद है, अतः इसमें रकार से पर नकार को णकार होकर 'चतुर्णाम्' रूप बनेगा। इस

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

अवस्था में '६०–अचो रहाभ्यां द्वे' से णकार को वैकल्पिक द्वित्व करने से 'चतुर्ण्णाम्' और 'चतुर्णाम्'– ये दो रूप सिद्ध होंगे।

२६८. रोः[६] सुपि[७] । ८ । ३ । १६

रोरेव विसर्गः सुपि । षत्वम् । षस्य द्वित्वे प्राप्ते—

२६८. रोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(सुपि) सप्तमी का बहुवचन 'सुप्' प्रत्यय परे होने पर (रोः) 'रु' के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' ८.३.१५ से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सप्तमी का बहुवचन 'सुप्' प्रत्यय परे होने पर 'रु' के स्थान पर विसर्जनीय (विसर्ग) आदेश हो। सुप् प्रत्यय परे होने पर 'रु' (र्) के स्थान पर विसर्गादेश '९३–खरवसानयोः–' सूत्र से भी सिद्ध है, अतः पुनः इसका आरम्भ नियमार्थ ही है। तात्पर्य यह कि सुप् परे होने पर 'रु' के रेफ को ही विसर्ग आदेश होगा, अन्य रेफ (रकार) को नहीं। उदाहरण के लिए 'चतुर्+सु (सुप्)' में 'रु' का रेफ नहीं है, अतः इसके स्थान पर विसर्ग आदेश नहीं होगा। अब '१५०–आदेशप्रत्यययोः' द्वारा सकार को षकार करने से 'चतुर्षु' रूप बनेगा।

२६९. शरोऽचि[७] । ८ । ४ । ४९

अचि परे शरो न द्वे स्तः । चतुर्षु ।

२६९. शर इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अच् परे होने पर (शरः) शर् के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचो रहाभ्यां द्वे' ८.४.४६ से 'द्वे' तथा 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' ८.४.४८ से 'न' (अव्यय) की अनुवृत्ति करनी होगी। शर् प्रत्याहार में श्, ष्, स् का समाहार होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि कोई स्वर परे हो, तो श्, ष् या स् के स्थान पर दो शब्दस्वरूप (द्वित्व) न होंगे। उदाहरण के लिये 'चतुर्षु' में '६०–अचो रहाभ्यां द्वे' से षकार का वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त था, किन्तु उकार–अच् परे होने के कारण प्रकृतसूत्र से षकार–शर् को द्वित्व नहीं होगा। तब 'चतुर्षु' रूप ही रहेगा।

२७०. मो[६] नो[१] धातोः[६] । ८ । २ । ६४

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते । प्रशान् ।

२७०. मो न इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(धातोः) धातु के (मः) मकार के स्थान पर (नः) नकार हो। किन्तु इससे सूत्र का आशय पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'पदस्य' ८.१.१६ (यह अधिकार-सूत्र है) और 'स्कोः

संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—पद के अन्त में धातु के मकार से स्थान पर नकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'प्रशाम्+स् (सु)' में 'प्रशाम्' पदान्त है, तथा 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' परिभाषा से 'शम्' धातु का मकार है, अतः प्रकृतसूत्र से उसके स्थान पर नकार होकर 'प्रशान्+स्' रूप बनेगा। इस दशा में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः–०' सूत्र से अन्त्य सकार का लोप होकर 'प्रशान्' रूप सिद्ध होगा।

२७१. किमः[6] कः। ७। २। १०३

किमः कः स्याद् विभक्तौ। कः, कौ, के इत्यादि। शेषं सर्ववत्।

२७१. किम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(किमः) 'किम्' के स्थान पर (कः) 'क' हो। किन्तु किस अवस्था में—इसका निर्देश सूत्र से नहीं मिलता है। इसके लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विभक्ति परे होने पर 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश हो। 'क' सस्वर होने से अनेकाल् है, अतः 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'किम्+स् (सु)' में विभक्ति 'सु' परे होने के कारण 'किम्' को 'क' होकर 'क+स्' रूप बना। तब रुत्व-विसर्ग करने पर 'कः' रूप सिद्ध होता है। अदन्त हो जाने से इसके सभी रूप 'सर्व' के समान बनेंगे।

२७२. इदमो मः। ७। २। १०८

सौ। त्यदाद्यत्वापवादः।

२७२. इदम इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(इदमः) 'इदम्' के स्थान पर (मः) मकार आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' ७.२.१०६ से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इदम्' शब्द के स्थान पर 'सु' परे होने पर मकार आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से 'इदम्' के अन्त्य वर्ण मकार के स्थान पर ही मकार आदेश होगा। मकार को पुनः मकार आदेश करने का तात्पर्य '१९३–त्यदादीनामः' सूत्र द्वारा प्राप्त अकारादेश का निषेध करना है। अभिप्राय यह कि 'इदम्' का मकार 'सु' परे होने पर मकाररूपेण ही स्थित रहता है, उसके स्थान पर अन्य कुछ आदेश नहीं होता। उदाहरण के लिए 'इदम्+स् (सु)' में मकार को मकार ही रहेगा, अकार नहीं होगा।

२७३. इदोऽय् पुंसि। ७। २। १११

इदम इदोऽय् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे—

२७३. इद इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पुंसि) पुँल्लिङ्ग में (इदः) इद् के

स्थान पर (अय्) 'अय्' हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इदमो मः' ७.२.१०८ से 'इदमः' और 'यः सौ' ७.२.११० से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि 'सु' परे हो, तो पुँल्लिङ्ग में 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग के स्थान पर 'अय्' आदेश होता है। 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से अय् आदेश सम्पूर्ण 'इद्' के स्थान पर होगा। 'अय्' में ग्रहणसामर्थ्य से यकार का लोप न होगा और प्रयोजनाभाव से इत्संज्ञा भी न होगी। उदाहरण के लिए 'इदम्+स् (सु)' में पुँल्लिङ्ग होने पर 'इद्' भाग को अय् आदेश होकर 'अय् अम् स्' रूप बनेगा। इस अवस्था में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः–' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होकर 'अयम्' रूप सिद्ध होगा।

२७४. अतो गुणे । ६ । १ । ९७

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः।

२७४. अत इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(अतः) ह्रस्व अकार से (गुणे) गुण परे होने पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एङि पररूपम्' ६.१.९४ से 'पररूपम्' तथा 'उस्यपदान्तात्' ६.१.९६ से 'अपदान्तात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८३ यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अपदान्त ह्रस्व अकार से अ, ए, ओ (गुण) परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो। उदाहरण के लिए 'इद अ+औ' में दकारोत्तरवर्ती अपदान्त ह्रस्व अकार से गुण अकार परे होने से पूर्व-पर के स्थान पर पररूप 'अ' होकर 'इद औ' रूप बना।

२७५. दश्च । ७ । २ । १०९

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ। इमौ, इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः।

२७५. दश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (दः) दकार के स्थान पर। किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता है। उसके लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' तथा सम्पूर्ण 'इदमो मः' ७.२.१०८ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि विभक्ति परे हो तो 'इदम्' शब्द के दकार के स्थान पर मकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'इद + औ' में विभक्ति 'औ' परे होने पर दकार को मकार होकर 'इम + औ' रूप बनेगा। इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उसका बाध होकर '३३–वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश हो 'इमौ' रूप सिद्ध होता है।*

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'इमौ' की रूपसिद्धि देखिये।

२७६. अनाऽप्यकः[6] । ७ । २ । ११२

अककारस्येदम इदोऽन् आपि विभक्तौ । आब् इति प्रत्याहारः । अनेन ।

२७६. अनाप्येति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(आपि) आप् परे होने पर (अकः) ककाररहित के स्थान पर (अन्) 'अन्' आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ', 'इदमो मः' ७.२.१०८ से 'इदमः' तथा 'इदोऽय् पुंसि' ७.२.१११ से 'इदः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'आप्' प्रत्याहार है जिसमें 'टा' से लेकर 'सुप्' तक के प्रत्ययों का समाहार होता है । तात्पर्य यह कि तृतीयाविभक्ति से लेकर सप्तमी विभक्ति तक 'आप्' का विस्तार है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ककाररहित 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग के स्थान पर तृतीयादि विभक्तियों के परे होने पर 'अन्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'इद्' के स्थान पर 'अन्' आदेश होगा । उदाहरण के लिए 'इद + आ (टा)' में ककाररहित 'इदम्' के 'इद्' के स्थान पर 'अन्' होकर 'अन् अ + आ' रूप बनता है । पुनः 'आ' को '१४०—टाङसि—०' सूत्र से 'इन' आदेश होकर तथा गुण करने पर 'अनेन' रूप सिद्ध होता है ।*

२७७. हलि लोपः[7] । ७ । २ । ११३

अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ ।
(प०) नाऽनर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ।

२७७. हलीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलि) हल् परे होने पर (लोपः) लोप हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ', 'इदमो मः' ७.२.१०८ से 'इदमः', 'इदोऽय् पुंसि' ७.२.१११ से 'इदः' तथा 'अनाप्यकः' ७.२.११२ से 'आपि' और 'अकः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलादि (जिसके आदि में हल् या व्यंजन हो) तृतीयादि विभक्ति परे होने पर ककाररहित 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग का लोप होता है । हलादि तृतीयादि विभक्तियां ये हैं—भ्याम्, भिस्, भ्याम्, भ्यस्, भ्याम्, भ्यस् और सुप् । अतः इनमें से किसी के परे होने पर ही प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त होगा । यह सूत्र पूर्व 'अनाप्यकः' (२७६) का अपवाद है । उदाहरण के लिए 'इद + भ्याम्' में तृतीयादि हलादि विभक्ति परे है, अतः यहां '२७६—अनाप्यकः' सूत्र को बाध कर प्रकृतसूत्र से 'इद्' का लोप प्राप्त होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से 'इद्' के अन्त्य दकार का लोप होना चाहिये । किन्तु अग्रिम परिभाषा से इसका निराकरण हो जाता है—

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अनेन' की रूपसिद्धि देखिये ।

(प०) नाऽनर्थके इति—अभ्यास* के विकार (यथा—'पिपर्ति' में अभ्यास के अन्त्य ऋकार को इकार आदेश) को छोड़कर अन्यत्र अनर्थक में 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। उदाहरण के लिए 'इद + भ्याम्' में 'इद्' अर्थवान् नहीं है क्योंकि समुदाय सार्थक और उसका एक भाग निरर्थक हुआ करता है—'समुदायो ह्यर्थवान्, तस्यैकदेशोऽनर्थकः'। 'इद्' भी 'इदम्' का एक भाग होने के कारण निरर्थक है। अतः यहाँ 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी और और सम्पूर्ण 'इद्' का लोप होकर 'अ + भ्याम्' रूप बनेगा।

२७८. आद्यन्तवदेकस्मिन् । १ । १ । २१

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। 'सुपि च' इति दीर्घः—आभ्याम्।

२७८. आद्यन्तेति—यह परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(आद्यन्तवत्) आदि और अन्त को विधीयमान कार्य (एकस्मिन्) एक में भी हो अर्थात् उसे ही आदि-अन्त दोनों मानकर कार्य हो। यह सिद्धान्त लोकन्याय पर आधारित है और इसे ही व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है—'देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः' अर्थात् देवदत्त के एक ही पुत्र है, उसे ही ज्येष्ठ और उसे ही कनिष्ठ भी कहा जाता है। इसी प्रकार एक में ही आदि और अन्त—दोनों का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'अ + भ्याम्' में केवल अकार है। पूर्व में अन्य वर्ण रहने पर ही इसे अन्त्य कहा जा सकता है, किन्तु प्रस्तुत सूत्र से असहाय होने पर भी इसे आदि और अन्त—दोनों मानकर अदन्त अङ्ग कहा जावेगा। अतः '१४१-सुपि च' से दीर्घ होकर 'आभ्याम्' रूप सिद्ध होगा।

२७९. नेदमदसोरकोः । ७ । १ । ११

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः, अस्मै। एभ्यः २। अस्मात्। अस्य। अनयोः २। एषाम्। अस्मिन्। एषु।

२७९. नेदमदसोरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(अकः) ककाररहित (इदमदसोः) इदम् और अदस् शब्द के स्थान पर (न) नहीं हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से 'भिसः' तथा 'ऐस्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ककाररहित 'इदम्' और 'अदस्' शब्द के 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' न हो। उदाहरण के लिए 'अ + भिस्' में '१४२-अतो भिस ऐस्' से भिस् को ऐस् प्राप्त था, किन्तु प्रकृतसूत्र से उसका निषेध

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

हो जाता है। तब '१४९–बहुवचने झल्येत्' से एत्त्व होकर तथा सकार को रुत्व-विसर्ग होकर 'एभिः' रूप सिद्ध होता है।*

२८०. द्वितीयाटौस्स्वेनः। २। ४। ३४

इदमेतदोरन्वादेशे।

किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः। यथा—अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय। अनयोः पवित्रं कुलं, एनयोः प्रभूतं स्वम्–इति।

एनम्, एनौ, एनान्। एनेन। एनयोः २। राजा।

२८०. द्वितीयेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(द्वितीया-टौस्सु) द्वितीया, टा और ओस् परे होने पर (एनः) 'एन' आदेश हो। परन्तु यह आदेश किसको हो—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ' २.४.३२ से 'इदमः' तथा 'अन्वादेशे' और 'एतदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ' २.४.३३ से 'एतदः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वितीया (सब वचन), टा और ओस् (षष्ठी तथा सप्तमी के द्विवचन) विभक्ति परे होने पर अन्वादेश में इदम् तथा एतद् शब्द के स्थान पर 'एन' आदेश हो। यहां पर 'अन्वादेश' एक पारिभाषिक शब्द है, अतः पहले उसको समझ लेना आवश्यक है। किसी कार्य के विधान के लिए जिसका ग्रहण किया गया हो, उसका अन्य कार्य विधान के लिए पुनः ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहाता है। तात्पर्य यह कि किसी कार्य के सम्बन्ध में पहले जिसकी चर्चा की गई हो, पुनः अन्य बात के लिए उसकी चर्चा का नाम 'अन्वादेश' है। उदाहरण के लिए 'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय' (इसने व्याकरण पढ़ा, इसे वेद पढ़ाइये) इस वाक्य में किसी ने पहले अपने पुत्रादि के सम्बन्ध में अध्ययन रूप कार्य का विधान किया, पुनः उसी के विषय में वेद पढ़ाना कार्य का विधान किया गया है, अतः दूसरे वाक्य में 'अन्वादेश' है। इस प्रकार अन्वादेश में अम्, औट्, शस्, टा और ओस्—इन पांच प्रत्ययों के परे होने पर 'इदम्' और 'एतद्' शब्द को 'एन' आदेश होगा। उदाहरणार्थ उपर्युक्त वाक्य में पुनः ग्रहण किये हुए 'इदम्' शब्द के स्थान पर द्वितीया विभक्ति 'अम्' परे होने पर 'एन' आदेश होकर 'एनम्' रूप सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि अनेकाल् होने के कारण 'एन' आदेश 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण स्थानी–'इदम्' के स्थान पर हुआ है।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'एभिः' की रूपसिद्धि देखिये।

२८१. नॅ ङि-सम्बुद्धयोः । ८ । २ । ८

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च । हे राजन् !

(वा०) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ, राजानः । राज्ञः ।

२८१. नेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(ङि-सम्बुद्धयोः) ङि और सम्बुद्धि परे होने पर (न) नहीं हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' ८.२.७ से 'नः' और 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि ङि अथवा सम्बुद्धि* परे हो तो नकार का लोप नहीं होता । यह '१८०–न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र का अपवाद है । उदाहरण के लिए 'हे राजन्+स् (सु)' में सम्बुद्धि परे होने से प्रकृत सूत्र से नकार का लोप नहीं हुआ । '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः–०' से अन्त्य सकार का लोप होकर 'हे राजन्' रूप सिद्ध होता है ।

(वा०) ङावुत्तरपदेति—उत्तरपदपरक 'ङि' के परे होने पर '२८१–न ङि-सम्बुद्धयोः' सूत्र का निषेध कहना चाहिये अर्थात् इस अवस्था में नकार का लोप हो जावेगा । उत्तरपद समास के अन्त अवयव को कहते हैं—'उत्तरपदं समासचरमावयवे रूढम्' । उदाहरण के लिए 'ब्रह्मनिष्ठः' (ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः) में 'निष्ठा' उत्तरपद है । अतः 'ब्रह्मन् ङि निष्ठा सु' में उत्तरपदपरक 'ङि' परे होने पर '१८०–न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार लोप होकर 'ब्रह्मनिष्ठा' रूप बनता है । फिर ह्रस्व होकर विभक्ति-कार्य करने पर 'ब्रह्मनिष्ठः' रूप सिद्ध होता है ।

२८२. नलोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति । ८ । २ । २

सुब्विधौ स्वरविधौ सञ्ज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वाद्–आत्वम् , एत्वम् , ऐस्त्वं च न । राजभ्याम्, राजभिः, राजभ्यः २ । राजनि, राज्ञि । राजसु ।

यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः ।

२८२. नलोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति) सुप् सम्बन्धी विधान, स्वरविधान, संज्ञाविधान तथा कृत् प्रत्यय परे होने पर तुग्विधान करने में (नलोपः) नकार का लोप । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' ८.२.१ से 'असिद्धः' (विभक्ति-विपरिणाम करके) की अनुवृत्ति करनी होगी । सुप्सम्बन्धी विधि दो प्रकार की हो सकती है—१. सुप्निमित्तक और २. सुप्स्थानिक । 'सुपि च' ७.३.१०२ से दीर्घ सुप् परे होने पर होता है, अतः यह सुप्निमित्तक है । 'अतो भिस ऐस्' ७.१.९ से सुप् 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश होता है, अतः

---

* इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये ।

यह सुप्स्थानिक विधि है। 'बहुवचने झल्येत्' ७.३.१०३ भी सुप्निमित्तक विधि होने से सुप्सम्बन्धी विधि है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुप् सम्बन्धी विधान, स्वर-विधान, संज्ञा-विधान तथा कृत् प्रत्यय परे रहते तुग्विधान के विषय में नकार-लोप असिद्ध होता है अर्थात् वह न होने के समान समझा जाता है।

यद्यपि '३६–पूर्वत्राऽसिद्धम्' सूत्र से भी नकारलोप असिद्ध हो जाता है तथापि पुनः नकारलोप की असिद्धि का कथन नियमार्थ है—'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः'। तात्पर्य यह कि यदि नकार का लोप असिद्ध हो, तो सुप्, संज्ञा, स्वर और तुग्विधि में ही हो, अन्यत्र नहीं। इसीलिए 'राज्ञः अश्वो राजाश्वः' इत्यादि स्थलों में 'राजन् अश्वः' इस अवस्था में नकारलोप करने पर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के प्रति नलोप असिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह सूत्र सुप् आदि विधियों में नहीं आया है। सुप्-विधि का उदाहरण 'राज+भ्याम्' में मिलता है क्योंकि यहां '१४१–सुपि च' से आत्व प्राप्त है। किन्तु इसके प्रति नकार का लोप असिद्ध होने के कारण आत्व कार्य न होकर 'राजभ्याम्' रूप ही बनेगा।*

२८३. न संयोगाद्वमन्तात्। ६।४।१३७

वमन्तसंयोगाद् अनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा।

२८३. न संयोगादिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(वमन्तात्) वकारान्त और मकारान्त (संयोगाद्) संयोग से पर (न) नहीं हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वकारान्त और मकारान्त संयोग† से परे 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'यज्वन्+अस् (शस्)' में 'यज्व्–अन्' शब्द का 'यज्व्' वकारान्त संयोग है, अतः उससे पर 'अन्' के नकार का लोप न होकर 'यज्वनः' रूप सिद्ध होता है।

२८४. इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ। ६।४।१२

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नाऽन्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते—

२८४. इन इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शौ) 'शि' परे होने पर (इन्-हन्-पूषार्यम्णाम्) इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११

---

* असिद्ध-भाव के विस्तृत विवेचन के लिए ३१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

से 'दीर्घः', 'अङ्गस्य' ६.४.१ से 'अङ्गानाम्' (विभक्ति-विपरिणाम करके) तथा 'नोपधायाः' ६.४.७ से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इन्नन्त (दण्डिन् आदि), हन्नन्त (वृत्रहन् आदि), पूषन् शब्दान्त तथा अर्यमन् शब्दान्त अङ्गों की उपधा के स्थान पर 'शि' परे होने पर दीर्घ हो जाता है। अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण को उपधा कहते हैं—'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' १.१.६५।

यह सूत्र नियमार्थ ही है, क्योंकि 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा होने से उसके परे रहते '१६६–सर्वनामस्थाने–०' सूत्र से उपधादीर्घ सिद्ध ही है। अतः पुनः 'शि' परे रहते विधान नियम करता है कि 'शि' के अतिरिक्त अन्य स्थलों में उपधा को दीर्घ न हो। उदाहरण के लिए 'वृत्रहन् + स् (सु)' में हन् शब्दान्त से परे 'सु' वर्तमान है, 'शि' नहीं, अतः प्रकृत सूत्र से यहाँ उपधा को दीर्घ नहीं होगा।

२८५. सौ॑ च॑ । ६ । ४ । १३

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन्!

२८५. सौ चेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (सौ) सु परे होने पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः', 'अङ्गस्य' १.४.१ से 'अङ्गानाम्' (विभक्ति-विपरिणाम करके), 'नोपधायाः' ६.४.७ से 'उपधायाः', 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' ६.४.८ से 'असम्बुद्धौ' और 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' ६.४.१२ से 'इन्हन्पूषार्यम्णाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्बुद्धिभिन्न 'सु' परे होने पर इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन् शब्दान्त अङ्गों की उपधा के स्थान पर दीर्घ हो जाता है।* पूर्व सूत्र के नियम से 'सु' में दीर्घ नहीं हो सकता था, अब इससे 'सु' में हो जाता है। शेष 'शि'भिन्न सर्वनामस्थान में पूर्व नियमानुसार निषेध ही रहेगा। उदाहरण के लिए 'वृत्रहन्+स् (सु)' में सर्वनामस्थानभिन्न 'सु' परे होने के कारण उपधा को दीर्घ होकर 'वृत्रहान्+स्' रूप बनता है। इस अवस्था में '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः–०' से सकारलोप तथा '१८०–न लोपः–०' से नकार का लोप होकर 'वृत्रहा' रूप सिद्ध होता है।

२८६. एकाजुत्तरपदे॑ णः॑ । ८ । ४ । १२

एकाज् उत्तरपदं यस्य, तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः। वृत्रहणौ।

---

* स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (२८४) की भी व्याख्या देखिये।

२८६. एकाजिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एकाच् + उत्तरपदे) एक अच् वाले उत्तरपद के परे होने पर (णः) णकार हो। परन्तु किसके स्थान पर णकार होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ से 'रषाभ्यां' तथा 'नः', 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' ८.४.३ से 'पूर्वपदाभ्याम्' (विभक्ति-विपरिणाम करके) और 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' ८.४.११ से 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस समास में उत्तरपद (अन्तिम अवयव) एक अच् (स्वर) वाला हो, उस समास में पूर्वपद वाले रकार तथा षकार से परे प्रातिपदिक के अन्त्य नकार, नुम् के नकार और विभक्ति में स्थित नकार के स्थान पर णकार होता है। समास में एकपद (अखंड पद) न होने से '१३८—अट्कुप्वाङ्—०' सूत्र से णत्व नहीं प्राप्त होता था, अतः प्रस्तुत सूत्र की आवश्यकता पड़ी। उदाहरण के लिए 'वृत्रहन्+औ' में उपपद समास होने पर 'वृत्र' पूर्वपद तथा 'हन्' उत्तरपद है। उत्तरपद 'हन्' एक अच् वाला है। पूर्वपद में तकारोत्तर रकार भी विद्यमान है, अतः उससे परे प्रातिपदिक के अन्त में नकार को णकार होकर 'वृत्रहणौ' रूप सिद्ध होता है। नुम् के नकार का उदाहरण 'श्रीपाणि' और विभक्तिस्थ नकार का उदाहरण 'श्रीपाणाम्' आदि में मिलता है।

२८७. हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु। ७। ३। ५४

ञ्णिति प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वम्। वृत्रघ्नः। इत्यादि। एवम्-शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन्।

२८७. हो हन्तेरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(ञ्णिन्नेषु) ञित्, णित् प्रत्यय तथा नकार परे होने पर (हन्तेः) हन् धातु के (हः) हकार के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' ७.३.५२ से 'कुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१—यह यहाँ अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि ञित्, णित् प्रत्यय अथवा नकार परे हो, तो अङ्गसंज्ञक 'हन्' धातु के हकार के स्थान पर कवर्ग होता है। हकार का संवार, नाद, घोष तथा महाप्राण यत्न है। कवर्ग में उसके समान केवल घकार ही है। अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० परिभाषा से हकार के स्थान पर घकार ही कवर्ग आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'वृत्रहन्+अस् (शस्)' में नकार परे होने पर हकार को घकार होकर 'वृत्रघ्नः' रूप बनेगा।*

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'वृत्रघ्नः' की रूप-सिद्धि देखिये।

२८८. मघवा* बहुलम् । ६ । ४ । १२८

'मघवन्' शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः । ऋ इत् ।

२८८. मघवा इति—सूत्र का शब्दार्थ है (मघवा) 'मघवन्' शब्द के स्थान पर (बहुलम्) विकल्प से । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अर्वणस्त्रसावनञः' ६.४.१२७ से 'तृ' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'मघवन्' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'तृ' आदेश होता है । यद्यपि यह 'तृ' आदेश अनेकाल् होने से '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण 'मघवन्' शब्द के स्थान पर होना चाहिये, तथापि 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (अनुबन्धों के कारण अनेकाल्ता नहीं होती) परिभाषा से इसके अनेकाल्त्व का निषेध होने पर सर्वादेश नहीं होगा । तब 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से 'मघवन्' के अन्त्यवर्ण नकार के स्थान पर ही 'तृ' आदेश होगा । 'तृ' में ऋकार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप होकर केवल तकार ही शेष रहता है । उदाहरण के लिए 'मघवन्' शब्द के अन्त्य नकार को 'तृ' होकर 'मघवत्' रूप बनता है । अभावपक्ष में 'मघवन्' ही रहेगा ।

२८९. उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः । ७ । १ । ७०

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे । मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः । हे मघवन् ! मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे—मघवा । सुटि राजवत् ।

२८९. उगिदचामिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (अधातोः) धातुभिन्न (उगिदचां) उगित् और नकारलोपी 'अञ्चु' धातु का अवयव...। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इदितो नुम्धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'उगित्' का अर्थ है—जिसमें उक् अर्थात् उ, ऋ और ऌ इत्संज्ञक हों । सूत्रस्थ 'अच्' शब्द से लुप्त नकार वाली 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा० प०) धातु का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) परे हो, तो धातुभिन्न 'उगित्' (जिसमें उ, ऋ और ऌ की इत्संज्ञा हो) और नकारलोपी (जिसके नकार का लोप हुआ हो) 'अञ्चु' धातु का अवयव 'नुम्' (न्) होता है । उदाहरण के लिए 'मघवत्+स् (सु)' में 'तृ' के ऋकार की इत्संज्ञा हुई है, अतः यह 'उगित्' है । इससे परे 'सु' सर्वनामस्थान भी विद्यमान है । अतः 'मिदचोऽन्त्यात्परः' १.१.४७ परिभाषा की सहायता से प्रकृत सूत्र द्वारा अन्त्य अच् को नुम्

---

* यहाँ प्रथमा विभक्ति षष्ठी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुई है ।

आगम होकर 'मघवनुम् त्+स्' रूप बनता है। इस अवस्था में 'उम्' अनुबन्ध का लोप करने पर 'मघवन् त्+स्' रूप बनेगा। फिर सकार और तकार का लोप तथा उपधा को दीर्घ करने से 'मघवान्' रूप सिद्ध होता है।

२९०. श्वयुवमघोनामतद्धिते । ६ । ४ । १३३

अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते संप्रसारणम्। मघोनः। मघवभ्याम्। एवं-श्वन्, युवन्।

२९०. श्वयुवेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अतद्धिते) तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर (श्वयुवमघोनाम्) श्वन्, युवन् और मघवन् शब्दों के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भस्य' ६.४.१२९ से 'भानाम्' (विभक्ति-विपरिणाम करके) तथा 'वसोः सम्प्रसारणम्' ६.४.१३१ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श्वन् (कुत्ता), युवन् (युवा) और मघवन् (इन्द्र)—इन अन्नन्त (जिनके अन्त में 'अन्' हो) भसंज्ञक* शब्दों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण† हो जाता है। उदाहरण के लिए 'मघवन् + अस् (शस्)' में भसंज्ञक 'मघवन्' शब्द है और उससे परे तद्धितभिन्न 'शस्' प्रत्यय भी विद्यमान है। अतः '२५६—इग्यणः सम्प्रसारणम्' सूत्र से प्रकृतसूत्र के द्वारा वकार को उकार सम्प्रसारण होकर 'मघ उ अन् + अस्' रूप बनेगा। इस अवस्था में '२५८—सम्प्रसारणाच्च' से अग्रिम अकार को पूर्वरूप एकादेश होकर 'मघ उन् अस्' रूप बनता है। फिर गुण तथा रुत्व-विसर्ग करने से 'मघोनः' रूप सिद्ध होता है।‡

२९१. न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् । ६ । १ । ३७

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य नेत्वम्। अत एव ज्ञापकाद् अन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादि।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १६५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए २५६ वें सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

‡ इस सूत्र के विषय में एक सुभाषित प्रचलित है—

'काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम्।
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ॥'

[माला गूँथती हुई बाला से किसी ने पूछा—तुम कांच, मणि और सोने को एक सूत्र में क्यों गूंथ रही हो? यह तो बहुत ही विचित्र है। उसने उत्तर दिया—विचारवान् पाणिनि ने भी तो एक ही सूत्र में श्वन् (कुत्ता), युवन् और मघवन् (इन्द्र) को ला बिठाया है।]

२९१. नेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ—(सम्प्रसारणे) सम्प्रसारण परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता। उदाहरण के लिए 'युवन् + अस् (शस्)' में वकार को उकार सम्प्रसारण और पूर्वरूप होने पर 'यु उन् अस्' रूप बनता है। इस अवस्था में सवर्णदीर्घ करके 'यून स्' रूप बनने पर पुनः यकार को सम्प्रसारण इकार प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जाता है। अतः रुत्व-विसर्ग होकर 'यूनः' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यहां एक शंका उठती है कि पूर्वयकार को ही क्यों न पहले सम्प्रसारण किया जाय ? उस समय पर सम्प्रसारण न होने पर यह निषेध न लगेगा और बाद में पर 'वकार' को भी सम्प्रसारण कर दिया जाय। इसका यह उत्तर है कि यदि पहले यण् को सम्प्रसारण हो जाय तो कहीं भी पर सम्प्रसारण न मिलेगा और इस प्रकार इस सूत्र की प्रवृत्ति के लिए कोई स्थल ही नहीं रहेगा। अतः निषेधकरण सामर्थ्य से यह सूचित करता है कि जहां दो यण् हों, वहां यदि सम्प्रसारण करना हो तो पहले अन्तिम यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये। इस नियमानुसार जब अन्तिम यण् को सम्प्रसारण हो चुकने पर प्रथम यण् को सम्प्रसारण प्राप्त होता है, तब प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जावेगा।

२९२. ⁶अर्वणस्त्रसावनञः⁶* । ६ । ४ । १२७

नञा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वद्भ्याम् इत्यादि।

२९२. अर्वण इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(असौ) सु न परे होने पर (अनञः) 'नञ्' से रहित (अर्वणः) अर्वन् के स्थान पर (तृ) 'तृ' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ इस अधिकार-सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—'नञ्' रहित 'अर्वन्' अङ्ग के स्थान पर 'तृ' आदेश होता है, किन्तु यदि उससे परे 'सु' विभक्ति होगी, तो 'तृ' आदेश नहीं होगा। यह आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अन्त्य अल्—नकार के स्थान पर ही होगा। यहां 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' १.१.५५ से सर्वादेश नहीं हो सकता, क्योंकि 'तृ' में ऋकार इत्संज्ञक है और तकार ही केवल शेष रहता है—'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्'। उदाहरण के लिए 'अर्वन् + औ' में अन्त्य नकार को तकार आदेश होकर 'अर्वत् + औ' रूप बनता है। इस अवस्था में नुम् आगम होकर तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण नकार होकर 'अर्वन्तौ' रूप सिद्ध होता है।†

---

* इसका पदच्छेद है—'अर्वणः + तृ + असौ + अनञः'।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अर्वन्तौ' की रूप-सिद्धि देखिये।

२९३. पथिमथ्यृभुक्षामात्[१] । ७ । १ । ८५

एषामाकारोऽन्तादेशः सौ परे ।

२९३. पथीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पथिमथ्यृभुक्षाम्*) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् के स्थान पर (आत्) आकार हो । किन्तु किस अवस्था में हो—इसका निर्देश सूत्र से नहीं मिलता है । इसके लिए 'सावनडुहः' ७.१.८२ से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पथिन् (मार्ग), मथिन् (मथनी) तथा ऋभुक्षिन् (इन्द्र) शब्दों को 'सु' परे होने पर आकार आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आकार आदेश अन्त्य नकार के स्थान पर ही होगा । उदाहरण के लिए 'पथिन्+स् (सु)' में 'सु' परे होने के कारण नकार को आकार होकर 'पथि आ+स्' रूप बनेगा ।

२९४. इतोऽत्[६] सर्वनामस्थाने[७] । ७ । १ । ८६

पथ्यादेरिकारस्य अकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे ।

२९४. इत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (इतः) ह्रस्व इकार के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' ७.१.८५ से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् (इन्द्र) शब्दों के ह्रस्व इकार के स्थान पर सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम् तथा औट्) परे होने पर ह्रस्व अकार आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'पथि आ स्' में 'सु' परे होने पर 'पथिन्' के इकार को अकार होकर 'पथ आ स्' रूप बनेगा ।

२९५. थो[६] न्थः । ७ । १ । ८७

पथिमथोस्थस्य न्थाऽऽदेशः सर्वनामस्थाने । पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः ।

२९५. थ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(थः) थकार के स्थान पर (न्थः) 'न्थ्' आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' ७.१.८५ से 'पथिमथोः' ('ऋभुक्षिन्' में थकार न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं होती), तथा 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' ७.१.८६ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सर्वनामस्थान परे होने पर पथिन् और मथिन् शब्दों के थकार के स्थान पर 'न्थ्' आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'पथ आ स्' में

---

* इसका पदच्छेद है—'पथि + मथि + ऋभुक्षाम्' ।

सर्वनामस्थान 'सु' परे होने के कारण थकार को 'न्थ्' होकर 'पन्थ् आ सु्' रूप बनेगा। फिर सवर्णदीर्घ तथा सकार को रुत्व-विसर्ग करने पर 'पन्थाः' रूप सिद्ध होता है।

२९६. भस्य टेर्लोपः। ७। १। ८८

भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः। पथः। पथः। पथिभ्याम्। एवं—मथिन्, ऋभुक्षिन्।

२९६. भस्येति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(भस्य) भसंज्ञक (टेः) टि का (लोपः) लोप हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' ७.१.८५ से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। जस् आदि अजादि प्रत्ययों के परे होने पर पूर्व की भसंज्ञा* होती है। अचों में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके, उस शब्द-समुदाय की टि संज्ञा होती है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भ-संज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की 'टि' का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'पथिन्+अस् (शस्)' में भसंज्ञक 'पथिन्' की टि—'इन्' का लोप होकर 'पथ्+अस्' रूप बनेगा। फिर सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'पथः' रूप सिद्ध होगा।

२९७. ष्णान्ता षट्। १। १। २४

ष्णान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात्। 'पञ्चन्'शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। पञ्च। पञ्च। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः २। नुट्—

२९७. ष्णान्ता इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(ष्णान्ता) षकारान्त और नकारान्त (षट्) षट्संज्ञक होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुगणवतुडति संख्या' १.१.२३ से 'संख्या' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षकारान्त और नकारान्त संख्यावाचक शब्द की षट् संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए पञ्चन्, षष्, सप्तन्, अष्टन्, नवन् और दशन्—ये षट्संज्ञक शब्द हैं।

२९८. नोपधायाः। ६। ४। ७

नान्तस्योपधाया दीर्घो नामि। पञ्चानाम्। पञ्चसु।

२९८. नोपधाया इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(नोपधायाः) नकार की उपधा का। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः', 'अङ्गस्य' ६.४.१ तथा सम्पूर्ण 'नामि' ६.४.३ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'न' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उससे तदन्त—नकारान्त का ग्रहण

---

* भसंज्ञा की विवेचना के लिए १६५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत विवेचना के लिए ३९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नाम् परे होने पर नान्त अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घ हो जाता है। अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण को उपधा* कहते हैं। उदाहरण के लिए 'पञ्चन्+नाम्' में नाम् परे होने पर नान्त पञ्चन् के उपधाभूत अकार को दीर्घ होकर 'पञ्चान्+नाम्' रूप बनेगा। फिर '१८०–न लोपः-०' सूत्र से 'पञ्चान्' के अन्त्य नकार का लोप होकर 'पञ्चानाम्' रूप सिद्ध होगा।†

२९९. अष्टन[६] आ[१] विभक्तौ[७] । ७ । २ । ८४

अष्टन आत्वं वा स्याद् हलादौ विभक्तौ।

२९९. अष्टन इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (अष्टनः) अष्टन् के स्थान पर (आ) आकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रायो हलि' ७.२.८५ से 'हलि' का अपकर्षण करना होगा‡। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अष्टन् शब्द के स्थान पर हलादि (जिसके आदि में व्यजंन हो) विभक्ति परे होने पर 'आ' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से आकार का आदेश अन्त्य वर्ण–नकार के ही स्थान पर होगा। यहां ध्यान रखना होगा कि यह आकारादेश 'अष्टनो दीर्घात्' ६.१.१६८ सूत्र में दीर्घग्रहण सामर्थ्य से वैकल्पिक माना जाता है।§ उदाहरण के लिए 'अष्टन्+भ्यस्' में हलादि विभक्ति परे होने पर अन्त्य नकार को आकार होकर 'अष्ट आ+भ्यस्' रूप बनेगा। फिर सवर्णदीर्घ तथा सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'अष्टाभ्यः' रूप सिद्ध होता है। आकाराभाव में 'अष्टभ्यः' रूप बनेगा।

३००. अष्टाभ्य औश् । ७ । १ । २१

कृताकाराद् अष्टनः परयोर्जश्शसोरौश्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे—अष्ट पञ्चवत्।

३००. अष्टाभ्य इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(अष्टाभ्यः¶) 'अष्टा' शब्द अर्थात् आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे (औश्) 'औश्' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'जश्शसोः शिः' ७.१.२० से 'जश्-

---

* उपधा की विवेचना के लिए १७६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'पञ्चानाम्' की रूप-सिद्धि देखिये।

‡ विशेष विवेचना के लिए इस सूत्र पर तत्त्वबोधिनी व्याख्या देखिये।

§ देखिये काशिका (७.२.८४)।

¶ 'अष्टाभ्य इति कृताकारोऽष्टशब्दो गृह्यते'—काशिका।

शसोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अष्टा' अर्थात् आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे जस् और शस् के स्थान पर 'औश्' आदेश होता है। 'औश्' में शकार इत्संज्ञक है, अतः 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर होगा। स्मरण रहे कि यह सूत्र '१८८–षड्भ्यो लुक्' का अपवाद है।

यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है। '२९९–अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र से हलादि विभक्तियों में 'अष्टन्' को आकार अन्तादेश होने का विधान किया गया है, इससे जस् और शस् के अजादि होने के कारण जब कि 'अष्टन्' को आकार आदेश नहीं हो सकता तो पुनः उससे परे 'जस्' और 'शस्' के स्थान पर 'औश्' विधान कैसे सम्भव हो सकता है? इसका उत्तर यह दिया जाता है* कि यदि 'अष्टन्' शब्द से परे केवल 'जस्' और 'शस्' को 'औश्' विधान करना होता तो पाणिनि 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र में 'अष्टाभ्यः' पद न लिखकर 'अष्टभ्यः' लिखते। किन्तु मुनि के ऐसा न कर 'अष्टाभ्यः' लिखने से यह प्रतीत होता है कि मुनि आत्व किये हुए 'अष्टन्' शब्द की ओर संकेत कर रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि जस् और शस् परे रहते 'अष्टन्' शब्द को आत्व (आकार अन्तादेश) होता है। उदाहरण के लिए 'अष्टन् + अस्' (जस् व शस्) में 'अष्टन्' को आकार अन्तादेश हो 'अष्ट आ अस्' रूप बनने पर जस् और शस् को 'औश्' सर्वादेश होकर 'अष्ट आ औ' रूप बनता है। फिर सवर्णदीर्घ तथा वृद्धि-एकादेश करने पर 'अष्टौ' रूप सिद्ध होता है।

३०१. ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्-दिग्-उष्णिग्-अञ्चु-युजि-क्रुञ्चां† च। ३।२।५९

एभ्यः क्विन् स्यात्, अञ्चेः सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः केवलयोः। क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ।

३०१. ऋत्विगिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ऋत्विग्–क्रुञ्चाम्) ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश्, उष्णिह्, अञ्च्, युज् और क्रुञ्च् से…। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' ३.२.५८ से 'क्विन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ऋत्विज् ('ऋतु' शब्दपूर्वक 'यज्' धातु), दधृष् ('धृष्' धातु), स्रज्, दिश्, उष्णिह्, अञ्च्, युज् और क्रुञ्च् (वक्र

---

* देखिये सिद्धान्तकौमुदी—'अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जस्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति।'

† यहाँ षष्ठी विभक्ति पञ्चम्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

होना या वक्र करना) से 'क्विन्' प्रत्यय होता है । इस सम्बन्ध में इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(क) सुबन्त (जिसके अन्त में 'सुप्' प्रत्यय हो) उपपद रहने पर ही 'अञ्च्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय होता है, यथा—'प्राङ्', 'प्रत्यङ्' आदि ।

(ख) उपपदरहित 'युज्' और 'क्रुञ्च्' धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय होता है। उपपद रहने पर इन धातुओं से 'क्विन्' नहीं होता ।

(ग) 'क्रुञ्च्' धातु से 'क्विन्' विधान होने पर नलोपाभाव का निपातन* होता है अर्थात् '३३४–अनिदिताम्–०' से प्राप्त नकार-लोप नहीं होता ।

उदाहरण के लिये 'ऋत्विज्' से 'क्विन्' प्रत्यय होने पर 'क्विन्' के नकार की '१–हलन्त्यम्' से तथा ककार की '१३६–लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा हो जाती है। इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाता है। इकार तो केवल उच्चारणार्थक है, अतः 'क्विन्' का केवल वकार ही शेष रह जाता है और इस प्रकार रूप बनता है—'ऋत्विज् + व्' ।

३०२. कृदतिङ्† । ३ । १ । ९३

अत्र धात्वधिकारे तिङ्-भिन्नः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात् ।

३०२. कृदिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(अतिङ्) तिङ् से भिन्न (कृत्) 'कृत्' संज्ञक होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तत्रोपपदम्–०' ३.१.९२ से 'तत्र' की अनुवृत्ति करनी होगी । यह 'तत्र' शब्द अपने पूर्ववर्ती अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की ओर

---

* 'निपातन' उस कार्य को कहते हैं जो बिना लक्षण (सूत्र या नियम) के ही होता है—'लक्षणं विनैव निपतति प्रवर्तते लक्ष्येषु इति निपातनम् ।'

ध्यान रहे कि पाणिनि मुनि ने शब्दों की सिद्धि के लिए सूत्रों का निर्माण किया है, किन्तु बहुत से ऐसे शब्द हैं जो इन सूत्रों से सिद्ध नहीं होते । ऐसे शब्दों की सिद्धि के लिए आवश्यक कार्य बिना सूत्रों की सहायता से ही कर लिया जाता है । इसी को 'निपातन' कहते हैं । कहा भी है—'यदि ह लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम्' (काशिका, ५.१.५९) । उदाहरण के लिए 'क्रुञ्च्' धातु में नकार-लोप का निषेध करनेवाला कोई नियम या सूत्र नहीं है, लेकिन फिर भी वह किया जाता है । अतः यह नकार-लोप का निषेध 'निपातन' कहलावेगा ।

पाणिनि मुनि ने निपातित शब्दों को अपने सूत्रों में अधिकतर सिद्ध रूप में ही दे दिया है ।

† इसका पदच्छेद है—'कृत् + अतिङ्' ।

संकेत करता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'धातोः' ३.१.९१ के अधिकार में पठित * तिङ्-भिन्न प्रत्यय 'कृत्' संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए 'ऋत्विज+व् (क्विन्)' में 'क्विन्' प्रत्यय 'धातोः' के अधिकार में आया है और वह तिङ्-भिन्न भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इसकी 'कृत्' संज्ञा हो जाती है। कृत् संज्ञा करने का फल '११७-कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा हो 'सु' आदि प्रत्ययों का होना है। यहाँ ध्यान रहे कि 'धातोः' ३.१.९१ के अधिकार में पठित होने पर भी तिङ् प्रत्यय कृत्संज्ञक नहीं होते, क्योंकि ऐसा होने पर 'भवति' 'पठति' आदि के भी 'भवतिः' 'पठतिः' आदि रूप बनने लगते जो कि इष्ट नहीं है। अतः तिङ् प्रत्ययों को छोड़कर ही धात्वधिकार में प्रत्ययों की कृत् संज्ञा होती है।

३०३. वेरपृक्तस्य[६] । ६ । १ । ६७

अपृक्तस्य वस्य लोपः ।

३०३. वेरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(अपृक्तस्य) अपृक्त (वेः) वकार का···। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोपो व्योर्वलि' ६.१.६६ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। एक वर्णवाले प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा† होती है—'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः'। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'ऋत्विज्+व्' में 'क्विन्' प्रत्यय का अवशिष्ट वकार इत्संज्ञक है, अतः प्रकृतसूत्र से उसका लोप होकर 'ऋत्विज्' रूप बनता है।

३०४. क्विन्प्रत्ययस्य[६] कुः । ८ । २ । ६२

क्विन् प्रत्ययो यस्मात्, तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। अस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' इति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

३०४. क्विन्निति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्विन्प्रत्ययस्य) 'क्विन्' प्रत्यय जिससे किया गया हो, उसके स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो। किन्तु वह आदेश किस अवस्था में होगा—इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके लिए सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पदान्त में 'क्विन्' प्रत्यय जिससे किया गया हो, उसके स्थान पर कवर्ग हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा

---

* 'तिप्', 'तस्' आदि अठारह प्रत्ययों को 'तिङ्' कहते हैं। विशेष विवरण के लिए देखिये ३७५ वें सूत्र की व्याख्या।

† विस्तृत विवेचना के लिए १७८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

द्वारा अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही कवर्ग आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'ऋत्विज्' शब्द पदान्त में है और साथ ही साथ क्विन्नन्त भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा अन्त्य जकार के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के कारण कवर्ग–गकार प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त '३०६–चोः कुः' सूत्र द्वारा भी जकार को कवर्ग–गकार प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र त्रिपादी में होने के कारण 'चोः कुः' ८.२.३० की दृष्टि में असिद्ध है।* अतः 'चोः कुः' द्वारा जकार के स्थान पर गकार होकर 'ऋत्विग्' रूप बनता है। '१४६–वाऽवसाने' से चर्–ककार करके वैकल्पिक रूप 'ऋत्विक्' भी बनता है।

३०५. युजेरसमासे । ७ । १ । ७१

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यात् असमासे। संयोगान्तलोपः। कुत्वेन नस्य ङः–युङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ–युञ्जौ। युञ्जा। युग्भ्याम्।

३०५. युजेरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(असमासे) असमास में (युजेः) युज् धातु के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इदितो नुम्धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' तथा 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' ७.१.७० से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समास को छोड़ कर अन्य स्थलों पर यदि सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) परे हो तो 'युज्' धातु का अवयव 'नुम्' हो जाता है। 'नुम्' में मकार इत्संज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से 'नुम्' 'युज्' के अन्त्य अच् के बाद आवेगा और उसीका अवयव बनेगा। उदाहरण के लिए 'युज्+स् (सु)' में सर्वनामस्थान परे होने पर युज् को नुम् होकर 'युन्ज्+स्' रूप बनेगा। फिर अपृक्त सकार का लोप तथा संयोगान्त जकार का लोप कर नकार को ङकार करने से 'युङ्' रूप सिद्ध होता है।†

३०६. चोः कुः । ८ । २ । ३०

चवर्गस्य कवर्गः स्याज् झलि पदान्ते च। सुयुक्, सुयुग्। सुयुजौ। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खन्भ्याम्।

३०६. चोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चोः) चवर्ग के स्थान पर (कुः) कवर्ग हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६ यह यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पद के अन्त में या झल्

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' (३१) सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'युङ्' की रूप-सिद्धि देखिये।

(सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह्,) परे होने पर चवर्ग के स्थान पर कवर्ग आदेश होता है। यहां स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३—यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से चकार के स्थान पर ककार, छकार के स्थान पर खकार, जकार के स्थान पर गकार, झकार के स्थान पर घकार और ञकार के स्थान पर ङकार होगा। उदाहरण के लिए 'सुयुज्' में पदान्त होने के कारण जकार को गकार होकर 'सुयुग्' रूप बनता है। इस अवस्था में '१४६—वाऽवसाने' से विकल्पतः चर्—ककार करने पर 'सुयुक्' रूप सिद्ध होता है।

३०७. व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राज-च्छशां षः। ८। २। ३६

झलि पदान्ते च। जश्त्व-चर्त्वे—राट्, राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्। एवम्—विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट्।

(वा०) परौ व्रजे षः पदान्ते।

परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्यात् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्। परिव्राजौ।

३०७. व्रश्चेति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(व्रश्च—छशाम्) व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज् और भ्राज् तथा छकार और शकार के स्थान पर (षः) षकार आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिये भी पूर्वसूत्र की भांति 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि', 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' तथा सम्पूर्ण अधिकार सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् परे होने पर या पदान्त में व्रश्च् (काटना), भ्रस्ज् (भूनना), सृज् (पैदा करना), मृज् (शुद्ध करना), यज् (यज्ञ करना), राज् और भ्राज् (दीप्तिमान होना) तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों के स्थान पर षकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही यह आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'राज्' में पदान्त होने के कारण अन्त्य वर्ण जकार को षकार होकर 'राष्' रूप बनेगा। फिर '६७—झलां जशोऽन्ते' से षकार को डकार तथा '१४६-वाऽवसाने' से वैकल्पिक टकार करने पर राट् और राड्—ये दो रूप सिद्ध होते हैं।*

(वा०) परौ इति—यह शाकटायन मुनिप्रणीत उणादि सूत्र है। भावार्थ है—'परि' उपसर्ग पूर्व रहते 'व्रज्' धातु से क्विप् प्रत्यय हो और उपधा के अकार को दीर्घ तथा पदान्त में षकार अन्त्यादेश भी हो। उदाहरण के लिए 'परिव्रज्+ क्विप्' इस

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'राट्' की रूप-सिद्धि देखिये।

अवस्था में 'क्विप्' का सर्वापहार लोप और उपधा अकार को दीर्घ करने पर 'परिव्राज्' रूप बनता है। फिर पदान्त में षकार अन्तादेश होकर 'परिव्राष्' रूप बनेगा। यहां जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'परिव्राट्' और 'परिव्राड्'—ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

३०८. विश्वस्य[६] वसुराटोः[७] । ६ । ३ । १२७

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद् वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट्, विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

३०८. विश्वस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वसुराटोः) 'वसु' अथवा 'राट्' शब्द परे होने पर (विश्वस्य) 'विश्व' शब्द के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'वसु' या 'राट्' शब्द परे होने पर 'विश्व' शब्द के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह दीर्घादेश अन्त्य स्वर के स्थान पर ही होगा। यहां 'राट्' का ग्रहण पदान्त का उपलक्षण है, अतः इससे 'राट्' और 'राड्'—इन दोनों रूपों का ग्रहण होगा। उदाहरण के लिए 'विश्व + राट्' अथवा 'विश्व + राड्' में अन्त्य स्वर अकार को दीर्घ होकर 'विश्वाराट्' अथवा 'विश्वाराड्' रूप सिद्ध होते हैं।

३०९. [६]स्कोः [६]संयोगाद्योरन्ते[७] च । ८ । २ । २९

पदान्ते झलि च यः संयोगस्तदाद्योः स्कोर्लोपः। भृट्, भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि' इति शस्य जः। भृज्जौ। भृड्भ्याम्। त्यदाद्यत्वम् पररूपत्वम्।

३०९. स्कोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(च) और (अन्ते) अन्त में (संयोगाद्योः) संयोग के आदि (स्कोः) सकार और ककार के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से 'लोपः' और 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' ८.१.१६—यह यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् (सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श् ष् स् ह्) परे होने पर या पद के अन्त में जो संयोग* हो, उसके आदि सकार और ककार का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'भ्रस्ज्' में पदान्त में स्थित संयोग के आदिवाले सकार का लोप होकर 'भ्रज्' रूप बनता है।

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

फिर जकार को षकार, जश्त्व–षकार को डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व–टकार करने पर 'भृट्' और 'भृड्'–ये दो रूप सिद्ध होते हैं।*

विशेष—ध्यान रहे कि यद्यपि यह सूत्र 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ की दृष्टि में असिद्ध है तथापि वचनसामर्थ्य से उसका अपवाद है।

३१०. तदोः सः सावनन्त्ययोः । ७ । २ । १०६

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ। स्यः, त्यौ, त्ये। सः, तौ, ते। यः, यौ, ये। एषः, एतौ, एते, एतम्। अन्वादेशे–एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः।

३१०. तदोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सौ) 'सु' परे होने पर (अनन्त्ययोः) अनन्त्य (तदोः) तकार और दकार के स्थान पर (सः) सकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'त्यदादीनामः' ६.२.१०२ से 'त्यदादीनाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सु' परे होने पर त्यदादियों (तद्, यद्, एतद् आदि†) के अनन्त्य (अन्त में न रहने वाले) तकार और दकार के स्थान पर सकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'त्य+स्' में 'सु' परे होने के कारण 'त्यद्' शब्द के अनन्त्य तकार को सकार होकर 'स्य+स्' रूप बनेगा। फिर सकार को रुत्व और रेफ को विसर्ग करने पर 'स्यः' रूप सिद्ध होता है।

३११. ङे प्रथमयोरम् । ७ । १ । २८

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात्।

३११. ङे प्रथमयोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ङे) 'ङे' के तथा (प्रथमयोः) प्रथमा और द्वितीया‡ विभक्ति के स्थान पर (अम्) अम् आदेश हो। किन्तु किस अवस्था में हो—इसका पता सूत्र से नहीं चलता है। इसके लिए 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' ७.१.२७ से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे 'ङे' और प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों से परे प्रथमा एकवचन 'सु' के स्थान पर 'अम्' आदेश होकर 'युष्मद्+अम्' और 'अस्मद्+अम्' रूप बनते हैं।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'भृट्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए १९३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ इस अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए १२६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

यहां '१—हलन्त्यम्' द्वारा 'अम्' के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती क्योंकि '१३१—न विभक्तौ तुस्माः' द्वारा उसका निषेध हो जाता है।

३१२. त्वाऽहौ[१] सौ[७] । ७ । २ । ९४

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ आदेशौ स्तः।

३१२. त्वाऽहौ इति—(सौ) 'सु' परे होने पर (त्वाऽहौ) 'त्व' और 'अह' आदेश हों। पर इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सु' परे होने पर 'म्' तक 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के स्थान पर 'त्व' और 'अह' आदेश होते हैं। 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा द्वारा अनेकाल् होने के कारण ये आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे।

युष्मद् में 'युष्म्' और अस्मद् में 'अस्म्'—ये मपर्यन्त भाग हैं। अतः सु परे होने पर इन्हीं के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'अह' होंगे। उदाहरण के लिए 'युष्मद् + अम्' और 'अस्मद् + अम्' में 'सु' के स्थान पर हुए 'अम्' आदेश को 'सु' मानकर* प्रकृत सूत्र से मपर्यन्त भाग को 'त्व' और 'अह' आदेश करने पर 'त्व अद् + अम्' और 'अह अद् + अम्' रूप बनेंगे।

३१३. शेषे[७] लोपः[१] । ७ । २ । ९०

एतयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्।

३१३. शेष इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(शेषे) शेष में (लोपः) लोप होता है। 'शेष' शब्द का अर्थ है—जिसका पहले कथन हुआ हो, उसको छोड़कर अन्य—'उक्तादन्यः शेषः'। इस सूत्र के पूर्व '३२१—युष्मदस्मदोः—०' और '३२०—योऽचि' आदि सूत्रों से युष्मद् और अस्मद् को आकार और यकार अन्तादेश हुआ है। अतः 'शेष' का अभिप्राय यहां उन स्थलों से है जहां आकार और यकार का विधान न हुआ हो।† साथ ही 'युष्मदस्मदोः—०' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' की भी अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जहां आकार या यकार का विधान न हुआ हो, वहां युष्मद् और अस्मद् का लोप होता है। काशिकाकार के अनुसार यह लोप प्रथमा, चतुर्थी, पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन तथा

---

* यह कार्य '१४४—स्थानिवद्—०' सूत्र की सहायता से होता है।

† 'कश्च शेषः, यत्राकारो यकारश्च न विहितः'—काशिका।

बहुवचन में होता है।* दूसरे शब्दों में सु, जस्, ङे, भ्यस्, ङसि, ङस् और आम् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् का लोप होता है। यह लोप '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के अन्त्य दकार का ही होता है। उदाहरण के लिए 'त्व अद् + अम्' और 'अह अद् + अम्' में 'सु' (अम्) परे होने के कारण 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के दकार का लोप हो क्रमशः 'त्व अ अम्' और 'अह अ अम्' रूप बनते हैं। यहां पहले '२७४—अतो गुणे' से पररूप-एकादेश हो 'त्व अम्' और 'अह अम्' रूप बनने पर '१३५—अमि पूर्वः' से पूर्वरूप-एकादेश होकर क्रमशः 'त्वम्' और 'अहम्' रूप सिद्ध होते हैं।

विशेष—कुछ लोग इस सूत्र का अर्थ दूसरे प्रकार से करते हैं। उनके अनुसार 'शेष' का अभिप्राय 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग (जिसके स्थान पर 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ से आदेश विधान होता है) के आगे शेष 'अद्' से है।† इसी को 'टि' कहते हैं और इसी का लोप होता है। इस अवस्था में 'त्व अम्' और 'अह अम्' बनने पर पूर्वरूप-एकादेश हो 'त्वम्' और 'अहम्' रूप सिद्ध होते हैं।

३१४. युवाऽऽवौ द्विवचने । ७ । २ । ९२

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

३१४. युवावेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(द्विवचने) द्वित्व कथन में (युवावौ) 'युव' और 'आव' आदेश होते हैं। किन्तु किसके स्थान पर ये आदेश होते हैं—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ', 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' तथा सम्पूर्ण 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विभक्ति परे होने पर द्वित्वकथन में युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग—युष्म् और अस्म्—के स्थान पर क्रमशः 'युव' और 'आव' आदेश हों। अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से ये आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे। उदाहरण के लिए द्वित्वकथन की अवस्था में 'युष्मद् + अम्' और 'अस्मद् + अम्' में 'युष्म्' तथा 'अस्म्' के स्थान पर क्रमशः 'युव' और 'आव' आदेश होकर 'युव अद् + अम्' और 'आव अद् + अम्' रूप बनेंगे।

---

* देखिये काशिका—'पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च, षष्ठीप्रथमयोरपि ।
यान्यद्विवचनान्यत्र, तेषु लोपो विधीयते ॥'

† 'केचित्तु शेषे लोपं टिलोपमिच्छन्ति । एवं, [illegible]देशापेक्षः शेषः, न इति । [illegible] लोप इति टिलोपो भवति'—काशिका ।

३१५. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् । ७ । २ । ८८

औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम् । आवाम् ।

३१५. प्रथमाया इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(च) और (भाषायाम्) लौकिक संस्कृत में (प्रथमायाः) प्रथमा विभक्ति का (द्विवचने) द्विवचन परे होने पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'आ' तथा 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लौकिक संस्कृत भाषा में प्रथमा विभक्ति का द्विवचन परे होने पर युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर आकार आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश अन्त्य अल्-दकार के स्थान पर ही होता है । उदाहरण के लिए 'युव अद् + अम्' और 'आव अद् + अम्' में प्रकृत सूत्र से दकार के स्थान पर आकार आदेश करने पर 'युव अ आ + अम्' और 'आव अ आ + अम्' रूप बनेंगे । इस अवस्था में पररूप, सवर्णदीर्घ तथा पूर्वरूप करने पर 'युवाम्' और 'आवाम्' रूप सिद्ध होंगे ।*

३१६. यूयवयौ जसि । ७ । २ । ९३

अनयोर्मपर्यन्तस्य । यूयम् । वयम् ।

३१६. यूयवयाविति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जसि) जस् परे होने पर (यूयवयौ) 'यूय' और 'वय' आदेश हों । किन्तु किनके स्थान पर ये आदेश हों—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग—युष्म् और अस्म् के स्थान पर क्रमशः 'यूय' और 'वय' आदेश होते हैं । अनेकाल् होने के कारण ये आदेश 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५२ परिभाषा से सम्पूर्ण 'युष्म्' और 'अस्म्' के स्थान पर होंगे । उदाहरण के लिए 'युष्मद् + अम्' और 'अस्मद् + अम्' में अम् को जस् मान कर उसके परे होने पर मपर्यन्त को क्रमशः 'यूय' और 'वय' आदेश करने से 'यूय अद् + अम्' तथा 'वय अद् + अम्' रूप बनेंगे । इस अवस्था में '३१३–शेषे लोपः' से अन्त्यलोप पक्ष में दकार का लोप हो 'यूय अ अम्' और 'वय अ अम्' रूप बनने पर पररूप और पूर्वरूप एकादेश होकर 'यूयम्' और 'वयम्' रूप सिद्ध होते हैं । टिलोप पक्ष में केवल पूर्वरूप होता है ।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'युवाम्' और 'आवाम्' की रूप-सिद्धि देखिये ।

३१७. त्वमावेकवचने । ७ । २ । ९७

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

३१७. त्वमाविति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(एकवचने) एकत्व-कथन में (त्वमौ) 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ', 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विभक्ति परे होने पर एकत्व-कथन में युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग—युष्म् और अस्म्—के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं। अनेकाल् होने के कारण ये आदेश 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ से सम्पूर्ण 'युष्म्' और 'अस्म्' के स्थान पर होंगे। उदाहरण के लिए 'युष्मद् + अम्' और 'अस्मद् + अम्' में विभक्ति परे होने पर मपर्यन्त के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होकर 'त्व अद् + अम्' और 'म अद् + अम्' रूप बनेंगे।

३१८. द्वितीयायाँ च । ७ । २ । ८७

अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् ।

३१८. द्वितीयायामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (द्वितीयायाम्) द्वितीया विभक्ति परे होने पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'आ' तथा 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर आकार आदेश हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश अन्त्य दकार के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'त्व अद् + अम्' और 'म अद् + अम्' में प्रकृत सूत्र से दकार के स्थान पर आकार होकर 'त्व अ आ + अम्' तथा 'म अ आ + अम्' रूप बनेंगे। इस अवस्था में पररूप, सवर्णदीर्घ तथा फिर पूर्वरूप करने पर 'त्वाम्' और 'माम्' रूप सिद्ध होंगे।*

३१९. शसो नः । ७ । १ । २९

आभ्यां शसो न स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान् । अस्मान् ।

३१९. शस इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(शसः) शस् के

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'त्वाम्' तथा 'माम्' की रूप-सिद्धि देखिये।

स्थान पर (न) नकार आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' ७. १. २७ से 'युष्मदस्मद्भ्यां' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—युष्मद् और अस्मद् शब्द से परे शस् के स्थान पर नकार आदेश हो। यह नकारादेश 'अलोऽन्त्यस्य' १. १. ५२ परिभाषा से शस् के अन्त्य वर्ण–सकार के स्थान पर प्राप्त था, किन्तु '७२–आदेः परस्य' सूत्र से उसका बाध होकर 'शस्' (अस्) के आदि अकार के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'युष्मद्+अस् (शस्)' और 'अस्मद्+अस् (शस्)' में प्रकृतसूत्र से शस् के आदि अकार को नकार होकर 'युष्मद्+न् स्' तथा 'अस्मद्+न् स्' रूप बनेंगे। इस दशा में दकार को आकारादेश तथा सवर्णदीर्घ होकर 'युष्मान् स्' और 'अस्मान् स्' रूप बनते हैं। अन्त में संयोगान्त सकार का लोप कर देने से 'युष्मान्' और 'अस्मान्' रूप सिद्ध हो जावेंगे।*

विशेष—यह सूत्र '३११–ङे प्रथमयोरम्' से प्राप्त 'अम्' आदेश का अपवाद है।

३२०. योऽचि। ७। २। ८९

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया।

३२०. योऽचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अच् या कोई स्वर परे होने पर (यः) यकार आदेश हो। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर हो यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके लिए सम्पूर्ण 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ सूत्र तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' 'विभक्तौ' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनादेश (जिसको कुछ आदेश न हुआ हो) अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर हो) विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर यकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह यकारादेश अन्त्य दकार के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों के तृतीया एकवचन में 'युष्मद्+आ' तथा 'अस्मद्+आ' इस अवस्था में मपर्यन्त भाग को 'त्व' और 'म' आदेश होकर 'त्व अद्+आ' और 'म अद्+आ' रूप बनते हैं। इस दशा में अनादेश अजादि विभक्ति परे होने पर प्रकृतसूत्र से दकार को यकार होकर 'त्व अय्+आ' तथा 'म अय्+आ' रूप बनेंगे। अन्त में पररूप होकर 'त्वया' और 'मया' रूप सिद्ध होते हैं।

ध्यान रहे कि जहाँ कोई आदेश होकर विभक्ति अजादि होगी वहाँ यह सूत्र प्रवृत्त

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'युष्मान्' और 'अस्मान्' की रूप-सिद्धि देखिये।

नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'युष्मत्' 'अस्मत्' आदि रूपों में यकारादेश नहीं होता, क्योंकि यहां पञ्चमी के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर '३२५—पञ्चम्या अत्' द्वारा 'अत्' आदेश होने पर अजादि विभक्ति प्राप्त होती है।

३२१. युष्मदस्मदोरनादेशे[6] [7] । ७ । २ । ८६

अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् ।

३२१. युष्मदस्मदोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(अनादेशे) आदेश न होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'आ' तथा 'विभक्तौ' और 'रायो हलि' से 'हलि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हलि' 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः उससे तदादि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनादेश (जिसको कुछ आदेश न हुआ हो) हलादि (जिसके आदि में कोई व्यञ्जन हो) विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर आकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आकारादेश अन्त्य दकार के स्थान पर ही होता है। उदाहरण के लिए 'युव अद् + भ्याम्' तथा 'आव अद् + भ्याम्' में अनादेश हलादि विभक्ति परे होने पर दकार को आकार होकर 'युव अ आ + भ्याम्' तथा 'आव अ आ + भ्याम्' रूप बनेंगे। फिर पररूप तथा सवर्णदीर्घ करने से 'युवाभ्याम्' और 'आवाभ्याम्' रूप सिद्ध होंगे।

३२२. तुभ्यमह्यौ[1] ङयि[7] । ७ । २ । ९५

अनयोर्मपर्यन्तस्य । टिलोपः । तुभ्यम् । मह्यम् ।

३२२. तुभ्यमह्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ङयि) 'ङे' परे होने पर (तुभ्यमह्यौ) 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश हों। परन्तु ये आदेश किनके स्थान पर हों—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ङे' परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग—युष्म् और अस्म्—के स्थान पर क्रमशः 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश होते है। अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा द्वारा ये आदेश सम्पूर्ण 'युष्म्' और 'अस्म्' के स्थान पर होंगे। उदाहरण के लिए 'युष्मद् + अम्' और 'अस्मद् + अम्' में स्थानिवद्भाव से 'अम्' को 'ङे' मानकर प्रकृतसूत्र से 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश होकर 'तुभ्य अद् + अम्' तथा 'मह्य अद् + अम्' रूप बनेंगे। इस अवस्था में '३१३—शेषे लोपः' से 'अद्' का लोप तथा फिर

पूर्वरूप करने से 'तुभ्यम्' और 'मह्यम्' रूप सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोप पक्ष में पहले पररूप और फिर पूर्वरूप होता है।

३२३. भ्यसोऽभ्यम्[१] । ७ । १ । ३०

आभ्यां परस्य । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

३२३. भ्यस इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(भ्यसः) 'भ्यस्' के स्थान पर (अभ्यम्) 'अभ्यम्' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'युष्मद-स्मद्भ्यां ङसोऽश्' ७.१.२७ से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे 'भ्यस्' के स्थान पर 'अभ्यम्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'युष्मद्+भ्यस्' और 'अस्मद्+भ्यस्' में प्रकृतसूत्र से 'भ्यस्' के स्थान पर 'अभ्यम्' आदेश होकर 'अस्मद्+अभ्यम्' तथा 'युष्मद् + अभ्यम्' रूप बनेंगे। इस स्थिति में '३१३–शेषे लोपः' से 'अद्' का लोप होकर 'युष्मभ्यम्' और 'अस्मभ्यम्' रूप सिद्ध होंगे। अन्त्यलोप-पक्ष में पहले पररूप और फिर पूर्वरूप एकादेश होता है।

३२४. एकवचनस्य[६] च । ७ । १ । ३२

आभ्यां ङसेरत् । त्वत् । मत् ।

३२४. एकवचनस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (एकवचनस्य) एकवचन के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके लिए 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' ७.१.२७ से 'युष्मदस्मद्भ्यां' तथा सम्पूर्ण 'पञ्चम्या अत्' ७.१.३१ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी के एकवचन (ङसि) के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'युष्मद् + ङसि' तथा 'अस्मद्+ङसि' में प्रकृतसूत्र से 'ङसि' के स्थान पर 'अत्' आदेश होकर 'युष्मद् + अत्' तथा 'अस्मद्+अत्' रूप बनेंगे। इस अवस्था में मपर्यन्त भाग को '३१७–त्वमावेकवचने' से क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होकर 'त्व अद्+अत्' तथा 'म अद् + अत्' रूप बनते हैं। फिर 'अद्' का लोप तथा पररूप एकादेश करने पर 'त्वत्' और 'मत्' रूप सिद्ध होते हैं।*

३२५. पञ्चम्या[६] अत् । ७ । १ । ३१

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात् । युष्मत् । अस्मत् ।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'त्वत्' और 'मत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

३२५. पञ्चम्या इति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(पञ्चम्याः) पञ्चमी के स्थान पर (अत्) 'अत्' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' ७.१.२७ से 'युष्मदस्मद्भ्यां' तथा 'भ्यसोऽभ्यम्' ७.१.३० से 'भ्यसः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी के 'भ्यस्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण 'भ्यस्' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'युष्मद् + भ्यस्' तथा 'अस्मद् + भ्यस्' में प्रकृतसूत्र से पञ्चमी के भ्यस् को 'अत्' होकर 'युष्मद् + अत्' तथा 'अस्मद् + अत्' रूप बनेंगे। इस अवस्था में '३१३–शेषे लोपः' से 'अद्' का लोप करने पर 'युष्मत्' तथा 'अस्मत्' रूप सिद्ध होते हैं।

३२६. तवममौ ङसि। ७। २। ९६

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि।

३२६. तवममाविति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ङसि) 'ङस्' परे होने पर (तवममौ) 'तव' और 'मम' आदेश हों। किन्तु ये आदेश किन स्थानों पर हों—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ङस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग–युष्म् और अस्म् के स्थान पर क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं। अनेकाल् होने के कारण ये आदेश सम्पूर्ण 'युष्म्' और 'अस्म्' के स्थान पर होंगे। उदाहरण के लिए 'युष्मद् + ङस्' और 'अस्मद् + ङस्' में मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'तव' और 'मम' होकर 'तव अद् + ङस्' तथा 'मम अद् + ङस्' रूप बनेंगे।

३२७. युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्। ७। १। २७

तव। मम। युवयोः। आवयोः।

३२७. युष्मदिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(युष्मदस्मद्भ्यां) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङसः) ङस् के स्थान पर (अश्) अश् आदेश होता है। 'अश्' में शकार इत्संज्ञक है, अतः शित् होने के कारण यह आदेश 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'ङस्' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'तव अद् + ङस्' और 'मम अद् + ङस्' में प्रकृतसूत्र से 'ङस्' के स्थान पर 'अश्' होकर 'तव अद् + अ (अश्)' तथा 'मम अद् + अ (अश्)' रूप बनेंगे। इस अवस्था में 'अद्' का लोप तथा पररूप एकादेश होकर 'तव' और 'मम' रूप सिद्ध होते हैं।

३२८. साम[६] आकम् । ७ । १ । ३३

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।

३२८. साम इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है—(सामः) 'साम्' के स्थान पर (आकम्) आकम् आदेश होता है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'युष्मदस्मद्भ्या ङसोऽश्' ७.१.२७ से 'युष्मदस्मद्भ्यां' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे साम् के स्थान पर आकम् आदेश होता है । 'साम्' यहां 'आम्' के लिए ही कहा गया है । आम् को सुट् का आगम होने से 'साम्' बनता है । प्रस्तुतसूत्र में इसी सुट् सहित् आम् के स्थान पर आकम् का आदेश किया गया है ।

किन्तु यहां एक शंका उठती है । 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द हलन्त हैं, अतः अदन्त न होने से इनसे परे 'आम्' को '१५५–आमि सर्वनाम्नः सुट्' से सुट् न हो सकने के कारण जब साम नहीं होता हो फिर उसके स्थान पर 'आकम्' आदेश करना व्यर्थ है । इस शंका का निवारण यह है कि यदि 'आम्' के ही स्थान पर 'आकम्' आदेश किया जाता तो '३१३–शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्यलोप पक्ष* में दकार का लोप होने पर जब ये शब्द अकारान्त बन जाते तो सुट् का आगम प्राप्त होने लगता । इसी भावी 'सुट्' की निवृत्ति के लिए सुट् सहित 'आम्' को 'आकम्' विधान किया गया है । इससे 'आकम्' आदेश करने पर अन्त्यलोप पक्ष में अवर्णान्त हो जाने पर भी सुट् का आगम नहीं होता । इस प्रकार यह सूत्र दो कार्य करता है—एक तो 'आम्' के स्थान पर 'आकम्' आदेश करता है, दूसरे यह दकार लोप हो जाने पर प्राप्त सुडागम का निषेध करता है । उदाहरण के लिए 'युष्मद् + आम्' तथा 'अस्मद् + आम्' में प्रकृत सूत्र से आम् के स्थान पर 'आकम्' करने से 'युष्मद् + आकम्' और

---

* 'शेषे लोपः' सूत्र के अर्थ के विषय में दो पक्ष हैं । एक पक्ष के अनुसार 'अन्त्य' का लोप होता है । इसे ही 'अन्त्यलोप पक्ष' कहते हैं । उनका कथन है—'आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ एतयोरन्त्यस्य लोपः ।' दूसरा पक्ष 'टिलोपपक्ष' कहलाता है । इसके अनुसार मपर्यन्तभाग से अवशिष्ट भाग अर्थात् टि 'अद्' का लोप होता है—'शेषे इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी तथा च मपर्यन्ताच्छेषस्य लोपः ।' अन्त्यलोप पक्ष में ही अकारान्त बन जाने से सुट् की प्राप्ति होती है । उसी भावी 'सुट्' के निवारण के लिए 'साम्' कहा गया है । टिलोप पक्ष में ये हलन्त ही रहते हैं अतः वहाँ सुट् सहित निर्देश की आवश्यकता नहीं ।

'अस्मद्+आकम्' रूप बनते हैं। फिर अन्त्यलोप पक्ष में '३१३—शेषे लोपः' से दकार का लोप होकर सवर्णदीर्घ करने से 'युष्माकम्' और 'अस्माकम्' रूप सिद्ध होते हैं। टिलोप-पक्ष में भी 'अद्' का लोप करने पर 'युष्माकम्' और 'अस्माकम्' रूप बनते हैं।

३२९. युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ । ८।१।२०

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ इत्यादेशौ स्तः।

३२९. युष्मदस्मदोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोः) षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति में स्थित (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (वान्नावौ) 'वाम्' तथा 'नौ' आदेश होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'पदात्' ८.१.१७ तथा 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' ८.१.१८ से 'अपादादौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पद से परे षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति में वर्तमान युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर 'वाम्' और 'नौ' आदेश होते हैं, किन्तु पाद (श्लोक या ऋचा के चरण) के आदि में ये आदेश नहीं होते। '२३—यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से 'युष्मद्' के स्थान पर 'वाम्' और 'अस्मद्' के स्थान पर 'नौ' आदेश होते हैं। अनेकाल् होने के कारण ये आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे। यह सूत्र यद्यपि तीनों विभक्तियों के सभी वचनों में सामान्य रूप से आदेश विधान करता है, किन्तु अग्रिम तीन सूत्रों से बाध होने के कारण ये आदेश केवल द्विवचन में ही होते हैं। इनके उदाहरण ये हैं—

द्वितीया विभक्ति—श्यामः वां (युवाम्) पश्यति। श्यामः नौ (आवाम्) पश्यति। चतुर्थी विभक्ति—नृपो वां (युवाभ्याम्) यच्छति। नृपो नौ (आवाभ्याम्) यच्छति। षष्ठी विभक्ति—इदं गृहं वां (युवयोः) अस्ति। इदं गृहं नौ (आवयोः) अस्ति।

इस सूत्र के प्रवृत्त होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

१. युष्मद् और अस्मद् पद से परे होना चाहिये। ऐसा न होने के कारण 'युवाभ्यां भ्राता ददाति' में 'युवाभ्याम्' के स्थान पर 'वाम्' आदेश नहीं हुआ।

२. युष्मद् और अस्मद् को श्लोक के पाद (चरण) के आदि में न होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'दयालो देवविख्यात ! आवयोर्हरसि व्यथाम्' में पाद के आदि में होने के कारण 'आवयोः' के स्थान पर 'नौ' नहीं हुआ।

३३०. बहुवचनस्य[५] वस्नसौ[७] । ८ । १ । २१

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः ।

३३०. बहुवचनस्येति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(बहुवचनस्य) बहुवचन के स्थान पर (वस्नसौ) वस् और नस् आदेश हों । इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'पदात्' ८.१.१७, 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' ८.१.१८ से 'अपादादौ' तथा 'युष्मदस्मदोः–०' ८.१.२० से 'युष्मदस्मदोः' और 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीया-स्थयोः' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'बहुवचनस्य' 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—पद से परे षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति में वर्तमान बहुवचनान्त युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः वस् और नस् आदेश होते हैं, परन्तु पाद के आदि में ये आदेश नहीं होते । अनेकाल् होने से ये आदेश सम्पूर्ण युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर होंगे । 'युष्मद्' के स्थान पर 'वस्' और 'अस्मद्' के स्थान पर 'नस्' आदेश होंगे । अन्त्य सकार का रुत्व-विसर्ग होकर 'वः' और 'नः' रूप बनते हैं । इनके उदाहरण ये हैं—

षष्ठी—पुस्तकानि वः (युष्माकम्) सन्ति । फलानि नः (अस्माकम्) सन्ति ।
चतुर्थी—पुस्तकानि वो (युष्मभ्यम्) दीयन्ते । फलानि नो (अस्मभ्यम्) दीयन्ते ।
द्वितीया—देवाः वः (युष्मान्) पश्यन्ति । देवाः नः (अस्मान्) पश्यन्ति ।

इस सूत्र के लिए भी दो बातें आवश्यक हैं—

१. युष्मद् और अस्मद् पद से परे होना चाहिये । ऐसा न होने के कारण 'युष्माकं गृहमस्ति' और 'अस्माकं गृहमस्ति' आदि में 'युष्माकं' और 'अस्माकं' के स्थान पर 'वः' और 'नः' आदेश नहीं होते हैं ।

२. युष्मद् और अस्मद् को श्लोक के पाद (चरण) के आदि में न होना चाहिये । उदाहरण के लिए 'न शृणोति हितं पापी, युष्माकं वित्तहारकः' में पाद के आदि में होने के कारण 'युष्माकम्' के स्थान पर 'वः' आदेश नहीं होगा ।

विशेष—यह सूत्र पूर्वसूत्र (३२९) का अपवाद है ।

३३१. तेमयावेकवचनस्य[६]* । ८ । १ । २२

उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः ।

३३१. तेमे इति—यह सूत्र भी '३२९–युष्मदस्मदोः षष्ठी–०' सूत्र का अपवाद है । शब्दार्थ है—(एकवचनस्य) एकवचन के स्थान पर (तेमयौ) 'ते' और 'मे' आदेश होते हैं । इसके स्पष्टीकरण के लिए भी पूर्वसूत्र की भांति अधिकारसूत्र 'पदात्'

* इसका पदच्छेद है—'तेमयौ + एकवचनस्य' ।

८.१.१७, 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' ८.१.१८ से 'अपादादौ' तथा '३२९–युष्मदस्मदोः षष्ठी–०' ८.१.२० से 'युष्मदस्मदोः' और 'षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एकवचनस्य' 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—पद से परे षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति में स्थित एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'ते' और 'मे' आदेश होते हैं, परन्तु पद के आदि में ये आदेश नहीं होते हैं। इस सूत्र का अग्रिम सूत्र अपवाद है। अतः यह सूत्र षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचनान्तों में ही प्रवृत्त होता है। अनेकाल् होने के कारण यहां भी सर्वादेश प्राप्त है। इनके उदाहरण ये हैं—

षष्ठी—ईश ! अहं ते (तव) दासोऽस्मि। त्वं मे (मम) दासोऽसि।

चतुर्थी—नमस्ते (तुभ्यम्)। फलं मे (मह्यम्) प्रयच्छतु।

इस सूत्र के प्रवृत्त होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

१. युष्मद् और अस्मद् पद से परे होना चाहिये। ऐसा न होने के कारण 'ममास्ति किं प्रयोजनम्' में 'मम' के स्थान पर 'मे' नहीं हुआ।

२. युष्मद् और अस्मद् को श्लोक के पाद (चरण) के प्रारम्भ में नहीं होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'पुरा पश्यन्नरो मूर्खः, तव कार्यं करिष्यति' में 'तव' के स्थान पर 'ते' नहीं होगा, क्योंकि यह पाद के आदि में है।

३३२. त्वामौ[१] द्वितीयायाः[६] । ८ । १ । २३

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः।

श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह, दत्तात् ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः ॥ १ ॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नो हरिः।
सोऽव्याद् वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः ॥ २ ॥*

---

* श्लोकों का हिन्दी अर्थ—लक्ष्मीपति विष्णु तुझे तथा मुझे बचावे। वह तेरे लिए तथा मेरे लिए कल्याण को दे। वह तेरा तथा मेरा स्वामी है। व्यापक हरि तुम दोनों की तथा हम दोनों की रक्षा करे ॥ १ ॥ भगवान् तुम दोनों के लिए तथा हम दोनों के लिए सुख देवे। श्रीविष्णु तुम दोनों का तथा हम दोनों का स्वामी है। वह तुम सब की तथा हम सब की रक्षा करे। वह तुम सब के लिए तथा हम सब के लिए कल्याण देवे। वह तुम सबका तथा हम सबका सेवनीय है ॥ २ ॥

नोट—यहां पहले द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी के एकवचन का, पीछे द्विवचन का, तदनन्तर बहुवचन का उदाहरण दिया गया है। श्लोकों में आदेश रेखांकित हैं।

(वा०) एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः ।

एकतिङ् वाक्यम् । तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं दास्यामि ।

(वा०) एते वांनावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः ।

अन्वादेशे तु नित्यं स्युः । (अनन्वादेशे) धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा । (अन्वादेशे) तस्मै ते नमः ।

सुपात्, सुपाद् । सुपादौ ।

३३२. त्वामौ इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(द्वितीयायाः) द्वितीया विभक्ति के स्थान पर (त्वामौ) 'त्वा' और 'मा' आदेश होते हैं । इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण अधिकार सूत्र 'पदात्' ८.१.१७, 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' ८.१.१८ से 'अपादादौ', '३२९–युष्मदस्मदोः षष्ठी–०' ८.१.२० से 'युष्मदस्मदोः' तथा 'तेमयावेकवचनस्य' ८.१.२२ से 'एकवचनस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'एकवचनस्य' 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः उससे तदन्त विधि का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पद से परे द्वितीया के एकवचनान्त युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'त्वा' और 'मा' आदेश होते हैं, किन्तु पाद के आदि में ये आदेश नहीं होते । अनेकाल् होने के कारण ये आदेश सम्पूर्ण 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के स्थान पर होंगे । उदाहरण के लिए 'लोकस्त्वा (त्वाम्) पश्यति' तथा 'लोको मा (माम्) पश्यति' में पद से परे होने के कारण 'त्वाम्' के स्थान पर 'त्वा' और 'माम्' के स्थान पर 'मा' आदेश हुए हैं । पद से परे न होने पर यह कार्य नहीं होगा । उदाहरण के लिए 'त्वां लोकाः पश्यन्ति' आदि में पद के आदि में होने के कारण 'त्वाम्' के स्थान पर 'त्वा' आदि नहीं होंगे । इसी प्रकार श्लोक के चरण के प्रारम्भ में होने पर भी सूत्रोक्त कार्य नहीं होगा । उदाहरण के लिए 'स जगद्रक्षको देवो, मां सदा पालयिष्यति' में चरण के प्रारम्भ में होने के कारण 'माम्' के स्थान पर 'मा' आदेश नहीं हुआ ।

विशेष—यह सूत्र 'तेमयावेकवचनस्य' (३३१) सूत्र का अपवाद है ।

(वा०) एकवाक्ये इति—युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले आदेश (वाम्, नौ आदि) एक वाक्य में ही होते हैं । जिसमें एक तिङन्त पद रहता है, उसे वाक्य कहते हैं । 'तिङन्त पद' अंग्रेजी व्याकरण के 'Principal verb' का पर्यायवाची है । इस प्रकार हम सीधे शब्दों में वाक्य की परिभाषा कर सकते हैं—एक मुख्य क्रिया वाले शब्दसमूह को वाक्य कहते हैं । उदाहरण के लिए 'ओदनं पच, तव भविष्यति' में दो वाक्य होने के कारण प्रस्तुत वार्तिक से 'तव' के स्थान पर 'ते'

नहीं हुआ। एक वाक्य का उदाहरण 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' है, अतः यहां 'तुभ्यम्' के स्थान पर 'ते' आदेश हो जाता है।

(वा०) एते इति—अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश विकल्प से होते हैं। किसी कार्य को विधान करने के लिए ग्रहण किए हुए का पुनः दूसरे कार्य को विधान करने के लिये ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहलाता है।* उदाहरण के लिए 'धाता ते भक्तोऽस्ति' में अन्वादेश नहीं है, क्योंकि इसकी चर्चा पहले पहल की जा रही है। अतः प्रस्तुत वार्तिक से वैकल्पिक 'ते' आदेश होने के कारण दूसरे पक्ष में 'धाता तव भक्तोऽस्ति' वाक्य भी बनेगा। किन्तु अन्वादेश होने पर ये आदेश नित्य होते हैं। उदाहरण के लिए 'तस्मै ते नमः' में अन्वादेश होने के कारण 'तुभ्यम्' के स्थान पर नित्य 'ते' आदेश होता है।

३३३. पादः पत् । ६ । ४ । १३०

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् ।

अग्निमत्, अग्निमथ् । अग्निमथौ । अग्निमथः ।

३३३. पाद इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पादः) 'पाद्' शब्द के स्थान पर पत् आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ और 'भस्य' ६.४.१२९—इन दो अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'पादः' 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः उससे तदन्तविधि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'पाद्' अन्तवाले भसंज्ञक† अङ्ग के स्थान पर 'पत्' आदेश होता है। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'‡ परिभाषा के अनुसार 'पाद्' के स्थान पर ही 'पत्' आदेश होगा। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश सम्पूर्ण 'पाद्' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'सुपाद्+अस् (शस्)' में 'सुपाद्' की भसंज्ञा होने के कारण प्रकृतसूत्र से 'पाद्' के स्थान पर 'पत्' होने पर त् को द् होकर 'सुपद्+अस्' रूप बनेगा। सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'सुपदः' रूप सिद्ध होता है।

३३४. अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति । ६ । ४ । २४

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति । नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः—प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः ।

---

* 'अन्वादेश' की विस्तृत विवेचना के लिए २८० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† यहां भसंज्ञा का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। देखिये १६५ वें सूत्र की व्याख्या।

‡ इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए २६२ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

३३४. अनिदितामिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (अनिदितां) जिनके इकार की इत्संज्ञा नहीं होती ऐसे (हलः) हल् की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर। इसके पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ तथा 'श्नान्नलोपः' ६.४.२३ से 'न' और 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'हलः' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उससे तदन्त-विधि का ग्रहण होता है। अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि कित् या ङित् प्रत्यय परे हों, तो अनिदित् (जिसके ह्रस्व इकार की इत् संज्ञा न हुई हो) हलन्त (जिसके अन्त में कोई व्यञ्जन हो) अंगों की उपधा के नकार का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए क्विन् प्रत्यय कित् है, अतः उसके परे होने पर हलन्त अङ्ग 'प्र अ न् च्' के उपधा नकार का लोप होकर 'प्र अ च्' रूप बनता है।†

३३५. अचः[६] । ६ । ४ । १३८

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात्।

३३५. अच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचः) लुप्तनकार वाली 'अञ्चु' धातु के। पर क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए अधिकार-सूत्र 'भस्य' ६.४.१२९ तथा 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'अत्' और 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सर्वनामस्थानभिन्न अजादि विभक्ति परे होने पर भसंज्ञा‡ होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुप्त नकार वाली भसंज्ञक 'अञ्चु' धातु के ह्रस्व अकार का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'प्र अच् + अस् (शस्)' में 'अञ्चु' के नकार का लोप हुआ है और सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय परे होने पर उसकी भसंज्ञा भी है। अतः प्रकृत सूत्र से इसके अकार का लोप होकर 'प्र च् + अस्' रूप बनेगा।

३३६. चौ[७] । ६ । ३ । १३८

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्। प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ। प्रतीचः। प्रत्यग्भ्याम्।

उदङ्, उदञ्चौ।

३३६. चौ इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है—(चौ) लुप्त अकार-नकार वाली

---

* विशेष विवेचना के लिए १७६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† इसके आगे की प्रक्रिया के लिए 'प्राङ्' की रूप-सिद्धि देखिये।

‡ विशेष विवरण के लिए १६५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

'अञ्चु' धातु के परे होने पर। पर क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'ढ्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'पूर्वस्य', 'दीर्घः' तथा 'अणः' की अनुवृत्ति करनी होगी। अण् प्रत्याहार में अ, इ तथा उ का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुप्त नकार-अकार वाली 'अञ्चु' धातु के परे होने पर पूर्व अण् (अ, इ, उ) के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'प्र च+अस्' में लुप्तनकाराकार वाली 'अञ्चु' धातु–'च्' परे होने के कारण पूर्व अण् 'प्र' के अकार को दीर्घ आकार होकर 'प्राच्+अस्' रूप बनता है। यहां पर सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'प्राचः' रूप सिद्ध होता है।

३३७. उद ईत् । ६ । ४ । १३९

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकाराञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्।

३३७. उद इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उदः) 'उत्' शब्द से परे (ईत्) ईकार आदेश हो। पर यह आदेश किसके स्थान पर हो—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके लिए सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'भस्य' ६.४.१२९, 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'अत्' तथा सम्पूर्ण सूत्र 'अचः' ६.४.१३८ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उद् से परे लुप्त नकारवाली 'अञ्चु' धातु के भसंज्ञक अङ्ग के अकार के स्थान पर ईकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'उद् अच्+अस्' में भसंज्ञक अङ्ग 'अच्' के अकार के स्थान पर ईकार होकर 'उद् ईच्+अस्' रूप बनता है। इस स्थिति में सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'उदीचः' रूप सिद्ध होता है।

३३८. समः समि । ६ । ३ । ९३

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्।

३३८. सम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(समः) सम् के स्थान पर (समि) 'समि' आदेश हो। पर यह आदेश किस अवस्था में हो—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये' ६.३.९२ से 'वप्रत्यये' तथा 'अञ्चतौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'व' प्रत्यय से 'क्विन्', 'क्विप' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है जिनके अन्त में केवल वकार ही शेष रह जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'व' प्रत्ययान्त (जिनके अन्त में 'क्विन्' आदि हों) 'अञ्चु' धातु के परे होने पर 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'सम् अच्' में 'सम्' से परे 'अञ्चु' धातु है और उसके अन्त में 'क्विन्' प्रत्यय का सर्वापहार

लोप हुआ है, अतः प्रकृतसूत्र से 'सम्' के स्थान पर 'समि' आदेश होकर 'समि अच्' रूप बनता है।*

३३९. सहस्य[1] सध्रिः । ६ । ३ । ९५

तथा। सध्र्यङ्।

३३९. सहस्येति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(सहस्य) 'सह' के स्थान पर (सध्रिः) 'सध्रि' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र की भाँति 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये' ६.३.९२ से 'अञ्चतौ' और 'वप्रत्यये' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'व'प्रत्ययान्त (जिसके अन्त में 'क्विन्' आदि प्रत्यय हों) 'अञ्चु' धातु के परे होने पर 'सह' के स्थान पर "सध्रि' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश सम्पूर्ण 'सह' के स्थान पर होता है। ध्यान रहे कि अनुनासिक न होने से 'सध्रि' के इकार की इत्संज्ञा नहीं होती। उदाहरण के लिए 'सह अच्' में 'अञ्चु' धातु परे है और उससे पर 'क्विन्' प्रत्यय का सर्वापहार लोप हुआ है, अतः प्रकृतसूत्र से 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होकर 'सध्रि अच्' रूप बनेगा†।

३४०. [6]तिरसस्तिर्यलोपे[7] । ६ । ३ । ९४

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः। तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः। तिर्यग्भ्याम्।

३४०. तिरस इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अलोपे) अलुप्त अकार के परे होने पर (तिरसः) तिरस् के स्थान पर (तिरिः) 'तिरि' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये' ६.३.९२ से 'अञ्चतौ' तथा 'वप्रत्यये' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अलुप्त अकारवाली तथा 'व' प्रत्ययान्त (जिसके अन्त में 'क्विन्' आदि प्रत्यय हों) 'अञ्चु' धातु के परे होने पर तिरस् के स्थान पर 'तिरि' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश सम्पूर्ण 'तिरस्' के स्थान पर होगा।

अकार का लोप भसंज्ञक स्थलों में ही होता है और भसंज्ञा शस् आदि अजादि विभक्तियों में होती है। इनको छोड़कर सर्वनामस्थान और हलादि विभक्तियों में भसंज्ञा न होने के कारण 'अञ्चु' के अकार का लोप नहीं होता। अतः सर्वनामस्थान और हलादि विभक्तियों के परे होने पर ही 'तिरस्' के स्थान पर 'तिरि' आदेश होता

* इसके आगे की प्रक्रिया के लिए 'सम्यङ्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† इसके आगे की प्रक्रिया 'सम्यङ्' के समान ही है।

है। उदाहरण के लिए 'तिरस्+अच्' में 'तिरस्' से परे अलुप्ताकार 'अञ्चु' धातु है और उससे 'क्विन्' प्रत्यय का सर्वापहार लोप हुआ है, अतः प्रकृतसूत्र से 'तिरस्' के स्थान पर 'तिरि' होकर 'तिरि+अच्' रूप बनता है।*

३४१. नाञ्चेः[6] पूजायाम्[7]। ६। ४। ३०

पूजार्थस्याऽञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाभावाद् 'अ'लोपो न—प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः।

क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुङ्भ्याम्।

पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्। उगित्वान्नुम्।

३४१. नाञ्चेरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(पूजायाम्) पूजा अर्थ में (अञ्चेः) 'अञ्चु' धातु के स्थान पर (न) नहीं हो। पर क्या न होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके लिए 'श्नान्नलोपः' ६.४.२३ से 'नलोपः'—तथा 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' ६.४.२४ से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति करनी होगी। उपधा अन्त्य वर्ण से पूर्ववर्ण की संज्ञा है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूजा अर्थ में 'अञ्चु' धातु के उपधा के नकार का लोप नहीं होता है।

ध्यान रहे कि 'अञ्चु' धातु के दो अर्थ हैं—गति और पूजा। पूजा अर्थ में '३३४—अनिदिताम्–०' द्वारा नकारलोप प्राप्त होने पर प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जाता है। अभिप्राय यह कि गति अर्थ होने पर ही नकार का लोप होता है, पूजा अर्थ में नहीं। उदाहरण के लिए 'प्र'पूर्वक 'अञ्चु' धातु से क्विन् प्रत्यय और उसका सर्वापहार लोप होने पर '३३४—अनिदिताम्–०' सूत्र से नकार का लोप प्राप्त होता है। किन्तु पूजा अर्थ में होने के कारण उसका निषेध हो जाता है। तब नकार को अनुस्वार और सवर्णदीर्घ होकर 'प्राञ्च्' रूप बनता है।

३४२. ‡सान्त महतः[6] संयोगस्य[6] । ६। ४। १०

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारः, तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्, महान्तौ, महान्तः। हे महन्! महद्भ्याम्।

३४२. सान्त इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सान्त) सकारान्त (संयोगस्य) संयोग के तथा (महतः) 'महत्' शब्द के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये—

---

* आगे की प्रक्रिया के लिए 'तिर्यच्' की रूप-सिद्धि देखनी चाहिये।

† विशेष विवेचना के लिए १७६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ यहां लुप्तषष्ठी है।

यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः', सम्पूर्ण 'नोपधायाः' ६.४.७ सूत्र तथा 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' ६.४.८ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम् तथा औट्) परे होने पर सकारान्त संयोग के तथा महत् शब्द के नकार की उपधा* के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'महन्त्+स्' में सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने के कारण 'महत्' के अवयव नकार की उपधा–हकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार होकर 'महान् त्+स्' रूप बनेगा। फिर सुलोप और संयोगान्तलोप होकर 'महान्' रूप सिद्ध होता है। सकारान्त संयोग की नकारान्त उपधा को दीर्घ करने के उदाहरण 'विद्वांसौ' 'यशांसि' आदि में मिलेंगे।

३४३. अत्वसन्तस्य[६] चाऽधातोः[६]। ६।४।१४

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ परे। धीमान्, धीमन्तौ। धीमन्तः। हे धीमन्! शसादौ महद्वत्।

भातेर्डवतुः। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्, भवन्तौ, भवन्तः। शत्रन्तस्य भवन्।

३४३. अत्वसन्तस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अतु) अतु के (च) तथा (अधातोः) धातुभिन्न (असन्तस्य) अस् अन्त वाले के स्थान पर। पर क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः', अधिकार–सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१, 'नोपधायाः' ६.४.७ से 'उपधायाः', 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' ६.४.८ से 'असम्बुद्धौ' तथा 'सौ च' ६.४.१३ से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अतु' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उससे तदन्त-विधि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि सम्बुद्धिभिन्न सु परे हो, तो अतु अन्त वाले अंग की तथा धातुभिन्न अस् अन्त वाले अंग की उपधा† के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। 'अतु' में 'मतुप्' 'वतुप्' 'डवतु' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। उदाहरण के लिए 'धीमत्+स्' में 'धीमत्'‡ शब्द के 'अतु+अन्त' (मतु = म्+अतु) होने से प्रकृत सूत्र से उपधा–मकारोत्तरवर्ती अकार–को दीर्घ आकार आदेश करने पर 'धीमात्+स्' रूप बनता है। इस अवस्था में नुम् आगम, सुलोप और संयोगान्त लोप करने पर 'धीमान्' रूप सिद्ध होता है। 'अस्' अन्त वालों के उदाहरण आगे 'वेधाः' आदि में मिलेंगे।

---

* † अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण को उपधा कहते हैं। १७६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ 'धी' शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर 'धीमत्' शब्द निष्पन्न होता है।

३४४. उभे[1] अभ्यस्तम्[1] । ६ । १ । ५

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे स्तः ।

३४४. उभे इति—यह संज्ञा-सूत्र है । शब्दार्थ है—(उभे) समुदित* (अभ्यस्तम्) अभ्यस्तसंज्ञक हों । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ से 'द्वे' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समुदित (एक साथ मिलकर) दोनों शब्दस्वरूप 'अभ्यस्त' सञ्ज्ञक होते हैं ।

ध्यान रहे कि अष्टाध्यायी में द्वित्वप्रकरण (एव शब्द को दो शब्द विधान करने वाले) दो हैं—एक छठे अध्याय में और दूसरा आठवें अध्याय में । पहला छठे अध्याय के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' से लेकर बारहवें सूत्र तक है । दूसरा द्वित्व प्रकरण आठवें अध्याय के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र 'सर्वस्य द्वे' से लेकर १५ वें सूत्र तक है । इनमें छठे अध्याय वाले द्वित्व प्रकरण में ही 'अभ्यस्त' संज्ञा होती है, आठवें अध्याय में नहीं । इसका कारण यह है कि विधि और निषेध समीप पठित के होते हैं, दूर पठित के नहीं—'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' (प०) । प्रस्तुत सूत्र छठे अध्याय के द्वित्व प्रकरण में पढ़ा गया है, अतः अभ्यस्त संज्ञा छठे अध्याय के द्वित्व प्रकरण में विहित समुदित शब्दस्वरूपों की ही होगी । उदाहरण के लिए 'ददत्' में 'श्लौ' ६.१.१० से द्वित्व होता है । यह सूत्र छठे अध्याय का है, अतः 'दद्' की अभ्यस्त संज्ञा होगी ।

३४५. नाऽभ्यस्ताच्छतुः[6]† । ७ । १ । ७८

अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात् । ददत्, ददद् । ददतौ । ददतः ।

३४५. नेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसंज्ञक से परे (शतुः) 'शतृ' का अवयव (न) नहीं होता है । परन्तु क्या नहीं होता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके लिए 'इदितो नुम् धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यस्तसंज्ञक से परे 'शतृ' का अवयव 'नुम्' (न्) नहीं होता है । उदाहरण के लिए 'ददत्‡ + स् (सु)' में 'शतृ' के उगित् होने के कारण '२८९–उगिद्चाम्–०' सूत्र से 'नुम्' का आगम प्राप्त था, किन्तु अभ्यस्तसंज्ञक 'दद्' से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'शतृ' को

---

* 'द्वे इति वर्तमाने उभेग्रहणं समुदायसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम्'—काशिका ।

† सूत्र का पदच्छेद है—'न + अभ्यस्तात् + शतुः' ।

‡ ध्यान रहे कि 'ददत्' में तकार 'शतृ' का ही है । देखिये ८३१ वें सूत्र की व्याख्या ।

नुम् आगम का निषेध हो जाता है। इस अवस्था में सुलोप कर जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया से 'ददत्' और 'ददद्'—ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

३४६. जक्षित्यादयः षट् । ६ । १ । ६

षड् धातवोऽन्ये जक्षतिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः। जक्षत्, जक्षतौ, जक्षतः।

एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्।

गुप्, गुब्। गुपौ। गुपः। गुब्भ्याम्।

३४६. जक्षित्यादय इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(जक्ष्) जक्ष् धातु तथा (इत्यादयः) जक्ष् से अगली (षट्) छः धातुएं। पर वे क्या हों—इसका पता सूत्र से नहीं लगता है। इसके लिए 'उभे अभ्यस्तम्' ६. १. ५ से 'अभ्यस्तम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जक्ष् धातु तथा जक्ष् से अगली छः धातुएं अभ्यस्तसंज्ञक होती हैं। इन सात धातुओं का परिगणन निम्नांकित पद्य में किया गया है—

> 'जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा।
> अभ्यस्तसञ्ज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥'

इनमें 'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' धातुओं का प्रयोग वेद में ही होता है।

इन सातों शत्रन्तों से सर्वनामस्थान परे होने पर '२८९—उगिदचाम्—०' द्वारा नुम् आगम प्राप्त था, किन्तु प्रकृत सूत्र से अभ्यस्त संज्ञा हो जाने के कारण '३४५—नाभ्यस्ताच्छतुः' सूत्र द्वारा उसका निषेध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'जक्षत् + स् (सु)' में नुम् आगम न होने के कारण सकार का लोप होकर 'जक्षत्' रूप सिद्ध होता है।

३४७. त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च । ३ । २ । ६०

त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् , चात् क्विन्।

३४७. त्यदादिषु इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(त्यदादिषु) त्यद् आदि उपपद* रहने पर (अनालोचने) ज्ञान से भिन्न अर्थ में (दृशः) दृश् धातु से (कञ्) कञ् प्रत्यय होता है (च) और। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चलता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' ३.२.५८ से क्विन् की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—त्यद् आदि† उपपद

---

* ध्यान रहे कि '७६६—धातोः' के अधिकार में आनेवाले सप्तम्यन्त पदों की '९५३—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से उपपद संज्ञा हो जाती है।

† 'त्यद्' आदि के विवरण के लिए १९३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

रहते ज्ञान से भिन्न अर्थ में दृश धातु से कञ्* तथा क्विन् प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए त्यदादि 'तद्' पूर्वक अज्ञानार्थक 'दृश्' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा कञ् और दूसरे पक्ष में क्विन् प्रत्यय होकर 'तद् दृश्+कञ्' और 'तद् दृश्+क्विन्' रूप बनते हैं। इस अवस्था में कञ् पक्ष में 'तद् दृश' तथा क्विन् पक्ष में सर्वापहार लोप होकर 'तद् दृश्' रूप बनेगा।

३४८. आ[१] सर्वनाम्नः[६] । ६ । ३ । ९१

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्-दृश-वतुपु। तादृक्, तादृग्। तादृशौ। तादृशः। तादृग्भ्याम्।

'व्रश्च'—इति पः। जश्त्वचर्त्वे-विट्, विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्।

३४८. आ सर्व इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(सर्वनाम्नः) सर्वनाम के स्थान पर (आ) आकार आदेश होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण 'दृग्दृशवतुं' ६. ३. ८९ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—दृग्, दृश और वतु परे होने पर सर्वनाम के स्थान पर आकार आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १. १. ५२ परिभाषा से यह आदेश सर्वनाम के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होता है।

यहां 'दृग्' से तात्पर्य क्विन्नन्त 'दृश्' से तथा 'दृश' से तात्पर्य कञन्त दृश् से है। अतः यह सूत्र दोनों पक्षों में प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए 'तद् दृश्' में प्रकृत सूत्र से 'दृश्' (क्विन्नन्त पक्ष में) परे होने के कारण सर्वनाम 'तद्' के अन्त्य वर्ण दकार के स्थान पर आकार होकर 'त आ दृश्' रूप बना। इस स्थिति में सवर्णदीर्घ करने पर 'तादृश्' रूप बनेगा। कञन्त पक्ष में अकारान्त 'तादृश' रूप बनेगा, क्योंकि 'कञ्' में अकार शेष रह जाता है।

३४९. नशे[६]र्वा[०] । ८ । २ । ६३

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते। नक्, नग्, नट्, नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्, नड्भ्याम्।

३४९. नशेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नशेः) नश् के स्थान पर (वा) विकल्प से। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके लिए अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८. १. १६, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८. २. २९ से 'अन्ते' तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' ८. २. ६२ से 'कुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कुः' का अर्थ है—कवर्ग। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पद के अन्त में नश् के स्थान

---

* 'कञ्' के ककार और ञकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल अकार ही शेष रह जाता है।

पर विकल्प से कवर्ग आदेश होता है। यह आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' १. १. ५२ परिभाषा से अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'नश्+स्' में पहले शकार को षकार तथा षकार को डकार होकर 'नड्' रूप बनता है। इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से अन्त्य वर्ण डकार के स्थान पर विकल्प से कवर्ग–गकार होकर 'नग्' रूप बनेगा। तब वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'नक्' और' 'नट्' रूप बनते हैं।

३५०. स्पृशोऽनुदके क्विन् । ३ । २ । ५८

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् । घृतस्पृक्, घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः ।

दधृक्, दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम् ।

रत्नमुट्, रत्नमुड् । रत्नमुषौ । रत्नमुड्भ्याम् ।

षट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः २ । षण्णाम् । षट्सु ।

रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम् ।

३५०. स्पृश इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनुदके) उदकभिन्न उपपद* रहने पर (स्पृशः) 'स्पृश्' धातु से पर (क्विन्) क्विन् प्रत्यय हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुपि स्थः' ३.२.४ से 'सुपि' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'सुपि' सूत्रस्थ 'अनुदके' से अन्वित होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उदक शब्द से भिन्न सुबन्त (जिसके अन्त में सुप् हो) उपपद होने पर स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'घृतं स्पृशति–इति घृतस्पृक्' इस विग्रह में 'घृत' सुबन्त उपपद रहते 'स्पृश्' धातु से क्विन् प्रत्यय होगा। क्विन् प्रत्यय का सर्वापहार लोप तथा उपपद समास करने से 'घृतस्पृश्' रूप बनता है।†

३५१. र्वोरुपधाया दीर्घ इकः । ८ । २ । ७६

रेफवान्तयोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते । पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठीर्भ्याम् ।

३५१. र्वोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(र्वोः) रकार और वकार की (उपधायाः) उपधा के (इकः) इक् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण अधिकार सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते

---

* स्पष्टीकरण के लिए ३४७ वें सूत्र से सम्बन्धित पाद-टिप्पणी देखिये।

† इसके आगे की प्रक्रिया 'नक्' के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि यहां 'घृतस्पृड्' रूप बनने पर डकार के स्थान पर गकार '३४९–नशेर्वा' से न होकर '३०४–क्विन्प्रत्ययस्य–०' से होता है।

च' ८.२.२९ से 'अन्ते' तथा 'सिपि धातो रुर्वा' ८.२.७४ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'र्वोः' 'धातो' का विशेषण है अतः उससे तदन्त-विधि का ग्रहण होता है। अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण को उपधा कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पद के अन्त में रकारान्त और वकारान्त धातु की उपधा के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। तात्पर्य यह कि उपधा के ह्रस्व अकार-इकार आदि के स्थान पर दीर्घ आकार-ईकार आदि आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'पिपठिर्' रकारान्त धातु है, अतः पदान्त में होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसके उपधाभूत इकार के स्थान पर दीर्घ ईकार होकर 'पिपठीर्' रूप बनेगा। फिर अन्त्य रकार के स्थान पर विसर्ग करने से 'पिपठीः' रूप सिद्ध होता है।

३५२. नुम्-विसर्जनीय-शर्-व्यवायेऽपि । ८ । ३ । ५८

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः—पिपठीष्षु। पिपठीःषु।

चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्भ्याम्। चिकीर्षु।

विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन्!

३५२. नुमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये) नुम्, विसर्ग और शर् के व्यवधान होने पर (अपि) भी। पर क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५ से 'मूर्धन्यः', 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से 'सः' तथा सम्पूर्ण 'इण्कोः' ८.३.५७ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। शर् प्रत्याहार में श्, ष्, स् का समावेश होता है और इण् में अ, इ, उ का। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नुम्-आगम, विसर्ग अथवा श्, ष्, स्—इनमें से किसी एक का व्यवधान होने पर भी अ, इ, उ या कवर्ग से परे सकार के स्थान पर मूर्धन्य आदेश होता है।* सकार को मूर्धन्य षकार† ही होगा। उदाहरण के लिए 'पिपठी स् सु' में सकार का व्यवधान और 'पिपठीः सु' में विसर्ग का व्यवधान होने पर भी इण्—ईकार से परे होने के कारण दोनों जगह सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है और रूप बनते हैं—१. 'पिपठीस् षु और २. पिपठीः षु'। यहां सकार वाले

* 'व्यवायशब्दः प्रत्येकमभिसंबद्ध्यते' (काशिका)। ध्यान रहे कि नुम् आदि एक का ही व्यवधान होने पर षत्व होता है, इनमें से यदि दो या तीन का एक साथ व्यवधान होगा तो यह षत्व नहीं होगा—'नुमादिभिः प्रत्येकं व्यवाये षत्वमिष्यते, न समस्तैः' (काशिका)।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए देखिये १५० वें सूत्र की व्याख्या।

पक्ष में ष्टुत्व–सकार होकर 'पिपठीष्षु' रूप सिद्ध होता है। विसर्ग वाले रूप में अन्य कोई कार्य नहीं होता।

३५३. वसोः[6] सम्प्रसारणम्[1] । ६ । ४ । १३१

वस्वन्तस्य भस्य संप्रसारणम् स्यात्। विदुषः। 'वसुस्रंसु-०' इति दः—विद्वद्भ्याम्।

३५३. वसोरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(वसोः) वसुप्रत्यय के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ तथा 'भस्य' ६.४.१२९—इन दो अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'वसोः' 'भस्य' का विशेषण है अतः इससे तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वसुप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के स्थान पर सम्प्रसारण होता है। शस् से लेकर अजादि विभक्तियों के परे रहते भसंज्ञा होती है। अतः उन सब अजादि विभक्तियों में सम्प्रसारण होगा। य, व, र, ल के स्थान पर प्रयुज्यमान इ, उ, ऋ, ऌ को संप्रसारण कहते हैं*। उदाहरण के लिए 'विद्वस्+अस् (शस्)' में 'विद्वस्' वसुप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके द्वितीय वकार को उकार सम्प्रसारण होकर 'विदु अस्+अस्' रूप बनता है। इस अवस्था में '२५८—सम्प्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्वरूप तथा फिर प्रत्यय के सकार को षकार करने से 'विदुषस् = विदुषः' रूप सिद्ध होता है।†

३५४. [6]पुंसोऽसुङ्[1] । ७ । १ । ८९

सर्वनामस्थाने विवक्षितेऽसुङ् स्यात्। पुमान्। हे पुमन्! पुमांसौ। पुंसः। पुम्भ्याम्। पुंसु।

'ऋदुशनस्'—इत्यनङ्—उशना, उशनसौ।

(वा०) अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः।

हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः! हे उशनसौ! उशनोभ्याम्। उशनस्सु।

अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः!

वेधाः। वेधसौ। हे वेधः। वेधोभ्याम्।

३५४. पुंस इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पुंसः) 'पुंस्' शब्द के स्थान पर (असुङ्) 'असुङ्' आदेश होता है। पर यह आदेश किस अवस्था में होता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' ७.१.८६ से 'सर्वनाम-

---

* विशेष विवेचना के लिए २५६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'विदुषः' की रूप-सिद्धि देखिये।

स्थाने' की अनुवृत्ति करनी पड़ेगी। 'सर्वनामस्थाने' में यहां भावसप्तमी मानी गई है अतः उसका अर्थ होगा—सर्वनामस्थान की विवक्षा में। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) की विवक्षा में 'पुंस्' शब्द के स्थान पर 'असुङ्' आदेश होता है। 'असुङ्' में उकार उच्चारणार्थक तथा ङकार इत्संज्ञक है, अतः 'ङित्' होने के कारण यह आदेश 'ङिच्च' १.१.५३ परिभाषा से 'पुंस्' के अन्त्य वर्ण–सकार के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए सर्वनामस्थान 'सु' की विवक्षा में 'पुंस्' के सकार को 'असुङ्' (अस्) होकर 'पुं अस्+स् (सु)' रूप बनता है। इस स्थिति में 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' परिभाषा से अनुस्वार अपने पूर्वरूप मकार में परिणत हो जाता है और रूप बनता है—'पुम् अस्+स्'। तब नुम्, अनुबन्धलोप, '३४२–सान्तमहतः–०' से दीर्घ, सुलोप तथा संयोगान्तलोप करने से 'पुमान्' रूप सिद्ध होता है।*

(वा०) अस्येति—भावार्थ है—'उशनस्' शब्द के सकार को सम्बुद्धि में विकल्प से 'अनङ्' आदेश होता है और नकार का लोप भी विकल्प से होता है। उदाहरण के लिए सम्बुद्धि 'सु' परे होने पर 'उशनस्+सु' में सकार के स्थान पर 'अनङ्' (अन्) आदेश होकर 'उशन अन्+स्' रूप बनता है। इस स्थिति में पररूप, सुलोप तथा विकल्प करके नकार का लोप करने से 'हे उशन', 'हे उशनन्'—ये दो रूप सिद्ध होते हैं। 'अनङ्' के अभाव में सुलोप, रुत्व तथा रेफ को विसर्ग करने पर 'हे उशनः' रूप बनता है।

३५५. अदस[३] औ[१] सुलोपश्च[२] । ७ । २ । १०७

अदस औत् स्यात् सौ परे, सुलोपश्च। 'तदोः सः–०' इति सः—असौ। त्यदाद्यत्वम्। पररूपत्वम्। वृद्धिः।

३५५. अदस इति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(अदसः) अदस् के स्थान पर (औ) औकार हो (च) तथा (सुलोपः) सु का लोप हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' ७.२.१०६ से 'सौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सु परे होने पर अदस् शब्द के स्थान पर औकार आदेश होता है तथा सु का लोप हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा द्वारा यह औकारादेश अन्त्य वर्ण–सकार के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'अदस्+सु' में प्रकृत सूत्र से सकार को औकार तथा सु का लोप होकर 'अद औ' रूप बनता है। इस स्थिति में वृद्धि एकादेश होकर 'अदौ' रूप

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'पुमान्' की रूप-सिद्धि देखिये।

बनेगा। फिर लुप्त हुए सु प्रत्यय को मानकर '३१०–तदोः सः–०' से दकार को सकार करने पर 'असौ' रूप सिद्ध होता है।

३५६. अदसोऽसे[6] र्दादु[3] दो[6] मः। ८। २। ८०

अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ, दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जशः शी। गुणः।

३५६. अदस इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(असेः) असान्त अर्थात् जिसके अन्त में सकार न हो ऐसे (अदसः) अदस् शब्द के (दात्) दकार से पर वर्ण को (उ) उकार तथा ऊकार होता है तथा (दः) दकार के स्थान पर (मः) मकार होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा द्वारा ह्रस्व वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार तथा दीर्घ वर्ण के स्थान पर दीर्घ ऊकार होगा। उदाहरण के लिए 'अदौ' रूप असान्त अदस् है, अतः प्रकृत सूत्र से दकार से परे दीर्घ औकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार तथा दकार को मकार होकर 'अमू' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—जहां '१९३–त्यदादीनामः' सूत्र लगेगा, वहां अन्त में सकार न रहेगा। अतः वहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी।

३५७. एत[6] ईद्[1] बहुवचने[7]। ८। २। ८१

अदसो दात् परस्य ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी।

'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसञ्ज्ञायां 'ना'भावः।

३५७. एत ईदिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(बहुवचने) बहुत्व की विवक्षा में* (एतः) एकार के स्थान पर (ईद्) ईकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' ८.२.८० से 'अदसः' 'दात्', 'दः' तथा 'मः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बहुत्व की विवक्षा में अदस् शब्द के दकार से परे एकार के स्थान पर ईकार आदेश होता है तथा दकार के स्थान पर मकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए बहुत्व में पठित 'अदे' में प्रकृतसूत्र से एकार के स्थान पर ईकार तथा दकार के स्थान पर मकार होकर 'अमी' रूप सिद्ध होता है।

---

* यहां 'बहुवचने' का अर्थ पारिभाषिक बहुवचन (जस्, शस् आदि) नहीं है। देखिये भाष्यकार का कथन—'नेदं पारिभाषिकस्य बहुवचनस्य ग्रहणम्। किन्तर्हि? अन्वर्थग्रहणमेतत्।'

३५८. न मु ने । ८ । २ । ३

'ना'भावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु।

इति हलन्ताः पुँल्लिङ्गाः।

३५८. न मु इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ने) 'ना' के विषय में (मु) 'मु' (न) नहीं होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' ८.२.१ से 'असिद्धम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ने' शब्द 'ना' शब्द के सप्तमी का एकवचन है, और भावसप्तमी या वैषयिक सप्तमी के रूप में यहां प्रयुक्त हुआ है। 'मु' शब्द मकार और उकार का बोधक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ना' के विषय में अथवा 'ना' परे होने पर 'मु' (मकार और उकार) आदेश असिद्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए 'अमु+टा' में 'आङो नाऽस्त्रियाम्' ७.३.१२० इस सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्र के प्रति 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' ८.२.८० इस त्रिपादीस्थ सूत्र द्वारा प्राप्त मकार और उकार आदेश के असिद्ध होने के कारण 'टा' को 'ना' प्राप्त नहीं था, किन्तु प्रकृतसूत्र द्वारा जब 'ना'भाव करने में 'मु' (मकार और उकार) आदेश असिद्ध न हुआ तो घिसंज्ञा होकर '१७१–आङो–०' सूत्र से 'टा' को 'ना' होकर 'अमुना' रूप सिद्ध होता है।

हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण समाप्त।

हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

३५९. नहो धः । ८ । २ । ३४

नहो हस्य धः स्याद् झलि पदान्ते च ।

३५९. **नह इति**—सूत्र का शब्दार्थ है—(नहः) नह् धातु के स्थान पर (धः) धकार हो । किन्तु किस अवस्था में हो—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके लिए अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६, 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि' तथा 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् (सभी वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्ण और श्, ष्, स्, ह्) परे होने पर और पद के अन्त में 'नह्' धातु के स्थान पर धकार आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा द्वारा यह आदेश 'नह्' के अन्त्य वर्ण–हकार के ही स्थान पर ही होगा । झल् परे रहते और पदान्त में कहने से सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप्—इन झलादि प्रत्ययों के परे होने पर नह् धातु के हकार के स्थान पर धकार होता है । उदाहरण के लिए 'उपानह् + भ्याम्' में पदान्त में होने के कारण हकार को धकार होकर 'उपानध् + भ्याम्' रूप बनता है । पुनः धकार को जश्त्व दकार करने पर 'उपानद्भ्याम्' रूप बनेगा ।

३६०. नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ । ६ । ३ । ११६

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत्, उपानद् । उपानहौ । उपानत्सु ।
क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः—उष्णिक्, उष्णिहौ । उष्णिग्भ्याम् ।
द्यौः, दिवौ, दिवः । द्युभ्याम् ।
गीः, गिरौ, गिरः । एवम्–पूः ।
चतस्रः । चतसृणाम् ।
का, के, काः—सर्वावत् ।

३६०. **नहि इति**—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है—(क्वौ) 'क्वि' अन्तवाले (नहि—तनिषु) नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु के परे होने पर । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ८.३.१११ से 'पूर्वस्य' तथा 'दीर्घः' की अनुवृत्ति करनी होगी । यद्यपि 'क्वि' प्रत्यय में 'क्विप्' और 'क्विन्'–इन दोनों का समावेश होता है, किन्तु 'नह्' आदि धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय का विधान न होने के कारण शेष 'क्विप्' प्रत्यय का ही ग्रहण होता है । इस प्रकार

सूत्र का भावार्थ होगा—क्विबन्त (जिसके अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय हो) नह्, वृत्, वृष, व्यध्, रुच्, सह् और तन्—इनमें से किसी धातु के भी परे होने पर पूर्व-पद के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा द्वारा यह आदेश पूर्वपद के अन्त्य स्वर के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'उप'पूर्वक 'नह्' धातु से क्विप् प्रत्यय तथा उसका सर्वापहार लोप करने पर 'उपनह्' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रकृतसूत्र पूर्वपद के अन्त्य स्वर–अकार के स्थान पर दीर्घ आदेश होकर 'उपानह्' रूप बनता है।

३६१. यः सौ । ७ । २ । ११०

इदमो दस्य यः। इयम्। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्। टाप्। 'दश्च' इति मः—इमे, इमाः। इमाम्। अनया। हलि लोपः–आभ्याम्, आभिः। अस्यै। अस्याः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु। त्यदाद्यत्वम्, टाप्। स्या। त्ये। त्याः। एवम्–तद्, एतद्। वाक्। वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु।

अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तृन्–०' इति दीर्घः। आपः। अपः।

३६१. य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सौ) सु परे होने पर (यः) यकार आदेश हो। परन्तु यह आदेश किसके स्थान पर हो—इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके लिए 'इदमो मः' ७.२.१०८ से 'इदमः' तथा 'दश्च' ७.२.१०९ से 'दः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सु परे होने पर इदम् शब्द के दकार के स्थान पर यकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'इदम्+सु' में दकार को यकार होकर 'इयम्+सु' रूप बनता है। पुनः '१७९–हल्ङ्याब्भ्यः–०' सूत्र द्वारा 'सु' का लोप होकर 'इयम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यह सूत्र केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि पुंल्लिङ्ग में 'सु' परे होने पर '२७९–इदोऽय् पुंसि' से इद् को अय् आदेश हो जाने से दकार नहीं मिल सकता। नपुंसकलिङ्ग में भी 'सु' का लुक् हो जाने के कारण इस सूत्र को अवकाश नहीं मिलता।

३६२. अपो भि । ७ । ४ । ४८

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भिः। अद्भ्यः २। अपाम्। अप्सु।

दिक्, दिग्। दिशः। दिग्भ्याम्।

'त्यदादिषु'—इति दृशेः क्विन्विधानाद् अन्यत्राऽपि कुत्वम्—दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्।

त्विट्। त्विषौ। त्विड्भ्याम्।

---

* इसके आगे की प्रक्रिया के लिए 'उपानत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्—सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ।

आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् ।

असौ । उत्वमत्वे—अमू , अमूः । अमुया । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुयोः । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

३६२. अप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भि) भकार परे होने पर (अपः) अप् के स्थान पर । पर क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अच उपसर्गात्तः' ७.४.४७ से 'तः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार होने से 'प्रत्यये' उपलब्ध होता है । सूत्रस्थ 'भि' 'प्रत्यये' का विशेषण है, अतः तदादि विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भकारादि प्रत्यय परे होने पर 'अप्' शब्द के स्थान पर तकार आदेश होता है । 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश 'अप्' के अन्त्य वर्ण—पकार के ही स्थान पर होगा । सुपों में भकारादि प्रत्यय 'भ्याम्' और 'भिस्' ही हैं, अतः इनके परे होने पर ही 'अप्' के पकार के स्थान पर तकार होता है । उदाहरण के लिए 'अप् + भिस्' में पकार को तकार होकर 'अत् + भिस्' रूप बनता है । पुनः तकार को जश्त्व—दकार और सकार का रुत्व-विसर्ग होकर 'अद्भिः' रूप सिद्ध होता है ।

हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण समाप्त ।

हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

स्वमोर्लुक् । दत्वम्–स्वनडुत्, स्वनडुद् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोः–०' इत्याम् । स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् ।

वाः, वारी, वारि । वार्भ्याम् ।

चत्वारि ।

किम्, के, कानि ।

इदम्, इमे, इमानि ।

(वा०) अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः ।

एनत्, एनद् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः ।

अहः । विभाषा ङिश्योः—अह्नी, अहनी । अहानि ।

(वा०) अन्वादेशे इति—भावार्थ है—अन्वादेश* में नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' और 'एतद्' के स्थान पर 'एनत्' आदेश होता है । यह 'एनत्' आदेश 'अम्' के लिए ही किया गया है, क्योंकि अन्य विभक्तियों (औट्, शस्, टा, ओस्) में तो '२८०–द्वितीयाः–०' से काम चल जाता है । भाष्यकार ने भी कहा है—'एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम्' । उदाहरण के लिए 'इदम्+अम्' में '२४४–स्वमोः–०' सूत्र से अम् का लोप होकर प्रकृत सूत्र से 'इदम्' के स्थान पर 'एनत्' सर्वादेश करने पर 'एनत्' रूप बनता है । पुनः जश्त्व करने पर 'एनद्' रूप सिद्ध होता है ।

३६३. अहन्[†] । ८ । २ । ६८

अहन् इत्यस्य रुः पदान्ते । अहोभ्याम् ।

दण्डि ।

(वा०) सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः ।

हे दण्डिन् ! हे दण्डि ! दण्डिनी । दण्डीनि । दण्डिना । दण्डिभ्याम् ।

सुपथि । टेर्लोपः–सुपथी । सुपन्थानि ।

ऊर्क्, ऊर्ग्, । ऊर्जी । ऊर्न्जि । नरजानां संयोगः ।

तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि ।

गवाक् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ।

---

* 'अन्वादेश' की विस्तृत विवेचना के लिए २८० वें सूत्र की व्याख्या देखिये

† यहां लुप्तषष्ठी है ।

शकृत्, शकृती, शकृन्ति।

ददत्, ददती।

३६३. अह्नन्निति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(अहन्) अहन् के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६, 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' ८.२.२९ से 'अन्ते' तथा 'ससजुषो रुः' ८.२.६६ से 'रुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पद के अन्त में अहन् शब्द के स्थान पर 'रु' आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह आदेश 'अहन्' के अन्त्य वर्ण–नकार के स्थान पर ही होगा। 'पदान्त' कहने से यह आदेश सु, भ्याम् ३, भिस्, भ्यस् २ और सुप्–इन आठ प्रत्ययों में से किसी के परे होने पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'अहन्+भ्याम्' में प्रकृत सूत्र से नकार को 'रु' आदेश होकर 'अह रु+भ्याम्' रूप बनेगा। पुनः 'रु' को '१०७–हशि च' से उकार और अकार-उकार को ओकार गुणादेश होकर 'अहोभ्याम्' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) सम्बुद्धौ इति—भावार्थ है—सम्बुद्धि परे होने पर नपुंसकलिङ्गी शब्दों के नकार का लोप विकल्प से होता है। उदाहरण के लिए 'हे दण्डिन्' में प्रत्ययलक्षण द्वारा सम्बुद्धि के परे होने पर वार्तिक द्वारा नकार का वैकल्पिक लोप होकर 'हे दण्डि !' रूप बनता है। लोपाभावपक्ष में 'हे दण्डिन् !' रूप ही रहेगा।

३६४. वा नपुंसकस्य। ७। १। ७९

अभ्यस्तात् परो यः शता, तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति। ददति।

तुदत्।

३६४. वा इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नपुंसकस्य) नपुंसक का अवयव (वा) विकल्प से। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१, 'इदितो नुम् धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्', 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' ७.१.७० से 'सर्वनामस्थाने' तथा 'नाभ्यस्ताच्छतुः' ७.१.७८ से 'अभ्यस्तात्' और 'शतुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यस्त-संज्ञक* से परे शतृप्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग का अवयव विकल्प से 'नुम्' होता है, यदि उससे परे सर्वनामस्थान (सु, औ, जस्, अम्, औट्) हो। यह सूत्र '३४५–नाभ्यस्ताच्छतुः' सूत्र का अपवाद है।

* छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में जिन शब्दों के दो विधान होते हैं, उन्हें 'अभ्यस्त' कहते हैं। विस्तृत विवेचना के लिए ३४४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

उदाहरण के लिए 'ददत्+इ' में शि सर्वनामस्थान परे है, और 'ददत्' की '३४४–उभे अभ्यस्तम्' से अभ्यस्त संज्ञा है। अतः प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक 'नुम्' आगम होकर 'ददन् त्+इ' रूप बनता है। इसको मिला देने से 'ददन्ति' रूप सिद्ध होता है। अभाव पक्ष में 'ददति' रूप बनेगा।

३६५. आच्छीनद्योर्नुम् । ७ । १ । ८०

अवर्णान्ताद् अङ्गात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य अङ्गस्य नुम् वा शीनद्योः। तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति।

३६५. आच्छीनद्योरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(शीनद्योः) 'शी' और नदी परे होने पर (आत्) अवर्ण से पर (नुम्) 'नुम्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नाभ्यस्ताच्छतुः' ७.१.७८ से 'शतुः' तथा 'वा नपुंसकस्य' ७.१.७९ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ यह यहां अधिकृत है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शी प्रत्यय और नदीसंज्ञक* परे होने पर अवर्णान्त अङ्ग से परे शतृप्रत्ययान्त शब्दस्वरूप का अवयव विकल्प से 'नुम्' होता है। 'नुम्' में उकार उच्चारणार्थक और मकार इत्संज्ञक है, अतः 'मित्' होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह शतृप्रत्ययान्त शब्दस्वरूप के अन्त्य स्वर के आगे होगा। उदाहरण के लिए 'तुदत्+ई' में अवर्णान्त अंग 'तुद' है और उससे परे शतृ का अवयव तकार है। अतः प्रकृतसूत्र से 'शी' परे होने के कारण विकल्प से नुम् आगम होकर 'तुद न् त्+ई=तुदन्ती' रूप बनता है। अभावपक्ष में 'तुदती' रूप रहेगा।

३६६. शप्श्यनोर्नित्यम् । ७ । १ । ८१

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः।
पचन्ती। पचन्ति। दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति।
धनुः। धनुषी। 'सान्त–०' इति दीर्घः, 'नुम्विसर्जनीय–०' इति षः–धनूंषि।
धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवम्–चक्षुर्हविरादयः।
पयः, पयसी, पयांसि। पयसा। पयोभ्याम्।
सुपुम्, सुपुंसी, सुपुमांसि।
अदः। विभक्तिकार्यम्, उत्वमत्वे–अमू, अमूनि। शेषं पुंवत्।

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः।

[इति षड्लिङ्गाः।]

---

* 'नदी' से यहां 'ङीप्' आदि इष्ट हैं। विशेष विवरण के लिए १९४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

३६६. शप्श्यनोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शप्श्यनोः) शप् और श्यन् के...(नित्यम्) नित्य। पर क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नाभ्यस्ताच्छतुः' ७.१.७८ से 'शतुः' तथा 'आच्छीनद्योर्नुम्' ७.१.८० से 'शीनद्योः' और 'नुम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नदी-संज्ञक* और 'शी'† (ई) परे होने पर 'शप्' (अ) और 'श्यन्' (य) के 'शतृ' (अत्) का अवयव 'नुम्' होता है। 'मित्' होने से यह 'नुम्' (न्) 'शतृ' (अत्) के अन्त्य स्वर–अकार के पश्चात् आता है।

ध्यान रहे कि धातुओं से 'शप्' प्रत्यय भ्वादि और चुरादिगण में तथा 'श्यन्' प्रत्यय दिवादिगण में होता है। अतः भ्वादि, चुरादि और दिवादिगण की धातुओं के ही 'शतृ' प्रत्यय को नदी-संज्ञक और 'शी' परे होने पर 'नुम्' (न्) आगम होता है। उदाहरण के लिए 'पच्' धातु से पहले 'शप्' और फिर 'शतृ' प्रत्यय हो 'पच् अ अत्' रूप बनने पर पररूप-एकादेश हो 'पचत्' रूप बनता है। यहाँ प्रथमा या द्वितीया के द्विवचन में 'शी' (ई) होकर 'पचत्+ई' रूप बनने पर 'शतृ' के अन्त्य स्वर–नकारोत्तरवर्ती अकार के पश्चात् 'नुम्' (न्) हो 'पच न् त् ई' = 'पचन्ती' रूप सिद्ध होता है।

हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरण समाप्त।

[षड्लिङ्ग समाप्त।]

---
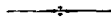
* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† ध्यान रहे कि नपुंसकलिङ्ग में '२३५–नपुंसकाच्च' से 'औ' (प्रथमा का द्विवचन) और 'औट्' (द्वितीया का द्विवचन) के स्थान पर 'शी' (ई) हो जाता है।

अव्ययप्रकरणम्

३६७. स्वरादिनिपातमव्ययम् । १ । १ । ३७

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसञ्ज्ञाः स्युः ।

*स्वरादयः—

१–स्वर्, २–अन्तर्, ३–प्रातर्, ४–पुनर्, ५–सनुतर्, ६–उच्चैस्, ७–नीचैस्, ८–शनैस्, ९–ऋधक्, १०–ऋते, ११–युगपत्, १२–आरात्, १३–पृथक्, १४–ह्यस्, १५–श्वस्, १६–दिवा, १७–रात्रौ, १८–सायम्, १९–चिरम्, २०–मनाक्, २१–ईषत्, २२–जोषम्, २३–तूष्णीम्, २४–बहिस्, २५–अवस्, २६–अधस्, २७–समया, २८–निकषा, २९–स्वयम्, ३०–वृथा, ३१–नक्तम्, ३२–न, ३३–नञ्, ३४–हेतौ, ३५–इद्धा, ३६–अद्धा, ३७–सामि, ३८–वत्, ३९–ब्राह्मणवत्, ४०–क्षत्रियवत्, ४१–सना, ४२–सनत्, ४३–सनात्, ४४–उपधा, ४५–तिरस्, ४६–अन्तरा, ४७–अन्तरेण, ४८–ज्योक्, ४९–कम्, ५०–शम्, ५१–सहसा, ५२–विना, ५३–नाना, ५४–स्वस्ति, ५५–स्वधा, ५६–अलम्, ५७–वषट्, ५८–श्रौषट्, ५९–वौषट्, ६०–अन्यत्, ६१–अस्ति, ६२–उपांशु, ६३–क्षमा, ६४–विहायसा, ६५–दोषा, ६६–मृषा, ६७–मिथ्या, ६८–मुधा, ६९–पुरा, ७०–मिथो

* स्वर् आदि का क्रमशः अर्थ—

१–स्वर्ग, परलोक, २–मध्य, ३–प्रातःकाल, ४–फिर, ५–छिपना, ६–ऊँचा, ७–नीचा, ८–धीरे, ९–सत्य, १०–बिना, बगैर, ११–एक साथ, १२–दूर, समीप, १३–अलग, १४–कल (बीता हुआ), १५–कल (आनेवाला), १६–दिन, १७–रात्रि, १८–सायंकाल, १९–देरतक, २०–थोड़ा, २१–थोड़ा, २२–चुपचाप, २३–मौन, २४–बाहर, २५–बाहर, २६–नीचे, २७–समीप, २८–समीप, २९–अपने आप, ३०–व्यर्थ, ३१–रात्रि, ३२–नहीं, ३३–नहीं, ३४–कारण, ३५–स्पष्ट, ३६–सत्य, साक्षात्, प्रत्यक्ष, ३७–आधा, निन्दित, ३८–समान, ३९–ब्राह्मण के समान, ४०–क्षत्रिय के समान, ४१–नित्य, सदा, ४२–नित्य, सदा, ४३–नित्य, सदा, ४४–भेद, ४५–तिरछा, तिरस्कार, छिपना, ४६–मध्य, विना, ४७–विना, ४८–शीघ्र, ४९–सुख, जल, मूर्धा, निन्दा, ५०–सुख, शान्ति, ५१–अकस्मात्, ५२–विना, बगैर, ५३–अनेक, ५४–कल्याण, मङ्गल, ५५–पितृदान, ५६–भूषण, पर्याप्त, निषेध, ५७–देवताओं को हवि देना, ५८–देवताओं को हवि देना, ५९–देवताओं को हवि देना, ६०–अन्य, इतर, ६१–है, विद्यमानता, ६२–एकान्त, ६३–क्षमा, ६४–आकाश, ६५–रात्रि, ६६–मिथ्या, असत्य, ६७–झूठ, ६८–व्यर्थ, ६९–पहले, ७०–एकान्त, परस्पर,

७१–मिथस्, ७२–प्रायस्, ७३–मुहुस्, ७४–प्रवाहुकम्, ७५–प्रवाहिका, ७६–आर्यहलम्, ७७–अभीक्ष्णम्, ७८–साकम्, ७९–सार्धम्, ८०–नमस्, ८१–हिरुक, ८२–धिक्, ८३–अथ, ८४–अम्, ८५–आम, ८६–प्रताम्, ८७–प्रशान्, ८८–मा, ८९–माङ्। आकृतिगणोऽयम्।

*चादयो निपाताः—

१–च, २–वा, ३–ह, ४–अह, ५–एव, ६–एवम्, ७–नूनम्, ८–शश्वत्, ९–युगपत्, १०–भूयस्, ११–कूपत्, १२–सूपत्, १३–कुवित्, १४–नेत्, १५–चेत्, १६–चण्, १७–यत्र, १८–कच्चित्, १९–नह, २०–हन्त, २१–माकिः, २२–माकिम्, २३–नकिः, २४–नकिम्, २५–माङ्, २६–नञ्, २७–यावत्, २८–तावत्, २९–त्वै, ३०–न्वै, ३१–द्वै, ३२–रै, ३३–श्रौषट्, ३४–वौषट्, ३५–स्वाहा, ३६–स्वधा, ३७–वषट्, ३८–तुम्, ३९–तथाहि, ४०–खलु, ४१–किल, ४२–अथो, ४३–अथ, ४४–सुष्ठु, ४५–स्म, ४६–आदह।

(ग० सू०) उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च।

४७–अवदत्तम्, ४८–अहंयु, ४९–अस्तिक्षीरा, ५०–अ, ५१–आ, ५२–इ, ५३–ई,

---

७१–एकान्त, परस्पर, ७२–बहुधा, ७३–बार-बार, ७४–समानकाल, शीघ्र, ७५–समान काल, शीघ्र, ७६–बलात्कार, ७७–निरन्तर, पुनः-पुनः, ७८–साथ, ७९–साथ, ८०–प्रणाम, ८१–वर्जन, छोड़ना, ८२–धिक्कार, ८३–प्रारम्भ, अनन्तर, ८४–शीघ्र, ८५–स्वीकार करना, ८६–ग्लानि, ८७–समान, ८८–मत, ८९–मत।

*च आदि निपातों का क्रमशः अर्थ—

१–समुच्चय, और, २–विकल्प, ३–प्रसिद्धि, पाद-पूर्ति, ४–पूजा, स्पष्टता, ५–ही, अवधारणा, ६–ऐसा, निश्चय, ७–निश्चय ही, ८–निरन्तर, ९–एक साथ, १०–फिर, पुनः, ११–प्रश्न, प्रशंसा, १२–प्रश्न, प्रशंसा, १३–बहुत, १४–शङ्का, १५–यदि, १६–यदि, १७–जहाँ, १८–इष्टप्रश्न, १९–निषेधपूर्वक आरम्भ, २०–विषाद, हर्ष, वाक्यारम्भ, २१–मत (निषेध), २२–निषेध, २३–निषेध, २४–निषेध, २५–निषेध, २६–नहीं, २७–जितना, २८–उतना, २९–वितर्क, ३०–वितर्क, ३१–वितर्क, ३२–दान, अनादर, ३३–हविर्दान, ३४–हविर्दान, ३५–देवदान, ३६–पितृदान, ३७–हविर्दान, ३८–तुम (तू-तू कह कर अनादर करना), ३९–निदर्शन, ४०–निश्चय, निषेध, ४१–सम्भावना, अलीक कथन, ऐतिह्य बात कहने में, ४२–प्रारम्भ, समुच्चय, ४३–प्रारम्भ, ४४–अच्छा, ४५–भूतकाल, ४६–हिंसा, उपक्रम, निन्दा, ४७–दिया हुआ, ४८–अहङ्कारवान्, ४९–क्षीरवती, गौ आदि, ५०–आक्षेप, सम्बोधन, ५१–वाक्य, स्मरण, ५२–सम्बोधन, विस्मय, ५३–सम्बोधन,

५४–उ, ५५–ऊ, ५६–ए, ५७–ऐ, ५८–ओ, ५९–औ, ६०–पशु, ६१–शुकम्, ६२–यथा, कथा च, ६३–पाट्, ६४–प्याट्, ६५–अङ्ग, ६६–है, ६७–हे, ६८–भोः, ६९–अये, ७०–द्य, ७१-विषु, ७२–एकपदे, ७३–युत्, ७४–आतः। चादिरप्याकृतिगणः।–

३६७. स्वरादीति—यह सञ्ज्ञासूत्र है। शब्दार्थ है—(स्वरादिनिपातम्) स्वर् आदि और निपात (अव्ययम्) अव्यय-संज्ञक होते हैं। स्वर् आदि प्रस्तुत सूत्र के अन्तर्गत 'गणपाठ' में तथा निपात 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' १.४.५६ सूत्र के अन्तर्गत पढ़े गये हैं। वृत्ति में प्रमुख स्वरादि और निपातो का उल्लेख कर दिया गया है, अतः यहां उनका पुनः उल्लेख करना व्यर्थ होगा। आवश्यकतानुसार उन्हें वहीं देख लेना चाहिये।

(ग० सू०) उपसर्गेति—सूत्र का भावार्थ है—उपसर्ग-प्रतिरूपक, विभक्ति-प्रतिरूपक और स्वर-प्रतिरूपक भी चादिगण के अन्तर्गत हैं अर्थात् वे भी निपात-संज्ञक होते हैं। जो वस्तुतः उपसर्ग तो न हों किन्तु उपसर्ग के समान प्रतीत हों, उन्हें 'उपसर्गप्रतिरूपक' कहते हैं। इसी प्रकार विभक्ति के समान प्रतीत होनेवाले 'विभक्ति-प्रतिरूपक' और स्वर के समान प्रतीत होनेवाले 'स्वरप्रतिरूपक' कहलाते हैं। निपात होने से इनकी भी अव्यय-संज्ञा होगी। उदाहरण के लिए 'अवदत्तम्' में 'अव' उपसर्ग-सदृश है, अतः निपात होने से वह अव्यय-संज्ञक होगा। यदि वह उपसर्ग होता, तो 'अच उपसर्गात्तः' ७.४.४७ से घुसंज्ञक 'दा' को तकार अन्तादेश हो 'अवत्तम्' रूप बनता। विभक्तिप्रतिरूपक का उदाहरण 'अहंयु' में मिलता है। यहां 'अहम्' शब्द 'अस्मद्' प्रातिपदिक के प्रथमा के एकवचन के समान प्रतीत है, अतः अव्यय होने के कारण 'अहंशुभयोर्युस्' ५.२.१४० से 'युस्' प्रत्यय हो 'अहंयु' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अ', 'आ' आदि स्वर-प्रतिरूपक भी अव्यय हैं। वृत्ति में इनका भी परिगणन हुआ है।

३६८. तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः । १ । १ । ३८

यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते, स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्। परिगणनं कर्त्तव्यम्।

तसिलादयः प्राक्पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थः।

तसि-वती। ना-नाञौ। एतदन्तमव्ययम्। अत इत्यादि।

५४–सम्बोधन, वितर्क, ५५–सम्बोधन, ५६–सम्बोधन, ५७–सम्बोधन, ५८–सम्बोधन, ५९–सम्बोधन, ६०–ठीक तरह, ६१–शीघ्र, ६२–अनादर, ६३–सम्बोधन, ६४–सम्बोधन, ६५–सम्बोधन, ६६–सम्बोधन, ६७–सम्बोधन, ६८–सम्बोधन, ६९–सम्बोधन, ७०–पादपूर्ति, हिंसा, ७१–नाना, साम्य, ७२–शीघ्र, ७३–कुत्सा, ७४–इसलिए भी।

३६८. तद्धित इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(च) और (असर्वविभक्तिः*) जिससे सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं होती हैं ऐसे (तद्धितः†) तद्धित-प्रत्ययान्त...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए '३६७—स्वरादि-०' से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। तद्धित-प्रत्यय 'तद्धिताः' ४.१.७६ के अधिकार में पढ़े गये हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिससे सारी विभक्तियां उत्पन्न नहीं होतीं, ऐसा तद्धित-प्रत्ययान्त 'अव्यय' संज्ञक होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस तद्धित-प्रत्ययान्त के रूप सभी विभक्तियों में नहीं बनते हैं, उस तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द को 'अव्यय' कहते हैं।

ध्यान रहे कि सभी प्रातिपदिकों से तीन वचनों (एकवचन, द्विवचन और बहुवचन) में 'सु' आदि २१ विभक्तियां होती हैं। जिन तद्धितान्त शब्दों के रूप इन सभी विभक्तियों में नहीं चलते, उन्हें 'अव्यय' कहते हैं। उदाहरणार्थ 'अतः' शब्द के अन्त में तद्धित-प्रत्यय 'तसिल्' है, अतः यह तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द है। साथ ही इसके रूप भी सभी विभक्तियों में नहीं चलते। इसलिए प्रकृत सूत्र से 'अतः' अव्यय-संज्ञक होता है। इसी प्रकार 'कुत्र' आदि अन्य तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द (जिनके रूप सभी विभक्तियों में नहीं बनते) भी 'अव्यय' संज्ञक होंगे।

विशेष—सुविधा के लिए यहां उन तद्धित-प्रत्ययों को दिया जा रहा है जिनके अन्त में होने पर शब्दों के रूप सभी विभक्तियों में नहीं बनते—

१—तसिल्, २—त्रल्, ३—ह, ४—अत्, ५—दा, ६—र्हिल्, ७—दानीम्, ८—धुना, ९—द्यस् आदि, १०—थाल्, ११—थमु, १२—था, १३—अस्ताति, १४—अतसुच्, १५—रिल्, १६—आति, १७—अ, आ, १८—आति, १९—एनप्, २०—आच्, २१—आहि, २२—असि, २३—धा, २४—ध्यमुञ्, २५—धमुञ्, २६—एधाच्, २७—शस्, २८—तसि, २९—च्वि, ३०—साति, ३१—त्रा, ३२—डाच्, ३३—अम्, ३४—आम्, ३५—कृत्वसुच्, ३६—सुच्, ३७—धा, ३८—तसि, ३९—वति, ४०—ना और ४१—नाञ्।

उक्त प्रत्ययों में से कोई भी प्रत्यय यदि किसी शब्द के अन्त में होगा तो उस शब्द के रूप सभी विभक्तियों में नहीं बनेंगे। दूसरे शब्दों में, वह शब्द अव्यय-संज्ञक होगा।

३६९. कृन्मेजन्तः‡ । १ । १ । ३९

कृद् यो मान्त एजन्तश्च, तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै।

---

* 'यस्मान्न सर्वविभक्तेरुत्पत्तिः सोऽसर्वविभक्तिः'—काशिका।

† यहाँ 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तदन्त-विधि हो जाती है।

‡ इसका पदच्छेद है—'कृत् + मेजन्तः'।

३६९. कृदिति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(मेजन्तः) मकारान्त और एजन्त (कृत्) कृत्-प्रत्यय...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए '३६७–स्वरादि–०' से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'कृत्' से तदन्त का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिसके अन्त में मकारान्त और एजन्त (जिसके अन्त में ए, ओ, ऐ अथवा औ हो) कृत्-प्रत्यय* हो, उसकी 'अव्यय' संज्ञा होती है।

कृत्-प्रत्ययों में मकारान्त चार हैं—णमुल्, कमुल्, खमुञ् तथा तुमुन्। एजन्त कृत्-प्रत्यय 'तुमर्थे से–०' ३.४.९ आदि सूत्रों से वेद में विधान किये जाते हैं। इनमें 'से', 'सेन्', 'असे', 'असेन्' और 'शध्यै' आदि का परिगणन होता है। इस प्रकार ये मकारान्त और एजन्त प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में होते हैं, उनकी 'अव्यय' संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'स्मारं स्मारम्' में 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' ३.४.२२ से मकारान्त 'णमुल्' प्रत्यय हुआ है। अतः तदन्त 'स्मारं स्मारम्' की 'अव्यय' संज्ञा होती है। इसी प्रकार 'से' प्रत्ययान्त होने से 'जीवसे' और 'शध्यै'-प्रत्ययान्त होने से 'पिबध्यै' अव्यय-संज्ञक होता है।

३७०. क्त्वा-तोसुन्-कसुनः। १। १। ४०

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः।

३७०. क्त्वातोसुन् इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(क्त्वा-तोसुन्-कसुनः) क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय...। पर ये क्या हों—यह जानने के लिए '३६७–स्वरादि–०' से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह बहुवचन में विपरिणत हो जाता है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ प्रत्ययों से तदन्त का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्त्वाप्रत्ययान्त, तोसुन्-प्रत्ययान्त और कसुन्-प्रत्ययान्त 'अव्यय' संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए क्त्वा-प्रत्ययान्त होने से 'पठित्वा', तोसुन्-प्रत्ययान्त होने से 'उदेतोः' और कसुन्-प्रत्ययान्त होने से 'विसृपः' अव्ययसंज्ञक होंगे।

३७१. अव्ययीभावश्च। १। १। ४१

अधिहरि।

३७१. अव्ययीभावश्चेति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(च) और (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव समास ..। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '३६७–स्वरादि–०' से 'अव्ययम्' की

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ३०२ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अव्ययीभाव* समास अव्यय-संज्ञक होता है। उदाहरण के लिए 'अधिहरि' में '९०८-अव्ययं विभक्ति-०' सूत्र से अव्ययीभाव समास हुआ है। अतः इसकी अव्यय संज्ञा होगी।

३७२. अव्ययादाप्सुपः[६] । २ । ४ । ८२

अव्ययाद् विहितस्यापः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्।

(अव्ययलक्षणम्)

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।

(भागुरिमतम्)

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा।

वगाहः। अवगाहः। पिधानम्, अपिधानम्।

इत्यव्ययानि।

[इति पूर्वार्द्धम्।]

३७२. अव्ययादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अव्ययाद्) अव्यय से विहित (आप्सुपः) आप् और सुप् प्रत्ययों का। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अव्यय से विहित आप् (टाप्, डाप् आदि स्त्रीप्रत्यय) तथा सुप् (सु, औ, जस् आदि) प्रत्ययों का लुक् अर्थात् लोप होता है। उदाहरण के लिए 'तत्र शालायाम्' में 'तत्र' शब्द तद्धित त्रल्प्रत्ययान्त है। 'शाला' इस स्त्रीलिङ्ग का विशेषण होने से टाप् प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु अव्यय से विहित होने के कारण उसका लोप हो जाता है। अतः 'तत्र' का रूप 'तत्र' ही रहता है।

विशेष—वृत्तिकार ने इस प्रकरण के अन्त में दो आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है। अतः व्याख्या में उनका अर्थ दिया जा रहा है—

सदृशमिति—यह अव्यय की परिभाषा है। भावार्थ है—जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों और सब वचनों में विकार को नहीं प्राप्त होता अर्थात् बदलता नहीं, उसे अव्यय कहते हैं।

---

* जो समास '९०७-अव्ययीभावः' के अधिकार में होता है, उसे 'अव्ययीभाव' कहते हैं।

वष्टि इति—श्री भागुरि आचार्य 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लोप चाहते हैं तथा हलन्त शब्दों से स्त्री-बोधक 'आप्' प्रत्यय विधान करना चाहते हैं। पाणिनि का मत न होने के कारण ये आदेश विकल्प से होंगे। 'अव' और 'अपि' के अकार लोप के उदाहरण 'वगाहः' (गोता) और 'पिधानम्' (ढकना) शब्दों में मिलते हैं। लोपाभावपक्ष में 'अवगाहः' और 'अपिधानम्' रूप बनेंगे। इसी प्रकार हलन्त शब्दों से 'आप्' प्रत्यय के उदाहरण 'निशा', 'वाचा', 'दिशा' आदि में मिलते हैं। अभावपक्ष में 'निश्', 'वाच्', 'दिश्' आदि रूप रहेंगे।

अव्ययप्रकरण समाप्त।

[पूर्वार्द्ध समाप्त।]

तिङन्तप्रकरणम्

[उत्तरार्धम्]

भ्वादिगणः

लट् । लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लङ् । लिङ् । लुङ् । लृङ् । एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः ।

३७३. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः । ३ । ४ । ६९

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च ।

३७३. ल इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्मणि) कर्म में (च) और... (अकर्मकेभ्यः) अकर्मक से (भावे) भाव में (च) तथा...(लः*) लकार होते हैं । सूत्र में 'च' के प्रयोग से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कर्तरि कृत्' ३.४.६७ से 'कर्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्र में दो बार 'च' का प्रयोग होने से इस 'कर्तरि' का योग 'कर्मणि' और 'भावे'–इन दोनों से ही होता है । कर्म तो सकर्मक धातुओं से ही सम्भव है, अतः सूत्र के पूर्वभाग में 'कर्मणि' (कर्म में) का उल्लेख होने से 'सकर्मक' का अध्याहार हो जाता है । साथ ही 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार तो है ही । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सकर्मक† धातुओं से कर्ता और कर्म में तथा अकर्मक‡ धातुओं से कर्ता और भाव में लकार§ होते हैं ।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि धातु चाहे सकर्मक हो या अकर्मक—कर्ता दोनों में ही आता है । अतः लकार का प्रयोग तीन ही रूपों में होगा—कर्ता, कर्म और भाव

---

* 'ल इत्युत्सृष्टानुबन्धं सामान्यं गृह्यते । प्रथमाबहुवचनं चैतत्'—काशिका ।

† ‡ सकर्मक और अकर्मक धातुओं का अन्तर इस प्रकार बताया गया है :

> 'क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षाम् ।
> सकर्मकं तं सुधियो वदन्ति शेषस्ततो धातुरकर्मकः स्यात् ॥'

अर्थात्—कर्ता से युक्त जिस क्रियापद को 'किम्' (क्या) की अपेक्षा रहती है, उसे 'सकर्मक' और इससे भिन्न को 'अकर्मक' क्रिया कहते हैं ।

§ संस्कृत में काल और वृत्तियों (Moods) का बोध कराने के लिए धातुओं से लकारों का प्रयोग किया जाता है । ये लकार दस हैं—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ् । इन सभी में लकार वर्तमान होने के कारण ही इनको समष्टिरूप से 'लकार' कहते हैं । इनका स्पष्ट विवेचन इस भाग के 'पूर्वाभास' में किया गया है ।

में। इनको ही क्रमशः कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः इस सूत्र का अभिप्राय इन्हीं वाच्य-विभेदों को स्पष्ट करना है। वाच्य-परिवर्तन के साथ-साथ वाक्य-रचना में भी अन्तर पड़ जाता है। उदाहरण के लिए कर्तृवाच्य में लकार कर्ता में होता है। तात्पर्य यह है कि लकार का वचन और पुरुष कर्ता के अनुसार ही होता है, जैसे 'रामः पुस्तकं पठति'। यहां कर्ता 'रामः' के अनुसार ही क्रिया 'पठति' का प्रयोग हुआ है। कर्मवाच्य में कर्म प्रथमान्त और कर्ता तृतीयान्त होता है। इस प्रकार लकार का सम्बन्ध कर्ता से न होकर कर्म से हो जाता है। उदाहरणार्थ 'रामेण रावणः हतः' में कर्म 'रावणः' के अनुसार ही क्रिया 'हतः' का प्रयोग होता है। भाववाच्य में क्रिया का केवल होना मात्र दिखाया जाता है। वह सदैव प्रथमपुरुष एकवचनान्त होती है। यहां लकार कर्ता और कर्म—दोनों से ही स्वतंत्र हो जाता है। 'देवदत्तेन स्थीयते' में क्रिया का लकार कर्ता अथवा कर्म से अनुशासित नहीं है। सूत्र में कर्ता, कर्म और भाव में लकार कहने का यही तात्पर्य है।

३७४. वर्तमाने लट्। ३। २। १२३

वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ। उच्चारणसामर्थ्यात् लस्य नेत्त्वम्। भू सत्तायाम्। कर्तृविवक्षायां भू ल् इति स्थिते।

३७४. वर्तमाने इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(वर्तमाने) वर्तमान काल में (लट्) लट् लकार होता है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल की विवक्षा में धातु के साथ लट् लकार का प्रयोग होता है। 'लट्' में टकार और लकारोत्तरवर्ती अकार इत्संज्ञक हैं, अतः 'तस्य लोपः' १.३.९ से उनका लोप होकर 'ल्' मात्र ही शेष रह जाता है। यहां 'हलन्त्यम्' १.३.३ सूत्र से लकार (ल्) की भी इत्संज्ञा प्राप्त होती है, किन्तु उच्चारणसामर्थ्य के कारण उसकी इत्संज्ञा नहीं होगी, अन्यथा 'तस्य लोपः' १.३.९ से उसका लोप हो जाने पर कुछ भी शेष न रहता। फिर तो उसका उच्चारण ही व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार वर्तमान काल की विवक्षा में 'भू' धातु से 'लट्' का योग होता है—'भू + ल्'।

३७५. तिप्तस्झि-सिप्थस्थ-मिब्वस्मस्-तातांझ-थासाथांध्व-मिड्वहिमहिङ्। ३। ४। ७८

एतेऽष्टादश लादेशाः स्युः।

३७५. तिप्तसिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तिप्तस्झि०) तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप्, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि, महिङ्। किन्तु इससे सूत्र का भावार्थ स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लस्य'

३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी। प्रस्तुत सूत्र प्रथमा विभक्ति में है, अतः वह आदेश-बोधक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लकार के स्थान पर तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप्, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि और महिङ्—ये अठारह आदेश होते हैं। तात्पर्य यह कि धातु के योग में आनेवाले लकार (यथा—लट्, लिट् आदि) के स्थान पर उक्त अठारह प्रत्ययों में से कोई प्रत्यय आदेश होता है।

३७६. लः* परस्मैपदम्[1] । १ । ४ । ९९

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः ।

३७६. **ल इति**—यह संज्ञाविधायक सूत्र है। शब्दार्थ है—(लः) लकार के स्थान पर आदेश होनेवाले (परस्मैपदम्) परस्मैपद-संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिये पूर्वसूत्र (३७५) से लकार के स्थान पर तिप्, तस् आदि अठारह प्रत्यय आदेश होते हैं। प्रकृतसूत्र द्वारा इन सभी की 'परस्मैपद' संज्ञा हो जाती है।

विशेष—वस्तुतः यह सामान्य सूत्र है। इसके कुछ अपवाद आगे दिये जा रहे हैं।

३७७. तङानावात्मनेपदम्[1] । १ । ४ । १००

तङ्प्रत्याहारः शानच्-कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसंज्ञाऽपवादः ।

३७७. **तङानेति**—यह भी संज्ञा-सूत्र है और शब्दार्थ है—(तङ्) तङ्, (आनौ) शानच्-कानच् (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हों। तङ् प्रत्याहार है। यह त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि और महिङ् का बोधक है। शानच् और कानच् प्रत्यय हैं। इस प्रकार सूत्र के अनुसार यदि त, आताम् आदि नौ में से कोई भी लकार के स्थान पर आदेश होगा अथवा शानच् या कानच् का विधान होगा तो उनकी आत्मनेपद संज्ञा होगी। यह सूत्र पूर्ववर्ती सूत्र का अपवाद है।

३७८. अनुदात्तङित आत्मनेपदम् । १ । ३ । १२

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् ।

३७८. **अनुदात्तेति**—यह पदव्यवस्था का सूत्र है। शब्दार्थ है—(अनुदात्तङितः)† अनुदात्तेत् [जिसका अनुदात्त स्वर इत् हो] और ङित् से (आत्मनेपदम्) आत्मनेपद हो। जैसा कि पूर्वसूत्र (३७७) से स्पष्ट है, आत्मनेपद संज्ञा तङ् और

---

* 'ल इति षष्ठी आदेशापेक्षा'—काशिका।

† इस शब्द का विग्रह इस प्रकार है—अनुदात्तश्च ङश्च अनुदात्तङौ, तौ इतौ यस्य स 'अनुदात्तङित्', तस्मात्।

शानच्-कानच् की बोधक है। इस प्रकार सूत्र के अनुसार अनुदात्तेत् और ङित् धातुओं से तङ्, शानच् और कानच् प्रत्ययों का विधान हो। यही इस सूत्र का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए 'एध' धातु का धकारोत्तरवर्ती अकार अनुदात्त तथा इत्संज्ञक है, अतः इससे आत्मनेपद आवेगा। इसी भाँति 'ङ्' के इत् होने से 'शीङ्' धातु से भी आत्मनेपद आता है।

३७९. स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले। १। ३। ७२

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले।

३७९. **स्वरितेति**—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्वरितञितः)* स्वरितेत् और ञित् से (कर्त्रभिप्राये क्रियाफले) कर्तृगामी क्रियाफल होने पर। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्वरितेत् (जिसका स्वरित स्वर इत् हो) और ञित् धातु से आत्मनेपद हो, यदि क्रिया का फल कर्तृगामी हो। यहाँ भी आत्मनेपद कहने से तङ्, शानच् और कानच् का विधान अभिप्रेत है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि यह सूत्र तभी प्रवृत्त होगा जब क्रिया का फल कर्तृगामी हो। क्रिया का फल दो प्रकार का हो सकता है—कर्तृगामी और परगामी। यदि फल कर्ता को मिलता है तो वह कर्तृगामी कहा जावेगा और इस अवस्था में आत्मनेपद आवेगा। क्रिया का फल यदि कर्ता को छोड़कर अन्य किसी को मिले, तो उसे परगामी कहा जाता है। प्रस्तुत सूत्र से यह भी सूचित होता है कि क्रिया का फल कर्तृगामी होने पर ही स्वरितेत् और ञित् धातुओं से आत्मनेपद होगा। यदि फल परगामी है तो आत्मनेपद न होकर परस्मैपद होगा। उदाहरण के लिए 'यज्' धातु का जकारोत्तरवर्ती अकार स्वरित और इत्संज्ञक है। अतः यह 'स्वरितेत्' धातु है। यहाँ पर जब यज्ञ का फल (पुत्र-प्राप्ति आदि) कर्ता को मिलेगा तो 'यज्ञमहं करिष्ये'—इस आत्मनेपदयुक्त वाक्य का प्रयोग होगा। इससे सूचित होता है कि कर्ता स्वयं अपने लिए यज्ञ कर रहा है, अतः वह फलभोक्ता भी स्वयं ही है। किन्तु यदि किसी अन्य के लिए यज्ञ किया जावे (जैसे पुरोहित अपने यजमान के लिए यज्ञ करता है), तो वहाँ आत्मनेपद न होकर परस्मैपद रूप प्रयुक्त होगा—'यज्ञमहं करिष्यामि'। यहाँ यद्यपि पुरोहित को दक्षिणा रूप फल प्राप्त होता है, किन्तु यज्ञ का मुख्य फल (पुत्र-प्राप्ति आदि) उसे नहीं मिलता है। इसी से यहाँ आत्मनेपद का प्रयोग नहीं होगा।

---

* इस पद का विग्रह इस प्रकार है—स्वरितश्च ञश्च स्वरितञौ, तौ इतौ यस्य स 'स्वरितेत्', तस्मात्।

इसी प्रकार ञित् धातु 'श्रिञ्' से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद का प्रयोग होगा, परगामी होने पर परस्मैपद होगा।

३८०. शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्। १। ३। ७८

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात्।

३८०. शेषादिति—यह भी पदव्यवस्था-सूत्र है। शब्दार्थ है—(शेषात्) शेष से (कर्तरि) कर्ता में (परस्मैपदम्) परस्मैपद हो। 'शेष' का अभिप्राय समझने के लिए इस सूत्र को इसके सन्दर्भ में देखना आवश्यक है। इसके पूर्ववर्ती सूत्रों में आत्मनेपद का विधान किया गया है। यह आत्मनेपद-प्रकरण '३७८—अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से प्रारम्भ होकर 'विभाषोपपदेन प्रतीयमाने' १.३.७७ तक जाता है। इन सूत्रों के आधार पर आत्मनेपद व्यवस्था सामान्यतः इन अवस्थाओं में होती है—१. भाववाच्य और कर्मवाच्य में, २. अनुदात्तेत्, ३. ङित्, ४. स्वरितेत् कर्तृगामी क्रियाफल होने पर और ५. ञित् कर्तृगामी क्रियाफल होने पर। 'शेष' कहने का यही तात्पर्य है कि इन अवस्थाओं को छोड़कर शेष में कर्तृवाच्य में परस्मैपद का विधान होता है। उदाहरण के लिए 'भू' धातु से आत्मनेपद का कोई निमित्त नहीं है, अतः उससे परस्मैपद आवेगा।

३८१. तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः। १। ४। १०१

तिङ उभयोः पदयोस्त्रयस्त्रिकाः क्रमात् एतत्संज्ञाः स्युः।

३८१. तिङ इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(तिङः) तिङ् के (त्रीणि) तीन (त्रीणि) तीन के समूह (प्रथममध्यमोत्तमाः) प्रथम, मध्यम और उत्तम-संज्ञक हों। तङ् प्रत्याहार में तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ्; मिप्, वस्, मस्; त, आताम्, झ; थास्, आथाम्, ध्वम्; इट्, वहि और महिङ्—इन अठारह प्रत्ययों का समाहार होता है। इनमें से प्रथम नौ की परस्मैपद संज्ञा होती है और शेष त, आताम् आदि नौ की आत्मनेपद संज्ञा*। इस सूत्र के अनुसार परस्मैपद और आत्मनेपद—दोनों के ही तीन-तीन त्रिकों (तीन के समूह) की क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा हो। इसको तालिका द्वारा इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

	परस्मैपद	आत्मनेपद
प्रथम—	तिप्, तस्, झि	त, आताम्, झ
मध्यम—	सिप्, थस्, थ	थास्, आथाम्, ध्वम्
उत्तम—	मिप्, वस्, मस्	इट्, वहि, महिङ्

* इसके स्पष्टीकरण के लिए सूत्र संख्या ३७६ तथा ३७७ की व्याख्या देखिये।

विशेष—इन्हीं को क्रमशः प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष कहते हैं।

३८२. तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः । १ । ४ । १०२

लब्धप्रथमादिसञ्ज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रत्येकमेकवचनादिसंज्ञानि स्युः ।

३८२. तान्येकेति—सूत्र का पदच्छेद है—तानि + एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि + एकशः । शब्दार्थ है—(तानि) वे (एकशः) एक-एक करके (एकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि) एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञक होते हैं। यहां सूत्रस्थ 'तानि' (वे) संकेतबोधक विशेषण है, किन्तु सूत्र में विशेष्य का उल्लेख न होने से भावार्थ स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '३८१—तिङस्त्रीणि त्रीणि—०' से 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तानि' इसी 'त्रीणि त्रीणि' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तिङ् के इन त्रिकों* (तीन-तीन के समूह) के तीन प्रत्ययों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है।

पूर्वसूत्र (३८१) से अठारह तिङ्-प्रत्ययों को तीन-तीन के समूहों में बांटा गया है। इस सूत्र से उन समूहों में आये हुए प्रत्ययों की एकवचन आदि संज्ञाओं का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए प्रथम समूह (त्रिक) में तिप्, तस् और झि—ये तीन प्रत्यय आते हैं। प्रस्तुत सूत्र से इनकी क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञाएं होती हैं अर्थात् 'तिप्' एकवचन, 'तस्' द्विवचन और 'झि' बहुवचन संज्ञक होगा। इसी प्रकार अन्य त्रिकों में भी एकवचनादि की व्यवस्था जाननी चाहिये।

३८३. युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः । १ । ४ । १०५

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः ।

३८३. युष्मदीति—शब्दार्थ है+(युष्मद्युपपदे = युष्मदि + उपपदे) युष्मद् उपपद रहने पर और (समानाधिकरणे) समान अधिकरण में (स्थानिन्यपि†) प्रयुज्यमान और अप्रयुज्यमान होने पर भी (मध्यमः) मध्यम-पुरुष होता है। तात्पर्य यह कि 'युष्मद्' शब्द उपपद रहने पर तथा समानाधिकरण में 'युष्मद्' शब्द के प्रयोग होने या न होने पर भी मध्यमपुरुष होता है। 'समानाधिकरण' का अर्थ है—

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (३८१) सम्बन्धी व्याख्या में दी हुई तालिका देखिये।

† इसका पदच्छेद है—'स्थानिनि + अपि'। 'स्थानिनि' का अर्थ है—'अप्रयुज्यमाने'। 'अपि' से 'प्रयुज्यमाने' अर्थ फलित होता है।

भिन्न-प्रवृत्ति वाले शब्दों का एक ही अर्थ में प्रवृत्त होना। प्रसङ्गानुसार यहां 'युष्मद्' तिङ् या क्रिया का समानाधिकरण होगा।* यह तभी संभव है जब दोनों का एक ही अर्थ अर्थात् कारक हो। सिप्, थस्, थ; थास्, आथाम् तथा ध्वम्—इन छः प्रत्ययों को मध्यम-पुरुष कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—'युष्मद्' शब्द उपपद रहने पर या क्रिया का कारक 'युष्मद्' होने पर (चाहे 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग हुआ हो या न हो) मध्यमपुरुष (सिप्, थस्, थ; थास्, आथाम् तथा ध्वम्) होता है। दूसरे शब्दों में, मध्यमपुरुष निम्नांकित दो अवस्थाओं में होता है—

१. 'युष्मद्' शब्द उपपद होने पर, और

२. क्रिया का कारक 'युष्मद्' होने पर। इस स्थिति में 'युष्मद्' शब्द का प्रयोग होने और न होने—इन दोनों ही अवस्थाओं में मध्यमपुरुष होता है।

उदाहरण के लिए 'युष्मद्' के कर्ता-कारक में होने पर 'त्वं गच्छसि' (तुम जाते हो)—इस प्रकार मध्यमपुरुष 'सिप्' का प्रयोग हो 'गच्छसि' रूप बनता है। यहां यदि 'त्वम्' का प्रयोग न भी हो, तब भी 'गच्छसि' रूप ही रहेगा।

३८४. अस्मद्युत्तमः। १। ४। १०७

तथाभूतेऽस्मद्युत्तमः।

३८४. अस्मदीति—सूत्र का पदच्छेद है—'अस्मदि+उत्तमः'। शब्दार्थ है—(अस्मदि) 'अस्मद्' शब्द होने पर (उत्तमः) उत्तमपुरुष होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '३८३-युष्मदि-०' से 'उपपदे', 'समानाधिकरणे' और 'स्थानिन्यपि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अस्मद्' शब्द उपपद रहने पर या क्रिया का कारक 'अस्मद्' होने पर (चाहे 'अस्मद्' शब्द का प्रयोग हुआ हो या न हो) उत्तमपुरुष (मिप्, वस्, मस्; इट्, वहि तथा महिङ्) होता है।† उदाहरण के लिए 'अस्मद्' के कर्ता-कारक में होने पर 'अहम् गच्छामि' रूप बनता है। यहां उत्तमपुरुष 'मिप्' का प्रयोग हो 'गच्छामि' रूप बना है। 'अहम्' का प्रयोग न होने पर भी 'गच्छामि' रूप ही रहता है।

३८५. शेषे प्रथमः। १। ४। १०८

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात्।

३८५. शेष इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शेषे) शेष में (प्रथमः) प्रथम-

---

* 'सामानाधिकरण्यमेकार्थबोधकत्वम्। तच्च प्रत्यासत्त्या लकारेणैव—' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (टिप्पणी)।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (३८३) की व्याख्या देखिये।

पुरुष होता है। 'शेष' का अर्थ है—जो कहा जा चुका है, उसको छोड़कर अन्य (उक्तादन्यः शेषः)। इस सूत्र के पूर्व '३८३-युष्मदि-०' से लेकर '३८४-अस्मदि-०' तक मध्यम और उत्तमपुरुष के विषयों का विवेचन हुआ है। उसके अनुसार 'युष्मद्' होने पर 'मध्यमपुरुष' और 'अस्मद्' होने पर 'उत्तमपुरुष' होता है। इन दो को छोड़कर जो कुछ बाकी रह जाता है, वही 'शेष' के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार 'शेष' के अन्तर्गत 'युष्मद्' और 'अस्मद्' छोड़कर सभी सर्वनाम (यथा—इदम्, एतद्, तद्, अदस्, किम्, यद्) और संज्ञाएं (यथा—'रामः' आदि) आ जावेंगी। अतः प्रकृत सूत्र के अनुसार इन शब्दों के साथ प्रथम-संज्ञक तङ्—तिप्, तस्, झि; त, आताम् और झ—इन प्रत्ययों का प्रयोग होगा। उदाहरण के लिए 'सः गच्छति' 'रामः पठति' आदि में प्रथम-संज्ञक प्रत्यय 'तिप्' का प्रयोग हुआ है।

विशेष—ध्यान रहे कि संस्कृत-रचना में कर्ता के पुरुष और वचन के अनुसार ही क्रिया का पुरुष और वचन होता है। पूर्ववर्ती सूत्र '३८१-तिङस्त्रीणि-०' में क्रिया के हेतुभूत तङ् प्रत्ययों के उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुषों का विवेचन किया गया है। अतः इसके पश्चात् कारक के भी पुरुषों का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि कर्ता के अनुरूप ही क्रिया का प्रयोग होता है। इसी का विवेचन प्रस्तुत तीन सूत्रों (३८३, ३८४, ३८५) में हुआ है। इन सूत्रों के लिखने का यही अभिप्राय है कि कर्ता के पुरुष के अनुसार ही क्रिया-रूप का प्रयोग हो।

३८६. तिङ्[१] शित्[१] सार्वधातुकम्[१]। ३। ४। ११३

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः।

३८६. तिङ् इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है। (तिङ्) तिङ्, (शित्) शित् (सार्वधातुकम्) सार्वधातुक-संज्ञक हों। प्रस्तुत सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ के अधिकार में आया है। अतः धात्वधिकार में ही तिङ् और शित्* प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होगी। उदाहरण के लिए 'भू+तिप्' में 'तिङ्'-'तिप्' की सार्वधातुक संज्ञा होती है। पकार की '१-हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है, अतः रूप बनता है—'भू+ति'।

३८७. कर्तरि[७] शप्[१]। ३। १। ६८

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप्।

३८७. कर्तरीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्तरि) कर्ता में (शप्) शप् हो।

---

* वे प्रत्यय, जिनका शकार इत्संज्ञक हो, शित् प्रत्यय कहलाते हैं। उदाहरण के लिए 'एजेः खश्' ३.२.२८ से विहित 'खश्' प्रत्यय 'शित्' है क्योंकि उसका शकार इत्संज्ञक है।

किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। इसके लिए 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' ३. १. २२ से 'धातोः' और 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'कर्तरि' इस 'सार्वधातुके' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तावाची (कर्तृवाच्य में) सार्वधातुक परे होने पर धातु से 'शप्' प्रत्यय होता है। 'शप्' प्रत्यय के पकार और शकार इत्संज्ञक हैं। पकार की '१–हलन्त्यम्' और शकार की '१३६–लशकु–०' से इत् संज्ञा होती है। इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाता है। केवल शेष 'अ' का ही प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'भू+ति' में तिङ्–'ति' सार्वधातुक है। कर्ता में लकार होने से तथा उस लकार के स्थान में आदेश होने पर इसका भी अर्थ कर्ता हो जाता है। अतः इसके परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा 'शप्' प्रत्यय होकर 'भू अ ति' रूप बनता है। यहां '१३३–यस्मात् प्रत्ययविधि–०' १.४.१३ परिभाषा से शप् से परे होने पर भी धातु 'भू' की अङ्ग संज्ञा होती है।

३८८. सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः । ७ । ३ । ८४

अनयोः परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः।

३८८. सार्वधातुकेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(सार्वधातुक०) सार्वधातुक और आर्धधातुक के परे होने पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मिदेर्गुणः' ७.३.८२ से 'गुणः' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां ध्यान रहे कि गुण-आदेश 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ परिभाषा से 'इक्' के स्थान पर ही होता है। अतः यहां 'इकः' का भी अध्याहार हो जाता है। यह 'इकः' 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सार्वधातुक* और आर्धधातुक† के परे होने पर इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) अन्तवाले अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश होता है। यह आदेश '२१–अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से अंग के अन्त्य इक् इ, उ, ऋ, ऌ—के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'भू अ ति' में ऊकारान्त 'भू' इगन्त है और उससे परे सार्वधातुक 'ति' है। अतः प्रकृतसूत्र से अन्त्य ऊकार के स्थान पर गुण–ओकार होकर 'भ् ओ अ ति' रूप बनता है। यहां '२२–एचोऽयवायावः' ६.१.७८ से ओकार के स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'भ् अव् अ ति'= 'भवति' रूप सिद्ध होता है।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ३८६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए ४०४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

३८९. झोऽन्तः । ७ । १ । ३

प्रत्ययाऽवयवस्य झस्याऽन्तादेशः ।

अतो गुणे—भवन्ति ।

भवसि, भवथः, भवथ ।

३८९. झ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झः) झ् के स्थान पर (अन्तः*) अन्त् आदेश हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आयनेयीनीयियः–०' ७.१.२ से अवयव-षष्ठ्यन्त 'प्रत्यय' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रत्यय के (अवयव) झकार के स्थान पर 'अन्त्' आदेश होता है । उदाहरण के लिए प्रथम के बहुवचन 'भू + झि' में प्रत्ययावयव 'झ्' के स्थान पर 'अन्त्' आदेश होकर 'भू + अन्त् इ' = 'भू + अन्ति' रूप बनता है ।†

३९०. अतो दीर्घो यञि । ७ । ३ । १०१

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके ।

भवामि, भवावः, भवामः । स भवति, तौ भवतः, ते भवन्ति । त्वं भवसि, युवां भवथः, यूयं भवथ । अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः ।

३९०. अत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है— (यञि) यञ् परे होने पर (अतो) अकार के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' ७.३.९५ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी । यह 'यञि' का विशेष्य है । इसके साथ ही साथ 'अङ्गस्य' ६.४.१ अधिकार-सूत्र की भी अनुवृत्ति करनी होगी । यह 'अतः' का विशेष्य है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—यञादि सार्वधातुक‡ (जिसके आदि में य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, या भ् हो) परे होने पर अदन्त अङ्ग (जिसके अन्त में ह्रस्व अकार हो) के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है । यहां '२१–अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से दीर्घादेश अङ्ग के अन्त्य अकार के स्थान पर ही होगा । उदाहरण के लिए उत्तम-एकवचन में 'भू + मि' रूप बनता है । यहां पहले शप्, गुण और अवादेश होने पर 'भव + मि' रूप बनेगा । तब यञ्–मकार आदि वाला 'मिप्' सार्वधातुक परे होने पर 'भव' के अन्त्य अकार को दीर्घ होकर 'भवामि' रूप सिद्ध होता है ।

३९१. परोक्षे लिट् । ३ । २ । ११५

भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात् । लस्य तिबादयः ।

---

* 'अन्तः' के तकार में अकार उच्चारणार्थ आया है ।

† इसकी विस्तृत प्रक्रिया के लिए परिशिष्ट में 'भवन्ति' की रूप-सिद्धि देखिये ।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए ३८६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

३९१. परोक्ष इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परोक्षे) परोक्ष में (लिट्) लिट् लकार होता है। परोक्ष का अर्थ है—जो सामने न हो। एक अर्थ में तो सभी प्रकार की क्रियाएं परोक्ष कही जा सकती हैं क्योंकि उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, किन्तु यहां परोक्ष का तात्पर्य है—व्यापार-विशिष्ट के साधनों का सम्मुख उपस्थित न होना। इसके साथ ही साथ सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'अनद्यतने लङ्' ३.२.१११ से 'अनद्यतने' तथा अधिकार-सूत्र 'भूते' ३.२.८४ और 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनद्यतन (आज न होनेवाले) परोक्ष-भूत में वर्तमान धातु से लिट् (ल्*) होता है। यहां '३७५—तिप्तस्झि—०' ३.४.७८ से लकार के स्थान पर तिप् तस् आदि अठारह आदेश प्राप्त होते हैं। किन्तु अग्रिम सूत्र से इसका बाध हो जाता है—

३९२. परस्मैपदानां[६] णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः[१] । ३ । ४ । ८२

लिटस्तिबादीनां नवानां णलादयः स्युः ।
'भू अ' इति स्थिते—

३९२. परस्मै इति—सूत्र का शब्दार्थ है— (परस्मैपदानां) परस्मैपद के स्थान में (णलतुसुस्० —) णल्, अतुस्, उस्; थल्, अथुस्, अ; णल्, व और म आदेश होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' ३.४.८१ से 'लिटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। परस्मैपदों में तिप्, तस्, झि; सिप्, थस्, थ; मिप्, वस् और मस्—इन नौ प्रत्ययों का समाहार होता है। इनके स्थान पर नौ आदेशों का विधान किया गया है। '२३—यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० परिभाषा से यह आदेश क्रमानुसार होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—लिट्-स्थानी परस्मैपद तिप्, तस् आदि के स्थान पर क्रमशः णल्, अतुस् आदि आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'भू+तिप्' में लिट् की विवक्षा में तिप् के स्थान पर णल् आदेश होता है। 'णल्' में णकार और लकार की इत्संज्ञा होने पर उनका लोप होकर केवल अकार ही शेष रह जाता है और इस प्रकार रूप बनता है—'भू + अ'।

३९३. भुवो[६] वुग्[१] लुङ्लिटोः[७] । ६ । ४ । ८८

भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि ।

३९३. भुव इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(लुङ्लिटोः) लुङ् और लिट् परे होने पर (भुवः) 'भू' धातु का अवयव (वुग्) 'वुक्' होता है।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ३७४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† अधिक स्पष्टीकरण के लिए ३७७ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचि श्नुधातु-भ्रुवां–०' ६.४.७७ से 'अचि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस 'अचि' का अन्वय सूत्रस्थ 'लुङ्लिटोः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुङ् या लिट् का अच् (स्वर-वर्ण) परे होने पर 'भू' धातु का अवयव 'वुक्' होता है। दूसरे शब्दों में, लुङ् या लिट्-स्थानीय अजादि प्रत्यय (जिसके आदि में स्वर-वर्ण हो) परे होने पर 'भू' धातु को 'वुक्' आगम होगा। इस 'वुक्' का 'उक्' भाग इत्संज्ञक है, अतः कित् होने से यह 'भू' धातु का अन्तावयव बनता है।* उदाहरण के लिए 'भू+अ' में लिट्-स्थानीय अजादि प्रत्यय 'णल्' (अ) परे होने के कारण 'भू' धातु को 'वुक्' (व्) आगम हो 'भू व् अ' रूप बनता है।

३९४. [७]लिटि [६]धातोरनभ्यासस्य[६] । ६ । १ । ८

लिटि परे अनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदिभूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य।

'भूव् भूव् अ' इति स्थिते—

३९४. लिटीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिटि) लिट् परे होने पर (अनभ्यासस्य) अभ्यास-रहित (धातोः) धातु के...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ और 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६.१.२—इन दो अधिकार-सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां दो प्रकार के आदेशों का विधान किया गया है। प्रथम में सूत्रस्थ 'धातोः' से 'एकाचो प्रथमस्य' सम्बन्धित है और दूसरे में 'अजादेर्द्वितीयस्य'। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यास-रहित (जिसका पहले द्वित्व न हुआ हो) धातु के प्रथम एकाच् (एक स्वर वाला समुदाय) को द्वित्व होता है, किन्तु अभ्यास-रहित धातु यदि अजादि होगी तो उसके द्वितीय एकाच् को द्वित्व होगा। प्रथम नियम हलादि (जिनके आदि में कोई व्यंजन हो) धातुओं के विषय में है और दूसरा नियम अजादि (जिनके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) धातुओं के विषय में है। ध्यान रहे कि ये दोनों नियम लिट् (अर्थात् लिट्-स्थानीय प्रत्यय) परे होने पर ही प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि धातु का पहले ही द्वित्व न हुआ हो, तो लिट्-स्थानीय प्रत्यय परे होने पर हलादि धातु के प्रथम एकाच् और अजादि धातु के द्वितीय एकाच् का द्वित्व हो जाता है। यह अन्तर वस्तुतः अनेकाच् (अनेक स्वर-वर्ण वाली) धातुओं के ही विषय में है, क्योंकि एकाच् (एक स्वर-वर्ण वाली) धातुओं के विषय में प्रथम और द्वितीय अच् का प्रश्न ही नहीं उठता। वहां तो एक

* देखिये ८५ वें सूत्र की व्याख्या।

ही अच् होने के कारण हलादि और अजादि—इन दोनों ही रूपों में व्यपदेशिवद्भाव से सम्पूर्ण धातु का ही द्वित्व होता है। संक्षेप में, लिट् परे होने पर अभ्यास-रहित धातु के विषय में दो कार्य होते हैं—

(क) अनेकाच् हलादि धातु के प्रथम एकाच् और अनेकाच् अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।

(ख) सम्पूर्ण एकाच् धातु (चाहे वह अजादि हो या हलादि) को द्वित्व होता है।

उदाहरण के लिए 'चकास्' (चमकना) और 'ऊर्णुञ्' (आच्छादन करना) धातुएँ अनेकाच् हैं। प्रथम हलादि धातु है और द्वितीय अजादि। अतः लिट् परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'चकास्' के प्रथम एकाच्-'च' और 'ऊर्णुञ्' के द्वितीय एकाच् 'णु' को द्वित्व होगा। 'अत्' धातु अजादि एकाच् है, अतः सम्पूर्ण धातु को ही द्वित्व होगा। इसी प्रकार 'भूव् अ' में भी लिट् परे होने से हलादि एकाच् धातु 'भूव्'* को द्वित्व हो 'भूव् भूव् अ' रूप बनता है।

३९५. पूर्वोऽभ्यासः। ६। १। ४

अत्र ये द्वे विहिते, तयोः पूर्वोऽभ्यासंज्ञः स्यात्।

३९५. पूर्व इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(पूर्वः) पूर्व (अभ्यासः) अभ्यास संज्ञक होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ से 'द्वे' की अनुवृत्ति होती है; जो कि षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाता है। प्रसङ्गानुसार यहां 'एकाचो–०' ६.१.१ और 'अजादेः–०' ६.१.२ के अधिकार में होने वाले द्वित्व का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जहां 'एकाचो-०' ६.१.१ या 'अजादेः–०' ६.१.२ के अधिकार में द्वित्व करके दो रूप बनाये गये हों, वहां पूर्व रूप 'अभ्यास' कहलाता है। उदाहरण के लिए 'भूव् भूव् अ' में पूर्वसूत्र (३९४) से 'भूव्' का द्वित्व हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से यहां प्रथम 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा होती है।

३९६. हलादिः शेषः। ७। ४। ६०

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपे।

३९६. हलादिरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आदिः) आदि (हल्) हल् (शेषः) शेष रहता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टी-

---

* ध्यान रहे कि यहाँ 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा से 'भू' धातु से 'वुक्'–आगमसहित 'भूव्' का भी ग्रहण होता है।

करण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यास* का आदि (प्रारम्भ का या प्रथम) हल् (व्यंजन-वर्ण) शेष रह जाता है। तात्पर्य यह कि अभ्यास के प्रारम्भिक व्यञ्जन को छोड़कर अन्य सभी व्यञ्जनों का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'भूव् भूव् अ' में प्रथम 'भूव्' अभ्यास-संज्ञक है। अतः उसके आदि हल् भकार को छोड़कर अन्य हल्—वकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'भू भूव् अ'।

३९७. ह्रस्वः । ७ । ४ । ५९

अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात्।

३९७. ह्रस्व इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। इसके लिए 'सनि मीमाघुरभ-लभशकपतपदामच इस्' ७.४.५४ से 'अचः' और 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचः' 'अभ्यासस्य' का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यास के अच् (स्वर) को ह्रस्व आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह ह्रस्वादेश अभ्यास के अन्त्य स्वर के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए 'भू भूव् अ' में अभ्यास 'भू' के अच्—ऊकार को ह्रस्व उकार होकर 'भु भूव् अ' रूप बनता है।

३९८. भवतेरः । ७ । ४ । ७३

भवतेरभ्यासस्योकारस्य अ स्याल्लिटि।

३९८. भवतेरिति—सूत्र का पदच्छेद है—'भवतेः+अः'। शब्दार्थ है—(भवतेः) 'भवति' का…(अः) 'अ' आदेश होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' और 'व्यथो लिटि' ७.४.६८ से 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'भवति' कर्तृ-वाच्य में 'भू' धातु का ही रूप है, अतः इससे उसी का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'लिट्' (लिट्-स्थानीय प्रत्यय) परे होने पर 'भू' धातु के अभ्यास को अकार आदेश होता है। ध्यान रहे कि यह अकारादेश अभ्यास के स्वर-वर्ण के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'भु भूव् अ' में लिट्—'अ' परे होने के कारण 'भू' धातु के अभ्यास 'भु' के उकार को अकार हो 'भ् अ भूव् अ' = 'भ भूव् अ' रूप बनता है।

३९९. अभ्यासे चर्च । ८ । ४ । ५४

अभ्यासे झलां चरः स्युः, जशश्च।

* स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (३९५) की व्याख्या देखिये।

झलां जशः, खयां चर इति विवेकः ।

बभूव, बभूवतुः, बभूवुः ।

३९९. अभ्यासे इति—इस सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अभ्यासे) अभ्यास में (चर्) चर् होता है । यहाँ सूत्रस्थ 'च' से स्पष्ट है कि यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । इसको समझने के लिए 'झलां जश् झशि' ८.४.५३ से 'झलां जश्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यास में झलों के स्थान पर चर् हों और जश् भी । झल् प्रत्याहार में सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श् , ष् , स् , ह् का समावेश होता है । इनके स्थान पर आदेश हैं—चर् और जश् । चर् में सभी वर्गों के प्रथम वर्ण और श् , ष् , स् आते हैं और जश् में वर्गों के तृतीय वर्ण । अत्र यहाँ प्रश्न आता है कि किस वर्ण के स्थान पर कौन-सा वर्ण हो, क्योंकि आदेश दो हैं । इसका समाधान इस प्रकार है—प्रथम वर्ण को प्रथम वर्ण, तृतीय वर्ण को तृतीय वर्ण तथा श् , ष् , स् को श् , ष् , स् ही आदेश होंगे, क्योंकि ये स्थानी और आदेश—दोनों में ही मध्यस्थ(Common)हैं । अत्र शेष रह जाते हैं—द्वितीय और चतुर्थ वर्ण तथा हकार । इनमें द्वितीय वर्ण को प्रथम वर्ण (चर्) और चतुर्थ वर्ण को तृतीय वर्ण (जश्) आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'छिद्' धातु में द्वितीय वर्ण छकार को प्रथम वर्ण चकार होकर 'चिच्छेद' रूप बनता है । इसी प्रकार 'ढौक्' में चतुर्थ वर्ण ढकार को तृतीय वर्ण–डकार होकर 'डुढौके' रूप बनता है । हकार के स्थान पर '१७–स्थानेऽन्तरतमः' १.१.५० परिभाषा से चवर्ग–झकार आदेश होता है । संक्षेप में इस सूत्र की यही व्यवस्था है ।

'भ भूव् अ' में प्रकृतसूत्र से झल् चतुर्थ वर्ण भकार के स्थान पर जश् तृतीय वर्ण बकार होकर 'ब् अ भ् व् अ' = 'बभूव' रूप सिद्ध होता है ।

४००. लिट् च । ३ । ४ । ११५

लिडादेशस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

४००. लिडिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(च) और (लिट्) लिट्... । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकं शेषः' ३.४.११४ से 'आर्धधातुकम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् भी आर्धधातुक-संज्ञक होता है । ध्यान रहे कि लिट् के स्थान पर '३७५–तिप्तस्–०' से 'तिङ्' प्रत्यय आदेश हो जाते हैं, अतः प्रकृतसूत्र से लिट् के स्थान पर होनेवाले इन्हीं 'तिप्' आदियों की आर्धधातुक संज्ञा होती है । उदाहरण के लिए मध्यमपुरुष-एकवचन 'भू + थल्' में 'थल्' लिट्-स्थानीय 'तिङ्' है, क्योंकि यह 'तिङ्' के स्थान पर आया है । अतः स्थानिवद्भाव से यह भी लिट् होगा । तब प्रकृतसूत्र से 'थल्' की आर्ध-

धातुक संज्ञा होती है। 'थल्' में लकार इत्संज्ञक है अतः थकार ही शेष रह जाता है—'भू + थ'।

४०१. [६]आर्धधातुकस्येड्[१] वलादेः[६] । ७ । २ । ३५

वलादेरार्धधातुकस्येडागमः स्यात्। बभूविथ। बभूवथुः। बभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम।

४०१. आर्धधातुकेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(वलादेः) वलादि (आर्धधातुकस्य) आर्धधातुक का अवयव (इड्) इट् हो। 'वल्' प्रत्याहार में व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्—इनका समाहार होता है। इनमें से जब कोई व्यंजन आर्धधातुक के आदि में आता है, तो आर्धधातुक से 'इट्' का आगम होता है। 'इट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः इकार ही शेष रह जाता है। '८५-आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से टित् होने के कारण इकार आर्धधातुक के आदि में आता है। उदाहरण के लिए 'भू + थ' में वलादि आर्धधातुक 'थ' है, अतः उसके आदि में इकार आगम होता है—'भू इ थ'। यहाँ 'बभूव' के समान पूर्ववत् प्रक्रिया करने पर 'बभूविथ' रूप सिद्ध होता है।*

४०२. [७]अनद्यतने लुट्[१] । ३ । ३ । १५

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट्।

४०२. अनद्यतने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनद्यतने) अनद्यतन में (लुट्) होता है। अनद्यतन का अर्थ है—जो अद्यतन न हो। 'आज' बारह बजे रात के बाद दूसरी रात के बारह बजे अथवा प्रातःकाल से रात्रि की समाप्ति तक का समय होता है। इस समय के अन्दर जो क्रिया होती है, उसे 'अद्यतन' कहते हैं। यदि क्रिया इसके बाहर हो तो उसे 'अनद्यतन' कहते हैं। 'अनद्यतन' भूत और भविष्य दोनों में में ही हो सकता है। सूत्र से ज्ञात नहीं होता कि यहाँ किस काल की ओर संकेत है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भविष्यति गम्यादयः' ३.३.३ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'अनद्यतने' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनद्यतन भविष्यत् काल में 'लुट्' लकार होता है। तात्पर्य यह कि अनद्यतन भविष्यत् काल की विवक्षा में धातु से 'लुट्' लकार का प्रयोग होता है।

४०३. स्यतासी[१] लृलुटोः[७] । ३ । १ । ३३

धातोः स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्तः, लृलुटोः परतः। शबाद्यपवादः।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'बभूविथ' की रूप-सिद्धि देखिये।

'ल' इति लङ्लृटोर्ग्रहणम् ।

४०३. स्यातासीति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(लृलुटोः*) लङ्, लृट्, और लुट् के परे होने पर (स्यतासी) 'स्य' और 'तासि' प्रत्यय होते हैं। किन्तु इससे स्पष्ट नहीं होता कि ये प्रत्यय किससे होंगे। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचो-०' ३.१.२२ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्य' लङ् और लृट् से तथा 'तासि' लुट् से सम्बन्धित है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा— लङ् और लृट् परे होने पर धातु से 'स्य' प्रत्यय और लुट् परे होने पर 'तासि' प्रत्यय होता है। 'तासि' में इकार इत्संज्ञक है, अतः 'तास्' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए प्रथम एकवचन में लुट् लकार में 'भू+ति' रूप होता है। यहां '३८७-कर्तरि शप्' ३.१.६८ से 'शप्' प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृतसूत्र से लुट् 'ति' परे होने पर उसका बाध होकर 'तास्' आदेश हो जाता है और रूप बनता है— 'भू तास् ति'।

४०४. आर्धधातुकं शेषः । ३ । ४ । ११४

तिङ्शिद्भ्योऽन्यः 'धातोः' इति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् ।

४०४. आर्धधातुकेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शेषः) शेष (आर्धधातुकं) आर्धधातुक-संज्ञक हो। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र को उसके मूल सन्दर्भ में देखना आवश्यक है। प्रस्तुत सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ के अधिकार में आया है। इसके पूर्व 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' ३.४.११४ से तिङ् और शित् प्रत्ययों की 'सार्वधातुक' संज्ञा की गई है।† सूत्रस्थ 'शेषः' का अभिप्राय उक्त सूत्र से विहित इन्हीं तिङ् और शित् प्रत्ययों से भिन्न अन्य प्रत्ययों से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा। तिङ् और शित् प्रत्ययों को छोड़कर अन्य जिन प्रत्ययों का धातु से विधान किया गया है, उनकी आर्धधातुक संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'भू तास् ति' में '४०३-स्यतासी-०' ३.१.३३ से धातु 'भू' से 'तास्' प्रत्यय का विधान हुआ है। यह प्रत्यय पूर्वोक्त धात्वधिकार में है और तिङ् और शित् से भिन्न भी है। अतः प्रकृतसूत्र से इसकी आर्धधातुक संज्ञा होती है। यहां पर इट् आगम, गुणादेश और अवादेश होकर 'भवितास् ति' रूप बनता है।

---

* सूत्र में 'लृ' पद अनुबन्धरहित है, अतः 'निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम्' परिभाषा से 'लृ' द्वारा सामान्य लङ् और लृट् का ग्रहण होता है।

† ध्यान रहे कि यहाँ भी '४००-लिट् च' से लिट्-स्थानीय 'तिङ्' आर्धधातुक-संज्ञक होते हैं।

४०५. लुटः प्रथमस्य डारौरसः । २ । ४ । ८५

डित्त्वसामर्थ्यादभयस्यापि टेर्लोपः । भविता ।

४०५. लुट इति—सूत्र का शब्दार्थ है (लुटः) लुट् के (प्रथमस्य) प्रथम के स्थान पर (डारौरसः) डा, रौ, रस् आदेश हों । यहां आदेश तीन हैं, अतः प्रथम-पुरुष (परस्मैपद और आत्मनेपद) के तिप् या त, तस् या आताम् और झि या झ—इन तीन प्रत्ययों के ही स्थान पर होंगे । '२३–यथासंख्यम्–०' परिभाषा से तिप् या त के स्थान पर 'डा', तस् या आताम् के स्थान पर 'रौ' तथा झि या झ के स्थान पर 'रस्' आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'भवितास् ति' में लुट् के प्रथम 'तिप्' के स्थान पर 'डा' आदेश होता है । 'डा' में डकार इत्संज्ञक है, अतः आकार ही शेष रह जाता है और रूप बनता है—'भवितास् आ' । यहां डित् 'आ' परे होने के कारण '२४२–टेः' ६.४.१४३ से 'टि'–'आस्' का लोप होकर 'भवित् आ'='भविता' रूप सिद्ध होता है ।*

४०६. तासस्त्योर्लोपः । ७ । ४ । ५०

तासेरस्तेश्च लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे ।

४०६. तासस्त्योरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(तासस्त्योः) 'तास्' और 'अस्' धातु का (लोपः) लोप हो । यह लोप किस अवस्था में होना चाहिये, इसका निर्देश प्रकृतसूत्र से नहीं मिलता है । यहां 'सः स्यार्द्धधातुके' ७.४.४९ से 'सि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सि' अङ्गाक्षिप्त प्रत्यय का विशेषण है, अतः 'यस्मिन्विधिः–०' परिभाषा से तदादि-विधि होती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सादि प्रत्यय (जिसके आदि में सकार हो) परे होने पर तास् और अस् धातु का लोप होता है । '२१–अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह लोप 'तास्' और 'अस्' के अन्त्य सकार का ही होगा । 'तास्' के सकार के लोप का उदाहरण मध्यम एकवचन 'भवितास् सि'='भवितासि' में मिलता है । इसी प्रकार 'अस्' के सकार-लोप का उदाहरण अदादिगण की 'अस्' धातु के 'अस् सि'='असि' रूप में मिलता है ।

४०७. रि च । ७ । ४ । ५१

रादौ प्रत्यये तथा । भवितारौ, भवितारः । भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ । भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः ।

४०७. रि चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (रि) रकारादि प्रत्यय परे होने पर । यहां 'च' से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । इसके

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए 'भविता' की रूप-सिद्धि देखिये ।

स्पष्टीकरण के लिए ४०६–'तासस्त्योर्लोपः' ७.४.५० की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—रकारादि प्रत्यय (जिसके आदि में रकार हो) परे होने पर तास् और अस के सकार का लोप होता है।* उदाहरण के लिए प्रथम द्विवचन 'भवितास् रौ' में रकारादि प्रत्यय 'रौ' परे होने के कारण 'तास्' के सकार का लोप होकर 'भवितारौ' रूप सिद्ध होता है।

४०८. लृट्[१] शेषे[७] च। ३। ३। १३

भविष्यदर्थात् धातोर्लृट्, क्रियार्थायां क्रियायां सत्याम्, असत्याम्। स्यः, इट्। भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः।

४०८. लृडिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (शेषे) शेष में (लृट्) लृट् लकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भविष्यति गम्यादयः' ३.३.३ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' ३.१.९१ का यहां अधिकार है। 'च' का संकेत 'तुमन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' ३.३.१० से विहित 'क्रियार्थ-उपपद' से है। 'शेष' का अभिप्राय क्रियार्थोपपद से भिन्न क्रिया से है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भविष्यकाल की विवक्षा में धातु से लृट् होता है, क्रियार्थ क्रिया चाहे विद्यमान हो चाहे न हो। जब एक क्रिया दूसरी क्रिया के लिए की जाती है तो उसको 'क्रियार्थ–क्रिया' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'पठितुं गच्छामि' में पढ़ने के लिए गमन-क्रिया की जा रही है, अतः गमन-क्रिया 'क्रियार्थ क्रिया' है। प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि 'क्रियार्थ क्रिया' चाहे उपस्थित हो और चाहे न हो, भविष्यार्थ में लृट् लकार होता है। उदाहरणार्थ 'अहं पठिष्यामि' में 'क्रियार्थ-क्रिया' नहीं है, तब भी धातु से लृट् लकार हुआ है। 'क्रियार्थ क्रिया' का अन्य उदाहरण 'पठिष्यति–इति गच्छति' में मिलता है।

४०९. लोट्[१] च। ३। ३। १६२

विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट्।

४०९. लोट् चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (लोट्) लोट् हो। यहां 'च' के प्रयोग से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' ३.३.१६१ से 'लिङ्' को छोड़कर समस्त सूत्र की अनुवृत्ति होगी। 'धातोः' ३.१.९१ का यहां भी अधिकार

* विशेष विवरण के लिए पूर्ववर्ती सूत्र (४०६) की व्याख्या देखिये।

† देखिये 'काशिका'—'शेषः क्रियार्थोपपदादन्यः'। शेषः शुद्धे भविष्यति काले चकारात् क्रियायां चोपपदे क्रियार्थायां धातोर्लृट् प्रत्ययो भवति।

प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना अर्थ में धातु से लोट् लकार होता है। इसको भली भांति समझने के लिए विधि, निमंत्रण आदि का अर्थ समझना आवश्यक है—

१. विधि—इसका अर्थ है—प्रेरणा। नौकरों और मजदूरों आदि अपने से छोटों के प्रति जो आज्ञा दी जाती है, उसे 'प्रेरण' कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'पुस्तकं आनय' में आदेश दिया जा रहा है, अतः यहां पर विधि रूप प्रेरणा है। इस प्रकार की प्रेरणा का करना आवश्यक है, न करने पर दंड का भागी होना पड़ता है।

२. निमन्त्रण—उस प्रेरणा को कहते हैं जो अपने समान के बन्धु-बान्धवों को दी जाती है। इसमें आज्ञा का भाव उतना प्रबल नहीं होता, पर इस प्रेरणा के अनुसार भी काम करना आवश्यक है, इसे टाला नहीं जा सकता है। इसी से 'काशिका' में कहा है—'निमन्त्रणं नियोगकरणम्।' इसका उदाहरण है—'अमुत्र भवान् भुङ्क्ताम्' = आप यहां खावें।

३. आमंत्रण—उस प्रेरणा को कहते है जिसमें निमंत्रण से कम बल होता है, इसमें प्रेर्यमाण व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता है कि चाहे वह काम करे, चाहे न करे। इसी से तो कहा गया है—'आमन्त्रणं कामचारकरणम्'। इसका उदाहरण है—'इह भवान् आगच्छतु'—आप यहां आवें। इसमें आमन्त्रित व्यक्ति को स्वतंत्रता है कि चाहे वह आवे चाहे न आवे। इसे 'अनुरोध' कहा जा सकता है।

४. अधीष्ट—उस प्रेरणा को कहते हैं- जिसमें सत्कार की भावना भी हो—'अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः'। इसका सम्बन्ध उच्च कोटि के लोगों से है। उदाहरण के लिए अध्यापक से सत्कारपूर्वक कहा जाता है—'भवान् मम पुत्रमध्यापयतु'—आप मेरे पुत्र को पढ़ाइये।

५. संप्रश्न—उस प्रेरणा को कहते हैं जिस में परामर्श लेने का भाव हो। कहा भी है—'संप्रश्नः संप्रधारणम्'। इसका उदाहरण है—'किं भो व्याकरणमधीयीय, उत वेदम्' = क्या मैं व्याकरण पढ़ूँ या वेद? इसमें भी प्रेरणा है, पर सलाह के लिए।

६. प्रार्थना—उस प्रेरणा को कहते हैं जो अपने से बड़ों के प्रति की जाती है। इसमें मांगने का भाव रहता है—'प्रार्थनं याच्ञा'। इसका उदाहरण है—'भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय' = आपसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे व्याकरण पढ़ने दीजिये।

इस प्रकार इन छः अवस्थाओं में धातु से लोट् लकार का विधान किया गया है। सूत्र में 'च' कहने से इन अर्थों में ४२५ वें सूत्र से 'लिङ्' लकार भी होता है।

४१०. आशिषि लिङ्लोटौ। ३। ३। १७३

(आशिष्यपि लिङ्लोटौ स्तः। आशीः अप्राप्तेष्टप्राप्तीच्छा)

४१०. आशिषीति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(आशिषि) आशी-

वाद अर्थ में (लिङ्लोटौ) लिङ् और लोट् लकार होते हैं। 'आशीः' का अर्थ है—अप्राप्त इष्ट वस्तु की प्राप्ति की इच्छा।* इस प्रकार जो वस्तु हमें इष्ट हो और अप्राप्त भी हो, उसकी प्राप्ति की इच्छा प्रकट करने पर लोट् और लिङ् लकार का प्रयोग होता है, जैसे 'पुत्रं ते भवतु, भूयाद् वा'—तुम्हारे पुत्र हो।

४११. एरुः । ३ । ४ । ८६

लोट इकारस्य उः । भवतु ।

४११. एरुरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एः) इ के स्थान पर (उः) उकार आदेश हो। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'लोटः' सूत्रस्थ 'एः' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लोट् के इकार के स्थान पर उकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए प्रथम एकवचन 'भवति' में लोट्स्थानिक 'ति' के इकार को उकार होकर 'भवत् उ' = 'भवतु' रूप सिद्ध होता है।

४१२. तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् । ७ । १ । ३५

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा । परत्वात् सर्वादेशः—भवतात् ।

४१२. तुह्योरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (तुह्योः) 'तु' और 'हि' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (तातङ्) 'तातङ्' आदेश होता है। ध्यान रहे कि लोट् में ४११वें सूत्र से उकार अन्तादेश ४१५ वें सूत्र से 'सि' को 'हि' आदेश होता है। इन्हीं के स्थान पर प्रकृत सूत्र से विकल्पतः 'तातङ्' का विधान हुआ है। 'तातङ्' में अङ् की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है, अतः 'तात्' ही शेष बचता है। उदाहरण के लिए प्रथम एकवचन 'भवतु' में '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ की सहायता से सम्पूर्ण 'तु' के स्थान पर 'तात्' आदेश होकर 'भवतात्' रूप सिद्ध होता है।† विकल्पावस्था में 'भवतु' रूप ही रहेगा।

४१३. लोटो लङ्वत् । ३ । ४ । ८५

लोटस्तामादयः, सलोपश्च ।

४१३. लोट इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लोटः) लोट् के स्थान में (लङ्वत्) लङ्वत् होता है। तात्पर्य यह कि लोट् के स्थान पर लङ् के समान कार्य होते

---

* 'अप्राप्तस्येष्टस्यार्थस्य प्राप्तुमिच्छा'—काशिका

† विशेष विवरण के लिए 'भवतात्' की रूप-सिद्धि देखिये।

हैं। इस प्रकार लङ् में जो 'ताम्', सकार-लोपादि कार्य होंगे, वही लोट् के स्थान पर भी होंगे। लङ् के कार्यों का वर्णन आगे आवेगा।

४१४. तस्थस्थमिपां तांतंतामः । ३ । ४ । १०१

ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात् स्युः। भवताम्। भवन्तु।

४१४. तस्थस्थेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(तस्थस्थमिपां) तस्, थस्, थ और मिप् के स्थान पर (तांतंतामः) ताम्, तम्, त और अम् आदेश हों। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नित्यं ङितः' ३.४.९९ से 'ङितः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ङित्' अधिकृत लकार का विशेषण है और उसमें लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्—इन चार लकारों का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ् लकारों के तस्, थस्, थ और मिप् के स्थान पर ताम्, तम्, त और अम् आदेश होते हैं। यहाँ स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० से क्रमशः 'तस्' के स्थान पर 'ताम्', 'थस्' के स्थान पर 'तम्', 'थ' के स्थान पर 'त' और 'मिप्' के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए लोट् के प्रथम द्विवचन में 'भव तस्'–इस स्थिति में पूर्वसूत्र (४१३) से लोट् के स्थान में लङ्वत् कार्य होने के कारण 'तस्' के स्थान पर 'ताम्' आदेश होता है। 'ताम्' अनेकाल् है, अतः '४५–अनेकाल्–' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण स्थानी 'तस्' के स्थान पर आदेश होता है और इस प्रकार 'भवताम्' रूप सिद्ध होता है।

४१५. सेर्ह्यपिच्च । ३ । ४ । ८७

लोटः सेर्हिः, सोऽपिच्च।

४१५. सेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (सेः) 'सि' के स्थान पर (अपित्) अपित् (हि) 'हि' आदेश हो। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से स्पष्ट है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसको समझने के लिए '४१२–लोटो–०' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होता है—लोट् के 'सि' के स्थान पर 'हि' आदेश होता है और यह 'हि' अपित् भी होता है। 'अपित्' होने का फल यह होगा कि 'सार्वधातुकमपित्' १.२.४ सूत्र से 'हि' ङिद्वत् हो जाता है और तब उससे परे ङित्त्वप्रयुक्त गुण-निषेध आदि कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए 'स्तुहि' में गुण नहीं होता। इस प्रकार प्रकृतसूत्र से लोट् के मध्यम एकवचन 'भू + सि' में 'सि' के स्थान पर 'हि' पूर्णादेश* होकर 'भू + हि' रूप बनता है। तब लट् के समान

* 'हि' अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल्–०' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है।

शबादि होकर 'भवहि' रूप बनता है। यहाँ आशीर्वाद अर्थ में 'हि' के स्थान पर 'तातङ्' होकर 'भवतात्' रूप सिद्ध होता है।* अभावपक्ष में 'भवहि'—इस दशा में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

४१६. अतो हेः । ६ । ४ । १०५

अतः परस्य हेर्लुक् । भव, भवतात् । भवतम्, भवत ।

४१६. अत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(अतः) ह्रस्व अकार से परे (हेः) 'हि' के स्थान पर। क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चिणो लुक्' ६.४.१०४ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है। यह पञ्चम्यन्त में प्रयुक्त होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अदन्त (जिसके अन्त में ह्रस्व अकार हो) अङ्ग से परे 'हि' के स्थान पर लुक् होता है अर्थात् 'हि' का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'भव हि' में अदन्त अङ्ग 'भव' से परे 'हि' का लोप होकर 'भव' रूप सिद्ध होता है।

४१७. मेर्निः । ३ । ४ । ८९

लोटो मेर्निः स्यात् ।

४१७. मेर्निरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(मेः) 'मि' के स्थान पर (निः) 'नि' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसका पता प्रकृत सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '४१३-लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लोट् के 'मि' के स्थान पर 'नि' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह सम्पूर्ण 'मि' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए लोट् के उत्तम एकवचन 'भू+मिप्†' में 'मि' के स्थान पर 'नि' होकर 'भू + नि' रूप बनता है। तब शबादि कार्य होने पर 'भव नि' रूप बनता है।

४१८. आडुत्तमस्य पिच्च । ३ । ४ । ९२

लोडुत्तमस्याट् स्यात् पिच्च । भवानि । हिन्योरुत्वं न, इत्वोच्चारणसामर्थ्यात् ।

४१८. आडिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ—(च) और (उत्तमस्य) उत्तम का अवयव (पित्) पित् (आड्) 'आट्' होता है। इसके

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'भवतात्' की रूपसिद्धि देखिये।

† 'मिप्' में पकार इत्संज्ञक है, अतः इसका लोप हो जाने पर 'मि' ही शेष रह जाता है।

स्पष्टीकरण के लिए '४१३—लोटो' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'लोटः' 'उत्तमस्य' का विशेषण है और 'पित्' 'आट्' का। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लोट् के उत्तम को आट् आगम होता है और वह 'आट्' 'पित्' होता है। 'आट्' के टकार की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है, आकार ही शेष रह जाता है। टित् होने के कारण यह प्रत्यय का आदि अवयव होता है। 'पित्' होने से गुण आदि होने में 'बाधा' नहीं होती। उदाहरण के लिए लोट् के उत्तम 'भव नि' में प्रत्यय 'नि' के आदि में आकार होकर 'भव आनि' रूप बनता है। यहां सवर्णदीर्घ करने पर 'भवानि' रूप सिद्ध होता है।*

४१९. ते प्राग् धातोः । १ । ४ । ८०

ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः ।

४१९. ते इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ते) वे (धातोः) धातु से (प्राग्) पहले होते हैं। सूत्रस्थ 'ते' सर्वनाम है और वह पूर्ववर्ती सूत्रों की ओर संकेत करता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपसर्गाः क्रियायोगे' १.४.५९ से 'उपसर्गाः' और 'गतिश्च' १.४.६० से 'गतिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्ग और गतिसंज्ञक† ('प्र' आदि) धातु के पूर्व आते हैं। उदाहरणार्थ 'प्रभवति' और 'अनुभवति' आदि में धातु 'भवति' से पूर्व 'प्र' और 'अनु' उपसर्गों का प्रयोग हुआ है।

४२०. आनि लोट्‡ । ८ । ४ । १६

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य लोडादेशस्य आनीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि ।

(वा०) दुरःषत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः । दुःस्थितिः । दुर्भवानि ।

(वा०) अन्तःशब्दस्याङ्किविधि-णत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम् । अन्तर्भवाणि ।

४२०. आनीति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(लोट्) लोट् के (आनि) 'आनि' के स्थान में। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपसर्गादसमासेऽपि-०'

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'भवानि' की रूप-सिद्धि देखिये।

† 'उपसर्ग' और 'गति' को समझने के लिए ३५ में और २०१ में सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ यहाँ 'आनि' और 'लोट्' में लुप्तषष्ठी का प्रयोग हुआ है।

८.४.१३ से 'उपसर्गाद्' और 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ से 'समानपदे' को छोड़कर सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उपसर्गाद्' 'रषाभ्यां' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्गस्थनिमित्त रकार-षकार से परे लोट् सम्बन्धी 'आनि' के नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'प्रभवानि' में णत्व का निमित्त रकार 'प्र' उपसर्ग में विद्यमान है। अतः उससे परे लोट् सम्बन्धी 'आनि' के नकार को णत्व होकर 'प्रभवाणि' रूप बनता है।

(वा०) दुर इति—इस वार्तिक का शब्दार्थ है—(दुरः) 'दुर्' को (षत्वणत्वयोः) षत्व और णत्व के विषय में (उपसर्गत्वप्रतिषेधो) उपसर्गत्व-निषेध (वक्तव्यः) कहना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि षत्व और णत्व विधान करना हो, तो 'दुर्' को उपसर्ग नहीं माना जाता है। उपसर्ग न होने से 'दुर्' से परे धातु के स्थान में षत्व या णत्व नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'दुःस्थितिः' में 'दुर्' उपसर्ग से परे 'स्था' धातु है। यहां 'उपसर्गात् सुनोति—' ८.३.६५ से 'स्था' के सकार के स्थानपर षकार आदेश हो जाता है, किन्तु प्रकृत वार्तिक से उसका निषेध हो जानेपर 'दुःस्थिति' रूप ही रह जाता है। इसी प्रकार 'दुर्भवानि' में 'दुर्' उपसर्ग से निमित्त रकार है और उससे परे लोट् सम्बन्धी 'आनि' है। अतः '४२०—आनि लोट्' सूत्र से नकार के स्थानपर णकार प्राप्त होता है, किन्तु वार्तिक से 'दुर्' के उपसर्गत्व का निषेध हो जाता है। इसीसे 'दुर्भवानि' रूप ही रहता है।

(वा०) अन्तरिति—इसका भावार्थ है—(अन्तः) 'अन्तर्' (शब्दस्य) शब्द के स्थान पर (अङ्किविधिणत्वेषु) अङ्, किविधि और णत्वविषय में (उपसर्गत्वं) उपसर्गत्व (वाच्यम्) कहना चाहिये। तात्पर्य यह है अङ्, किविधि और णत्वविधान में 'अन्तर्' शब्द उपसर्ग संज्ञक हो जाता है। 'अन्तर्' शब्द प्रादियों में नहीं है, अतः 'उपसर्गाः क्रियायोगे' १.४.५९ से उसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं होती है। इसी से प्रस्तुत वार्तिक की आवश्यकता पड़ी। उपसर्ग हो जाने पर णत्व और अङादि कार्य होंगे। उदाहरण के लिए 'अन्तर्भवानि' ये 'अन्तर्' शब्द की उपसर्ग संज्ञा हो जाने पर 'आनि लोट्' ८.४.१६ से नकार को णकार होकर 'अन्तर्भवाणि' रूप सिद्ध होता है।*

४२१. नित्यं[1] ङितः[6] । ३ । ४ । ९९

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः। 'अलोऽन्त्यस्य' इति सलोपः—**भवाव, भवाम।**

---

* 'अङ्' का उदाहरण 'अन्तर्धा' में और किविधि का उदाहरण 'अन्तर्धिः' में मिलता है।

४२१. नित्यमिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ङितः) ङित् के स्थान पर (नित्यं) नित्य। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' ३.४.९७ से 'लोपः', सम्पूर्ण 'स उत्तमस्य' ३.४.९८ और 'लस्य' ३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स' षष्ठ्यन्त है और 'उत्तमस्य' का विशेषण है। 'लस्य' 'ङितः' का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ङित् लकारों (लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्) के सकारान्त उत्तम का नित्य लोप होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह लोप अन्त्य अल् सकार का ही होता है।

यद्यपि यह सूत्र ङित् लकारों के लिए ही विधान करता है, तथापि '४१३–लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ परिभाषा से लोट् लकार में भी प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह सूत्र लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ् और लोट्—इन पांच लकारों में प्रवृत्त होगा। उदाहरण के लिए लोट् के उत्तम द्विवचन में 'भू' धातु से 'वस्' होकर शबादि और 'आट्' कार्य करने पर 'भवावस्' रूप बनता है। तब '४१३–लोटो लङ्वत्' की सहायता से प्रकृतसूत्र से अन्त्य सकार का लोप होकर 'भवाव' रूप सिद्ध होता है।*

४२२. अनद्यतने लङ्। ३।२।१११

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात्।

४२२. अनद्यतने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनद्यतने) अनद्यतन अर्थ में (लङ्) लङ् होता है। अनद्यतन का अर्थ है—जो आज न हो।† यह भूत और भविष्यत्–दोनों से ही सम्बंधित हो सकता है। इस लिए सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए 'भूते' ३.२.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भूते' 'अनद्यतने' का विशेषण है। 'धातोः' ३.१.९१ का यहां अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जब क्रिया का अनद्यतन भूतकाल में होना प्रकट करना हो, तो धातु से लङ् लकार होता है। तात्पर्य यह कि लङ् लकार अनद्यतन भूतकाल का बोधक है। उदाहरण के लिए 'ह्यो लक्ष्मणपुरेऽभवम्' (मैं कल लक्ष्मणपुर में था) में 'ह्यः' पद से अनद्यतन भूतकाल की सूचना मिलती है, इसी से लङ् लकार का रूप 'अभवम्' प्रयुक्त हुआ है।

४२३. लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः। ६।४।७१

एष्वङ्गस्याऽट्।

४२३. लुङ्लङिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(लुङ्लङ्लृङ्क्षु)

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'भवाव' की रूप-सिद्धि देखिये।

† 'अनद्यतन' के विशेष स्पष्टीकरण के लिए ४०२ में सूत्र की व्याख्या देखिये।

लुङ्, लङ् और लृङ् परे होने पर (उदात्तः) उदात्त (अट्) अट् हो। किन्तु यह 'अट्' किस का अवयव बनता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुङ्, लङ् और लृङ्–इन लकारों में से किसी एक के परे होने पर अङ्ग को 'अट्' आगम होता है और वह उदात्त होता है। 'अट्' में टकार–इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८४–आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से यह अङ्ग का आदि अवयव होगा। उदाहरण के लिए 'भू' धातु से लङ् आने पर अट् आगम हुआ। टित् होने से यह 'भू' अंग का आदि अवयव बनता है 'अभूल्'। तब तिप्, शप् गुण और 'अव्' आदेश होकर 'अभवति' रूप बनता है।

४२४. [6]इतश्च। ३। ४। १००

ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्, तदन्तस्य लोपः।

अभवत्, अभवताम्, अभवन्। अभवः, अभवतम्, अभवत। अभवम् अभवाव, अभवाम।

४२४. इतश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (इतः) ह्रस्व इकार के स्थान में। यहां सूत्रस्थ 'च' से स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके अभिप्राय को समझने के लिए 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' ३.४.९७ से 'लोपः' और 'परस्मैपदेषु' तथा सम्पूर्ण 'लस्य' ३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'परस्मैपदेषु' 'इतः' का विशेष्य होने के कारण षष्ठी में विपरिणित हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ङित् लकार (लुङ्, लङ्, लिङ् और लृङ्) सम्बन्धी इकारान्त परस्मैपद का लोप होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' १.१.५२ परिभाषा से यह लोप अन्त्य वर्ण इकार का ही होता है। उदाहरण के लिए 'अभवति' में लङ् लकारस्थानिक इकारान्त परस्मैपद 'ति' है, अतः उसके अन्त्य इकार का लोप होकर 'अभवत्' रूप सिद्ध होता है।

४२५. विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु[7] लिङ्[1]। ३। ३। १६१

एष्वर्थेषु धातोर्लिङ्।

४२५. विधीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(विधिनिमंत्रण-०) विधि, निमंत्रण, आमंत्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना में (लिङ्) लिङ् होता है। इसके पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए अधिकार–सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार

सूत्र का भावार्थ होगा—विधि, निमंत्रण, आमंत्रण, अधीष्ट, संप्रश्न और प्रार्थना—इन छः अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है।*

४२६. यासुट्[1] परस्मैपदेषूदात्तो[1] ङिच्च[1] । ३ । ४ । १०३

लिङः परस्मैपदानां यासुडागमः, उदात्तो ङिच्च ।

४२६. यासुडिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद में (यासुट्) 'यासुट्' होता है, वह (उदात्तो) उदात्त (च) और (ङित्) ङित् होता है। सूत्र से यह पता नहीं चलता कि यह 'यासुट्' किस को होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'लिङः' में यहां अवयव-षष्ठी विभक्ति है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद में लिङ् का अवयव 'यासुट्' होता है और वह उदात्त तथा ङित् होता है। 'यासुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाने पर 'यास्' ही शेष रह जाता है। टित् होने के कारण '८५-आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से यह लिङ् प्रत्यय का आदि अवयव बनता है। 'ङित्' होने से 'यासुट्' को निमित्त मानकर गुण-निषेध आदि कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए प्रथम एकवचन में 'भू' धातु से लिङ् लकार आनेपर 'तिप्' होकर 'भू+तिप्' रूप बनता है। इसके बाद इकार-लोप, शप्, गुण और 'अव्' आदेश होते हैं और रूप बनता है—'भवत्'। तब लिङ् स्थानिक परस्मैपद 'तिप्' के तकार को 'यासुट्' आगम होता है जो उसका आद्यवयव बनता है—'भवयास्‌त्'।

४२७. लिङः[6] सलोपोऽनन्त्यस्य[6] । ७ । २ । ७९

सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः । इति प्राप्ते—

४२७. लिङ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिङः) लिङ् के (अनन्त्यस्य) जो अन्त में न हो उस (सलोपः) सकार का लोप होता है। किन्तु यह किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके लिए 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' ७.२.७६ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी, जो षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जायेगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य (जो अन्त में न हो) सकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'भव यास् त्' में 'तिप्' (त्)

---

* 'विधि' आदि शब्दों का अर्थ समझने के लिए ४०९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये। वहाँ पर जो उदाहरण दिए गये हैं, उनमें लोट् के स्थान पर लिङ् लकार का प्रयोग करने पर उन्हें प्रस्तुत सूत्र के उदाहरणों के रूप में परिणत किया जा सकता है। वास्तव में इन स्थलों पर दोनों ही लकारों का प्रयोग हो सकता है।

लिङ् के स्थान में हुआ है, अतः स्थानिवद्भाव से लिङ् ही है और 'यासुट्' (यास्) लिङ् स्थानिक 'तिप्' को आगम हुआ है। यहां 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (आगम जिसका हो, उसी का अवयव होता है और उसके ग्रहण से ग्रहण किया जाता है) परिभाषा से लिङ् के ग्रहण से तत्सहित 'यास् त्' का ग्रहण होता है। यहां सार्वधातुक लिङ् में सकार अन्त में नहीं है, अतः प्रकृतसूत्र से उसका लोप प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्रसे उसका बाध हो जाता है।

४२८. अतो[५] येयः[६]* । ७ । २ । ८०

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'यास्' इत्यस्य इय् । गुणः ।

४२८. अत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(अतः) ह्रस्व अकार से (या) 'यास्' के स्थानपर (इयः) 'इय्' आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' ७.२.७६ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी जो अवयव षष्ठी में विपरिणत हो जाता है। अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की भी अनुवृत्ति होगी। 'अतः' का विशेष्य होने के कारण यह भी पञ्चम्यन्त हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अदन्त अंग (जिसके अन्त में ह्रस्व अकार हो) से परे सार्वधातुक के अवयव 'यास्' के स्थान में 'इय्' आदेश होता है। 'इय्' 'अनेकाल(एक से अधिक वर्णवाला) है, अतः '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'यास्' के स्थान में होगा। उदाहरण के लिए 'भव यास त्' में अदन्त अङ्ग 'भव' से परे सार्वधातुक लिङ् 'यास त्' का अवयव 'यास्' है, अतः इसके स्थान में 'इय्' होकर 'भव इय् त्' रूप बनता है। इस स्थिति में गुण करने से 'भवेय् त्' रूप बनेगा।

४२९. लोपो[१] व्योर्वलि[७] । ६ । १ । ६६

वलि वकारयकारयोर्लोपः । भवेत्, भवेताम् ।

४२९. लोप इति– यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(वलि) वल् परे होने पर (व्योः) वकार और यकार का (लोपः) लोप होता है। 'वल्' प्रत्याहार में स्वर तथा यकार को छोड़कर सभी वर्ण आ जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—स्वर और यकार को छोड़कर अन्य कोई भी वर्ण परे होने पर यकार और वकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'भवेय् त्' में वल्-तकार परे होने के कारण 'भवेय्' के यकार का लोप हो जाता है. और इस प्रकार 'भवेत्' रूप सिद्ध होता है।

---

* 'येयः' का विग्रह है—'या (यास्) + इयः'। 'या' में यहाँ लुप्तषष्ठी है।

४३०. ⁶झेर्जुस्⁾ । ३ । ४ । १०८

लिङो झेर्जुस् स्यात् । भवेयुः । भवेः, भवेतम् , भवेत । भवेयम् , भवेव, भवेम ।

४३०. झेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झेः) 'झि' के स्थान में (जुस्) 'जुस्' हो । किन्तु यह किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता प्रकृतसूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिङ् के 'झि' के स्थान में 'जुस्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण '४५ अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से 'जुस्' सम्पूर्ण 'झि' के स्थान में होगा । उदाहरण के लिए प्रथम-बहुवचन (लिङ्) में 'भू' धातु से 'झि' प्रत्यय होकर 'भू+झि' रूप बनता है । तब शप् , गुण और अव् आदेश करने पर 'भव+झि' रूप बनता है । यहां पर प्रकृतसूत्र से लिङ् के 'झि' के स्थान पर 'जुस्' होकर 'भव+जुस्' रूप बनेगा । 'जुस्' के जकार की '१२९–चुटू' १.३.७ से इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है—'भव+उस्' । इसके पश्चात् यास् आगम, इयादेश, गुण और सकार का रुत्व-विसर्ग करने पर 'भवेयुः' रूप सिद्ध होता है ।*

४३१. †⁶लिङाशिषि⁷ । ३ । ४ । ११६

आशिषि लिङस्तिङ आर्धधातुकसंज्ञः स्यात् ।

४३१. लिङिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (लिङ्) लिङ् के । किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके लिए 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' ३.४.११३ से 'तिङ्' और 'आर्धधातुकं शेषः' ३.४.११४ से 'आर्धधातुकम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'तिङ्' 'लिङ्' से सम्बन्धित है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आशीर्वाद अर्थ में लिङ्स्थानिक 'तिङ्' की आर्धधातुक संज्ञा होती है । यह पूर्ववर्ती सूत्र 'तिङ् शित्–०' का अपवाद है ।

४३२. किदाशिषि⁷ । ३ । ४ । १०४

आशिषि लिङो यासुट् कित् । 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपः ।

४३२. किदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आशिषि) आशीर्वाद अर्थ में (कित्)

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'भवेयुः' की रूपसिद्धि देखिये ।

† यहाँ 'लिङ्' में षष्ठी है । कुछ लोगों ने यहाँ प्रथमा भी माना है, किन्तु षष्ठी मानने से अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है ।

'कित्' हो। किन्तु यह 'कित्' किसको हो, यह सूत्र से पता नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४,१०२ से 'लिङः' और '४२६–यासुट् परस्मैपदेषु–०' ३.४.११४ से 'यासुट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यासुट्' 'लिङः' से सम्बन्धित है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होता है—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् सम्बन्धी 'यासुट्' 'कित्' होता है। उदारण के लिए 'भू' धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ् आने पर प्रथम एकवचन में ति होता है—'भू+तिप्'। 'तिप्' की पूर्वसूत्र (४३२) से आर्धधातुक संज्ञा हो जाने पर शप् नहीं होता, क्योंकि 'शप्' सार्वधातुक तिङ परे रहते होता है। तब लिङ को यासुट् आगम होता है, और यह प्रकृतसूत्र से 'कित्' होता है। इस प्रकार रूप बनता है—'भू यास् ति'। यहां तकारोत्तरवर्ती इकार का तथा सकार का लोप करने पर 'भूयात्' रूप बनता है। 'यासुट्' को 'किति' कहने का फल अग्रिम सूत्र से ज्ञात होता है।

४३३. [१]क्ङिति* च। १। १। ५

गित्-कित्-ङिन्निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म।

४३३. क्ङिति चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(†क्ङिति) गित्, कित् और ङित् परे होने पर (च) और। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ और 'न धातुलोप आर्धधातुके' १.१.४ से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—गित्, कित् और ङित् परे होने पर तन्निमित्त इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान पर गुण और वृद्धि नहीं होती। उदाहरण के लिए 'भूयात्' में 'यात्' आर्धधातुक परे होने से '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ७.३.८४ से इगन्त अङ्ग 'भू' के अन्त्य ऊकार को गुण प्राप्त होता है। किन्तु आशीर्लिङ् का होने से 'यासुट्' कित् है, अतः उसके परे होने से प्रकृत सूत्र से गुण का निषेध हो जाता है। तब 'भूयात्' रूप सिद्ध होता है।

४३४. लुङ्[१]। ३। २। ११०

भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात्।

४३४. लुङिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(लुङ्) लुङ् हो।

---

* 'निमित्तसप्तम्येषा'—काशिका।

† इसका विग्रह इस प्रकार है—गश्च कश्च ङश्च इति ग्कङः। इच्च इच्च इच्च इति इतः। ग्कङ इतो यस्येति ग्क्ङित् तस्मिन् ग्क्ङिति।

किन्तु यह किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः' ३.१.९१ और 'भूते' ३.२.८४—इन दो अधिकार सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भूतकाल में धातु से 'लुङ्' लकार होता है। यहाँ किसी विशेष शर्त का उल्लेख न होने से 'भूत' सामान्य भूतकाल का द्योतक है। तात्पर्य यह है कि सामान्यभूत की विवक्षा में धातु से 'लुङ्' लकार होता है।

४३५. माङि लुङ्। ३। ३। १७५

सर्वलकारापवादः।

४३५. माङीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(माङि) 'माङ्' उपपद परे होने पर (लुङ्) लुङ् होता है। इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः' ३.१.९१ अधिकार-सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'माङ्' उपपद रहते धातु से लुङ् लकार होता है। यह सब लकारों का अपवाद है। तात्पर्य यह कि कोई भी लकार क्यों न हो, 'माङ्' उपपद रहने पर 'लुङ' ही होता है। उदाहरण के लिए 'क्लैब्यं मा गम' में 'माङ्' (मा) उपपद रहने से 'लुङ्' लकार आता है, यद्यपि यहाँ भूतकाल नहीं है।

विशेष—'माङ्' (मा) के समान ही अन्य निषेधार्थक 'मा' अव्यय पद है। प्रयोग में दोनों का एक ही रूप होता है, किन्तु 'मा' अव्यय प्रयोग होने पर लुङ् लकार नहीं होता, जैसे—'मा वद, मा वदेत् वा'। दोनों का अन्तर इस प्रकार जाना जा सकता है—जहाँ 'मा' शब्द के साथ 'लुङ् लकार का प्रयोग हो, वहां समझना चाहिये कि यह 'माङ्' है, अन्यथा 'मा' होगा।

४३६. स्मोत्तरे लङ् च। ३। ३। १७६

स्मोत्तरे माङि लङ् स्यात्, चात् लुङ्।

४३६. स्मोत्तरे इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(स्मोत्तरे) स्मोत्तर परे होने पर (लङ्) लङ् होता है (च) और। स्पष्टीकरण के लिए पूर्व सूत्र '४३५–माङि लुङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' ३.१.९१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है। 'माङि' 'स्मोत्तरे' का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्मोत्तर माङ् ('स्म' जिसके उत्तर-पश्चात्–में हो) उपपद रहते धातु से लङ् होता है और लुङ् भी होता है। तात्पर्य यह कि इस अवस्था में दोनों लकारों का प्रयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए 'मास्म भवत् भूत् वा' (न हो) में 'स्म' परक माङ् उपपद होने से लङ् और लुङ—दोनों ही लकारों का प्रयोग किया जा सकता है।

४३७. च्लि[1] लुङि[7] । ३ । १ । ४३

शबाद्यपवादः ।

४३७ च्लि इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लुङि) लुङ् परे होने पर (च्लि) च्लि होता है। किन्तु यह किससे होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचो०-' ३.१.२२ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुङ् परे होने पर धातु से 'च्लि' होता है। यह 'च्लि'–विधि शप्, श्यन् और श आदि विकरणों की बाधक है। उदाहरण के लिए लुङ् में 'भू' धातु से प्रथम एकवचन में 'भू + ति' रूप बनता है। यहाँ इकार-लोप और अट् आगम होकर 'अभूत्' रूप बनता है। इस स्थिति में सार्वधातुक तिङ् 'तिप्' (त्) परे होने से 'शप्' प्राप्त होता था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। तब 'च्लि' आदेश होकर 'अभू च्लि त्' रूप बनता है।

४३८. च्लेः[6] सिच्[1] । ३ । १ । ४४

इचावितौ ।

४३८. च्लेरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(च्लेः) 'च्लि' के स्थान पर (सिच्) सिच् आदेश होता है। अनेकाल् होने के करण यह आदेश '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान में होगा। 'सिच्' में इकार और चकार इत्संज्ञक हैं, अतः उनका लोप होकर केवल सकार ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'अभू च्लि त्' में 'च्लि' के स्थान पर सिच् (सकार) आदेश करने पर 'अभू स् त्' रूप बनता है।

४३९. गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः[6] परस्मैपदेषु[7] । २ । ४ । ७७

एभ्यः सिचो लुक् स्यात्। 'गा–पौ' इह 'इणादेश-पिबती' गृह्येते।

४३९. गातीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद में (गाति–स्था—०) गा, स्था, घुसंज्ञक, पा और भू धातुओं से परे (सिचः) सिच् के स्थान में। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'ण्यक्षत्रियार्ष-ञितो यूनि लुगणिञोः' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'गा' से यहां 'इण्' के स्थान में होने वाला 'गा' लिया जाता है, जो कि 'इणो गा लुङि' २.४.४५ सूत्र से होता है। 'घु' से 'दा' और 'धा' धातुओं का ग्रहण होता है।* 'पा' से 'पा' (पीने) का ग्रहण होता है, जिसको 'पिब्' आदेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—

* देखिये 'दाधाघ्वदाप्' १.१.२० सूत्र की व्याख्या।

गा, स्था, दा और धा, पा तथा भू धातुओं से परे सिच् का लुक् (लोप) होता है। उदाहरण के लिए अभू स् त्' में 'भू' धातु से परे 'सिच्' के सकार का प्रकृत सूत्र से लोप होकर 'अभूत्' रूप बनता है।

४४०. भूसुवोस्तिङि । ७ । ३ । ८८

'भू' 'सु' एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न। अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभूः, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम,

४४०. भूसुवोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है (तिङि) तिङ् परे होने पर (भूसुवोः) 'भू' और 'सू' धातुओं के स्थान पर। क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भिदेर्गुणः' ७.३.८२ से 'गुणः' और 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' ७.३.८७ से 'न' और 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सार्वधातुके' 'तिङि' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सार्वधातुक तिङ् परे होने पर 'भू' और 'सू' धातुओं के स्थान पर गुण नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'अभूत्' में सार्वधातुक 'त्' परे होने पर '३८८—सार्वधातुक—०' ७.३.८४ से गुण प्राप्त होता है, किन्तु 'भू' धातु से सार्वधातुक तिङ् परे होने के कारण उसका निषेध हो जाता है। तब 'अभूत्' रूप सिद्ध होता है।

४४१. न माङ्योगे । ६ । ४ । ७४

अडाटौ न स्तः। मा भवान् भूत्। मा स्म भवत्, मास्म भूत्।

४४१. न माङिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(माङ्योगे) 'माङ्' के योग में (न) न हो। क्या न हो, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लुङ् लङ् लृङ् क्ष्वडुदात्तः' ६.४.७१ से 'अट्' तथा 'आडजादीनाम्' ६.४.७२ से 'आट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'माङ्' के योग में अट् और आट् (आगम) नहीं होते। उदाहरण के लिए 'मा भवान् भूत्' में माङ् का योग होने से लुङ् के प्रथम एकवचन 'भूत्' में अट् का आगम नहीं होता। अतः 'अभूत्' न होकर 'भूत्' रूप ही रहता है।

४४२. लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ । ३ । ३ । १३९

हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम्। अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम। 'सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत् तथा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि शेषम्। अत सातत्यगमने। अतति।

४४२. लिङ्निमित्तेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिङ्निमित्ते) लिङ्निमित्त होने पर (क्रियातिपत्तौ) क्रिया की अतिपत्ति—असिद्धि-में (लृङ्) लृङ् होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'भविष्यति मर्यादावचनेऽवरस्मिन्' ३.३.१३६ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिङ् के निमित्त होने पर क्रिया की असिद्धि गम्यमान हो, तो भविष्यत् काल में धातु से लृङ् लकार होता है। लिङ् का निमित्त है—हेतुहेतुमद्भाव* आदि। इसको समझने के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं। 'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्' (कृष्ण को नमस्कार करे तो सुख प्राप्त करे)—इस वाक्य में नमस्कार-क्रिया सुखप्राप्ति-क्रिया का हेतु है। सुख-प्राप्ति क्रिया सहेतुक है, अतः इसे 'हेतुमत्' कहा जाता है। इन दोनों के सम्बन्ध को 'हेतु-हेतुमद्भाव' सम्बन्ध कहते हैं। जब हेतुहेतुमद्भाव आदि के स्थलों में भविष्यत् काल और क्रिया की असिद्धि प्रतीति होती है, तब दोनों क्रियाओं में लृङ् लकार का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'सुवृष्टिश्चेत् अभविष्यत्, तदा सुभिक्षमभविष्यत्' (यदि अच्छी वृष्टि होगी तो सुकाल होगा)—इस वाक्य में वृष्टि होना क्रिया सुभिक्ष होना क्रिया का हेतु है। वह भविष्यत् काल की है तथा इनकी असिद्धि यहां प्रतीत हो रही है। अतः दोनों से लृङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

४४३. [६]अत आदे:[६] । ७ । ४ । ७०

अभ्यासस्याऽऽदेरतो दीर्घः स्यात्। आत, आततुः, आतुः। आतिथ, आतथुः, आत। आत, आतिव, आतिम। अतिता, अतिष्यति, अततु।

४४३. अत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(आदेः) आदि (अतः) ह्रस्व अकार के स्थान पर। क्या होना चाहिए, इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य', 'दीर्घ इणः किति' ७.४.६९ से 'दीर्घः' और 'व्यथो लिटि' ७.४.६८ से 'लिटि'† की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार के स्थान पर दीर्घ होता है। उदाहरण के लिए 'अत्' धातु से लिट् लकार में प्रथम-एकवचन में 'अत् अ' रूप बनता है। यहां 'अत्' के अकार को द्वित्व होकर 'अ अत् अ' रूप बनेगा। तब अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार को प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर 'आ अत् अ' रूप बनता है। सवर्ण दीर्घ करने पर 'आत' रूप सिद्ध होता है।

---

* देखिये—'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' ३.३.१५६।

† यहाँ पर सूत्र की वृत्ति अपूर्ण है। लिट् के अभाव में दीर्घ नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'ऋ' धातु से यङ्लुक्प्रकरण में 'अरति' रूप बनता है। यहां दीर्घ नहीं हुआ। इसलिए 'लिट्' का उल्लेख करना आवश्यक है।

४४४. आडजादीनाम्[६] । ६ । ४ । ७२

अजादेरङ्गस्याऽऽट् लुङ्लङ्लृङ्क्षु । आतत्, अतेत् । अत्यात्, अत्यास्ताम् । लुङि सिचि इडागमे कृते—

४४४. आडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अजादीनाम्) अजादि का अवयव (आड्) 'आट्' होता है । किन्तु यह आगम किस अवस्था में होता है, इसका पता सूत्र से नहीं लगता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' ६.४.७१ से 'लुङ्लङ्लृङ्क्षु' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार है । 'अजादीनाम्' 'अङ्गस्य' का विशेषण है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुङ्, लङ् और लृङ् परे होने पर अजादि अङ्ग (जिसके आदि में कोई स्वर हो) का अवयव 'आट्' (आ) होता है। 'आट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से यह अङ्ग का आदि अवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'अत्' धातु से लिङ् में प्रथम-एकवचन में तिप्, शप् होकर 'अत् अ ति' रूप बनता है। यहां 'लुङ्लङ्–०' ६.४.७१ से 'अट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु अङ्ग के आदि में स्वर होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका बाध होकर 'आट्' आगम होता है—'आ अत् अति' । यहां वृद्धि–आकारादेश तथा इकार का लोप करने पर 'आतत्' रूप सिद्ध होता है।*

४४५. अस्तिसिचोऽपृक्ते[७]† । ७ । ३ । ९६

विद्यमानात् सिचोऽस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागमः स्यात् ।

४४५. अस्तीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अस्तिसिचः) 'अस्' धातु और सिच् से पर (अपृक्ते) अपृक्त का अवयव । क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं है । इसके लिए 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' ७.३.८९ से 'हलि' और 'ब्रुव ईट्' ७.३.९३ से 'ईट्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'हलि' सूत्रस्थ 'अपृक्ते' का विशेष्य है, अतः वह भी षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सिच्' और 'अस्' धातु से परे होने पर अपृक्त‡ हल् (व्यंजन) का अवयव 'ईट्' होता है । 'ईट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण यह अपृक्त हल् का आदि अवयव बनता है। उदाहरण के लिए लुङ् में प्रथम-एकवचन में 'सिच्' और इट्-आगम होकर 'अत्'

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'आतत्' की रूप-सिद्धि देखिये ।

† 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से यहाँ सप्तमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाती है ।

‡ इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये ।

धातु का 'आत् इ स् त्' रूप बनता है। यहां 'सिच्' (स्) से पर अपृक्त हल्–तिप के तकार को 'ईट्' (ई) आगम होकर 'आत् इ स् ईत्' रूप बनता है।

४४६. इट ईटि । ८ । २ । २८

इटः परस्य सस्य लोपः स्यात् ईटि परे।

(वा०) सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः। आतीत्। आतिष्टाम्।

४४६. ईट इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(ईटि) ईट् परे होने पर (इटः) इट् से पर। क्या करना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से 'लोपः' तथा 'रात्सस्य' ८.२.२४ से 'सस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ईट् परे होने पर इट् से पर सकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'आत् इ स् ई त्' में इट् (इ) से परे सकार है और उससे परे ईट् (ई) भी है। अतः प्रकृत सूत्र से सकार का लोप होकर 'आत् इ ई त्' रूप बनता है। इस स्थिति में इकार और ईकार के स्थान पर '४२–अकः सवर्णे दीर्घः' ६.१.१०१ से सवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु 'इट ईटि' ८.२.२८ त्रिपादी सूत्र से हुए लोप के असिद्ध होने से बीच में सकार का व्यवधान पड़ जाता है।* इसका निराकरण वार्तिक से किया गया है—

(वा०) सिज्लोपे इति—इसका शब्दार्थ है—(एकादेशे) एकादेश के विषय में (सिज्लोपः) सिच् के लोप को (सिद्धः) सिद्ध (वाच्यः) कहना चाहिये। उदाहरण के लिए 'आत् इ ई त्' में एकादेश (सवर्ण दीर्घ) प्राप्त होने के कारण सिच् के सकार का लोप सिद्ध माना जावेगा। तब सकार का व्यवधान न होने के कारण सवर्णदीर्घ होकर 'आतीत्' रूप सिद्ध होता है।

४४७. सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च । ३ । ४ । १०९

सिचोऽभ्यस्ताद् विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस्। आतिषुः। आतीः, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म। आतिष्यत्। षिध् गत्याम्। ३।

४४७. सिजभ्यस्तेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सिजभ्यस्तविदिभ्यः) सिच्, अभ्यस्त और विद् से पर (च) और। यहाँ 'च' से स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसको समझने के लिए 'नित्यं ङितः' ३.४.९९ से 'ङितः' तथा 'झेर्जुस्' ३.४.१०८ की अनुवृत्ति करनी होगी। सिच् प्रत्यय है, अभ्यस्तसंज्ञा में 'जागृ'

---

* इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए '२१–पूर्वत्राऽसिद्धम्' ८.२.१ की व्याख्या देखिये।

आदि धातुओं का समावेश होता है और विद् धातु है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सिच् प्रत्यय, अभ्यस्त-संज्ञक 'जागृ' आदि धातुओं और विद् धातु से परे ङित् लकार (लिङ्, लुङ्, लङ् और लृङ्) सम्बन्धी 'झि' के स्थान पर 'जुस्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'झि' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लुङ् के प्रथम बहुवचन में झि, च्लि, सिच् आदि करके 'आत् इ ष् झि' रूप बनने पर सिच् (ष) से परे 'झि' को जुस् हो जाता है और रूप बनता है—'आत् इ ष् जुस्'। 'जुस्' में जकार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाता है। तब 'आतिपु स्'–इस स्थिति में रुत्व-विसर्ग करने पर 'आतिपुः' रूप सिद्ध होता है।* अभ्यस्त और विद् के उदाहरण क्रमशः 'अबिभयुः' और 'अविदुः' में मिलते हैं।

४४८. ह्रस्वं लघु। १। ४। १०

४४८. ह्रस्वमिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(ह्रस्वं) ह्रस्व (लघुः) लघु हो। तात्पर्य यह कि ह्रस्व स्वर, यथा—अ, इ आदि, की लघु संज्ञा होती है।

४४९. संयोगे गुरु। १। ४। ११

संयोगे परे ह्रस्वं गुरु स्यात्।

४४९. संयोगे इति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(संयोगे) संयोग परे होने से (गुरु) गुरु संज्ञा होती है। किन्तु किसकी गुरु संज्ञा हो, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '४४८–ह्रस्वं लघु' से 'ह्रस्वं' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संयोग† परे होने पर ह्रस्व स्वर 'गुरु' संज्ञक होता है, यथा—'उक्त' में उकार गुरुसंज्ञक है।

४५०. दीर्घं च। १। ४। १२

गुरु स्यात्।

४५०. दीर्घमिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (दीर्घं) दीर्घ। क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '४४९–संयोगे गुरु' से 'गुरु' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—दीर्घ स्वर भी गुरु-संज्ञक होता है। उदाहरण के लिए आ, ई आदि गुरु-संज्ञक हैं।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'आतिपुः' की रूप-सिद्धि देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

४५१. पुगन्तलघूपधस्य[1] च[2] । ७ । ३ । ८६

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः । 'धात्वादेः' इति सः । सेधति । षत्वम्—सिषेध ।

४५१. पुगन्तेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (पुगन्तलघूपधस्य) पुगन्त और लघूपध के । यहां सूत्रस्थ 'च' से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मिदेर्गुणः' ७.३.८२ से 'गुणः', 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' ७.३.८४ तथा 'अङ्गस्य' ६.४.१ अधिकार-सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' 'पुगन्तलघूपधस्य' का विशेष्य है और उसमें अवयव-षष्ठी का प्रयोग हुआ है । 'गुण' का विधान होने के कारण 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ परिभाषा से 'इकः' का भी ग्रहण हो जाता है और वह 'अङ्गस्य' का अङ्ग बन जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर पुगन्त (जिसके अन्त में पुक् आगम हो) और लघूपध (जिसकी उपधा* लघु हो) अङ्ग के इक् (इ, उ, ऋ और ऌ) के स्थान में गुण आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'सिध्' धातु से लट् लकार के प्रथम-एकवचन में तिप् तथा शप् होकर 'सिध् अ ति' रूप बनता है । यहां 'सिध्' अंग की उपधा–इकार लघु है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके स्थान पर गुण–एकार होकर 'सेधति' रूप सिद्ध होता है । पुगन्त अङ्ग के उदाहरण 'ह्रेपयति' आदि ण्यन्त प्रक्रिया में आवेंगे ।

४५२. असंयोगाल्लिट्[1] कित्[2] । १ । २ । ५

असंयोगात् परोऽपित् लिट् कित् स्यात् । सिषिधतुः, सिषिधुः । सिषेधिथ, सिषिधथुः, सिषिध । सिषेध, सिषिधिव, सिषिधिम । सेधिता । सेधिष्यति । सेधतु । असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् । एवम्—चिती संज्ञाने । ४ । शुच शोके । ५ । गद व्यक्तायां वाचि । ६ । गदति ।

४५२. असंयोगादिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(असंयोगाद्) असंयोग से परे (लिट्) लिट् (कित्) कित् हो । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सार्वधातुकमपित्' १.२.४ से 'अपित्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अपित्' 'लिट्' का विशेषण है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—असंयोग (संयोग-भिन्न) से परे अपित् लिट् कित् होता है । णल्, थल्, और णल् (जो तिप्, सिप् और मिप्–इन तीन पित् तिङों के स्थान पर होते हैं) को छोड़कर शेष लिडादेश अपित् हैं । अतः ये सब प्रकृत सूत्र से कित् हो जाते हैं । कित् हो जाने पर '४३३–ग्क्ङिति च' १.१.५ से गुण-निषेध हो

---

* इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए '१७६–अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' १.१.६५ की व्याख्या देखिये ।

जाता है। उदाहरण के लिए लिट् के प्रथम-द्विवचन में 'सिध्' धातु से 'अतुस्' प्रत्यय होता है। तत्र अभ्यास-कार्य करने पर 'सि सिध् अतुस्' रूप बनता है। यहां '४५१–पुगन्त–०' ७.३.८६ से उपधा इकार को गुण प्राप्त होता है, किन्तु अपित् लिट् 'अतुस्' की कित् संज्ञा हो जाने पर '४३३–क्क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तत्र षत्व और रुत्व-विसर्ग करने पर 'सिषिधतुः' रूप सिद्ध होता है।*

४५३. नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च । ८ । ४ । १७

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य नेर्णो गदादिषु परेषु। प्रणिगदति।

४५३. नेर्गदेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (गद-नद—०) गद् आदि धातुओं के परे होने पर (नेः) 'नि' के स्थान पर। क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ से 'रषाभ्यां नो णः' और 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' ८.४.१४ से 'उपसर्गाद्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उपसर्गाद्' का विशेषण 'रषाभ्याम्' है। लक्षणा से उपसर्ग पद का अर्थ उपसर्गस्थ होता है। सूत्र में जिन गद् आदि धातुओं का परिगणन किया गया है, वे ये हैं—१. गद्–स्पष्ट बोलना, २. नद्–अस्पष्ट बोलना, ३. पत्–गिरना, ४. पद्–चलना, ५. 'घु' संज्ञक 'दा' 'धा' आदि, ६. मा–नापना, ७. षो–नाश करना, ८. हन्–मारना, ९. या–जाना, १०. वा–बहना, ११. द्रा–चलना, १२. प्सा–खाना, १३. वप्–बोना, १४. वह्–ले जाना, १५. शम्–शान्त होना, १६. चि–इकट्ठा करना और १७. दिह–लीपना। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'गद्' आदि सत्रह धातुओं में से किसी के भी परे होने पर उपसर्गस्थ रकार और षकार के परवर्ती 'नि' के नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'प्रनिगदति' में 'प्र' उपसर्ग में रकार स्थित है। उसके पश्चात् 'नि' है और उसके पश्चात् 'गद्' धातु। अतः प्रकृत सूत्र से 'नि' के नकार को णकार होकर 'प्रणिगदति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'प्रणिनदति' आदि अन्य रूप भी सिद्ध होते हैं।

४५४. कुहोश्चुः । ७ । ४ । ६२

अभ्यासकवर्गहकारयोश्चवर्गादेशः।

४५४. कुहोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(कुहोः) कवर्ग और हकार के स्थान पर (चुः) चवर्ग आदेश हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७. ४. ५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'सिषिधतुः' की रूप-सिद्धि देखिये।

सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यास*के कवर्ग और हकार के स्थान पर चवर्ग आदेश होता है। कवर्ग के वर्णों को क्रमशः चवर्ग के वर्ण आदेश होंगे, जैसे ककार को चकार, खकार को छकार आदि। हकार को आन्तरतम्य से झकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथम एकवचन में 'गद्' धातु से तिप्, णल् और द्वित्व आदि कार्य करने पर 'ग गद् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से अभ्यास के पूर्ववर्ती गकार को चवर्ग–जकार होकर 'जगद् अ' रूप बनता है।

४५५. अत[६] उपधायाः[६] । ७ । २ । ११६

उपधाया अतो वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये परे। जगाद, जगदतुः, जगदुः। जगदिथ, जगदथुः; जगद।

४५५. अत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपधायाः) उपधा के (अतः) ह्रस्व अकार के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से 'वृद्धिः' तथा 'अचो ञ्णिति' ७. २. ११५ से 'ञ्णिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ञित् और णित् प्रत्यय परे होने पर उपधा† के ह्रस्व अकार के स्थान पर वृद्धि आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'जगद् अ' में णित् प्रत्यय णल् (अ) परे होने के कारण उपधा–गकारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि–आकार होकर 'जगाद' रूप सिद्ध होता है।

४५६. णलुत्तमो[१] वा । ७ । १ । ९१

उत्तमो णल् वा णित् स्यात्। जगाद-जगद। जगदिव, जगदिम। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात्।

४५६. णलिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उत्तमः) उत्तम (णल्) णल् (वा) विकल्प से। किन्तु क्या हो, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'गोतो णित्' ७. १. ९० से 'णित्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उत्तम का णल् विकल्प से णित् होता है। णित् होने पर '४५५–अत उपधायाः' से वृद्धि कार्य होता है। उदाहरण के लिए लिट् के उत्तम एकवचन में 'गद्' धातु से मिप्, णल्, द्वित्व और चुत्व आदि करने पर 'जगद् अ' रूप बनता है। यहां प्रकृत सूत्र से णल् (अ) में णित्व आ जाने के कारण उपधा–गकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ होकर 'जगाद' रूप सिद्ध होता है। अभाव पक्ष में 'जगद' ही रहता है।

---

* इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए '२६५–पूर्वोऽभ्यासः' ६.१.४ की व्याख्या देखिये।

† देखिये—'१७६–अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' १.१.६५ की व्याख्या।

४५७. अतो हलादेर्लघोः । ७ । २ । ७

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वा इडादौ परस्मैपदे सिचि । अगादीत्, अगदीत् अगदिष्यत् । णद अव्यक्ते शब्दे । ७ ।

४५७. अत इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(हलादेः) हलादि के (लघोः) लघु (अतः) ह्रस्व अकार के स्थान पर । किन्तु क्या होना चाहिये, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता । इसके लिए 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' ७.२.१, 'नेटि' ७.२.४ से 'इटि' और 'ऊर्णोतेर्विभाषा' ७.२.६ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है । 'हलादेः' का विशेष्य होने के कारण 'अङ्गस्य' में अवयव-षष्ठी होती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इडादि (जिसके आदि में 'इट्' आगम हो) परस्मैपद सिच् परे होने पर हलादि अङ्ग (जिसके आदि में कोई व्यंजन हो) के अवयव लघु अकार के स्थान पर विकल्प (विभाषा) से वृद्धि आदेश होता है । उदाहरण के लिए लुङ् के प्रथम एकवचन में 'गद्' धातु से अट्, तिप्, इकार-लोप, च्लि, सिच्, इडागम और ईडागम करने पर 'अगद् इ स् ई त्' रूप बनता है ।* यहाँ हलादि अङ्ग 'गद्' है । उससे परे इडादि परस्मैपद सिच् भी है, अतः प्रकृत सूत्र से इसके लघु गकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर दीर्घ आकार होकर 'अगाद् इ स् ई त्' रूप बनेगा । तब सिच् का लोप होकर 'अगादीत्' रूप सिद्ध होता है । अभाव पक्ष में 'अगदीत्' रूप बनता है ।

४५८. णो नः । ६ । १ । ६५

धात्वादेर्णस्य नः । णोपदेशास्तु-अनर्द-नाटि-नाथ-नाध-नन्द-नक्क-नॄ-नृतः ।

४५८. ण इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(णः) णकार के स्थान पर (नः) नकार हो । किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं लगता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धात्वादेः षः सः' ६.१.६४ से 'धात्वादेः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धातु के आदि णकार के स्थान पर नकार आदेश होता है । इस सूत्र से सभी णकारादि धातु नकारादि बन जाते हैं, अतः प्रयोग में सब नकारादि ही रहते हैं । इस प्रकार यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन सी धातु णकारादि है और कौन नकारादि । इसके निर्णय के लिए कहा गया है—'णोपदेशास्तु—०' आदि । इसका अर्थ यह है कि नर्द् (अस्पष्ट बोलना), नट् (नाचना), नाथृ (मांगना आदि), नाधृ (मांगना आदि), नन्द् (आनन्दित होना), नक्क (नाश करना), नॄ (ले जाना) और नृत् (नाचना)—इन आठ धातुओं को छोड़कर शेष नकारादि धातुओं को णोपदेशित समझना चाहिये ।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अगादीत्' की रूप-सिद्धि देखिये ।

तात्पर्य यह कि उनका नकार णकार के स्थान पर हुआ है। णोपदेश का फल आगे ज्ञात होगा।

४५९. उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य। ८। ४। १४

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः। प्रणदति। प्रणिनदति। नदति। ननाद।

४५९. उपसर्गादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपसर्गाद्) उपसर्ग से पर (असमासे) असमास में और (अपि*) समास में भी (णोपदेशस्य) णोपदेश के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ से 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'रषाभ्यां' 'उपसर्गाद्' का विशेष्य है, अतः लक्षणा से उपसर्ग पद का अर्थ 'उपसर्गस्थ' होगा। इसी प्रकार 'णोपदेशस्य' का अर्थ णोपदेश धातु होगा, क्योंकि धातु को ही णोपदेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—उपसर्गस्थ षकार और रकार से परे णोपदेश† धातु के नकार के स्थान पर णकार होता है। उदाहरण के लिए 'प्रनदति' में 'नद्' धातु णोपदेश है। अतः प्रकृत सूत्र से उपसर्गस्थ रकार 'प्र' से परे होने के कारण 'नद्' के नकार को णकार होकर 'प्रणदति' रूप सिद्ध होता है।

४६०. अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि। ६। ४। १२०

लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गं तदवयवस्याऽसंयुक्तहल्मध्यस्थस्यात एत्वमभ्यासलोपश्च किति लिटि। नेदतुः, नेदुः।

४६०. अत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(लिटि) लिट् परे होने पर (अनादेशादेः) जिसके आदि में आदेश नहीं हुआ हो, उसके (एकहल्मध्ये) असंयुक्त 'हलों' के बीच में वर्तमान (अतः) अकार के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' ६.४.११९ से 'एत्' और 'अभ्यासलोपः' तथा 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' ६.४.९८ से 'किति'‡ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'किति' सूत्रस्थ 'लिटि' का विशेषण है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त है। इसका अन्वय सूत्रस्थ 'अनादेशादेः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित्

---

* 'अपि' का अर्थ यहां 'समासेऽपि' होगा। देखिये—'काशिका'।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (४५८) की व्याख्या देखिये।

‡ यद्यपि इस सूत्र में 'क्ङिति' वर्तमान है किन्तु प्रयोजनाभाव से 'ङिति' की अनुवृत्ति नहीं होती। देखिये 'सिद्धान्तकौमुदी' की 'तत्त्वबोधिनी व्याख्या'।

लिट् परे होने पर अनादेशादि अङ्ग (जिसके आदि में कोई आदेश न हुआ हो) के असंयुक्त व्यंजनों के बीच में वर्तमान अकार के स्थान पर एकार आदेश होता है और अभ्यास का लोप हो जाता है । वस्तुतः यह सूत्र एक साथ दो कार्यों का विधान करता है—एत्व और अभ्यास-लोप । इसकी प्रवृत्ति के लिए चार बातों की आवश्यकता है—१. ह्रस्व अकार हो, २. संयोग न हुआ हो, ३. आदि में आदेश न हुआ हो और ४. कित् लिट् परे हो । उदाहरण के लिए लिट् के प्रथम-द्विवचन में 'णद्' धातु से तस् प्रत्यय, णकार को नकारादेश, तस् के स्थान पर 'अतुस्' तथा द्वित्व और अभ्यास करने पर 'नद् नद् अतुस्' रूप बनता है । इस स्थिति में ह्रस्व अकार है, संयोग का अभाव भी है, आदि में लिट्निमित्तक आदेश भी नहीं हुआ है और 'नद्' से परे लिट् 'अतुस्' भी है । अतः सभी अवस्थाओं (Conditions) की पूर्ति होने के कारण प्रकृत सूत्र से नकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार तथा अभ्यास-लोप होकर 'नेदतुस्' रूप बनेगा । यहां रुत्व-विसर्ग करने पर 'नेदतुः' रूप सिद्ध होता है ।* ध्यान रहे कि यदि उपर्युक्त चार दशाओं में से कोई भी अनुपस्थित होगी तो प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा । उदाहरण के लिए 'सिषिधतुः' में अकार न होने से, 'ररासे' में ह्रस्व अकार न होने से, 'तत्सरतुः' में संयोगरहित न होने से और 'जगदतुः' में आद्यादेश होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है ।

४६१. थलि च सेटि । ६ । ४ । १२१

प्रागुक्तं स्यात् । नेदिथ, नेदथुः, नेद । ननाद, ननद, नेदिव, नेदिम । नदिता । नदिष्यति, नदतु । अनदत् । नदेत् । नद्यात् । अनादीत् । टुनदि समृद्धौ । ८ ।

४६१. थलीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (सेटि) इट् सहित (थलि) थल् परे होने पर । किन्तु क्या होना चाहिये, इसके लिए अनुवृत्ति-सहित सम्पूर्ण पूर्व-सूत्र '४६०-अत एकहल्मध्ये-०' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि इट् युक्त थल् परे हो तो भी जिस अङ्ग के आदि के स्थान में लिट्निमित्तक आदेश न हुआ हो, उसके अवयव तथा संयोग-रहित हलों के बीच में वर्तमान अकार के स्थान पर एकार होता है और अभ्यास का लोप होता है ।†

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'नेदतुः' की रूपसिद्धि देखिये ।

† इसके स्पष्टीकरण के लिये पूर्वसूत्र (४६०) की व्याख्या देखनी चाहिये । विद्यार्थियों को चाहिये कि पूर्वसूत्र में दी गई आवश्यक बातों का समावेश इस सूत्र की व्याख्या करते समय अवश्य कर दें । पिष्टपेषण के कारण यहां पुनः उनका उल्लेख नहीं किया गया है ।

उदाहरण के लिए लिट् के मध्यम एकवचन में 'णद्' धातु से सिप्, उसके स्थान पर थल् तथा पूर्ववत् (४६०) अन्य कार्य होकर 'नद् नद् थल्' रूप बनता है। यहां थल् की आर्धधातुक संज्ञा होने पर '४०१–आर्धधातुकस्य–०' से इट् आगम होकर 'नद् नद् इ थल्' रूप बनेगा। इस अवस्था में पित्-भिन्न न होने के कारण '४५२–असंयोगात्–०' से 'थल्' की कित् संज्ञा नहीं होती, अतः पूर्वसूत्र (४६०) से एत्व और अभ्यास-लोप प्राप्त नहीं होता। किन्तु इट् सहित 'थल्' परे होने पर प्रकृत सूत्र से पूर्ववत् एत्व और अभ्यास-लोप होकर 'नेदिथ' रूप सिद्ध होता है।

४६२. आदिर्ञिटुडवः । १ । ३ । ५

उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः ।

४६२. आदिरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आदिः) आदि (ञिटुडवः) ञि, टु और डु। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से 'उपदेशे' तथा 'इत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपदेश* में आदि (प्रारम्भिक) ञि, टु और डु इत्संज्ञक होते हैं। उपदेशावस्था में ऐसा धातुओं के विषय में ही सम्भव होता है, इसीसे वृत्ति में 'धातोः' का उल्लेख हुआ है।† इत्संज्ञा होने पर '३–तस्य लोपः' सूत्र से १.३.९ से उनका लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'टुनदि' (समृद्धि, आनन्द) धातु के उपदेश अवस्था में वर्तमान आदि 'टु' की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, और रूप बनता है—'नदि'। 'टु' की इत्संज्ञा का फल 'नन्दथुः' में 'ट्वितोऽथुच्' ३.३.८९ से 'अथुच्' प्रत्यय होना है।

४६३. इदितो[१] नुम्[२] धातोः[३] ७ । १ । ५८

नन्दति । ननन्द । नन्दिता । नन्दिष्यति । नन्दतु । अनन्दत् । नन्देत् । नन्द्यात् । अनन्दीत् । अनन्दिष्यत् । अर्च पूजायाम् । ९ । अर्चति ।

४६३. इदितो इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है—(इदितः) इदित् (धातोः) धातु का अवयव (नुम्) 'नुम्' होता है। इदित् का अर्थ है—जिसके ह्रस्व इकार की इत् संज्ञा हो। यह 'धातोः' का विशेषण है। इस प्रकार जिस धातु के ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा हुई हो, उसको 'नुम्' (न्) आगम हो जाता है। 'नुम्' में उकार और मकार की इत्संज्ञा होकर उनका लोप हो जाता है, अतः नकार ही शेष रह जाता है।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए प्रथम सूत्र की व्याख्या देखिये।

† देखिये—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (बम्बई, १९३८), पृ० ४१७ (पाद-टिप्पणी)।

मित् होने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' १.१.४७ परिभाषा से यह धातु के अन्त्य स्वर के आगे आता है। उदाहरण के लिए 'नदि' धातु में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ से इकार की इत्संज्ञा होती है। इस अवस्था में इदित् होने के कारण धातु को नुम् (न) आगम होकर 'न न् द्' (नन्द्) रूप बनता है।

४६४. तस्मान्नुड्[1] द्विहलः[6] । ७ । ४ । ७१

द्विहलो दीर्घीभूताद् अकारात् परस्य नुट् स्यात्। आनर्च, आनर्चतुः। अर्चिता। अर्चिष्यति। अर्चतु। आर्चत्। अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चीत्। आर्चिष्यत्। व्रज गतौ। १०। व्रजति। वव्राज। व्रजिता। व्रजिष्यति। व्रजतु। अव्रजत्। व्रजेत्। व्रज्यात्।

४६४. तस्मादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तस्मात्) उससे पर (द्विहलः) द्विहल् का अवयव (नुड्) 'नुट्' होता है। सूत्रस्थ 'तस्मात्' का अभिप्राय '४४३–'अत आदेः' ७.४.७० से विहित दीर्घाकार से है। 'द्विहल्' का अर्थ है—जिसमें दो हल् या व्यंजन हों। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार है। सूत्रस्थ 'द्विहलः' उसका विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'४४३-अत आदेः' से दीर्घीभूत आकार से पर दो व्यंजनों वाले अङ्ग को 'नुट्' आगम होता है। 'नुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८४–आद्यन्तौ टकितौ' १.१.४६ परिभाषा से यह आदि अवयव बनता है। उदाहरण के लिए लिट् के प्रथम एकवचन में 'अर्च्' धातु से तिप्, णल् और द्वित्व आदि होकर 'अ अर्च् अ' रूप बनता है। इस अवस्था में 'अतः आदेः' ७.४.७० से अभ्यास के अकार को दीर्घ होकर 'आ अर्च् अ' रूप बनेगा। यहां दीर्घीभूत आकार से पर अङ्ग 'अर्च्' है। इसमें रकार और चकार—ये दो व्यंजन हैं। अतः प्रकृत सूत्र से इस द्विहल् अङ्ग 'अर्च्' के आदि में नुट् (नकार) होकर 'आन् अ र्च् अ' ('आनर्च') रूप सिद्ध होता है।

४६५. [6]वद-व्रज-हलन्तस्याचः[6] । ७ । २ । ३

एषामचो वृद्धिः सिचि परस्मैपदेषु। अव्राजीत्। अव्रजिष्यत्।

कटे वर्षावरणयोः। ११। कटति। चकाट, चकटतुः। कटिता। कटिष्यति। कटतु। अकटत्। कटेत्। कट्यात्।

४६५. वदव्रजेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वदव्रजहलन्तस्य) वद्, व्रज् और हलन्त के (अचः) स्वर के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ और 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु'-७.२.१ सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' 'वदव्रजहलन्तस्य' का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वद्, व्रज् और हलन्त (जिसके अन्त में कोई

व्यंजन हो) अंगों के स्वर-वर्ण के स्थान पर वृद्धि आदेश होता है, यदि उनसे परे परस्मैपद सिच् हो। यद्यपि व्रज् और वद् भी हलन्त धातुएँ हैं, तथापि 'नेटि' ७.२.४ सूत्र से प्राप्त वृद्धि-निषेध के बाध के लिए इनका ग्रहण किया गया है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथम एकवचन में 'व्रज्' धातु से तिप्, इकार-लोप, अडागम, च्लि तथा उसके स्थान पर सिच् आदि होकर 'अ व्रज् इ स् ई त्' रूप बनता है। यहां पर परस्मैपद सिच् (सकार) परे होने पर 'व्रज्' के अकार को दीर्घ आकार होकर 'अ व्रा ज् इ स् ई त्' रूप बनेगा। इस अवस्था में सिच् का लोप और सवर्ण दीर्घ करने पर 'अव्राजीत्' रूप सिद्ध होता है।*

४६६. †ह्मयन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्व्येदिताम्‡ । ७ । २ । ५

हमयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ सिचि । अकटीत् । अकटिष्यत् । गुपू रक्षणे । १२ ।

४६६. ह्मयन्तेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ह्मयन्त—श्व्येदिताम्) हकारान्त, मकारान्त, एकारान्त, क्षण, श्वस, जागृ, ण्यन्त एवं एदित् के। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' ७.२.१ से 'सिचि वृद्धिः' तथा सम्पूर्ण सूत्र 'नेटि' ७.२.४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'इटि' 'सिचि' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इडादि सिच् (जिसके आदि में इट् हो) परे होने पर हकारान्त, मकारान्त और एकारान्त तथा क्षण, श्वस, जागृ, ण्यन्त एवं एदित् (जिसका एकार इत् हो) धातुओं के स्थान में वृद्धि नहीं होती। ध्यान रहे कि यहां '४६५–वद-व्रज–०' आदि सूत्रों से विहित अङ्ग के स्वर-वर्ण के स्थान पर होने वाले वृद्धि-आदेश का निषेध किया गया है। उदाहरण के लिए 'कटे' धातु एदित् है। इससे लिङ् लकार प्रथम एकवचन में तिप् आदि करने पर 'अकट् इ स् ई त्' रूप बनता है। यहां सिच् (सकार) परे होने के कारण '४६५–वद-व्रज–०' ७.२.३ से ककारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर वृद्धि-आदेश प्राप्त होता है, किन्तु धातु के एदित् होने के कारण उसका निषेध हो जाता है। तब सिच्-लोप और सवर्ण दीर्घ होकर 'अकटीत्' रूप सिद्ध होता है।§ इसी प्रकार हकारान्त का उदाहरण 'अमहीत्' में, मकारान्त का 'अक्रमीत्' में, यकारान्त का 'अहयीत्' में, क्षण का 'अक्षणीत्' में, श्वस का 'अश्वसीत्' में, जागृ का

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अव्राजीत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† इसका विग्रह इस प्रकार है—'ह्, म्, य् इत्येते वर्णा येषामन्ते ते'।

‡ इसका सन्धिच्छेद है—'श्वि + एदित् + आम्'।

§ विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अकटीत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

'अजागरीत्' में और श्वि का 'अश्वयीत्' में मिलता है। ण्यन्त का प्रयोग वेदों में मिलता है।

४६७. गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्यः आयः । ३ । १ । २८

एभ्यः 'आय' प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे ।

४६७. गुपू इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(गुपू—पनिभ्यः) गुप्, धूप्, विच्छ्, पण् तथा पन् से (आयः) 'आय' प्रत्यय होता है। गुप्, धूप् आदि धातुएं हैं। गुप् का अर्थ है रक्षा करना, धूप् का तप्त करना, विच्छ् का जाना, पण् का व्यवहार और स्तुति तथा पन् का व्यवहार। इन पांच धातुओं के आगे 'आय' प्रत्यय आता है। उदाहरण के लिए 'गुप्' धातु से 'आय' प्रत्यय होकर 'गुप्+आय' रूप बनता है। यहां 'आर्धधातुकं शेषः' ३.४.११४ से 'आय' प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है। अतः इसके परे होने से लघूपध अङ्ग 'गुप्' के इक्-उकार को 'पुगन्तलघूपधस्य च' ७.३.८६ से गुण-ओकार होकर 'गोपाय' रूप बनेगा।

४६८. सनाद्यन्ता धातवः । ३ । १ । ३२

सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञकाः। धातुत्वाल्लडादयः-गोपायति ।

४६८. सनाद्यन्तेति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(सनाद्यन्ताः) सनादि अन्तवाले (धातवः) धातुसंज्ञक हों। सनादि का अर्थ है—'सन्' आदि प्रत्यय। 'सन्' आदि प्रत्ययो का विधान 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' ३.१.५ से लेकर 'कमेर्णिङ्' ३.१.२९ सूत्र तक किया गया है। इनकी संख्या बारह है। इनका परिगणन एक कारिका में इस प्रकार किया गया है—

'सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ् क्यषोऽथाचारक्विब्-णिज् यङस्तथा।
यगायेयङ् णिङश्चेति द्वादशामी सनादयः॥'

इस प्रकार जिस शब्दसमूह के अन्त में इन बारह प्रत्ययों में से कोई भी होता है, उसकी धातुसंज्ञा होती है। उदाहरण से लिए 'आय' प्रत्यय अन्त में होने के कारण 'गोपाय' की भी धातुसंज्ञा होती है।

४६९. आयादय आर्धधातुके वा । ३ । १ । ३१

आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्युः।
(वा०) कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः।
आस्कासोराम्विधानान्मस्य नेत्त्वम्।

४६९. आयादय इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आर्धधातुके) आर्धधातुक की

विवक्षा में (वा) विकल्प से (आयादयः) 'आय' आदि प्रत्यय हों। किन्तु ये प्रत्यय किससे हों, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचो हलादेः–०' ३.१.२२ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आय' आदि प्रत्यय तीन हैं—आय, इयङ् और णिङ्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आर्धधातुक की विवक्षा में धातु से 'आय', 'इयङ' और 'णिङ्' प्रत्यय विकल्प से होते हैं। उदाहरण के लिए लिट् लकार की विवक्षा में 'गुप्' धातु से 'आय' प्रत्यय विकल्प से होता है, क्योंकि लिट् लकार '४००–लिट् च' सूत्र से आर्धधातुक है।

(वा०) कास्यनेकाच इति—वार्तिक का शब्दार्थ है—(कास्यनेकाचः) कास् और अनेकाच् धातुओं से (आम्) आम् (वक्तव्यः) कहना चाहिये। ध्यान रहे कि यहां 'आम्' का मकार इत्संज्ञक नहीं है। अन्यथा मित् होने से 'आम्' अन्त्य अच् (स्वर) के आगे होता। ऐसी दशा में अन्त्य अच्–आकार के आगे 'आम्' होकर सवर्णदीर्घ किए जाने पर 'आस्' रूप बनेगा। इस प्रकार 'आम्' विधान व्यर्थ होगा। अतः इससे सूचित होता है कि 'आम्' के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती। उदाहरण के लिए 'गोपाय' अनेकाच् (अनेक स्वर-वर्णोंवाली) धातु है, अतः लिट् लकार आने पर इसके आगे 'आम्' होकर 'गोपाय आम् लिट्' रूप बनता है।

४७०. अतो लोपः। ६। ४। ४८

आर्धधातुकोपदेशे यदन्तं तस्याऽतो लोप आर्धधातुके।

४७०. अत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अतः) ह्रस्व अकार का (लोपः) लोप हो। किन्तु यह लोप किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ और 'आर्धधातुके' ६.४.४६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अतः' 'अङ्गस्य' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आर्धधातुक परे होने पर अकारान्त अङ्ग का लोप होता है।* '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह लोप अङ्ग के अन्त्य वर्ण ह्रस्व अकार का ही होगा। उदाहरण के लिए 'गोपाय आम् लिट्' में 'आम्' की '४०४–आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा है। अतः उसके परे होने पर अकारान्त अङ्ग 'गोपाय' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गोपाय् आम् लिट्' रूप बनता है।

४७१. आमः। २। ४। ८१

आमः परस्य लुक्।

४७१. आम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आमः) आम् से पर। किन्तु क्या

---

* यह अर्थ 'काशिका' के अनुसार दिया गया है। यद्यपि वृत्ति के अनुसार भी अर्थ हो सकता था, किन्तु यह अधिक स्वाभाविक है।

होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ण्यक्षत्रिया-र्षञितो यूनि लुगणिञोः' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः' २.४.८० से 'लेः' की अनुवृत्ति होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आम् से परे लकार के स्थान में लुक् होता है।* तात्पर्य यह है कि उसका लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'गोपाय् आम् लिट्' में 'आम्' से परे लकार 'लिट्' का लोप होकर 'गोपाय् आम्'= 'गोपायाम्' रूप बनता है।

४७२. कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि। ३।१।४०

आमन्तालिट्पराः कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते। तेषां द्वित्वादि।

४७२. कृञिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिटि) लिट् परे होने पर (कृञ्) कृञ् (अनुप्रयुज्यते) अनुप्रयुक्त होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' ३.१.३५ से 'आम्' की अनुवृत्ति करनी होगी जो कि पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है। कृञ् प्रत्याहार है और यह कृ, भू और अस् धातुओं का वाचक है।‡ अनुप्रयोग का अर्थ है—जो बाद में प्रयोग होता हो। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर आम् प्रत्यय के पश्चात् कृ, भू और अस् धातुओं का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'गोपायाम्' में लिट् परे होने के कारण 'आम्' के पश्चात् 'कृ' होकर 'गोपायाम् कृ' रूप बनता है। लिट् के प्रथम एकवचन में तिप् और उसके स्थान पर णल् होकर 'गोपायाम् कृ अ' रूप बनेगा। यहाँ पर 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' ६.१.८ से द्वित्व होकर 'गोपायाम् कृ कृ अ' रूप बनता है।

४७३. उरत्। ७।४।६६

अभ्यासस्य ऋवर्णस्याऽत् स्यात्। वृद्धिः—गोपायाञ्चकार। द्वित्वात् परत्वाद् यणि प्राप्ते—

४७३. उरदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उः) ऋ वर्ण के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होगा, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अभ्यासस्य' में यहाँ अवयव-षष्ठी है। इस प्रकार सूत्र का

---

* देखिये 'काशिका'—'आमः परस्य लेर्लुग् भवति'।

† 'अनुप्रयुज्यते' लट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप है। यह क्रिया है, अतः इसका विभक्ति-निर्धारण नहीं किया गया है।

‡ 'कृञिति प्रत्याहारेण कृभ्वस्तयो गृह्यन्ते'—काशिका।

भावार्थ होगा—अभ्यास के अवयव ऋवर्ण के स्थान पर ह्रस्व अकार आदेश होता है। '२९–उरण् रपरः' की सहायता से यह अकार रपर होकर 'अर्' के रूप में आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'गोपायाम् कृ कृ अ' में अभ्याससंज्ञक पूर्ववर्ती 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'अर्' आदेश होकर 'गोपायाम् कर् कृ अ' रूप बनता है। इस स्थिति में रकार-लोप आदि होकर 'गोपायाञ्चकार' रूप सिद्ध होगा।*

४७४. द्विर्वचनेऽचि। १। १। ५९

द्वित्वनिमित्तेऽचि अच आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये। गोपायाञ्चक्रतुः। गोपायाञ्चक्रुः।

४७४. द्विर्वचने इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(द्विर्वचने) द्वित्व-निमित्तक (अचि) स्वर-वर्ण परे होने पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' १.१.५६ से 'आदेशः', 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' से 'अचः' और 'न पदान्त–०' १.१.५८ से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'द्विवचने' की दो बार आवृत्ति करनी होगी। एक बार निमित्तसप्तमी होकर 'द्वित्वनिमित्ते' अर्थ में प्रयुक्त होगा। दूसरी बार 'द्वित्वे कर्तव्ये' अर्थ में प्रयुक्त होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि द्वित्व करना हो, तो द्वित्व-निमित्तक अच् (अजादि-प्रत्यय) परे होने पर अच् के स्थान पर आदेश (अजादेश) नहीं होता है।† उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथम-द्विवचन में 'गोपायाम् कृ अतुस्' बनने पर धातु के एकाच् को द्वित्व और ऋकार को यण् प्राप्त होता है। यहां 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' १.४.२ परिभाषा से द्वित्व की अपेक्षा पर होने के कारण यण् आदेश पहले प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ द्वित्व का निमित्त अजादि-प्रत्यय 'अतुस्' परे है। लिट् परे होने पर द्वित्व होता है और 'अतुस्' लिट् के स्थान पर हुआ है, अतः स्थानिवद्भाव से यह भी लिट् ही है। इसी से इस द्वित्व-निमित्तक 'अतुस्' प्रत्यय परे होने के कारण अच् के स्थान पर कोई आदेश नहीं होगा। चूंकि यण् अच् के स्थान पर ही होता है, अतः प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। यह 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' १.४.२ का अपवाद है। इसके अनुसार द्वित्व कार्य पहले होगा, अजादेश उसके अनन्तर हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'गोपायाम् कृ अतुस्' में पहले द्वित्व होकर 'गोपायाम् कृ कृ अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में अभ्यास कार्य और अजादेश यण् होते हैं। तब रुत्व-विसर्ग होकर 'गोपायाञ्चक्रतुः' रूप सिद्ध होता है।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'गोपायाञ्चकार' की रूप-सिद्धि देखिये।

† यह अर्थ 'सिद्धान्तकौमुदी' के अनुसार दिया गया है। देखिये—प्रस्तुत सूत्र। तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

४७५. एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । ७ । २ । १०

उपदेशे यो धातुरेकाजनुदात्तश्च तत आर्धधातुकस्येण् न ।

'ऊद्-ॠदन्तैर्यौति-रु-क्ष्णु-शी-स्नु-नु-क्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः ।
वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहताः स्मृताः ॥'

कान्तेषु—शक्लेकः। चान्तेषु—पच् मुच्-रिच्-वच-विच्-सिचः पट् । छान्तेषु—प्रच्छेकः । जान्तेषु—त्यज-निजिर्-भज-भञ्ज-भुज्-भ्रस्ज्-मस्ज यज-युज्-रुज्-रञ्ज्-विजिर्-स्वञ्ज्-सञ्ज सृजः पञ्चदश । दान्तेषु—अद्-क्षुद्-खिद्-छिद्-तुद्-नुद्-पद्य-भिद्यति-विनद्-विन्द्-शद्-सद्-स्विद्य स्कन्द-हदः षोडश। धान्तेषु—क्रुध क्षुध्-बुध् बन्ध्-युध-रुध-राध्-व्यध्-शुध-साध्-सिध्या एकादश। नान्तेषु—मन्यहनौ द्वौ। पान्तेषु—आप्-क्षुप्-क्षिप्-तप्-तिप् तृप्य-दृप्य-लिप लुप्-वप-शप्-स्वप्-सृपस्त्रयोदश। भान्तेषु—यम्-रभ्-लभस्त्रयः। मान्तेषु—गम्-नम्-यम्-रमश्चत्वारः। शान्तेषु—क्रुश्-दंश्-दिश्-दृश-मृश्-रिश रुश्-लिश्-विश्-स्पृशो दश। षान्तेषु—कृष्-त्विष्-तुष्-द्विष् दुष् पुष्य-पिष्-विष्-शिष-शुष्-श्लिष एकादश । सान्तेषु—घस्-वसती द्वौ। हान्तेषु—दह्-दिह-दुह-नह-मिह्-रुह लिह्-वहोऽष्टौ । अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम् (१०३) ।

गोपायाञ्चकर्थ, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र ।

गोपायाञ्चकार, गोपायाञ्चकर । गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम । गोपायाम्बभूव । गोपायामास । जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः ।

४७५. एकाच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (एकाचः) एकाच् और (अनुदात्तात्) अनुदात्त से परे । किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ऋत इद्धातोः' ७.१.१०० से 'धातोः' तथा 'नेड्वशि कृति' ७.२.८ से 'नेड्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'धातोः' 'एकाचः' और 'अनुदात्तात्' का विशेष्य है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपदेश की अवस्था में एकाच् और अनुदात्त धातु* से परे 'इट्' आगम नहीं होता

* धातुओं का उपदेश 'धातुपाठ' में है । वहां देखने से पता चल जाता है कि धातु एकाच् है अथवा नहीं । साथ ही वहां उदात्त, अनुदात्त आदि प्रभेदों का भी उल्लेख हुआ है । किन्तु वहां पर भी सभी अनुदात्त धातुओं का एक स्थान पर संकलन नहीं है, अतः सुविधा के लिए अनुदात्त धातुओं का परिगणन नीचे दिया जा रहा है :

अजन्त धातुएं—ऊकारान्त और ॠकारान्त तथा निम्नांकित बारह धातुओं को छोड़कर शेष एकाच अजन्त धातुएं अनुदात्त हैं—

है। उदाहरणार्थ लिट् के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'गोपायाञ्चकृथ' रूप बनने पर '४०१-आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् आगम प्राप्त होता है। किन्तु यहां 'कृ' धातु उपदेश अवस्था में है और साथ ही एकाच् और अनुदात्त भी। अतः प्रकृत सूत्र से उससे परे 'इट्' का निषेध हो जाता है। तत्र गुण होकर 'गोपायाञ्चकर्थ' रूप सिद्ध होता है।

---

१. यु (मिलना, अलग करना), २. रु (शब्द करना), ३. क्ष्णु (तेज करना), ४. शीङ् (सोना), ५. स्नु (चूना), ६. नु (स्तुति करना), ७. क्षु (शब्द करना), ८. श्वि (जाना, बढ़ना), ९. डीङ् (उड़ना), १०. श्रिञ् (सेवा करना), ११. वृङ् (सेवा करना) और १२. वृञ् (स्वीकार करना)।

हलन्त धातुएं—निम्नांकित एकाच् हलन्त धातुएं अनुदात्त हैं—

ककारान्त—१. शक्लृ (समर्थ होना)।

चकारान्त—१. पच् (पकाना), २. मुच् (छोड़ना), ३. रिच् (विरेचन), ४. वच् (परिभाषण), ५. विच् (अलग होना) और ६. सिच् (क्षरण)।

छकारान्त—१. प्रच्छ (पूछना)।

जकारान्त—१. त्यज् (त्यागना), २. निजिर् (शुद्ध करना, बढ़ाना), ३. भज् (सेवा करना), ४. भञ्ज् (तोड़ना), ५. भुज् (पालन करना, खाना), ६. भ्रस्ज् (भूनना), ७. मस्ज् (शुद्ध करना, डुबकी लगाना), ८. यज् (यज्ञ करना), ९. युज् (जोड़ना), १०. रुज् (तोड़ना, रोगी करना), ११. रञ्ज् (रोग, रंगना), १२. विजिर् (अलग होना), १३. स्वञ्ज् (आलिङ्गन करना), १४. सञ्ज् (मिलना) और १५. सृज् (छोड़ना)।

दकारान्त—१. अद् (खाना), २. क्षुद् (पीसना), ३. खिद् (खेद करना), ४. छिद् (टुकड़े करना), ५. तुद् (पीड़ा पहुंचाना), ६. नुद् (प्रेरित करना), ७. पद् (जाना), ८. भिद् (तोड़ना), ९. विद् (होना), १०. विन्द् (विचार करना), ११. विन्द् (प्राप्त करना), १२. शद् (नष्ट होना), १३. सद् (जाना आदि), १४. स्विद् (पसीना होना), १५. स्कन्द् (जाना, सुखाना) और १६. हद् (मल त्यागना)।

धकारान्त—१. क्रुध् (क्रोध करना), २. क्षुध् (भूख लगना), ३. बुध् (जानना), ४. बन्ध् (बांधना), ५. युध् (युद्ध करना), ६. रुध् (रोकना), ७. राध् (सिद्ध करना), ८. व्यध् (वेधना, मारना), ९. शुध् (शुद्ध होना), १०. साध (सिद्ध करना) और ११. सिध् (सिद्ध होना)।

नकारान्त—१. मन् (मानना, जानना) और २. हन् (मारना, जाना)।

पकारान्त—१. आप् (प्राप्त करना), २. क्षुप् (छूना), ३. क्षिप् (फेंकना),

४७६. स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा । ७ । २ । ४४

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा ।

जुगोपिथ, जुगोप्थ । गोपायिता, गोपिता, गोप्ता । गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति । गोपायतु । अगोपायत् । गोपायेत् । गोपाय्यात्, गुप्यात् । अगोपायीत् ।

४७६. स्वरतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्वरति-सूति-सूयति*-धूञ्-ऊदितः)

---

४. तप् (तपना), ५. तिप् (टपकना), ६. तृप् (प्रसन्न करना या होना), ७. दृप् (घमण्ड में आना), ८. लिप् (लीपना), ९. लुप् (काटना, लोप करना), १०. वप् (बोना), ११. शप् (शाप देना), १२. स्वप् (सोना) और १३. सृप् (चलना, सरकना) ।

भकारान्त—१. यभ् (मैथुन करना), २. रभ् (आरम्भ करना) और ३. लभ् (प्राप्त करना) ।

मकारान्त—१. गम् (जाना), २. नम् (झुकना), ३. यम् (शान्त होना) और ४. रम् (रमण करना) ।

शकारान्त—१. क्रुश् (जोर से रोना), २. दंश् (काटना), ३. दिश् (दान करना), ४. दृश् (देखना), ५. मृश् (स्पर्श करना, मालूम करना), ६. रिश् (हिंसा करना), ७. रुश् (हिंसा करना), ८. लिश् (घटना), ९. विश् (प्रवेश करना) और १०. स्पृश् (छूना) ।

षकारान्त—१. कृष् (हल जोतना), २. त्विष् (चमकना), ३. तुष् (तृप्त होना), ४. द्विष् (द्वेष करना), ५. दुष् (दूषित होना), ६. पुष् (पुष्ट होना), ७. पिष् (पीसना), ८. विष् (सींचना), ९. शिष् (बच रहना), १०. शुष् (सूखना) और ११. श्लिष् (आलिङ्गन करना) ।

सकारान्त—१. घस् (खाना) और २. वस् (रहना) ।

हकारान्त—१. दह् (जलाना), २. दिह् (वृद्धि होना), ३. दुह् (दुहना), ४. नह् (बांधना), ५. मिह् (सींचना), ६. रुह् (जमना, उगना), ७. लिह् (चाटना) और ८. वह् (ले जाना) ।

ज्ञातव्य :—ध्यान रहे कि अनुदात्तेत् और अनुदात्त—ये दो भिन्न बातें हैं और इनका फल भी भिन्न-भिन्न होता है । अनुदात्तेत् का फल आत्मनेपदविधान है और अनुदात्त का इट्-निषेध । अनुदात्तेत् का निर्देश 'धातुपाठ' में किया गया है ।

* 'स्वरति-सूति-सूयति' क्रमशः 'स्वृ', 'षूङ्' (अदादिगण) और 'षूङ्' (दिवादिगण) के लट् लकार के रूप हैं । 'स्वृ' का अर्थ है—शब्द करना और दुख देना (शब्दो-

'स्तृ', 'षूङ्', 'षूङ्' 'धूञ्' और ऊदित् धातुओं से परे (वा) विकल्प से। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' ७.२.३५ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्तृ, षूङ् (अदादि), षूङ् (दिवादि), धूञ् (हिलना) और ऊदित् (जिनका दीर्घ ऊकार इत् हुआ हो) धातुओं के पश्चात् वलादि आर्धधातुक* को विकल्प से 'इट्' आगम होता है। उदाहरण के लिए 'गुपू' धातु का दीर्घ ऊकार इत् हुआ है। अतः ऊदित् होने के कारण इसके आगे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' होता है। लिट् के प्रथम-पुरुष के बहुवचन में 'जुगोप्थ' रूप बनने पर वलादि 'थ' आर्धधातुक परे होने के कारण विकल्प से इट् होकर 'जुगोपिथ'† रूप बनता है। अभाव पक्ष में 'जुगोप्थ' ही रहेगा।

४७७. नेटि । ७ । २ । ४

इडादौ सिचि हलन्तस्य वृद्धिर्न । अगोपीत् । अगौप्सीत् ।

४७७. नेटीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इटि) इट् पर होने पर (न) न होना चाहिये। किन्तु क्या न होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' ७.२.१ तथा 'वदव्रजहलन्तस्याचः' ७.२.३ से 'हलन्तस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सिचि' 'इटि' का विशेषण है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार है और वह 'हलन्तस्य' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इडादि (जिसके आदि में इट् का आगम हुआ हो) सिच् परस्मैपद परे होने पर हलन्त अङ्ग के स्थान में वृद्धि नहीं होती है। वृद्धि सदैव अच् (स्वर-वर्ण) के स्थान में ही होती है, अतः यहां भी हलन्त अङ्ग के अच् के स्थान में वृद्धि-निषेध किया गया है। यह सूत्र '४६५—वद-व्रज-हलन्तस्याचः' से प्राप्त वृद्धि-आदेश का अपवाद है। उदाहरण के लिए लिङ् लकार के प्रथम-पुरुष के एकवचन में 'गुप्' धातु से तिप्, अट् आदि करने पर 'अगुप् इ स् ईत्' रूप बनता है। यहां इडादि सिच् (सकार) परे होने के कारण गकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान में '४६५—वद-व्रज-०' से प्राप्त वृद्धि—औकार का निषेध हो जाता है। तब गुण, सकार-लोप और सवर्णदीर्घ होकर 'अगोपीत्' रूप सिद्ध होता है।

पतापयोः)। प्रथम 'षूङ्' (अदादि) का अर्थ 'पैदा करना' (प्राणिगर्भविमोचने) है और दूसरे 'षूङ्' (दिवादि) का अर्थ है—प्रसव करना (प्राणिप्रसवे)। वास्तव में इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सूत्र में क्रिया-पदों का प्रयोग किया गया है।

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ४०१ वें सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जुगोपिथ' की रूप-सिद्धि देखिये।

४७८. झलो झलि । ८ । २ । २६

झलः परस्य सस्य लोपो झलि ।

अगौप्ताम्, अगौप्सुः । अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त ।

अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म । अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगोप्स्यत् ।

क्षि क्षये । १३ । क्षयति । चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः । 'एकाचः–०' इति निषेधे प्राप्ते—

४७८. झलि इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झलि) झल् परे होने पर (झलः) झल् के पश्चात् । किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं लगता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रात्सस्य' ८.२.२४ से 'सस्य' और 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् (वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह) परे होने पर झल् के पश्चात् सकार का लोप होता है । उदाहरण के लिए लङ् लकार के प्रथम-पुरुष-द्विवचन में 'गुप्' धातु से तस्, अट् आदि होकर 'अगौप् स् ताम्' रूप बनता है । यहां झल्–तकार परे होने के कारण झल्–पकार के परवर्ती सकार का लोप होकर 'अगौप्ताम्' रूप सिद्ध होता है ।

४७९. कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि* । ७ । २ । १३

क्रादिभ्य एव लिट इण् न स्यात्, अन्यस्मादनिटोऽपि स्यात् ।

४७९. कृ सृ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कृसृ—श्रुवो) कृ, सृ, वृ, भृ, स्तु, द्रु, स्रु और श्रु से पर (लिटि) लिट् का अवयव...। किन्तु क्या होना (या न होना) चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'नेड्वशि कृति' ७.२.८ से 'न' और 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, और श्रु इन आठ धातुओं से पर लिट् को 'इट्' आगम नहीं होता । वस्तुतः यह सूत्र नियमार्थ है क्योंकि '४७५–एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से इन धातुओं से पर इट्-निषेध पहले से ही सिद्ध है । अतः पुनः इस सूत्र से उसका विधान व्यर्थ प्रतीत होता है । इसी से इस सूत्र से ध्वनित होता है कि इन्हीं धातुओं से पर इट्-निषेध होता है, अन्य धातुओं से पर ऐसा नहीं होता । तात्पर्य यह है कि इन आठ धातुओं को छोड़कर अन्य धातुओं से पर 'लिट्' को 'इट्' (इ) आगम हो जाता है । उदाहरण के लिए 'क्षि' धातु कृ आदि

---

* 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से यहां सप्तमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाती है ।

इन आठ धातुओं में नहीं है, अतः अनुदात्त होते हुए भी लिट् प्रत्यय 'थल्' परे होने पर प्रकृत सूत्र से उसको इट् प्राप्त होता है। किन्तु अग्रिम सूत्र से इसका बाध हो जाता है—

४८०. अचस्तास्वत्[1] *[3]थल्यनिटो[2] नित्यम्[4] । ७ । २ । ६१

उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट्, ततः परस्य थल इण् न।

४८०. अच इति—(अचः) अच् (नित्यम्) नित्य (अनिटः) अनिट् से पर (तास्वत्) तास् के समान (थलि) थल् का अवयव···। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तासि च क्लृपः' ७.२.६० से 'तासि', 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' ७.२.५८ से 'इट्' और 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। भाष्य-प्रमाण से उत्तरवर्ती सूत्र 'उपदेशेऽत्वतः' ७.२.६२ से 'उपदेशे' का ग्रहण होता है। अधातु से थल् का अभाव होने से 'धातोः' का अपेक्षा-भाव से स्वतः ग्रहण हो जाता है। 'अचः' 'धातोः' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपदेशावस्था में जो धातु अजन्त† (स्वरान्त) तथा 'तास्' प्रत्यय परे होने पर नित्य अनिट् होती है, उसके पश्चात् थल् को 'तास्' के समान इट् का आगम नहीं होता। उदाहरण के लिए 'क्षि' धातु उपदेश में अजन्त है तथा 'तास्' प्रत्यय परे होने पर नित्य अनिट् भी है, क्योंकि अनुदात्त होने से '४७५—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से इसको इट्-निषेध हो जाता है। अतः इससे परे 'थल्' को 'इट्' आगम नहीं होगा। किन्तु इसका भी बाध ४८२ वें सूत्र से हो जाता है।

४८१. [6]उपदेशेऽत्वतः । ७ । २ । ६२

उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इण् न स्यात्।

४८१. उपदेशे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (अत्वतः)‡ अकारवान् से पर। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचः' को छोड़कर सम्पूर्ण पूर्ववर्ती सूत्र (४८०) की अनुवृत्ति करनी होगी। साथ ही वहाँ दी हुई अनुवृत्ति का भी अनुवर्तन होगा। 'धातोः' यहाँ 'अत्वतः' का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगी—उपदेश में अकारवान् (ह्रस्व अकारवाली) धातु यदि 'तास्' प्रत्यय परे होने पर नित्य अनिट् हो, तो उसके पश्चात् थल् को तास् के समान 'इट्'

---

* 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से यहां सप्तमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाती है।

† उपदेशावस्था में अजन्त धातुओं का परिगणन ४७५ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी में दिया गया है।

‡ इसका विग्रह इस प्रकार है—'अत्–ह्रस्वाकारः सः अस्य अस्तीति अत्वान्'।

का आगम नहीं होता। इसका उदाहरण 'पपक्थ' में मिलता है। यह पच् धातु के लिट् लकार के मध्यमपुरुष, एकवचन का रूप है। 'पच्' धातु 'तास' प्रत्यय परे होने पर नित्य अनिट् है और उपदेश में अकारवान् भी है। अतः यहाँ 'थल्' को 'इट्' आगम न होकर 'पपक्थ' रूप सिद्ध होता है।

ज्ञातव्य—वास्तव में यह सूत्र अप्रासंगिक है, क्योंकि 'क्षि' धातु में इसका कोई उपयोग नहीं होता।

४८२. ऋतो भारद्वाजस्य । ७ । २ । ६३

तासौ नित्यानिट् ऋदन्तादेव थलो नेड्, भारद्वाजस्य मतेन। तेन अन्यस्य स्यादेव। अयमत्र संग्रहः—

'अजन्तोऽकारवान् वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट्, क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्॥'

चिक्षयिथ, चिक्षेथ। चिक्षियथुः। चिक्षिय। चिक्षाय, चिक्षय। चिक्षियिव। चिक्षियिम। क्षेता। क्षेष्यति। क्षयतु। अक्षयत्। क्षयेत्।

४८२. ऋत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भारद्वाजस्य) भारद्वाज के मत से (ऋतः) ऋकार से पर। किन्तु इससे यह पता नहीं चलता कि क्या होना चाहिये? इसके स्पष्टीकरण के लिये 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' ७.२.५८ से 'इट्', 'न वृद्भ्यः-०' ७.२.५९ से 'न', 'तासि च-०' ७.२.६० से 'तासि' तथा 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' ७.२.६१ से 'थलि' और 'नित्यमनिटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। अपेक्षाभाव से यहां भी 'धातोः' का अध्याहार हो जाता है और वह 'ऋतः' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भारद्वाज के मत से जो ऋकारान्त धातु 'तास्' प्रत्यय परे होने पर नित्य अनिट् हो, उसके पश्चात् थल् को इट् आगम नहीं होता। ध्यान रहे कि पूर्ववर्ती दो सूत्रों (४८०, ४८१) से ही ऋकारान्त धातुओं से परे थल् को इट्-निषेध सिद्ध हो जाता है, अतः इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है। तात्पर्य यह कि भारद्वाज के मत से केवल ऋकारान्त धातुओं के ही परे थल् को इट् आगम नहीं होता। ऋकारान्त भिन्न अन्य अजन्त तथा हलन्त धातुओं को इट् आगम हो जाता है। किन्तु पाणिनि सभी अजन्त और हलन्तों में अकारवान् धातुओं को इट्-निषेध करते हैं (४८० और ४८१)। इस मतभेद के फलस्वरूप ऋकारान्तभिन्न अजन्त और हलन्त अकारवान् धातुओं से परे थल् को विकल्प से इट् का आगम होता है। ऋकारान्त धातु को पाणिनि भी निषेध करते हैं। अतः दोनों के एकमत होने से ऋकारान्त धातुओं से परे थल् को इट् आगम नहीं हो सकता। यही इस सूत्र का फलितार्थ है। उदाहरण के लिए 'क्षि' धातु अनिट् और अजन्त है। अतः उससे परे

थल् को विकल्प से इट् होता है। इट् होने पर 'चिक्षयिथ'* और अभावपक्ष में 'चिक्षेथ' रूप बनता है।

४८३. अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः । ७ । ४ । २५

अजन्ताङ्गस्य दीर्घो यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयोः। क्षीयात्।

४८३. अकृदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अकृत्सार्वधातुकयोः) कृत् और सार्वधातुक न परे होने पर (दीर्घः) दीर्घ होता है। किन्तु किसके स्थान में दीर्घ होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अयङ् यि क्ङिति' ७.४.२२ से 'यि' और 'क्ङिति' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। दीर्घ-ग्रहण के कारण 'अचश्च' १.२.२८ परिभाषा से 'अचः' का अध्याहार हो जाता है।† यह 'अङ्गस्य' (६.४.१) का विशेषण बनता है। 'यि' 'क्ङिति' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधि०—' परिभाषा से तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कृत् और सार्वधातुक-भिन्न यकारादि कित् ङित् प्रत्यय के परे होने पर अजन्त (जिसके अन्त में स्वर-वर्ण हो) अङ्ग को दीर्घ होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह दीर्घादेश अन्त्य अच् के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'क्षि' धातु से तिप् आदि होकर 'क्षि यात्' रूप बनता है। यहां यकारादि यासुट् प्रत्यय परे होने पर अजन्त अङ्ग 'क्षि' के इकार को दीर्घ ईकार होकर 'क्षीयात्' रूप बनता है। ध्यान रहे कि 'लिङाशिषि' ३.४.११६ परिभाषा से आशीर्लिङ् आर्धधातुक है। कृत् और आर्धधातुक यकारादि प्रत्यय में निषेध होने के कारण 'संचित्य' और 'चिनुयात्' आदि में दीर्घ नहीं होता, क्योंकि प्रथम में यकारादि प्रत्यय कृत् है और दूसरे में सार्वधातुक।

४८४. सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७ । २ । १

इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात् परस्मैपदे सिचि। अक्षैषीत्। अक्षेष्यत्।

तप् सन्तापे। १४। तपति। तताप, तेपतुः, तेपुः। तेपिथ, ततप्थ। तप्ता। तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात्। अताप्सीत्। अताप्ताम्। अतप्स्यत्।

क्रमु पादविक्षेपे। १५।

४८४. सिचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परस्मैपदेषु सिचि) परस्मैपद सिच् परे होने पर (वृद्धिः) वृद्धि हो। किन्तु यह वृद्धि किसके स्थान पर हो, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता। इसके लिये 'अङ्गस्य' ६.४.१ अधिकार-सूत्र की अनुवृत्ति होगी।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'चिक्षयिथ' की रूप-सिद्धि देखिये।

† 'दीर्घग्रहणेन 'अचश्च' इति परिभाषोपस्थानादाह—अजन्तेति'— सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

वृद्धि-आदेश होने के कारण 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ परिभाषा से 'इकः' का ग्रहण हो जाता है। 'इकः' 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद सिच् परे होने पर इगन्त अङ्ग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ, ऌ में से कोई हो) के स्थान पर वृद्धि होती है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य इक् के स्थान पर ही वृद्धि होगी। उदाहरण के लिए लिङ् लकार के प्रथम एकवचन में 'क्षि' धातु से तिप्, अट् आदि होकर 'अक्षि स् ई त्' रूप बनता है। यहां परस्मैपद सिच् (सकार) परे होने के कारण इगन्त (इकारान्त) अङ्ग 'अक्षि' के इकार के स्थान पर वृद्धि–ऐकार होकर 'अक्षै स् ई त्' रूप बनेगा। तब षत्व होकर 'अक्षैषीत्' रूप सिद्ध होता है।

४८५. वा[4] भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः[5] । ३ । १ । ७०

एभ्यः श्यन् वा कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे—शप्।

४८५. वा भ्राशेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भ्राश—लषः) भ्राश्, भ्लाश्, भ्रम्, क्रम्, क्लम्, त्रस्, त्रुट् और लष् से (वा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता। इसके लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके', 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्तरि' तथा 'दिवादिभ्यः श्यन्' ३.१.६९ से 'श्यन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्तरि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्त्रर्थ (कर्तृवाच्य) सार्वधातुक परे होने पर भ्राश् (चमकना), भ्लाश् (चमकना), भ्रम् (घूमना), क्रम् (चलना), क्लम् (खिन्न होना), त्रस् (डरना), त्रुट् (टूटना) और लष् (इच्छा करना) धातुओं से विकल्पतः श्यन् प्रत्यय होता है। श्यन् में केवल यकार ही शेष रह जाता है। '१३६ लशक्वतद्धिते' से शकार और '१–हलन्त्यम्' से नकार का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथम-पुरुष एकवचन में 'क्रम्' धातु से 'तिप्' होकर 'क्रम् ति' रूप बनता है। यहां कर्त्रर्थ सार्वधातुक 'ति' (तिप्) परे होने के कारण 'क्रम्' से 'श्यन्' प्रत्यय होकर 'क्रम् य ति' रूप बनेगा। अभाव पक्ष में शप् होकर 'क्रम् अ ति' रूप बनता है।

४८६. क्रमः[6] परस्मैपदेषु[7] । ७ । ३ । ७६

क्रमो दीर्घः परस्मैपदे शिति। क्राम्यति, क्रामति। चक्राम। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु, क्रामतु। अक्राम्यत्, अक्रामत्। क्रामेत्, क्राम्येत्। अक्रमीत्। अक्रमिष्यत्। पा पाने। १६।

४८६. क्रम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद प्रत्यय

परे होने पर (क्रमः) 'क्रम्' के स्थान पर क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' ७.३.७४ से 'दीर्घः' तथा 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' ७.३.७५ से 'शिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद शित् प्रत्यय परे होने पर 'क्रम्' के स्थान पर दीर्घ होता है। 'अचश्च' १.२.२८ परिभाषा से यह दीर्घादेश 'क्रम्' के अच् (स्वर-वर्ण) अकार के स्थान पर ही होता है। उदाहरण के लिए 'क्रम् य ति' में शित् प्रत्यय (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) 'श्यन्' परे होने से 'क्रम्' के अकार को दीर्घ आकार होकर 'क्राम्यति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'क्रम् अ ति' में शित् शप् (अ) परे होने के कारण 'क्रम्' के अकार को दीर्घ होकर 'क्रामति' रूप सिद्ध होगा।

४८७. पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः। ७।३।७८

पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे। पिबादेशो-ऽदन्तस्तेन न गुणः। पिबति।

४८७. पा-घ्रेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पा—सदां) पा आदि ग्यारह धातुओं के स्थान पर (पिब—सीदाः) पिब आदि ग्यारह आदेश होते हैं। किन्तु ये आदेश किस स्थिति में होते हैं, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' ७.३.७५ से 'शिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३—यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से क्रमानुसार होते हैं। पुनश्च अनेकाल् होने से ये आदेश '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—शित् (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) प्रत्यय परे होने पर 'पा' आदि के स्थान पर क्रमशः 'पिब' आदि सर्वादेश होते हैं। इसको एक तालिका द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

स्थानी	आदेश	अर्थ	स्थानी	आदेश	अर्थ
१—पा	पिब*	पीना	७—दृश्	पश्य	देखना
२—घ्रा	जिघ्र	सूंघना	८—ऋ	ऋच्छ	जाना
३—ध्मा	धम	फूंकना	९—सृ	धौ	दौड़ना
४—स्था	तिष्ठ	ठहरना, रहना	१०—शद्	शीय	नष्ट होना
५—म्ना	मन	अभ्यास करना	११—सद्	सीद	जाना या नष्ट होना
६—दाण्	यच्छ	दान देना			

* 'पिब' आदेश अकारान्त है। शेष आदेशों में अकार उच्चारणार्थक है

४८८. आत औ णलः । ७ । १ । ३४

आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेशः स्यात् । पपौ ।

४८८. आत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आतः) दीर्घ आकार से पर (णलः) णल् के स्थान पर (औ) औकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। यह पञ्चम्यन्त होकर 'आतः' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आकारान्त अङ्ग के पश्चात् णल् के स्थान पर 'औ' आदेश होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'पा' धातु से तिप्, णल् (अकार) आदि होकर 'प पा अ' रूप बनता है। यहाँ आकारान्त अङ्ग 'पा' से परे णल् (अ) को 'औ' हो जाता है—'प पा औ'। तब वृद्धि होकर 'पपौ' रूप सिद्ध होगा।

४८९. आतो लोप इटि च । ६ । ४ । ६४

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटो परयोरातो लोपः । पपतुः । पपुः । पपिथ, पपाथ । पपथुः । पप । पपौ । पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् ।

४८९. आतो लोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (इटि) इट् परे होने पर (आतः) दीर्घ आकार का (लोपः) लोप होता है। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुके' ६.४.४६ तथा 'दीङो युडचि क्ङिति' ६.४.६३ से 'अचि' और 'क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' 'आर्धधातुके' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि की सूचना देता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) आर्धधातुक, कित्-ङित् और इट् परे होने पर दीर्घ आकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'पा' धातु से तस् और उसके स्थान पर 'अतुस्' आदि होकर 'प पा अतुस्' रूप बनता है। यहाँ अपित् लिट् होने से 'अतुस्' '४५२—असंयोगाल्लिट् कित्' द्वारा 'कित्' होता है। साथ ही वह अजादि भी है। अतः उसके परे होने पर 'पा' के आकार का लोप होकर 'प प् अतुस्' रूप बनेगा। तब रुत्व-विसर्ग करने पर 'पपतुः' रूप सिद्ध होता है।

४९०. एर्लिङि । ६ । ४ । ६७

घुसंज्ञकानां मास्थादीनां च एत्वं स्यात् आर्धधातुके किति लिङि। पेयात्। 'गातिस्था—०' इति सिचो लुक्—अपात्। अपाताम्।

४९०. एरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिङि) लिङ् परे होने पर (एः)

एकार आदेश होता है। किन्तु यह एकार किसके स्थान पर होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुके' ६.४.४६, 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' ६.४.६६ से 'घुमास्थागापाजहातिसाम्' और 'दीङो युडचि क्ङिति' ६.४.६३ से 'किति'* की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा— आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने पर घुसंज्ञक,† मा (माने), स्था (गतिनिवृत्तौ), गा (शब्दे), पा (पाने), हा (त्यागे) और सो (अन्तकर्मणि) धातुओं के स्थान पर एकार होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह एकारादेश धातुओं के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही होगा। उदाहरण के लिए आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'पा' धातु से तिप्, यासुट् आदि होकर 'पा या त्' रूप बनता है। यहाँ आशीर्लिङ् के स्थान पर आदेशित तिङ् आर्धधातुक है और उसको हुआ 'यासुट्' (या) आगम '४३२-किदाशिषि' से कित् है। आदेश के द्वारा लिङ् भी कित् है। इस प्रकार आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने के कारण पकारोत्तरवर्ती आकार के स्थान पर एकार होकर 'पेयात्' रूप सिद्ध होता है।

४६१. आतः । ३ । ४ । ११०

सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस्।

४९१. आत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आतः) आकार से पर। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झेर्जुस्' ३.४.१०८ और 'सिजभ्यस्त-०' ३.४.१०९ से 'सिचः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की भी अनुवृत्ति होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ङित् लकार (लङ्, लिङ्, लुङ् और लृङ्) सम्बन्धी सिच् और अकारान्त से परे 'झि' के स्थान पर 'जुस्' आदेश होता है। अब यहां प्रश्न उठता है कि 'झि' सिच् और अकारान्त—दोनों से ही परे कैसे हो सकता है? यहाँ ध्यान रहे कि सिच् का तो लोप हो जाता है किन्तु प्रत्ययलक्षण परिभाषा से वह उपस्थित माना जाता है। आकारान्त का तो श्रवण भी होता है। इस प्रकार 'झि' दोनों से ही परे हो जाता है।‡

---

* लिङार्धधातुक में ङित् का अभाव होने के कारण 'ङित्' की अनुवृत्ति नहीं होगी।

† घुसंज्ञक धातुओं का निर्देश 'दाधाध्वदाप्' १.१.२० सूत्र में मिलता है। ये छः हैं—१. डुदाञ् दाने (जुहोत्यादि), २. दाण् दाने (भ्वादि), ३. दो अवखण्डने (दिवादि), ४. देङ् रक्षणे (भ्वादि), ५. डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादि) और ६. धेट् पाने (भ्वादि)।

‡ देखिये 'काशिका'—'कथमाभ्यामान्तर्यं, सिज्लुकि कृते प्रत्ययलक्षणेन सिचोऽनन्तरः श्रुत्या चाकारान्तादिति।'

इस कठिनता को दूर करने के लिए वार्तिककार ने कहा है—'आतः सिज्लुगन्तादिति वक्तव्यम् ।' इसकी सहायता से सूत्र का सरलार्थ इस प्रकार होगा—सिच् का लुक् होने पर आदन्त धातु से पर 'झि' के स्थान पर जुस् होता है। 'झि' के स्थान पर 'जुस्' आदेश पूर्व सूत्र 'सिजभ्यस्त–०' ३.४.१०९ से प्राप्त है, अतः इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है। इससे सूचित होता है कि सिच् का लोप होने पर आकारान्त धातु के ही पश्चात् 'झि' को 'जुस्' होता है, अन्य स्थलों में नहीं। नियम का फल 'अभूवन्' आदि आकारान्त-भिन्न धातुओं में दिखाई देता है। यहाँ सिच्-लोप होने पर भी 'जुस्' नहीं होता। प्रकृत सूत्र का उदाहरण 'पा' धातु में मिलता है। लुङ् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'पा' धातु से अट्, च्लि और उसके स्थान पर सिच् आदि होकर 'अपा झि' रूप बनता है। यहाँ आकारान्त 'पा' से परे 'झि' को 'जुस्' होकर 'अपा जुस्' रूप बनेगा। 'जुस्' में जकार '१२९–चुटू' सूत्र से इत्संज्ञक है अतः उसका लोप होकर केवल 'उस्' ही शेष रह जाता है—'अपा उस्'।

४९२. उस्यपदान्तात् । ६ । १ । ९६

अपदान्तादकाराद् उसि पररूपमेकादेशः। अपुः। अपास्यत्। ग्लै हर्षक्षये। १७। ग्लायति।

४९२. उसीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अपदान्तात्) अपदान्त से (उसि) 'उस्' परे होने पर। किन्तु इससे स्पष्ट नहीं होता कि क्या होना चाहिये? इसके लिए 'आद्गुणः' ६.१.८७ से 'आत्' और 'एङि पररूपम्' ६.१.९४ से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एकः पूर्वपरयोः' ६.१.८४ का यहाँ अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अपदान्त अवर्ण से 'उस्' परे होने पर पूर्व-पर—दोनों के स्थान में पररूप एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'अपा उस्' में अपदान्त पकारोत्तरवर्ती आकार से 'उस्' परे है। अतः पूर्व और पर के स्थान में पररूप 'उ' होकर 'अप् उ स्' = 'अपु स्' रूप बनता है। इस स्थिति में सकार का रुत्व-विसर्ग होकर 'अपुः' रूप सिद्ध होता है।

४९३. आदेच उपदेशेऽशिति । ६ । १ । ४५

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वम् न तु शिति। जग्लौ। ग्लाता। ग्लास्यति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्।

४९३. आदेच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अशिति) शित् न परे होने पर (उपदेशे) उपदेशावस्था में (एचः) एच् के स्थान पर (आत्) आकार आदेश होता है। सूत्र के तात्पर्य के स्पष्टीकरण के लिए 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' ६.१.८ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एचः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि

हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि शित् प्रत्यय परे न हो तो उपदेशावस्था में एजन्त धातु (जिसके अन्त में ए, ओ, ऐ या औ हो) के स्थान पर आकार होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आकारादेश धातु के अन्त्य स्वर-वर्ण के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'ग्लै' धातु उपदेश अवस्था में एजन्त है, अतः शित् प्रत्यय परे न होने पर ऐकार के स्थान पर आकार होकर 'ग्ल् आ' = 'ग्ला' रूप बनता है। लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में शप्, के शित् होने से यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। शेष शित्-भिन्न लकारों में आकारादेश हो जाता है। लिट् में ही शप् नहीं होता, अतः आत्व हो जाता है। आत्व होने पर धातु आकारान्त बन जाता है और आकारान्त के समान ही उसके रूप बनते हैं। लिट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'ग्लै' को आकारान्त के समान सब कार्य होकर 'जग्लौ' रूप बनता है।*

४९४. वाऽन्यस्य संयोगादेः[६] । ६ । ४ । ६८

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वाऽऽर्धधातुके किति लिङि। ग्लेयात्–ग्लायात्।

४९४. वाऽन्यस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अन्यस्य संयोगादेः) अन्य संयोगादि के स्थान पर (वा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एर्लिङि' ६.४.६७, 'आतो लोप इटि च' ६.४.६४ से 'आतः' तथा 'दीङो युडचि क्ङिति' ६.४.६३ से 'किति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आर्धधातुके' ६.४.४६ का यहाँ अधिकार है। 'आर्धधातुके' और 'किति' दोनों ही 'लिङि' के विशेषण हैं। सूत्रस्थ 'अन्यस्य' का अभिप्राय 'घुमास्था–०' ६.४.६६ से विहित घु आदि धातुओं को छोड़कर अन्य धातुओं से है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का भी यहाँ अधिकार है, और वह 'आतः' तथा 'संयोगादेः' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने पर घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, हा और सन् को छोड़कर अन्य आकारान्त संयोगादि अङ्ग के स्थान में विकल्प से एकार होता है।† '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह एकारादेश अन्त्य वर्ण आकार के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'ग्लै' धातु पूर्वोक्त घुमास्था आदि से भिन्न है और संयोगादि भी। 'आदेच–०' ६.१.४५ से यह आकारान्त हो जाती है। अतः आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'ग्लायात्' रूप बनने पर आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने से आकार को एकार होकर 'ग्लेयात्' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में 'ग्लायात्' ही रहेगा।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जग्लौ' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ४९० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

४९५. यमरमनमातां सक् च । ७ । २ । ७३

एषां सक् स्याद्, एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु । अग्लासीत् । अग्लास्यत् । ह्वृ कौटिल्ये । १८ । ह्वरति ।

४९५. यमरमेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यम-रम-नम-आताम्) यम्, रम्, नम् और आकारान्त का अवयव (सक्) 'सक्' होता है (च) और । यहां सूत्रस्थ 'च' से स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके तात्पर्य को समझने के लिए 'इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम्' ७.२.६६ से 'इट्', 'अञ्जेः सिचि' ७.२.७१ से 'सिचि' तथा 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' ७.२.७२ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सिचि' यहां षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद परे होने पर यम् (निवृत्त होना), रम् (क्रीड़ा करना, रमण करना), नम् (नम्र होना, प्रणाम करना) और आकारान्त धातुओं का अवयव सक् होता है तथा सिच् का अवयव इट् होता है । 'सक्' में ककार इत्संज्ञक तथा अकार उच्चारणार्थक है; अतः केवल सकार ही शेष रह जाता है । इट् में टकार इत्संज्ञक है, अतः इकार ही बच रहता है । '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से कित् होने के कारण 'सक्' धातु का अन्तावयव और टित् होने से 'इट्' सिच् का आद्यवयव बनता है । उदाहरण के लिए 'ग्लै' धातु लुङ् में 'आदेच–०' ६.१.४५ से आकारान्त बन जाती है । अतः लुङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'अ ग्ला स् ई त्' रूप बनने पर परस्मैपद तिप् (तकार) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से धातु 'ग्ला' को सक् और सिच् (सकार) को इट् आगम होकर 'अ ग्ला स् इ स् ई त्' रूप बनता है । यहां सिच्-लोप और सवर्णदीर्घ करने पर 'अग्लासीत्' रूप सिद्ध होता है ।*

४९६. ऋतश्च संयोगादेर्गुणः । ७ । ४ । १०

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार । जह्वरतुः । जह्वरुः । जह्वर्थ । जह्वरथुः । जह्वर । जह्वार, जह्वर । जह्वरिव । जह्वरिम । ह्वर्ता ।

४९६. ऋतश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (संयोगादेः ऋतः) संयोगादि ऋकारान्त के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश होता है । यहां सूत्रस्थ 'च' सूचित करता है कि यह सूत्र पूर्ण नहीं है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'दयतेर्दिगि लिटि' ७.४.९ से 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार है और वह 'ऋतः' का विशेष्य बनता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग के स्थान में गुण होता है । '२१–अलोऽन्त्यस्य'

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अग्लासीत्' की रूप-सिद्धि देखिये ।

परिभाषा से यह गुणादेश अन्त्य अच्--ऋकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लिट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'हृ' धातु से तिप् आदि होकर 'जहृ अ' रूप बनता है। इस स्थिति में णित् णल् (अकार) परे होने से '१८२-अचो ञ्णिति' से ऋकार को वृद्धि प्राप्त होती है। किन्तु यहां अङ्ग 'जहृ अ' ऋकारान्त तथा संयोगादि है। अतः प्रकृत सूत्र से वृद्धि का बाध होकर ऋकार के स्थान पर गुण 'अर्' करने पर 'जहर् अ' रूप बनता है। यहां उपधा-अकार को दीर्घ करने से 'जहार' रूप सिद्ध होगा।

४९७. ऋद्धनोः[६] स्ये[७]* । ७ । २ । ७०

ऋतो हन्तेश्च स्यस्येट् । हरिष्यति । हरतु । अहरत् । हरेत् ।

४९७. ऋद्धनोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ऋद्धनोः†) ऋकारान्त और 'हन्' धातु के पश्चात् (स्ये) 'स्य' का अवयव…। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इडत्यर्ति-०' ७.२.६६ से 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ऋकारान्त और 'हन्' धातु के पश्चात् 'स्य' का अवयव 'इट्' होता है। टित् होने से '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा द्वारा इट् 'स्य' का आदि अवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'हृ' धातु ऋकारान्त है, अतः लृट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'हृ स्यति' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'स्य' को इट् आगम हो जाता है—'हृ इ स्यति'। यहां गुण और षत्व करने पर 'हर् इ ष् य ति' = 'हरिष्यति' रूप सिद्ध होगा।

४९८. गुणोऽर्तिसंयोगाद्योः[६] । ७ । ४ । २९

अर्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्याद् यकि यादावार्धधातुके लिङि च । ह्रियात् । अहार्षीत् । अहरिष्यत् । श्रु श्रवणे । १९ ।

४९८. गुण इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अर्तिसंयोगाद्योः) ऋ और संयोगादि के स्थान में (गुणः) गुण होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके लिए 'रीङ् ऋतः' ७.४.२७ से 'ऋतः', 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ७.४.२५ से 'असार्वधातुके', 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' ७.४.२८ से 'यकि' और 'लिङि' तथा 'अयङ् यि क्ङिति' ७.४.२२ से 'यि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यि' 'असार्वधातुके' का विशेषण है अतः तदादि-विधि हो जाती है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार है और वह 'ऋतः' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यक् और सार्वधातुक-भिन्न यकारादि (जिसके आदि में यकार हो) लिङ् प्रत्यय परे होने पर ऋ (जाना)

---

* यहां षष्ठी पञ्चम्यर्थ में और सप्तमी षष्ठ्यर्थ में है।

† इसका विग्रह इस प्रकार है—'ऋच्च हंश्चेति ऋद्धनौ तयोः ऋद्धनोः'।

और संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग के स्थान में गुण होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह गुणादेश अन्त्य वर्ण ऋकार के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए आशीर्लिङ् आर्धधातुक (सार्वधातुक-भिन्न) लिङ् है, क्योंकि उसके स्थान पर हुए तिङ्आदेशों की '४३१–लिङाशिषि' से आर्धधातुक संज्ञा है। आदेश के द्वारा लिङ् भी आर्धधातुक हो जाता है। इसलिए आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'हृ' का 'हृयात्' रूप बनने पर यकारादि 'यात्' प्रत्यय परे होने पर ऋकारान्त अङ्ग 'हृ' के ऋकार के स्थान पर गुण 'अर्' होकर 'हर्यात्' रूप सिद्ध होता है।

४९९. श्रुवः श्रृ चँ। ३। १। ७४

श्रुवः श्रृ इत्यादेशः स्यात्, 'श्नु'प्रत्ययश्च। श्रृणोति।

४९९. श्रुव इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(श्रुवः) 'श्रु' के स्थान पर (श्रृ) 'श्रृ' हो (च) और। यहां सूत्रस्थ 'च' से ज्ञात हो जाता है कि सूत्र पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके', 'कर्तरि शप्' ३.१.६८ तथा 'स्वादिभ्यः श्नुः' ३.१.७३ से 'श्नुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्तरि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, और 'शप्' षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे होने पर 'श्रु' धातु के स्थान पर 'श्रृ' और 'शप्' के स्थान पर 'श्नु' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा ये आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। '१३६–लशक्वतद्धिते' से 'श्नु' प्रत्यय के शकार की इत्संज्ञा हो जाती है, अतः केवल 'नु' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए लट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'श्रु' धातु से 'तिप्' प्रत्यय होकर 'श्रु ति' रूप बनता है। इस स्थिति में कर्त्रर्थ सार्वधातुक प्रत्यय 'तिप्' ('ति') परे होने के कारण 'श्रु' के स्थान पर 'श्रृ' और 'कर्तरि शप्' ३.१.६८ से प्राप्त शप् आगम के स्थान पर 'श्नु' होकर 'श्रृ नु ति' रूप बनेगा। यहां गुण और णत्व करने से 'श्रृणोति' रूप सिद्ध होता है।

५००. सार्वधातुकमपित्। १। २। ४

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत्। श्रृणुतः।

५००. सार्वधातुकमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अपित्) अपित् (सार्वधातुकम्) सार्वधातुक। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' १.२.१ से 'ङित्' की अनुवृत्ति करनी होगी। तिप्, सिप् और मिप्—इन तीन तिङों को छोड़कर शेष सभी आदेश अपित् होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तिप्, सिप् और मिप् को छोड़कर शेष सार्वधातुक प्रत्यय ङित् होते हैं। तात्पर्य यह कि ङित् को निमित्त मानकर जो गुण-

वृद्धि निषेध आदि कार्य होते हैं, वे इनको भी होते हैं। उदाहरण के लिए लिट् के प्रथमपुरुष द्विवचन में 'श्रु' धातु से 'तस्'-प्रत्यय आदि होकर 'श्रृणुतस्' रूप बनता है। यहां णकारोत्तरवर्ती उकार को सार्वधातुक 'तस्' परे होने से गुण प्राप्त था, किन्तु 'तस्' के अपित् होने से प्रकृत सूत्र से ङिद्वद्भाव हो जाता है। तब '४३३-क्ङिति च' से गुण-निषेध होकर रुत्व-विसर्ग करने पर 'श्रृणुतः' रूप सिद्ध होता है।

५०१. हुश्नुवोः[६] सार्वधातुके[७] । ६ । ४ । ८७

हुश्नुवोरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके । शृण्वन्ति । शृणोषि । शृणुथः । शृणुथ । शृणोमि ।

५०१. हुश्नुवोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है-(सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (हुश्नुवोः) 'हु' धातु और 'श्नु' प्रत्यय के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचि श्नु-०' ६.४.७७ से 'अचि,' 'इणो यण्' ६.४.८१ से 'यण्', 'ओः सुपि' ६.४.८३ से 'ओः' तथा 'एः' को छोड़कर सम्पूर्ण 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' ६.४.८२ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार है। यह 'श्नु' और 'अनेकाचः' का विशेष्य है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'श्नु' से 'श्नु-प्रत्ययान्त' का ग्रहण होता है। 'अचि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है। 'ओः' उकार का षष्ठ्यन्त रूप है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि सार्वधातुक (जिसके आदि में कोई स्वर वर्ण हो) प्रत्यय परे होने पर 'हु' (होम करना, खाना) तथा अनेकाच् श्नु-प्रत्ययान्त अङ्ग के असंयोगपूर्व उवर्ण के स्थान पर यण् आदेश होता है। यण् प्रत्याहार में य व र ल का समावेश होता है, किन्तु '१७-स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से उवर्ण के स्थान पर यण्—वकार ही आदेश होगा। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'श्रु' का 'श्रृ णु अन्ति' रूप बनने पर 'अचि श्नु-०' ६.४.७७ से उकार के स्थान पर 'उवङ्' आदेश प्राप्त होता है। किन्तु यहाँ 'श्रृणु' अनेकाच् श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग है और उसका उकार असंयोगपूर्व भी है अतः प्रकृत सूत्र से उसका बाध होकर उकार के स्थान पर यण्—वकार होकर 'श्रृण्वन्ति' रूप सिद्ध होता है। 'हु' के उकार के स्थान् पर यणादेश का उदाहरण 'जुह्वति' (जुहोत्यादिगण) में मिलता है।

५०२. लोपश्चाऽस्यान्यतरस्यां[६] म्वोः[७] । ६ । ४ । १०७

असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारस्य लोपो वा म्वोः परयोः। शृण्वः, शृणुवः। शृण्मः, शृणुमः। शुश्राव। शुश्रुवतुः। शुश्रुवुः। शुश्रोथ। शुश्रुवथुः। शुश्रुव।

शुश्राव, शुश्रव । शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । शृणोतु । शृणुतात् । शृणुताम् । शृण्वन्तु ।

५०२. लोपश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (म्वोः) मकार तथा वकार परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (अस्य) इसका (लोपः) लोप होता है। यहां सूत्रस्थ 'च' से स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। यहां 'अस्य' का संकेत पूर्वसूत्र(६.४.१०६)-स्थित 'असंयोगपूर्वात् प्रत्ययाद् उतः' से है। ये सभी पद षष्ठी में विपरिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—मकार और वकार परे होने पर प्रत्यय के असंयोगपूर्व उकार का विकल्प से लोप होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के उत्तमपुरुष द्विवचन और बहुवचन में 'श्रु' धातु से क्रमशः 'वस्' और 'मस्' आदि प्रत्यय होकर 'शृणुवस्' और 'शृणुमस्' रूप बनते हैं। यहां दोनों में 'श्नु'-प्रत्यय का उकार है और उसके पूर्व संयोग भी नहीं है। अतः क्रमशः 'वस्' और 'मस्' परे होने के कारण उकार का लोप होकर 'शृण्वस्' और 'शृण्मस्' रूप बनते हैं। यहाँ रुत्व-विसर्ग करने से 'शृण्वः' और 'शृण्मः' रूप सिद्ध होंगे। अभावपक्ष में रुत्व-विसर्ग होकर 'शृणुवः' और 'शृणुमः' रूप बनते हैं।

५०३. उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् । ६ । ४ । १०६

असंयोगपूर्वात् प्रत्ययादुतो हेर्लुक् । शृणु, शृणुतात् ।
शृणुतम्, शृणुत ।
गुणावादेशौ—शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम ।
अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन् ।
अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत ।
अशृणवम् । अशृण्व, अशृणुव । अशृण्म, अशृणुम ।
शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः ।
शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात ।
शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम ।
श्रूयात् । अश्रौषीत् । अश्रोष्यत् ।
गम्लृ गतौ । २० ।

५०३. उतश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (असंयोगपूर्वात् उतः प्रत्ययात्) असंयोगपूर्व उकारान्त प्रत्यय के पश्चात्। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'चिणो लुक्' ६.४.१०४ से 'लुक्' और 'अतो हेः' ६.४.१०५ से 'हेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—असंयोगपूर्व उकारान्त प्रत्यय के पश्चात् 'हि' का लुक् (लोप) होता है। उदाहरण के लिए मध्यमपुरुष एकवचन में 'श्रु' से सिप् आदि होकर '४१५-सेर्ह्यपिच्च' से

सकार के स्थान पर 'हि' करने पर 'शृणुहि' रूप बनता है। इस स्थिति में असंयोग-पूर्व उकारान्त 'श्नु' (णु) प्रत्यय होने के कारण उसके परे 'हि' का लोप होकर 'शृणु' रूप सिद्ध होता है।

५०४. इषु-गमि-यमां[6] छः । ७ । ३ । ७७

एषां छः स्यात् शिति । गच्छति । जगाम ।

५०४. इषुगमीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इषु-गमि-यमाम्) इष्, गम् और यम् के स्थान में (छः) छकार होता है। किन्तु यह छकारादेश किस अवस्था में होता है, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' ७.३.७५ से 'शिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शित् प्रत्यय (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) परे होने पर इष् (इच्छा करना), गम् (जाना) और यम् (निवृत्त होना) के स्थान में छकार होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह छकारादेश इनके अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होता है। सार्वधातुक लकारों में ही शित् प्रत्यय 'शप्' परे मिलता है, अतः उन्हीं में छकारादेश मिलता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'गम्' धातु से तिप् और शप् होकर 'गम् अ ति' रूप बनता है। यहां शित् प्रत्यय शप् (अ) परे होने से 'गम्' के मकार को छकार होकर 'ग छ् अ ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'तुक्' और श्चुत्व करने पर 'गच्छति' रूप सिद्ध होता है।

५०५. गम-हन-जन-खन-घसां[6] लोपः [1] [7]क्ङित्यनङि[7] । ६ । ४ । ९८

एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति न त्वङि । जग्मतुः । जग्मुः । जगमिथ, जगन्थ । जग्मथुः । जग्म । जगाम, जगम । जग्मिव । जग्मिम । गन्ता ।

५०५. गमहनेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनङि क्ङिति) अङ्भिन्न कित् और ङित् परे होने पर (गम—घसाम्) गम्, हन्, जन्, खन् तथा घस् के स्थान में (लोपः) लोप होता है। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचि श्नु—०' ६.४.७७ से 'अचि' तथा 'ऊदुपधाया गोहः' ६.४.८९ से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अचि' 'क्ङिति' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अङ्भिन्न अजादि (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर गम् (जाना), हन् (हिंसा करना), जन् (पैदा करना), खन् (खनना) और घस् (खाना) धातुओं की उपधा* का लोप होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १७६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

एकवचन में 'गम्' धातु से 'तस्' और उसके स्थान पर 'अतुस्' आदि होकर 'जगम् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५२–असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' की कित् संज्ञा होती है। अतः 'अङ्'भिन्न अजादि 'अतुस्' कित् परे होने से 'गम्' की उपधा–गकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'जग् म् अतुस्' रूप बनेगा। तब रुत्व-विसर्ग करने से 'जग्मतुः' रूप सिद्ध होता है।*

५०६. गमेरिट्[1] परस्मैपदेषु[7] । ७ । २ । ५८

गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्।

५०६. गमेरिडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे होने पर (गमेः) गम् के पश्चात् (इट्) इट् आगम होता है। किन्तु यह इडागम किसको होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्य–०' ७.२.३५ से 'आर्धधातुकस्य' तथा 'सेऽसिचि–०' ७.२.५७ से 'से' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'से' 'आर्धधातुकस्य' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद परे होने पर 'गम्' धातु के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक (जिसके आदि में सकार हो) का अवयव 'इट्' होता है। 'इट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८४–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह सकारादि आर्धधातुक का आद्यवयव होता है। उदाहरण के लिए लृट् लकार के प्रथम-पुरुष एकवचन में 'गम्' से तिप् आदि होकर 'गम् स्य ति' रूप बनता है। यहां परस्मैपद 'तिप्' (ति) परे है, अतः 'गम्' के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक 'स्य' को इट् होकर 'गम् इ स्य ति' रूप बनेगा। तब षत्व करने पर 'गमिष्यति' रूप सिद्ध होता है।

५०७. पुषादि-द्युतादि-लृदितः[1] परस्मैपदेषु[7] । ३ । १ । ५५

श्यन्विकरणपुषादेर्द्युतादेर्लृदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत्। अगमिष्यत्। इति परस्मैपदिनः।

५०७. पुषादीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे होने पर (पुषादि-द्युतादि-लृदितः) पुष् आदि, द्युत आदि और लृदित् धातुओं के पश्चात्। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'च्लि लुङि' ३.१.४३ से 'लुङि', 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः', 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' ३.१.४८ से 'कर्तरि' तथा 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' ३.१.५२ से 'अङ्' की अनुवृत्ति

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जग्मतुः' की रूप-सिद्धि देखिये।

करनी होगी। 'कर्तरि' 'लुङि' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्त्रर्थ परस्मैपद लुङ् परे होने पर पुष् आदि (दिवादिगण), द्युत् आदि (दिवादि०) तथा ऌदित् (जिसका ऌकार इत्संज्ञक हो) धातुओं के पश्चात् 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'गम्' धातु ऌदित् है, क्योंकि मूल 'गमॢ' के ऌकार का इत् होने से लोप हो गया है। अतः लुङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में तिप् आदि होकर 'अ ग म् च्लि ति' रूप बनने पर 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' होकर 'अ गम् अङ् ति' रूप होगा। तब ङकार और इकार का लोप करने पर 'अगमत्' रूप सिद्ध होता है।

यहाँ परस्मैपद धातु समाप्त होते हैं।

(अथात्मनेपदिनः)

एध वृद्धौ । १ ।

५०८. [६]टित आत्मनेपदानां[६] [६]टेरे[१] । ३ । ४ । ७९

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम् । एधते ।

५०८. टित इति—सूत्र का शब्दार्थ है–(टितः आत्मनेपदानां टेः) टित् आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' के स्थान पर (ए) एकार हो। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लस्य' ३.४.७७ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'टितः' 'लस्य' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—टित् लकार (लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् और लोट्) सम्बन्धी आत्मनेपद की 'टि'* के स्थान पर एकार होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' प्रत्यय आदि होकर 'एध् अ त्' रूप बनता है। यहाँ आत्मनेपद 'त' की टि–अकार के स्थान पर एकार होकर 'एध् अ त् ए' = 'एधते' रूप सिद्ध होता है।

५०९. [६]आतो ङितः[६] । ७ । २ । ८१

अतः परस्य ङितामाकारस्य 'इय्' स्यात् । एधेते । एधन्ते ।

५०९. आत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ङितः) ङित् के (आतः) आकार के स्थान पर। किन्तु होना क्या चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' ७.२.७६ से 'सार्वधातुके' तथा 'अतो येयः' ७.२.८० से 'अतः' और 'इयः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सार्वधातुके' षष्ठी में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अकार से परे ङित् सार्वधातुक के अवयव आकार के स्थान पर 'इय्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए

* इसके स्पष्टीकरण के लिए '३९–अचोऽन्त्यादि टि' की व्याख्या देखिये।

लट् लकार के प्रथमपुरुष द्विवचन में 'एध्' धातु से 'आताम्' आदि होकर 'एध् अ आताम्' रूप बनता है। यहाँ 'आताम्' '५००—सार्वधातुकमपित्' से ङित् है, अतः अकार से पर होने के कारण उसके आकार के स्थान पर इय् (इकार) होकर 'एध् अ इ ताम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में गुण, आत्मनेपद की 'टि' के स्थान में एकार और मकार का लोप करने पर 'एधेते' रूप सिद्ध होता है।

५१०. [६]थासः से[१] । ३ । ४ । ८०

टितो लस्य थासः से स्यात्। एधसे। एधेथे। एधध्वे। 'अतो गुणे'—एधे, एधावहे, एधामहे।

५१०. थास इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(थासः) 'थास्' के स्थान पर (से) 'से' हो किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लस्य' ३.४.७७ तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' ३.४.७९ से 'टितः' की अनुवृत्ति होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—टित् लकार* के 'थास्' के स्थान पर 'से' आदेश होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के मध्यमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'थास्' प्रत्यय और शप् होकर 'एध् अ थास्' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से 'थास्' के स्थान पर 'से' होकर 'एधसे' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि अनेकाल् होने के कारण 'से' '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण 'थास्' के स्थान पर होता है।

५११. इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । ३ । १ । ३६

इजादिर्यो धातुर्गुरुमानृच्छत्यन्यस्तत आम् स्याल्लिटि।

५११. इजादेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अनृच्छः गुरुमतः इजादेः) 'ऋच्छ्' को छोड़कर गुरुवर्णवाले इजादि से पर। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचः–०' ३.१.२२ से 'धातोः' तथा 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' ३.१.३५ से 'आम्' और 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' सूत्र में दिये हुए तीनों पदों का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर 'ऋच्छ्' धातु (जाना, इन्द्रियबल घटना) को छोड़कर अन्य †गुरुवर्णवाले इजादि (जिसके आदि में इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ या औ हो) धातु से 'आम्' होता है। उदाहरण के लिए 'एध्' धातु में इच्–एकार आदि में है तथा गुरुमान् भी है, अतः लिट् परे होने पर इससे 'आम्' होकर 'एध् आम् लिट्' रूप बनता है। इस स्थिति में लिट्-लोप और 'कृ' के अनुप्रयोग करने पर

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ५०८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए ४४९ वें तथा ४५० वें सूत्रों की व्याख्या देखिये।

'एधाम् कृ लिट्' रूप बनेगा ।* यहां लिट् के स्थान पर परस्मैपद प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

५१२. आम्प्रत्ययवत्[3] कृञोऽनुप्रयोगस्य[5]† १ । ३ । ६३

आम्प्रत्ययो यस्माद् इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोऽप्यात्मनेपदम् ।

५१२. आम्प्रत्ययवदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आम्प्रत्ययवत्‡) जिससे आम् प्रत्यय हुआ है उसके समान (अनुप्रयोगस्य कृञः) अनुप्रयुज्यमान कृञ् से । किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से आत्मनेपदम् की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिससे आम्प्रत्यय हुआ है, उसके समान अनुप्रयुज्यमान (बाद में प्रयुक्त) कृञ्धातु से आत्मनेपद होता है । तात्पर्य यह है कि जिस धातु से 'आम्' प्रत्यय हुआ हो वह धातु यदि आत्मनेपद है तो अनुप्रयुक्त कृञ् से भी आत्मनेपद होता है और यदि वह परस्मैपद है तो अनुप्रयुज्यमान कृञ् से भी परस्मैपद होता है । 'कृञ्' धातु वास्तव में ञित् होने से उभयपद है, अतः इससे दोनों प्रकार के आदेश चरितार्थ हो जाते हैं । उदाहरण के लिए 'एधाम् कृ लिट्' में 'आम्' प्रत्यय 'एध्' धातु से हुआ है । वह आत्मनेपद है, अतः उसके समान अनुप्रयुक्त कृञ् से भी लिट् के स्थान में 'आत्मनेपद' होगा । प्रथमपुरुष एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद—'त' होकर 'एधाम् कृ त' रूप बनता है । परस्मैपद धातु का उदाहरण 'गोपायाञ्चकार' में मिलता है । यहां आत्मनेपद नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ 'आम्' प्रत्यय परस्मैपद धातु 'गुप्' से हुआ है ।

५१३. [6]लिटस्तझयोरेशिरेच्[1] । ३ । ४ । ८१

लिडादेशयोस्तझयोः 'एश्' 'इरेच्' एतौ स्तः । एधाञ्चक्रे । एधाञ्चक्राते । एधाञ्चक्रिरे । एधाञ्चकृषे । एधाञ्चक्राथे ।

५१३. लिट इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है । शब्दार्थ है—(लिटः) लिट् के (तझयोः) 'त' और 'झ' के स्थान पर (एशिरेच्) 'एश्' तथा 'इरेच्' आदेश होते हैं । यहां स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३-यथासंख्यमनुदेशः

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'एधाञ्चक्रे' की रूप-सिद्धि देखिये ।

† यहाँ षष्ठी विभक्ति पञ्चम्यर्थ में है ।

‡ इसमें 'वत्' 'इव' के अर्थ में है और 'आम्प्रत्यय' अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है । इसका विग्रह इस प्रकार है—'आम्प्रत्ययो यस्मात् सोऽयमाम्प्रत्ययः ।'

समानाम्' परिभाषा से क्रमानुसार विहित होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् के 'त' के स्थान पर 'एश्' और 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' आदेश होते हैं। 'एश्' में '१३६–लशक्वतद्धिते' से शकार इत्संज्ञक है, अतः शित् होने से सम्पूर्ण 'त' के स्थान पर होता है। 'इरेच्' का चकार इत्संज्ञक है। अनेकाल् होने के कारण यह भी 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' १.१.५५ परिभाषा से सम्पूर्ण 'झ' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'एधाम् कृ त' में लिट् के 'त' के स्थान पर 'एश्' (ए) होकर 'एधाम् कृ ए' रूप बनता है। इस स्थिति में द्वित्व आदि करने से 'एधाञ्चक्रे' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार लिट् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'एधाम् कृ झ' रूप बनने पर 'झ' के स्थान पर 'इरेच्' (इरे) होकर 'एधाम् कृ इरे' रूप बनता है। इस अवस्था में पुनः द्वित्व आदि करने से 'एधाञ्चक्रिरे' रूप सिद्ध होता है।

५१४. इणः पीध्वंलुङ्-लिटां धोऽङ्गात् । ८ । ३ । ७८

इण्णन्तादङ्गात् परेषां पीध्वंलुङ्लिटां धस्य ढः स्यात्। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चकृवहे। एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव। एधामास। एधिता। एधितारौ। एधितारः। एधितासे। एधितासाथे।

५१४. इण इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इणः अङ्गात्) इणन्त अङ्ग से परे (पीध्वं-लुङ्-लिटां) पीध्वं, लुङ् और लिट् के (धः) धकार के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५ से 'मूर्धन्यः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इणन्त अङ्ग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र या ल हो)* से परे पीध्वं, लुङ् और लिट् के धकार के स्थान पर मूर्धन्य होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से धकार के स्थान पर ढकार ही होगा। उदाहरण के लिए लिट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'ध्वम्' आदि होकर 'एधाञ्चकृध्वे' रूप बनता है। यहां 'एधाञ्चकृ' अङ्ग के अन्त में इण्–ऋकार है, और उससे परे लिट् 'ध्वम्' का धकार है। अतः प्रकृत सूत्र से धकार के स्थान पर ढकार होकर 'एधाञ्चकृढ्वे' रूप सिद्ध होता है।

५१५. धि च । ८ । २ । २५

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः। एधिताध्वे।

५१५. धि चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (धि) धकार परे होने पर। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से 'लोपः' और 'रात्सस्य' ८.२.२४

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ११ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

से 'सस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धि' अङ्गाक्षिप्त प्रत्यय का विशेषण है, अतः तदादिविधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धकारादि (जिसके आदि में धकार हो) प्रत्यय परे होने पर सकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'ध्वम्' आदि होकर 'एधितास् ध्वम्' रूप बनने पर धकारादि 'ध्वम्' प्रत्यय परे होने से 'एधितास्' के सकार का लोप होकर 'एधिताध्वम्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'टि'–'अम्' के स्थान पर 'ए' होकर 'एधिताध्वे' रूप सिद्ध होता है।

५१६. ह[१] एति[७] । ७ । ४ । ५२

तासस्त्योः सस्य हः स्यादेति परे। एधिताहे। एधितास्वहे। एधितास्महे। एधिष्यते। एधिष्येते। एधिष्यन्ते। एधिष्यसे। एधिष्येथे। एधिष्यध्वे। एधिष्ये। एधिष्यावहे। एधिष्यामहे।

५१६. ह इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एति) एकार परे होने पर (हः) हकार होता है। किन्तु यह हकार किसके स्थान पर होता है, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता। इसके लिए 'सः स्यार्धधातुके' ७.४.४९ से 'सः' तथा 'तासस्त्योर्लोपः' ७.४.५० से 'तासस्त्योः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—एकार परे होने पर 'तास्' और 'अस्' के सकार के स्थान पर हकार होता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से इट् प्रत्यय आदि होकर 'एधितास् ए' रूप बनता है। यहां एकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'तास्' के सकार के स्थान पर हकार होकर 'एधिताह् ए' = 'एधिताहे' रूप सिद्ध होगा।

५१७. [१]आमेतः[६] । ३ । ४ । ९०

लोट एकारस्याम् स्यात्। एधताम्। एधेताम्। एधन्ताम्।

५१७. आमेत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एतः) एकार के स्थान पर (आम्) 'आम्' होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होगा, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लोट् के एकार के स्थान पर 'आम्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए लोट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' प्रत्यय आदि होकर 'एधते' रूप बनने पर एकार के स्थान पर 'आम्' होकर 'एधत् आम्' = 'एधताम्' रूप सिद्ध होता है।

५१८. सवाभ्यां[५] वाऽमौ[१] । ३ । ४ । ९१

सवाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद् वाऽमौ स्तः। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्।

५१८. सवाभ्यामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सवाभ्यां) सकार और वकार

से परे (वामौ) 'व' और 'अम्' आदेश होते हैं। किन्तु ये आदेश किसके स्थान पर होंगे, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' तथा 'आमेतः' ३.४.९० से 'एतः' की अनुवृत्ति करनी होगी। '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से ये आदेश क्रमशः होंगे। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सकार और वकार से परे लोट् के एकार के स्थान पर क्रमशः 'व' और 'अम्' होते हैं। उदाहरण के लिए लोट् लकार के मध्यमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'थास्' आदि होकर 'एधसे' रूप बनता है। यहां सकार से परे लोट् का एकार है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके स्थान पर 'व' होकर 'एधस् व' = 'एधस्व' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यह सूत्र '५१७–आमेतः' का अपवाद है।

५१९. एत[6] ऐ[1] । ३ । ४ । ९३

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। एधै, एधावहै, एधामहै। 'आटश्च'—ऐधत, ऐधेताम, ऐधन्त। ऐधथाः, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

५१९. एत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एतः) एकार के स्थान पर (ऐ) ऐकार होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'लोटो लङ्वत्' ३.४.८५ से 'लोटः' तथा 'आडुत्तमस्य पिच्च' ३.४.९२ से 'उत्तमस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लोट् के उत्तम के एकार के स्थान पर 'ऐ' होता है। उदाहरण के लिए लोट् के उत्तमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से इट् आदि होकर 'एध् अ ए' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से एकार के स्थान पर ऐकार होकर 'एध् अ ऐ' रूप बनेगा। इस स्थिति में वृद्धि आदि होकर 'एधै' रूप सिद्ध होता है।

५२०. लिङः[6] सीयुट्[1] । ३ । ४ । १०२

लिङादेशानां सीयुडागमः स्यादात्मनेपदे। सलोपः—एधेत, एधेयाताम्।

५२०. लिङ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिङः) लिङ् का अवयव (सीयुट्) सीयुट् होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'टित आत्मनेपदानां टेरे' ३.४.७९ से 'आत्मनेपदानां' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ है—लिङ् के आत्मनेपद प्रत्ययों का अवयव 'सीयुट्' होता है। 'सीयुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह आत्मनेपद प्रत्ययों का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' आदि होकर 'एध् अ त' रूप बनने पर आत्मनेपद 'त' को 'सीयुट्' आगम होकर 'एध् अ सीय् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में सकार-यकार-लोप तथा गुण करने पर 'एधेत' रूप सिद्ध होता है।

५२१. झस्य[6] रन्[1] । ३ । ४ । १०५

लिङो झस्य रन् स्यात् । एधेरन् । एधेथाः, एधेयाथाम् , एधेध्वम् ।

५२१. झस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झस्य) 'झ' के स्थान पर (रन्) 'रन्' आदेश होता है । किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है, इसका पता सूत्र से नहीं लगता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिङ् के 'झ' के स्थान पर 'रन्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण 'झ' के स्थान पर होगा । उदाहरण के लिए लिङ् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'झ', 'सीयुट्' आदि होकर 'एधेय् झ' रूप बनने पर 'झ' के स्थान पर 'रन्' होकर 'एधेय् रन्' रूप बनेगा । इस स्थिति में यकार-लोप करने पर 'एधेरन्' रूप सिद्ध होता है ।

५२२. [6]इटोऽत्[1] । ३ । ४ । १०६

लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात् । एधेय, एधेवहि, एधेमहि ।

५२२. इट इति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण नहीं है । शब्दार्थ है—(इटः) 'इट्' के स्थान पर (अत्) 'अत्' होता है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिङ् के 'इट्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है । 'अत्' में तकार इत्संज्ञक है, अतः केवल अकार ही शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए लिङ् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से इट् आदि होकर 'एधेय् इ' रूप बनने पर इट् (इ) के स्थान पर 'अत्' (अकार) होकर 'एधेय् अ' = 'एधेय' रूप सिद्ध होता है ।

५२३. सुट्[1] तिथोः[6] । ३ । ४ । १०७

लिङस्तथोः सुट् । यलोपः । आर्धधातुकत्वात् सलोपो न । एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम् , एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम् , एधिषीध्वम् । एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि । ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्—

५२३. सुडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तिथोः) तकार और थकार का अवयव (सुट्) 'सुट्' होता है । किन्तु यह किस अवस्था में होता है, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता । इसके लिए 'लिङः सीयुट्' ३.४.१०२ से 'लिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिङ् के तकार और थकार का अवयव 'सुट्' होता है । 'सुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह तकार और थकार का आद्यवयव बनेगा । उदाहरण के लिए

आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध्' धातु से 'त' आदि होकर 'एध् इ सीय् त' रूप बनने पर 'त' को 'सुट्' (सकार) आगम होकर 'एध् इ सीय् स् त' रूप बनेगा। यहां यकार-लोप और मूर्धन्य षकारादि करने पर 'एधिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

५२४. *आत्मनेपदेष्वनतः। ७। १। ५

अनकारात् परस्यात्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि। कमु कान्तौ। २।

५२४. आत्मनेपदेष्विति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनतः) अकारभिन्न वर्ण से पर (आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद के। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झोऽन्तः' ७.१.३ से 'झः' और 'अदभ्यस्तात्' ७.१.४ से 'अत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अकार-भिन्न वर्ण से परे आत्मनेपद के 'झ्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष बहुवचन में 'एध्' धातु से 'झ' आदि होकर 'ऐध् इ स् झ' रूप बनने पर अकार-भिन्न सकार से परे झकार को 'अत्' आदेश होकर 'ऐध् इ स् अत् अ' बनता है। इस स्थिति में षत्व करने पर 'ऐधिषत' रूप सिद्ध होगा।

५२५. कमेर्णिङ्। ३। १। ३०

स्वार्थे। ङित्त्वात् तङ्—कामयते।

५२५. कमेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कमेः) 'कम्' धातु से (णिङ्) 'णिङ्' होता है। 'णिङ्' में '१२९–चुटू' से णकार और '१–हलन्त्यम्' सूत्र द्वारा ङकार इत्संज्ञक है, अतः केवल इकार ही शेष रह जाता है। णित् होने का फल वृद्धि आदि है और ङित् होने का फल आत्मनेपद होता है। उदाहरण के लिए 'कम्' से णिङ् होकर 'कम् इ' रूप बनने पर णित् 'णिङ्' (इकार) परे होने के कारण 'अत उपधायाः' ७.२.११६ से उपधा-वृद्धि करने पर 'काम् इ'='कामि' रूप बनेगा। '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से इसकी धातु संज्ञा होने पर लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन की विवक्षा में 'त' शपादि होकर 'कामयते' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे यहाँ 'णिङ्' के ङित् होने के कारण '३७८–अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' परिभाषा से 'कामि' के पश्चात् आत्मनेपद प्रत्यय 'त' का प्रयोग हुआ है।

---

* यहाँ सप्तमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में है।

५२६. [१]अयामन्ताऽऽल्वाऽऽय्येत्न्विष्णुषु[७] । ६ । ४ । ५५

आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इष्णु एषु णेरयादेशः स्यात् । कामयाञ्चक्रे । (४६९) 'आयादय' इति णिङ् वा । चकमे, चकमाते, चकमिरे । चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे । चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे । कामयिता, कमिता । कामयितासे । कामयिष्यते, कमिष्यते । कामयताम् । अकामयत । कामयेत् । कामयिषीष्ट ।

५२६. अयिति—सूत्र का शब्दार्थ है— (आम् + अन्त + आलु + आय्य + इत्नु + इष्णुषु) आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु प्रत्ययों के परे होने पर (अय्) 'अय्' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'णेरनिटि' ६.४.५१ से 'णेः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु और इष्णु प्रत्ययों के परे होने पर 'णि' के स्थान पर 'अय्' आदेश होता है । यह सूत्र 'णेरनिटि' ६.४.५१ से प्राप्त 'णि'-लोप का बाधक है । उदाहरण के लिए 'कामि' धातु से लिट् तथा 'आम्' होकर 'कामि आम् लिट्' रूप होने पर प्रकृत सूत्र से णिङ् इकार के स्थान पर 'अय्' होकर 'काम् अय् आम् लिट्'='कामयाम् लिट्' रूप बनेगा । इस स्थिति में प्रथमपुरुष एकवचन की विवक्षा में 'त' प्रत्यय आदि होकर 'कामयाञ्चक्रे' रूप बनता है । इसके अतिरिक्त 'अन्त' प्रत्यय परे होने का उदाहरण 'गण्डयन्तः' में, 'आलु' परे होने का 'स्पृहयालुः' में, 'आय्य' परे होने का 'स्पृहयाय्यः' में, 'इत्नु' परे होने का 'स्तनयित्नुः' में तथा 'इष्णु' परे होने का उदाहरण 'पारयिष्णवः' में मिलता है ।

५२७. [१]विभाषेटः[४] । ८ । ३ । ७९

इणः परो य इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धस्य वा ढः स्यात् । कामयिषीढ्वम्, कामयिषीध्वम् । कमिषीष्ट, कमिषीध्वम् ।

५२७. विभाषेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इटः) इट् से परे (विभाषा) विकल्प से होता है । किन्तु क्या होता है, इसका स्पष्टीकरण सूत्र से नहीं होता । इसके लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५ से 'मूर्धन्यः' तथा 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्' ८.३.७८ से 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इण् के पश्चात् इट् से परे होने पर षीध्वं, लुङ् और लिट् के धकार के स्थान पर विकल्प से मूर्धन्य (ढकार) आदेश होता है ।* उदाहरण के लिए लिट्

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ५१४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन में 'कमि' धातु से 'ध्वम्' आदि होकर 'कामयिषीध्वम्' रूप बनता है। इस स्थिति में इण्-यकार से परे इट् (इकार) है, अतः उससे परे 'षीध्वम्' के धकार को मूर्धन्य-ढकार होकर 'कामयिषीढ्वम्' रूप सिद्ध होगा। अभावपक्ष में 'कामयिषीध्वम्' ही रहेगा।

५२८. णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ्। ३ । १ । ४८

ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे 'काम अ त' इति स्थिते—

५२८. णीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्तरि) कर्ता में (णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः) णि, श्रि, द्रु तथा स्रु से परे (चङ्) 'चङ्' होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'च्लि लुङि' ३.१.४३ से 'लुङि' तथा 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्तरि' 'लुङि' का विशेषण है। सूत्रस्थ 'णि' प्रत्यय है, अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्त्रर्थ लुङ् परे होने पर ण्यन्त (जिसके अन्त में 'णिङ्' प्रत्यय हो), श्रि (आश्रय करना), द्रु (बहना आदि) और स्रु (बहना, बहाना आदि) धातुओं से परे 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर होगा। 'चङ्' में चकार (१२९-चुटू) और ङकार (१-हलन्त्यम्) इत्संज्ञक हैं, अतः केवल अकार ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कम्' धातु से णिङ् और उपधा-दीर्घ होकर 'काम् इ' रूप बनने पर धातु संज्ञा होने के कारण लुङ् लकार के प्रथमपुरुष एक-वचन की विवक्षा में 'त' आदि होकर 'अ काम् इ च्लि त' रूप बनता है। इस स्थिति में णिङ्प्रत्ययान्त धातु 'कामि' से परे होने के कारण 'च्लि' के स्थान पर 'चङ्' (अकार) होकर 'अ काम् इ अ त' बनेगा। 'श्रि' 'द्रु' और 'स्रु' के उदाहरण क्रमशः 'अशिश्रियत्', 'अदुद्रुवत्' और 'असुस्रुवत्' में मिलते हैं।

५२९. णेरनिटि। ६ । ४ । ५१

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात्।

५२९. णेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनिटि) अनिट् परे होने पर (णेः) 'णि' के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुके' ६.४.४६ तथा 'अतो लोपः' ६.४.४८ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अनिटि' 'आर्धधातुके' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनिडादि (जिसके आदि में इट् न

हो) आर्धधातुक परे होने पर 'णि' (णिङ्) का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अकाम् इ अ त' में ङित् होने के कारण 'चङ्' (अ) आर्धधातुक है और उसके पहिले इट् का आगम भी नहीं हुआ है, अतः उसके परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'णि' के इकार का लोप होकर 'अ काम् अ त' रूप बनता है।

५३०. णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः । ७ । ४ । १

चङ्परे णौ यदङ्गम्, तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात्।

५३०. णाविति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चङि णौ) चङ्परक णि परे होने पर (उपधायाः) उपधा* के स्थान में (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है। उदाहरण के लिए 'अ काम् अ त' में णि से परे चङ् (अकार) है, अतः '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'णि' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'काम्' की उपधा–आकार के स्थान पर ह्रस्व अकार होकर 'अ कम् अ त' रूप बनता है।

५३१. चङि । ६ । १ । ११

चङि परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, अजादेर्द्वितीयस्य।

५३१. चङीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चङि) चङ् परे होने पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ तथा 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६.१.२ के अधिकार में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' ६.१.८ से 'धातोरनभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—चङ् परे होने पर अभ्यासभिन्न (जिसको पहले द्वित्व न हुआ हो) धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व होता है और अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है।† उदाहरण के लिए 'अ कम् अ त' में धातु का अवयव प्रथम एकाच् व्यपदेशिवद्भाव से 'कम्' है। यह अभ्यासरहित है और इससे परे 'चङ्' (अ) भी है। अतः प्रकृत सूत्र से द्वित्व होकर 'अ कम् कम् अ त' रूप बनेगा। अभ्यासकार्य करने पर 'अ च कम् अ त' रूप बनता है।

५३२. सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे । ७ । ४ । ९३

चङ्परे णौ यदङ्गम्, तस्य योऽभ्यासो लघुपरः, तस्य सनीव कार्यं स्यात्, णावग्लोपेऽसति।

५३२. सन्वदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनग्लोपे) यदि अक् का लोप न हुआ हो तो (चङ्परे) चङ् परे होने पर (लघुनि) लघु परे रहते (सन्वत्)

* इसके स्पष्टीकरण के लिए '१७६–अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' की व्याख्या देखिये।
† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ३९४ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

'सन्' के समान कार्य होते हैं। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' और अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' में यहाँ अवयव-षष्ठी है, और 'अभ्यासस्य' है उसका अवयव। 'चङ्परे' का अर्थ है—चङ् परे हो जिससे, अर्थात् 'णि'। इसकी आवृत्ति दो बार करनी होगी। एक का संयोग 'लघुनि' से होगा और दूसरे का 'अनग्लोपे' से। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि 'णि' परे रहते 'अक्' (अ, इ, उ, ऋ या ऌ) का लोप न हुआ हो तो चङ्परक (जिसके आगे चङ् हो) 'णि' परे होने पर अङ्ग के अवयव लघुपरक (जिससे परे लघु वर्ण हो) अभ्यास को सन्वद्भाव होता है। तात्पर्य यह है कि 'सन्' प्रत्यय परे रहते जो कार्य होता है, वैसा ही यहां भी होता है। उदाहरण के लिए 'अ च कम् अ त' में स्थानिवद्भाव से चङ्परक 'णि' अकार परे रहते अङ्ग 'अचकम्' है। इसका अवयव अभ्यास 'च' लघुपरक है, क्योंकि इसके आगे 'क' लघुस्वरयुक्त होने के कारण लघु है। यहाँ णि-निमित्तक अक् का लोप भी नहीं हुआ है। अतः यहां वे कार्य होंगे जो 'सन्' परे रहते होते हैं। सन्वद्भाव का फल '५३३—सन्यतः' से अभ्यास के अकार को इकार होना और उसको '५३४—दीर्घो लघोः' से दीर्घ करना है।

यहाँ ध्यान रहे कि णिनिमित्तक अक् का लोप होने पर सन्वद्भाव नहीं होगा। उदाहरणार्थ 'अचकथत्' 'कथ' धातु के लुङ् लकार का रूप है। 'कथ' धातु अदन्त है, अतः 'णि' आने पर '४७०—अतो लोपः' से अकार का लोप हुआ है। इसी से यह णिनिमित्तक अग्लोपी है, और इससे सन्वद्भाव नहीं होता है। 'णिनिमित्तक' कहने से यदि अन्य कारण से अक् का लोप होता है तो वहाँ सन्वद्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए 'डुपचष्' धातु में अकार का लोप होता है, किन्तु यह णिनिमित्तक न होकर 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १.३.२ सूत्र द्वारा होता है। अतः यहाँ सन्वद्भाव का निषेध नहीं होता। सन्वद्भाव होने पर अभ्यास-अकार को इकार और उसको दीर्घ होकर 'अपीपचत्' रूप बनता है। सूत्र में 'अनग्लोपे' कहने का यही अभिप्राय है।

५३३. [७]सन्यतः[६] । ७ । ४ । ७९

अभ्यासस्यात इत् स्यात् सनि ।

५३३. सन्यत इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(सनि) सन् परे होने पर (अतः) अकार के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' तथा 'भृञामित्' ७.४.७६ से 'इत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अभ्यासस्य' 'अतः' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सन् परे होने पर अभ्यास के अकार के स्थान पर इकार होता है। उदाहरण के लिए 'अ च कम् अ त' में पूर्वसूत्र

(५३२) से सन्वत् भाव हुआ है, अतः अभ्यास 'च' के अकार को इकार होकर 'अ चि कम् अ त' रूप बनता है ।

५३४. दीर्घो[१] लघोः[६] । ७ । ४ । ९४

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिङभावपक्षे— (वा०) कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः । अचकमत । अकामयिष्यत, अकमिष्यत । अय गतौ । ३ । अयते ।

५३४. दीर्घ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लघोः) लघु के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ होता है । किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी । यह सूत्र पूर्वसूत्र (५३२) से प्राप्त 'सन्वत्' के प्रसंग में आया है, अतः सन्वद्भाव का अध्याहार हो जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सन्वद्भाव के विषय में अभ्यास के लघु के स्थान पर दीर्घ होता है । तात्पर्य यह है कि जहाँ सन्वद्भाव हुआ हो, वहाँ अभ्यास के लघु को दीर्घ आदेश होगा । उदाहरण के लिए 'अचि कम् अत' में सन्वद्भाव हुआ है, अतः अभ्यास के लघु इकार को दीर्घ ईकार होकर 'अचीकमत' रूप सिद्ध होता है । णिङ् आदेश विकल्प से होता है । उसके अभाव में वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०) कमेरिति—(कमेश्च्लेः) 'कम्' धातु से परे 'च्लि' के स्थान पर (चङ्) चङ् (वाच्यः) कहना चाहिये । अनेकाल् होने के कारण यह आदेश सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर होगा । उदाहरण के लिए 'कम्' धातु से 'च्लि' आने पर उसके स्थान पर 'चङ्' (अकार) होकर 'अ कम् अत' रूप बनता है । इस स्थिति में द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'अचकमत' रूप सिद्ध होता है । यहां 'णि' के न होने से सन्वद्भाव नहीं होता, और इसी से अभ्यास को इकार और इकार को दीर्घ नहीं होता । शेष प्रक्रिया 'अचीकमत' के ही समान है ।

५३५. [६]उपसर्गस्यायतौ[७] । ८ । २ । १९

अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लत्वं स्यात् । प्लायते । पलायते ।

५३५. उपसर्गेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अयतौ) 'अय्' धातु परे होने पर (उपसर्गस्य) उपसर्ग के । किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके लिए 'कृपो रो लः' ८.२.१८ से 'रो' तथा 'लः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'रः' 'उपसर्गस्य' का अवयव है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अय् धातु के परे होने पर उपसर्ग के रकार के स्थान पर लकार आदेश होता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में प्रपूर्वक 'अय्' धातु का 'प्रायते' रूप बनता है । यहां

'प्र' उपसर्ग है और उससे परे 'अय्' धातु है। अतः 'प्र' के रकार को लकार होकर 'प्लायते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'परायते' में भी 'परा' उपसर्ग के रकार को लकार होकर 'पलायते' रूप सिद्ध होगा।

५३६. दयाऽयाऽऽसश्च । ३ । १ । ३७

दय्, अय्, आस् एभ्य आम् स्याद् लिटि। अयाञ्चक्रे। अयिता। अयिष्यते। अयताम्। आयत। अयेत। अयिषीष्ट। विभाषेटः-अयिषीढ्वम्, अयिषीध्वम्। आयिष्ट। आयिढ्वम्, आयिध्वम्। आयिष्यत। द्युत दीप्तौ। ४। द्योतते।

५३६. दयायेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (दय + अय् + आसः) दय्, अय् और आस् धातुओं से। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' ३.१.३५ से 'आम्' और 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर दय् (दान, गति, रक्षण), अय् (गति) और आस् (बैठना, रहना) धातुओं से 'आम्' होता है। उदाहरण के लिए 'अय्' धातु से लिट् परे होने पर धातु से 'आम्' होकर 'अय् आम् लिट्' रूप बनता है। इस स्थिति में लिट् का लोप, कृ का अनुप्रयोग और प्रथमपुरुष एकवचन में 'त' आदि होकर 'अयाञ्चक्रे' रूप सिद्ध होगा।

५३७. द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम् । ७ । ४ । ६७

अभ्यासस्य। दिद्युते।

५३७. द्युतीति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(द्युतिस्वाप्योः) द्युत् और स्वप् का (संप्रसारणम्) संप्रसारण होता है। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। संप्रसारण का अर्थ है*—यण् (य, व, र और ल) के स्थान पर इक् (इ, उ, ऋ और ऌ) होना। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होता है—द्युत् (चमकना) और स्वप् (सोना) के अभ्यास† के य, व्, र् और ल् के स्थान पर क्रमशः इ, उ, ऋ और ऌ आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'द्युत्' धातु से 'त' प्रत्यय आदि होकर 'द्युत् द्युत् ए' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से अभ्यास (पूर्ववर्ती) 'द्युत्' के यकार के स्थान पर इकार

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिये २५६ वें सूत्र की व्याख्या।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए ३९५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

होकर 'द् इ उ त् द्युत् ए' = 'दि उत् द्युत् ए' रूप बनेगा। इस स्थिति में उकार का पूर्वरूप और तकार का लोप करने पर 'दिद्युते' रूप सिद्ध होता है।

५३८. द्युद्भ्यो लुङि । १ । ३ । ९१

द्युतादिभ्यो लुङः परस्मैपदं वा स्यात्। 'पुषादि-०' इत्यङ्—अद्युतत्। अद्योतिष्ट। अद्योतिष्यत। एवं श्विता वर्णे।५। ञिमिदा स्नेहने।६। ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः।७। मोहनयोरित्येके। ञिक्ष्विदा चेत्येके। रुच दीप्तावभिप्रीतौ च।८। घुट परिवर्तने।९। शुभ दीप्तौ।१०। क्षुभ संचलने।११। णभ तुभ हिंसायाम्।१३। स्रंसु भ्रंसु ध्वंसु अवस्रंसने।१६। ध्वंसु गतौ च।१७। स्रम्भु विश्वासे।१८। वृतु वर्तने।१९। वर्तते। ववृते। वर्तिता।

५३८. द्युद्भ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है:—(लुङि) लुङ् परे होने पर (द्युद्भ्यः*) 'द्युत्' आदि से। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' तथा 'वा क्यषः' १.३.९० से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से 'लुङि' षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'द्युत्' आदि धातुओं† से पर लुङ् के स्थान पर (वा) विकल्प से परस्मैपद होता है। उदाहरण के लिए 'द्युत् ल्' (लुङ्) में प्रकृत सूत्र से प्रथमपुरुष एकवचन की विवक्षा में 'ल्' के स्थान पर परस्मैपद 'तिप्' आदेश होकर 'द्युत् तिप्' = 'द्युत ति' रूप बनता है। पुनः इस स्थिति में च्लि और अङादेश आदि होकर 'अद्युतत्' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में आत्मनेपद होकर 'अद्योतिष्ट' रूप सिद्ध होगा।‡

---

* यहां बहुवचन-प्रयोग द्वारा 'आदि' अर्थ प्राप्त होता है—'बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो भवति' (काशिका)।

† 'द्युत्' आदि धातुएँ २२ हैं—१. द्युति (दीप्त होना), २. श्विता (श्वेत करना), ३. ञिमिदा (स्नेह), ४. ञिष्विदा (स्नेहन और मोचन), ५. रुच् (दीप्ति, पसन्द आना), ६. घुट् (परिवर्तन), ७. रुट्, ८. लुट् और ९. लुठ् (प्रतिघात), १०. शुभ् (दीप्ति), ११. क्षुभ् (सञ्चलन), १२. णभ् और १३. तुभ् (हिंसा करना), १४. स्रंसु, १५. ध्वंसु और १६. भ्रंसु (गिरना), १७. स्रम्भु (विश्वास करना), १८. वृत् (होना), १९. वृध् (बढ़ना), २०. शृध् (कुत्सित शब्द करना), २१. स्यन्द् (बहना) और २२. कृप् (सामर्थ्य होना)। अन्तिम पाँच धातुएं वृतादिगण में भी आती हैं।

‡ विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अद्युतत्' और 'अद्योतिष्ट' की रूपसिद्धि देखिये।

५३९. वृद्भ्यः स्यसनोः । १ । ३ । ९२

वृतादिभ्यः पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं स्यात् स्ये सनि च ।

५३९. वृद्भ्य इति—इस सूत्र की व्याख्या पूर्ववर्ती सूत्र (५३८) के समान ही है। शब्दार्थ है—(स्यसनोः) 'स्य' और 'सन्' परे होने पर (वृद्भ्यः) 'वृत्' आदि से। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' और 'वा क्यषः' १.३.९० से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। वृतादि धातुएँ पाँच हैं—वृत्, वृध्, शृध्, स्यन्द् और कृप्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—'स्य' और 'सन्' परे होने पर वृत्, वृध्, शृध्, स्यन्द् तथा कृप् धातुओं से विकल्प से परस्मैपद होता है। उदाहरण के लिये वृत् धातु से लृट् लकार की विवक्षा में 'वृत् ल्' रूप बनने पर '४०२–स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य' प्रत्यय होकर 'वृत् स्य ल्' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'स्य' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से लकार के स्थान पर प्रथमपुरुष-एकवचन में 'तिप्' (ति) परस्मैपद आदेश होकर 'वृत् स्यति' रूप बनता है। यहां 'स्य' के आर्धधातुक होने के कारण '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्' का आगम प्राप्त होता है, किन्तु उसका निषेध आगामी सूत्र से हो जाता है :—

५४०. न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः । ७ । २ । ५९

वृतु-वृधु-शृधु-स्यन्दूभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण् न स्यात् तङानयोरभावे । वर्त्स्यति, वर्तिष्यते । वर्तताम् । अवर्तत । वर्तेत । वर्तिषीष्ट । अवर्तिष्ट । अवर्त्स्यत्, अवर्तिष्यत । दद दाने । २० । ददते ।

५४०. न वृद्भ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वृद्भ्यः) वृत् आदि (चतुर्भ्यः) चार धातुओं से (न) नहीं होता है। किन्तु क्या नहीं होता, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७.२.३५ से 'आर्धधातुकस्य' तथा 'इट्', 'सेऽसिचि कृतचृत–०' ७.२.५७ से 'से' और 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' ७.२.५८ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति करनी होगी। वृतादि चार धातुएं हैं—वृत्, वृध्, शृध् और स्यन्द्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—परस्मैपद के परे होने पर वृत्, वृध्, शृध् और स्यन्द् से पर सकारादि आर्धधातुक का अवयव 'इट्' नहीं होता। उदाहरण के लिये 'वृत् स्य ति' में 'तिप्' (ति) परस्मैपद परे होने के कारण सकारादि आर्धधातुक 'स्य' को 'इट्' आगम नहीं होगा। इस अवस्था में लघूपधा को गुणादि होकर 'वर्त्स्यति' रूप सिद्ध होता है। परस्मैपद के अभाव में (आत्मनेपद होने पर) इट् का आगम होकर 'वर्तिष्यते' रूप बनेगा।

५४१. न शसददवादिगुणानाम् । ६ । ४ । १२६

शसेर्ददेर्वकारादीनां गुणशब्देन विहितो योऽकारस्तस्य च एत्वाभ्यास-

लोपौ न । ददे । ददाते । ददिरे । ददिता । ददिष्यते । ददताम् । अददत । ददेत । ददिषीष्ट । अददिष्ट । अददिष्यत । त्रपूष् लज्जायाम् । २१ । त्रपते ।

५४१. न शसददेति—यह भी निषेध-सूत्र है । शब्दार्थ है—(शस-गुणानाम्*) शस् , दद् , वकारादि धातुओं और गुण शब्द† के अवयव को......(न) नहीं होता । किन्तु क्या नहीं होता, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' ६.४.११९ से 'एत्' और 'अभ्यासलोपः' 'तथा' 'अत एकहल्मध्ये–०' ६.४.१२० से 'अतः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अतः' सूत्रस्थ 'गुण' शब्द का विशेष्य है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—शस् (हिंसा करना), दद् (देना), वकारादि धातुओं तथा गुण शब्द से विहित अकार के स्थान पर एकार नहीं होता और अभ्यास‡ का लोप नहीं होता । उदाहरण के लिए 'दद्' धातु से लिट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'त' प्रत्यय और पुनः एश् तथा अभ्यास-कार्य होकर 'ददद् ए' रूप बनता है । इस अवस्था में 'अत एकहल्मध्ये–०' ६.४.१२० से एत्व और अभ्यासलोप प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाने पर 'ददे' रूप सिद्ध होता है ।

विशेष—यहां ध्यान रखना होगा कि गुण शब्द से विहित अकार के स्थान पर ही एत्वाभ्यास-निषेध होता है । उदाहरण के लिए 'पेचे' शब्द के अकार में यद्यपि गुणत्व है, फिर भी गुण शब्द से विहित न होने के कारण यहां एत्व और अभ्यास-लोप हो जाता है ।

५४२. तॄ-फल-भज-त्रपश्च । ६ । ४ । १२२

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिटि सेटि थलि च । त्रपिता, त्रप्ता । त्रपिष्यते, त्रप्स्यते । त्रपताम् । अत्रपत । त्रपेत । त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट । अत्रपिष्ट, अत्रप्त । अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत । इत्यात्मनेपदिनः ।

(अथ उभयपदिनः)

श्रिञ् सेवायाम् । १ । श्रयति, श्रयते । शिश्राय, शिश्रिये । श्रयिता ।

---

* यहाँ पर अवयव-षष्ठी है ।

† यहां 'गुण' शब्द का अभिप्राय गुणशब्द से विहित गुणादेश से है—'शस-ददवादीनां योऽकारः इत्यन्वयसम्भवेऽपि अकारस्य गुणरूपत्वाद्भेदनिबन्धना षष्ठी न सम्भवतीत्याशङ्क्य तन्निर्वाहार्थं व्याचष्टे—गुणशब्देन भावितस्येति' (सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या) ।

‡ इसके स्पष्टीकरण केलिए ३९५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

श्रयिष्यति, श्रयिष्यते । श्रयतु, श्रयताम् । अश्रयत्, अश्रयत । श्रयेत्, श्रयेत । श्रीयात्, श्रयिषीष्ट । चङ् । अशिश्रियत्, अशिश्रियत । अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत । भृञ् भरणे । २ । भरति, भरते । बभार । बभ्रतुः । बभ्रुः । बभर्थ । बभृव । बभृम । बभ्रे । बभृषे । भर्तासि, भर्तासे । भरिष्यति, भरिष्यते । भरतु, भरताम् । अभरत्, अभरत । भरेत्, भरेत ।

५४२. तॄफलेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (तॄ—त्रपः) तॄ-फल-भज् और त्रप धातुओं के । यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' ६.४.९८ से 'किति', 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' ६.४.११९ से 'एत्' और 'अभ्यास-लोपः', 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' ६.४.१२० से 'लिटि' तथा 'थलि च सेटि' ६.४.१२१ से 'थलि' और 'सेटि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'किति' 'लिटि' का और 'सेटि' 'थलि' का विशेषण हैं । 'अतः' सूत्रस्थ 'तॄफलभजत्रपः' का अवयव है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित्* लिट् और इट् सहित थल्† परे होने पर तॄ (तैरना), फल् (फलना), भज् (सेवा करना) और त्रप् (लज्जा करना) धातुओं के अकार के स्थान पर एकार और अभ्यास का लोप होता है । उदाहरण के लिए त्रप् धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष एकवचन में 'त' प्रत्यय, एश् तथा अभ्यासकार्य होकर 'त्रप् प् ए' रूप बनता है । यहां पर कित् लिट् एकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से त्रकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एत्व तथा अभ्यास-पकार का लोप होकर 'त्रेपे' रूप सिद्ध होता है ।

५४३. रिङ् शयग्लिङ्क्षु । ७ । ४ । २८

शे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् आदेशः स्यात् । रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद्दीर्घो न । भ्रियात् ।

५४३. रिङ् शेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(श-यग्-लिङ्क्षु) श, यक् और लिङ् परे होने पर (रिङ्) 'रिङ्' आदेश होता है । किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अयङ् यि क्ङिति' ७.४.२२ से 'यि', 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ७.४.२५ से 'अकृत्सार्वधातुक' तथा 'रीङ् ऋतः' ७.४.२७ से 'ऋतः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'यि' और 'अकृत्सार्वधातुक' सप्तम्यन्त लिङ् के विशेषण हैं । 'यि'

* इसके स्पष्टीकरण के लिए '४५२—असंयोगात्—०' की व्याख्या देखिये ।

† यह परस्मैपद मध्यमपुरुष के एकवचन का प्रत्यय है । विशेष स्पष्टीकरण के लिए '३९२—परस्मैपदानां—०' की व्याख्या देखिये ।

प्रत्यय से तदादि-ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श प्रत्यय, यक् और सार्वधातुक*भिन्न यकारादि लिङ् परे होने पर ऋकार के स्थान पर 'रिङ्' आदेश होता है। 'रिङ्' का ङकार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'भृ' धातु से आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' प्रत्यय, तथा 'तिप्' के सार्वधातुक-भिन्न (आर्धधातुक) होने से 'यासुट्' आगम होकर 'भृयात्' रूप बनता है। यहाँ पर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ७.४.२७ से ह्रस्व ऋकार को दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु यकारादि लिङ् 'यात्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से ऋकार के स्थान पर 'रिङ्' (रि) होकर 'भ् रि यात्'='भ्रियात्' रूप सिद्ध होता है।

५४४. उश्च । १ । २ । १२

ऋवर्णात् परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि। भृषीष्ट। भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्। अभार्ष्टाम्। अभार्षुः। अभार्षीः।

५४४. उश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (उः†) ऋवर्ण से पर। यहां सूत्रस्थ 'च' से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इको झल्' १.२.९ से 'झल्' और सम्पूर्ण 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' १.२.११ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'झल्' 'लिङ्' और 'सिच्' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आत्मनेपद में ऋवर्ण से परे झलादि (जिसके आदि में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अथवा श, ष, स ह हो) लिङ् और 'सिच्' कित् होते हैं। कित् हो जाने पर जो गुण और वृद्धि रूप कार्य प्राप्त होते हैं, उनका '४३३–क्ङिति च' से निषेध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'भृ' धातु से आशीर्लिङ् आत्मनेपद में प्रथमपुरुष–एकवचन की विवक्षा में 'त' प्रत्यय और पुनः सीयुट् आदि होकर 'भृ सी स् त' रूप बनता है। इस अवस्था में आर्धधातुक प्रत्यय परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुणादेश प्राप्त होता है, किन्तु यहां झलादि लिङ् 'स् त' की कित् संज्ञा होने से उसका निषेध हो जाता है। तब पुनः षत्व और ष्टुत्व होकर 'भृषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

५४५. ह्रस्वादङ्गात् । ८ । २ । २७

सिचो लोपो झलि। अभृत। अभृषाताम्। अभरिष्यत्, अभरिष्यत। हृञ् हरणे। ३। हरति, हरते। जहार, जह्रे। जहर्थ। जह्रिव। जह्रिम। जह्रषे।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' तथा '३८६–तिङ्-शित्–०' की व्याख्या देखिये।

† 'उः' ऋकार के पञ्चमी के एकवचन का रूप है।

हर्ता । हरिष्यति, हरिष्यते । हरतु, हरताम् । अहरत्, अहरत । हरेत्, हरेत । ह्रियात्, हृषीष्ट । हृषीयास्ताम् । अहार्षीत्, अहृत । अहरिष्यत्, अहरिष्यत । धृञ् धारणे । ४ । धरति, धरते । णीञ् प्रापणे । ५ । नयति, नयते । डुपचष् पाके । ६ । पचति, पचते । पपाच । पेचिथ, पपक्थ । पेचे । पक्ता । भज सेवायाम् । ७ । भजति, भजते । बभाज, भेजे । भक्ता । भक्ष्यति, भक्ष्यते । अभाक्षीत्, अभक्त । अभक्षाताम् । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । ८ । यजति, यजते ।

५४५. ह्रस्वादिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ह्रस्वाद्) ह्रस्व (अङ्गात्) अङ्ग से। किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से 'लोपः', 'रात्सस्य' ८.२.२४ से 'सस्य' तथा 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ह्रस्वाद्' का तात्पर्य ह्रस्वान्त से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् परे रहने पर ह्रस्वान्त अङ्ग से पर सकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'भृ' धातु से लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'त' प्रत्यय और पुनः च्लि-सिच् आदि होकर 'अभृ स् त' रूप बनता है। इस अवस्था में झल्—तकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से ह्रस्वान्त अङ्ग 'अभृ' से पर सकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'अभृत'।

५४६. लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् । ६ । १ । १७

वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं लिटि । इयाज ।

५४६. लिट्यभ्यासेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिटि) लिट् परे होने पर (उभयेषां) इन दोनों के (अभ्यासस्य) अभ्यास का। किन्तु क्या होना चाहिये और किसको होना चाहिये—यह सूत्र से मालूम नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्यङः संप्रसारणं–०' ६.१.१३ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'उभयेषाम्' पूर्ववर्ती दो सूत्रों में कही गई धातुओं की ओर संकेत करता है। सूत्र ये हैं—'वचिस्वपियजादीनां किति' ६.१.१५ तथा 'ग्रहिज्यावयिव्यधि–०' ६.१.१६। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर वच् आदि और ग्रह आदि दोनों गण की धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। उदाहरण के लिए 'यज्' धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'य यज् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में लिट् 'अ' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से यजादि गण की 'यज्' धातु के अभ्यास-यकार को सम्प्रसारण—इकार होकर 'इ अ यज् अ' रूप बनेगा। यहां अकार का पूर्वरूप और उपधावृद्धि होकर 'इयाज' रूप सिद्ध होता है।

५४७. वचि-स्वपि-यजादीनां[6] किति[7] । ६ । १ । १५

वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति । ईजतुः । ईजुः । इयजिथ, इयष्ठ । ईजे । यष्टा ।

५४७. वचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(किति) कित् परे होने पर (वचि-स्वपि-यजादीनां) वच्, स्वप् तथा यज् आदि के स्थान पर । किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्यङः सम्प्रसारणं–०' ६.१.१३ से 'सम्प्रसारणं' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित् प्रत्यय परे होने पर वच् (बोलना), स्वप् (सोना) और यज् (यज्ञ करना) आदि धातुओं* को सम्प्रसारण होता है । यह सम्प्रसारण धातुगत य्, व्, र् और लकार के ही स्थान पर होगा । उदाहरण के लिए 'यज्' धातु से लिट् लकार में *प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' और पुनः उसके स्थान पर परस्मैपद 'अतुस्'* होकर 'यज् अतुस्' रूप बनता है । इस अवस्था में कित् 'अतुस्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'यज्' के यकार के स्थान पर इकार सम्प्रसारण होकर 'इ अ ज् अतुस्' रूप बनेगा । यहाँ पर अकार को पूर्वरूप, पुनः 'इज्' को द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'ईजतुः' रूप सिद्ध होता है ।

५४८. षढोः[6] कः[1] सि[7] । ८ । २ । ४१

यक्ष्यति, यक्ष्यते । इज्यात्, यक्षीष्ट । अयाक्षीत्, अयष्ट । वह प्रापणे । ९ । वहति, वहते । उवाह । ऊहतुः । ऊहुः । उवहिथ ।

५४८. षढोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है । शब्दार्थ है—(सि) सकार परे होने पर (षढोः) षकार और ढकार के स्थान पर (कः) ककार आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'यज्' धातु से लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' प्रत्यय और पुनः स्यागम तथा जकार का षकार होकर 'यष् स्य ति' रूप बनता है । यहां सकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'यष्' के षकार के स्थान पर ककार होकर 'यक् स्य ति' रूप बनेगा । इस स्थिति में इण्–ककार से पर सकार को मूर्धन्य षकार और दोनों को मिला देने से 'यक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है ।

५४९. [7]झषस्तथोर्धो[1]ऽधः[5] । ८ । २ । ४०

झषः परयोस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः ।

---

* यजादि नौ धातुएँ हैं—'यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसि-वेञ्-व्येञ् इत्यपि ।
हेञ् वदी श्वयतिश्चेति यजाद्याः स्युरिमे नव ।

हर्ता । हरिष्यति, हरिष्यते । हरतु, हरताम् । अहरत्, अहरत । हरेत्, हरेत । ह्रियात्, हृषीष्ट । हृषीयास्ताम् । अहार्षीत्, अहृत । अहरिष्यत्, अहरिष्यत । धृञ् धारणे । ४ । धरति, धरते । णीञ् प्रापणे । ५ । नयति, नयते । डुपचष् पाके । ६ । पचति, पचते । पपाच । पेचिथ, पपक्थ । पेचे । पक्ता । भज सेवायाम् । ७ । भजति, भजते । बभाज, भेजे । भक्ता । भक्ष्यति, भक्ष्यते । अभाक्षीत्, अभक्त । अभक्षाताम् । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । ८ । यजति, यजते ।

५४५. ह्रस्वादिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(ह्रस्वाद्) ह्रस्व (अङ्गात्) अङ्ग से । किन्तु क्या होना चाहिये, यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'संयोगान्तस्य लोपः' ८.२.२३ से 'लोपः', 'रात्सस्य' ८.२.२४ से 'सस्य' तथा 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'ह्रस्वाद्' का तात्पर्य ह्रस्वान्त से है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् परे रहने पर ह्रस्वान्त अङ्ग से पर सकार का लोप होता है । उदाहरण के लिए 'भृ' धातु से लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'त' प्रत्यय और पुनः च्लि-सिच् आदि होकर 'अभृ स् त' रूप बनता है । इस अवस्था में झल्—तकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से ह्रस्वान्त अङ्ग 'अभृ' से पर सकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है —'अभृत' ।

५४६. लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् । ६ । १ । १७

वच्यादीनां ग्रहादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारणं लिटि । इयाज ।

५४६. लिट्यभ्यासेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिटि) लिट् परे होने पर (उभयेषां) इन दोनों के (अभ्यासस्य) अभ्यास का । किन्तु क्या होना चाहिये और किसको होना चाहिये—यह सूत्र से मालूम नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्यङः संप्रसारणं–०' ६.१.१३ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'उभयेषाम्' पूर्ववर्ती दो सूत्रों में कही गई धातुओं की ओर संकेत करता है । सूत्र ये हैं—'वचिस्वपियजादीनां किति' ६.१.१५ तथा 'ग्रहिज्यावयिव्यधि–०' ६.१.१६ । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर वच् आदि और ग्रह आदि दोनों गण की धातुओं के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है । उदाहरण के लिए 'यज्' धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में तिप्, णल्, द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'य यज् अ' रूप बनता है । इस स्थिति में लिट् 'अ' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से वच्यादि गण की 'यज्' धातु के अभ्यास-यकार को सम्प्रसारण—इकार होकर 'इ अ यज् अ' रूप बनेगा । यहां अकार का पूर्वरूप और उपधावृद्धि होकर 'इयाज' रूप सिद्ध होता है ।

५४७. वचि-स्वपि-यजादीनां[6] किति[7] । ६ । १ । १५

वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं स्यात् किति । ईजतुः । ईजुः । इयजिथ, इयष्ठ । ईजे । यष्टा ।

५४७. वचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(किति) कित् परे होने पर (वचि-स्वपि-यजादीनां) वच्, स्वप् तथा यज् आदि के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्यङः सम्प्रसारणं—०' ६.१.१३ से 'सम्प्रसारणं' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित् प्रत्यय परे होने पर वच् (बोलना), स्वप् (सोना) और यज् (यज्ञ करना) आदि धातुओं* को सम्प्रसारण होता है। यह सम्प्रसारण धातुगत य्, व्, र् और लकार के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'यज्' धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' और पुनः उसके स्थान पर परस्मैपद 'अतुस्' होकर 'यज् अतुस्' रूप बनता है। इस अवस्था में कित् 'अतुस्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'यज्' के यकार के स्थान पर इकार सम्प्रसारण होकर 'इ अ ज् अतुस्' रूप बनेगा। यहाँ पर अकार को पूर्वरूप, पुनः 'इज्' को द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'ईजतुः' रूप सिद्ध होता है।

५४८. षढोः[6] कः[1] सि[7] । ८ । २ । ४१

यक्ष्यति, यक्ष्यते । इज्यात्, यक्षीष्ट । अयाक्षीत्, अयष्ट । वह प्रापणे । ९ । वहति, वहते । उवाह । ऊहतुः । ऊहुः । उवहिथ ।

५४८. षढोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(सि) सकार परे होने पर (षढोः) षकार और ढकार के स्थान पर (कः) ककार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'यज्' धातु से लृट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' प्रत्यय और पुनः स्यागम तथा जकार का षकार होकर 'यष् स्य ति' रूप बनता है। यहां सकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'यष्' के षकार के स्थान पर ककार होकर 'यक् स्य ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में इण्—ककार से पर सकार को मूर्धन्य षकार और दोनों को मिला देने से 'यक्ष्यति' रूप सिद्ध होता है।

५४९. [5]झषस्तथोर्धोऽधः[5] । ८ । २ । ४०

झषः परयोस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः।

---

* यजादि नौ धातुएँ हैं—'यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसि-वेञ्-व्येञ् इत्यपि ।
हेञ् वदी श्वयतिश्चेति यजाद्याः स्युरिमे नव ।'

५४९. झष इति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(अधः) 'धा' धातु को छोड़कर (झषः) झष् से पर (तथोः) तकार और थकार के स्थान पर (धः) धकार आदेश होता है। झष् प्रत्याहार में सभी वर्गों के चतुर्थ वर्ण आ जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—'धा' धातु को छोड़कर किसी वर्ग के चतुर्थ वर्ण के बाद यदि तकार या थकार आता है, तो उसके स्थान पर धकार आदेश हो जाता है। उदाहरण के लिए 'वह' धातु से लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन में सिप् प्रत्यय, तथा उसके स्थान पर थल्, अभ्यासकार्य, संप्रसारण और ढत्व आदि होकर 'उव ढ् थ' रूप बनता है। इस स्थिति में 'झष्' 'ढकार' से परे थकार है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके स्थान पर धकार होकर 'उव ढ् ध' रूप बनेगा। यहां ष्टुत्व से धकार को ढकार होकर 'उ व ढ् ढ' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

५५०. ढो ढे लोपः । ८ । ३ । १३

५५०. ढो ढे इति—सूत्र स्वतः पूर्ण है। अर्थ है—(ढे) ढकार परे होने पर (ढः) ढकार का (लोपः) लोप होता है। उदाहरण के लिए 'उ व ढ् ढ' में ढकार परे होने के कारण पूर्ववर्ती ढकार का लोप होकर 'उ व ढ' रूप बनता है।

५५१. सहिवहोरोदवर्णस्य । ६ । ३ । ११२

अनयोरवर्णस्य ओत् स्याड्ढलोपे। उवोढ। ऊहे। वोढा। वक्ष्यति। अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः। अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ। अवाक्षम्। अवाक्ष्व। अवाक्ष्म। अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत। अवोढाः, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्। अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

इति भ्वादयः।

५५१. सहिवहोरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(सहिवहोः) सह और वह धातु के (अवर्णस्य) अवर्ण के स्थान में (ओत्) ओकार होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'ढ्रलोपे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ढकार और रकार के लोप होने पर सह् और वह् धातु के अकार के स्थान पर ओकार होता है। उदाहरण के लिए 'उ व ढ' में ढकार का लोप हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से वह (उव) के वकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर ओकार होकर 'उव् ओ ढ' = 'उवोढ' रूप सिद्ध होता है।

भ्वादिगण समाप्त।

अदादिगणः

अद भक्षणे । १ ।

५५२. अदिप्रभृतिभ्यः शपः । २ । ४ । ७२

लुक् स्यात् । अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि, अत्थः, अत्थ । अद्मि, अद्वः, अद्मः ।

५५२. अदीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अदिप्रभृतिभ्यः) अद् प्रभृति के पश्चात् (शपः) शप् का । किन्तु क्या होना चाहिये-यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अद् (खाना) आदि* धातुओं से परे शप् का लुक् (लोप) होता है । उदाहरण के लिए 'अद्' धातु से लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' होकर 'अद् ति' रूप बनता है । इस स्थिति में सार्वधातुक 'तिप्' (ति) परे होने के कारण '३८७-कर्तरि शप्' से शप् होकर 'अद् अ ति' रूप बनेगा, किन्तु 'अद्' से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका लोप होकर 'अद् ति' रूप ही बनता है । यहां दकार को चर्त्व-तकार होकर 'अत् ति = अत्ति' रूप सिद्ध होता है ।

५५३. लिट्यन्यतरस्याम् । २ । ४ । ४०

अदो घस्लृ वा स्याल्लिटि । जघास । उपधालोपः ।

५५३. लिटीति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(लिटि) लिट् परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से । किन्तु क्या होना चाहिये—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' २.४.३६ से 'अदः' और 'लुङ्सनोर्घस्लृ' २.४.३७ से 'घस्लृ' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर 'अद्' धातु के स्थान पर विकल्प से 'घस्लृ' आदेश होता है । 'घस्लृ' में लृकार इत्संज्ञक है, अतः 'घस्' ही शेष रह जाता है । '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'अद्' के स्थान पर होता है । उदाहरण के लिए 'अद्' धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' आदि होकर 'अद् अ' रूप

---

* 'अद्' आदि ७२ धातुएँ हैं, जिनका परिगणन 'धातुपाठ' में हुआ है । देखिये उत्तरार्ध का 'पूर्वाभास' ।

बनता है। इस स्थिति में लिट् 'अ' (णल्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'अद्' के स्थान पर 'घस्लृ' (घस्) होकर 'घस् अ' रूप बनेगा। पुनः द्वित्व, अभ्यास और सलोप आदि होकर 'जघास' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में 'आद' रूप बनेगा।*

५५४. शासि-वसि-घसीनां[६] च। ८। ३। ६०

इणकुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात्। घस्य चर्त्वम्। जक्षतुः। जक्षुः। जघसिथ। जक्षथुः। जक्ष। जघास, जघस। जक्षिव। जक्षिम। आद, आदतुः, आदुः।

५५४. शासीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (शासि-वसि-घसीनाम्) शास्, वस् और घस् के। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से 'सः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' ८.३.५५ और 'इण्कोः' ८.३.५७ का अधिकार आता है। 'सः' सूत्रस्थ 'शासि-वसि-घसीनाम्' का अवयव है। 'इण्कोः' का अर्थ है—इण् और कवर्ग। इण् प्रत्याहार में इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कवर्ग, स्वर-वर्ण अथवा ह, य, व, र और ल के पश्चात् यदि शास्, वस् और घस् धातुएँ आती हैं तो उनका सकार मूर्धन्य हो जाता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार ही आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'अद्' धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' प्रत्यय तथा पुनः उसके स्थान पर 'अतुस्', घस्लृ-आदेश और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'ज घ् स् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में कवर्ग–घकार से 'घस्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसके सकार के स्थान पर षकार होकर 'ज घ् ष् अतुस्' रूप बनेगा। यहां घकार के स्थान पर चर्त्व–ककार और क् ष् के संयोग से 'क्षकार' आदि होकर 'जक्षतुः' रूप सिद्ध होता है।†

५५५. [१]इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम्[६]‡। ७। २। ६६

अद् ऋ व्येञ्, एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति। अत्तु, अत्तात्। अत्ताम्। अदन्तु।

५५५. इडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अत्त्यर्तिव्ययतीनाम्§) अद्, ऋ और

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जघास' और 'आद' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जक्षतुः' की रूपसिद्धि देखनी चाहिये।

‡ यहां षष्ठी विभक्ति पञ्चम्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

§ इसका विग्रह इस प्रकार है—अत्ति अर्ति व्ययति इत्येतेषाम्। अत्ति, अर्ति

व्येञ् से पर (इट्) इट् होता है। किन्तु यह 'इट्' आगम किस से होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' ७.२.६१ से 'थलि' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहां 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से 'इट्' आदेश उत्तरवर्ती 'थल्' के ही स्थान पर होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अद् (खाना), ऋ (जाना) या व्येञ् (ढकना) धातु के बाद 'थल्' आता है, तो उसका अवयव 'इट्' (इ) हो जाता है। '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से टित् होने के कारण 'इट्' 'थल्' प्रत्यय का आद्यवयव होता है। उदाहरणार्थ 'अद्' धातु से लिट् लकार में मध्यम पुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' और उसके स्थान पर परस्मैपद 'थल्' होकर 'अद् थ' (थल्) रूप बनता है। यहां 'अद्' धातु के थल् को धातु के उपदेश में अकारवान् होने से वैकल्पिक इट् प्राप्त था, किन्तु प्रकृतसूत्र से नित्य इट् होकर 'अद् इ थ' रूप बनेगा। पुनः अभ्यास-कार्य आदि होकर 'आदिथ' रूप-सिद्ध होता है।*

५५६. हुझल्भ्यो हेर्धिः । ६ । ४ । १०१

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि, अत्तात्। अत्तम्। अत्त। अदानि। अदाव। अदाम।

५५६. हुझल्भ्योरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। अर्थ है—(हुझल्भ्यः) हु और झलन्त† धातुओं से पर (हेः) हि के स्थान पर (धिः) 'धि' आदेश होता है। तात्पर्य यह कि 'हु' (हवन करना) और झलन्त (जिसके अन्त में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण अथवा श, ष, स, ह में से कोई हो) धातु के बाद यदि 'हि' आता है तो उसके स्थान पर 'धि' हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अद्' धातु से लोट् लकार में मध्यम पुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' आदि होकर 'अद् सि' रूप बनता है। यहाँ '४१५—सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' के स्थान पर 'हि' होकर 'अद् हि' रूप बनेगा। तब प्रकृतसूत्र से 'हि' के स्थान पर 'धि' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'हि' के स्थान पर होकर 'अद्धि = अद्धि' रूप सिद्ध होता है। यहाँ ध्यान

और व्ययति क्रमशः अद्, ऋ और व्येञ् धातुओं के लट् लकार में प्रथमपुरुष एकवचन के रूप हैं। अतः इनसे तत्तत् धातुओं का ही ग्रहण होता है।

* विस्तृतप्रक्रिया के लिए 'आदिथ' की रूप-सिद्धि देखिये।

† 'अङ्गस्य' ६.४.१ से प्राप्त अङ्ग का विशेषण होने से 'झल्' में तदन्तविधि हो जाती है।

रहे कि यह आदेश हलादि 'हि' के ही स्थान पर होता है, अतः 'रुदिहि' में 'हि' के स्थान पर 'धि' नहीं होता।

५५७. अदः[५] सर्वेषाम्[६] । ७ । ३ । १००

अदः परस्यापृक्त-सार्वधातुकस्य अट् स्यात् सर्वमतेन। आदत्, आत्ताम्, आदन्। आदः, आत्तम्, आत्त। आदम्, आद्व, आद्म। अद्यात्। अद्याताम्। अद्युः। अद्यात्। अद्यास्ताम् अद्यासुः।

५५७. अद इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सर्वेषाम्) सब के मत में (अदः) 'अद्' धातु से पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' ७.३.९५ से 'सार्वधातुके', 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' ७.३.९६ से 'अपृक्ते' और 'अड्गार्ग्यगालवयोः' ७.३.९९ से 'अट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अपृक्ते' 'सार्वधातुके' का विशेषण है। 'अपृक्ते' और 'सार्वधातुके'—दोनों ही षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अद्' धातु से परे अपृक्त सार्वधातुक* का अवयव 'अट्' होता है। 'अट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह अपृक्तसार्वधातुक का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'अद्' धातु से लङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्', शप्-लुक् और आडागम आदि होकर 'आदत्' रूप बनता है।† इस स्थिति में 'अद्' से परे होने के कारण प्रकृतसूत्र से अपृक्तसार्वधातुक 'त्' को 'अट्' (अ) आगम होकर 'आद् अत्' = 'आदत्' रूप सिद्ध होता है।

५५८. लुङ्सनोर्घस्लृ[७] । २ । ४ । ३७

अदो घस्लृ स्याल्लुङि सनि च। लृदित्वादङ्। अघसत्। आत्स्यत्। हन-हिंसागत्योः। २१ हन्ति।

५५८. लुङिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(लुङ्सनोः) लुङ् और 'सन्' परे होने पर (घस्लृ) 'घस्लृ' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' २.४.३६ से 'अदः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'लुङ्' और 'सन्' प्रत्यय परे होने पर 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश होता

---

* 'अपृक्त' के स्पष्टीकरण के लिए 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' (१७८) तथा 'सार्वधातुक' के लिए 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' (३८६) की व्याख्या देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'आदत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

है। 'घस्लृ' में लकार इत्संज्ञक है, अतः 'घस्' ही शेष रह जाता है। अनेकाल् होने के कारण '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'अद्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'अद्' धातु से लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'लुङ्' (लकार) और उसके स्थान पर 'तिप्' (ति) होकर 'अद् ति' रूप बनता है। यहां पर लुङ्-'ति' प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'अद्' के स्थान पर 'घस्लृ' होकर 'घस् ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'च्लि' और उसके स्थान पर 'अङ्' आदि होकर 'अघसत्' रूप सिद्ध होता है।*

५५९. अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति। ६।४।३७

अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्झलादौ किति ङिति परे। यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। तनु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तृणु-घृणु-वनु-मनु-तनोत्यादयः। हतः। घ्नन्ति। हंसि। हथः। हथ। हन्मि। हन्वः। हन्मः। जघान। जघ्नतुः। जघ्नुः।

५५९. अनुदात्तेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झलि) झलादि† (क्ङिति) कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर (अनुदात्तोपदेश—तनोत्यादीनाम्) अनुदात्तोपदेश धातुएं, 'वन्' और 'तन्'‡ आदि धातुओं के (अनुनासिकलोपः) अनुनासिक का लोप होता है। उपदेश में अनुदात्त धातुएं छः हैं—यम् , (निवृत्त होना), रम् (क्रीडा करना), णम् (नमस्कार करना), गम् (जाना), हन् (हिंसा करना, जाना) और मन् (मानना, जानना)। ये सभी धातुएं अनुनासिकान्त हैं। तन् आदि धातुएं आठ हैं—तन् (विस्तार होना), क्षण् (हिंसा करना), क्षिण् (हिंसा करना), ऋण् (जाना), तृण् (खाना), घृण् (चमकना), मन् (ज्ञान करना) तथा वन् (मांगना)। ये धातुएं भी अनुनासिकान्त हैं। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—झलादि कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर अनुदात्तोपदेश छः धातुओं तथा 'वन्', 'तन्' आदि आठ धातुओं के अनुनासिक का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'हन्' धातु से लट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' और शप्-लुक् होकर 'हन् तस्' रूप बनता है। 'हन्' धातु अनुदात्तोपदेश है। '५००—सार्वधातुक-

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अघसत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† 'क्ङिति' का विशेषण होने के कारण यहां तदादिविधि हो जाती है। 'झल्' प्रत्याहार के स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये।

‡ सूत्रस्थ 'वनति' और 'तनोति' क्रमशः 'वन्' और 'तन्' धातुओं के लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन के रूप हैं। अतः इनसे तत्तत् धातुओं का ग्रहण होता है।

मपित्' से यहां 'तस' प्रत्यय ङिद्वत् है। अतः प्रकृत सूत्र से झलादि ङित् 'तस्' परे होने से 'हन्' के अनुनासिक नकार का लोप होकर 'हतस्=हतः' रूप सिद्ध होता है।

५६०. अभ्यासाच्च । ७ । ३ । ५५

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ, जघन्थ। जघ्नथुः। जघ्न। जघान, जघन। जघ्निव। जघ्निम। हन्ता। हनिष्यति। हन्तु, हतात्। हताम्। घ्नन्तु।

५६०. अभ्यासादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अभ्यासात्) अभ्यास से पर। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' ७.३.५२ से 'कु' और 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' ७.३.५४ से 'हो' तथा 'हन्तेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हो' 'हन्तेः' का अवयव है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा। अभ्यास* से परे 'हन्' धातु के हकार के स्थान में कवर्ग आदेश होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से हकार के स्थान पर कवर्ग–घकार ही होता है। उदाहरण के लिए 'हन्' धातु से लिट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्', पुनः 'सिप्' के स्थान पर 'थल्' और भारद्वाज-नियम से विकल्प से 'इट्' आदि होकर 'ज हन् इ थ' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से अभ्यास 'ज' से परे होने के कारण 'हन्' के हकार को घकार होकर 'ज घ् अ न् इ थ' = 'जघनिथ' रूप सिद्ध होता है। इडाभाव में 'जघन्थ' रूप बनता है।†

५६१. हन्तेर्जः । ६ । ४ । ३६

हौ परे।

५६१. हन्तेरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(हन्तेः) 'हन्' धातु के स्थान पर (जः) 'ज' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस स्थिति में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शा हौ' ६.४.३५ से 'हौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'हि' के परे होने पर 'हन्' धातु के स्थान पर 'ज' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' (४५) परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'हन्' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'हन्' धातु से लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्', शप्-लुक् और 'सिप्' के

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जघनिथ' और 'जघन्थ' की रूप-सिद्धि देखिये।

स्थान पर '४१५–सेर्ह्यपिच्च' से 'हि' होकर 'हन् हि' रूप बनता है। यहाँ प्रकृत सूत्र से 'हि' परे होने के कारण 'हन्' के स्थान पर 'ज' होकर 'जहि' रूप बनेगा। इस स्थिति में '४१६–अतो हेः' से 'हि' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु उसका बाध अग्रिम सूत्र से हो जाता है—

५६२. असिद्धवदत्राऽऽभात्। ६। ४। २२

इत ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयं समानाश्रयं तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धम्। इति जस्यासिद्धत्वात् न हेर्लुक्। जहि। हतात्। हतम्। हत। हनानि। हनाव। हनाम। अहन्, अहताम्, अघ्नन्। अहन्, अहतम्, अहत। अहनम्, अहन्व, अहन्म। हन्यात्।

५६२. असिद्धवदिति—यह अधिकार सूत्र है। शब्दार्थ है—(आभात् †) भाधिकार-पर्यन्त (अत्र ‡) समानाश्रय-विधि में (असिद्धवत्) असिद्ध के समान होता है अर्थात् जो पहले से सिद्ध होता है, वह असिद्ध के समान हो जाता है। भाधिकार 'भस्य' ६.४.१२९ से प्रारम्भ हो चतुर्थाध्याय के अन्त तक जाता है। इस प्रकार सूत्र का अधिकार यहां से लेकर षष्ठाध्याय के अन्त तक जाता है। जिन कार्यों का निमित्त समान हो उन्हें 'समानाश्रय' कहते हैं। अतः सूत्र का भावार्थ होगा—यदि यहां से लेकर षष्ठाध्याय के अन्त तक कोई समानाश्रय-कार्य करना हो, तो पहले किया हुआ कार्य असिद्ध (न होने) के समान होता है। उदाहरण के लिए 'जहि' में 'हन्तेर्जः' ६.४.३६ से 'ज' आदेश और 'अतो हेः' ६.४.१०५ से 'हि' का लुक् समानाश्रय कार्य हैं, क्योंकि 'ज' का आश्रय प्रकृति 'हन्' और प्रत्यय 'हि' दोनों हैं तथा 'हि' लोप का आश्रय भी अदन्त अङ्ग 'ज' (हन्) और प्रत्यय 'हि' दोनों ही हैं। अतः प्रकृत सूत्र से पहले किया हुआ 'ज' आदेश 'हि'-लोप करते समय असिद्ध हो जाता है। असिद्ध होने से लोप के प्रति 'हन्' ही रहता है जो अदन्त नहीं है। इसी से 'हि' का लोप न होकर 'जहि' रूप सिद्ध होता है।

५६३. आर्धधातुके। २। ४। ३५

५६३. आर्धधातुक इति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(आर्धधातुके)

---

* 'अत्रपदेन यत्रानुवृत्तिः तत्सूत्रस्थसप्तम्यन्तो निमित्तसमुदायः परामृश्यते। सप्तमी च वैषयिकी'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (बम्बई, १९३८), पृ० २९६ (पाद-टिप्पणी)।

† 'आ भादित्यभिविधावाङ्। भाधिकारमभिव्याप्येत्यर्थः। अधिकारश्चायम्'—तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

‡ 'अत्रेति समानाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थम्'—काशिका।

आर्धधातुक के विषय में। इसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि आगे कहे जानेवाले कार्य आर्धधातुक* के विषय में होते हैं। इसका अधिकार इस पाद के ५८ वें सूत्र तक जाता है, अतः तत्पर्यन्त सूत्रों से विहित कार्य आर्धधातुक के विषय में होते हैं।

५६४. हनो वध लिङि । २ । ४ । ४२

५६४. हन इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिङि) लिङ् परे होने पर (हनः) 'हन्' के स्थान पर (वध) 'वध' आदेश होता है। यहाँ '५६३–आर्धधातुके' का अधिकार प्राप्त है। यह 'आर्धधातुके' 'लिङि' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का स्फुटार्थ होगा—आर्धधातुक लिङ् परे होने पर 'हन्' धातु के स्थान पर 'वध' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'हन्' धातु से लिङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' होकर 'हन् ति' रूप बनता है। यहां '४३१–लिङाशिषि' से 'तिप्' आर्धधातुक हो जाता है, अतः उसके परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'हन्' के स्थान पर 'वध'† होकर 'वध ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में 'यासुट्' और अकार-लोप आदि होकर 'वध्यात्' रूप सिद्ध होता है।‡

५६५. लुङि च । २ । ४ । ४३

वधादेशोऽदन्तः। आर्धधातुके इति विषयसप्तमी। तेनार्धधातुकोपदेशेऽकारान्तत्वादतो लोपः। वध्यात्। वध्यास्ताम्। अवधीत्। अहनिष्यत्। यु मिश्रणामिश्रणयोः। ३।

५६५. लुङीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (लुङि) लुङ् परे होने पर। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '५६४–हनो वध लिङि' से 'हनो वध' की अनुवृत्ति करनी है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—और लुङ् परे होने पर भी 'हन्' धातु के स्थान पर 'वध' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'हन्' धातु से लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'हन् लुङ्' (ल्)' होगा। यहां लुङ् परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'हन्' के स्थान पर 'वध' सर्वादेश होकर 'वध ल्' रूप बनेगा। पुनः तिप्, च्लि-सिच्, अट् और इकार-लोप आदि होकर 'अवधीत्' रूप सिद्ध होता है।§

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† ध्यान रहे कि '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से सम्पूर्ण 'हन्' के स्थान पर आदेश होता है।

‡ विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'वध्यात्' की रूप-सिद्धि देखिये।

§ विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अवधीत्' की रूप-सिद्धि देखनी चाहिये।

५६६. उतो¹ वृद्धिर्लुकि² हलि³ । ७ । ३ । ८९

लुग्विषये उतो वृद्धिः पिति हलादौ सार्वधातुके न त्वभ्यस्तस्य । यौति, युतः, युवन्ति । यौषि, युथः युथ । यौमि, युवः, युमः । युयाव । यविता । यविष्यति । यौतु, युतात् । अयौत् । अयुताम् । अयुवन् । युतात्—इह उतो वृद्धिर्न, भाष्ये 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्न' इति व्याख्यानात् । युयाताम् । युयुः । यूयात् । यूयास्ताम् । यूयासुः । अयावीत् । अयविष्यत् । या प्रापणे । ४ । याति । यातः । यान्ति । ययौ । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयाताम् ।

५६६. उत इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(लुकि*) लुक् के विषय में (हलि) हल् परे होने पर (उतः) उकार के स्थान में (वृद्धिः) वृद्धि आदेश होता है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' ७.३.८७ से 'नाभ्यस्तस्य' और 'पिति सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त है । 'उतः' 'अङ्गस्य' का अवयव हो जाता है । पित् सार्वधातुक तीन हैं—तिप् , सिप् और मिप् । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुङ् के विषय में हलादि (जिसके आदि में कोई व्यञ्जन हो) पित् सार्वधातुक–तिप् , सिप् और मिप्–के परे होने पर अङ्ग के उकार के स्थान पर वृद्धि† आदेश होता है, किन्तु अभ्यस्त† अङ्ग के उकार के स्थान पर वृद्धि नहीं होती । '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह वृद्धि-आदेश अन्त्य उकार के ही स्थान पर होता है । उदाहरण के लिए 'यु' धातु से लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' और शप्-लुक् होकर 'यु ति' रूप बनता है । यहां लुक् विषय में पित् सार्वधातुक–तिप् (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'यु' के उकार के स्थान पर वृद्धि–औकार‡ होकर 'य् औ ति'='यौति' रूप सिद्ध होता है ।

५६७. लङः¹ शाकटायनस्यैव² । ३ । ४ । १११

आदन्तात् परस्य लङो झेर्जुस् वा स्यात् । अयुः, अयान् । यायात् । यायाताम् । यायुः । यायात् । यायास्ताम् । यायासुः । अयासीत् । अयास्यत् । वा गतिगन्धनयोः । ५ । भा दीप्तौ । ६ । ष्णा शौचे । ७ । श्रा पाके । ८ । द्रा कुत्सायां गतौ । ९ । प्सा भक्षणे । १० । रा दाने । ११ । ला आदाने । १२ ।

* 'लुक्' तो अभाव रूप होता है, उसका परे रहना सम्भव नहीं । इसी से 'लुकि' में विषयसप्तमी मानी गई है ।

† इनके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये ।

‡ '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से उकार के स्थान पर वृद्धि औकार ही होता है ।

दाप् लवने । १३ । पा रक्षणे । १४ । ख्या प्रकथने । १५ । अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः । विद ज्ञाने । १६ ।

५६७. लङ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शाकटायनस्य) शाकटायन के मत में (एव) ही (लङः) लङ् के । किन्तु यहां क्या होना चाहिये, इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झेर्जुस्' ३.४.१०८ और 'आतः' ३.४.११० की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आकारान्त धातु* से परे लङ् के 'झि' के स्थान पर 'जुस्' आदेश शाकटायन के मतानुसार होता है । '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'झि' के स्थान पर होगा । पाणिनि का मत न होने के कारण यह आदेश विकल्प से होता है । उदाहरण के लिए 'या' धातु से लङ्लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'झि', शप्-लुक् और अट् होकर 'अ या झि' रूप बनता है । इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से आकारान्त धातु 'या' से परे लङ् के 'झि' के स्थान पर 'जुस्' होकर 'अ या जुस्' रूप बनेगा । यहां जकार-लोप, पर-रूप और रुत्व-विसर्ग होकर 'अयुः' रूप सिद्ध होता है । विकल्पावस्था में 'झि' के झकार के स्थान पर अन्तादेश, इकार-तकार-लोप और सवर्णदीर्घ होकर 'अयान्' रूप बनता है ।

५६८. विदो लटो वा । ३ । ४ । ८३

वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः । वेद, विदतुः, विदुः । वेत्थ, विदथुः, विद । वेद, विद्व, विद्म । पक्षे—वेत्ति । वित्तः । विदन्ति ।

५६८. विद इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(विदः) 'विद्' धातु से परे (लटः) लट् के स्थान पर (वा) विकल्प से । किन्तु क्या होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' ३.४.८२ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विद् धातु से परे लट् सम्बन्धी परस्मैपद तिबादि के स्थान पर णल् आदि विकल्प से आदेश होते हैं । तिप् आदि नौ परस्मैपद हैं, और उनके स्थान पर आदेश होनेवाले णल् आदि भी नौ हैं । '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से ये आदेश तिबादि के स्थान पर क्रमशः होंगे । सुगमता के लिए इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है—

प्रथमपुरुष—तिप्, तस्, झि	के स्थान पर क्रमशः	णल्, अतुस्, उस् ।
मध्यमपुरुष—सिप्, थस्, थ	,,	थल्, अथुस्, अ ।
उत्तमपुरुष—मिप्, वस्, मस्	,,	णल्, व, म ।

* यहां 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार प्राप्त होने से उसकी अनुवृत्ति हो जाती है ।

उदाहरण के लिए 'विद्' धातु से लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' होकर 'विद् ति' रूप बनता है। यहां 'विद्' धातु से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से लिट्सम्बन्धी परस्मैपद 'तिप्' के स्थान पर 'णल्' होकर 'विद् अ'* (णल्) रूप बनेगा। इस स्थिति में शप्-लुक् और उपधा-इकार को गुण-एकार होकर 'वेद' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में 'तिप्', शप्-लुक्, उपधागुण और चर्त्व होकर 'वेत्ति' रूप बनता है।†

५६९. उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम् । ३ । १ । ३८

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात्। विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः। विदाञ्चकार। विवेद। वेदिता। वेदिष्यति।

५६९. उपविदेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उष-विद-जागृभ्यः) उष्, विद् और जागृ धातुओं से परे (अन्यतरस्याम्) विकल्प से। किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' ३.१.३५ से 'आम्' और 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर उष् (जलाना), विद् (जानना) और जागृ (जागना) के बाद 'आम्' प्रत्यय होता है, विकल्प से। उदाहरण के लिए 'विद्' धातु से परोक्ष में 'लिट्' होकर 'विद् लिट्' रूप बनता है। यहाँ प्रकृत सूत्र से लिट् परे होने के कारण 'विद्' के पश्चात् 'आम्' होकर 'विद् आम् लिट्' रूप बनेगा। इस स्थिति में लिट् का लुक्, लिट्परक कृञ् का अनुप्रयोग और प्रथमपुरुष-एकवचन में 'तिप्' प्रत्यय आदि होकर 'विदाञ्चकार' रूप सिद्ध होता है। 'आम्' के अभाव-पक्ष में 'विवेद' रूप बनता है।‡

५७०. §विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् । ३ । १ । ४१

वेत्तेर्लोटि आम् गुणाभावो लोटो लुक् लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते।

५७०. विदामिति—सूत्र का पदच्छेद है—'विदाङ्कुर्वन्तु इति अन्यतरस्याम्'। शब्दार्थ है—(अन्यतरस्याम्) विकल्प से (विदाङ्कुर्वन्तु) 'विदाङ्कुर्वन्तु' (इति)

---

* '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से णलादेश सम्पूर्ण 'तिप्' के स्थान पर होता है।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'वेद' और 'वेत्ति' की रूप-सिद्धि देखिये।

‡ विस्तृत विवरण के लिए 'विदाञ्चकार' और 'विवेद' की रूपसिद्धि देखिये।

§ यह 'विद्' धातु का लोट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन का परस्मैपदपरक रूप है। अतः यहां विभक्ति-निर्देश नहीं किया गया।

ऐसा रूप बनता है। यहाँ 'विदाङ्कुर्वन्तु' में पुरुष और वचन विवक्षित नहीं हैं। यह लोट् लकार के सभी पुरुषों और वचनों का व्यञ्जक है।* 'विदाङ्कुर्वन्तु' रूप स्पष्ट ही 'विद्' धातु से 'आम्' प्रत्यय और लघूपध का गुणाभाव हो बना है।† अतः 'आम्' प्रत्यय होने पर जो कार्य होते हैं वे 'विद्' धातु के लोट् लकार में भी होंगे। 'आम्' प्रत्यय के कार्य हैं—'४७१-आमः' से लकार का लोप और '४७२-कृञ्चानुप्रयुज्यते-०' से कृञ् का अनुप्रयोग। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लोट् परे होने पर 'विद्' धातु से विकल्प से 'आम्' प्रत्यय होता है, 'आम्' परे रहते लघूपध-गुण नहीं होता, लोट् का लुक् होता है और लोट्परक 'कृ' धातु का अनुप्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'विद्' धातु से लोट् लकार परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'विद्' से 'आम्', लोट् का लुक् और लोट्परक कृञ् का अनुप्रयोग होकर 'विदाम् कृ लोट्' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रथमपुरुष एकवचन की विवक्षा में लोट् के स्थान पर 'तिप्' प्रत्यय होकर 'विदाम् कृ ति' रूप बनेगा। यहाँ तिप् के सार्वधातुक होने से '३८७-कर्तरि शप्' से शप् प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका निषेध हो जाता है—

५७१. तनादिकृञ्भ्यः उः। ३। १। ७९

तनादेः कृञश्च उः प्रत्ययः स्यात्। शपोऽपवादः। विदाङ्करोतु।

५७१. तनादीति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(तनादिकृञ्भ्यः) 'तन्' आदि और कृञ् के बाद (उः) उकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' और 'कर्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। तनादिगण में तन् (फैलाना), षण् (दान देना) आदि दस धातुएँ आती हैं।‡ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर 'कृञ्'§ तथा 'तन्' आदि धातुओं के बाद 'उ' प्रत्यय होता है।

---

* 'इतिकरणः प्रदर्शनार्थो, न केवलं प्रथमपुरुष-बहुवचनं किं तर्हि, सर्वाण्येव लोड्वचनान्यनुप्रयुज्यन्ते'—काशिका।

† दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यहाँ 'आम्' प्रत्यय और लघूपध-गुणाभाव का 'निपातन' होता है। 'निपातन' के लिए देखिये २०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी।

‡ यह सभी धातुएं 'धातुपाठ' में गिनाई गई हैं। देखिये प्रस्तुत पुस्तक के उत्तरार्ध का 'पूर्वाभास'।

§ ध्यान रहे कि 'कृञ्' धातु का पाठ भी 'तनादिगण' में ही हुआ है, अतः प्रश्न उठता है कि सूत्र में उसका पृथक् उल्लेख क्यों हुआ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि सायण के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसे भ्वादिगण में ही रखा था और इस प्रकार उससे 'शप्' प्राप्त था (देखिये 'अष्टाध्यायी-प्रकाशिका' ३.१.७९)।

उदाहरण के लिए 'विदाम् कृ ति' में कर्तावाची सार्वधातुक 'तिप्' प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'कृञ्' धातु के बाद 'उ' प्रत्यय होकर 'विदाम् कृ उ ति' रूप बनता है। यहां गुण, इकार का उकार और मकार का अनुस्वार आदि होकर 'विदाङ्करोतु' रूप सिद्ध होता है।* तातङ्पक्ष में 'विदाम् कृ उ तात्' रूप बनने पर 'कृ' के ऋकार को तो 'उ' आर्धधातुक-निमित्तक गुण हो जाता है। किन्तु 'तातङ्' के ङित् होने से 'उ' को गुण नहीं हो पाता, अतः 'विदाम् कर् उतात्' रूप बनता है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

५७२. अत उत् सार्वधातुके । ६ । ४ । ११०

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत् सार्वधातुके क्ङिति। विदाङ्कुरुतात्। विदाङ्कुरुताम्। विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु। विदाङ्करवाणि। अवेत्। अविताम्। अविदुः।

५७२. अत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (अतः) अकार के स्थान पर (उत्) उकार आदेश होता है। किन्तु यह आदेश कहाँ पर होता है और किस अवस्था में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गमहन-जनखनघसां–०' ६.४.९८ से 'क्ङिति', 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' ६.४.१०६ से 'उतश्च प्रत्ययाद्', और 'नित्यं करोतेः' ६.४.१०८ से 'करोतेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उतः' और 'प्रत्ययाद्' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाते हैं, तथा 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'उतः प्रत्ययाद्' में तदन्त-विधि हो जाती है। 'करोतेः' भी यहां षष्ठ्यर्थ में ही प्रयुक्त होता है। 'करोतेः' वास्तव में 'करोति' का ही पञ्चम्यन्त रूप है जो स्वतः ही 'कृ' धातु के लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन का रूप है। अतः इससे 'कृ' धातु का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित् और ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर 'उ' प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के अकार के स्थान पर उकार होता है। उदाहरण के लिए 'विदाम् कर् उतात्' में तातङ् (तात्) ङित् प्रत्यय है और सार्वधातुक भी। वह 'उ' प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के परे है, अतः प्रकृत सूत्र से 'कृ' के ककारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर उकार होकर 'विदाम् कु उ र् उतात्' रूप बनता है। यहां पर मकार के स्थान पर अनुस्वार और परसवर्ण होकर 'विदाङ्कुरुतात्' रूप सिद्ध होगा।

५७३. दश्च । ८ । २ । ७५

धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे रुर्वा। अवेः, अवेत्। विद्यात्। विद्यास्ताम्। अवेदीत्। अवेदिष्यत्। अस भुवि। १७। अस्ति।

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए इसकी रूपसिद्धि देखिए।

५७३. दश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (दः) दकार के स्थान पर। यहां सूत्रस्थ 'च' से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सिपि धातो रुर्वा' ८.२.७४ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'दः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि हो जाती है। 'पदस्य' ८.१.१६ का यहां अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सिप् परे होने पर दकारान्त धातु-पद के स्थान पर विकल्प से 'रु' आदेश होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अन्त्य दकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'विद्' धातु से लङ् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में सिप्, शप्-लुक् और अट् आदि होकर 'अवेद् स्' रूप बनता है। यहां '१७९-हल्ङ्याब्भ्यो-०' से 'सिप्' के अपृक्त सकार का लोप होकर 'अवेद्' रूप बनेगा। इस स्थिति में सिप्* परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से दकार के स्थान पर 'रु' होकर 'अवे रु' रूप बनता है। रुत्व-विसर्ग होकर 'अवेः' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में 'अवेद्' के दकार के स्थान पर चर्त्व—तकार होकर 'अवेत्' रूप सिद्ध होगा।

५७४. श्नसोरल्लोपः[1] । ६ । ४ । १११

श्नस्यास्तेश्चातो लोपः सार्वधातुके क्ङिति। स्तः। सन्ति। असि। स्थः। स्थ। अस्मि। स्वः। स्मः।

५७४. श्नसोरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(श्नसोः†) श्न और अस् के (अल्लोपः) अकार का लोप होता है। किन्तु यह लोप किस स्थिति में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत उत्सार्वधातुके' ६.४.११० से 'सार्वधातुके' तथा 'गमहनजनखनघसां-०' ६.४.९८ से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सार्वधातुक कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर 'श्न' और 'अस्' (होना) धातु के अकार का लोप होता है। उदाहरण के लिये अस् धातु से लट्लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' प्रत्यय होकर 'अस् तस्' रूप बनता है। यहां '५००-सार्वधातुकमपित्' से सार्वधातुक 'तस्' के ङित्-वत् होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'अस्' के अकार का लोप होकर 'स्तस्' रूप बनेगा। पुनः रुत्व-विसर्ग करने से 'स्तः' रूप सिद्ध होगा।

---

* यहां '१९०-प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से प्रत्यय के लोप हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य होता है।

† इसका विग्रह इस प्रकार है—'श्न अस् अनयोर्द्वन्द्वात्षष्ठीद्विवचनम्।' यहां 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' से 'श्नसोः' में पररूप एकादेश हो गया है।

५७५. 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः* । ८ । ३ । ८७

उपसर्गेण प्रादुसश्चास्तेः सस्य षो यकारेऽचि च परे । निष्यात् । प्रनिषन्ति । प्रादुःषन्ति । यच्परः किम्—अभिस्तः ।

५७५. उपसर्गेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपसर्गप्रादुर्भ्याम्†) उपसर्ग और प्रादुस् से पर (यच्परः‡) यकार और अच्परक (अस्तिः) 'अस्ति' के । यहां क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इण्कोः' ८.३.५७ से 'इणः' की अनुवृत्ति करनी होगी । यह सूत्रस्थ 'उपसर्ग' का विशेषण होगा । पुनः 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५ के अधिकार में 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से षष्ठ्यन्त में 'सः' की अनुवृत्ति होगी । यह 'सः' 'अस्तिः' का अवयव है । 'अस्ति' स्पष्ट ही 'अस्' धातु के लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है, अतः उससे तद्धातु का ग्रहण हो जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इणन्त उपसर्ग (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र या ल हो) और 'प्रादुस्' (सान्त अव्यय) से परे यदि यकार और अच्परक (जिसके बाद में यकार या कोई स्वर आया हो) 'अस्' धातु हो, तो उसके सकार के स्थान पर षकार आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'नि' उपसर्ग से पर 'अस्' धातु से विधिलिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में तिबादि प्रत्यय होकर 'नि स्यात्' रूप बनता है । यहां 'नि' उपसर्ग इणन्त है और 'स्यात्' में 'अस्' धातु के पर यकार भी है । अतः प्रकृत सूत्र से सकार के स्थान पर षकार होकर 'नि ष् यात्' = 'निष्यात्' रूप सिद्ध होता है । अच्परक 'अस्' धातु का उदाहरण 'प्रनिसन्ति' में मिलता है । यहां 'अस्' धातु से पर अकार—अच् आया है, अतः इणन्त उपसर्ग 'प्रनि' से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से सकार को षकार होकर 'प्रनिषन्ति' रूप सिद्ध होता है ।

५७६. 'अस्तेर्भूः' । २ । ४ । ५२

आर्धधातुके । बभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु, स्तात् । स्ताम् । सन्तु ।

५७६. अस्तेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अस्तेः§) 'अस्' धातु के स्थान पर (भूः) 'भू' आदेश होता है । किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'आर्धधातुके' २.४.३५ की अनुवृत्ति करनी

---

* यहां प्रथमा विभक्ति षष्ठ्यर्थ में प्रयुक्त हुई है ।

† उपसर्गः प्रादुस्, अनयोर्द्वन्द्वः ।

‡ य् अच्, अनयोर्द्वन्द्वः । यचौ परौ यस्मादिति विग्रहः ।

§ यह 'अस्ति' के षष्ठी का रूप है । 'अस्ति' स्वयं ही 'अस्' धातु के लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है । अतः 'अस्तेः' से मूलधातु 'अस्' का ग्रहण होता है ।

होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आर्धधातुक* के विषय में 'अस्' धातु के स्थान पर 'भू' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५–अनेकाल् शित् सर्वस्य' परिभाषा से सम्पूर्ण 'अस्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'अस्' धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' और पुनः 'णल्' होकर 'अस् अ' रूप बनता है। यहां '४००–लिट् च' से लिट्स्थानी 'णल्' के आर्धधातुक होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'अस्' के स्थान पर 'भू' होकर 'भू अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में वुगागम और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'बभूव' रूप सिद्ध होता है।†

५७७. ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च। ६। ४। ११९

घोरस्तेश्च एत्वं स्यात् हौ परे अभ्यासलोपश्च। एत्वस्यासिद्धत्वाद्धेर्धिः। श्नसोरित्यल्लोपः। तातङ्-पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात्। एधि, स्तात्। स्तम्। स्त। असानि। असाव। असाम। आसीत्। आस्ताम्। आसन्। स्यात्। स्याताम्। स्युः। भूयात्। अभूत्। अभविष्यत्। इण गतौ। १८। एति। इतः।

५७७. घ्वसोरिति— यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। इसका पदच्छेद यों है—घु-असोः एत् हौ अभ्यासलोपश्च। शब्दार्थ है—(हौ) 'हि' परे होने पर (घ्वसोः) घुसंज्ञक‡ और अस् धातु के स्थान पर (एत्) एकार होता है (च) और (अभ्यासलोपः) अभ्यास‡ का लोप होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह एकारादेश 'अस्' के अन्त्य वर्ण सकार और घुसंज्ञक 'दा' 'धा' आदि के अन्त्य वर्ण—आकार के स्थान पर होता है। अभ्यास का लोप घुसंज्ञक धातुओं में ही होता है, 'अस्' के साथ असंभव होने से इस का अन्वय नहीं होता। इस प्रकार इस सूत्र के दो विधेय हैं—१. एकार-आदेश और २. अभ्यास का लोप। 'अस्' के विषय में प्रथम विधेय ही चरितार्थ होता है। उदाहरण के लिए 'अस्' धातु से लोट् लकार में मध्यमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'सिप्' और उसके स्थान पर 'हि' होकर 'अस् हि' रूप बनता है। यहां झल् से परे होने के कारण '५५६–हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'हि' के स्थान पर 'धि' प्राप्त होता है, किन्तु 'हि' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका बाध होकर 'अस्' के सकार के स्थान पर एकार हो जाता है और रूप बनता है—'अ एहि'। इस स्थिति में '५६२–असिद्धवदत्राभात्' परिभाषा से एकार-आदेश के असिद्ध होने के कारण धातु को झलन्त

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'बभूव' की रूप-सिद्धि देखिये।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

मानकर पुनः '५५६–हुझल्भ्यो–०' से 'हि' को 'धि' और '५७४–श्नसोरल्लोपः' से अकार का लोप होकर 'एधि' रूप सिद्ध होता है। तातङ्पक्ष में एकारादेश न होने के कारण केवल अकार-लोप होकर 'स्तात्' रूप सिद्ध होता है।

५७८. इणो[६] यण्[१] । ६ । ४ । ८१

अजादौ प्रत्यये परे । यन्ति ।

५७८. इण इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इणः) इण् धातु के स्थान में (यण्) यण् आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस परिस्थिति में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचि श्नुधातुभ्रुवां–०' ६.४.७७ से 'अचि' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'अचि' अङ्गाधिकाराक्षिप्त 'प्रत्यये' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। यण् प्रत्याहार य, व, र और ल का बोधक है। '१५–इको यणचि' सूत्र से यणादेश इक्–इ, उ, ऋ और ऌ के ही स्थान पर होता है। यहां 'इण्' धातु में इकार है, अतः '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से उसके स्थान पर यकार आदेश होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि प्रत्यय (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) परे होने पर 'इण्' (जाना) धातु के इकार के स्थान पर यकार आदेश होता है। यह सूत्र '१९९–अचि श्नुधातुभ्रुवां–०' से प्राप्त इयङादेश का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'इण्' धातु से लट् लकार में प्रथमपुरुष-बहुवचन की विवक्षा में 'झि', और पुनः झकार के स्थान पर 'अन्त्'–आदेश तथा शप्-लुक् होकर 'इ अन्ति' रूप बनता है। इस स्थिति में अजादि प्रत्यय 'अन्ति' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'इण्' (इ) के इकार के स्थान पर यकार होकर 'य् अन्ति' = 'यन्ति' रूप सिद्ध होता है।

५७९. [६]अभ्यासस्याऽसवर्णे[७] । ६ । ४ । ७८

इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि । इयाय ।

५७९. अभ्यासस्येति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(असवर्णे) असवर्ण परे होने पर (अभ्यासस्य) अभ्यास के। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१९९–अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' ६.४.७७ से 'अचि' और 'य्वोरियङुवङौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'य्वोरियङुवङौ' का पदच्छेद है–य्वोः इयङ्उवङौ। 'य्वोः' इकार और उकार के षष्ठी-द्विवचन का रूप है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—असवर्ण अच् (स्वर-वर्ण) परे होने पर अभ्यास* के इकार और उकार के स्थान पर क्रमशः† 'इयङ्' और 'उवङ्' आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'इण्' धातु

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' से यथाक्रम आदेश-विधान प्राप्त होता है।

से लिट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' और पुनः उसके स्थान पर 'णल्' आदि होकर 'इ आय् अ' रूप बनता है।* इस स्थिति में असवर्ण अच्-आकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से अभ्यास के इकार को 'इयङ्' होकर 'इय् आय् अ'='इयाय' रूप सिद्ध होता है।

५८०. दीर्घ इणः किति । ७ । ४ । ६९

इणोऽभ्यासस्य दीर्घः स्यात् किति लिटि । ईयतुः । ईयुः । इययिथ, इयेथ । एष्यति । एतु । ऐत् । ऐताम् । आयन् । इयात् । ईयात् ।

५८०. दीर्घ इति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(किति) कित् परे होने पर (इणः) इण् धातु का (दीर्घः) दीर्घ होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' तथा 'व्यथो लिटि' ७.४.६८ से 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'किति' 'लिटि' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि कित् लिट् परे हो तो इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'इण्' धातु से लिट् लकार में प्रथमपुरुष-द्विवचन की विवक्षा में 'तस्' और पुनः उसके स्थान पर 'अतुस्' आदि होकर 'इ य् अतुस्' रूप बनता है। इस स्थिति में कित् लिट् 'अतुस्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से इण् धातु के अभ्यास-इकार के स्थान पर दीर्घ ईकार होकर 'ई य् अतुस्' बनेगा। यहां रुत्व-विसर्ग होकर 'ईयतुः' रूप सिद्ध होता है।†

५८१. एतेर्लिङि । ७ । ४ । २४

उपसर्गात् परस्य इणोऽणो ह्रस्व आर्धधातुके किति लिङि । निरियात् । उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् । अभीयात् । अणः किम्—समेयात् ।

५८१. एतेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिङि) लिङ् परे होने पर (एतेः‡) इण् धातु के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'केऽणः' ७.४.१३ से 'अणः', 'अयङ् यि क्ङिति ७.४.२२ से 'यि' और 'क्ङिति', तथा 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' ७.४.२३ से 'उपसर्गाद्' और 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि यकारादि

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'इयाय' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'ईयतुः' की रूपसिद्धि देखिये।

‡ यह 'एति' के षष्ठी के एकवचन का रूप है। 'एति' भी लट् लकार के प्रथम-पुरुष-एकवचन में 'इण्' धातु का रूप है। अतः इससे मूलधातु का ग्रहण हो जाता है।

कित् और ङित् लिङ् परे हो तो उपसर्ग के बाद इण् धातु के अण् (अ, इ, उ) का ह्रस्व हो जाता है। उदाहरण के लिए 'निर्' उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से आशीर्लिङ् में प्रथमपुरुष एकवचन की विवक्षा में 'तिप्', इकार-लोप, यासुटागम और दीर्घ होकर 'निर् ईयात्' रूप बनता है। यहां 'यात्' यकारादि कित् है, अतः उसके परे होने के कारण 'निर्' उपसर्ग के बाद 'इण्' धातु के 'अण्'—ईकार को ह्रस्व-इकार होकर 'निर् इ यात्' = 'निरियात्' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अण्' का ही ह्रस्व होता है। उदाहरणार्थ 'सम् + एयात्' में 'एयात्' में परादिवद्भाव से 'इण्' धातु तो है, परन्तु 'यात्' के पूर्व एकार है, 'अण्' नहीं। अतः यहाँ ह्रस्व न होकर 'समेयात्' रूप सिद्ध होता है।

५८२. इणो[३] गा[१] लुङि[७] । २ । ४ । ४५

'गातिस्था—०' इति सिचो लुक्। अगात्। ऐष्यत्। शीङ् स्वप्ने। १९।

५८२. इणो गेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। अर्थ है—(लुङि) लुङ् के विषय में (इणः) इण् धातु के स्थान पर (गा) 'गा' आदेश होता है। '४५—अनेकाल् शित् सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'इण्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लुङ् की विवक्षा में 'इण्' धातु के स्थान पर सबसे पहले 'गा' होकर 'गा लुङ्' रूप बनता है। इस अवस्था में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्', इकार-लोप और 'अट्' आदि होकर 'अगात्' रूप सिद्ध होता है।*

५८३. शीङः[६] सार्वधातुके[७] गुणः[१] । ७ । ४ । २१

'क्ङिति च' इत्यस्याऽपवादः। शेते, शयाते।

५८३. शीङ इति—यह सूत्र भी स्वतः पूर्ण है। अर्थ है—(सार्वधातुके) सार्वधातुक† प्रत्यय परे होने पर (शीङः) शीङ् धातु के स्थान में (गुणः) गुण† आदेश होता है। '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के अनुसार 'शीङ्' के ईकार के स्थान पर गुण—एकार ही होगा। उदाहरण के लिए 'शीङ्' (शी) धातु से लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'त' प्रत्यय और शप्-लुक् होकर 'शी त' रूप बनता है। यहाँ अपित्सार्वधातुक 'त' परे होने के कारण '४३३—क्ङिति च' से गुण-निषेध प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो जाता है और 'शी' के ईकार के स्थान पर एकार होकर 'श् ए त'='शे त' रूप बनता है। इस स्थिति में 'टि'—तकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार होकर 'शे त् ए'='शेते' रूप सिद्ध होता है।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अगात्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

५८४. शीङो रुट् । ७ । १ । ६

शीङः परस्य झादेशस्यातो रुडागमः स्यात् । शेरते । शेषे । शयाथे । शेध्वे । शये । शेवहे । शेमहे । शिश्ये । शिश्याते । शिश्यिरे । शयिता । शयिष्यते । शेताम् । शयाताम् । शेरताम् । अशेत । अशयाताम् । अशेरत । शयीत । शयीयाताम् । शयीरन् । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अशयिष्यत् । इङ् अध्ययने । २० । इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । अधीते । अधीयाते । अधीयते ।

५८४. शीङ इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है (शीङः) शीङ् धातु से परे (रुट्) 'रुट्' आगम होता है। किन्तु यह 'रुट' किसका अवयव होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झोऽन्तः' ७.१.३ से 'झः' और 'अदभ्यस्तात्' ७.१.४ से 'अत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अत्' षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'शीङ्' धातु के बाद जो 'झ्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है, उसको 'रुट्' हो जाता है। 'रुट्' में टकार इत्संज्ञक है, और उकार उच्चारणार्थ। अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'अत्' का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'शीङ्' धातु से लट् लकार में प्रथम-पुरुष बहुवचन की विवक्षा में 'झि' प्रत्यय, शप्-लुक् और गुण आदि होकर 'शे अते' रूप बनता है। इस अवस्था में 'अते' के आदि में रकार होकर 'शे रअते' = 'शेरते' रूप सिद्ध होता है।*

५८५. गाङ् लिटि । २ । ४ । ४९

इङो गाङ् स्याल्लिटि । अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे । अध्येता । अध्येष्यते । अधीताम् , अधीयाताम् , अधीयताम् । अधीष्व, अधीयाथाम् , अधीध्वम् । अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै । अध्यैत, अध्यैयाताम् , अध्यैयत । अध्यैथाः, अध्यैयाथाम् , अध्यैध्वम् । अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि । अधीयीत । अधीयीयाताम् । अधीयीरन् । अध्येषीष्ट ।

५८५. गाङिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिटि) लिट् परे होने पर (गाङ्) 'गाङ्' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इङश्च' २.४.४८ से 'इङः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इङ् (पढ़ना) धातु के स्थान में लिट् परे होने पर 'गाङ्' आदेश होता है। 'इङ्' और 'गाङ्'–दोनों में

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'शेरते' की रूप-सिद्धि देखिये।

ही ङकार इत्संज्ञक है, अतः 'इ' के स्थान पर 'गा' ही आदेश होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार की विवक्षा में 'अधि' उपसर्गपूर्वक 'इङ्' (इ) धातु से लिट् (ल्) प्रत्यय होकर 'अधि इ ल्' रूप बनता है। इस स्थिति में लिट् परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'इ' (इङ्) के स्थान पर 'गा' होकर 'अधि गा ल्' रूप बनेगा। यहां प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद 'त' प्रत्यय, एश् और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'अधिजगे' रूप सिद्ध होता है।*

५८६. विभाषा लुङ्लृङोः । २ । ४ । ५०

इङो गाङ् वा स्यात्।

५८६. विभाषेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(लुङ्लृङोः) लुङ् और लृङ् लकार के परे होने पर (विभाषा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इङश्च' २.४.४८ से 'इङः' और 'गाङ् लिटि' २.४.४९ से 'गाङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुङ् और लृङ् लकार परे होने पर 'इङ्' (इ) धातु के स्थान पर विकल्प से 'गाङ्' (गा) आदेश होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार में प्रकृत सूत्र से 'अधि' पूर्वक 'इङ्' के स्थान में 'गाङ्' आदेश विकल्प से होने के कारण प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'अध्यगीष्ट' और 'अध्यैष्ट' (अभाव-पक्ष में)—दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार लृङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में गाङादेश-पक्ष में 'अध्यगीष्यत' और अभाव-पक्ष में 'अध्यैष्यत'—ये दो रूप बनते हैं।†

५८७. गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् । १ । २ । १

गाङादेशात् कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णितः प्रत्यया ङितः स्युः।

५८७. गाङिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(गाङ्कुटादिभ्यः) गाङ्-आदेश‡ और 'कुट्' आदि से पर (अञ्णित्) ञित् और णित् से भिन्न प्रत्यय (ङित्) 'ङित्' होते हैं। 'कुट्' धातु है और तुदादिगण में आती है। 'कुट्' आदि में 'कुट कौटिल्ये' से लेकर इस गण में पठित 'कुङ् शब्दे' तक सभी धातुओं का ग्रहण होता है। 'ङित्' कहने का तात्पर्य है—'ङित्' के समान। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'गाङ्' आदेश और 'कुट्' आदि धातुओं के बाद यदि ञित् और णित् को छोड़कर अन्य

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अधिजगे' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए इन शब्दों की रूप-सिद्धि देखनी चाहिये।

‡ देखिये काशिका—'गाङिति इङादेशो गृह्यते, न 'गाङ् गतौ' इति। ङकार स्यानन्यार्थत्वात्।'

प्रत्यय आते हैं, तो वे 'ङित्' के समान होते हैं। 'ङित्' के समान होने से 'ङित्' प्रत्यय होने पर जो कार्य होते हैं वे ही कार्य यहां भी होंगे। उदाहरण के लिए लुङ् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'अधि'पूर्वक 'इङ्' धातु के स्थान पर विकल्प से* 'गाङ्', 'त' प्रत्यय, अट् और च्लि-सिच् होकर 'अधि-अ गा स् त' रूप बनता है। इस दशा में 'गाङ्' आदेश से परे जित् और णित्-भिन्न 'सिच्' (स्) प्रत्यय है, अतः प्रकृत सूत्र से वह 'ङित्' हो जाता है। 'ङित्' होने का फल अग्रिम सूत्र से प्राप्त होता है—

५८८. घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां[६] हलि[७] । ६ । ४ । ६६

एषामात ईत् स्याद्धलादौ क्ङित्यार्धधातुके। अध्यगीष्ट। अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत। दुह प्रपूरणे। २१। दोग्धि। दुग्धः। दुहन्ति। धोक्षि। दुग्धे। दुहाते। दुहते। धुक्षे। दुहाथे। धुग्ध्वे। दुहे। दुह्वहे, दुह्महे। दुदोह। दुदुहे। दोग्धा। धोक्ष्यति। धोक्ष्यते। दोग्धु, दुग्धात्, दुग्धाम्, दुहन्तु। दुग्धि-दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध। दोहानि। दोहाव। दोहाम। दुग्धाम्। दुहाताम्। दुहताम्। धुक्ष्व। दुहाथाम्। धुग्ध्वम्। दोहै। दोहावहै। दोहामहै। अधोक्। अदुग्धाम्। अदुहन्। अदोहम्। अदुग्ध। अदुहाताम्। अदुहत। अधुग्ध्वम्। दुह्यात्। दुहीत।

५८८. घुमास्थेति— यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(हलि) हल् परे होने पर (घु—जहाति, सां) घु, मा, स्था, गा, पा, हा और सा के। किन्तु होना क्या चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आतो लोप इटि च' ६.४.६४ से 'आतः', 'ईद्यति' ६.४.६५ से 'ईत्' और 'दीङो युडचि क्ङिति' ६.४.६३ से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। साथ में 'आर्धधातुके' ६.४.४६ का अधिकार भी प्राप्त है। यह 'क्ङिति' का विशेष्य बन जाता है। सूत्रस्थ 'घु' एक पारिभाषिक शब्द है। यह 'दा' और 'धा' रूपवाली छः धातुओं का बोधक है‡। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलादि (जिसके आदि में कोई व्यञ्जन हो) कित् और ङित् आर्धधातुक परे होने पर घुसंज्ञक ('दा' और 'धा' रूपवाली), मा (नापना), स्था (ठहरना), गा (पढ़ना), पा (पीना), हा (त्यागना) और सा (नाश करना)—इन धातुओं के आकार के स्थान पर ईकार हो जाता है।

---

* देखिये पूर्वसूत्र (५८६) की व्याख्या।

† 'जहाति' 'हा' धातु के लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः इससे मूलधातु का ग्रहण हो जाता है।

‡ विशेष विवरण के लिए 'दाधाघ्वदाप्' १.१.२० की व्याख्या देखिये।

उदाहरण के लिए 'अधि अगा स् त' में हलादि ङित् आर्धधातुक 'स्' परे होने के कारण 'गा' के आकार को ईकार होकर 'अधि अगी स् त' रूप बनता है। इस अवस्था में षत्व और ष्टुत्व आदि होकर 'अध्यगीष्ट' रूप सिद्ध होगा।

५८९. लिङ्सिचावात्मनेपदेषु । १ । २ । ११

इक्समीपाद्धलः परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि । धुक्षीष्ट ।

५८९. लिङिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद परे होने पर (लिङ्सिचौ) लिङ् और सिच् । किन्तु क्या होते हैं—यह जानने के लिए सम्पूर्ण 'इको झल्' १.२.९, 'हलन्ताच्च' १.२.१० और 'असंयोगाल्लिट् कित्' १.२.५ से 'कित्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'इकः' में सामीप्य-षष्ठी है और उसका अन्वय 'हल्' से होता है। सूत्रस्थ 'आत्मनेपदेषु' का पर-सप्तमी और विषय-सप्तमी—इन दोनों ही अर्थों में ग्रहण होता है। पर-सप्तमी अर्थ में इसका अन्वय केवल सूत्रस्थ 'सिच्' से ही होता है, क्योंकि लिङ् के पश्चात् आत्मनेपद का होना असम्भव है।* सूत्रस्थ 'लिङ्' के साथ इसका अन्वय विषय-सप्तमी अर्थ में ही हो सकता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) के समीपवर्ती हल् (व्यञ्जन) से पर आत्मनेपद†-विषयक झलादि लिङ् (जिसके आदि में 'झल्' प्रत्याहार का कोई वर्ण हो) और आत्मनेपद-परक 'सिच्' (जिसके पश्चात् कोई आत्मनेपद† प्रत्यय आया हो) कित् होते हैं। कित् हो जाने से इनके परे रहते '४३३-क्ङिति च' से यथाप्राप्त गुण-वृद्धि का निषेध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'दुह्' धातु से आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में लिङ्, उसके स्थान पर आत्मनेपद 'त' तथा 'यासुट्' आगम हो 'दुह् यास् त' रूप बनता है। यहाँ इक्—उकार के पश्चात् हल्—हकार है। अतः हकार से पर झलादि लिङ्-'यास् त' कित् हो जाता है और गुण-निषेध आदि हो 'धुक्षीष्ट'‡ रूप सिद्ध होता है।

५९०. शल इगुपधादनिटः क्सः । ३ । १ । ४५

इगुपधो यः शलन्तस्तस्मादनिटश्च्लेः क्सादेशः स्यात् । अधुक्षत् ।

५९०. शल इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(इगुपधादनिटः) इगुपध अनिट् (शलः) शल् के बाद (क्सः) 'क्स' होता है। किन्तु यह 'क्स'

---

* 'आत्मनेपदपरत्वं सिच एव विशेषणं न तु लिङ्स्थानिकस्यात्मनेपदस्य, लिङः परत्वासम्भवात्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

‡ विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'धुक्षीष्ट' की रूप-सिद्धि देखिये।

किस अवस्था में होता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसका पता लगाने के लिए 'धातोरेकाचो हलादेः-०' ३.१.२२ से 'धातोः' तथा 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'शलः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः तदन्तविधि हो जाती है। शल् प्रत्याहार में श, ष, स, ह का समावेश होता है। अनिट् का अर्थ है—जिससे इट् (इकार) न हो। तात्पर्य यह कि धातु और प्रत्यय के बीच में जब 'इ' नहीं आती है, तब वह अनिट् होती है। अतः सूत्र का तात्पर्य होगा—इगुपध (जिसकी उपधा में इ, उ, ऋ, ऌ में से कोई हो), अनिट् और शलन्त (जिसके अन्त में श, ष, स और ह में से कोई हो) धातु के बाद 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी ('च्लि') के स्थान पर होगा। 'क्स' अदन्त है, और इसका ककार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'स' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'दुह्' धातु से 'तिप्' प्रत्यय होकर 'दुह् ति' रूप बनता है। यहां 'च्लि लुङि' ३.१.४३ से 'च्लि' होकर रूप बनता है—'दुह् च्लि ति'। इस स्थिति में 'दुह्' धातु की उपधा-उकार इक् है और अन्त में शल् हकार है। अनिट् तो यह है ही। अतः प्रकृत सूत्र से 'च्लि' के स्थान पर 'क्स' हो जाता है और रूप बनता है—'दुह् स ति'। यहां पुनः घत्व, भष्भाव, कत्व, षत्व, क्षत्व और अडागम आदि होकर 'अधुक्षत्' रूप सिद्ध होता है।*

५९१. लुग्वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये। ७।३।७३

एषां क्सस्य लुग्वा स्याद्दन्त्ये तङि। अदुग्ध, अधुक्षत।

५९१. लुग्वेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दन्त्ये) दन्त्य (आत्मनेपद) आत्मनेपद के परे होने पर (दुह—गुहाम्) दुह्, दिह्, लिह् और गुह् के (वा) विकल्प से (लुक्) लोप होता है। किन्तु यह लोप किसका होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'क्सस्याचि' ७.३.७२ से 'क्सस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। दन्त्य आत्मनेपद केवल तीन हैं—त, थास् और ध्वम्। 'वहि' में भी उस पक्ष में लोप होता है जिसमें 'व' का दन्त्य स्थान भी माना जाता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—त, थास् और ध्वम् (कभी-कभी 'वहि' भी) परे होने पर दुह् (दोहना), दिह् (बढ़ना, लीपना), लिह् (चाटना) और गुह् (छिपना) के 'क्स' का विकल्प से लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'दुह्' धातु से आत्मनेपद

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अधुक्षत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

'त' प्रत्यय, 'च्लि' और पुनः उसके स्थान पर 'क्स' होकर 'दुह् स त' रूप बनता है। यहां आत्मनेपद 'त' प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'क्स' (स) का विकल्प से लोप होकर 'दुह् त' रूप बनेगा। इस स्थिति में घत्व, गत्व और धत्व आदि होकर 'अदुग्ध' रूप सिद्ध होता है। अभाव पक्ष में 'अधुक्षत' रूप बनता है।

५९२. क्सस्याचि । ७ । ३ । ७२

अजादौ तङि क्सस्य लोपः। 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यकारलोपः। अधुक्षाताम्। अधुक्षन्त। अदुग्धाः–अधुक्षथाः। अधुक्षाथाम्। अधुग्ध्वम्। अधुक्षध्वम्। अधुक्षि। अदुह्वहि, अधुक्षावहि। अधुक्षामहि। अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यत। एवं दिह् उपचये। २२। लिह् आस्वादने। २३। लेढि। लीढः। लिहन्ति। लेक्षि। लीढे। लिहाते। लिहते। लिक्षे। लिहाथे। लीढ्वे। लिलेह। लिलिहे। लेढासि। लेढासे। लेक्ष्यति। लेक्ष्यते। लेढु। लीढाम्। लिहन्तु। लीढि। लेहानि। लीढाम्। अलेट्, अलेड्। अलीढ। अलिक्षत्, अलिक्षत, अलीढ। अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यत। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। २४।

५९२. क्सस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) स्वर-वर्ण परे होने पर (क्सस्य) 'क्स' का। किन्तु क्या होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'घोर्लोपो लेटि वा' ७.३.७० से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अचि' अङ्गाक्षिप्त प्रत्यय का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि प्रत्यय* (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) परे होने पर 'क्स' का लोप हो जाता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह लोप 'क्स' के सकारोत्तरवर्ती अकार का ही होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में 'दुह्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'आताम्', 'च्लि' और पुनः उसके स्थान पर 'क्स' (स) होकर 'दुह् स आताम्' रूप बनता है। यहां '५०९–आतो ङितः' से 'आताम्' के आकार के स्थान पर 'इय्' प्राप्त होता है, किन्तु अजादि प्रत्यय 'आताम्' परे होने के कारण 'स' (क्स) के अकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'दुह् स् आताम्'। इस स्थिति में घत्व, षत्व और अडागम आदि होकर 'अधुक्षाताम्' रूप सिद्ध होता है।

५९३. ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः । ३ । ४ । ८४

ब्रुवो लटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युर्ब्रुवश्चाहादेशः। आह। आहतुः। आहुः।

---

* 'अजादि प्रत्यय' से कुछ लोग अजादि आत्मनेपद प्रत्ययों का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार अजादि परस्मैपद परे होने पर तो पररूप से ही इष्टसिद्धि हो जाती है। देखिये सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या (पाद-टिप्पणी)।

५९३. ब्रुव इति—शब्दार्थ है—(ब्रुवः), 'ब्रू' धातु से पर (आदितः + पञ्चानाम्) आदि के पांच के स्थान में···। (ब्रुवः) 'ब्रू' धातु के स्थान पर (आहः) 'आह्' आदेश होता है। यहां सूत्र का पूर्वार्ध अस्पष्ट है। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण सूत्र 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' ३.४.८२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'विदो लटो वा' ३.४.८३ से 'लटो' और 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ब्रू' (बोलना) धातु के बाद लट् के स्थान पर आने वाले आदि के पांच परस्मैपदों (तिप्, तस्, झि, सिप् और थस्) के स्थान पर विकल्प से णलादि आदेश होते हैं और 'ब्रू' धातु के स्थान पर 'आह्' आदेश होता है। तात्पर्य यह कि 'ब्रू' धातु के बाद तिप्, तस्, झि, सिप् और थस् के स्थान पर विकल्प से क्रमशः णल्, अतुस्, उस्, थल् और अथुस् आदेश होते हैं। णलादेश होने पर 'ब्रू' के स्थान पर 'आह्' हो जाता है। इस प्रकार णलादेश तो विकल्प से, किन्तु णलादेश होने पर 'आह्'–आदेश नित्य होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से ये आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'ब्रू' धातु से 'तिप्' (ति) प्रत्यय और शप्-लुक् होकर 'ब्रू ति' रूप बनता है। यहां लिट्स्थानी 'तिप्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से विकल्प से 'तिप्' के स्थान पर 'णल्' (अ), और 'ब्रू' के स्थान पर 'आह्' होकर 'आह् अ' = 'आह' रूप सिद्ध होता है। णलाभाव-पक्ष में 'ब्रवीति' बनता है।

५९४. आहस्थः[1] । ८ । २ । ३५

झलि परे। चर्त्वम्। आत्थ। आहथुः।

५९४. आहस्थेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आहः) 'आह्' के स्थान पर (थः) थकार आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झलो झलि' ८.२.२६ से 'झलि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् (सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह) परे होने पर 'आह्' के स्थान पर थकार आदेश हो जाता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'आह्' के अन्त्य हकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'ब्रू' धातु से सिप्, शप्-लुक् और सिप् के स्थान पर विकल्प से 'थल्' तथा 'ब्रू' के स्थान पर 'आह्' होकर 'आह् थ' रूप बनता है। इस स्थिति में झल्–थकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'आह्' के हकार के स्थान पर थकार होकर 'आथ् थल्' रूप बनेगा। पुनः चर्त्व और लकार-लोप

होने पर 'आत्थ' रूप सिद्ध होता है। णलाभाव-पक्ष में 'ब्रवीषि' रूप बनता है।

५९५. ब्रुव ईट् । ७ । ३ । ९३

ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात्। ब्रवीति। ब्रूतः। ब्रुवन्ति। ब्रूते। ब्रवाते। ब्रुवते।

५९५. ब्रुव इति—शब्दार्थ है—(ब्रुवः) 'ब्रू' धातु के पश्चात् (ईट्) 'ईट्' होता है। किन्तु यह ईट्-आगम किसको होता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' ७.३.८७ से 'पिति' और 'सार्वधातुके' तथा 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' ७.३.८९ से 'हलि' की अनुवृत्ति करनी होगी। ये सभी षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाते हैं। 'पिति' और 'हलि' 'सार्वधातुके' के विशेषण हैं। विशेषण होने से 'हलि' में तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ब्रू' धातु के पश्चात् हलादि पित् सार्वधातुक (तिप्, सिप् और मिप्) को 'ईट्' आगम होता है। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से टित् होने के कारण यह प्रत्यय का आद्यवयव होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'ब्रू' धातु से 'तिप्' और शप्-लुक् होकर 'ब्रू ति' (तिप्) रूप बनता है। यहाँ आहादेशाभाव-पक्ष में प्रकृत सूत्र से हलादि पित् सार्वधातुक–'तिप्' को 'ईट्' (ई) आगम होकर 'ब्रू ई ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में गुणादेश और उवङ्–आदि होकर 'ब्रवीति' रूप सिद्ध होता है।

५९६. ब्रुवो वचिः । २ । ४ । ५३

आर्धधातुके। उवाच। ऊचतुः। ऊचुः। उवचिथ, उवक्थ। ऊचे। वक्ता। वक्ष्यति। वक्ष्यते। ब्रवीतु, ब्रूतात्। ब्रुवन्तु। ब्रूहि। ब्रवाणि। ब्रूताम्। ब्रवै। अब्रवीत्, अब्रूत। ब्रूयात्, ब्रुवीत। उच्यात्, वक्षीष्ट।

५९६. ब्रुव इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ब्रुवः) 'ब्रू' धातु के स्थान पर (वचिः) 'वचि' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुके' २.४.३५ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि आर्धधातुक* परे हो तो 'ब्रू' के स्थान पर 'वचि' आदेश होता है। 'वचि' का इकार उच्चारणार्थक है, अतः केवल 'वच्' ही शेष रह जाता है।† अनेकाल् होने के कारण यह आदेश '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से सम्पूर्ण 'ब्रू' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'ब्रू' धातु से 'तिप्' (ति) होकर

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† 'इकार उच्चारणार्थः'—काशिका।

'ब्रू ति' रूप बनता है। यहाँ '४०० लिट् च' से 'तिप्' (ति) की आर्धधातुक संज्ञा हो जाती है। अतः उसके परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्' आदेश होकर 'वच् ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में णलादेश, अभ्यासकार्य और सम्प्रसारण आदि होकर 'उवाच' रूप सिद्ध होता है।*

५९७. अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ्[1] । ३ । १ । ५२

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्।

५९७. अस्यतीति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(अस्यति-ख्यातिभ्यः)† अस्, वच् और ख्या के बाद (अङ्) 'अङ्' आदेश होता है। पर यह आदेश किसके स्थान पर होता है और किस अवस्था में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'च्लि लुङि' ३.१.४३ से 'लुङि', 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः' और 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ्' ३.१.४८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्त्तरि' का अन्वय 'लुङि' से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृवाची लुङ् के परे होने पर अस् (फेंकना), वच् (बोलना) और ख्या (कहना) धातुओं के बाद 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'ब्रू' धातु से तिप्, च्लि और 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्'-आदेश होकर 'वच् च्लि ति' रूप बनता है। यहां कर्तृवाची लुङ्स्थानी 'ति' (तिप्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' (अ) आदेश हो जाता है और रूप बनता है—'वच् अ ति'। इस अवस्था में 'तिप्' (ति) के इकार का लोप होकर 'वच् अ त्' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

५९८. वच[6] उम्[1] । ७ । ४ । २०

अङि परे। अवोचत्, अवोचत। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

(ग० सू०) चर्करीतं च।

चर्करीतमिति यङ्लुगन्तं, तददादौ बोध्यम्। ऊर्णुञ् आच्छादने। २५।

५९८. वच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वचः) 'वच्' का अवयव (उम्) 'उम्' होता है। किन्तु यह आगम किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'उवाच' की रूप-सिद्धि देखिये।

† ये क्रमशः अस् (दिवादि०), वच् (अदादि०) और ख्या (अदादि०) धातुओं के लट्लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन के रूप हैं। अतः इनसे तत्तत् धातुओं का ग्रहण होगा।

नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'ऋदृशोऽङि गुणः' ७.४.१६ से 'अङि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अङ्' परे होने पर 'वच्' धातु का अवयव 'उम्' (उ) होता है। 'उम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह 'वच्' के अन्त्य अच्–वकारोत्तरवर्ती अकार के आगे आता है। उदाहरण के लिए 'वच् अत्' में 'वच्' के बाद 'अङ्' (अ) आया है, अतः प्रकृत सूत्र से 'वच्' को 'उम्' (उ) आगम होकर 'व उ च् अ त्' रूप बनता है। इस अवस्था में गुणादेश और अट् करने पर 'अवोचत्' रूप सिद्ध होता है।

(ग० सू०) चर्करीतमिति—'चर्करीत'* (यङ्-लुगन्त) को भी इसी अदादिगण में समझना चाहिये। तात्पर्य यह कि यङ्-लुगन्त में भी अदादिगण की भाँति 'शप्' का लुक् हो जाता है, जैसे—'बोभोति' में।

५९९. †ऊर्णोतेर्विभाषा। ७। ३। ९०

वा वृद्धिः स्याद्धलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णौति, ऊर्णोति। ऊर्णुतः। ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुते। ऊर्णुवाते। ऊर्णुवते।

(वा०) ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्।

५९९. ऊर्णोतेरिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ऊर्णोतेः) 'ऊर्णु' के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से। किन्तु क्या और किस अवस्था में होना चाहिये—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' ७.३.८७ से 'पिति' और 'सार्वधातुके' तथा 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' ७.३.८९ से 'हलि' और 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हलि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः इसमें तदादिविधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलादि पित् सार्वधातुक (तिप्, सिप्, मिप्) परे होने पर 'ऊर्णु' (ढंकना) धातु के स्थान पर वृद्धि-आदेश होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'ऊर्णु' के अन्त्य अल्–उकार के स्थान पर ही होता है। ध्यान रहे कि यह आदेश नित्य न होकर विकल्प से होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'ऊर्णु' धातु से 'तिप्' और शप्-लुक् होकर 'ऊर्णु ति' रूप बनता है। यहां हलादि पित् सार्वधातुक–'तिप्' (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'ऊर्णु' के णकारोत्तरवर्ती

---

* 'यङ्-लुगन्त' को ही प्राचीन आचार्यों ने 'चर्करीत' की संज्ञा दी है, क्योंकि 'चर्करीत' रूप वस्तुतः यङ्-लुगन्त में ही बनता है।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

उकार के स्थान पर वृद्धि–औकार होकर 'ऊर्ण् औ ति' = 'ऊर्णौति' रूप सिद्ध होता है। अभाव पक्ष में 'ऊर्णोति' रूप बनता है।

(वा०) ऊर्णोतेरिति—'ऊर्णु' धातु से 'आम्' प्रत्यय नहीं होता है—यह वार्तिक का कथन है। इसका अभिप्राय '५११–इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से प्राप्त 'आम्' का निषेध करना है।

६००. न न्द्राः[२] संयोगादयः[१] । ६ । १ । ३

अचः पराः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति। 'नु' शब्दस्य द्वित्वम्। ऊर्णुनाव। ऊर्णुनुवतुः। ऊर्णुनुवुः।

६००. न न्द्रा इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संयोगादयः) संयोगादि (न्-द्-राः) नकार, दकार और रकार (न) न हों। किन्तु क्या न हों—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ से 'एकाचो' और 'द्वे' तथा 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६.१.२ से 'द्वितीयस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वितीय एक अच् (स्वर) वाले समुदाय के संयोगादि (संयोग* के आदि में आने वाले) नकार, दकार और रकार का द्वित्व (द्वे) नहीं होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथम-पुरुष एकवचन में 'ऊर्णु' धातु से 'तिप्', 'णल्' और 'आम्'–निषेध होकर 'ऊर्णु अ' रूप बनता है। यहां 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६.१.२ से रकार को द्वित्व प्राप्त होता है। किन्तु यह रकार द्वितीय एक अच् वाले समुदाय—'र्णु' के आदि में आया है, अतः प्रकृत सूत्र से यहाँ द्वित्व का निषेध हो जाता है। तब 'नु' को द्वित्व, वृद्धि और आवादेश होकर 'ऊर्णुनाव' रूप सिद्ध होता है।

६०१. विभाषोर्णोः[२] । १ । २ । ३

इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात्। ऊर्णुविथ–ऊर्णुनविथ। ऊर्णुविता, ऊर्णविता। ऊर्णुविष्यति, ऊर्णविष्यति। ऊर्णोतु, ऊर्णौतु। ऊर्णवानि, ऊर्णवै।

६०१. विभाषेति—शब्दार्थ है—(ऊर्णोः) 'ऊर्णु' से परे (विभाषा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' ६.२.१ से 'ङित्' और 'विज इट्' १.२.२ से 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ऊर्णु' धातु के बाद इडादि प्रत्यय (जिसके आदि में 'इट्' हो) विकल्प से 'ङित्' होते हैं। ङित् होने से '४३३–क्ङिति' सूत्र से गुण और वृद्धि का निषेध हो जाता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'ऊर्णु' धातु से सिप्, पुनः उसके स्थान पर थल्, इडागम और द्वित्व होकर 'उर्णुनु इ थ' रूप बनता है। यहां '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से नकारोत्तरवर्ती उकार को गुण–

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

ओकार प्राप्त होता है, किन्तु इडादिप्रत्यय 'इथ' (थल्) के परे होने पर 'ङित्' हो जाने से उसका निषेध हो जाता है। इस अवस्था में 'उवङ्' होकर 'ऊर्णुनुविथ' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में 'ऊर्णुनविथ' रूप बनता है।

६०२. गुणोऽपृक्ते । ७ । ३ । ९१

ऊर्णोतेर्गुणोऽपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके। वृद्ध्यपवादः, और्णोत्। और्णोः। ऊर्णुयात्। ऊर्णुयाः। ऊर्णुवीत। ऊर्णुयात्। ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णविषीष्ट।

६०२. गुण इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अपृक्ते) अपृक्त परे होने पर (गुणः) गुण होता है। किन्तु यह गुण किसके स्थान पर होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' ७.३.८७ से 'पिति' और 'सार्वधातुके', 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' ७.३.८९ से 'हलि' तथा 'ऊर्णोते-र्विभाषा' ७.३.९० से 'ऊर्णोतेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हलि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अपृक्त* हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर 'ऊर्णु' धातु के स्थान पर गुण—ओकार आदेश होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह ओकारादेश 'ऊर्णु' के अन्त्य अल्—उकार के ही स्थान पर होता है।

पित् सार्वधातुक तीन हैं—तिप्, सिप् और मिप्। लङ् लकार में 'मिप्' को 'अम्' आदेश हो जाता है, अतः वह हलादि नहीं रहता। 'तिप्' और 'सिप्' के इकार का '४२४—इतश्च' से लोप हो जाता है, इसलिए वास्तव में 'तिप्' और 'सिप'—ये ही दोनों अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक हैं। इनके परे होने पर ही 'ऊर्णु' के उकार के स्थान पर ओकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए लङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'ऊर्णु' धातु से तिप्, शप्-लुक्, आडागम और इकार-लोप होकर 'आ ऊर्णु त्' रूप बनता है। यहां हलादि अपृक्त पित् सार्वधातुक 'त्' (तिप्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'ऊर्णु' के उकार के स्थान पर ओकार हो जाता है और रूप बनता है—'आ ऊ र्ण् ओ त्'। इस स्थिति में वृद्धि होकर 'और्णोत्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यह सूत्र '५६६—उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से प्राप्त वृद्धि का बाधक है।

६०३. ऊर्णोतेर्विभाषा । ७ । २ । ६

इडादौ परस्मैपदे परे सिचि वा वृद्धिः। पक्षे गुणः। और्णावीत्, और्णवीत्। और्णुवीत्। और्णाविष्टाम्, और्णविष्टाम्, और्णुविष्टाम्। और्णविष्ट, और्णुविष्ट। और्णविष्यत्, और्णुविष्यत्।

इत्यदादयः।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

६०३. ऊर्णोतेरिति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ऊर्णोतेः) 'ऊर्णु' के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' ७.२.१ तथा 'नेटि' ७.२.४ से 'इटि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'इटि' 'परस्मैपदेषु' का विशेषण है अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इडादि परस्मैपद (जिसके आदि में 'इट्' हो) सिच् परे होने पर 'ऊर्णु' धातु के स्थान पर विकल्प से वृद्धि—औकार आदेश होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह औकारादेश 'ऊर्णु' के अन्त्य अल्—उकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'ऊर्णु' धातु से तिप्, इकार-लोप, आडागम, वृद्धि, च्लि और उसके स्थान पर पुनः 'सिच्' (स्) होकर 'और्णु स् त्' रूप बनता है। यहां '४००—आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'सिच्' (स्) को 'इट्'-आगम होकर 'और्णु इ स् त्' रूप बनेगा। इस स्थिति में इडादि परस्मैपद 'सिच्' परे होने पर प्रकृत सूत्र से णकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर वृद्धि—औकार हो जाता है और रूप बनता है—'और्ण् औ इ स् त्'। यहां तकार को ईडागम, सकार-लोप और आवादेश होकर 'और्णावीत्' रूप सिद्ध होगा। वृद्धि के अभाव में 'और्णवीत्' रूप बनता है।

अदादिगण समाप्त।

जुहोत्यादिगणः

हु दानादनयोः । १ ।

६०४. जुहोत्यादिभ्यः श्लुः[1] । २ । ४ । ७५

शपः श्लुः स्यात् ।

६०४. जुहोत्यादीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जुहोत्यादिभ्यः*) 'हु' आदि के बाद (श्लुः) 'श्लु' होता है। परन्तु यह 'श्लु' (लोप) किसका होता है—यह जानने के लिए 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' २.४.७२ से 'शपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में आये हुए 'आदिभ्यः' शब्द का अभिप्राय 'हु' के समानधर्मा अन्य धातुओं से है, जिनका पाठ 'जुहोत्यादिगण' में किया गया है। 'श्लु' का अर्थ भी लोप ही होता है†, किन्तु भिन्न-कार्यपरक होने के कारण इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'हु' (देना और खाना) आदि (जुहोत्यादिगण की) धातुओं के बाद 'शप्' का 'श्लु' (लोप) होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'हु' धातु से 'तिप्' (ति) होने पर '३८७–कर्तरि शप्' से 'शप्' होकर 'हु शप् ति' रूप बनता है। यहां 'हु' से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'शप्' का 'श्लु' (लोप) हो जाता है और रूप बनता है—'हु ति'। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६०५. श्लौ[7] च । ६ । १ । १०

धातोर्द्वे स्तः । जुहोति । जुहुतः ।

६०५. श्लाविति—शब्दार्थ है—(च) और (श्लौ) 'श्लु' परे होने पर। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' ६.१.८ से 'धातोः' और 'अनभ्यासस्य' तथा 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ से 'द्वे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'श्लु' के परे होने पर अनभ्यास (जो अभ्यास‡संज्ञक न हो) धातु को द्वित्व होता है। ध्यान रहे कि यह द्वित्व धातु के अवयव प्रथम एकाच् अथवा अजादि द्वितीय

---

* यहां 'जुहोति' 'हु' धातु के लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः इससे मूलधातु का ग्रहण होता है।

† देखिये '१८९–प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः' की व्याख्या।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

एकाच् के ही स्थान पर होता है।* उदाहरण के लिए 'हु ति' में '१९०-प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'श्लु' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'हु' धातु को द्वित्व होता है। 'हु' धातु स्वयं ही एकाच् है, अतः प्रथम या द्वितीय एकाच् का प्रश्न ही नहीं उठता। सम्पूर्ण 'हु' को ही द्वित्व होकर 'हु हु ति' रूप बनता है। इस स्थिति में झकार-जकार और गुण होकर 'जुहोति' रूप सिद्ध होगा।

६०६. अदभ्यस्तात्† । ७ । १ । ४

झस्याऽत् स्यात्। (५०१) 'हुश्नुवोः—इति यण्। जुह्वति।

६०६. अदिति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्त के बाद (अत्) 'अत्' होता है। किन्तु यह 'अत्' किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए 'झोऽन्तः' ७.१.३ से 'झः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यस्त के बाद 'झ्' के स्थान पर 'अत्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-बहुवचन में 'हु' धातु से 'झि', शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'जु हु झि' रूप बनता है। यहां '३४४-उभे अभ्यस्तम्' से 'जु हु' की अभ्यस्त संज्ञा होने पर उनके परे 'झि' के झकार के स्थान पर प्रकृत सूत्र से 'अत्' आदेश हो जाता है और रूप बनता है—'जु हु अत् इ।' यहां यणादेश होकर 'जुह्वति' रूप सिद्ध होता है।

६०७. भी-ह्री-भृ-हुवां‡ श्लुवच्च । ३ । १ । ३९

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात्, आमि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार, जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु, जुहुतात्। जुहुताम्। जुह्वतु। जुहुधि। जुहवानि। अजुहोत्। अजुहुताम्।

६०७. भी-ह्री इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भी—हुवां) भी, ह्री, भृ और हु के बाद...(च) और (श्लुवत्) 'श्लु' के समान। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' ३.१.३५ से 'आम्' और 'लिटि' तथा 'उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्याम्' ३.१.३८ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर, भी (डरना), ह्री (लजाना), भृ (पालन करना) और हु (देना और खाना)

---

* देखिये 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ और 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६.१.२ की व्याख्या।

† इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

‡ यहां षष्ठी विभक्ति पञ्चम्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

धातुओं के बाद विकल्प से 'आम्' प्रत्यय होता है तथा 'आम्' परे होने पर श्लुवत् (द्वित्व, अभ्यास आदि) कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए लिट् लकार में 'हु' धातु से 'लिट्' होकर 'हु लिट्' रूप बनता है। यहां लिट् परे होने के कारण 'आम्' होकर 'हु आम् लिट्' रूप बनेगा। तब 'आम्' परे होने पर प्रकृत सूत्र से श्लुवत् द्वित्व आदि होकर 'जुहवाम् लिट्' रूप बनता है। इस अवस्था में लिट् का लोप, कृञ्-अनुप्रयोग और प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' आदि होकर 'जुहवाञ्चकार' रूप सिद्ध होगा। 'आम्' के अभावपक्ष में 'जुहाव' रूप बनता है।

६०८. जुसि च। ७। ३। ८३

इगन्ताङ्गस्य गुणोऽजादौ जुसि। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्। ञिभी भये। २। बिभेति।

६०८. जुसीति—शब्दार्थ है—(च) और (जुसि) 'जुस्' परे होने पर। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मिदेर्गुणः' ७.३.८२ से 'गुणः' और 'क्सस्याऽचि' ७.२.७२ से 'अचि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार है। 'अचि' 'जुसि' का विशेषण है अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ परिभाषा से यह गुणादेश 'इक्' के स्थान पर ही होता है, अतः प्रस्तुत सूत्र में उसका भी समाहार हो जाता है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'इकः' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि जुस् (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) परे होने पर इगन्त अङ्ग* (जिसके आदि में इ, उ, ऋ या ऌ हो) के स्थान पर गुण* आदेश होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह गुणादेश अन्त्य इक् के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लङ् लकार के प्रथमपुरुष-बहुवचन में 'हु' धातु से 'झि', पुनः उसके स्थान पर 'जुस्' (उस्), शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'जु हु + उस्' रूप बनता है। इस स्थिति में '५०१—हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् प्राप्त होता है, किन्तु अजादि जस् (उस्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो जाता है और हकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर गुण—ओकार होकर 'जु हो उस्' रूप बनता है। यहां अवादेश और अडागम होकर 'अजुहवुस्' = 'अजुहवुः' रूप सिद्ध होता है।

६०९. भियोऽन्यतरस्याम्। ६। ४। ११५

इकारो वा स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके। बिभीतः, बिभितः। बिभ्यति। बिभयाञ्चकार, बिभाय। भेता। भेष्यति। बिभेतु, बिभितात्, बिभीतात्।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

अबिभेत्। बिभियात्, बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्। ह्री लज्जायाम्। ३। जिह्रेति। जिह्रीतः। जिह्रियति। जिह्रयाञ्चकार। जिह्राय। ह्रेता। ह्रेष्यति। जिह्रेतु। अजिह्रेत्। जिह्रीयात्। ह्रीयात्। अह्रैषीत्। अह्रेष्यत्। पॄ पालनपूरणयोः। ४।

६०९. भिय इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(भियः) 'भी' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गमहनजनखनघसां-०' ६.४.९८ से 'क्ङिति', 'ई हल्यघोः' ६.४.११३ से 'हलि', 'इद् दरिद्रस्य' ६.४.११४ से 'इत्' तथा 'अत उत्सार्वधातुके' ६.४.११० से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हलि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलादि (जिसके आदि में कोई व्यंजन-वर्ण हो) कित्-ङित् सार्वधातुक* परे होने पर 'भी' (डरना) धातु के स्थान पर विकल्प से ह्रस्व इकार (इत्) होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'भी' के अन्त्य अल्—ईकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में 'तस्', शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'बि भी तस्' रूप बनता है। यहां 'तस्' हलादि ङित् सार्वधातुक है, अतः उसके परे रहने पर 'भी' के ईकार के स्थान पर इकार होकर 'बिभितस्'='बिभितः' रूप सिद्ध होता है। अभाव-पक्ष में 'बिभीतः' रूप बनता है।

६१०. अर्तिपिपर्त्योश्च। ७। ४। ७७

अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेशः स्यात् श्लौ। पिपर्ति।

६१०. अर्तीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अर्ति-पिपर्त्योः†) 'ऋ' और 'पॄ' के। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य', 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' ७.४.७५ से 'श्लौ' और 'भृञामित्' ७.४.७६ से 'इत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अभ्यासस्य' सूत्रस्थ 'अर्ति-पिपर्त्योः' का अवयव है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श्लु के विषय में ऋ (जाना) और पॄ (पालन और पूर्ण करना) धातुओं के अभ्यास के स्थान पर इकार आदेश होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अभ्यास के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'पॄ' धातु से 'तिप्' (ति), शप्-श्लु और द्वित्व

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† ये क्रमशः 'ऋ' और 'पॄ' धातुओं के रूप हैं, अतः इनसे तत्तद् धातुओं का ही ग्रहण होता है।

आदि होकर 'पृ पृ ति' रूप बनता है। श्लु का विषय होने के कारण प्रकृत सूत्र से यहां 'पृ' के अभ्यास 'पृ' के अन्त्य वर्ण ऋकार के स्थान पर इकार होकर 'पि पृ ति' रूप बनेगा। इस स्थिति में गुण होकर 'पिपर्ति' रूप सिद्ध होता है।

६११. उदोष्ठ्यपूर्वस्य । ७ । १ । १०२

अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत् तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात्।

६११. उदिति—शब्दार्थ है—(ओष्ठ्यपूर्वस्य) ओष्ठ्यपूर्वक के स्थान पर (उत्) उकार आदेश होता है। किन्तु यह ओष्ठ्य वर्ण किसके पूर्व आता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ॠत इद्धातोः' ७.१.१०० से 'ॠतः' और 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ॠतः' का अन्वय एक बार 'ओष्ठ्यपूर्वस्य' और दूसरी बार 'धातोः' से होता है। 'धातोः' से अन्वय होने पर उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि ॠकारान्त धातु के ॠकार के पूर्व कोई ओष्ठ्य वर्ण (प, फ, ब, भ, म, उ, ऊ या उपध्मानीय) आता है तो धातु के स्थान पर उकार आदेश हो जाता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश धातु के अन्त्य ॠकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में 'पॄ' धातु से 'तस्', शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'पि पॄ तस्' रूप बनता है। यहां ॠकारान्त धातु 'पॄ' है और उसके पूर्व ओष्ठ्य वर्ण पकार आया है, अतः प्रकृत सूत्र से ॠ के स्थान पर उकार आदेश होता है। '२९–उरण् रपरः' परिभाषा से यह उकारादेश रपर 'उर्' होकर आदेश होगा और रूप बनेगा—'पिपुर् तस्'। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६१२. हलि च । ८ । २ । ७७

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि। पिपूर्तः। पिपुरति।

६१२. हलीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (हलि) हल् परे होने पर। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता लग जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सिपि धातो रुर्वा' ८.२.७४ से 'धातोः' तथा सम्पूर्ण 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' ८.२.७६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'र्वोः' 'धातोः' का विशेषण है अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि हल् (व्यञ्जन-वर्ण) परे हो तो रकारान्त और वकारान्त धातु की उपधा के इक् (इ, उ, ऋ या ऌ) के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'पिपुर् तस्' में 'पिपुर्' रकारान्त धातु है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके उपधाभूत उकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार होकर 'पि पूर् तस्' = 'पिपूर्तः' रूप सिद्ध होता है।

६१३. शॄ-दॄ-प्रां हस्वो वा । ७ । ४ । १२

एषां किति लिटि ह्रस्वो वा स्यात् । पप्रतुः ।

६१३. शॄ-दॄ इति—शब्दार्थ है—(शॄ-दॄ-प्रां) शॄ, दॄ और पॄ के स्थान पर (वा) विकल्प से (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है । किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'दयतेर्दिगि लिटि' ७.४.९ से 'लिटि' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर शॄ (मारना), दॄ (मारना) और पॄ (पालन-पोषण करना) के स्थान पर विकल्प से ह्रस्वादेश होता है । '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य वर्ण—ॠकार के ही स्थान पर ह्रस्व—ऋकार होता है । उदाहरण के लिये लिट् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में 'पॄ' धातु से लिट्—'तस्' और उसके स्थान पर 'अतुस्', शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'प पॄ अतुस्' रूप बनता है । यहां लिट्स्थानी 'अतुस्' परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'पॄ' के ॠकार के स्थान पर ह्रस्व ऋकार होकर 'प पृ अतुस्' रूप बनेगा । इस स्थिति में यणादेश होकर 'पप्रतुः' रूप सिद्ध होता है । ह्रस्वाभाव पक्ष में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६१४. ऋच्छत्यॄताम्[*] ७ । ४ । ११

तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोॠतां च गुणो लिटि । पपरतुः । पपरुः ।

६१४. ऋच्छतीति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(ऋच्छत्यॄताम्) ऋच्छ्, ऋ और ॠत् के स्थान पर । किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'दयतेर्दिगि लिटि' ७.४.९ से 'लिटि' और 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' ७.४.१० से 'गुणः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार प्राप्त होता है । सूत्रस्थ 'ॠत्' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्तविधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् परे होने पर ऋच्छ् (जाना, आदि), ऋ (जाना) और ॠकारान्त अङ्ग के स्थान पर गुण आदेश होता है । '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य वर्ण—ॠकार के स्थान पर होने के कारण यह आदेश रपर हो 'अर्' के रूप में होता है । उदाहरण के लिए 'प पॄ अतुस्' में ह्रस्वाभाव-पक्ष में लिट्स्थानी 'अतुस्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से ॠकारान्त 'पॄ' के दीर्घ ॠकार के स्थान पर 'अर्'—गुणादेश होकर 'प प् अर् अतुस्' = 'पपरतुः' रूप सिद्ध होता है ।

---

* इसका पदच्छेद है—'ऋच्छति + ऋ + ॠताम्' । यहां 'ऋच्छति' 'ऋच्छ्' (तुदादि०) धातु के लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है, अतः उससे मूल धातु का ग्रहण होता है ।

६१५. वॄतो वा । ७ । २ । ३८

वृङ्वृञ्भ्यामॄदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यान्न तु लिटि। परीता, परिता। परीष्यति, परिष्यति। पिपर्तु। अपिपः। अपिपूर्ताम्। अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्।

६१५. वॄतो वेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वॄतो) वॄ और ॠत् के बाद (वा) विकल्प से...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिये 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७.२.३५ से 'इट्' तथा 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' ७.२.३७ से 'अलिटि' और 'दीर्घः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त होता है। यह 'ॠत्' का विशेष्य है, अतः 'ॠत्' में तदन्त-विधि हो जाती है। 'वॄ' कहने से 'वृङ्' और 'वृञ्'– इन दो धातुओं का ग्रहण होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् न परे होने पर वृङ् (सेवा या पूजा करना), वृञ् (वरण करना या आच्छादन करना) और दीर्घ ॠकारान्त अङ्ग के बाद इट् विकल्प से दीर्घ हो जाता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'पॄ' धातु से तिप्, तास् और डात्व आदि होकर 'पर् इता' रूप बनता है। यहां दीर्घ ॠकारान्त 'पॄ' धातु से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से इट् (इ) को दीर्घ ईकार होकर 'पर् ई ता' = 'परीता' रूप सिद्ध होता है। दीर्घाभाव-पक्ष में 'परिता' रूप बनता है।

६१६. सिचि च परस्मैपदेषु । ७ । २ । ४०

अत्र इटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरिष्यत्, अपरीष्यत्। ओहाक् त्यागे। ५। जहाति।

६१६. सिचीति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (परस्मैपदेषु) परस्मैपदपरक (सिचि) सिच् परे होने पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७.२.३५ से 'इट्', 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' ७.२.३७ से 'दीर्घः', 'वॄतो वा' ७.२.३८ से 'वॄतो' तथा 'न लिङि' ७.२.३९ से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपदपरक† 'सिच्' परे होने पर वृङ्, वृञ् और दीर्घ ॠकारान्त अङ्ग के‡ बाद इट् (इकार) दीर्घ (ईकार) नहीं होता। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में 'पॄ' धातु से तस्, पुनः उसके स्थान पर 'ताम्', सिच्, इट् और अडागम आदि

---

* 'वॄ इति वृङ्वृञोः सामान्येन ग्रहणम्'—काशिका।

† 'परस्मैपद' के स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

‡ विशेष विवरण के लिए पूर्वसूत्र (६१५) की व्याख्या देखिये।

होकर 'अपार् इ स् ताम्' रूप बनता है। यहां पर '६१५—वृतो वा' से दीर्घ ॠकारान्त 'पॄ' धातु के बाद इट् (इ) को दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु परस्मैपदपरक सिच् (स्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। इस अवस्था में षत्व आदि होकर 'अपारिष्टाम्' रूप सिद्ध होता है।

६१७. जहातेश्च । ६ । ४ । ११६

इद्वा स्याद्धलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहितः।

६१७. जहातेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (जहातेः*) 'हा' धातु के स्थान पर। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही पता लग जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'गमहनजनखनघसां—०' ६.४.९८ से 'क्ङिति', 'अत उत्सार्वधातुके' ६.४.११० से 'सार्वधातुके', 'इद्दरिद्रस्य' ६.४.११४ से 'इत्', 'ई हल्यघोः' ६.४.११३ से 'हलि' तथा 'भियोऽन्यतरस्याम्' ६.४.११५ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हलि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलादि (जिसके आदि में कोई व्यंजन-वर्ण हो) कित्-ङित् सार्वधातुक परे होने पर 'हा' (त्यागना) धातु के स्थान में विकल्प से इकार (इत्) आदेश होता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'हा' के अन्त्य वर्ण—आकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में 'हा' धातु से तस्, शप्-श्लु और द्वित्व आदि कार्य होकर 'ज हा तस्' रूप बनता है। यहां '५००—सार्वधातुकमपित्' से 'तस्' के ङिद्वत् होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'हा' धातु के आकार के स्थान पर इकार होकर 'ज ह् इ तस्'='जहितः' रूप सिद्ध होता है। अभाव-पक्ष में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६१८. ई हल्यघोः ६ । ४ । ११३

श्नाऽभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि, न तु घोः। जहीतः।

६१८. ई हलीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलि) हल् परे होने पर (ई) ईकार होता है, (अघोः) घुसंज्ञक धातु के स्थान पर नहीं। किन्तु सूत्र से यह ज्ञात नहीं होता कि यह आदेश किसके स्थान पर होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गमहनजनखनघसां—०' ६.४.९८ से 'क्ङिति', 'अत उत्सार्वधातुके' ६.४.११० से 'सार्वधातुके' तथा सम्पूर्ण 'श्नाभ्यस्तयोरातः' ६.४.११२ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'हलि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है।

* 'जहातेः' 'जहाति' का षष्ठी का रूप है। 'जहाति' भी 'हा' धातु के लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः उससे मूल धातु का ही ग्रहण होता है।

इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलादि कित्-ङित् सार्वधातुक परे होने पर 'श्ना' और अभ्यस्त अंग* के अकार के स्थान पर ईकार आदेश होता है, किन्तु घुसंज्ञक धातुओं के आकार के स्थान पर ईकार नहीं होता। उदाहरण के लिए 'ज हा तस्' में इकार के अभाव-पक्ष में हलादि ङित् सार्वधातुक 'तस्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से अभ्यस्त 'हा' के आकार के स्थान पर ईकार होकर 'ज ह् ई तस्' = 'जहीतः' रूप बनता है।

६१९. श्नाभ्यस्तयोरातः । ६ । ४ । ११२

अनयोरातो लोपः क्ङिति सार्वधातुके। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु, जहितात्, जहीतात्।

६१९. श्नाभ्यस्तेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(श्नाभ्यस्तयोः) 'श्ना' और अभ्यस्त के (आतः) आकार के स्थान पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'गमहनजनखनघसां-०' ६.४.९८ से 'क्ङिति', 'अत उत्सार्वधातुके' ६.४.११० से 'सार्वधातुके' तथा 'श्नसोरल्लोपः' ६.४.१११ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ 'अभ्यस्त' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित्-ङित् सार्वधातुक परे होने पर 'श्ना' और अभ्यस्त अङ्ग के आकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथम-पुरुष-बहुवचन में 'हा' धातु से 'झि', शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'ज हा अति' रूप बनता है।† यहां '५००—सार्वधातुकमपित्' से 'अति' के ङिद्वत् होने के कारण प्रकृत सूत्र से अभ्यस्त अङ्ग 'हा' के आकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'जह् अति' = 'जहति'।

६२०. आ च हौ । ६ । ४ । ११७

जहातेर्हौ परे आ स्याच्चादिदीतौ। जहाहि, जहिहि, जहीहि। अजहात्। अजहीताम्। अजहुः।

६२०. आ चेति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (हौ) 'हि' परे होने पर (आ) आकार होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए 'जहातेश्च' ६.४.११६ से 'जहातेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ 'ई हल्यघोः' ६.४.११३ से 'ई', 'इद् दरिद्रस्य'

---

* यहां 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार प्राप्त है और उसका अन्वय 'अभ्यस्त' के साथ होता है।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जहति' की रूप-सिद्धि देखिये।

६.४.११४ से 'इत्' और 'भियोऽन्यतरस्याम्' ६.४.११५ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'हि' परे होने पर 'हा' धातु के स्थान पर विकल्प से आकार, इकार और ईकार आदेश होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'हा' के अन्त्य वर्ण-आकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लोट् लकार के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'हा' धातु से 'सिप्' और उसके स्थान पर 'हि' तथा द्वित्व आदि होकर 'ज हा हि' रूप बनता है। यहां 'हि' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र 'हा' के आकार के स्थान पर आकार करने पर 'जह् आ हि' = 'जहाहि' रूप बनता है। इसी प्रकार 'हा' के आकार के स्थान पर इकार और ईकार करने पर क्रमशः 'जहिहि' और 'जहीहि' रूप बनेंगे।

६२१. लोपो यि । ६ । ४ । ११८

जहातेरालोपो यादौ सार्वधातुके। जह्यात्। '४९०-एर्लिङि'। हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्। माङ् माने शब्दे च। ६।

६२१. लोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यि) यकार परे होने पर (लोपः) लोप होता है। किन्तु किसका लोप होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गमहनजनखनघसां-०' ६.४.९८ से 'क्ङिति', 'अत उत्सार्वधातुके' ६.४.११० से 'सार्वधातुके', 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से 'आतः' और 'जहातेश्च' ६.४.११६ से 'जहातेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'यि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यकारादि (जिसके आदि में यकार हो) कित्-ङित् सार्वधातुक परे होने पर (जहातेः) 'हा' धातु के (आतः) आकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए विधिलिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'हा' धातु से तिप्, शप्-श्लु, द्वित्व और तिप् का इकार-लोप आदि होकर 'जहा यात्' रूप बनता है।* यहां यकारादि ङित्† सार्वधातुक 'यात्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'हा' के आकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'जह् यात्' = 'जह्यात्'।

६२२. भृञामित् । ७ । ४ । ७६

भृञ्, माङ्, ओहाङ्—एषां त्रयाणामभ्यासस्य 'इत्' स्यात् श्लौ। मिमीते। मिमाते। मिमते। ममे। माता। मास्यते। मिमीताम्। अमिमीत। मिमीत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत। ओहाङ् गतौ। ७। जिहीते। जिहाते। जिहते। जहे। हाता। हास्यते। जिहिताम्। अजिहीत। जिहीत।

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'जह्यात्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† '५००-सार्वधातुकमपित्' से 'तिप्' प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

हासीष्ट । अहास्त । अहास्यत । डुभृञ् धारणपोषणयोः । ८ । बिभर्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभृते । बिभ्राते । बिभ्रते । बिभराञ्चकार, बभार । बभर्थ । बभृव । बिभराञ्चक्रे, बभ्रे । भर्ता । भरिष्यति, भरिष्यते । बिभर्तु । बिभराणि । बिभृताम् । अबिभः । अबिभृताम् । अबिभरुः । अबिभृत । बिभृयात्, बिभ्रीत । भ्रियात्, भृषीष्ट । अभार्षीत्, अभृत । अभरिष्यत्, अभरिष्यत । डुदाञ् दाने । ९ । ददाति । दत्तः । ददति । दत्ते । ददाते । ददते । ददौ, ददे । दाता । दास्यति, दास्यते । ददातु ।

६२२. भृञामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भृञाम्*) 'भृञ्' आदि के स्थान में (इत्) इकार आदेश होता है । किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' तथा 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' ७.४.७५ से 'त्रयाणां' और 'श्लौ' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श्लु के विषय में 'भृञ्' आदि तीन धातुओं के अभ्यास के स्थान पर इकार आदेश होता है । '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह इकार अभ्यास के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होता है । भृञ् (भृ—पालन करना), माङ् (मा—नापना) और ओहाङ् (हा—जाना)—ये तीन 'भृञ्' आदि धातुएँ हैं । अतः इनके अभ्यास के अन्त्य वर्ण के स्थान पर इकार आदेश होता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'मा' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'मा मा त' रूप बनता है । इस स्थिति में श्लु का विषय होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'मा' (माङ्) के अभ्यास के अन्त्य वर्ण—आकार के स्थान पर इकार होकर 'म् इ मा त' रूप बनेगा । यहां ईकार और 'त' की 'टि' के स्थान पर एकार होकर 'म् इ म् ई त् ए' = 'मिमीते' रूप सिद्ध होता है ।

६२३. दाधा घ्वदाप् । १ । १ । २०

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युर्दाप्-दैपौ विना । "५७७—घ्वसोः—०' इत्येत्वम्—देहि । दत्तम् । अददात् । अदत्त । दद्यात् । ददीत । देयात् । दासीष्ट । अदात् । अदाताम् । अदुः ।

६२३. दाधेति—यह संज्ञासूत्र है । शब्दार्थ है—(अदाप्†) दाप् और दैप् को छोड़कर (दाधा) 'दा' और 'धा' रूपवाली धातुएं (घु) 'घु'संज्ञक होती

---

* यहां बहुवचन के प्रयोग से 'भृञ् आदि' का ग्रहण होता है ।

† इसका विग्रह इस प्रकार है—'दाप् च दैप् (दाप्) च इति दाप् । न दाप् इति अदाप् (नञ्तत्पुरुष०) ।'

हैं। 'दा' रूप धातुएं चार हैं—१. डुदाञ् (जुहोत्यादि०, दान देना), २. दाण् (भ्वादि०, दान देना), ३. दो (दिवादि०, बांटना या काटना) और ४ देङ् (भ्वादि०, रक्षा करना)। धारूप धातुएं दो ही हैं—डुधाञ् (जुहोत्यादि०, धारण या पोषण करना) और धेट् (भ्वादि०, पीना)। इस प्रकार सूत्र का सरलार्थ होगा—डुदाञ्, दाण्, दो, देङ्, डुधाञ् और धेट्—इन छः धातुओं की 'घुसंज्ञा' होती है। 'घुसंज्ञा' होने पर इन धातुओं से कित्प्रत्यय में ईकारादेश आदि 'घुसंज्ञा'-विषयक कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए लोट् लकार के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'दा' धातु से 'सिप्' तथा उसके स्थान पर 'हि' आदि अन्य कार्य होकर 'द दा हि' रूप बनता है। यहां प्रकृत सूत्र से 'दा' (डुदाञ्) घुसंज्ञक है, अतः '५७७-घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से 'दा' के आकार-के स्थान पर एत्व तथा अभ्यास 'द' का लोप होकर 'द् ए हि'='देहि' रूप सिद्ध होता है।

६२४. स्थाघ्वोरिच्च। १। २। १७

अनयोरिदन्तादेशः सिच्च कित् स्यादात्मनेपदे। अदित। अदास्यत्, अदास्यत। डुधाञ् धारण-पोषणयोः। १०। दधाति।

६२४. स्थाघ्वोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (स्थाघ्वोः) 'स्था' तथा घुसंज्ञक धातुओं के स्थान में (इत्) इकार होता है। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'असंयोगाल्लिट् कित्' १.२.५ से 'कित्' तथा 'हनः सिच्' १.२.१४ से 'सिच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। साथ ही 'लिङ्सिचौ-०' १ २.११ से 'आत्मनेपदेषु' की भी अनुवृत्ति होती है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आत्मनेपद प्रत्यय परे होने पर 'स्था' (ठहरना) और घुसंज्ञक† धातु के स्थान में इकार होता है तथा सिच् कित् होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'दा' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', च्लि-सिच् और अडागम आदि होकर 'अ दा स् त' रूप बनता है। '६२३-दाधा घ्वदाप्' से यहां 'दा' (डुदाञ्) धातु घुसंज्ञक है अतः आत्मनेपद प्रत्यय 'त' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसके स्थान में इकार होता है और 'सिच्' (स्) कित् हो जाता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह इकारादेश 'दा' के अन्त्य आकार के ही स्थान पर होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'अ दि स् त'। यहां सिच्-लोप होकर 'अदित' रूप सिद्ध होगा।

---

* 'सिजात्मनेपदेष्विति वर्तते'—काशिका। कुछ लोगों के अनुसार यहां 'आत्मनेपदेषु' की अनुवृत्ति नहीं होती। देखिये—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (६२३) की व्याख्या देखिये।

सिच् के कित् करने का फल लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में दिखाई पड़ता है। यहां 'दा' धातु का 'अदि स् आताम्' रूप बनने पर 'आताम्' के झलादि न होने से सिच् (सकार) का लोप नहीं होता है। इस स्थिति में '३८८—सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से आर्धधातुक 'सिच्' (स्) प्रत्यय परे होने के कारण 'अदि' के इकार के स्थान पर गुण—एकार प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से 'सिच्' के 'कित्' हो जाने से '४३३—ग्क्ङिति च' से उसका निषेध हो जाता है। तब षत्व होकर 'अदिषाताम्' रूप सिद्ध होता है।

६२५. दधस्तथोश्च। ८। २। ३८

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् स्यात्तथोः परयोः स्ध्वोश्च परतः। धत्तः। दधति। दधासि। धत्थः। धत्थ। धत्ते। दधाते। दधते। धत्से। धद्ध्वे। '५७७—घ्वसोरेद्धावभ्यास-लोपश्च'-धेहि। अदधात्। अधत्त। दध्यात्। दधीत। धेयात्, धासीष्ट। अधात्। अधित। अधास्यत्, अधास्यत। णिजिर् शौचपोषणयोः। ११।

(वा०) इर इत्संज्ञा वाच्या।

६२५. दध इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण नहीं है। शब्दार्थ है—(दधः*) द्वित्व की हुई 'धा' धातु के स्थान पर (तथोः) तकार और थकार परे होने पर (च) तथा...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' ८.२.३७ से 'बशः', 'भष्' और 'झषन्तस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में प्रयुक्त 'च' की विवक्षा से 'स्ध्वोः' की अनुवृत्ति होती है। 'झषन्तस्य' का अन्वय 'दधः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तकार, थकार, सकार या ध्व परे होने पर कृतद्वित्व (जिसका द्वित्व किया गया हो) झषन्त (जिसके अन्त में झ, भ, घ, ढ या ध हो) 'धा' धातु के 'बश्' (ब, ग, ड या द) के स्थान पर 'भष्' (भ, घ, ढ या ध) होता है। इस सूत्र की प्रवृत्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) 'धा' धातु का द्वित्व होना चाहिये—इसलिए यह सूत्र लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में ही प्रवृत्त होता है, क्योंकि इन्हीं लकारों में द्वित्व होता है।

(२) 'धा' धातु को झषन्त होना चाहिये—इसलिए यह सूत्र उन्हीं स्थलों में प्रवृत्त होगा जहां '६१९—श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से 'धा' धातु के आकार का लोप होता है। इस अवस्था में धकार शेष रह जाने से धातु झषन्त हो जाता है।

(३) तकार, थकार, सकार या ध्व परे होना चाहिये—द्वित्व और आकार-लोप

---

* यह 'धा' धातु के द्वित्व का रूप है, अतः इससे द्वित्व की हुई 'धा' धातु का ग्रहण होता है—'दध इति दधातिः कृतद्विर्वचनो निर्दिश्यते'—काशिका।

हो जाने पर भी यदि 'धा' धातु के बाद तकार, थकार, सकार या 'ध्व' नहीं होगा तो यह सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए विधिलिङ् में आकार का लोप होने पर भी यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि यासुट् का व्यवधान हो जाने से यहां तकारादि कोई भी परे नहीं मिलते।

वास्तव में इस सूत्र का तात्पर्य '३९९–अभ्यासे चर्च' से विहित धकार के स्थान पर जो दकार होता है, उसके स्थान पर पुनः धकार करना है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-द्विवचन में 'धा' धातु से तस्, द्वित्व और अभ्यासादि होकर 'दध् तस्' रूप बनता है। यहां 'धा' धातु को द्वित्व हुआ है और धकारान्त होने से 'धा' धातु झषन्त भी है। अतः तस् का तकार परे रहने पर प्रकृत सूत्र से दकार के स्थान पर धकार होकर 'ध ध् तस्' रूप बनता है। इस स्थिति में उत्तरवर्ती धकार को चर्त्व–तकार होकर 'ध त् त स्'='धत्तः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) इर इति—'इर्' की इत्संज्ञा होती है। इस वार्तिक से 'णिजिर्' (शुद्ध करना) के 'इर्' की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है और केवल 'णिज्' ही शेष रह जाता है।

६२६. णिजां[6] त्रयाणां[6] गुणः श्लौ[7]। ७। ४। ७५

णिज्-विज्-विषामभ्यासस्य गुणः स्यात् श्लौ। नेनेक्ति। नेनिक्तः। नेनिजति। नेनिक्ते। निनेज। निनिजे। नेक्ता। नेक्ष्यति, नेक्ष्यते। नेनेक्तु। नेनिग्धि।

६२६. णिजामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(श्लौ) श्लु के विषय में (णिजां)* णिज् आदि (त्रयाणां) तीन धातुओं के स्थान में (गुणः) गुण होता है। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति होगी। णिज्, विज् और विष्—ये णिजादि तीन धातुएं हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श्लु के विषय में णिज् (शुद्ध या पोषण करना), विज् (अलग होना) और विष् (व्याप्त होना) के अभ्यास के स्थान पर गुण होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह गुणादेश अभ्यास के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'णिज्' (निज्) धातु से तिप्, शप्-श्लु और द्वित्व आदि होकर 'नि ने ज् ति' रूप बनता है। यहां श्लु का विषय होने के कारण प्रकृत सूत्र से अभ्यास–'नि' के इकार के स्थान पर गुण–एकार होकर 'ने ने ज् ति' रूप बनता है। इस स्थिति में जकार के स्थान पर कुत्व और चर्त्व होकर 'नेनेक्ति' रूप सिद्ध होता है।

---

* यहां बहुवचन-निर्देश से 'णिजादि' का ग्रहण होता है।

६२७. नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके । ७ । ३ । ८७

लघूपधगुणो न स्यात् । नेनिजानि । नेनिक्ताम् । अनेनेक् । अनेनिक्ताम् । अनेनिजुः । अनेनिजम् । अनेनिक्त । नेनिज्यात् । निज्यात् । नेनिजीत । निक्षीष्ट ।

६२७. नाभ्यस्तस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि*) अजादि (पिति) पित् (सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (अभ्यस्तस्य) अभ्यस्त के स्थान पर (न) नहीं होता है । किन्तु क्या नहीं होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मिदेर्गुणः' ७.३.८२ से 'गुणः' तथा 'पुगन्तलघूपधस्य च' ७.३.८६ से 'लघूपधस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी । अजादि पित् सार्वधातुक तीन हैं—तिप्, सिप् और मिप् । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तिप्, सिप् या मिप् परे होने पर अभ्यस्त की लघु उपधा के स्थान पर गुण नहीं होता है । उदाहरण के लिए लोट् लकार के उत्तमपुरुष-एकवचन में 'णिज्' (निज्) धातु से मिप्, 'मि' के स्थान पर 'नि', शप्-श्लु, द्वित्व तथा आडागम आदि होकर 'नेनिज् आनि' रूप बनता है । यहां 'पुगन्तलघूपधस्य च' ७.३.८६ से 'निज्' की लघु उपधा-इकार के स्थान पर गुण—एकार प्राप्त होता है, किन्तु 'मिप्' के परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है और इस प्रकार 'नेनिजानि' रूप सिद्ध होता है ।

६२८. इरितो वा । ३ । १ । ५७

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु । अनिजत्, अनैक्षीत्, अनिक्त । अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत ।

इति जुहोत्यादयः ।

६२८. इरित इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(इरितः) इरित् के बाद (वा) विकल्प से होता है । किन्तु क्या होता है और किस परिस्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचः–०' ३.१.२२ से 'धातोः', 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः', 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' ३.१.५२ से 'अङ्' तथा 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' ३.१.५५ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'धातोः' का अन्वय 'इरितः' से होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद परे होने पर इरित् धातु (जिसका इर् इत्संज्ञक हो) के बाद 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'अङ्' आदेश होता है । '४५—अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर होगा ।

---

* 'सार्वधातुके' का विशेषण होने के कारण इसमें तदादि-विधि हो जाती है ।

उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'णिज्' (निज्) धातु से अट्, तिप् और च्लि होकर 'अनिज् च्लि ति' रूप बनता है। यहां 'णिज्' (निज्) धातु इरित् है क्योंकि मूल 'णिजिर्' में 'इर्' की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाता है। अतः परस्मैपद प्रत्यय 'तिप्' (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'अनिज्' के बाद 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' (अ) हो जाता है और रूप बनता है—'अनिज् अ ति'।' 'अङ्' (अ) के ङित् होने के कारण यहां गुण-वृद्धि आदि कार्य भी नहीं होते। 'तिप्' (ति) के इकार का लोप करने पर 'अनिजत्' रूप होता है। अङ् के अभाव-पक्ष में ईडागम आदि होकर 'अनैक्षीत्' रूप बनता है।

जुहोत्यादिगण समाप्त।

दिवादिगण:

दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु।१।

६२९. दिवादिभ्यः श्यन्[१] । ३ । १ । ६९

शपोऽपवादः । '६१२–हलि च' इति दीर्घः—दीव्यति । दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् । अदेविष्यत् । एवं षिवु तन्तुसन्ताने । २ । नृती गात्रविक्षेपे । ३ । नृत्यति । ननर्त । नर्तिता ।

६२९. दिवादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दिवादिभ्यः) 'दिव्' आदि के बाद (श्यन्) 'श्यन्' होता है । किन्तु यह 'श्यन्' किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' तथा 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'कर्त्तरि' का अन्वय 'सार्वधातुके' से होता है । 'दिव्' आदि १४० धातुएं हैं जिनका पाठ 'धातुपाठ' में किया गया है । प्रथम धातु 'दिव्' होने के कारण इसे 'दिवादिगण' भी कहते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर दिवादिगण की धातुओं के बाद 'श्यन्' आता है । यह 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से विहित 'शप्' का अपवाद है । 'श्यन्' में शकार और नकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'य' शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'दिव्' (क्रीड़ा, जुआ खेलना आदि) धातु से 'तिप्' (ति) होकर 'दिव् ति' रूप बनता है । यहाँ कर्तृवाची सार्वधातुक 'तिप्' (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'दिव्' के बाद 'श्यन्' (य) होकर 'दिव् य ति' रूप बनता है । तब '६१२–हलि च' से उपधा–इकार को दीर्घ करने पर 'द् ई व् य ति' = 'दीव्यति' रूप सिद्ध होगा ।

६३०. सेऽसिचि[२]* कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः[३] । ७ । २ । ५७

एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा । नर्तिष्यति, नर्त्स्यति । नृत्यतु । अनृत्यत् । नृत्येत् । नृत्यात् । अनर्तीत् । अनर्तिष्यत् । अनर्त्स्यत् । त्रसी उद्वेगे । ४ । '४८५–वा भ्राश–०' इति श्यन् वा–त्रस्यति, त्रसति । तत्रास ।

६३०. सेऽसिचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कृत—नृतः) कृत्, चृत्, छृद्, तृद् और नृत् के बाद (असिचि) 'सिच्'-भिन्न (से) सकार के स्थान पर ।

---

* यहाँ सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग षष्ठ्यर्थ में हुआ है ।

किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७.२.३५ से 'आर्धधातुकस्य' और 'इट्' तथा 'उदितो वा' ७.२.५६ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'से' 'आर्धधातुकस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कृत् (तुदादि०, काटना), चृत् (तुदादि०, मारना या खोलना), छृद् (रुधादि०, चमकना आदि), तृद् (रुधादि०, हिंसा या अनादर करना) तथा नृत् (दिवादि०, नाचना)—इन पांच धातुओं के बाद सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक का अवयव विकल्प से 'इट्' होता है। 'इट्' का टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह सकारादि आर्धधातुक का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लृट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'नृत्' धातु से तिप्, स्य, और लघु उपधा को गुण आदि होकर 'न र् त् स्य ति' रूप बनता है। यहां 'स्य' के सिच्-भिन्न सकारादि आर्धधातुक होने के कारण प्रकृत सूत्र से इडागम होकर 'न र् त् इ स्य ति' = 'नर्तिस्यति' रूप बनता है। इस स्थिति में षत्व होकर 'नर्तिष्यति' रूप सिद्ध होगा। इडाभाव-पक्ष में 'नर्त्स्यति' रूप बनता है।

विशेष—यह सूत्र '४०१–आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से प्राप्त नित्य इडागम के स्थान पर विकल्प से इडागम का विधान करता है।

६३१. वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् । ६ । ४ । १२४

एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा। त्रेसतुः, तत्रसतुः। त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता। शो तनूकरणे। ५।

६३१. वा जॄ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जॄ—त्रसाम्) जॄ, भ्रमु और त्रस् के स्थान पर (वा) विकल्प से। किन्तु क्या होता है और किस परिस्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गमहनजनखनघसां–०' ६.४.९८ से 'क्ङिति', 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' ६.४.११९ से 'एत्' और 'अभ्यासलोपश्च', 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' ६.४.१२० से 'अतः' और 'लिटि' तथा सम्पूर्ण 'थलि च सेटि' ६.४.१२१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'क्ङिति' 'लिटि' का विशेषण है और 'सेटि' 'थलि' का। 'अतः' सूत्रस्थ 'जॄ-भ्रमु-त्रसाम्' का अवयव है, और उसका अन्वय 'एत्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित्-ङित् लिट् या सेट् (जिसके पहिले 'इट्' आया हो) थल् परे होने पर जॄ (दिवादि०, जीर्ण होना), भ्रमु (भ्वादि०, घूमना) और त्रस् (दिवादि०, घबराना)—इन तीन धातुओं के ह्रस्व अकार के स्थान पर विकल्प से एकार होता है तथा अभ्यास का लोप होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष द्विवचन में 'त्रस्' धातु से तस्, तथा उसके स्थान पर 'अतुस्' और द्वित्व आदि होकर 'त त्रस् अतुस्' रूप बनता है। यहां लिट्स्थानी कित् 'अतुस्'

परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'त्रस्' के अकार को एकार तथा अभ्यास 'त' का लोप करने पर 'त्र् ए स् अतुस्' = 'त्रेसतुः' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में 'तत्रसतुः' रूप बनता है।

विशेष—यहां 'जॄ' में आदेश होने तथा 'भ्रम्' और 'त्रस्' में संयोग होने के कारण 'अत एकहल्मध्ये–०' ६.४.१२० से एत्व और अभ्यास-लोप प्राप्त नहीं होता। इसीलिए इस सूत्र की आवश्यकता पड़ी।

६३२. ओतः[६] श्यनि[७] । ७ । ३ । ७१

लोपः स्यात् श्यनि । श्यति । श्यतः । श्यन्ति । शशौ । शशतुः । शाता । शास्यति ।

६३२. ओत इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(श्यनि) श्यन् परे होने पर (ओतः) ओकार का। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'घोर्लोपो लेटि वा' ७.३.७० से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श्यन् परे होने पर ओकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'शो' (पतला करना, कम करना) धातु से तिप् और श्यन् होकर 'शो य ति' रूप बनता है। यहां श्यन् (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से शकारोत्तरवर्ती ओकार का लोप होकर 'श् य ति' = 'श्यति' रूप सिद्ध होता है।

६३३. विभाषा घ्रा-धेट्-शा-च्छा-सः[५] । २ । ४ । ७८

एभ्यस्सिचो लुग्वा स्यात् परस्मैपदे परे। अशात्। अशाताम्। अशुः। इट्सकौ—अशासीत्। अशासिष्टाम्। छो छेदने। ६। छ्यति। षोऽन्तकर्मणि। ७। स्यति। ससौ। दोऽवखण्डने। ८। द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। व्यध ताडने। ९।

६३३. विभाषेति—सूत्र का शब्दार्थ है —(घ्रा—सः) घ्रा, धेट्, शा, छा और सा के बाद (विभाषा) विकल्प से। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' २.४.७७ से 'सिचः' और 'परस्मैपदेषु' तथा 'ण्यक्षत्रियार्षञितो–०' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद परे होने पर घ्रा (भ्वादि०, सूँघना), धेट् (भ्वादि०, पीना), शा (शो–पतला करना), छा (छो–काटना) और सा (षो–नाश करना) के बाद 'सिच्' का विकल्प से लोप (लुक्) होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'शो' धातु से तिप्, च्लि-सिच् और अडागम आदि होकर 'अ शा स् ति' रूप बनता है। यहां परस्मैपद 'तिप्' (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'शा' के उत्तरवर्ती

'सिच्' (स्) का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'अ शा ति'। इस स्थिति में 'ति' के इकार का लोप होकर 'अशात्' रूप सिद्ध होता है। सिच् के लोपाभाव-भाव में इट् और सक् आदि होकर 'अशासीत्' रूप बनता है।

६३४. ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च । ६ । १ । १६

एषां सम्प्रसारणं स्यात् किति ङिति च। विध्यति। विव्याध। विविधतुः। विविधुः। विव्यधिथ, विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्। पुष पुष्टौ।१०। पुष्यति। पुपोष। पुपोषिथ। पोक्ष्यति। '५०७–पुषादि–०' इत्यङ्–अपुषत्। शुष शोषणे। ११। शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। णश अदर्शने। १२। नश्यति। ननाश। नेशतुः।

६३४. ग्रहिज्येति—सूत्र का शब्दार्थ है–(च) और (ङिति) ङित् परे होने पर (ग्रहि—भृज्जतीनाम्) ग्रह्, ज्या, वेञ्, व्यध्, वश्, व्यच्, व्रश्च्, प्रच्छ् और भ्रस्ज् का। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'ष्यङः सम्प्रसारणं–०' ६.१.१३ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में 'च' का प्रयोग होने से 'वचिस्वपियजादीनां किति' ६.१.१५ से 'किति' की भी अनुवृत्ति होती है। सम्प्रसारण का अर्थ है—यण् के स्थान पर इक् का होना। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित् और ङित् परे होने पर ग्रह् (क्रयादि०, ग्रहण करना), ज्या (क्रयादि०, वृद्ध होना), वेञ् (भ्वादि०, बुनना), व्यध् (दिवादि०, वेधना), वश् (अदादि०, इच्छा करना), व्यच् (तुदादि०, ठगना), व्रश्च् (तुदादि०, काटना), प्रच्छ् (तुदादि०, पूछना) और भ्रस्ज् (तुदादि०, भूनना)—इन नौ धातुओं के य्, व्, र् और ल् के स्थान पर क्रमशः (सम्प्रसारण) इ, उ, ऋ और ऌ आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'व्यध्' धातु से तिप् और श्यन् होकर 'व्यध् य ति' रूप बनता है। यहां 'श्यन्' (य) अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है, अतः उसके परे होने पर प्रकृत सूत्र से यकार के स्थान पर इकार होकर 'व् इ अ ध् य ति' रूप बनता है।* यहां '२५८–सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'व् इ ध् य ति'='विध्यति' रूप सिद्ध होता है।

६३५. रधादिभ्यश्च । ७ । २ । ४५

रध्, नश्, तृप्, दृप्, द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह् एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। नेशिथ।

---

* ध्यान रहे कि यहां '२९१–न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' परिभाषा से पूर्ववर्ती वकार के स्थान पर सम्प्रसारण–उकार नहीं होता है।

६३५. रधादिभ्य इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (रधादिभ्यः) 'रध्' आदि के बाद। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७.२.३५ तथा 'स्वरति-सूति–०' ७.२.४४ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'रध्' आदि धातुएं आठ हैं—रध् (दिवादि०, हिंसा करना), नश् (दिवादि०, नाश होना, खो जाना), तृप् (दिवादि०, प्रसन्न करना), दृप् (दिवादि०, आनन्दित होना या घमंड करना), द्रुह् (दिवादि०, द्रोह करना), मुह् (दिवादि०, मूर्च्छित होना), ष्णुह् (दिवादि०, कै करना) और ष्णिह् (दिवादि०, स्नेह करना या चिपकना)। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'रध्' आदि आठ धातुओं के बाद वलादि (जिसके आदि में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण या व, र, ल, श, ष, स अथवा ह में से कोई हो) आर्धधातुक का अवयव विकल्प से 'इट्' होता है। 'इट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह वलादि आर्धधातुक का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'नश्' (णश्) धातु से सिप्, पुनः उसके स्थान पर थल् (थ) तथा द्वित्व आदि होकर 'ननश् थ' रूप बनता है। यहां थल् (थ) प्रत्यय आर्धधातुक है और उसके आदि में वल्—थकार भी है। अतः 'नश्' के पश्चात् होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसको 'इट्' होकर 'न नश् इ थ' रूप बनता है। इस स्थिति में एत्व और अभ्यास-लोप होकर 'नेशिथ' रूप सिद्ध होता है। इडागम के अभाव-पक्ष में 'न नश् थ' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६३६. [6]मस्जि-नशोर्झलि[7]। ७। १। ६०

नुम् स्यात्। ननंष्ठ। नेशिव-नेश्व, नेशिम-नेश्म। नशिता, नंष्टा। नशिष्यति, नङ्क्ष्यति। नश्यतु। अनश्यत्। नश्येत्। नश्यात्। अनशत्। षूङ् प्राणिप्रसवे। १३। सूयते। क्रादिनियमादिट्। सुषुविषे। सुषुविवहे। सुषुविमहे। सोता, सविता। दूङ् परितापे। १४। दूयते। दीङ् क्षये। १५। दीयते।

६३६. मस्जि इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झलि) झल् परे होने पर (मस्जि-नशोः) मस्ज् और नश् का अवयव। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'इदितो नुम्धातोः' ७.१.५८ से 'नुँम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झल् (किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह) परे होने पर मस्ज् (तुदादि०, नहाना) और नश् (दिवादि०, नाश होना)—इन दो धातुओं का अवयव 'नुम्' होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह धातु के अन्त्य अच् के बाद आकर उसका अन्तावयव बनता है। उदाहरण के

लिए 'न नश् थ' में झल्-थकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'नश्' के अन्त्य अच्-अकार के बाद 'नुम्' (नकार) होकर 'न न न् श् थ' रूप बनता है। इस स्थिति में नकार के स्थान पर अनुस्वार, षत्व और ष्टुत्व होकर 'ननंष्ठ' रूप सिद्ध होता है।

६३७. दीङो[५] युडचि[७] क्ङिति[७]* । ६ । ४ । ६३

दीङः परस्याजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट्।

(वा०) वुग्युटौ उवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ। दिदीये।

६३७. दीङ इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(दीङः) 'दीङ्' के बाद (अचि) अजादि (क्ङिति) कित् और ङित् का अवयव (युट्) 'युट्' होता है। 'युट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह अजादि कित् और ङित् का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में दी ('दीङ्'–क्षय होना) धातु से आत्मने-पद प्रत्यय 'त', पुनः उसके स्थान पर एश् (एकार) और द्वित्व आदि होकर 'दि दी ए' रूप बनता है। यहाँ 'एश्' अपित् लिट् होने के कारण कित् है और उसके आदि में अच्–एकार भी आया है। अतः प्रकृत सूत्र से उसको 'युट्' (य्) होकर 'दि दी य् ए' रूप बनता है। यहाँ '५६२–असिद्धवदत्राभात्' से 'युट्' (य्) के असिद्ध होने से '२००–एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' से यण् प्राप्त होता है। इस अवस्था में वार्तिककार का नियम प्राप्त होता है—

(वा०) वुग्युटाविति—अर्थ है—(उवङ्यणोः) उवङ् और यण् के विषय में (वुग्युटौ) वुक् और युट् (सिद्धौ) सिद्ध होता है—ऐसा (वक्तव्यौ) कहना चाहिये। इस नियम से 'दि दी य् ए' में युट् (य्) के सिद्ध होने के कारण '२००–एरनेकाचो-०' सूत्र से यण् नहीं होता। तब 'दिदीये' रूप सिद्ध होता है।

६३८. मीनाति-मिनोति-दीङां[६] ल्यपि[७] च[०] । ६ । १ । ५०

एषामात्वं स्यात् ल्यपि चादशित्येज्निमित्ते। दाता। दास्यते।

(वा०) स्थाघ्वोरित्त्वे दीङः प्रतिषेधः। अदास्त।

डीङ् विहायसा गतौ ।१६। डीयते। डिड्ये। डयिता। पीङ् पाने ।१७। पीयते। पेता। अपेष्ट। माङ् माने ।१८। मायते। ममे। जनी प्रादुर्भावे ।१९।

---

* यहां सप्तमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में प्रयुक्त हुई। देखिये 'काशिका'—'दीङ इति पञ्चमी-निर्देशादजादेर्युडागमो भवति।'

६३८. मीनातीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(मीनाति-मिनोति-दीङाम्*) मीञ्, मिञ् और दीङ् के स्थान में (ल्यपि) 'ल्यप्' के विषय में (च) और··· । किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'आदेच उपदेशेऽशिति' ६.१.४५ से 'आत्' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्र में 'च' का प्रयोग होने से 'अशिति' के साथ 'एचः' की भी अनुवृत्ति होती है ।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ल्यप् तथा शित्-भिन्न प्रत्यय परे होने पर एच् (ए ओ ऐ औ) के विषय में मीञ् (हिंसा करना), मिञ् (फेंकना) और दीङ् (क्षय होना)—इन तीन धातुओं के स्थान में आकार आदेश होता है । '२९–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश धातु के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होगा । वास्तव में इस सूत्र का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होता है—

१. ल्यप् के विषय में—जहां ल्यप् का प्रयोग हुआ हो ।

२. शित्-भिन्न प्रत्यय परे होने पर एच् के विषय में—एच् गुण या वृद्धि होने पर ही प्राप्त होता है । अतः जिन स्थलों में मीञ्, मिञ् और दीङ् के स्थान पर शित्-भिन्न प्रत्यय परे होने से 'एच्' प्राप्त होता है, वहां प्रकृत सूत्र से 'एच्' (ए ऐ ओ औ) का बाध होकर आकार आदेश होता है । उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'दीङ्' (दी) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', अडागम और च्लि-सिच् होकर 'अ दी स् त' रूप बनता है । यहां पर आर्धधातुक सिच् (स्) परे होने के कारण '३८८–सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'दी' के ईकार के स्थान पर एच्-एकार प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो जाता है और 'दी' (दीङ्) के ईकार के स्थान पर आकार होकर 'अ द् आ स् त' रूप बनता है । इस स्थिति में 'दीङ्' के घुसंज्ञक होने के कारण '६२४–स्थाघ्वोरिच्च' से पुनः इकार अन्तादेश प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है—

(वा०) स्थाघ्वोरिति—'६२४–स्थाघ्वोरिच्च' से जो इकारादेश प्राप्त होता है, वह 'दीङ्' के स्थान पर नहीं होता । इस प्रकार इकारादेश का प्रतिषेध हो जाने पर 'अदास्त' रूप सिद्ध होता है ।

६३९. ज्ञाजनोर्जा । ७ । ३ । ७९

अनयोर्जाऽऽदेशः स्यात् शिति । जायते । जज्ञे । जनिता । जनिष्यते ।

---

* यहां 'मीनाति' और 'मिनोति' क्रमशः 'मीञ्' (क्रयादि०) और 'मिञ्' (स्वादि०) के लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन के रूप हैं । अतः इनसे मूल धातुओं का ही ग्रहण होता है ।

† 'चकारादेचश्च विषये'—काशिका ।

६३९. ज्ञाजनोरिति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ज्ञा-जनोः) ज्ञा और जन् के स्थान पर (जा) 'जा' होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' ७.३.७५ से 'शिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शित् (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) परे होने पर 'ज्ञा' (क्र्यादि०, जानना) और जन् (दिवादि०, उत्पन्न होना)—इन दो धातुओं के स्थान में 'जा' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी–'ज्ञा' और 'जन्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'जन्' धातु से आत्मनेपद 'त' प्रत्यय, उसके स्थान पर एत्व तथा श्यन् होकर 'जन् य त् ए' रूप बनता है। यहां शित प्रत्यय 'श्यन्' (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'जन्' के स्थान पर 'जा' होकर 'जा य त् ए' = 'जायते' रूप सिद्ध होता है।'

६४०. दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् । ३ । १ । ६१

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यात्, एकवचने तशब्दे परे।

६४०. दीपजनेति—सूत्र का शब्दार्थ है (दीप—प्यायिभ्यः) दीप्, जन्, बुध्, पूरी, ताय् और प्याय् के बाद (अन्यतरस्याम्) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है और किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः' तथा 'चिण् ते पदः' ३.१.६० से 'चिण्' और 'ते' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'त' परे होने पर दीप् (चमकना), जन् (उत्पन्न होना), बुध् (दिवादि०, जानना), पूरी (भरना), ताय् (फैलना, पालना) और प्याय् (फूलना)—इन छः धातुओं के बाद 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'चिण्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर होता है। 'चिण्' में चकार और णकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'इ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'जन्' धातु से आत्मनेपद 'त', 'च्लि' और अडागम होकर 'अजन् च्लि त' रूप बनता है। यहां 'त' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'जन्' के उत्तरवर्ती 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) होकर 'अ जन् इ त' रूप बनेगा। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६४१. चिणो लुक् । ६ । ४ । १०४

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात्।

६४१. चिण इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(चिणः) 'चिण्' के बाद (लुक्) लुक् होता है तात्पर्य यह कि 'चिण्' के बाद जो प्रत्यय आदि आता है, उसका लुक् (लोप) हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अ जन् इ त' में 'चिण्' (इकार) के बाद 'त' आता है, अतः प्रकृत सूत्र से उसका लोप होकर 'अजन् इ' रूप बनता है। यहां चिण् (इ) के णित् होने के कारण '४५५-अत उपधायाः' से उपधा-अकार को वृद्धि-आदेश प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका निषेध हो जाता है—

६४२. जनि-वध्योश्च । ७ । ३ । ३५

अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्यात् चिणि ञ्णिति कृति च । अजनि, अजनिष्ट ।

६४२. जनिवध्योरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (जनि-वध्योः) जन् तथा वध् के स्थान में। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से 'वृद्धिः', 'अचो ञ्णिति' ७.२.११५ से 'ञ्णिति', सम्पूर्ण 'अत उपधायाः' ७.२.११६, 'आतो युक्चिण्कृतोः' ७.३.३३ से 'चिणकृतोः' तथा 'नोदात्तोपदेशस्य-०' ७.३. ३४ से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अत उपधायाः' सूत्रस्थ 'जनि-वध्योः' का अवयव बन जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—चिण्, ञित्, णित् और कृत् प्रत्यय परे होने पर भी जन् और वध् (भ्वादि०, मार डालना)—इन दो धातुओं की उपधा-अकार के स्थान पर वृद्धि नहीं होती। उदाहरण के लिए 'अजन् इ' में णित् 'चिण्' (इ) परे होने पर भी प्रकृत सूत्र से 'जन्' की उपधा-अकार को वृद्धि नहीं होती और इस प्रकार 'अजनि' रूप सिद्ध होता है। चिण् के अभाव में सिच् और इडागम आदि होकर 'अजनिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

६४३. चिण् ते पदः । ३ । १ । ६०

पदेश्च्लेश्चिण् स्यात्तशब्दे परे । अपादि । अपत्साताम् । अपत्सत । विद सत्तायाम् । २२ । विद्यते । वेत्ता । अवित्त । बुध अवगमने । २३ । बुध्यते । बोद्धा । भोत्स्यते । भुत्सीष्ट । अबोधि, अबुद्ध । अभुत्साताम् । युध सम्प्रहारे । २४ । युध्यते । युयुधे । योद्धा । अयुद्ध । सृज विसर्गे । २५ । सृज्यते । ससृजे । ससृजिषे ।

६४३. चिणिति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ते) 'त' परे होने पर (पदः) पद् के बाद (चिण्) 'चिण्' होता है। किन्तु यह 'चिण्' किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'त' परे होने पर पद् (जाना)

धातु के बाद 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' होता है।* उदाहरण के लिए 'पद्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', 'च्लि' और अडागम होकर 'अपद् च्लि त' रूप बनता है। यहां 'त' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'पद्' के पश्चात् 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) होकर 'अपद् इ त' रूप बनता है। इस स्थिति में 'त' का लोप और उपधा-वृद्धि करने पर 'अपादि' रूप सिद्ध होता है।

६४४. [६]सृजि-दृशोर्झल्यमकिति[७] । ६ । १ । ५८

अनयोरमागमः स्याज्झलादावकिति । स्रष्टा । स्रक्ष्यते । सृक्षीष्ट । अस्रष्ट । असृक्षाताम् । मृष् तितिक्षायाम् । २६ । मृष्यति, मृष्यते । ममर्ष । ममर्षिथ । ममृषिषे । मर्षितासि, मर्षितासे । मर्षिष्यति, मर्षिष्यते । णह बन्धने । २७ । नह्यते, नह्यति । ननाह । ननद्ध, नेहिथ । नेहे । नद्धा । नत्स्यति । अनात्सीत्, अनद्ध ।

इति दिवादयः ।

६४४. **सृजिदृशोरिति**—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(झलि†) झलादि (अकिति) कित्-भिन्न प्रत्यय परे होने पर (सृजिदृशोः) सृज् और दृश् का अवयव (अम्) 'अम्' होता है। झल् प्रत्याहार है, और इसमें सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्ण तथा श, ष, स, ह का समाहार होता है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—यदि कित् को छोड़कर अन्य कोई झलादि प्रत्यय (जिसके आदि में झल् वर्ण हो) परे हो तो सृज् (छोड़ना) और दृश् (देखना)—इन दो धातुओं का अवयव 'अम्' होता है। 'अम्' में मकार इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से धातु के अन्त्य अच् (स्वर-वर्ण) के बाद आता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सृज्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', तास् और 'त' के स्थान पर 'डा' आदि होकर 'सृज् त् आ' रूप बनता है। यहां कित्-भिन्न 'तासि' (त्) प्रत्यय परे है, और उसके आदि में झल्–तकार भी आया है। अतः प्रकृत सूत्र से 'सृज्' के सकारोत्तरवर्ती अन्त्य अच्–ऋकार के बाद 'अम्' (अ) होकर 'सृ अ ज् त आ' रूप बनता है। इस स्थिति में यणादेश, षत्व और ष्टुत्व होकर 'स्रष्टा' रूप सिद्ध होता है।‡

दिवादिगण समाप्त ।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६४० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विशेषण होने के कारण यहां तदादि-विधि हो जाती है।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए 'स्रष्टा' की रूप-सिद्धि देखिये।

स्वादिगणः

पुञ् अभिषवे । १ ।

६४५. स्वादिभ्यः श्नुः । ३ । १ । ७३

शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः । '५०१-हुश्नुवोः-०' इति यण्-सुन्वन्ति । सुन्वः, सुनुवः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुन्वहे, सुनुवहे । सुषाव । सुषुवे । सोता । सुनु । सुनवानि । सुनवै । सुनुयात् । सूयात् ।

६४५. स्वादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्वादिभ्यः) 'सु' आदि के बाद (श्नुः) 'श्नु' होता है । इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' तथा 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सु' (स्नान कराना, नहाना, रस निकालना) आदि ३५ धातुएँ हैं जिनका पाठ 'धातुपाठ' में किया गया है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर 'सु' आदि धातुओं से 'श्नु' आता है । यह 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से प्राप्त 'शप्' का बाधक है । 'श्नु' का शकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'नु' ही शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सु' धातु से 'तिप्' (ति) होकर 'सु ति' रूप बनता है । यहां कर्तृवाची सार्वधातुक 'तिप्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'सु' के बाद 'श्नु' (नु) होकर 'सु नु ति' रूप बनेगा । तब तकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर गुण-ओकार होकर 'सुनोति' रूप सिद्ध होता है ।

६४६. स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु । ७ । २ । ७२

एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु । असावीत् । असोष्ट । चिञ् चयने ।२। चिनोति । चिनुते ।

६४६. स्तुसुधूञ्भ्यिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है । शब्दार्थ है—(परस्मैपदेषु) परस्मैपद परे होने पर (स्तुसुधूञ्भ्यः) स्तु, सु और धूञ् के बाद··· । किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इडत्यर्ति-०' ७.२.६६ से 'इट्' तथा 'अञ्जेः सिचि' ७.२.७१ से 'सिचि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सिचि' षष्ठी में विपरिणत हो जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परस्मैपद परे होने पर स्तु (अदादि०, स्तुति करना), धूञ् (कंपाना, हिलाना) और 'सु'—इन तीन धातुओं के बाद 'सिच्' का अवयव 'इट्' होता है । 'इट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'सिच्' का

आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लुङ्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सु' धातु से तिप्, अडागम, च्लि और उसके स्थान पर 'सिच्' (स्) आदि होकर 'अ सु स् त्' रूप बनता है। यहां परस्मैपद तिप् (त्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'सु' के बाद 'सिच्' (स्) को 'इट्' (इ) होकर 'अ सु इ स् त' रूप बनता है। इस स्थिति में अपृक्त तकार को ईट्, सिच् का लोप और सवर्णदीर्घ आदि होकर 'असावीत्' रूप सिद्ध होता है।*

६४७. विभाषा चेः[१] । ७ । ३ । ५८

अभ्यासात् परस्य कुत्वं वा स्यात् सनि लिटि च। चिकाय, चिचाय। चिक्ये, चिच्ये। अचैषीत्। अचेष्ट। स्तृञ् आच्छादने। ३। स्तृणोति। स्तृणुते।

७४७. विभाषेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चेः) 'चि' के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से। किन्तु क्या होता है और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' ७.३.५२ से 'चः' और 'कु', 'अभ्यासाच्च' ७.३.५५ से 'अभ्यासात्' तथा 'सन्लिटोर्जेः' ७.३.५७ से 'सन्लिटोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'चः' सूत्रस्थ 'चेः' का अवयव बन जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सन् और लिट् परे होने पर अभ्यास के बाद 'चि' के चकार के स्थान पर विकल्प से कुत्व—ककार आदेश होता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'चि' (चुनना) धातु से तिप्, उसके स्थान पर णल् (अ) और द्वित्व होकर 'चि चि अ' रूप बनता है। इस स्थिति में लिट्स्थानी णल् परे होने के कारण अभ्यास—प्रथम 'चि' के बाद द्वितीय 'चि' के चकार के स्थान पर प्रकृत सूत्र से ककार होकर 'चि कि अ' रूप बनता है। तब वृद्धि और आयादेश करने पर 'चिकाय' रूप सिद्ध होता है। कुत्व न होने पर 'चिचाय' रूप बनता है।

६४८. शर्पूर्वाः[१] खयः[१] । ७ । ४ । ६१

अभ्यासात् शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। तस्तार। तस्तरुः। तस्तरे। '४९८-गुणोऽर्ति-०' इति गुणः—स्तर्यात्।

६४८. शर्पूर्वा इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शर्पूर्वाः) शर्पूर्वक (खयः) खय्। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' तथा 'हलादिः शेषः' ७.४.६० से 'शेषः' की अनुवृत्ति करनी होगी। शर् और खय्—दोनों ही प्रत्याहार हैं। शर् में

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए 'असावीत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

श, ष, स तथा खय् में सभी वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्णों का समाहार होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अभ्यास के शर्पूर्वक (जिसके पूर्व श, ष, या स आया हो) खय् शेष रहते हैं, अन्य दूसरों का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'स्तृ' (ढांकना, बिछाना) धातु से तिप्, उसके स्थान पर णल्, द्वित्व तथा अभ्यास आदि होकर 'स्त स्तृ अ' रूप बनता है। इस स्थिति में 'हलादिः शेषः' ७.४.६० से अभ्यास के तकार का लोप प्राप्त होता है, किन्तु शर् (स्) पूर्वक होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो जाता है। तब अभ्यास के अन्य हल्—सकार का लोप होकर 'त स्तृ अ' रूप बनता है। यहां गुण और उपधा-दीर्घ करने पर 'तस्तार' रूप सिद्ध होता है।

६४९. ऋतश्च संयोगादेः । ७ । २ । ४३

ऋदन्तात् संयोगादेः परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि। स्तरिषीष्ट, स्तृषीष्ट। अस्तरि, अस्तृत। धूञ् कम्पने। ४। धूनोति। धूनुते। दुधाव। '४७६–स्वरति–०' इति वेट्—दुधविथ, दुधोथ।

६४९. ऋतश्चेति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(च) और (संयोगादेः) संयोगादि (ऋतः) ऋकार के बाद। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'इट् सनि वा' ७.२.४१ से 'इट्' और 'वा' तथा सम्पूर्ण 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' ७.२.४२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ऋत इद्धातोः' ७.१.१०० से 'धातोः' की अनुवृत्ति होती है और वह 'ऋतः' का विशेष्य बनता है। विशेषण होने के कारण 'ऋतः' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आत्मनेपद परे होने पर संयोगादि (जिसके आदि में संयोग हो) ऋकारान्त धातु के बाद लिङ् और सिच् का अवयव विकल्प से 'इट्' होता है। टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से 'इट्' इनका आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'स्तृ' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', और सीयुट् होकर 'स्तृ सीय् त' रूप बनता है। यहां 'स्तृ' धातु संयोगादि ऋकारान्त है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके पश्चात् आत्मनेपदपरक लिङ्स्थानी 'सीय् त' को 'इट्' (इ) होकर 'स्तृ इ सीय् त' रूप बनता है। इस स्थिति में 'त' को सुट्, यकार-लोप, गुणादेश, षत्व और ष्टुत्व होकर 'स्तरिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव-पक्ष में 'स्तृषीष्ट' रूप बनता है।*

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'स्तरिषीष्ट' की रूप-सिद्धि देखिये।

६५०. श्र्युकः किति* । ७ । २ । ११

श्रिञ एकाच उगन्ताच्च गित्कितोरिण् न। परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्याद् अनेन निषेधे प्राप्ते क्रादि-नियमाद् नित्यमिट्। दुधुविव। दुधुवे। अधावीत्, अधविष्ट, अधोष्ट। अधविष्यत्, अधोष्यत्। अधविष्यताम्, अधोष्यताम्। अधविष्यत, अधोष्यत।

इति स्वादयः।

६५०. श्र्युक इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(श्र्युकः) 'श्रि' और उक् से पर (किति) कित् का अवयव...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'नेड्वशि कृति' ७.२.८ से 'न' और 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ 'एकाच उपदेशे-०' ७.२.१० से 'एकाचः' की भी अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'उकः' इस 'एकाचः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—श्रि (भ्वादि०, आश्रय लेना, भोगना आदि) तथा एकाच् (जिनमें केवल एक ही स्वर आया हो) और उगन्त (जिनके अन्त में उ, ऋ या ऌ हो) धातुओं से पर कित् प्रत्यय का अवयव 'इट्' (इ) नहीं होता है। ध्यान रहे कि यह इट्-निषेध केवल 'श्रि' धातु अथवा उन धातुओं के बाद ही प्रवृत्त होगा—जो एकाच् और साथ ही साथ उगन्त भी होंगी। उदाहरण के लिए लिट् लकार के उत्तमपुरुष-द्विवचन में 'धू' (कांपना) धातु से 'वस्' तथा पुनः उसके स्थान पर 'व' होकर द्वित्व और अभ्यासकार्य हो 'दु धू व' रूप बनता है। यहां '४७६–स्वरति-सूति-०' से विकल्प से 'इट्' आगम प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से एकाच् और उगन्त धातु 'धू' से पर कित् प्रत्यय 'व' को इडागम का निषेध हो जाता है। तब '४७९–कृ-सृ-०' से पुनः नित्य इडागम हो 'दु धू इ व' रूप बनता है। यहां 'उवङ्' (उव्) आदेश हो 'दुधुविव'† रूप सिद्ध होता है।

स्वादिगण समाप्त।

---

* 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' परिभाषा से यहां सप्तमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाती है।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'दुधुविव' की रूप-सिद्धि देखिये।

तुदादिगणः

तुद व्यथने । १ ।

६५१. तुदादिभ्यः शः । ३ । १ । ७७

शपोऽपवादः । तुदति, तुदते । तुतोद । तुतोदिथ । तुतुदे । तोत्ता । अतौत्सीत्, अतुत्त । णुद प्रेरणे । २ । नुदति, नुदते । नुनोद । नोत्ता । भ्रस्ज पाके । ३ । '६३४–ग्रहि-ज्या–०' इति सम्प्रसारणम्, सस्य श्चुत्वेन शः, शस्य जश्त्वेन जः–भृज्जति, भृज्जते ।

६५१. तुदादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तुदादिभ्यः) 'तुद्' आदि के बाद (शः) 'श' होता है । किन्तु यह 'श' किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिये 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' और 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'तुद्' आदि १५७ धातुएँ हैं जिनका पाठ 'धातुपाठ' में किया गया है । 'तुद्' आदि में होने के कारण इसे 'तुदादिगण' भी कहते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर 'तुद्' (पीड़ा पहुंचाना) आदि धातुओं के बाद 'श' होता है । यह 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से प्राप्त 'शप्' का बाधक है । 'श' का शकार इत्संज्ञक है, अतः केवल अकार ही शेष रह जाता है । पित् न होने के कारण '५००–सार्वधातुकमपित्' यह ङित्वत् होता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'तुद्' धातु से 'तिप्' (ति) होकर 'तुद् ति' रूप बनता है । यहां कर्तृवाची सार्वधातुक 'तिप्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'तुद्' के बाद 'श' (अ) आता है और रूप बनता है—'तुद् अ ति' । इस स्थिति में 'श' (अ) के ङिद्वत् होने से गुण का निषेध हो जाने पर 'तुदति' रूप सिद्ध होता है ।

६५२. भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् । ६ । ४ । ४७

भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादार्धधातुके । मित्त्वादन्त्यादचः परः । स्थानषष्ठीनिर्देशात् रोपधयोर्निवृत्तिः । बभर्ज । बभर्जतुः । बभर्जिथ, बभर्ष्ठ । बभ्रज्ज । बभ्रज्जतुः । बभ्रज्जिथ । '३०९–स्कोः–०' इति सलोपः, '३०७–व्रश्च–०' इति षः–बभ्रष्ठ । बभर्जे, बभ्रज्जे । भर्ष्टा, भ्रष्टा । भ्रक्ष्यति, भर्क्ष्यति ।

(वा०) क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन ।

भृज्ज्यात् । भृज्ज्यास्ताम् । भृज्ज्यासुः । भर्क्षीष्ट, भ्रक्षीष्ट । अभार्क्षीत्,

अभ्राक्षीत्। अभर्ष्ट, अभ्रष्ट। कृश विलेखने। ४। कृषति, कृषते, चकर्ष। चकृषे।

६५२. भ्रस्ज इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भ्रस्जः) भ्रस्ज् के (रोपधयोः) रकार और उपधा का अवयव (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (रम्) 'रम्' होता है। किन्तु यह किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुके' ६.४.४६ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आर्धधातुक परे होने पर भ्रस्ज् (भूनना) के रकार और उपधा-सकार का अवयव विकल्प से 'रम्' होता है। 'रम्' में 'अम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०-मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह अन्त्य अच् के बाद आता है और उसी का अवयव बन जाता है। किन्तु इस सूत्र में 'रोपधयोः' में स्थान-षष्ठी भी है, अतः 'रम्' (र्) आगम होने के साथ ही साथ आदेशवत् भी प्रयुक्त होता है। आदेशवत् प्रयुक्त होने पर रकार और सकार की निवृत्ति हो जाती है और दोनों के स्थान में केवल 'रम्' (र्) ही रह जाता है।* उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'भ्रस्ज्' धातु से 'तिप्', पुनः उसके स्थान में णल्, द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'ब भ्रस्ज् अ' रूप बनता है। इस अवस्था में आर्धधातुक णल् (अ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'भ्रस्ज्' के रकार और सकार के स्थान में 'रम्' आदेश होता है। मित् होने के कारण यह अन्त्य अच्—रकारोत्तरवर्ती अकार के बाद प्रयुक्त होता है और इस प्रकार 'ब भ् अ र् ज् अ' = 'बभर्ज' रूप सिद्ध होता है। 'रम्' के अभाव-पक्ष में 'बभ्रज्ज' रूप बनता है।

(वा०) क्ङिति—अर्थ है—(क्ङिति) कित् और ङित् परे होने पर (रमागमं बाधित्वा) 'रम्' आगम को बाधित कर (पूर्वविप्रतिषेधेन) पूर्वविप्रतिषेधभाव से (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है। उदाहरण के लिए आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'भ्रस्ज्' धातु से तिप्, यासुट् और इकार-लोप होकर 'भ्रस्ज् या स् त्' रूप बनता है। इस स्थिति में 'ग्रहिज्या—०' ६.१.१६ से 'सम्प्रसारण' और 'भ्रस्जो रोपधयो—०' ६.४.४७ से 'रम्'—ये दोनों आदेश एक साथ ही प्राप्त होते हैं। '११३—विप्रतिषेधे परं कार्यम्' १.४.२ परिभाषा से पहिले रमागम प्राप्त होता है, किन्तु वार्तिक से उसका निषेध हो जाने पर पहिले सम्प्रसारण हो 'भ् ऋ अ स्ज् यास् त्' रूप बनता है। यहाँ पूर्वरूप, सकार को शकार और पुनः जकार आदि होकर 'भृज्ज्यात्' रूप सिद्ध होता है।

६५३. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्। ६। १। ५९

उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधस्तस्याम् वा स्याज्झलादावकिति। क्रष्टा, कर्ष्टा। अक्रक्षीत्।

---

* 'रोपधयोरिति स्थानषष्ठीनिर्देशात् उपधारेफश्च निवर्तते'—काशिका।

(वा०) स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः । अक्राक्षीत्, अकार्क्षीत् , अकृक्षत । अकृष्ट । अकृक्षाताम् । अकृक्षत । क्सपक्षे—अकृक्षत, अकृक्षाताम् , अकृक्षन्त । मिल् संगमे । ५ । मिलति, मिलते । मिमेल । मेलिता । अमेलीत् । मुच्लृ मोचने । ६ ।

६५३. अनुदात्तस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अनुदात्तस्य) अनुदात्त (ऋदुपधस्य) ऋत्-उपधा वाले का अवयव (अन्यतरस्याम्) विकल्प से होता है। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' ६.१.५८ से 'झलि', 'अम्' और 'अकिति', 'आदेच उपदेशेऽशिति' ६.१.४५ से 'उपदेशे' तथा 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' ६.१.८ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' का अन्वय सूत्रस्थ 'ऋदुपधस्य' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय (जिसके आदि में कोई झल् वर्ण हो) परे होने पर उपदेश में अनुदात्त ऋदुपध धातु (जिसकी उपधा में ऋकार हो) का अवयव विकल्प से 'अम्' होता है। मित् होने के कारण '२४०—मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह अन्त्य अच्—ऋकार के बाद आदेश होता है और उसी का अवयव बनता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'कृष्' (जोतना) धातु से तिप् , तास् और डात्व आदि होकर 'कृष् त् आ' रूप बनता है। यहां 'कृष्' धातु की उपधा में ह्रस्व ऋकार है और उपदेश में अनुदात्त भी है। अतः कित्-भिन्न झलादि प्रत्यय 'तास्' (त्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से ऋकार के बाद 'अम्' (अ) हो जाता है और रूप बनता है—'कृ अ ष् त् आ' है। इस स्थिति में यण् और ष्टुत्व होकर 'क्रष्टा' रूप सिद्ध होता है। 'अम्' के अभाव में 'कर्ष्टा' रूप बनता है।

(वा०) स्पृशमृशेति—अर्थ है—स्पृश् (छूना), मृश् (छूना, सोचना,) कृष् (जोतना), तृप् (तृप्त होना) और दृप् (घमंड करना)—इन पांच धातुओं के बाद 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'सिच्' होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'कृष्' धातु के बाद 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' होने पर दो रूप प्राप्त होते हैं—'अम्' का आगम होने पर 'अक्राक्षीत्' और उसके अभाव में 'अकार्क्षीत्'। 'सिच्' के अभाव-पक्ष में क्स होकर 'अकृक्षत्' रूप बनता है।

६५४. शे मुचादीनाम् । ७ । १ । ५९

मुच्-लिप्-विद्-लुप्-सिच्-कृत्-खिद्-पिशां नुम् स्यात् शे परे। मुञ्चति, मुञ्चते । मोक्ता। मुच्यात् । मुक्षीष्ट । अमुचत् । अमुक्त । अमुक्षाताम् । लुप्लृ छेदने । ७ । लुम्पति । लुम्पते । लोप्ता । अलुपत् , अलुप्त । विदॢ

लाभे । ८ । विन्दति, विन्दते । विवेद, विविदे । व्याघ्रभूतिमते सेट्—वेदिता । भाष्यमतेऽनिट्—परिवेत्ता । षिच क्षरणे । ९ । सिञ्चति, सिञ्चते ।

६५४. शे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शे) 'श' परे होने पर (मुचादीनाम्) 'मुच्' आदि का अवयव । किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'इदितो नुम् धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'मुच्' आदि धातुएं आठ हैं—मुच् (छोड़ना), लिप् (लीपना), विद् (प्राप्त करना), लुप् (लोप करना), सिच् (सींचना), कृत् (काटना), खिद् (खिन्न होना) और पिश् (पीसना) । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'श' परे होने पर 'मुच्' आदि आठ धातुओं का अवयव 'नुम्' होता है । 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह धातु के अन्त्य अच् (स्वर-वर्ण) के बाद आता है । उदाहरण के लिए लिट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'मुच्' धातु से तिप् और '६५१–तुदादिभ्यः शः' से 'श' (अ) होकर 'मुच् अ ति' रूप बनता है । यहां 'श' (अ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'मुच्' के अन्त्य अच्-उकार के बाद 'नुम्' (न्) होकर 'मु न् च् अ ति' रूप बनता है । इस स्थिति में अनुस्वार और ञकार होकर 'मुञ्चति' रूप सिद्ध होता है ।

६५५. लिपि-सिचि-ह्वश्च । ३ । १ । ५३

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात् । असिचत् ।

६५५. लिपिसिचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (लिपि-सिचि-ह्वः) लिप्, सिच् तथा ह्वा (ह्वेञ्-स्पर्धा करना) के बाद... । किन्तु होना क्या चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः' तथा 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' ३.१.५२ से 'अङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिप्, सिच् और ह्वा—इन तीन धातुओं के बाद 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' आदेश होता है । अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर होता है । उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सिच' धातु से तिप्, अट् और इकार-लोप तथा 'च्लि' होकर 'अ सिच् च्लि त्' रूप बनता है । यहां प्रकृत सूत्र से 'सिच्' के बाद 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' (अ) होकर 'असिच् अ त्' = 'असिचत्' रूप सिद्ध होता है ।

६५६. आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । ३ । १ । ५४

लिपि-सिचि-ह्वः परस्य च्लेरङ् वा तङि । असिचत, असिक्त । लिप उपदेहे । १० । उपदेहो=वृद्धिः । लिम्पति, लिम्पते । लेप्ता । अलिपत्, अलिपत, अलिप्त । इति उभयपदिनः ।

कृती छेदने । ११ । कृन्तति । चकर्त । कर्तिता । कर्तिष्यति, कर्त्स्यति । अकर्तीत् । खिद परिघाते । १२ । खिन्दति । चिखेद । खेत्ता । पिश अवयवे ।१३। पिशति । पेशिता । ओव्रश्चू छेदने । १४ । वृश्चति । वव्रश्च । वव्रश्चिथ, वव्रष्ठ । व्रश्चिता, व्रष्टा । व्रश्चिष्यति, व्रक्ष्यति । वृश्च्यात् । अव्रश्चीत्, अव्राक्षीत् । व्यच व्याजीकरणे । १५ । विचति । विव्याच । विविचतुः । व्यचिता । व्यचिष्यति । विच्यात् । अव्याचीत्, अव्यचीत् । 'व्यचेः कुटादित्व-मनसि' इति तु नेह प्रवर्तते । अनसीति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात् । उछि उञ्छे । १६ । उञ्छति । 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः । ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । १७ । ऋच्छति । '६१४-ऋच्छत्यृ-ताम्' इति गुणः । द्विहल्ग्रहणस्याऽनेकहल्उपलक्षणत्वान्नुट् । आनर्च्छ । आन-र्च्छतुः । ऋच्छिता । उज्झ उत्सर्गे । १८ । उज्झति । लुभ विमोहने । १९ । लुभति ।

६५६. आत्मनेपदेष्वि‍ति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद परे होने पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से होता है। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः', 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' ३.१.५२ से 'अङ्' तथा 'च' को छोड़कर सम्पूर्ण 'लिपि-सिचि-ह्वश्च' ३.१.५३ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आत्मनेपद परे होने पर लिप्, सिच् और ह्वा—इन तीन धातुओं के बाद 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'अङ्' आदेश होता है। यह पूर्वसूत्र (६५५) से प्राप्त नित्यादेश का बाधक है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सिच्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', 'अट्' तथा 'च्लि' होकर 'असिच् च्लि त' रूप बनता है। यहां आत्मनेपद 'त' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' (अ) होकर 'असिच् अ त' = 'असिचत' रूप सिद्ध होता है। 'अङ्' के अभाव-पक्ष में 'च्लि' के स्थान पर 'सिच्', स-लोप और कुत्व होकर 'असिक्त' रूप बनता है।

६५७. *तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः । ७ । २ । ४८

इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात् । लोभिता, लोब्धा । लोभिष्यति । तृप तृम्फ तृप्तौ । २१ । तृपति । ततर्प । तर्पिता । अतर्पीत् । तृम्फति ।

(वा०) शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः ।†

* यहां सप्तमी-विभक्ति का प्रयोग षष्ठ्यर्थ में हुआ है ।

† यह वार्तिक यहां अप्रासंगिक है। अर्थ है—'तृम्फ्' आदि (सदृश) धातुओं को 'नुम्' (न्) आगम होता है ।

आदिशब्दः प्रकारे। तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः। ततृम्फ। तृफ्यात्।

मृड पृड सुखने । २३ । मृडति । पृडति । शुन गतौ । २४ । शुनति । इषु इच्छायाम् । २५ । इच्छति । एषिता, एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् । कुट कौटिल्ये । २६ । '५८७–गाङ्कुटादि-०' इति ङित्त्वम्–चुकुटिथ । चुकोट । चुकुट । कुटिता । पुट संश्लेषणे । २७ । पुटति । पुटिता । स्फुट विकसने । २८ । स्फुटति स्फुटिता । स्फुर स्फुल संचलने । ३० । स्फुरति ;

६५७. तीषेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इष-सह-लुभ-रुष-रिषः) इष्, सह्, लुभ्, रुष् और रिष् से पर (ति) तकार का अवयव। किन्तु होना क्या चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७.२.३५ से 'आर्धधातुकस्य' और 'इट्' तथा 'स्वरतिसूति-०' ७.२.४४ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ति' में उपादान होने से तदादि-विधि हो जाती है, और वह 'आर्धधातुकस्य' का विशेषण बनता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इष् (इच्छा करना), सह् (सहना आदि), लुभ् (मोहित होना, लोभ करना), रुष् (दुःख देना, मारना) और रिष् (दुख देना, मारना)—इन पांच धातुओं के बाद तकारादि आर्धधातुक (जिसके आदि में तकार हो) का अवयव विकल्प से 'इट्' होता है। टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह तकारादि आर्धधातुक का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'लुभ्' धातु से तिप्, तास् और डात्व होकर 'लुभ् त् आ' रूप बनता है। यहां प्रकृत सूत्र से 'लुभ्' के बाद तकारादि आर्धधातुक 'तास्' (त्) को 'इट्' होकर 'लुभ् इ त् आ' रूप बनता है। तब गुण होकर 'लोभिता' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव में तकार को धकार तथा भकार को बकार आदि होकर 'लोब्धा' रूप बनता है।

६५८. स्फुरति-स्फुलत्योर्निर्निविभ्यः । ८ । ३ । ७६

षत्वं वा स्यात्। निष्फुरति, निस्फुलति। णू स्तवने। ३१। परिणूतगुणोदयः। नुवति। नुनाव। नुविता। टुमस्जो शुद्धौ। ३२। मज्जति। ममज्ज। '६३६–मस्जिनशोः-०' इति नुम्।

(वा०) मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः।

---

* देखिये सिद्धान्तकौमुदी की 'तत्त्वबोधिनी टीका'—'पूर्वसूत्राद्वलादेरित्यनुवर्त्य विशेषणीभूतवल्पदार्थस्य तकारो विशेषणं, तेन तकाररूपवलादेरिति वाच्योऽर्थः।'

संयोगादिलोपः। ममङ्क्थ, ममज्जिथ। मङ्क्ता। मङ्क्ष्यति। अमाङ्क्षीत्। अमाङ्क्ताम्। अमाङ्क्षुः। रुजो भङ्गे। ३३। रुजति। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्। भुजो कौटिल्ये। ३४। रुजिवत्। विश प्रवेशने। ३५। विशति। मृश आमर्शने। ३६। आमर्शनं-स्पर्शः। '६५३--अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्'। अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत्, अमृक्षत्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु। ३७। सीदतीत्यादि। शद्लृ शातने। ३८।

६५८. स्फुरतीति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(निर्निविभ्यः) निर्, नि और वि के बाद (स्फुरति-स्फुलत्योः)* स्फुर् और स्फुल् के स्थान में...। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'सिवादीनां वा-०' ८.३.७१ से 'वा' तथा सम्पूर्ण 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५ की अनुवृत्ति करनी होती है। 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से 'सः' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—निर्, नि और वि के बाद स्फुर् (चेष्टा करना, हिलना-डुलना) और स्फुल् (चेष्टा करना आदि)—इन दो धातुओं के अपदान्त सकार के स्थान पर विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है। '१७—स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार ही होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'नि' उपसर्गपूर्वक 'स्फुर्' धातु से तिप् और श (अ) होकर 'नि स्फुर् अ ति' रूप बनता है। यहाँ 'नि' के बाद आने के कारण प्रकृत सूत्र से 'स्फुर्' के सकार के स्थान पर षकार होकर 'निष् फुर् अ ति'='निष्फुरति' रूप सिद्ध होता है। षकार के अभाव-पक्ष में 'निस्फुरति' रूप बनता है।

(वा०) मस्जेरिति—अर्थ है—(मस्जेः) 'मस्ज्' के (अन्त्यात्पूर्वः) अन्त्यवर्ण के पूर्व (नुम्) 'नुम्' होता है—यह (वक्तव्यः) कहना चाहिये। 'नुम्' मित् है, अतः '२४०—मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह 'मस्ज्' के अन्त्य अच्—मकारोत्तरवर्ती अकार के बाद प्राप्त होता है, किन्तु प्रस्तुत वार्तिक से उसका बाध हो जाने पर यह 'मस्ज्' के अन्त्य वर्ण जकार के पहिले आता है और रूप बनता है—'म स् न् ज्'। 'मस्ज्' (नहाना, धोना) धातु के जिन रूपों में 'नुम्' आता है, वहां इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

६५६. शदेश्शितः। १। ३। ६०

शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः। शीयते। शीयताम्। अशीयत। शीयेत। शशाद। शत्ता। शत्स्यति। अशदत्। अशत्स्यत्। कॄ विक्षेपे। ३९।

---

* ये क्रमशः 'स्फुर्' और स्फुल्' धातुओं के लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन के रूप हैं। अतः इनसे मूल धातुओं का ग्रहण होता है।

६५९. शदेश्शित इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शितः*) शिद्भावी या शित्-सम्बन्धी (शदेः) 'शद्' के बाद । किन्तु होना क्या चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शित् (जिसका शकार इत्संज्ञक हो) की विवक्षा में 'शद्' (नष्ट होना) धातु के बाद आत्मनेपद आता है । 'शद्' धातु मूलतः परस्मैपदी है, किन्तु 'शित्' प्रत्यय की विवक्षा में उसके बाद आत्मनेपद का विधान किया है । तुदादिगण में होने के कारण '६५१-तुदादिभ्यः शः' से कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर 'श' आता है । 'श' प्रत्यय शित् है, अतः जिन स्थलों पर वह धातु के बाद आता है, वहां 'शद्' के शिद्भावी होने के कारण आत्मनेपद प्रत्यय आता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'शद्' के शिद्भावी होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसके बाद आत्मनेपद 'त' होकर 'शिद् त' रूप बनता है । तब 'श', 'शिद्' के स्थान पर 'शीय्' और एत्व होकर 'शीयते' रूप सिद्ध होता है ।

६६०. ॠत[६] इद्धातोः[६] । ७ । १ । १००

ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात् । किरति । चकार । चकरतुः । चकरुः । करीता, करिता । कीर्यात् ।

६६०. ॠत इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है । शब्दार्थ है—(ॠतः†) ॠकारान्त (धातोः) धातु के स्थान में (इत्) ह्रस्व इकार आदेश होता है । '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश धातु के अन्त्य वर्ण-ॠकार के ही स्थान पर होता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'कॄ' (बिखेरना) धातु से तिप् और 'श' होकर 'कॄ अ ति' रूप बनता है । यहां 'कॄ' धातु दीर्घ ॠकारान्त है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके ॠकार के स्थान पर इकार आदेश होता है । '२९-उरण् रपरः' की सहायता से ॠकार के स्थान पर 'इर्' होकर 'क् इ र् अ ति = 'किरति' रूप सिद्ध होता है ।

६६१. किरतौ[७] लवने[७] । ६ । १ । १४०

उपात् किरतेः सुट् छेदने । उपस्किरति ।

---

* यहां 'शितः' में सम्बन्ध-षष्ठी है । शित्-प्रत्यय सार्वधातुक प्रत्यय आने पर ही आते हैं, अतः 'शितः' का अर्थ 'शिद्भावी' (शित् की विवक्षा रखनेवाले) भी होता है—'शदिर्यः शिद्भावी शितो वा सम्बन्धी'—काशिका ।

† 'धातोः' का विशेषण होने के कारण यहां तदन्त-विधि हो जाती है ।

(वा०) अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम् ।

उपास्किरत् । उपचस्कार ।

६६१. किरतौ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लवने) लवन या काटने के अर्थ में (किरतौ*) 'कॄ' परे होने पर। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'उपात्प्रतियत्न-०' ६.१.१३९ से 'उपात्' तथा सम्पूर्ण 'सुट् कात्पूर्वः' ६.१.१३५ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उपात्' में पंचमी बलीयान् होने के कारण सूत्रस्थ 'किरतौ लवने' षष्ठ्यर्थ में विपरिणत हो जाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उप' के बाद छेदन अर्थ में वर्तमान 'कॄ' धातु के ककार के पूर्व 'सुट्' होता है। 'सुट्' में 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह ककार का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'उप' पूर्वक 'कॄ' (छेदना) धातु से तिप्, 'श' और ॠकार के स्थान पर 'इर्' होकर 'उप किरति' रूप बनता है। यहां 'उप' के बाद छेदन अर्थ में 'कॄ' धातु आई है, अतः प्रकृत सूत्र से 'किरति' के ककार के पूर्व 'सुट्' (स्) होकर 'उपस्किरति' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) अडभ्यासेति—(अडभ्यासव्यवायेऽपि) अट् और अभ्यास का व्यवधान होने पर भी (कात्पूर्व) ककार के पूर्व (सुट्) सुट् होता है—(इति) ऐसा (वक्तव्यम्) कहना चाहिये। उदाहरण के लिए लङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'उप' पूर्वक 'कॄ' धातु से तिप् और अडागम आदि होकर 'उप अकिरत्' रूप बनता है। यहां 'उप' के बाद 'कॄ' धातु न होने के कारण '६६१-किरतौ लवने' से सुट् प्राप्त नहीं होता। किन्तु प्रकृत वार्तिक से 'अट्' (अ) का व्यवधान होने पर भी ककार के पूर्व सुट् होकर 'उप अस्किरत्' = 'उपास्किरत्' रूप बनता है। इसी प्रकार 'उपचस्कार' में अभ्यास के व्यवधान का उदाहरण मिलता है। वास्तव में यह वार्तिक 'उप' के बाद अट् या अभ्यास का व्यवधान होने पर भी 'कॄ' (छेदन) के ककार के पूर्व 'सुट्' का विधान करता है।

६६२. हिंसायां प्रतेश्च । ६ । १ । १४१

उपात् प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम् । उपस्किरति । प्रतिस्किरति । गॄ निगरणे । ४० ।

६६२. हिंसायामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (प्रतेः) 'प्रति' के बाद (हिंसायाम्) हिंसा अर्थ में ..। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपात्प्रतियत्न-०' ६.१.१३९ से 'उपात्',

* यह 'किरति' का सप्तम्यन्त रूप है। 'किरति' भी 'कॄ' धातु का लट्लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः इससे मूलधातु का ही ग्रहण होता है।

सम्पूर्ण 'सुट् कात्पूर्वः' ६.१.१३५ तथा 'किरतौ लवने' ६.१.१४० से 'किरतौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'किरतौ' का अन्वय सूत्रस्थ 'हिंसायाम्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उप' और 'प्रति' के बाद हिंसा अर्थ में वर्तमान 'कॄ' धातु के ककार के पूर्व 'सुट्' आता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में हिंसा अर्थ में वर्तमान 'कॄ' धातु का 'उप' पूर्वक पूर्ववत् 'उपस्किरति' रूप बनता है। इसी प्रकार 'प्रति' पूर्वक 'प्रतिस्किरति' रूप बनेगा।*

६६३. अचि विभाषा। ८। २। २१

गिरते रेफस्य लोऽजादौ प्रत्यये। गिरति, गिलति। जगार, जगाल। जगरिथ, जगलिथ। गरिता, गरीता। गलिता, गलीता। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्। ४१। '६३४–ग्रहिज्या–०' इति सम्प्रसारणम्। पृच्छति। पप्रच्छ। पप्रच्छतुः। पप्रच्छुः। प्रष्टा। प्रक्ष्यति। अप्राक्षीत्। मृङ् प्राणत्यागे। ४२।

६६३. अचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अच् परे होने पर (विभाषा) विकल्प से होता है। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'कृपो रो लः' ८.२.१८ से 'रो' और 'लः' तथा 'ग्रो यङि' ८.२.२० से 'ग्रः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ग्रः' शब्द 'गॄ' का षष्ठी-एकवचन का रूप है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अच् (स्वर-वर्ण) परे होने पर 'गॄ' (निगलना) धातु के रकार के स्थान पर विकल्प से लकार होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'गॄ' धातु से तिप्, 'श' और 'इर्' होकर 'गिर् अ ति' रूप बनता है। यहां अच्-अकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'गॄ' (गिर्) के रकार के स्थान पर लकार होकर 'गि ल् अ ति'='गिलति' रूप सिद्ध होता है। लकार के अभाव-पक्ष में 'गिरति' रूप बनता है।

६६४. म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च। १। ३। ६१

लुङ्-लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङ् नान्यत्र। रिङ्, इयङ्–म्रियते। ममार। मर्ता। मरिष्यति। मृषीष्ट। अमृत। पृङ् व्यायामे। ४३। प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः। व्याप्रियते। व्यापप्रे। व्यापरिष्यते। व्यापृत। व्यापृषाताम्। जुषी प्रीतिसेवनयोः। ४४। जुषते। जुजुषे। ओविजी भयचलनयोः। ४५। प्रायेणायमुत्पूर्वः। उद्विजते।

६६४. म्रियतेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (लुङ्-लिङोः) लुङ् और लिङ् परे होने पर (म्रियतेः†) 'मृङ्' के बाद। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (६६१) की व्याख्या देखिये।

† यह 'म्रियते' का पञ्चम्यन्त रूप है। 'म्रियते' भी 'मृङ्' धातु का लट्लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है, अतः इससे मूलधातु का ही ग्रहण होता है।

चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' तथा 'शदेः शितः' १.३.६० से 'शितः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुङ्, लिङ् और शित् के विषय में 'मृ' ('मृङ्'—मरना) के बाद आत्मनेपद आता है। 'मृङ्' के बाद आत्मनेपद 'अनुदात्तङित-०' १.३.१२ से ही प्राप्त है, अतः यह सूत्र केवल नियमार्थ है। इसका तात्पर्य है कि केवल लुङ्, लिङ् तथा शित् के विषय में ही आत्मनेपद होता है, अन्यत्र नहीं। फलस्वरूप लट्, लोट, लङ्, विधि-लिङ्, आशीर्लिङ् और लुङ् में आत्मनेपद होता है तथा लिट्, लुट्, लृट् और लृङ् में परस्मैपद होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में शिद्भावी होने के कारण 'मृ' (मृङ्) धातु के बाद आत्मनेपद प्रत्यय 'त' आता है और रूप बनता है—'मृ त'।* इस स्थिति में 'श', 'रि' 'इयङ्' और एत्व होकर 'म्रियते' रूप सिद्ध होता है।

६६५. विज इट् । १ । २ । २

विजः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्। उद्विजिता।

इति तुदादयः।

६६५. विज इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(विजः) विज् के बाद (इट्) इट्...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' १.२.१ से 'ङित्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विज् (भय और कांपना) धातु के बाद 'इट्' (इकार) ङित् होता है। ङित् होने से उसके परे रहने पर '४३३—क्ङिति च' से गुण और वृद्धि का निषेध हो जाता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'उद्'पूर्वक 'विज्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', 'तास्', 'इट्' और डात्व होकर 'उद् विज् इ त् आ' रूप बनता है। यहां आर्धधातुक 'इट्' (इ) परे होने पर '३८८—सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'विज्' के इकार के स्थान पर गुण—एकार प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से 'इट्' के ङिद्वत् होने से उसका निषेध हो जाता है, और इस प्रकार 'उद्विजिता' रूप सिद्ध होता है।

तुदादिगण समाप्त।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६५९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

रुधादिगणः

रुधिर् आवरणे । १ ।

६६६. रुधादिभ्यः श्नम् । ३ । १ । ७८

शपोऽपवादः । रुणद्धि । '५७६-श्नसोरल्लोपः ।' रुन्धः । रुन्धन्ति । रुणत्सि । रुन्धः । रुन्ध । रुणध्मि । रुन्ध्वः । रुन्ध्मः । रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते । रुन्त्से । रुन्धाथे । रुन्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्महे । रुरोध । रुरुधे । रोद्धा । रोत्स्यति, रोत्स्यते । रुणद्धु । रुन्धात् । रुन्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम । रुन्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्त्स्व । रुणधै । रुणधावहै । रुणधामहै । अरुणत् , अरुणद् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । अरुणत् , अरुणः । अरुन्ध । अरुन्धाताम् । अरुन्धत । अरुन्धाः । रुन्ध्यात् । रुन्धीत । रुध्यात् । रुत्सीष्ट । अरुधत् , अरौत्सीत् । अरुद्ध । अरुत्साताम् । अरुत्सत । अरोत्स्यत् । अरोत्स्यत । भिदिर् विदारणे । २ । छिदिर् द्वैधीकरणे । ३ । युजिर् योगे । ४ । रिचिर् विरेचने । ५ । रिणक्ति । रिङ्क्ते । रिरेच । रेक्ता । रेक्ष्यति । अरिणक् । अरिचत् , अरैक्षीत् , अरिक्त । विचिर् । पृथग्भावे । ६ । विनक्ति । विङ्क्ते । क्षुदिर् सम्पेषणे । ७ । क्षुणत्ति । क्षुन्ते । क्षोत्ता । अक्षुदत् , अक्षौत्सीत् । अक्षुत्त । उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः । ८ । छृणत्ति । छृन्ते । चच्छर्द । '६३०-सेऽसिचि-०' इति वेट् । चच्छृत्से, चच्छृदिषे । छर्दिता । छर्दिष्यति, छर्त्स्यति । अच्छृदत् , अच्छर्दीत् । अच्छर्दिष्ट । उतृदिर् हिंसानादरयोः । ९ । तृणत्ति । तृन्ते । कृती वेष्टने । १० । कृणत्ति । तृह हिसि हिंसायाम् । ११-१२ ।

६६६. रुधादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(रुधादिभ्यः) 'रुध्' आदि के बाद (श्नम्) 'श्नम्' होता है । किन्तु यह 'श्नम्' किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' तथा 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'रुध्' आदि २५ धातुएँ हैं, जिनका पाठ 'धातुपाठ' में किया गया है । आदि में 'रुध्' होने के कारण इसे 'रुधादिगण' भी कहते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर 'रुध्' (रोकना) आदि २५ धातुओं के बाद 'श्नम्' आता है । यह 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से प्राप्त 'शप्' का अपवाद है । 'श्नम्' में शकार और मकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'न' ही शेष रह जाता है । मित् होने के कारण '२४०-मिदचोऽन्त्यात् परः' परिभाषा से यह धातु के अन्त्य अच् के बाद आता

है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'रुध्' धातु से तिप् (ति) होकर 'रुध् ति' रूप बनता है। यहां कर्तृवाची सार्वधातुक 'तिप्' (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'रुध्' के अन्त्य अच्–उकार के बाद 'श्नम्' (न) होकर 'रु न ध् ति' रूप बनता है। तब अन्त्य तकार को धकार, धातु के धकार को तकार तथा नकार को णकार होकर 'रुणद्धि' रूप सिद्ध होता है।

६६७. तृणह[6] इम्[1] । ७ । ३ । ९२

तृहः श्नमि कृते इमागमो हलादौ पिति। तृणेढि। तृण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतृणेट्।

६६७. तृणह इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तृणहः) 'तृणह्' का अवयव (इम्) 'इम्' होता है। किन्तु यह 'इम्' होता किस अवस्था में है—यह जानने के लिए 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' ७.३.८७ से 'पिति सार्वधातुके' तथा 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' ७.३.८९ से 'हलि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हलि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः उससे तदादि-विधि हो जाती है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त होता है और उसका अन्वय सूत्रस्थ 'तृणहः' से होता है। 'तृणह्' 'तृह्' (हिंसा करना) धातु का श्नम्परक रूप है। अतः 'श्नम्' होने के बाद ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है। हलादि पित् सार्वधातुक तीन हैं—तिप्, सिप् और मिप्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तिप्, सिप् या मिप् परे होने पर 'तृणह्' अङ्ग का अवयव 'इम्' होता है। 'इम्' का मकार इत्संज्ञक है, अतः '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह 'तृणह्' के अन्त्य अच्–अकार के बाद आता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'तृह्' धातु से तिप् और श्नम् आदि होकर 'तृ ण ह् ति' रूप बनता है। यहां 'तिप्' (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'तृणह्' के णकारोत्तरवर्ती अकार के बाद 'इम्' (इ) होकर 'तृ ण इ ह् ति' रूप बनता है। तब गुण, हकार को ढकार, तकार को धकार तथा ष्टुत्व आदि होकर 'तृणेढि' रूप सिद्ध होता है।

६६८. श्नान्नलोपः । ६ । ४ । २३

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। हिनस्ति। जिहिंस। हिंसिता।

६६८. श्नान्नेति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(श्नात्*) 'श्नम्' के बाद (नलोपः) नकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के

---

* यह 'श्नम्' प्रत्यय के प्रथम भाग 'श्न' का रूप है, अतः इससे मूलप्रत्यय का ही ग्रहण होता है—'श्नादिति श्नमयमुत्सृष्टमकारो गृह्यते।' (काशिका)

प्रथमपुरुप-एकवचन में 'हिस्' (हिंसा करना) धातु से तिप्, श्नम् और नुम् होकर 'हि न न् स् ति' रूप बनता है। यहां प्रकृत सूत्र से श्नम् (न) के उत्तरवर्ती नकार का लोप होकर 'हि न स् ति' = 'हिनस्ति' रूप सिद्ध होता है।

६६९. तिप्यनस्तेः । ८ । २ । ७३

पदान्तस्य सस्य दः स्यात् तिपि न त्वस्तेः। '१०५–ससजुषो रुः' इत्यस्यापवादः। अहिनत्, अहिनद्। अहिंस्ताम्। अहिंसन्।

६६९. तिप्यनस्तेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तिपि) 'तिप्' परे होने पर (अनस्तेः) 'अस्ति' के स्थान पर नहीं··· । किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'झलां जशोऽन्ते' ८.२.३९ से 'अन्ते', 'ससजुषो रुः' ८.२.६६ से षष्ठ्यन्त 'सः', 'वसुस्रंसु–०' ८.२.७२ से 'दः' तथा अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' का अन्वय 'अन्ते' से होता है। 'अस्ति' 'अस्' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुप-एकवचन का रूप है, अतः इससे मूल धातु का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तिप् परे होने पर पदान्त सकार के स्थान पर दकार होता है, किन्तु 'अस्' (होना) धातु के पदान्त सकार के स्थान पर दकार नहीं होता। उदाहरण के लिए लङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'हिस्' धातु से तिप्, श्नम् और अडागम आदि होकर 'अहिनस्' रूप बनता है।* यहां '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'तिप्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से पदान्त सकार के स्थान पर दकार होकर 'अहिनद्' रूप सिद्ध होता है। इस स्थिति में विकल्प से चर् होकर 'अहिनत्' रूप बनता है।

६७०. सिपि धातो रुर्वा । ८ । २ । ७४

पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्याद्वा। पक्षे '६७–झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वम्–अहिनः, अहिनद्, अहिनत्। उन्दी क्लेदने। १३। उनत्ति। उन्तः। उन्दन्ति। उन्दाञ्चकार। औनत्। औन्ताम्। औन्दन्। औनः, औनत्। औनदम्। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। १४। अनक्ति। अङ्क्तः। अञ्जन्ति। आनञ्ज। आनञ्जिथ, आनङ्क्थ। अञ्जिता, अङ्क्ता। अङ्ग्धि। अनजानि। आनक्।

६७०. सिपीति—सूत्र का शब्दार्थ है – (सिपि) सिप् परे होने पर (धातोः) धातु के स्थान पर (वा) विकल्प से (रुः) 'रु' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्ववत् 'झलां जशोऽन्ते' ८.२.३९ से 'अन्ते', 'ससजुषो रुः' ८.२.६६ से षष्ठ्यन्त 'सः', 'वसुस्रंसु–०'

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अहिनद्' की रूप-सिद्धि देखिये।

८.२.७२ से 'दा' तथा अधिकार-सूत्र 'पदस्य' ८.१.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पदस्य' का अन्वय 'अन्ते' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सिप् परे होने पर धातु के पदान्त सकार के स्थान पर विकल्प से 'रु' होता है। उदाहरण के लिए लङ् लकार के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'हिस्' धातु से सिप्, श्नम्, अडागम और नुम् आदि होकर 'अहिनस्' रूप बनता है। यहां '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'सिप्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से पदान्त सकार के स्थान पर 'रु' होकर 'अहिन रु' रूप बनता है। इस स्थिति में रुत्व-विसर्ग होकर 'अहिनः' रूप सिद्ध होता है। 'रु' के अभावपक्ष में 'झलां जशोऽन्ते' ८.२.३९ से दकार होकर 'अहिनद्' रूप बनता है। विकल्प से चर्त्व होने पर 'अहिनत्' रूप बनेगा।

६७१. अञ्जेः सिचि। ७। २। ७१

अञ्जेः सिचो नित्यमिट् स्यात्। आञ्जीत्। तञ्चू संकोचने। १५। तनक्ति। तङ्क्ता, तञ्चिता। ओविजी भयचलनयोः। १६। विनक्ति। '६६५–विज इट्' इति ङित्त्वम्। विविजिथ। विजिता। अविनक्। अविजीत्। शिष्लृ विशेषणे। १७। शिनष्टि। शिंष्टः। शिंषन्ति। शिनक्षि। शिशेष। शिशेषिथ। शेष्टा। शेक्ष्यति। हेर्धिः। शिण्ढि। शिनषाणि। अशिनट्। शिंष्यात्। शिष्यात्। अशिषत्। एवं पिष्लृ संचूर्णने। १८। भञ्जो आमर्दने। १९। '६६८–श्नान्नलोपः'। भनक्ति। बभञ्जिथ। बभङ्क्थ। भङ्क्ता। भङ्ग्धि। अभाङ्क्षीत्। भुज पालनाभ्यवहारयोः। २०। भुनक्ति। भोक्ता। भोक्ष्यति। अभुनक्।

६७१. अञ्जेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अञ्जेः) 'अञ्ज्' के बाद (सिचि*) 'सिच्' का अवयव...। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'इडत्यर्ति-०' ७.२.६६ से 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अञ्ज्' (तैल मर्दन करना, सजाना) धातु के बाद 'सिच्' का अवयव 'इट्' होता है। 'इट्' में टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'सिच्' का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'अञ्ज्' (अञ्जू) धातु से तिप्, च्लि-सिच्, आडागम आदि होकर 'आञ्ज् स् ई त्' रूप बनता है।† यहां 'अञ्ज्' धातु के बाद होने के कारण

---

* 'अञ्जेः' में पञ्चमी विभक्ति बलीयान् होने के कारण 'सिचि' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'आञ्जीत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

प्रकृत सूत्र से 'सिच्' (स्) को 'इट्' (इ) होकर 'आञ् इ स् ई त्' रूप बनता है। तब स्-लोप और दीर्घादेश होकर 'आञ्जीत्' रूप सिद्ध होगा।

६७२. भुजोऽनवने । १ । ३ । ६६

तङानौ स्तः। ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम् ? महीं भुनक्ति। ञिइन्धी दीप्तौ। २१। इन्धे। इन्धाते। इन्धते। इन्त्से। इन्ध्वे। इन्धाञ्चक्रे। इन्धिता। इन्धाम्। इन्धाताम्। इनधै। ऐन्ध। ऐन्धाताम्। ऐन्धाः। विद विचारणे। २२। विन्ते। वेत्ता।

इति रुधादयः।

६७२. भुज इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनवने) रक्षणभिन्न अर्थ में (भुजः) 'भुज्' के बाद...। किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—रक्षणभिन्न अर्थ (भक्षण करना आदि) में 'भुज्' धातु के बाद आत्मनेपद आता है। उदाहरण के लिए 'ओदनं भुङ्क्ते' में भुज्' धातु का अर्थ खाना है, अतः लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'भुज्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' आदि होकर यह रूप बनता है। किन्तु जब 'भुज्' का अर्थ पालन करना होता है तब परस्मैपद का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'महीं भुनक्ति' में 'भुज्' धातु का अर्थ है—पालन या रक्षण करना। अतः यहां परस्मैपद प्रत्यय 'तिप्' आदि होकर लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में यह रूप बनता है।

रुधादिगण समाप्त।

तनादिगणः

तनु विस्तारे । १ ।

६७३. तनादिकृञ्भ्य उः । ३ । १ । ७९

शपोऽपवादः । तनोति । तनुते । ततान । तेने । तनितासि । तनितासे । तनिष्यति । तनिष्यते । तनोतु । तनुताम् । अतनोत् । अतनुत । तनुयात् । तन्वीत । तन्यात् । तनिषीष्ट । अतनोत्–अतानीत् ।

६७३. तनादीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तनादिकृञ्भ्यः) 'तन्' आदि और 'कृञ्' के बाद (उः) 'उ' होता है। किन्तु यह किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' तथा 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तन्' आदि दस धातुएं हैं जिनका पाठ 'धातुपाठ' में किया गया है। आदि में 'तन्' होने से इसे 'तनादिगण' भी कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर 'तन्' (फैलाना) आदि दस धातुओं तथा 'कृञ्' (करना) धातु के बाद 'उ' प्रत्यय आता है। यह 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से प्राप्त 'शप्' का अपवाद है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'तन्' धातु से तिप् होकर 'तन् ति' रूप बनता है। यहां कर्तृवाची सार्वधातुक 'तिप्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'तन्' के बाद 'उ' आता है और रूप बनता है—'तन् उ ति'। तब सार्वधातुक गुण होकर 'तनोति' रूप सिद्ध होता है।

३७४. तनादिभ्यस्तथासोः । २ । ४ । ७९

तनादेः सिचो वा लुक् स्यात् त-थासोः। अतत, अतनिष्ट । अतथाः, अतनिष्ठाः । अतनिष्यत् । अतनिष्यत । षणु दाने । २ । सनोति । सनुते ।

३७४. तनादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तथासोः) त और थास् परे होने पर (तनादिभ्यः) 'तन्' आदि के बाद··· । किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः–०' २.४.७७ से 'सिचः', 'विभाषा घ्राधेट्–०' २.४.७८ से 'विभाषा' तथा 'ण्यक्षत्रियार्षञितो–०' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'त' और 'थास्' परे होने पर 'तन्' आदि दस धातुओं के बाद 'सिच्' के स्थान में (विभाषा) विकल्प से लुक् होता है। लुक् होने पर उसका लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'तन्' धातु से आत्मनेपद

प्रत्यय 'त', अडागम और च्लि-सिच् आदि होकर 'अ तन् स् त' रूप बनता है। यहां 'त' परे होने के कारण प्रकृतसूत्र से 'तन्' के उत्तरवर्ती 'सिच्' (स्) का लोप होकर 'अ तन् त' रूप बनता है। इस स्थिति में अनुनासिक नकार का लोप करने पर 'अतत' रूप सिद्ध होता है। 'सिच्' के लोपाभाव-पक्ष में इट्, षत्व और ष्टुत्व होकर 'अतनिष्ट' रूप बनता है।

३७५. ये विभाषा । ६ । ४ । ४३

जन-सन-खनामात्वं वा यादौ क्ङिति । सायात्-सन्यात् । असानीत्-असनीत् ।

३७५. ये इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ये*) यकार परे होने पर (विभाषा) विकल्प से...। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'जनसनखनां–०' ६.४.४२ से 'जनसनखनां', 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' ६.४.४१ से 'आत्' तथा 'अनुदात्तोपदेश–०' ६.४.३७ से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ये' 'क्ङिति' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यकारादि (जिसके आदि में यकार आया हो) कित् या ङित् परे होने पर जन् (पैदा करना, पैदा होना), सन् (दान देना) और खन् (खोदना)—इन तीन धातुओं के स्थान में विकल्प से (आत्) दीर्घ आकार होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आकार धातु के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सन्' (षण्) धातु से तिप्, यासुट् और सकार-लोप आदि होकर 'सन् या त्' रूप बनता है। यहां यकारादि यासुट् (या) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'सन्' के अन्त्य वर्ण–नकार के स्थान पर आकार होकर 'स आ या त्' रूप बनता है। तब सवर्णदीर्घ होकर 'सायात्' रूप सिद्ध होता है। आकार के अभावपक्ष में 'सन्यात्' रूप बनता है।

६७६. जन-सन-खनां सञ्झलोः । ६ । ४ । ४२

एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सनि झलादौ क्ङिति । असात, असनिष्ट । असाथाः, असनिष्ठाः । क्षणु हिंसायाम् । ३ । क्षणोति । क्षणुते । '४६६–ह्म्यन्त–०' इति न वृद्धिः । अक्षणीत् । अक्षत, अक्षणिष्ट । अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः । क्षिणु च । ४ । उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा । क्षिणोति, क्षेणोति । क्षेणिता ।

* 'ये' 'य' का सप्तम्यन्त रूप है। 'य' में अकार उच्चारणार्थक है, अतः केवल यकार का ही ग्रहण होता है।

अक्षेणीत् । अक्षित-अक्षेणिष्ट । तृणु अदने । ५ । तृणोति, तर्णोऽति । तृणुते, तर्णुते । डुकृञ् करणे । ६ । करोति ।

६७६. जनसनेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सञ्झलोः) सन् और झल् परे होने पर (जनसनखनाम्) जन्, सन् और खन् के स्थान में...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' ६.४.४१ से 'आत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। साथ ही साथ 'अनुदात्तोपदेश–०' ६.४.३७ से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'झलि' 'क्ङिति' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सन् और झलादि (जिसके आदि में कोई झल्-वर्ण हो) कित्-ङित् परे होने पर जन्, सन् और खन्–इन तीन धातुओं के स्थान में दीर्घ आकार आदेश होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आकार इन धातुओं के अन्त्य वर्ण–नकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सन्' (षण्) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', अडागम, च्लि-सिच और विकल्प से सिच् का लोप होकर 'असन् त' रूप बनता है। यहां झलादि ङित् 'त' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'सन्' के नकार के स्थान पर आकार होकर 'अ स् आ त' रूप बनता है। तब सवर्णदीर्घ होकर 'असात' रूप सिद्ध होता है। सिच् के लोप के अभाव-पक्ष में इडागम, षत्व और ष्टुत्व होकर 'असनिष्ट' रूप सिद्ध होता है।

६७७. अत[6] उत्[1] सर्वाधातुके[7] । ६ । ४ । ११०

उप्रत्ययान्तस्य कृञोऽकारस्य उत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति । कुरुतः ।

६७७. अत उदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (अतः) ह्रस्व अकार के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नित्यं करोतेः' ६.४.१०८ से 'करोतेः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'करोतेः' 'करोति' का षष्ठयन्त रूप है। 'करोति' स्वतः ही 'कृञ्' (कृ) धातु का लट्लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है, अतः इससे मूल धातु का ही ग्रहण होता है। साथ ही 'गमहनजनखनघसां–०' ६.४.९८ से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति होती है। इसका अन्वय सूत्रस्थ 'सार्वधातुके' के साथ होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित्-ङित् सार्वधातुक परे होने पर 'कृ' धातु के अकार के स्थान पर उकार होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष द्विवचन में 'कृ' धातु से 'तस्', उ–प्रत्यय और गुणादेश होकर 'करु तस्' रूप बनता है। यहां ङित् सार्वधातुक 'तस्', परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'करु' (कृ) धातु के ककारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर उकार होकर 'क् उ रु त स्' रूप बनता है। तब रुत्व-विसर्ग होकर 'कुरुतः' रूप सिद्ध होता है।

६७८. नँ भ-कुर्छुराम्[१] । ८ । २ । ७९

भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया न दीर्घः । कुर्वन्ति ।

६७८. न भेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भकुर्छुराम्) भ, कुर् और छुर् के स्थान में (न) नहीं होता । किन्तु क्या नहीं होता—यह जानने के लिए 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' ८.२.७६ से 'र्वोरुपधाया दीर्घः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'र्वोः' सूत्रस्थ षष्ठयन्त 'भस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । 'भ' एक पारिभाषिक शब्द है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—रकारान्त और वकारान्त 'भ'*, 'कुर्' तथा 'छुर्' की उपधा* के स्थान में दीर्घ नहीं होता । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-बहुवचन में 'कृ' धातु से 'झि', झकार के स्थान पर 'अन्त्', उ-प्रत्यय, धातु के अकार के स्थान पर उकार तथा यण् होकर 'कुर् व् अन्ति' रूप बनता है । यहां '६१२-हलि च' से 'कुर्' की उपधा-उकार के स्थान पर दीर्घ ऊकार आदेश प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से 'कुर्' की उपधा में उसका निषेध हो जाता है और इस प्रकार 'कुर्वन्ति' रूप सिद्ध होता है ।

६७९. नित्यं[१] करोतेः[२] । ६ । ४ । १०८

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः । कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । चकार । चक्रे । कर्ता । कर्तासि । कर्तासे । करिष्यति । करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत् । अकुरुत ।

६७९. नित्यमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(करोतेः†) 'कृ' धातु के बाद (नित्यम्) नित्य होता है । किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उतश्च प्रत्ययाद्–०' ६.४.१०६ से 'उतः प्रत्ययाद्' तथा 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां–०' ६.४.१०७ से 'लोपः' तथा 'म्वोः' की अनुवृत्ति करनी होगी । सामर्थ्यभाव से 'उतः प्रत्ययाद्' षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—मकार या वकार परे होने पर 'कृ' धातु के बाद उकारान्त प्रत्यय का नित्य लोप होता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के उत्तमपुरुष द्विवचन में 'कृ' धातु से 'वस्', उ-प्रत्यय और गुण आदि होकर 'कुर् उ वस्' रूप बनता है । यहां वकारादि 'वस्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'कुर् (कृ) के बाद उकारान्त प्रत्यय 'उ' का लोप होकर 'कुर् वस्' रूप बनता है । तब सकार के स्थान पर रुत्व-विसर्ग होकर 'कुर्वः' रूप सिद्ध होता है ।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये ।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६७७ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

विशेष—यहां '५०२-लोपश्चास्यान्यतरस्यां-०' विकल्प से लोप प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध कर नित्य लोप का विधान किया गया है।

६८०. ये[7] च। ६। ४। १०९

कृञ उलोपः स्यात् यादौ प्रत्यये परे। कुर्यात्। कुर्वीत। क्रियात्। कृषीष्ट। अकार्षीत्। अकृत। अकरिष्यत्। अकरिष्यत।

६८०. ये चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ये*) यकार परे होने पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां-०' ६.४.१०७ से 'लोपः' और 'उतश्च प्रत्ययाद्-०' ६.४.१०६ से 'उतः प्रत्ययाद्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सामर्थ्य-भाव से 'उतः प्रत्ययाद्' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। 'नित्यं करोतेः' ६.४.१०८ से 'करोतेः' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यकार (यकारादि प्रत्यय) परे होने पर 'कृ' धातु के बाद उकारान्त प्रत्यय का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए विधिलिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'कृ' धातु से 'तिप्', इकार-लोप, उ-प्रत्यय, गुण और यासुट् आदि होकर 'कुर् उ यात्' रूप बनता है। यहां यकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'कुर्' (कृ) के बाद उकारान्त प्रत्यय 'उ' का लोप होकर 'कुर्यात्' रूप सिद्ध होता है।

६८१. सम्परिभ्यां[5] करोतौ[7]† भूषणे[7]। ६। १। १३७

६८१. सम्परिभ्यामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सम्परिभ्यां) सम् और परि के बाद (भूषणे) सजाने के अर्थ में वर्तमान (करोतौ) 'कृ' धातु के......। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'सुट् कात्पूर्वः' ६.१.१३५ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम् और परि के बाद भूषण (सजाना) अर्थ में वर्तमान 'कृ' धातु के ककार के पूर्व 'सुट्' आता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सम्'पूर्वक 'कृ' (सजाना) धातु से तिप्, उ-प्रत्यय और गुण आदि होकर 'सम् करोति' रूप बनता है। यहां 'सम्' के बाद सजाने के अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से 'करोति' (कृ) के ककार के पूर्व 'सुट्' (स्) होकर 'सम् स्करोति' = 'संस्करोति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'परि' के बाद सजाने के अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग होने पर 'परिष्करोति' रूप बनता है।

---

* 'ये' 'य' का सप्तम्यन्त रूप है। 'य' में अकार उच्चारणार्थक है, अतः केवल यकार का ही ग्रहण होता है।

† यहां सप्तमी विभक्ति षष्ठ्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

६८२. समवाये च । ६ । १ । १३८

सम्परिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्यात् भूषणे संघाते चार्थे । संस्करोति अलङ्करोतीत्यर्थः । संस्कुर्वन्ति सङ्घीभवन्तीत्यर्थः । सम्पूर्वस्य क्वचिद् अभूषणेऽपि सुट् । 'संस्कृतं भक्षाः' इति ज्ञापकात् ।

६८२. समवाये इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (समवाये) समूह अर्थ में...। यहां सूत्रस्थ 'च' से पता लग जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुट् कात्पूर्वः' ६.१.१३५ और 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' ६.१.१३७ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का शब्दार्थ है—सम् और परि के बाद समूह (इकट्ठा होना) अर्थ में वर्तमान 'कृ' धातु के ककार के पूर्व सुट् आता है। उदाहरण के लिए 'सम्' के बाद समूह अर्थ में प्रयुक्त 'कृ' धातु को सुट् होकर पूर्ववत् लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'संस्करोति' रूप बनता है, जिसका अर्थ है—'इकट्ठा होता है'। इसी प्रकार लट्लकार के प्रथमपुरुष-बहुवचन में 'संस्कुर्वन्ति' रूप बनता है, जिसका अर्थ है—'इकट्ठे होते हैं'।

६८३. उपात् प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु च । ६ । १ । १३९

उपात् कृञः सुट् स्यादेष्वर्थेषु चात् प्रागुक्तयोरर्थयोः । प्रतियत्नो=गुणाधानम् । विकृतमेव वैकृतं = विकारः । वाक्याध्याहारः = आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम् । उपस्कृता कन्या । उपस्कृता ब्राह्मणाः । एधो दकस्योपस्कुरुते । उपस्कृतं भुङ्क्ते । उपस्कृतं ब्रूते । वनु याचने । ७ । वनुते । वव्ने । मनु अवबोधने । ८ । मनुते । मेने । मनिता । मनिष्यते । मनुताम् । अमनुत । मन्वीत । मनिषीष्ट । अमनिष्ट । अमत । अमनिष्यत ।

इति तनादयः ।

६८३. उपादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपात्) 'उप' के बाद (प्रतियत्न—वाक्याध्याहारेषु) प्रतियत्न, वैकृत तथा वाक्याध्याहार अर्थ में (च) और । किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुट् कात्पूर्वः' ६.१.१३५, 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' ६.१.१३७ से 'करोतौ भूषणे' तथा 'समवाये च' ६.१.१३८ से 'समवाये' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उप के बाद १. सजाना, २. इकट्ठा होना, ३. प्रतियत्न (गुण-रंग का ग्रहण करना), ४. वैकृत (विकार) और ५. वाक्याध्याहार (जिसकी आकांक्षा हो उस एकदेश को पूरा करना)—इन पाँच अर्थों में वर्तमान 'कृ' धातु के ककार के पूर्व 'सुट्' आता है । इन सबके उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) उपस्कृता कन्या (सजी हुई कन्या)—'उप कृता' में 'कृ' धातु सजाने के अर्थ में होने के कारण ककार के पूर्व सुट् होकर 'उपस्कृता' रूप बनता है।

(२) उपस्कृता ब्राह्मणाः (इकट्ठे हुए ब्राह्मण)—मूलरूप 'उप कृता' में 'उप' के बाद 'कृ' धातु इकट्ठा होने के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। अतः उसको सुट् (स्) होकर 'उपस्कृता' रूप बनता है।

(३) एधो दकस्योपस्कुरुते (लकड़ी जल में अपना गुण आधान करती है)—यहां 'उप कुरुते' में 'कृ' धातु प्रतियत्न (गुण-ग्रहण) अर्थ में प्रयुक्त हुई है। अतः 'उप' के बाद 'कृ' के ककार के पूर्व सुट् (स्) होकर 'उपस्कुरुते' रूप बनता है।

(४) उपस्कृतं भुङ्क्ते (विकृत चीज को खाता है)—मूल रूप 'उप कृतं' में 'कृ' धातु विकार के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। अतः 'उप' के पश्चात् होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसके ककार के पूर्व सुट् (स्) होकर 'उपस्कृतं' रूप बनता है।

(५) उपस्कृतं ब्रूते (वाक्य का अध्याहार करते हुए बोलता है)—'उप कृतं' में 'कृ' धातु का प्रयोग वाक्याध्याहार के अर्थ में हुआ है। अतः 'उप' से परे 'कृतम्' के ककार के पूर्व 'सुट्' होकर 'उपस्कृतम्' रूप बनता है।

तनादिगण समाप्त।

क्र्यादिगणः

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये । १ ।

६८४. क्र्यादिभ्यः श्ना । ३ । १ । ८१

शपोऽपवादः । क्रीणाति । '६१८–ई हल्यघोः'—क्रीणीतः । '६१९–श्नाभ्यस्तयोरातः'—क्रीणन्ति । क्रीणासि । क्रीणीथः । क्रीणीथ । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीमः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीषे । क्रीणाथे । क्रीणीध्वे । क्रीणे । क्रीणीवहे । क्रीणीमहे । चिक्राय । चिक्रियतुः । चिक्रियुः । चिक्रेथ, चिक्रयिथ । चिक्रिये । क्रेता । क्रेष्यति । क्रेष्यते । क्रीणातु, क्रीणीतात् । क्रीणीताम् । अक्रीणात् । अक्रीणीत । क्रीणीयात्, क्रीणीत । क्रीयात् । क्रेषीष्ट । अक्रैषीत् । अक्रेष्ट । अक्रेष्यत् । अक्रेष्यत । प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च । २ । प्रीणाति । प्रीणीते । श्रीञ् पाके । ३ । श्रीणाति । श्रीणीते । मीञ् हिंसायाम् । ४ ।

६८४. क्र्यादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्र्यादिभ्यः) 'क्री' आदि के बाद (श्ना) 'श्ना' आता है । किन्तु यह किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'सार्वधातुके यक्' ३.१.६७ से 'सार्वधातुके' तथा 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'क्री' आदि ६१ धातुएं हैं जिनका पाठ 'धातुपाठ' में किया गया है । आदि में 'क्री' होने के कारण इसे 'क्र्यादिगण' भी कहते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर 'क्री' (खरीदना) आदि ६१ धातुओं के बाद 'श्ना' आता है । यह 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से प्राप्त 'शप्' का बाधक है । 'श्ना' में शकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'ना' ही शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'क्री' धातु से तिप् होकर 'क्री ति' रूप बनता है । यहां कर्तृवाची सार्वधातुक तिप् (ति) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'क्री' के बाद 'श्ना' (ना) होकर 'क्री ना ति' रूप बनता है । तब नकार के स्थान पर णकार होकर 'क्रीणाति' रूप सिद्ध होता है ।

६८५. हिनु-मीना । ८ । ४ । १५

उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्यैतयोर्नस्य णः स्यात् । प्रमीणाति । प्रमीणीते । '६३८–मीनाति–०' इत्यात्त्वम्–ममौ । मिम्यतुः । ममिथ, ममाथ । मिम्ये । माता । मास्यति । मीयात् । मासीष्ट । अमासीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त । षिञ् बन्धने । ५ । सिनाति । सिनीते । सिषाय । सिष्ये । सेता । स्कुञ् आप्लवने । ६ ।

६८५. हिनुमीनेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हिनुमीना) हिनु और मीना के··· । किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ से 'रषाभ्यां नो णः' तथा 'उपसर्गाद-समासेऽपि–०' ८.४.१३ से 'उपसर्गाद्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'उपसर्गात्' का अन्वय 'रषाभ्याम्' से होता है । 'हिनु' 'हि' धातु (स्वादि०, भेजना, बढ़ाना) का श्नु-प्रत्ययान्त रूप है । 'मीना' भी 'मीञ्' (क्र्यादि०, हिंसा करना) धातु का श्ना-प्रत्ययान्त रूप है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्ग में स्थित रकार और षकार के बाद 'हिनु' (श्नु-प्रत्ययान्त 'हि' धातु) और 'मीना' (श्ना-प्रत्ययान्त 'मीञ्' धातु) के नकार के स्थान पर णकार होता है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'प्र' पूर्वक 'मी' (मीञ्) धातु से तिप् और श्ना-प्रत्यय होकर 'प्रमीना ति' रूप बनता है । यहां उपसर्ग 'प्र' में रकार होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसके उत्तरवर्ती 'मीना' के नकार के स्थान पर णकार होकर 'प्रमीणाति' रूप सिद्ध होता है ।

६८६. स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः[५] श्नुश्च[२] । ३ । १ । ८२

एभ्यः श्नुप्रत्ययः स्यात् चात् श्ना । स्कुनोति, स्कुनाति । स्कुनुते, स्कुनीते । चुस्काव । चुस्कुवे । स्कोता । अस्कौषीत् । अस्कोष्ट । स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः । सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः ।

६८६. स्तन्भुस्तुन्भु इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्तन्भु—स्कुञ्भ्यः) स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु और स्कुञ् के बाद (श्नुः) 'श्नु' होता है (च) और··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिये 'क्र्यादिभ्यः श्ना' ३.१.८१ से 'श्ना' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु* और स्कुञ् (कूदना)—इन पांच धातुओं के बाद 'श्नु' और 'श्ना'—दोनों ही होते हैं । यहां ध्यान रखना चाहिये कि ये प्रत्यय कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर ही होंगे† । अतः इन स्थलों पर 'स्तन्भु' आदि पांच धातुओं के दो-दो रूप बनते हैं । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'स्कु' (स्कुञ्) धातु से तिप्, श्नु और सार्वधातुक गुण होकर 'स्कुनोति' रूप सिद्ध होता है । 'श्ना' प्रत्यय होने पर 'स्कुनाति' रूप बनता है ।

---

* इन चारों धातुओं का अर्थ है—'रोकना' ।

† देखिये—६८४ वें सूत्र की व्याख्या ।

६८७. हलः[2] श्नः[6] शानज्झौ[7] । ३ । १ । ८३

हलः परस्य श्नः शानजादेशः स्याद् हौ परे । स्तभान ।

६८७. हल इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झौ*) 'हि' परे होने पर (हलः) हल् के बाद (श्नः) 'श्ना' के स्थान पर (शानच्) 'शानच्' आदेश होता है। इसके विशेष-स्पष्टीकरण के लिये 'धातोरेकाचो हलादेः–०' ३.१.२२ से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'हलः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—'हि' परे होने पर हलन्त (जिसके अन्त में व्यंजन-वर्ण हो) धातु के बाद 'श्ना' के स्थान पर 'शानच्' होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'श्ना' के स्थान पर होता है। 'शानच्' में चकार और शकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'आन' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए लोट् लकार के मध्यमपुरुष-एकवचन में 'स्तन्भ्' (स्तन्भु) धातु से सिप्, श्ना-प्रत्यय और 'सि' के स्थान पर 'हि' आदि होकर 'स्तभ् ना हि' रूप बनता है।† यहाँ 'हि' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से हलन्त धातु 'स्तभ्' के बाद 'ना' (श्ना) के स्थान पर 'शानच्' (आन) आदेश हो जाता है और रूप बनता है—'स्तभ् आन हि'। तब 'हि' का लोप होकर 'स्तभ् आन' = 'स्तभान' रूप सिद्ध होता है।

६८८. जॄ-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च । ३ । १ । ५८

च्लेरङ् वा स्यात् ।

६८८. जॄ-स्तन्भु इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (जॄ–श्विभ्यः) जॄ, स्तन्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु और श्वि के बाद··· । किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः', 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' ३.१.५२ से 'अङ्' तथा 'इरितो वा' ३.१.५७ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जॄ (जीर्ण होना), स्तन्भु (रोकना), म्रुचु (जाना), म्लुचु (जाना), ग्रुचु (चोरी करना), ग्लुचु (चोरी करना), ग्लुञ्चु (जाना) और श्वि (जाना)—इन आठ धातुओं के बाद 'च्लि' के स्थान पर (वा) विकल्प से अङ् (अ) आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर

---

* यह वास्तव में 'हौ' का सन्धि-गत विकृत रूप है।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'स्तभान' की रूप-सिद्धि देखिये।

होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'वि' पूर्वक 'स्तन्भ्' (स्तन्भु) धातु से तिप्, अडागम और च्लि होकर 'वि अ स्तन्भ् च्लि ति' रूप बनता है। यहां प्रकृत सूत्र से 'स्तम्भ्' के बाद 'च्लि' के स्थान पर 'अङ्' होकर 'वि अ स्तन्भ् अ ति' रूप बनेगा। तब नकार-लोप होकर 'वि अ स्तभ् अ ति' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६८६. स्तन्भेः[६] । ८ । ३ । ६७

स्तन्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्, व्यष्टभत्, अस्तम्भीत्। युञ् बन्धने । ७ । युनाति । युनीते । योता । क्नूञ् शब्दे । ८ । क्नूनाति । क्नूनीते । क्नविता । द्रूञ् हिंसायाम् । ९ । द्रूणाति । द्रूणीते । दृञ् हिंसायाम् । १० । दृणाति । दृणीते । पूञ् पवने । ११ ।

६८९. स्तन्भेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्तन्भेः) 'स्तन्भ्' के··· । किन्तु क्या होता है और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' ८.३.५५, 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से 'सः' तथा 'उपसर्गात् सुनोति–०' ८.३.६५ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्ग के पश्चात् 'स्तम्भ्' धातु के अपदान्त सकार के स्थान पर मूर्धन्य आदेश होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार ही होता है। उदाहरण के लिए 'वि अ स्तन्भ् अ ति' में उपसर्ग 'वि' के बाद आने के कारण प्रकृत सूत्र से 'स्तन्भ्' के सकार के स्थान पर षकार होकर 'वि अ ष् तन्भ् अ ति' रूप बनता है। इस स्थिति में नकार और इकार-लोप होकर 'वि अ ष् त भ् अ त्' रूप बनता है। तब ष्टुत्व और यणादेश होकर 'व्यष्टभत्' रूप सिद्ध होता है। अङ् के अभाव-पक्ष में सिच्, इट्, ईट्, और सिच्-लोप आदि होकर 'अस्तम्भीत्' रूप सिद्ध होगा।

६९०. प्वादीनां[६] ह्रस्वः[१] । ७ । ३ । ८०

पूञ् लूञ्-स्तॄञ् कॄञ् वॄञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ जॄ झॄ धॄ नॄ कॄ ऋॄ गॄ ज्या री ली व्ली प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः। पुनाति । पुनीते । पविता । लूञ् छेदने । १२ । लुनाति । लुनीते । स्तॄञ् आच्छादने । १३ । स्तृणाति । स्तृणीते । '६४८–शर्पूर्वाः खयः' । तस्तार । तस्तरतुः । तस्तरे । स्तरिता, स्तरीता । स्तृणीयात् । स्तृणीत । स्तीर्यात् ।

६९०. प्वादीनामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्वादीनाम्) 'पू' आदि के स्थान में (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति'

७.३.७५ से 'शिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पू' आदि धातुएं २४ हैं—पूञ् (पवित्र करना), लूञ् (काटना), स्तॄञ् (ढकना), कॄञ् (हिंसा करना), वृञ् (स्वीकार करना), धूञ् (कंपाना), शॄ (हिंसा करना), पॄ (पालन करना), वॄ (वरण करना), भॄ (भरण करना), मॄ (मरना), दॄ (हिंसा करना) जॄ (जीर्ण होना), झॄ (जीर्ण होना) धॄ (धारण करना), नॄ (नाश करना), कॄ (हिंसा करना) ॠ (जाना), गॄ (निगलना), ज्या (बूढ़ा होना), री (हिंसा करना), ली (मिलना), व्ली (स्वीकार करना) और प्ली (जाना)। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शित् परे होने पर 'पू' (पूञ्) आदि चौबीस धातुओं के स्थान पर ह्रस्व आदेश होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश धातु के अन्त्य वर्ण के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'पू' (पूञ्) धातु से तिप् और 'श्ना' प्रत्यय होकर 'पू ना ति' रूप बनता है। यहां 'श्ना' (ना) प्रत्यय शित् है क्योंकि उसके शकार का इत् होकर लोप हुआ है। अतः उसके परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'पू' के अन्त्य वर्ण दीर्घ ऊकार के स्थान पर ह्रस्व उकार होकर 'प् उ ना ति' = 'पुनाति' रूप सिद्ध होता है।

६९१. लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु॰ । ७ । २ । ४२

वृङ्वृञ्भ्यामॄदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तङि ।

६९१. लिङ्सिचोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आत्मनेपदेषु) आत्मनेपद परे होने पर (लिङ्सिचोः) लिङ् और सिच् का अवयव···। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'वॄतो वा' ७.२.३८ से 'वॄतो' तथा 'इट् सनि वा' ७.२.४१ से 'इट्' और 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'वॄतः' का अर्थ है—वृङ्, वृञ् और दीर्घ ॠकारान्त धातु।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आत्मनेपद परे होने पर वृङ् (सेवा या पूजा करना), वृञ् (वरण करना या आच्छादन करना) और दीर्घ ॠकारान्त धातुओं के पश्चात् लिङ् और सिच् का अवयव (वा) विकल्प से 'इट्' होता है। 'इट्' का टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह लिङ् या सिच् का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए आशीलिङ् के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'स्तॄ' (स्तॄञ्) धातु से आत्मनेपद 'त' प्रत्यय, सीयुट् और सुट् आदि होकर 'स्तॄ सी स् त' रूप बनता है। यहां आत्मनेपद प्रत्यय 'त' परे है, अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ ॠकारान्त धातु 'स्तॄ' के बाद लिङ् 'सी स् त' को 'इट्' होकर 'स्तॄ इ सी स् त' रूप बनता है। इस स्थिति में '६१५–वॄतो वा' से 'इट्' (इ) के स्थान में दीर्घादेश प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका निषेध हो जाता है—

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ६१५वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

६९२. नॅ लिङि । ७ । २ । ३९

वृत इटो लिङि न दीर्घः । स्तरिषीष्ट । '५४४-उश्च' इति कित्त्वम् । स्तीर्षीष्ट । '६१६-सिचि च परस्मैपदेषु' । अस्तारीत् । अस्तारिष्टाम् । अस्तारिषुः । अस्तरीष्ट, अस्तरिष्ट, अस्तीर्ष्ट । कॄञ् हिंसायाम् । १४ । कृणाति । कृणीते । चकार । चकरे । वॄञ् वरणे । १५ । वृणाति । वृणीते । ववार । ववरे । वरिता, वरीता । '६११-उदोष्ठ्य-०' इत्युत्त्वम् । वूर्यात् । वरिषीष्ट, वूर्षीष्ट । अवारीत् । अवारिष्टाम् । अवरिष्ट, अवरीष्ट, अवूर्ष्ट । धूञ् कम्पने । १६ । धुनाति । धुनीते । धोता, धविता । अधावीत् । अधविष्ट, अधोष्ट । ग्रह उपादाने । १७ । गृह्णाति । गृह्णीते । जग्राह । जगृहे ।

६९२. न लिङीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिङि) 'लिङ्' परे होने पर (न) नहीं...; किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' ७.२.३५ से 'इट्', 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' ७.२.३७ से 'दीर्घः' तथा 'वॄतो वा' ७.२.३८ से 'वॄतो' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'इट्' षष्ठी में विपरिणत हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिङ् परे होने पर वृङ्, वृञ् और दीर्घ ॠकारान्त धातुओं के बाद 'इट्' के स्थान में दीर्घ नहीं होता है ।* उदाहरण के लिए 'स्तॄ इ सी स् त' में लिङ् 'सी स् त' परे है, अतः ॠकारान्त 'स्तॄ' धातु के बाद 'इट्' (इ) को दीर्घ नहीं होता । तब गुणादेश और षत्व तथा ष्टुत्व होकर 'स्तरिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है । 'इट्' के अभावपक्ष में ॠकार को इत् और दीर्घादेश आदि होकर 'स्तीर्षीष्ट' रूप बनता है । यहां 'सीयुट्' के कित् होने से गुणादेश नहीं होता है ।

६९३. ग्रहोऽलिटि दीर्घः । ७ । २ । ३७

एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घो न तु लिटि । ग्रहीता । गृह्णातु । '६८७-हलः श्नः शानज्झौ' । गृहाण । गृह्यात् । गृहीषीष्ट । '४६५-ह्यन्त-०' इति न वृद्धिः-अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीष्ट । अग्रहीषाताम् । कुष निष्कर्षे । १८ । कुष्णाति । कोषिता । अश भोजने । १९ । अश्नाति । आश । अशिता । अशिष्यति । अश्नातु । अशान । मुष स्तेये । २० । मुष्णाति । मोषिता । मुषाण । ज्ञा अवबोधने । २१ । जज्ञौ । वृङ् सम्भक्तौ । २२ । वृणीते । ववृषे । ववृढ्वे । वरिता, वरीता । अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवृत ।

इति क्र्यादयः ।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्व सूत्र (६९१) की व्याख्या देखिये ।

६९२. ग्रह इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अलिटि) लिट् न परे होने पर (ग्रहः) 'ग्रह्' के बाद (दीर्घः) दीर्घ होता है। किन्तु यह दीर्घादेश किसके स्थान पर होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' ७.२.३५ से 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह षष्ठी में विपरिणत हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लिट् न परे होने पर 'ग्रह्' (ग्रहण करना) धातु के बाद 'इट्' के स्थान में दीर्घ आदेश होता है। उदाहरण के लिए लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'ग्रह्' धातु से 'तिप्', 'तास्', डात्व और 'इट्' आदि होकर 'ग्रह् इ त् आ' रूप बनता है।* यहां लिट् परे न होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'ग्रह्' के बाद 'इट्' (इ) के स्थान पर दीर्घ ईकार होकर 'ग्रह् ई त् आ' = 'ग्रहीता' रूप सिद्ध होता है।

क्र्यादिगण समाप्त।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'ग्रहीता' की रूप-सिद्धि देखिये।

चुरादिगणः

चुर् स्तेये । १ ।

६६४. सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् । ३ । १ । २५

एभ्यो णिच् स्यात् । चूर्णान्तेभ्यः 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे । '४५१–पुगन्त–०' इति गुणः । '४६८–सनाद्यन्ता' इति धातुत्वम् । तिप् , शबादि, गुणायादेशौ—चोरयति ।

६९४. सत्यापेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सत्याप—चुरादिभ्यः) सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोम, त्वच, वर्ण, चूर्ण और 'चुर्' आदि के बाद (णिच्) 'णिच्' होता है । 'चुर्' आदि ४११ धातुएं हैं, जिनका पाठ 'धातुपाठ' में किया गया है । आदि में 'चुर्' होने के कारण इसे 'चुरादिगण' भी कहते हैं । इस प्रकार 'सत्याप' आदि बारह प्रातिपदिकों और 'चुर्' (चोरी करना) आदि ४११ धातुओं के बाद 'णिच्' आता है । 'णिच्' में चकार और णकार इत् हैं, अतः केवल 'इ' ही शेष रह जाता है । णकार के इत् होने के कारण यह 'णित्' हो जाता है । उदाहरण के लिए 'चुर्' धातु से 'णिच्' (इ) होकर सर्वप्रथम 'चुर् इ' रूप बनता है । तब 'णिच्' आर्धधातुक परे होने के कारण उपधा-उकार को गुण होकर 'चो र् इ' = 'चोरि' बनता है । यहां '४६८–सनाद्यन्ता धातवः' से 'चोरि' की धातु संज्ञा होती है । धातु संज्ञा होने पर लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'चोरि' से तिप् , शप् और गुण-अयादेश आदि होकर 'चोर् अय् अ ति' = 'चोरयति' रूप सिद्ध होता है ।

६६५. णिचश्च । १ । ३ । ७४

णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले । चोरयते । चोरयामास । चोरयिता । चोर्यात् । चोरयिषीष्ट । '५२८–णिश्रि–०' इति चङ् । '५३०–णौ चङि–०' इति ह्रस्वः । '५३१–चङि–०' इति द्वित्वम् । '३९६–हलादिः शेषः' । '५३४–दीर्घो लघोः–०' इत्यभ्यासस्य दीर्घः । अचूचुरत् । अचूचुरत । कथ वाक्यप्रबन्धे । २ । अल्लोपः ।

६९५. णिचश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (णिचः) 'णिच्' के बाद··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' १.३.७२ से 'कर्त्रभिप्राये

क्रियाफले' और 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'णिचः' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि क्रिया का फल कर्तृगामी हो तो णिजन्त (जिसके अन्त में 'णिच्' आया हो) के बाद आत्मनेपद आता है। उदाहरण के लिए णिजन्त 'चोरि' में यदि 'चुर्' (चोरी करना) का फल कर्ता को मिलता हो तो लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'चोरि' के बाद आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर पूर्ववत् 'चोरयते' रूप बनता है।

६९६. अचः परस्मिन् पूर्वविधौ। १। १। ५७

परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये। इति स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः। कथयति। अग्लोपित्वाद्दीर्घ-सन्वद्भावौ न। अचकथत्। गण संख्याने। ३। गणयति।

६९६. अच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परस्मिन्)* परनिमित्तक (पूर्वविधौ) पूर्व-विधि के विषय में (अचः) अच् के स्थान में…। किन्तु क्या होना चाहिये—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' १.१.५६ से 'स्थानिवदादेशः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आदेशः' का अन्वय सूत्रस्थ 'अचः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—परनिमित्तक पूर्वविधि के विषय में अच् के स्थान में जो आदेश होता है वह स्थानिवत् होता है। तात्पर्य यह कि पूर्वविधि में यदि पर को निमित्त मानकर किसी स्वर वर्ण के स्थान पर कोई आदेश होता है तो वह स्थानी-स्वर-वर्ण के ही समान होता है। उदाहरण के लिए 'कथ' (कथा कहना) धातु से णिच् होने पर '४७०-अतो लोपः' ६.४.४८ से अन्त्य अकार का लोप होकर 'कथ् इ' रूप बनता है। इस स्थिति में '४५५-अत उपधायाः' ७.२.११६ से 'कथ्' की उपधा-ककारोत्तरवर्ती अकार को वृद्धि प्राप्त होती है। किन्तु यहां पूर्वविधि (४७०-अतो लोपः) में पर (आर्धधातुक) को निमित्त मानकर अच्-अकार के स्थान पर अकार-लोप आदेश हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से वह स्थानी-अकार के ही समान होगा। तब 'कथ्' के अदन्तवत् हो जाने से उपधा में अकार नहीं प्राप्त होता है क्योंकि अकार आ जाने पर थकार उपधा हो जाता है। इस प्रकार उपधा में अकार न मिलने से '४५५-अत उपधायाः' से वृद्धि-आदेश नहीं होता। वृद्धि आदेश न होने पर लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'कथि' से तिप्, शप् और इकार के स्थान पर अयादेश आदि होकर 'कथयति' रूप सिद्ध होता है।

---

* यहाँ निमित्त-सप्तमी है, अतः 'परनिमित्तक' अर्थ प्राप्त होता है।

६९७. ईं चॅ गणः । ७ । ४ । ९७

गणयतेरभ्यासस्य ईत् स्याच्चङ्परे णौ चादत् । अजीगणत्, अजगणत् ।

इति चुरादयः ।

६९७. ई चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(गणः) 'गण्' के स्थान में (ई) ईकार होता है (च) और··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' ७.४.९३ से 'चङ्परे', 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' ७.४.१ से 'णौ' तथा 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्र में 'च' का प्रयोग होने के कारण 'अत्स्मृदृत्वर–०' ७.४.९५ से 'अत्' की भी अनुवृत्ति होती है । 'अभ्यासस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'गणः' से और 'चङ्परे' का अन्वय 'णौ' से होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—चङ्परक णि* (जिसके बाद 'चङ्' आया हो) परे होने पर 'गण्' (गिनना धातु के अभ्यास के स्थान में ईकार होता है और (अत्) अकार भी । फलतः ईकार विकल्प से ही होता है । '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अभ्यास के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है । उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'गण्' धातु से णिच् (णि), च्लि-चङ्, द्वित्व, अभ्यासकार्य और चुत्व आदि होकर 'अज गण् इ अ त्' रूप बनता है ।† यहां चङ् (अ)-परक णि (इ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'गण्' के अभ्यास 'ज' के अन्त्य अकार के स्थान पर ईकार आदेश होता है और रूप बनता है—'अ ज् ई गण् इ अ त्' । इस स्थिति में 'णि' (इ) का लोप होकर 'अ ज् ई गण् अ त्' = 'अजीगणत्' रूप सिद्ध होता है । विकल्पावस्था में अभ्यास 'ज' के अन्त्य अकार के स्थान पर पुनः अकार ही होकर 'अजगणत्' रूप बनता है ।

चुरादिगण समाप्त ।

---

* सामान्य 'णि' का प्रयोग होने से 'णिङ्' और 'णिच्' आदि का ग्रहण होता है ।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'अजीगणत्' की रूप-सिद्धि देखिये ।

ण्यन्तप्रक्रिया

६९८. स्वतन्त्रः कर्ता । १ । ४ । ५४

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

६९८. स्वतन्त्र इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्वतन्त्रः*) प्रधानभूत (कर्ता) कर्ता होता है। तात्पर्य यह कि क्रिया का प्रधानभूत कारक 'कर्ता' कहलाता है। उदाहरण के लिए 'देवदत्त जाता है' में 'देवदत्त' और 'पानी बरसता है' में 'पानी' प्रधानभूत कारक होने के कारण 'कर्ता' कहलावेंगे।

६९९. तत्प्रयोजको हेतुश्च । १ । ४ । ५५

कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात् ।

६९९. तत्प्रयोजक इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तत्प्रयोजकः) उसका प्रयोजक (हेतुः) 'हेतु' कहलाता है (च) और··· । यहां 'उस' (तत्) का अभिप्राय '६९८-स्वतन्त्रः कर्ता' से है। सूत्र में 'च' का प्रयोग होने के कारण पूर्ववर्ती सूत्र से 'कर्ता' की पृथक् अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्रिया के प्रधानभूत कारक का प्रयोजक (प्रेरणा देने वाला) 'हेतु' कहलाता है और 'कर्ता' भी। इस प्रकार उसकी दो संज्ञाएं होती हैं। उदाहरण के लिए 'श्याम मोहन को खिलाता है' में 'मोहन' प्रधानभूत कारक है क्योंकि वही खाता है। 'श्याम' 'मोहन' को खाने की प्रेरणा देता है, अतः प्रधानभूत कारक का प्रयोजक होने से वह 'हेतु'संज्ञक है और 'कर्ता'संज्ञक भी।

७००. हेतुमति च । ३ । १ । २६

प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति, भावयति।

७००. हेतुमति चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और हेतुमान् के विषय में··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचो-०' ३.१.२२ से 'धातोः' तथा 'सत्यापपाश-०' ३.१.२५ से 'णिच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हेतुमान्' का अर्थ है—हेतु का व्यापार अर्थात् प्रेरणा†। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रेरणा के विषय में धातु के बाद 'णिच्' आता है। तात्पर्य यह कि धातु का प्रयोग यदि प्रेरणा-अर्थ में

---

* 'स्वतन्त्र इति प्रधानभूत उच्यते'—काशिका।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्व सूत्र (६९९) की व्याख्या देखिये।

हो तो उसके बाद 'णिच्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए प्रेरणार्थ में 'भू' (होना) धातु से 'णिच्' (इ) होकर 'भू इ' रूप बनता है। तब वृद्धि और आवादेश होने पर 'भावि' रूप बनता है। इस स्थिति में लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'भावि' से तिप्, शप् और गुण-अयादेश होकर 'भावयति' रूप सिद्ध होता है। संस्कृत में इसका विग्रह होता है—'भवन्तं प्रेरयति'।

७०१. ओः[६] पुयण्ज्यपरे[७] । ७ । ४ । ८०

सनि परे यदङ्गं तदवयवाभ्यासोकारस्य इत् स्यात् पवर्ग-यण्-जकारेष्ववर्ण-परेषु परतः। अबीभवत्। ष्ठा गतिनिवृत्तौ।

७०१. ओरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पुयण्ज्यपरे*) अपरक पवर्ग, यण् और जकार परे होने पर (ओः) उकार के स्थान पर···। किन्तु होना क्या चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सन्यतः' ७.४.७९ से 'सनि', 'भृञामित्' ७.४.७६ से 'इत्', 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अवर्ण-परक (जिसके बाद अवर्ण आया हो) पवर्ग, यण् (य्, व्, र् और ल्) और जकार परे होने पर (सनि) सन्-परक (जिसके बाद 'सन्' प्रत्यय आया हो) अङ्ग के अभ्यास के उकार के स्थान पर (इत्) इकार होता है। उदाहरण के लिए लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'भू' धातु से प्रेरणार्थक प्रत्यय 'णिच्', अडागम, च्लि-चङ् और द्वित्व आदि होकर 'अबु भव् अत्' रूप बनता है।†
यहां '५३२–सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' से सन्वद्भाव होने के कारण अभ्यास 'बु' के उकार के स्थान पर प्रकृत सूत्र से इकार हो जाता है और इस प्रकार 'अ ब् इ भव् अ त्' रूप बनता है। तब इकार को दीर्घ होकर 'अबीभवत्' रूप सिद्ध होता है।

७०२. अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां[६] पुङ् णौ[७] । ७ । ३ । ३६

स्थापयति।

७०२. अर्तिह्रीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(णौ) 'णि' परे होने पर (अर्ति—क्ष्माय्याताम्‡) ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आकार का अवयव (पुङ्=पुक्)

---

* इसका पदच्छेद और विग्रह इस प्रकार है—'पुयण्जि इति च्छेदः। पुश्च यण् च ज् च इति समाहारद्वन्द्वात्सप्तमी। अः परो यस्मादिति बहुव्रीहिः'।

† विशेष स्पष्टीकरण के 'अबीभवत्' की रूप-सिद्धि देखिये।

‡ इसका विग्रह इस प्रकार है—'अर्ति ह्री व्ली री क्नूयी क्ष्मायी आत् एषां द्वन्द्वात् षष्ठी'। 'यहां' 'अर्ति' 'ऋ' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः इससे मूल धातु का ही ग्रहण होता है।

'पुक्' होता है। यहां आकांक्षा-भाव से 'धातु' का अध्याहार होता है और वह आकार का विशेष्य बनती है। तब आकार में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—'णि' (णिङ्, णिच्) परे होने पर ऋ (जाना, पाना), ह्री (लजाना), री (जाना, भेड़िये का गुर्राना), क्नूयी (आर्द्र होना, शब्द करना), क्ष्मायी (हिलना, कांपना) और आकारान्त धातुओं का अवयव 'पुक्' होता है। 'पुक्' में उकार और ककार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल पकार ही शेष रह जाता है। कित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह धातु का अन्तावयव बनता है। उदाहरण के लिए 'स्था' (ष्ठा) धातु से प्रेरणार्थ में 'णिच्' प्रत्यय होकर 'स्था इ' रूप बनता है 'स्था' धातु आकारान्त है, अतः 'णि' (इ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'स्था' के अन्त्य आकार के बाद 'पुक्' (प्) होकर 'स्थाप् इ'='स्थापि' रूप बनता है। तब लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'स्थापि' से तिप्, शप्, गुण और अयादेश आदि होकर 'स्थापयति' रूप सिद्ध होता है।

७०३. तिष्ठतेरित्[६] । ७ । ४ । ५

उपधाया इदादेशः स्याच्चङ्परे णौ। अतिष्ठिपत्। घट चेष्टायाम्।

७०३. तिष्ठतेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तिष्ठतेः)* 'स्था' के स्थानमें (इत्) ह्रस्व इकार होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' ७.४.१ से 'णौ चङ्युपधायाः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उपधायाः' का अन्वय सूत्रस्थ 'तिष्ठतेः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'चङ्'-परक (जिसके बाद 'चङ्' प्रत्यय आया हो) 'णि' परे होने पर 'स्था' (ठहरना) धातु की उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होता है। उदाहरण के लिये लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'स्था' धातु से णिच्, पुक्, च्लि-चङ्, अडागम आदि होकर 'अ स्थाप् इ अ त्' रूप बनता है। यहां चङ्-परक 'णि' 'इ अ' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'स्थाप्' (स्था) की उपधा–आकार के स्थान पर इकार होकर 'अ स्थ् इ प् इ अ त्'='अ स्थिप् इ अत्' रूप बनता है। इस स्थिति में 'स्थिप्' को द्वित्व, अभ्यास-कार्य, अभ्यास के थकार को चर्-तकार और षत्व तथा ष्टुत्व आदि होकर 'अतिष्ठिपत्' रूप सिद्ध होता है।

७०४. मितां[६] ह्रस्वः[१] । ६ । ४ । ९२

घटादीनां ज्ञपादीनां च उपधाया ह्रस्वः स्याण्णौ। घटयति। ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च। ज्ञपयति। अजिज्ञपत्।

इति ण्यन्तप्रक्रिया।

---

* यह 'तिष्ठति' का षष्ठ्यन्त रूप है। 'तिष्ठति' स्वतः ही 'स्था' धातु के लट्लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः इससे मूल धातु का ग्रहण होता है।

७०४. मितांमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(मितां) 'मित्' के स्थान में (ह्रस्वः) ह्रस्व होता है। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ऊदुपधाया गो हः' ६.४.८९ से 'उपधायाः' तथा 'दोषो णौ' ६.४.९० से 'णौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उपधायाः' का अन्वय सूत्रस्थ 'मितां' से होता है। 'अम्' में अन्त होने वाली धातुएं (अम्, कम्, चम्, शम् और यम् को छोड़कर) 'मित्' (जिसका मकार इत्संज्ञक हो) कहलाती हैं। इसके अतिरिक्त 'घटादयो मितः' और 'जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' आदि से 'घट्' और ज्ञपादि भी 'मित्'-संज्ञक होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'णि' (णिङ्, णिच्) परे होने पर मित् धातुओं (घट्, ज्ञप् आदि) की उपधा के स्थान पर ह्रस्व होता है। उदाहरण के लिए 'घट्' (चेष्टा करना) धातु से प्रेरणार्थक प्रत्यय 'णिच्' और '४५५–अत उपधायाः' से उपधा-वृद्धि होकर 'घाट् इ' रूप बनता है। यहां 'णि' (इ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से मित् 'घाट्' की उपधा–आकार के स्थान पर ह्रस्व अकार होकर 'घ् अ ट् इ='घटि' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'घटि' से तिप्, शप्, गुण और अयादेश आदि होकर 'घटयति' रूप सिद्ध होता है।

ण्यन्तप्रक्रिया समाप्त।

सन्नन्तप्रक्रिया

७०५. धातोः[5] कर्मणः[5] समानकर्तृकादिच्छायां[7] वा । ३ । १ । ७

इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम् । पठ व्यक्तायां वाचि ।

७०५. धातोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इच्छायाम्) इच्छा के विषय में (समानकर्तृकाद्) समानकर्तृक (कर्मणः) कर्मवाली (धातोः) धातु के बाद (वा) विकल्प से··· । किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिये 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' ३.१.५ से 'सन्' की अनुवृत्ति करनी होगी । यहां समान-कर्तृत्व इच्छा के निरूपण में ही विवक्षित है । कर्म और धातु का सामानाधिकरण्य है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—यदि इच्छा और धातु के कर्म का कर्ता एक ही हो तो इच्छा-अर्थ में धातु के बाद विकल्प से 'सन्' आता है । ध्यान रहे कि इच्छा और क्रिया का कर्ता एक ही होना चाहिये, अन्यथा धातु के बाद 'सन्' प्रत्यय नहीं होगा । उदाहरण के लिये 'देवदत्तस्य भोजनमिच्छति रामदत्तः' में भोजन की इच्छा करने वाला है रामदत्त, और भोजन खाने वाला है देवदत्त । इस प्रकार इच्छा और क्रिया का कर्ता एक न होने के कारण यहां 'सन्' प्रत्यय का प्रयोग नहीं होगा । फलतः धातु से 'सन्' के प्रयोग के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(१) धातु का प्रयोग इच्छा-अर्थ में होना चाहिये, (२) इच्छा और क्रिया का कर्म एक ही होना चाहिये और (३) क्रिया और इच्छा का कर्ता एक ही होना चाहिये ।

'सन्' में नकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'स' ही शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए इच्छा-अर्थ में 'पठ्' (पढ़ना, उच्चारण करना) धातु से 'सन्' प्रत्यय होकर 'पठ् स' रूप बनता है । यहां 'सन्' (स) की आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण '४०१—आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से 'इट्' होकर 'पठ् इ स' रूप बनता है । इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७०६. सन्यङोः[6] । ६ । १ । ९

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽजादेस्तु द्वितीयस्य । सन्यतः—पठितुमिच्छति = पिपठिषति । कर्मणः किम्—गमनेनेच्छति । 'समान-कर्तृकात्'-किम्, शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः । वा ग्रहणाद्वाक्यमपि । '५५८—लुङ्सनोर्घस्लृ' ।

७०६. सन्यङोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सन्यङोः) सन् और यङ् के

स्थान में। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ तथा 'अजादेर्द्वितीयस्य' ६.१.२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' ६.४.८ से 'धातोरनभ्यासस्य' की भी अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'सन्यङोः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सन्नन्त (जिसके अन्त में 'सन्' प्रत्यय आया हो) और यङन्त (जिसके अन्त में 'यङ्' प्रत्यय हो) अनभ्यास* धातु के प्रथम एकाच् का द्वित्व होता है। यदि धातु के आदि में कोई स्वर वर्ण आता है तो उसके द्वितीय एकाच् (एक स्वर-वर्ण वाले अवयव) का द्वित्व होता है। उदाहरण के लिए 'पठ् इ स' में 'पठ्' धातु के अन्त में 'सन्' प्रत्यय आया है अतः 'पठ्' धातु सन्नन्त है। वह हलादि है और उसका अभ्यास भी नहीं हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से 'पठ्' के प्रथम एकाच् (व्यपदेशिवद्भाव से) 'पठ्' को ही द्वित्व होकर 'पठ् पठ् इ स' रूप बनता है। यहां अभ्यास-कार्य, इत् और षत्व होकर 'पिपठिष' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'पिपठिष' से तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'पिपठिषति' रूप सिद्ध होता है। 'सन्' प्रत्यय के अभावपक्ष में 'पठितुमिच्छति'—यह वाक्यरूप बनता है।

७०७. [६]सः [७]स्यार्धधातुके[७] । ७ । ४ । ४९

सस्य तः स्यात् सादावार्धधातुके। अत्तुमिच्छति–जिघत्सति। '४७५–एकाच–०' इति नेट्।

७०७. सः स्यार्धधातुक इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सि†) सकारादि (आर्धधातुके) आर्धधातुक परे होने पर (सः) सकार के स्थान पर…। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अच उपसर्गात्तः' ७.४.४७ से 'तः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तः' में अकार उच्चारणार्थक है अतः यह केवल तकार का ही बोधक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सकारादि (जिसके आदि में सकार हो) आर्धधातुक परे होने पर सकार के स्थान पर तकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए इच्छा-अर्थ में 'अद्' (खाना) धातु से 'सन्' प्रत्यय होकर 'अद् स' रूप बनता है। तब 'अद्' के स्थान में 'घस्' होकर 'घस् स' रूप बनता है। यहां सकारादि आर्धधातुक सन् (स) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'घस्' के सकार के स्थान पर तकार होकर 'घत् स' रूप

---

* अनभ्यास का अर्थ है—जिसका अभ्यास न हुआ हो। 'अभ्यास' के स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† विशेषण होने के कारण यहां तदादि-विधि हो जाती है।

बनता है । तब द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'जिघत्स' रूप बनेगा। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'जिघत्स' से तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'जिघत्सति' रूप सिद्ध होता है ।

७०८. अज्झनगमां[६] सनि[७] । ६ । ४ । १६

अजन्तानां हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि ।

७०८. अज्झनेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सनि) 'सन्' परे होने पर (अज्झनगमाम्*) अच्, हन् और गम् के स्थान में···। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुनासिकस्य क्विझलोः–०' ६.४.१५ से 'झलि', 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अच्' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । 'झलि' का अन्वय 'सनि' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—झलादि 'सन्' प्रत्यय (जिसके आदि में झल्-वर्ण हो) परे होने पर अजन्त (जिसके अन्त में कोई स्वर-वर्ण हो) अङ्ग, हन् (मारना) और गम् (जाना) धातु के स्थान में दीर्घ-आदेश होता है। यह दीर्घादेश स्थानी के अन्त्य अच् के ही स्थान पर होता है। इडागम न होने पर 'सन्' प्रत्यय झलादि रहता है, अतः इट् न होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त होगा। उदाहरण के लिए इच्छा-अर्थ में 'कृ' धातु से 'सन्' प्रत्यय होकर 'कृ स' रूप बनता है। यहां '४०१—आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से 'सन्' (स) को 'इट्' प्राप्त होता है, किन्तु '४७५—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से उसका निषेध हो जाता है। तब 'कृ' धातु के अजन्त होने के कारण प्रकृत सूत्र से अन्त्य अच्–ऋकार के स्थान पर दीर्घ ॠकार होकर 'कॄ स' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७०९. इको[६] झल्[१] । १ । २ । ९

इगन्ताज्झलादिः सन् कित् स्यात् । '६६०—ॠत इद्धातोः'। कर्तुमिच्छति—चिकीर्षति ।

७०९. इक इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इकः) 'इक्' के बाद (झल्) झल् होता है । किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'असंयोगाल्लिट् कित्' १.२.५ से 'कित्' तथा 'रुदविदमुषग्रहि–०' १.२.८ से 'सन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'झल्' 'सन्' का विशेषण है, अतः तदादि-विधि हो जाती है। 'सन्' का प्रयोग होने से आक्षिप्त 'धातु' का अध्याहार होता है। 'इकः' उसका विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस

---

* इसका विग्रह इस प्रकार है—'अच्, हन्, गम्, एषां द्वन्द्वः।'

प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इगन्त (जिसके अन्त में इ, उ, ऋ या ऌ हो) धातु के बाद झलादि सन् (जिसके आदि में कोई झल् वर्ण हो) कित् होता है। उदाहरण के लिए 'कृ स' में 'कृ' धातु इगन्त है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके बाद झलादि सन् (स) कित् हो जाता है। कित् हो जाने पर गुण-निषेध हो जाता है। तब 'कृ' के ऋकार के स्थान पर 'इर्', इकार-दीर्घ, द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'चिकीर्ष' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'चिकीर्ष' से तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'चिकीर्षति' रूप सिद्ध होता है। 'सन्' के अभाव में 'कर्तुमिच्छति'—यह वाक्य-रूप बनता है।

७१०. सनि ग्रह-गुहोश्च । ७ । २ । १२

ग्रहेर्गुहेरुगन्ताच्च सन इण् न स्यात् । बुभूषति ।

इति सन्नन्ताः ।

७१०. सनीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सनि) सन् परे होने पर (ग्रह-गुहोः) ग्रह् तथा गुह् का अवयव (च) और···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नेड् वशि कृति' ७.२.८ से 'न' और 'इट्' की अनुवृत्ति होती है। सूत्र में 'च' का प्रयोग होने से 'श्र्युकः किति' ७.२.११ से 'उकः' की भी अनुवृत्ति करनी होगी। यह अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ का विशेषण होता है, अतः इसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सन्' परे होने पर 'ग्रह्' (पकड़ना), 'गुह्' (छिपाना, ढांपना) और उगन्त (जिसके अन्त में उ, ऌ या ऋ हो) अङ्ग का अवयव 'इट्' (न) नहीं होता है। उदाहरण के लिए इच्छा-अर्थ में 'भू' (होना) धातु से सन् होकर 'भू स' रूप बनता है। यहां '४०१–आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से 'इट्' प्राप्त होता है। किन्तु 'भू' धातु उगन्त है, अतः सन् (स) परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'इट्' का निषेध हो जाता है। तब 'सन्' के कित् होने के कारण गुण-निषेध, द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'बुभूष' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथम-पुरुष-एकवचन में 'बुभूष' से तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'बुभूषति' रूप बनता है।

सन्नन्तप्रक्रिया समाप्त ।

यङन्तप्रक्रिया

७११. धातोरेकाचो हलादेः । क्रियासमभिहारे यङ् । ३ । १ । २२

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात् ।

७११. धातोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्रियासमभिहारे*) क्रिया के पुनः पुनः अथवा अधिक होने के अर्थ में (हलादेः) हलादि (एकाचः) एकाच् (धातोः) धातु के बाद (यङ्) 'यङ्' आता है । इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः कर्मणः–०' ३.१.७ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—क्रिया के पुनः पुनः अथवा अधिक होने के अर्थ में हलादि (जिसके आदि में कोई व्यंजन-वर्ण हो) और एकाच् (जिसमें एक ही स्वर-वर्ण हो) धातु से विकल्प से 'यङ्' प्रत्यय होता है । इस सूत्र के प्रयोग के लिए तीन बातें आवश्यक हैं —

१. क्रिया का प्रयोग पुनः पुनः अथवा अधिक होने के अर्थ में होना चाहिये ।

२. धातु के आदि में कोई व्यंजन-वर्ण होना चाहिये ।

३. धातु में केवल एक ही स्वर होना चाहिये ।

'यङ्' में ङकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'य' ही शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए 'भू' (होना) धातु हलादि है और इसमें एक ही अच्–ऊकार है । अतः प्रकृत-सूत्र से पुनः पुनः या भृशार्थ में इससे 'यङ्' होकर 'भू य' रूप बनता है । यहां '७०६–सन्यङोः' से 'भू' को द्वित्व होकर 'भू भू य' रूप बनता है । इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७१२. गुणो यङ्लुकोः । ७ । ४ । ८२

अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि च । ङिदन्तत्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनः अतिशयेन वा भवति—बोभूयते । बोभूयाञ्चक्रे । अबोभूयिष्ट ।

७१२. गुण इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यङ्लुकोः†) यङ् और यङ्लुक् परे होने पर (गुणः) गुण होता है । किन्तु यह गुणादेश किसके स्थान में होता है—यह जानने के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति करनी

---

* 'पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः'—काशिका ।

† 'यङ्' की उपस्थिति होने के कारण यहां 'लुक्' से 'यङ्' का ही 'लुक्' अभिप्रेत है ।

होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यङ् या यङ्लुक् परे होने पर अभ्यास के स्थान में गुण होता है। 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ परिभाषा से यह गुणादेश अभ्यास के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) के ही स्थान में होता है। उदाहरण के लिए 'भू भू य' में यङ् (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से अभ्यास–'भू' के इक्–ऊकार के स्थान पर गुण–ओकार होकर 'भ् ओ भू य' = 'भो भू य' रूप बनता है। तब अभ्यास के भकार के स्थान पर जश्–बकार होकर 'बोभूय' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'बोभूय' से ङित् होने के कारण आत्मनेपद प्रत्यय 'त', शप्, पर-रूप और एत्व होकर 'बोभूयते' रूप सिद्ध होता है। 'यङ्' के अभाव-पक्ष में वाक्य-रूप 'पुनः पुनरतिशयेन वा भवति' बनता है।

७१३. नित्यं कौटिल्ये गतौ । ३ । १ । २३

गत्यर्थात् कौटिल्य एव यङ् स्यात्, न तु क्रियासमभिहारे।

७१३. नित्यमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कौटिल्ये) कौटिल्य अर्थ में (गतौ) गति के बाद (नित्यं) नित्य होता है। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचो हलादेः–०' ३.१.२२ से 'धातोरेकाचो हलादेः' और 'यङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' सूत्रस्थ 'गतौ' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कौटिल्य (कुटिलता) अर्थ में गतिवाची हलादि एकाच् धातु के बाद नित्य 'यङ्' होता है। यहां 'नित्य' का प्रयोग नियमार्थक है।* तात्पर्य यह कि कौटिल्य अर्थ में ही गतिवाची धातुओं के बाद 'यङ्' आता है, पुनः पुनः या अधिक होने के अर्थ में नहीं। उदाहरण के लिए कौटिल्य अर्थ में गतिवाची 'व्रज्' धातु से 'यङ्' होकर 'व्रज् य' रूप बनता है। तब धातु के प्रथम एकाच् 'व्र' को द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'व व्रज् य' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७१४. दीर्घोऽकितः । ७ । ४ । ८३

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो यङि यङ्लुकि च। कुटिलं व्रजति–वाव्रज्यते।

७१४. दीर्घ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अकितः) कित्-भिन्न के स्थान में (दीर्घः) दीर्घ होता है। किन्तु यह दीर्घादेश किसके स्थान में और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' तथा 'गुणो यङ्लुकोः' ७.४.८२ से 'यङ्लुकोः' की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'अकितः' 'अभ्यासस्य' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यङ् या यङ्लुक्

* नित्यग्रहणं विषयनियमार्थं, गतिवचनान्नित्यं कौटिल्य एव भवति, न तु क्रिया-समभिहारे'—काशिका।

परे होने पर कित्-भिन्न अभ्यास के स्थान में दीर्घ आदेश होता है । '४२-अकः सवर्णे दीर्घः' परिभाषा से यह दीर्घादेश अभ्यास के अक् (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के ही स्थान पर होता है । किन्तु पूर्ववर्ती सूत्र 'गुणो यङ्लुकोः' ७.४.८२ से अभ्यास के इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) के स्थान में गुण का विधान किया गया है, अतः यहां अभ्यास के अवर्ण के ही स्थान पर दीर्घादेश होगा । उदाहरण के लिए 'व व्रज् य' में यङ् (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से धातु के 'व' के अकार के स्थान पर दीर्घ-आकार होकर 'व् आ व्रज् य' रूप बनता है । तब लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'वाव्रज्य' से आत्मनेपद 'त', शप्, पर-रूप और एत्व होकर 'वाव्रज्यते' रूप सिद्ध होता है । इसका अर्थ होता है—'कुटिलं व्रजति' (टेढ़ा चलता है) ।

७१५. यस्य[६] हलः[५] । ६ । ४ । ४९

यस्येति संघातग्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्धधातुके । 'आदेः परस्य' । '४७०-अतो लोपः'—वाव्रजाञ्चक्रे । वाव्रजिता ।

७१५. यस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलः) हल् के बाद (यस्य) 'य' का... । किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अतो लोपः' ६.४.४८ से 'लोपः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'आर्धधातुके' ६.४.४६ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आर्धधातुक परे होने पर हल् (व्यंजन-वर्ण) के बाद 'य' का लोप होता है । '७२-आदेः परस्य' परिभाषा से यह लोप 'य' के आदि यकार का ही होता है । उदाहरण के लिए कौटिल्य अर्थ में 'व्रज्' (चलना) धातु से यङ्, द्वित्व, अभ्यास-कार्य और अभ्यास-दीर्घ आदि होकर 'वाव्रज्य' रूप बनता है । इस स्थिति में लिट् लकार की विवक्षा में 'आम्' प्रत्यय होकर 'वाव्रज् य आम्' रूप बनता है । यहां आर्धधातुक 'आम्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से हल्-जकार के बाद 'य' के यकार का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'वाव्रज् अ आम्' । तब '४७०-अतो लोपः' से अकार का लोप होकर 'वाव्रजाम्' रूप बनता है । इस स्थिति में प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में आत्मनेपद प्रत्यय 'त', कृ-अनुप्रयोग और एत्व होकर 'वाव्रजाञ्चक्रे' रूप सिद्ध होता है ।

७१६. रीगृदुपधस्य च । ७ । ४ । ९०

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो यङि यङ्लुकि च । वरीवृत्यते । वरीवृताञ्चक्रे । वरीवृतिता ।

७१६. रीगिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ऋदुपधस्य) ऋकार-उपधा का अवयव (रीग्) 'रीक्' होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' ७.४.५८ से 'अभ्यासस्य' तथा 'गुणो यङ्लुकोः' ७.४.८२ से 'यङ्लुकोः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का

अधिकार प्राप्त होता है, और सूत्रस्थ 'ऋदुपधस्य' उसका विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यङ् या यङ्लुक् परे होने पर ऋकार-उपधा वाले अङ्ग के अभ्यास का अवयव रीक् होता है। 'रीक्' का ककार इत्संज्ञक है, अतः कित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह अभ्यास का अन्तावयव बनता है। उदाहरण के लिए पुनः पुनः या अधिक होने के अर्थ में वृत् (होना) धातु से यङ् होकर 'वृत् य' रूप बनता है। तब द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'व वृत् य' रूप बनता है। यहां 'वृत्' धातु की उपधा में ऋकार है, अतः यङ् (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से धातु के अभ्यास 'व' के अन्त में 'रीक्' (री) होकर 'वरी वृत् य' = 'वरीवृत्य' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद 'त', शप्, पर-रूप और एत्व होकर 'वरीवृत्यते' रूप सिद्ध होता है।

७१७. क्षुभ्नादिषु° च । ८ । ४ । ३९

णत्वं न । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते ।

इति यङन्तप्रक्रिया ।

७१७. क्षुभ्नादिष्विति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (क्षुभ्नादिषु) 'क्षुभ्ना' आदि के विषय में। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' ८.४.१ से 'नो णः' तथा 'न भाभूपूकमि–०' ८.४.३४ से 'न' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'क्षुभ्ना' आदि शब्दों का निर्देश 'गणपाठ' में किया गया है। यह आकृति-गण है और इसमें क्षुभ्न्, नृनमन, (उत्तरपदवर्ती) नन्दिन्, नन्दन, नगर, यङ् में नृत्, (उत्तरपदवर्ती) नर्तन, गहन, नन्दन, निवेश, निवास, अग्नि और अनूप आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'क्षुभ्ना' ('क्षुभ्' धातु का श्ना-परक रूप) आदि (क्षुभ्नादिगण में पठित) शब्दों के विषय में नकार के स्थान पर णकार नहीं होता है। उदाहरण के लिए पुनः पुनः या भृशार्थ में 'नृत्' (नाचना) धातु से 'यङ्' होकर 'नृत् य' रूप बनता है। तब पूर्ववत् (७१६) द्वित्व, अभ्यास-कार्य और 'रीक्' आदि होकर 'नरी-नृत्य' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद प्रत्यय 'त', शप्, पर-रूप और एत्व होकर 'नरीनृत्यते' रूप बनता है। यहां '१३८–अट्कुप्वाङ्नुम्–०' से णत्व प्राप्त होता है, किन्तु 'नृत्' धातु के क्षुभ्नादिगण में पठित होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है। इस प्रकार 'नरीनृत्यते' रूप सिद्ध होता है।

यङन्तप्रक्रिया समाप्त ।

यङ्लुगन्तप्रक्रिया

७१८. यङोऽचि च । २ । ४ । ७४

यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात् चकारात्तं विनापि क्वचित् । अनैमित्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वादादौ भवति । ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वमभ्यासकार्यम् । धातुत्वाल्लडादयः । '३८०–शेषात्कर्तरि' इति परस्मैपदम् । 'चर्करीतं च' इत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ।

७१८. यङ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचि) अच् परे होने पर (च) और···(यङः) 'यङ्' के स्थान पर···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ण्यक्षत्रियार्षञितो–०' २.४.५८ से 'लुक्' तथा 'बहुलं छन्दसि' २.४.७३ से 'बहुलं' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'बहुलम्' का तात्पर्य है—अच् न परे होने पर भी* । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अच् प्रत्यय (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) परे होने पर 'यङ्' का (लुक्) लोप होता है । कहीं-कहीं अच् प्रत्यय न परे होने पर भी 'यङ्' का लोप होता है । उदाहरण के लिए पुनः पुनः या अतिशय के अर्थ में 'भू' (होना) धातु से 'यङ्' प्रत्यय होकर 'भू य' रूप बनता है । यहां अच् न परे होने पर भी प्रकृत सूत्र से 'यङ्' (य) का लोप होकर 'भू' रूप बनता है । तब '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'भू' के यङन्त होने के कारण द्वित्व, अभ्यास-कार्य और जश्त्व आदि होकर 'बोभू' रूप बनता है । इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में तिप और शप्-लुक् होकर 'बोभू ति' रूप बनता है । इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७१९. यङो वा । ७ । ३ । ९४

यङ्लुगन्तात् परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्येड् वा स्यात् । '४४०–भूसुवोः–०' इति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न । 'बोभूतु–तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात् । बोभवीति—बोभोति । बोभूतः । '६०६–अदभ्यस्तात्' । बोभुवति । बोभवाञ्चकार, बोभवामास । बोभविता । बोभविष्यति । बोभवीतु, बोभोतु, बोभूतात् । बोभूताम् । बोभुवतु । बोभूहि । बोभवानि । अबोभवीत्, अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभुवुः । बोभूयात् । बोभूयाताम् । बोभूयुः ।

---

* 'बहुलग्रहणादनच्यपि भवति'—काशिका ।

बोभूयात् । बोभूयास्ताम् । बोभूयासुः । '४३९–गातिस्था–०' इति सिचो लुक् । '७१९–यङो वा' इतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक् । अबोभूवीत्, अबोभोत् । अबोभूताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् ।

इति यङ्लुगन्ताः ।

७१९. यङो वेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यङः) 'यङ्' के बाद (वा) विकल्प से होता है । किन्तु क्या होता है और किस अवस्था में होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' ७.३.८९ से 'हलि', 'नाभ्यस्तस्याचि–०' ७.३.८७ से 'पिति सार्वधातुके' तथा 'ब्रुव ईट्' ७.३.९३ से 'ईट्' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्र में पंचमी विभक्ति का प्रयोग होने के कारण अनुवृत्त सप्तम्यन्त पद ('हलि पिति सार्वधातुके') षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाते हैं । 'हलि' 'सार्वधातुके' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा 'यङ्' के पश्चात् हलादि पित् सार्वधातुक (तिप्, सिप्, मिप्) विकल्प से 'ईट्' होता है । 'ईट्' में टकार इत्संज्ञक है अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह स्थानी का आद्यवयव बनता है । ध्यान रहे कि 'यङ्' के बाद '३७८–अनुदात्तङित–०' से हलादि पित् सार्वधातुक नहीं आ सकता है, अतः यङ्लुक् के विषय में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है ।* उदाहरण के लिए 'बोभूति' में प्रत्ययलक्षण परिभाषा से 'यङ्' के बाद हलादि पित् सार्वधातुक 'तिप्' (ति) आया है । अतः प्रकृत सूत्र से 'तिप्' (ति) को 'ईट्' होकर 'बो भू ई ति' रूप बनता है । इस स्थिति में 'बोभू' के ऊकार के स्थान पर गुण-ओकार तथा पुनः उसके स्थान पर 'अव्' आदेश होकर 'बो भ् अव् ई ति'='बोभवीति' रूप सिद्ध होता है । 'ईट्' के अभाव-पक्ष में गुण होकर 'बोभोति' रूप बनता है ।

यङ्लुगन्तप्रक्रिया समाप्त ।

---

* देखिये—'हलादेः पितः सार्वधातुकस्य यङन्तादभाव इति यङ्लुगन्तस्योदाहरणम्'—काशिका ।

नामधातवः

७२०. सुप[6] आत्मनः[6] क्यच्[1] । ३ । १ । ८

इषिकर्मण एषितुः सम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात्।

७२०. सुप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आत्मनः*) स्वसम्बन्धी (सुपः) सुप् के बाद (क्यच्) 'क्यच्' आता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। इसके लिए 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' ३.१.७ से 'कर्मणः', 'इच्छायाम्' और 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। सानिध्यभाव से यहां इच्छा का ही कर्म अपेक्षित है। 'सुपः' 'कर्मणः' का विशेषण है, अतः तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इच्छा-अर्थ में स्व-सम्बन्धी इच्छा के सुबन्त कर्म (जिसके अन्त में सु, औ, जस् आदि २१ प्रत्ययों में कोई एक हो†) के बाद विकल्प से 'क्यच्' आता है। यहां ध्यान रहे कि इच्छा का सुबन्त कर्म अपने से सम्बन्धित होना चाहिये, अन्यथा 'क्यच्' प्रत्यय नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'परस्य पुत्रमिच्छति' में यद्यपि इच्छा का कर्म 'पुत्रम्' सुबन्त है, किन्तु उसका सम्बन्ध अपने से न होकर (परस्य) दूसरे से है, अतः यहां उसके बाद 'क्यच्' का प्रयोग नहीं होगा। तात्पर्य यह कि जब इच्छा का कर्म इच्छा-कर्ता से सम्बन्धित रहता है, तभी इच्छा अर्थ में सुबन्त कर्म के बाद 'क्यच्' आता है। उदाहरण के लिए 'आत्मनः पुत्रमिच्छति' (अपने पुत्र को चाहता है) में इच्छा के कर्म 'पुत्रम्' का सम्बन्ध इच्छा के कर्ता से है। 'पुत्रम्' रूप सुबन्त है, क्योंकि यहां 'पुत्र' से सुप् 'अम्' होकर यह रूप बना है। अतः प्रकृत सूत्र से इच्छा के अर्थ में इसके बाद 'क्यच्' प्रत्यय आता है। 'क्यच्' में ककार और चकार इत्संज्ञक हैं, अतः 'पुत्र अम्' के बाद केवल 'य' होकर 'पुत्र अम् य' रूप बनता है। यहां '३४६–सनाद्यन्ता धातवः' से 'पुत्र अम्' (पुत्रम्) की धातु संज्ञा होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७२१. सुपो[6] धातुप्रातिपदिकयोः[6] । २ । ४ । ७१

एतयोरवयवस्य सुपो लुक्।

७२१. सुपो धात्विति—सूत्र का शब्दार्थ है—(धातुप्रातिपदिकयोः) धातु और प्रातिपदिक के अवयव (सुपः) 'सुप्' के स्थान पर··· । किन्तु होता क्या

---

* आत्मन्शब्दः स्वपर्यायः। तादर्थ्यविवक्षायां षष्ठी।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिये १२१वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ण्यक्षत्रियार्षञितो-०' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् (सु औ जस् आदि २१ प्रत्ययों में से कोई) का (लुक्) लोप होता है। उदाहरण के लिए 'पुत्र अम् य' में सुप् 'अम्' धातु का अवयव है, अतः उसका लोप होकर 'पुत्र य' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७२२. क्यचि[७] च । ७ । ४ । ३३

अवर्णस्य ईः। आत्मनः पुत्रमिच्छति–पुत्रीयति।

७२२. क्यचीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (क्यचि) 'क्यच्' परे होने पर··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अस्य च्वौ' ७.४.३२ से 'अस्य' तथा 'ई घ्राध्मोः' ७.४.३१ से 'ई' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'क्यच्' परे होने पर (अस्य) अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'पुत्र य' में क्यच् (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'पुत्र' के अन्त्य अकार के स्थान पर ईकार होकर 'पुत्र् ई य' = 'पुत्रीय' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है। 'क्यच्' के अभाव-पक्ष में 'आत्मनः पुत्रमिच्छति'—यही वाक्य-रूप रहता है।

७२३. नः[१] क्ये[७] । १ । ४ । १५

क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नान्यत्। नलोपः–राजीयति। नान्तमेवेति किम्–वाच्यति। '६१२–हलि च'। गीर्यति। पूर्यति। 'धातोरित्येव'। नेह—दिवमिच्छति दिव्यति।

७२३. नः क्ये इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्ये*) क्यच्, क्यङ् और क्यप् परे होने पर (नः) नकार··· । किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'सुप्तिङन्तं पदम्' १.४.१४ से 'सुबन्त' और 'पदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'नः' 'सुबन्तं' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा–क्यच्, क्यङ् और क्यष् परे होने पर नान्त सुबन्त (जिसके अन्त में नकार हो) 'पद' संज्ञक होता है। सुबन्त की 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१.४.१४) से ही पद संज्ञा प्राप्त है, अतः यहां उसका विधान केवल नियमार्थक है। अतः यह सूत्र नियम करता है कि क्यच्, क्यङ् और क्यप् परे होने पर नान्त सुबन्त की ही पद संज्ञा होती है,

---

* 'क्य इति क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्यग्रहणम्'—काशिका।

अन्य की नहीं। तात्पर्य यह कि सुबन्त यदि नकारान्त न होगा तो 'क्यच्' आदि के परे होने पर उसकी पद संज्ञा नहीं होगी। उदाहरण के लिए 'वाच्यति' (आत्मनो वाच्यमिच्छति) में 'वाच् अम्' से क्यच् प्रत्यय आदि होकर 'वाच् य' रूप बनता है। यहां सुबन्त 'वाच्' नकारान्त नहीं है, अतः क्यच् (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसकी पद संज्ञा नहीं होती है। पद संज्ञा का निषेध हो जाने पर '३०६–चोः कुः' आदि सूत्रों से कुत्व आदि नहीं होता है। तब लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'वाच् य' = 'वाच्य' से तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'वाच्यति' रूप सिद्ध होता है। नकारान्त सुबन्त का उदाहरण 'राजीयति' में मिलता है। 'राजानमात्मन इच्छति'–इस विग्रह में 'राजन् अम्' से क्यच् आदि होकर 'राजन् य' रूप बनता है। इस स्थिति में नकारान्त सुबन्त 'राजन्' से परे क्यच् (य) आया है, अतः प्रकृत सूत्र से 'राजन्' की पद संज्ञा हो जाती है। पद संज्ञा हो जाने पर '१८०–न लोपः–०' से 'राजन्' के नकार का लोप होकर 'राज य' रूप बनता है। तब 'राज' के अन्त्य अकार के स्थान पर ईकार होकर 'राज् ई य' = 'राजीय' रूप बनता है। इस स्थिति में लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन की विवक्षा में तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'राजीयति' रूप सिद्ध होता है।

७२४. क्यस्य[6] विभाषा। ६। ४। ५०

हलः परयोः क्यच्क्यङोर्लोपो वार्धधातुके। 'आदेः परस्य'। 'अतो लोपः'। तस्य स्थानिवत्त्वाल्लघूपधगुणो न। समिधिता-समिध्यिता।

७२४. क्यस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्यस्य) क्यच्, क्यङ् और क्यष् का (विभाषा) विकल्प से···। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'यस्य हलः' ६.४.४९ से 'हलः', 'अतो लोपः' ६.४.४८ से 'लोपः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'आर्धधातुके' ६.४.४६ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आर्धधातुक परे होने पर हल् (व्यंजन-वर्ण) के बाद क्यच्, क्यङ् और क्यष् का लोप होता है, विकल्प से। उदाहरण के लिए 'समिधिता' (समिधमात्मानम् इच्छति) में 'समिध् अम्' से क्यच् आदि होकर 'समिध् य' रूप बनता है। तब लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में तिप्, तिप् के स्थान पर डात्व और 'तास्' आदि होकर 'समिध् य इ त् आ' रूप बनता है। इस स्थिति में आर्धधातुक 'इ त् आ' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से हल्–धकार के बाद 'क्यच्' (य) का लोप हो जाता है। यह लोप '७२–आदेः परस्य' परिभाषा से 'क्यच्' (य) के आदि यकार का ही होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'समिध् अ इ त् आ'। यहां अकार-लोप होकर 'समिध् इ त् आ' = 'समिधिता' रूप सिद्ध होता है। क्यच् के लोपाभाव-पक्ष में 'समिध्यिता' रूप बनता है।

७२५. ¹काम्यच्च । ३ । १ । ६

उक्तविषये काम्यच् स्यात् । पुत्रमात्मन 'इच्छति—पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यिता ।

७२५. काम्यच्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (काम्यच्) 'काम्यच्' होता है । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः कर्मणः' ३.१.७ से 'कर्मणः' और 'इच्छायां वा' तथा सम्पूर्ण सूत्र 'सुप आत्मनः क्यच्' ३.१.८ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इच्छा-अर्थ में स्व-सम्बन्धी इच्छा के सुबन्त कर्म के बाद विकल्प से 'काम्यच्' प्रत्यय आता है ।* इस प्रकार इच्छा-अर्थ में स्व-सम्बन्धी सुबन्त कर्म के तीन रूप बन सकते हैं—१. 'क्यच्' प्रत्ययान्त रूप, २. 'काम्यच्' प्रत्ययान्त रूप, और ३. मूल वाक्य-रूप ।

'काम्यच्' में चकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'काम्य' ही शेष रहता है । उदाहरण के लिए 'पुत्रकाम्यति' (आत्मनः पुत्रमिच्छति) में 'पुत्र अम्' से 'काम्यच्' प्रत्यय और अम्-लोप होकर 'पुत्रकाम्य' रूप बनता है । तब लट् लकार के प्रथमपुरुष-एक-वचन में तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'पुत्रकाम्यति' रूप बनता है ।

७२६. "उपमानादाचारे" । ३ । १ । १०

उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् । पुत्रमिवाचरति–पुत्रीयति छात्रम् । विष्णूयति द्विजम् ।

(वा०) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः ।

'२७४–अतो गुणे' । कृष्ण इव आचरति–कृष्णति । स्व इव आचरति–स्वति । सस्वौ ।

७२६. उपमानादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आचारे) आचार अर्थ में (उपमानाद्) उपमान के बाद··· । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः कर्मणः–०' ३.१.७ से 'कर्मणः' और 'वा' तथा 'सुप आत्मनः क्यच्' ३.१.८ से सुपः' और 'क्यच्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'सुपः' और 'उपमा-नाद्'—दोनों ही 'कर्मणः' के विशेषण हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आचार (आचरण करना, व्यवहार करना) अर्थ में उपमानवाची सुबन्त कर्म के बाद विकल्प से 'क्यच्' होता है । उदाहरण के लिये 'पुत्रमिवाचरति' (पुत्र के समान आचरण करता है) में 'पुत्रम्' उपमानवाची सुबन्त कर्म है, अतः आचरण के अर्थ में इसके बाद 'क्यच्' प्रत्यय होकर 'पुत्र अम् य' रूप बनता है । तब पूर्ववत् (७२१, ७२२) लट् लकार

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ७२०वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'पुत्रीयति' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में 'पुत्रमिवाचरति'–यही वाक्यरूप रहता है।

विशेष—इस आचार-क्यच् में भी रूप-रचना इच्छा-क्यच् (७२०) के समान ही होती है। केवल अर्थ का अन्तर होता है, जिसे विग्रह के द्वारा प्रकट किया जाता है। प्रकरण के अनुसार ही निर्णय किया जाता है कि यह इच्छा-क्यच् का रूप है अथवा आचार-क्यच् का। दोनों के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता है।

(वा०) सर्वेति—यह प्रकृत सूत्र पर वार्तिक है। भावार्थ है—आचार अर्थ में सभी प्रातिपदिकों के बाद विकल्प से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। 'क्विप्' का सर्वापहार लोप होता है। '१३६–लशक्वतद्धिते' से ककार की, '१–हलन्त्यम्' से पकार की और '२८–उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इकार की इत्संज्ञा होती है। इनका लोप होने पर '३०३–वेरपृक्तस्य' से वकार का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कृष्ण इव आचरति' में 'कृष्ण' प्रातिपदिक है, अतः आचार-अर्थ में प्रकृत वार्तिक से उसके बाद 'क्विप्' प्रत्यय होता है। 'क्विप्' का सर्वलोप होने पर 'कृष्ण' रूप बनता है। इस स्थिति में 'कृष्ण' की धातु संज्ञा होने पर लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'कृष्णति' रूप सिद्ध होता है। 'क्विप्' के अभावपक्ष में वाक्यरूप 'कृष्ण इव आचरति' ही रहता है।

७२७. अनुनासिकस्य[६] क्विझलोः[७] क्ङिति[७] । ६ । ४ । १५

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात् क्वौ झलादौ च क्ङिति। इदमिवाचरति—इदामति। राजेव–राजानति। पन्था इव—पथीनति।

७२७. अनुनासिकस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्विझलोः*) क्वि और झलादि (क्ङिति) कित्-ङित् परे होने पर। (अनुनासिकस्य) अनुनासिक की···। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नोपधायाः' ६.४.७ से 'उपधायाः', 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' ६.३.१११ से 'दीर्घः' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'अनुनासिकस्य' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'क्वि' का सामान्य ग्रहण होने से 'क्विप्' आदि समरूप प्रत्ययों का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्वि ('क्विप्' आदि) या झलादि (जिसके आदि में कोई झल्-वर्ण हो) कित्-ङित् परे होने पर अनुनासिकान्त (जिसके अन्त में अनुनासिक हो) अङ्ग की उपधा

---

* यहां 'झलोः' सूत्रस्थ 'क्ङिति' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है।

के स्थान में दीर्घ आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'इदमिवाचरति' (इसके समान आचरण करता है) में प्रातिपदिक 'इदम्' के बाद 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' वार्तिक से क्विप् तथा क्विप्-लोप होकर 'इदम्' रूप बनता है। यहां अङ्ग 'इदम्' अनुनासिक मकारान्त है, और '१९०—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से उसके परे 'क्विप्' (क्वि) भी है। अतः प्रकृत सूत्र से 'इदम्' की उपधा—दकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ आकार होकर 'इद् आ म्' = 'इदाम्' रूप बनता है। तब लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में तिप् और शप् होकर 'इदामति' रूप सिद्ध होता है।

७२८. कष्टाय क्रमणे। ३। १। १४

चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात्। कष्टाय क्रमते–कष्टायते। पापं कर्तुमुत्सहते, इत्यर्थः।

७२८. कष्टायेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्रमणे) उत्साह-अर्थ में (कष्टाय*) चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्द…। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'कर्तुः क्यङ्, सलोपश्च' ३.१.११ से 'क्यङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्द की विभक्ति का निर्देश न होने के कारण आकांक्षा-भाव से उसका पञ्चम्यन्त में ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उत्साह-अर्थ में चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्द के बाद 'क्यङ्' (य) आता है। 'कष्ट' का अर्थ यहां 'पाप' है। उदाहरण के लिए 'कष्टाय क्रमते' (पाप करने के लिए उत्साह करता है) अर्थ में चतुर्थ्यन्त 'कष्ट ङे' के बाद प्रकृत सूत्र से 'क्यङ्' (य) होकर 'कष्ट ङे य' रूप बनता है। तब 'कष्ट ङे' की धातु संज्ञा होने पर 'ङे' का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'कष्ट य'। यहां '४८३—अकृत्सार्वधातुकयोः–०' से अङ्ग के अन्त्य अकार को दीर्घ होकर 'कष्ट् आ य'='कष्टाय' रूप बनने पर लट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में आत्मनेपद प्रत्यय 'त', शप्, पर-रूप और एत्व होकर 'कष्टायते' रूपसिद्ध होता है।

७२९. शब्द-वैर-कलहाभ्र-कण्व-मेघेभ्यः करणे। ३। १। १७

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति—शब्दायते। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्।

(वा०) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च।

प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच् स्यात्, इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्मतुब्लोप-यणादि-लोप-प्र-स्थ-स्फाद्यादेश-भसंज्ञास्तद्वण्णावपि स्युः। इत्यल्लोपः। घटं करोत्याचष्टे वा घटयति।

इति नामधातवः।

---

* यहां चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग स्वरूप-निर्देशनार्थ हुआ है। अतः इसका तात्पर्य है—'चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्द'।

७२९. शब्देति—सूत्र का शब्दार्थ है—(करणे) करने के अर्थ में (शब्द-मेवेभ्यः) शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ के बाद··· । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'कर्तुः क्यङ्, सलोपश्च' ३.१.११ से 'क्यङ्' तथा 'धातोः कर्मणः–०' ३.१.७ से 'कर्मणः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्मणः' सूत्रस्थ 'शब्द-मेवेभ्यः' का विशेषण होने के कारण बहुवचन में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—करने के अर्थ में कर्म-रूप* शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ—इन छः शब्दों के बाद 'क्यङ्' (य) आता है। उदाहरण के लिए 'शब्दं करोति' अर्थ में कर्मकारक 'शब्द अम्' के बाद प्रकृत सूत्र से क्यङ् होकर 'शब्द अम् य' रूप बनता है। इस स्थिति में धातु संज्ञा होने पर 'अम्' का लोप तथा '४८३–अकृत्सार्वधातुकयोः–०' से अजन्त अङ्ग को दीर्घ होकर 'शब्दा य' रूप बनता है। तब लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद 'त', शप् और पर-रूप होकर 'शब्दायते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के भी रूप सिद्ध होते हैं, यथा—१. वैरं करोति—वैरायते। २. कलहं करोति—कलहायते। ३. अभ्रं करोति—अभ्रायते। ४. कण्वं करोति—कण्वायते। ५. मेघं करोति—मेघायते।

विकल्पावस्था में 'तत्करोति तदाचष्टे'† वार्तिक से 'शब्द अम्' से णिच् (इ) होकर 'शब्द अम् इ' रूप बनता है। यहां धातु संज्ञा होने पर 'अम्' का लोप हो जाता है और रूप बनता है—'शब्द इ'। इस स्थिति में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०) प्रातिपदिकाद्धात्विति—इसका भावार्थ है—धात्वर्थ में प्रातिपदिक के बाद विकल्प से णिच् होता है और वह इष्ठवत् ('इष्ठन्' प्रत्यय के समान) होता है। उदाहरण के लिए 'शब्द इ' में णिच् (इ) के इष्ठवत् होने पर 'शब्द' की भ-संज्ञा हुई। तब '२३६–यस्येति च' से दकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होकर 'शब्द् इ' = 'शब्दि' रूप बनता है। यहां लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में तिप्, शप्, गुण और अयादेश होकर 'शब्दयति' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'घटं करोति' के अर्थ में 'घटयति' रूप बनता है। फलतः करने के अर्थ में कर्मरूप 'शब्द' आदि के तीन रूप बनते हैं—१. क्यङ्-प्रत्ययान्त, २. णिच्-प्रत्ययान्त और ३. मूलवाक्य-रूप।

विशेष—करने के अर्थ में क्यङ्-प्रत्ययान्त रूप कुछ ही शब्दों का बनता है, किन्तु णिच्-प्रत्ययान्त रूप सभी कर्मरूप शब्दों का बन सकता है।

नामधातु प्रकरण समाप्त।

---

* यहां 'कर्म' का अभिप्राय 'कर्म-कारक' से है।

† इसका अर्थ है—'करने और कहने के अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है।'

कण्ड्वादयः

७३०. कण्ड्वादिभ्यो यक् । ३ । १ । २७

एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात् स्वार्थे । कण्डूञ् गात्रविघर्षणे । १ । कण्डूयति । कण्डूयते । इत्यादि ।

इति कण्ड्वादयः ।

७३०. कण्ड्वादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कण्ड्वादिभ्यः) 'कण्डू' आदि के बाद (यक्) यक् होता है । किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता । 'कण्डू' आदि से कण्डूञ्, मन्तु, हृणीङ्, वल्गु, असु आदि का ग्रहण होता है, जिनका पाठ 'गणपाठ' में किया गया है । 'कण्डू' आदि में होने के कारण इसे 'कण्ड्वादिगण' भी कहते हैं । 'कण्डू' आदि दो प्रकार के हैं—धातु और प्रातिपदिक । यहां धात्व-धिकार होने से धातुरूप कण्ड्वादियों का ग्रहण होता है ।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'कण्डूञ्' (खुजलाना) आदि ('गणपाठ' में पठित) धातुओं के बाद 'यक्' (य) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'कण्डू' (कण्डूञ्) धातु से 'यक्' प्रत्यय होकर 'कण्डू य' रूप बनता है । इस स्थिति में इसकी धातुसंज्ञा होने पर लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में तिप्, शप् और पर-रूप होकर 'कण्डूयति' रूप सिद्ध होता है । आत्मनेपद प्रत्यय आने पर 'कण्डूयते' रूप बनता है ।

कण्ड्वादिगण समाप्त ।

---
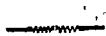
* 'द्विविधाः कण्ड्वादयो धातवः प्रातिपदिकानि च । तत्र धात्वधिकाराद्धातुभ्य एव प्रत्ययो विधीयते, न प्रातिपदिकेभ्यः'—काशिका ।

आत्मनेपदप्रक्रिया

७३१. कर्तरि कर्मव्यतिहारे । १ । ३ । १४

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तर्यात्मनेपदम् । व्यतिलुनीते–अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः ।

७३१. कर्तरीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्मव्यतिहारे*) क्रिया के विनिमय अर्थ में (कर्तरि) कर्ता में…। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। अन्य सम्बन्धी क्रिया का दूसरे द्वारा करना क्रिया का विनिमय कहलाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अन्य सम्बन्धी क्रिया का कर्ता अन्य हो तो कर्ता-अर्थ (कर्तृवाच्य) में धातु से आत्मनेपद† प्रत्यय होता है। 'वि' और 'अति' उपसर्ग के योग से क्रिया का विनिमय व्यापार सूचित होता है। उदाहरण के लिए 'अन्यस्य योग्यं लवनं करोति' (दूसरे के योग्य काटने को करता है अर्थात् दूसरे के बदले काटता है)—इस अर्थ में 'वि' और 'अति' पूर्वक 'लूञ्' (क्र्यादि०, काटना) धातु से लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'वि अति लू त' रूप बनता है। तत्र श्ना-प्रत्यय, 'लू' के ऊकार को ह्रस्व, 'श्ना' के आकार के स्थान में ईकार और एत्व होकर 'वि अति लुनीते' रूप बनता है। इस स्थिति में यणादेश होकर 'व्यतिलुनीते' रूप सिद्ध होता है।

७३२. न गतिहिंसार्थेभ्यः । १ । ३ । १५

व्यतिगच्छन्ति । व्यतिघ्नन्ति ।

७३२. न गतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(गतिहिंसार्थेभ्यः) गति और हिंसा अर्थवाली के बाद (न) नहीं होता है। किन्तु क्या नहीं होता है—यह जानने के लिए 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' १.३.१४ से 'कर्मव्यतिहारे' और 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्मव्यतिहार' का अर्थ है—क्रिया का विनिमय। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्रिया के विनिमय अर्थ में 'गति' (चलना) और 'हिंसा' (मारना) अर्थ वाली धातुओं के बाद आत्मनेपद

---

* 'कर्मशब्दः क्रियावाची, व्यतिहारो विनिमयः। यत्रान्यसम्बन्धिनीं क्रियामन्यः करोति इतरसम्बन्धिनीं चेतरः स कर्मव्यतिहारः'—काशिका।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए ३७८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

नहीं आता है।* यह पूर्वसूत्र (७३१) का अपवाद है। तात्पर्य यह कि क्रिया के विनिमय अर्थ में भी गति और हिंसावाची धातुओं के बाद परस्मैपद प्रत्यय ही आता है। उदाहरण के लिए 'हन्' धातु का अर्थ है—हिंसा करना। अतः क्रिया-विनिमय अर्थ में लट् लकार के प्रथमपुरुष-बहुवचन में 'वि' और 'अति' पूर्वक 'हन्' (अदादि०) धातु से परस्मैपद 'झि' प्रत्यय होकर 'वि अति हन् झि' रूप बनता है। तत्र 'हन्' की उपधा का लोप, हकार को घकार और झकार को 'अन्त्' आदि होकर 'व्यतिघ्नन्ति' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'दूसरे के बदले हिंसा करते हैं'। इसी प्रकार दूसरे के बदले चलने के अर्थ में गतिवाची 'गच्छ्' (गम्) धातु से लट् लकार के प्रथमपुरुष-बहुवचन परस्मैपद 'झि' होकर 'व्यतिगच्छन्ति' रूप बनता है।

७३३. नेर्विशः । १ । ३ । १७

निविशते।

७३३. नेर्विश इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नेः†) 'नि' उपसर्ग के पश्चात्वर्ती (विशः) 'विश्' के बाद। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित–०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'नि' उपसर्गपूर्वक 'विश्' (तुदादि०, घुसना) धातु के बाद 'आत्मनेपद आता है। यह '३८०–शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' का अपवाद है। उदाहरण के लिए लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'नि'पूर्वक 'विश्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', श-प्रत्यय और एत्व होकर 'निविशते' रूप सिद्ध होता है।

७३४. परिव्यवेभ्यः क्रियः । १ । ३ । १८

परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते।

७३४. परीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परिव्यवेभ्यः‡) परि, वि और अव उपसर्गपूर्वक (क्रियः) 'क्री' धातु के बाद...। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित–०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'परि', 'वि' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'क्री' (क्र्यादि०, खरीदना) धातु के बाद आत्मनेपद प्रत्यय

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (७३१) की व्याख्या देखिये।

† 'नेरुपसर्गस्य ग्रहणम्'—काशिका।

‡ इसका विग्रह है—'परि वि अव एभ्यः परस्मात्'। यहां भी पूर्ववत् 'परि' आदि का अभिप्राय उपसर्ग से ही है। देखिये—'पर्यादय उपसर्गा गृह्यन्ते'—काशिका।

आता है। कर्तृगामी क्रियाफल में '३७८—अनुदात्तङित—०' से ही 'क्री' में आत्मनेपद सिद्ध है। अतः यह सूत्र नियमार्थक है।* इससे परगामी क्रियाफल में भी इन उपसर्गों के योग में 'क्री' धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'परि' पूर्वक 'क्री' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'परि क्री त' रूप बनता है। इस स्थिति में श्ना-प्रत्यय, ईत्व, णत्व और एत्व आदि होकर 'परिक्रीणीते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वि' उपसर्ग के योग में 'विक्रीणीते' और 'अव' के योग में 'अवक्रीणीते' रूप सिद्ध होता है।

७३५. वि-पराभ्यां[५] जेः[५] । १ । ३ । १९

विजयते। पराजयते।

७३५. विपरेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(विपराभ्याम्) वि और परापूर्वक (जेः) 'जि' के बाद...। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'अनुदात्तङित—०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'वि' और 'परा' का अभिप्राय पूर्ववत् उपसर्ग से ही है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'वि' और 'परा' उपसर्गपूर्वक 'जि' (जीतना) धातु के बाद आत्मनेपद आता है। यह '३८०—शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' का अपवाद है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'वि'पूर्वक 'जि' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'विजित' रूप बनता है। तब गुण, शप्, अयादेश और एत्व आदि होकर 'विजयते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'परा' उपसर्गपूर्वक 'पराजयते' रूप बनता है।

७३६. समव-प्र-विभ्यः[५] स्थः[५] । १ । ३ । २२

सन्तिष्ठते। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते।

७३६. समवेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(समवप्रविभ्यः†) सम्, अव, प्र और वि पूर्वक (स्थः) 'स्था' के बाद...। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित—०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्, अव, प्र और वि-पूर्वक 'स्था' (भ्वादि०, ठहरना) धातु के बाद आत्मनेपद आता है। 'स्था' धातु वैसे तो परस्मैपदी है, किन्तु उपर्युक्त उपसर्गों के योग में आत्मनेपद का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सम्'पूर्वक 'स्था'

---

* 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये। ञित्वात्कर्त्रभिप्राये क्रियाफले सिद्धमात्मनेपदम्, अकर्त्रभिप्रायार्थोऽयमारम्भः'—काशिका।

† इसका विग्रह है—'सम् अव प्र वि एभ्यः परस्मात्'।

धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'सम् स्था त' रूप बनता है। तब शप्, 'स्था' के स्थान पर 'तिष्ठ', पर-रूप और एत्व आदि होकर 'सन्तिष्ठते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अव'पूर्वक 'अवतिष्ठते', 'प्र'पूर्वक 'प्रतिष्ठते' और 'वि'पूर्वक 'वितिष्ठते' रूप बनता है।

७३७. अपह्नवे॰ ज्ञः५ । १ । ३ । ४४

शतमपजानीते = अपलपतीत्यर्थः।

७३७. अपह्नवे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अपह्नवे) छिपाने अर्थ में (ज्ञः) 'ज्ञा' के बाद...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'अनुदात्तङित–०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—छिपाने अर्थ में 'ज्ञा' (क्र्यादि०, जानना) धातु के बाद आत्मनेपद आता है। उपसर्ग आने पर ही 'ज्ञा' का अर्थ 'छिपाना' होता है।* उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'अप'पूर्वक 'ज्ञा' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'अप ज्ञा त' रूप बनता है। इस स्थिति में 'ज्ञा' के स्थान पर 'जा', श्ना-प्रत्यय, ईत्व और एत्व होकर 'अपजानीते' रूप सिद्ध होता है। इसका अर्थ होता है—'छिपाता है'। इस प्रकार 'शतमपजानीते' का अर्थ है—'सौ को छिपाता है'।

७३८. ५अकर्मकाच्च॰ । १ । ३ । ४५

सर्पिषो जानीते = सर्पिषोपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः।

७३८. अकर्मकाच्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अकर्मकात्) अकर्मक के बाद···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुदात्तङित–०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' तथा 'अपह्नवे ज्ञः' १.३.४४ से 'ज्ञः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ज्ञः' सूत्रस्थ 'अकर्मकात्' का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अकर्मक 'ज्ञा' धातु के बाद आत्मनेपद आता है। इस सूत्र से परगामी क्रियाफल में ही आत्मनेपद का विधान किया गया है।† उदाहरण के लिए 'सर्पिषो जानीते' (घी के द्वारा प्रवृत्त होता है) में 'ज्ञा' धातु का अर्थ है—प्रवृत्त होना। इस अर्थ में यह अकर्मक है। अतः प्रकृत सूत्र से लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद 'त' प्रत्यय होकर 'ज्ञा त' रूप बनता है। इस स्थिति में 'श्ना' प्रत्यय और 'ज्ञा' के स्थान पर 'जा' आदि होकर 'जानीते' रूप सिद्ध होता है।

---

* 'सोपसर्गश्चायमपह्नवो वर्तते न केवलः'—काशिका।

† 'अकर्त्रभिप्रायार्थमिदम्, कर्त्रभिप्राये हि 'अनुपसर्गाज्ज्ञः' (१.३.७६) इति वक्ष्यति'—काशिका।

७३९. उदश्चरः सकर्मकात् । १ । ३ । ५३

धर्ममुच्चरते = उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः ।

७३९. उदश्चर इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उदः) 'उद्'पूर्वक (सकर्मकात्) सकर्मक (चरः) 'चर्' के बाद··· । किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'अनुदात्तङित–०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उद्'पूर्वक सकर्मक 'चर्' (चलना) धातु के बाद आत्मनेपद आता है । 'चर्' धातु परस्मैपदी है । इस सूत्र से 'उद्' उपसर्ग के योग में सकर्मक होने पर आत्मनेपद का विधान किया गया है । उदाहरण के लिए 'धर्ममुचरते' (धर्म का उल्लङ्घन कर चलता है) में 'चर्' धातु सकर्मक है । अतः लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'उद्'पूर्वक 'चर्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय त होकर 'उद् चर् त' रूप बनता है । तब शप्, एत्व और श्चुत्व होकर 'उच्चरते' रूप सिद्ध होता है ।

७४०. समस्तृतीयायुक्तात् । १ । ३ । ५४

रथेन सञ्चरते ।

७४०. सम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(समः) 'सम्'पूर्वक (तृतीयायुक्तात्) तृतीयायुक्त के बाद··· । किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'उदश्चरः–०' १.३.५३ से 'चरः' तथा 'अनुदात्तङित्–०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । यहां 'तृतीया' का अभिप्राय तृतीया विभक्ति से है । इसका योग 'चर्' धातु के अर्थद्वारक से होता है* । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तृतीयान्त से युक्त 'सम्'पूर्वक 'चर्' धातु से आत्मनेपद आता है । तात्पर्य यह कि तृतीयान्त के योग में ही 'सम्'पूर्वक 'चर्' से आत्मनेपद आता है । यदि तृतीयान्त (पद) साथ न हो तो परस्मैपद का ही प्रयोग होता है । उदाहरण के लिए 'रथेन संचरते' (रथ से घूमता है) में 'रथेन' पद तृतीयान्त है । अतः इससे युक्त 'सम्'पूर्वक 'चर्' धातु से लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद 'त' होकर 'सम् चर् त' रूप बनता है । इस स्थिति में शप् और एत्व आदि होकर 'संचरते' रूप सिद्ध होता है । तृतीयान्त के योग के अभाव में परस्मैपद 'संचरति' बनता है ।

७४१. दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे । १ । ३ । ५५

संपूर्वाद्दाणस्तृतीयान्तेन युक्तादुक्तं स्यात् तृतीया चेच्चतुर्थ्यर्थे । दास्या संयच्छते कामी ।

---

* देखिये—'तृतीयेति तृतीयाविभक्तिर्गृह्यते । तया चरतेरर्थद्वारको योगः'–काशिका ।

७४१. दाणश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (दाणः) 'दाण्' के बाद··· (चेत्) यदि (सा) वह (चतुर्थ्यर्थे) चतुर्थी अर्थ में हो। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण पूर्वसूत्र 'समस्तृतीयायुक्तात्' १.३.५४ और 'अनुदात्तङित-०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'सा' का अभिप्राय 'तृतीया' से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि तृतीया विभक्ति चतुर्थी के अर्थ में हो तो तृतीयान्त से युक्त 'सम्'पूर्वक 'दाण्' (भ्वादि०, देना) धातु के बाद आत्मनेपद आता है। 'दाण्' धातु परस्मैपदी है। प्रस्तुत सूत्र से पूर्वोक्त दशा में आत्मनेपद का विधान किया गया है।

'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया'—इस वार्तिक से अशिष्ट व्यवहार में 'दाण्' धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है। अतः वहीं पर आत्मनेपद का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'दास्या संयच्छते कामी' (कामी पुरुष दासी के लिए देता है) में तृतीयान्त 'दास्या' का प्रयोग चतुर्थी-अर्थ में हुआ है। अतः उसके योग में 'सम्'पूर्वक 'दाण्' धातु से लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'सम् दाण् त' रूप बनता है। तब शप्, 'दाण्' के स्थान पर 'यच्छ', पर-रूप और एत्व आदि होकर 'संयच्छते' रूप सिद्ध होता है।

७४२. पूर्ववत् सनः। १। ३। ६२

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्तादप्यात्मनेपदं स्यात्। एदिधिषते।

७४२. पूर्ववदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सनः) 'सन्' के बाद (पूर्ववत्) पूर्व के समान···। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'अनुदात्तङित-०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पूर्व' का अभिप्राय यहां पूर्ववर्ती धातु से है क्योंकि धातु के बाद ही 'सन्' प्रत्यय आता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूर्ववर्ती धातु के समान ही 'सन्' के बाद आत्मनेपद होता है। तात्पर्य यह कि 'सन्' की पूर्ववर्ती धातु यदि आत्मनेपदी हो तो 'सन्' के बाद भी आत्मनेपद आता है। उदाहरण के लिए 'एधितुमिच्छति' (बढ़ना चाहता है)—इस अर्थ में 'एध्' धातु से 'सन्' प्रत्यय होकर 'एध् स' रूप बनता है। तब इडागम, द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'एदिधिष' रूप बनता है। इस स्थिति में 'एध्' धातु के आत्मनेपदी होने के कारण लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'सन्' (सन्नन्त 'एदिधिष') के बाद आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'एदिधिषत' रूप बनता है। यहां शप्, पर-रूप और एत्व होकर 'एदिधिषते' रूप सिद्ध होता है।

७४३. हलन्ताच्च। १। २। १०

इक्समीपाद्धलः परो झलादिः सन् कित्। निविविक्षते।

७४३. हलन्तादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (हलन्तात्*) समीपवर्ती हल् के बाद···। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण सूत्र 'इको झल्' १.२.९, 'रुदविदमुप–०' १.२.८ से 'सन्' और 'असंयोगाल्लिट् कित्' १.२.५ से 'कित्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'झल्' 'सन्' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इक्' (इ, उ, ऋ, ऌ) के समीपवर्ती हल् (व्यंजन-वर्ण) के बाद, झलादि 'सन्' (जिसके आदि में कोई झल्-वर्ण हो) 'कित्'संज्ञक होता है। उदाहरण के लिए 'निवेष्टुमिच्छति' (वह निवेश करना चाहता है)—इस अर्थ में 'नि'पूर्वक 'विश्' धातु से 'सन्' होकर 'निविश् स' रूप बनता है। यहां अनिट् होने से 'सन्' (स) झलादि है, अतः इक् (वकारोत्तरवर्ती इकार) के समीपवर्ती हल्–शकार के बाद आने के कारण प्रकृत सूत्र से वह 'कित्'संज्ञक होता है। 'कित्' हो जाने पर लघूपध-गुण का निषेध हो जाता है। तब षत्व-कुत्व, द्वित्व और अभ्यास-कार्य आदि होकर 'निविविक्ष' रूप बनता है। इस स्थिति में '७३३–नेर्विशः' से 'नि'पूर्वक 'विश्' धातु के आत्मनेपदी होने पर लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में '७४२–पूर्ववत् सनः' से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'नि वि वि क्ष त' रूप बनता है। तब शप्, पर-रूप और एत्व आदि होकर 'निविविक्षते' रूप सिद्ध होता है।

७४४. गन्धनावक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः । १ । ३ । ३२

गन्धनं = सूचनम्। उत्कुरुते–सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपणं = भर्त्सनम्। श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते–भर्त्सयतीत्यर्थः। हरिमुपकुरुते–सेवत इत्यर्थः। परदारान् प्रकुरुते = तेषु सहसा प्रवर्तते। एधोदकस्योपस्कुरुते–गुणमाधत्ते। कथाः प्रकुरुते = कथयतीत्यर्थः। शतं प्रकुरुते–धर्मार्थं विनियुङ्क्ते। एषु किम्–कटं करोति। '६७२–भुजोऽनवने'—ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम्–महीं भुनक्ति।

इत्यात्मनेपदप्रक्रिया।

७४४. गन्धनेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(गन्धन—उपयोगेषु) गन्धन, अवक्षेपण, सेवन, साहसिक्य, प्रतियत्न, प्रकथन और उपयोग अर्थ में (कृञः) 'कृञ्' के बाद। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'अनुदात्तङित–०' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—गन्धन (सूचन, शिकायत करना), अवक्षेपण (भर्त्सना), सेवन (सेवा करना), साहसिक्य (सहसा प्रवृत्त होना), प्रतियत्न (दूसरे के गुणों का आधान करना),

* 'समीपवचनोऽन्तशब्दः'—काशिका।

प्रकथन (विस्तार से कहना) और उपयोग (धर्मादि प्रयोजन में प्रयोग करना)-इन अर्थों में 'कृञ्' (करना) धातु के बाद आत्मनेपद आता है। ञित् होने के कारण कर्तृगामी क्रियाफल में 'कृञ्' धातु से आत्मनेपद सिद्ध ही है, अतः यह सूत्र नियमार्थक है। यह विधान करता है कि उपर्युक्त अर्थों में परगामी क्रियाफल में भी 'कृञ्' धातु से आत्मनेपद होता है। उदाहरण के लिए 'उत्कुरुते' (शिकायत करता है) में 'उद्'पूर्वक 'कृञ्' धातु का अर्थ गन्धन-सूचन है, अतः प्रकृत सूत्र से लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'कृ' (कृञ्) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'उद् कृ त' रूप बनता है। तब उ-प्रत्यय, गुणादेश और एत्व आदि होकर 'उत्कुरुते' रूप सिद्ध होता है। अन्य अर्थों में भी 'कृञ्' (कृ) से आत्मनेपद होता है—

(क) श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते (बाज बटेर को फटकारता है)—यहां 'उद्' और 'आ'पूर्वक 'कृ' धातु का भर्त्सन (अवक्षेपण) अर्थ होने के कारण आत्मनेपद होकर 'उदाकुरुते' रूप बना है।

(ख) हरिमुपकुरुते (हरि की सेवा करता है)—यहां 'उप'पूर्वक 'कृ' धातु का सेवा अर्थ होने से आत्मनेपद होकर 'उपकुरुते' रूप बना है।

(ग) परदारान् प्रकुरुते (परस्त्रियों के विषय में साहस करता है)—यहां 'प्र'-पूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ है—सहसा प्रवृत्त होना। अतः प्रकृत सूत्र से आत्मनेपद होकर 'प्रकुरुते' रूप बनता है।

(घ) एधोदकस्योपस्कुरुते (लकड़ी जल में अपना गुण आधान करती है)—यह 'उप'पूर्वक 'कृ' धातु का गुणाधान (प्रतियत्न) अर्थ होने के कारण आत्मनेपद होकर 'उपस्कुरुते'* रूप बनता है।

(ङ) कथाः प्रकुरुते (कथाएँ कहता है)—यहां 'प्र'पूर्वक 'कृ' धातु का कहना अर्थ होने से आत्मनेपद होकर 'प्रकुरुते' रूप बनता है।

(च) शतं प्रकुरुते (सौ को धर्म के लिए लगाता है)—यहां 'प्र'पूर्वक 'कृ' धातु का अर्थ विनियोग होने के कारण आत्मनेपद होकर 'प्रकुरुते' रूप बना है।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त गन्धन आदि अर्थों में ही 'कृ' धातु से परगामी क्रियाफल में आत्मनेपद होता है, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए 'कटं करोति' (चटाई बनाता है) में 'कृ' का अर्थ गन्धन आदि न होने से आत्मनेपद का प्रयोग नहीं हुआ है। यहां 'कृ' से लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में परस्मैपद 'तिप्' और उ-प्रत्यय आदि का प्रयोग होकर 'करोति' रूप बनता है।

आत्मनेपदप्रक्रिया समाप्त।

---

* '६८३-उपात् प्रतियत्न-०' से सुट् होता है।

परस्मैपदप्रक्रिया

७४५. अनुपराभ्यां कृञः । १ । ३ । ७९

कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति ।

७४५. अनुपरेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनुपराभ्याम्) 'अनु' और 'परा'-पूर्वक (कृञः) 'कृञ्' धातु के बाद...। किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गन्धनावक्षेपण–०' १.३.३२ से 'गन्धनावक्षेपण-सेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु', 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' १.३.७२ से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' तथा 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्तृगामी क्रियाफल में और गन्धन (सूचन) आदि अर्थों में भी 'अनु' और 'परा'पूर्वक 'कृञ्' धातु के बाद परस्मैपद आता है* । यह पूर्वसूत्र (७४४) तथा ३७८ वें सूत्र का अपवाद है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'अनु'पूर्वक 'कृ' (कृञ्) धातु से परस्मैपद तिप् होकर 'अनु कृ ति' रूप बनता है । तब उ-प्रत्यय और गुण आदि होकर 'अनुकरोति' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'परा'पूर्वक 'पराकरोति' रूप बनता है, जिसका अर्थ है—'दूर करता है' ।

७४६. अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः । १ । ३ । ८०

क्षिप प्रेरणे । स्वरितेत् । अभिक्षिपति ।

७४६. अभीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अभिप्रत्यतिभ्यः) 'अभि', 'प्रति' और 'अति'पूर्वक (क्षिपः) क्षिप् के बाद...। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अभि', 'प्रति' और 'अति'पूर्वक 'क्षिप्' (फेंकना, तुदादि०) धातु के बाद परस्मैपद आता है । 'क्षिप्' धातु स्वरितेत् है, अतः 'स्वरितञितः–०' ३.१.७२ से आत्मनेपद प्राप्त होता है । प्रस्तुत सूत्र से अभि, प्रति और अति-पूर्वक 'क्षिप्' धातु से आत्मनेपद का निषेध कर परस्मैपद का विधान किया गया है । उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'अभि'पूर्वक 'क्षिप्' धातु से परस्मैपद तिप् होकर 'अभि क्षिप् ति' रूप बनता है । तब श-प्रत्यय होकर 'अभिक्षिपति'

---

* 'गन्धन' आदि के अर्थों के लिए पूर्वसूत्र (७४४) की व्याख्या देखिये ।

रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'प्रति'पूर्वक 'प्रतिक्षिपति' और 'अति'पूर्वक 'अतिक्षिपति' रूप बनता है।

७४७. प्राद्[^] वहः[^] । १ । ३ । ८१

प्रवहति।

७४७. प्रादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्राद्) 'प्र'पूर्वक (वहः) 'वह्' के बाद...। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शेषात्कर्तरि-०' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'प्र'पूर्वक 'वह्' (भ्वादि०, ले जाना) धातु के बाद परस्मैपद होता है। स्वरितेत् होने के कारण* 'स्वरितञितः-०' १.१.७२ से 'वह्' धातु में आत्मनेपद होता है। इस सूत्र से 'प्र'पूर्वक 'वह्' से परस्मैपद का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'प्र'पूर्वक 'वह्' धातु से परस्मैपद तिप् होकर 'प्र वह् ति' रूप बनता है। तब शप् होकर 'प्रवहति' (बहता है) रूप सिद्ध होता है।

७४८. परेर्मृषः । १ । ३ । ८२

परिमृष्यति।

७४८. परेर्मृष इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परेः) 'परि'पूर्वक (मृषः) मृष् के बाद...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'शेषात्कर्तरि-०' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'परि'-पूर्वक 'मृष्' (दिवादि० सहना) धातु के बाद परस्मैपद आता है। 'मृष्' भी स्वरितेत् है, अतः 'स्वरितञितः-०' १.३.७२ से आत्मनेपद प्राप्त होता है। इस सूत्र से उसका बाध कर 'परि'पूर्वक 'मृष्' धातु के बाद परस्मैपद का नियम किया गया है। उदाहरण के लिए लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'परि'पूर्वक 'मृष्' धातु से परस्मैपद तिप् होकर 'परि मृष् ति' रूप बनता है। इस स्थिति में 'श्यन्' प्रत्यय होकर 'परिमृष्यति' रूप सिद्ध होता है।

७४९. व्याङ्परिभ्यो रमः । १ । ३ । ८३

रमु क्रीडायाम्। विरमति।

७४९. व्याङिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(व्याङ्परिभ्यः = वि आङ् परि इत्येवं पूर्वात्) वि, आङ् और परिपूर्वक (रमः) 'रम्' के बाद। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शेषात्कर्तरि-०' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वि, आङ्

---

* 'वह प्रापणे स्वरितेत्'—काशिका।

और परिपूर्वक 'रम्' (भ्वादि०, खेलना) धातु के बाद परस्मैपद आता है। 'रम्' धातु अनुदात्त है, अतः 'अनुदात्तङित–०' १.३.१२ से आत्मनेपद प्राप्त होता है। उसी का बाध कर प्रकृत सूत्र से उपर्युक्त उपसर्गों के योग में 'रम्' धातु से परस्मैपद का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'वि'पूर्वक 'रम्' धातु से परस्मैपद तिप् होकर 'वि रम् ति' रूप बनता है। तब शप् होकर 'विरमति' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'रुकता है'। इसी प्रकार 'आङ्' के योग में 'आरमति' (चारों ओर खेलता है) और 'परि' के योग में 'परिरमति' (सर्वत्र सुख पाता है) रूप बनते हैं।

७५०. उपाच्च । १ । ३ । ८४

यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्।

इति पद-व्यवस्था।

७५०. उपादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (उपात्) 'उप' के बाद···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (७४९) से 'रमः' और 'शेषात्कर्तरि–०' १.३.७८ से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उप'-पूर्वक 'रम्' (भ्वादि०, खेलना) धातु के बाद परस्मैपद आता है। उदाहरण के लिए लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'उप'पूर्वक 'रम्' धातु से परस्मैपद तिप् होकर 'उप रम् ति' रूप बनता है। इस स्थिति में शप् होकर 'उपरमति' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'समाप्त करता है, हटाता है'।

परस्मैपदप्रक्रिया समाप्त।

भावकर्मप्रक्रिया

७५१. भावकर्मणोः । १ । ३ । १३

भावे कर्मणि च धातोर्लस्यात्मनेपदम् ।

७५१. भावेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भावकर्मणोः) भाव और कर्म में...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' १.३.१२ से 'आत्मनेपदम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। भाव और कर्म का अभिप्राय भाववाच्य और कर्मवाच्य से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाववाच्य और कर्मवाच्य में आत्मनेपद होता है।* उदाहरण के लिए 'त्वया मया अन्यैश्च भूयते' (तुमसे, मुझसे और अन्य लोगों से हुआ जाता है) में 'भू' धातु का प्रयोग भाववाच्य में हुआ है, अतः लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में आत्मनेपद प्रत्यय 'त' होकर 'भू त' रूप बनता है। इसी प्रकार कर्मवाच्य 'अनुभूयते आनन्दः' (आनन्द का अनुभव किया जाता है) में 'अनु' पूर्वक 'भू' धातु से आत्मनेपद 'त' होकर 'अनु भू त' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७५२. सार्वधातुके यक् । ३ । १ । ६७

धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके। भावः = क्रिया। सा च भावार्थलकारेणानूद्यते। युष्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किन्त्वेकवचनमेवोत्सर्गतः। त्वया मया अन्यैश्च भूयते। बभूवे।

७५२. सार्वधातुके इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सार्वधातुके) सार्वधातुक परे होने पर (यक्) यक् होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोरेकाचो हलादेः—०' ३.१.२२ से 'धातोः' तथा 'चिण् भावकर्मणोः' ३.१.६६ से 'भावकर्मणोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भावकर्मणोः' का अन्वय सूत्रस्थ 'सार्वधातुके' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्मवाची सार्वधातुक परे होने पर धातु के बाद 'यक्' आता है। उदाहरण के लिए 'भू त' में भाववाची सार्वधातुक 'त' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से धातु 'भू' के बाद 'यक्' (य) होकर 'भू य त' रूप बनता है। इस स्थिति में 'त' प्रत्यय की 'टि' को एत्व होकर 'भू य ते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अनुभूत' में

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ३७३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

कर्मवाची सार्वधातुक 'त' परे होने के कारण धातु से 'यक्' होकर पूर्ववत् 'अनुभूयते' रूप बनता है।

७५३. स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रह-दृशां वा चिण्वदिट् च । ६ । ४ । ६२

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाङ्गकार्यं वा स्यात् स्यादिषु भावकर्मणोर्गम्यमानयोः स्यादीनामिडागमश्च । चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट् । चिण्वद्भावाद् वृद्धिः । भाविता, भविता । भाविष्यते, भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत । भाविषीष्ट, भविषीष्ट ।

७५३. स्य-सिजिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(भावकर्मणोः) भाव और कर्म-विषयक (स्य—तासिषु) स्य, सिच्, सीयुट् और तास् परे होने पर (उपदेशे) उपदेश में (अज्झनग्रहदृशां = अच् हन ग्रह दृशां) अच् और हन्, ग्रह् तथा दृश् के स्थान पर (वा) विकल्प से (चिण्वत्) 'चिण्' के समान कार्य होते हैं (च) और (इट्) 'इट्' भी होता है। सूत्रस्थ षष्ठयन्त 'अच्' अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—भाव और कर्म-विषयक स्य, सिच्, सीयुट् और तास् परे होने पर उपदेश में अजन्त अङ्ग (जिसके अन्त में कोई स्वर-वर्ण हो), हन् (मारना), ग्रह (पकड़ना) और दृश् (देखना)—इनके स्थान पर विकल्प से चिण् के समान कार्य होते हैं और 'इट्' भी होता है। यह 'इट्' चिण्वद्भाव होने पर ही होती है। यह 'स्य' 'सिच्' आदि प्रत्ययों को ही होती है और उन्हीं का आद्यवयव बनता है।* इस प्रकार यह सूत्र दो कार्य करता है—१. 'स्य' आदि को इडागम और २. चिण्वद्भाव। चिण्वद्भाव के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—

(क) जिस प्रकार चिण् परे होने पर '१८२–अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है उसी प्रकार चिण्वद्भाव में भी वृद्धि होगी।

(ख) जिस प्रकार चिण् परे होने पर '७५७–आतो युक् चिण्कृतोः' से आदन्त धातुओं को युक् होता है, उसी प्रकार चिण्वद्भाव में भी होता है।

(ग) जिस प्रकार चिण् परे रहने पर '२८७–हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से 'हन्' धातु के हकार को घकार होता है, उसी प्रकार चिण्वद्भाव में भी।

(घ) जिस प्रकार 'णि' से 'चिण्' परे होने पर 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' ६.४.९३ से मित्संज्ञकों को विकल्प से दीर्घ होता है, उसी प्रकार चिण्वद्भाव में भी।

---

* देखिये—'यदा चिण्वत् तदा इडागमो भवति। कस्य। स्यसिच्सीयुट्तासीनामेवेति वेदितव्यम्। ते हि प्रकृताः। अङ्गस्य तु लक्ष्यविरोधान्न क्रियते।'—काशिका।

(ङ) ण्यन्त धातु से चिण्वद्भाव में इस सूत्र से जो 'इट्' का आगम होता है वह '५६२–असिद्धवदत्राभात्' परिभाषा से असिद्धवत् हो जाता है। इसलिए 'स्य' आदि को अनिडादि मानकर '५२९–णेरनिटि' से 'णि' का लोप हो जाता है।

उदाहरण के लिए भाववाच्य लुट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'भू' धातु से आत्मनेपद 'त', उसके स्थान पर डात्व और 'तास्' होकर 'भू त् आ' रूप बनता है। इस स्थिति में अजन्त अङ्ग 'भू' से भावविषयक तास् (त्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से चिण्वद्भाव हो जाता है। चिण्वद्भाव होने पर अजन्त अङ्ग 'भू' को वृद्धि–औकार तथा 'तास्' (त्) को इडागम होकर 'भ् औ इ त् आ' रूप बनता है। इस स्थिति में औकार के स्थान पर 'आव्'-आदेश होकर 'भ आव् इ त् आ' = 'भाविता' रूप सिद्ध होता है। चिण्वद्भाव के अभावपक्ष में '४०१–आर्धधातुकस्य–०' से तास् को इडागम तथा 'भू' को गुण और अव् देश होकर 'भविता' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार लृट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में भावविषयक 'स्य' परे होने पर चिण्वद्भाव में 'भाविष्यते' और उसके अभाव में 'भविष्यते' रूप बनते हैं। भावविषयक 'सीयुट्' का उदाहरण आशीर्लिङ् में मिलता है, जिसके प्रथमपुरुष-एकवचन में चिण्वद्भाव में 'भाविषीष्ट' और उसके अभाव में 'भविषीष्ट' रूप बनता है। भावविषयक 'सिच्' का उदाहरण नहीं मिलता है क्योंकि 'च्लि' के स्थान पर यहां 'चिण्' हो जाता है। कर्मवाच्य में भी इसी प्रकार 'स्य' आदि परे होने पर दो-दो रूप बनते हैं। यहां कर्मविषयक 'सिच्' का उदाहरण भी मिल जाता है—लुङ् लकार में। उसके प्रथमपुरुष-द्विवचन में चिण्वद्भावपक्ष में 'अनु'पूर्वक 'भू' धातु का 'अन्वभाविषाताम्' और अभावपक्ष में 'अन्वभविषाताम्' रूप बनता है।

७५४. चिण् भावकर्मणोः । ३ । १ । ६६

च्लेश्चिण् स्याद्भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत, अभविष्यत। अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मकः। अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्। णिलोपः–भाव्यते। भावयाञ्चक्रे। भावयाम्बभूवे। भावयामासे। चिण्वदिट्। भाविता। आभीयत्वेनासिद्धत्वाण्णिलोपः। भावयिता। भावयिषीष्ट। अभावि। अभाविषाताम्, अभावयिषाताम्। बुभूष्यते। बुभूषाञ्चक्रे। बुभूषिता। बुभूषिष्यते। बोभूय्यते। बोभूयते। '४८३–अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः'। स्तूयते विष्णुः। स्ताविता, स्तोता। स्ताविष्यते, स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्, अस्तोषाताम्। ऋ गतौ। '४९८–गुणोर्ति–०' इति गुणः। अर्यते। स्मृ स्मरणे। स्मर्यते। सस्मरे। उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट्। आरिता, अर्ता। स्मारिता, स्मर्ता। '३३४–अनिदिताम्–०'

इति नलोपः । स्रस्यते । इदितस्तु नन्द्यते । सम्प्रसारणम् । इज्यते ।

७५४. चिणिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भावकर्मणोः) भाव और कर्म में (चिण्) 'चिण्' होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः' तथा 'चिण् ते पदः' ३.१.६० से 'ते' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्म-विषयक 'त' परे होने पर 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' होता है । अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह सम्पूर्ण 'च्लि' के स्थान पर होता है । उदाहरण के लिए भाववाच्य में लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'भू' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', अडागम और 'च्लि' होकर 'अ भू च्लि त' रूप बनता है । इस स्थिति में भावविषयक 'त' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'च्लि' के स्थान पर 'चिण्' (इ) होकर 'अ भू इ त' रूप बनता है। तब '६४१–चिणो लुक्' से 'त' का लोप होने पर ऊकार को वृद्धि और 'आव्' आदेश होकर 'अभ् आव् इ' = 'अभावि' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार कर्मवाच्य 'अकारि कटो देवदत्तेन' में 'कृञ्' धातु का 'अकारि' रूप बनता है ।

७५५. तनोतेर्यकि । ६ । ४ । ४४

आकारान्तादेशो वा स्यात् । तायते, तन्यते ।

७५५. तनोतेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यकि) यक् परे होने पर (तनोतेः*) 'तन्' धातु के स्थान में···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'विड्वनोः–०' ६.४.४१ से 'आत्' तथा 'ये विभाषा' ६.४.४३ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यक् परे होने पर 'तन्' (तनादि०, फैलाना) धातु के स्थान पर (विभाषा) विकल्प से (आत्) आकार आदेश होता है । '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश 'तन्' के अन्त्य-नकार के स्थान पर ही होता है । उदाहरण के लिए कर्मवाच्य में लट्लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'तनु' (तन्) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त' और यक् होकर 'त न् य त' रूप बनता है । इस स्थिति में 'यक्' (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'तन्' के नकार के स्थान पर आकार होकर 'त आ य त' रूप बनता है । तब दीर्घ और एत्व होकर 'तायते' रूप सिद्ध होता है । आकार के अभाव-पक्ष में 'तन्यते' रूप बनता है ।

७५६. तपोऽनुतापे च । ३ । १ । ६५

तपश्च्लेश्चिण् न स्यात् कर्मकर्तर्यनुतापे च । अन्वतप्त पापेन । '५८८–घुमास्था–०' इतीत्वम् । दीयते । धीयते । ददे ।

* यह 'तनोति' का षष्ठ्यन्त रूप है । स्वतः 'तनोति' ही 'तन्' धातु का लट्लकार में प्रथमपुरुष एकवचन का रूप है । अतः इससे मूलधातु का ही ग्रहण होता है ।

७५६. तप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तपः) तप् के बाद (अनुतापे) अनुताप अर्थ में (च) और...। यह सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'च्लेः सिच्' ३.१.४४ से 'च्लेः', 'चिण् ते पदः' ३.१.६० से 'चिण्' और 'ते', 'न रुधः' ३.१.६४ से 'न' तथा 'अचः कर्म-कर्त्तरि' ३.१.६२ से 'कर्मकर्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्मकर्ता* तथा अनुताप (पश्चात्ताप) अर्थ में 'त' परे होने पर 'तप्' (तपना) धातु के बाद 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' नहीं होता है। 'अनुताप अर्थ में' कहने से भाव (भाववाच्य) और कर्म (कर्मवाच्य) में भी 'चिण्' का प्रतिषेध हो जाता है†। तात्पर्य यह कि कर्मकर्ता में तो 'चिण्' का निषेध है ही, अनुताप अर्थ होने पर भाव और कर्म में भी 'तप्' के उत्तरवर्ती 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' नहीं होता है। कर्म-कर्ता का उदाहरण 'अतप्त तपस्तापसः' में मिलता है। यहां लुङ्लकार के प्रथम-पुरुष-एकवचन में 'तप्' धातु का 'अ तप् च्लि त' रूप बनने पर कर्म-कर्ता में होने के कारण 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' का निषेध हो जाता है। तब 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' और पुनः उसका लोप होकर 'अ तप् त' = 'अतप्त' रूप बनता है। इसी प्रकार पश्चात्ताप अर्थ होने पर कर्मवाच्य में 'अनु'पूर्वक 'तप्' धातु से 'च्लि', उसके स्थान में 'सिच्' और उसका लोपादि होकर 'अनु अ तप् त' = 'अन्वतप्त' रूप बनत है, जैसे—'अन्वतप्त पापेन' (पाप के द्वारा दुखी हुआ)।

७५७. आतो युक् चिण्-कृतोः । ७ । ३ । ३३

आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। दायिता, दाता। दायिषीष्ट, दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम्। भज्यते।

७५७. आत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चिण्-कृतोः) चिण् और कृत् परे होने पर (आतः) आकार का अवयव (युक्) 'युक्' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ तथा 'अचो ञ्णिति' ७.२.११५ से 'ञ्णिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'आतः' 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'ञ्णिति' का अन्वय सूत्रस्थ 'कृति' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—चिण् और कित्-णित् कृत् प्रत्यय परे होने पर आकारान्त अङ्ग का अवयव 'युक्' होता है। 'युक्' में 'उक्' इत्संज्ञक है, अतः कित् होने के कारण '८५—आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह अङ्ग का अन्तावयव बनता है।

---

* इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए ७६० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† 'अनुतापः पश्चात्तापः। तस्य ग्रहणं कर्मकर्त्रर्थं, तत्र हि भावकर्मणोरपि प्रतिषेधो भवति'—काशिका।

'७५३–स्य–सिच्–सीयुट्–०' सूत्र से स्य, सिच्, सीयुट् और तास् के परे होने पर उपदेश में अजन्त अङ्ग और 'हन्' आदि को चिण्वद्भाव होता है, अतः इन स्थलों पर 'युक्'-आगम होता है। उदाहरण के लिए कर्मवाच्य में लुट् लकार के प्रथम-पुरुष-एकवचन में 'दा' (देना) धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', डात्व, तास् और चिण्वद्भाव तथा इडागम होकर 'दा इ त् आ' रूप बनता है। इस स्थिति में चिण् परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से आकारान्त अङ्ग 'दा' को 'युक्' (य्) होकर 'दा य् इ त् आ' = 'दायिता' रूप बनता है। यहां ध्यान रहे कि चिण्वद्भाव विकल्प से होता है, अतः उसके अभावपक्ष में डात्व और तास् मात्र होकर 'दाता' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार लृट्, आशीर्लिङ् और लङ् में भी दो-दो रूप बनते हैं। लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'च्लि' के स्थान में 'चिण्' होने से केवल युक्-आगमपरक एक ही रूप बनता है। हां, अन्य वचनों और पुरुषों में विकल्प से चिण्वद्भाव होने से दो-दो रूप बनते हैं। ञित् कृत् का उदाहरण 'दायः' में मिलता है। इसी प्रकार 'दायकः' णित् कृत् का उदाहरण है।

७५८. भञ्जेश्च चिणि[६] । ६ । ४ । ३३

नलोपो वा स्यात् । अभाजि, अभञ्जि । लभ्यते ।

७५८. भञ्जेश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (चिणि) 'चिण्' परे होने पर (भञ्जेः) 'भञ्ज्' का···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'श्नान्नलोपः' ६.४.२३ से 'नलोपः' तथा 'जान्तनशां विभाषा' ६.४.३२ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'चिण्' परे होने पर 'भञ्ज्' (तोड़ना) धातु के नकार का विकल्प से लोप होता है। उदाहरण के लिए कर्मवाच्य में लुङ्लकार के प्रथम-पुरुष-एकवचन में 'भञ्ज्' धातु से आत्मनेपद 'त', च्लि-णिच् तथा अडागम आदि होकर 'अ भञ्ज् इ त' रूप बनता है। इस स्थिति में 'चिण्' (इ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'भञ्ज्' के नकार का लोप होकर 'अ भज् इ त' रूप बनता है। तब उपधावृद्धि और 'त'-लोप होकर 'अभाजि' रूप सिद्ध होता है। नकारलोप के अभावपक्ष में केवल 'त'-लोप होकर 'अभञ्जि' रूप सिद्ध होता है।

७५९. विभाषा चिण्णमुलोः[७] । ७ । १ । ६९

लभेर्नुमागमो वा स्यात् । अलम्भि, अलाभि ।

इति भावकर्मप्रक्रिया ।

७५९. विभाषेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चिण्णमुलोः) चिण् और णमुल् परे होने पर (विभाषा) विकल्प से···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए

'लभेश्च' ७.१.६४ से 'लभेः' तथा 'इदितो नुम्धातोः' ७.१.५८ से 'नुम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—चिण् और णमुल् परे होने पर 'लभ्' (भ्वादि०, पाना) धातु का अवयव विकल्प से 'नुम्' होता है। 'नुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०–मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह 'लभ्' धातु के अन्त्य अच्–लकारोत्तरवर्ती अकार के बाद आता है। उदाहरण के लिए कर्मवाच्य में लुङ् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'लभ्' धातु से आत्मनेपद प्रत्यय 'त', च्लि-चिण् और अडागम आदि होकर 'अलभ् इ त' रूप बनता है। इस स्थिति में चिण् (इ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'लभ्' को 'नुम्' (न्) होकर 'अ ल न् भ् इ त' रूप बनता है। तब 'त'-लोप और पर-सवर्ण होकर 'अलम् भ् इ' = 'अलम्भि' रूप सिद्ध होता है। 'नुम्' के अभाव-पक्ष में उपधावृद्धि होकर 'अलाभि' रूप बनता है। इसी प्रकार 'णमुल्' में भी दो रूप बनते हैं—'लम्भम्' और 'लाभम्'।

भावकर्मप्रक्रिया समाप्त।

कर्मकर्तृप्रक्रिया

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्तरि भावे च लकारः।

७६०. कर्मवत्[2] कर्मणा[3] तुल्यक्रियः[1] । ३ । १ । ८७

कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत् स्यात्। कार्यातिदेशोऽयम्। तेन यगात्मनेपदचिण्वदिटः स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन।

इति कर्मकर्तृप्रक्रिया।

७६०. कर्मवदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्मणा) कर्म से (तुल्यक्रियः) तुल्य क्रियावाला (कर्मवत्) कर्म के समान होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'कर्त्तरि शप्' ३.१.६८ से 'कर्त्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह प्रथमा विभक्ति में विपरिणत हो जाता है।* क्रिया से तुलना होने के कारण 'कर्मणा' का अभिप्राय कर्मस्थ क्रिया से ही है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्मस्थ (कर्मकारक में स्थित) क्रिया के तुल्य क्रिया वाला कर्ता कर्मवत् होता है। तात्पर्य यह कि जिस कर्म के कर्ता हो जाने पर भी कर्म के समान ही क्रिया लक्षित होती है, वह कर्ता कर्मवत् होता है। इसी को 'कर्म-कर्ता' भी कहते हैं। कर्मवत् होने पर कर्मवाच्य के समान ही यहां भी यक्, आत्मनेपद और चिण्वद् आदि कार्य होते हैं। उदाहरण के लिए 'कालः फलं पचति' (समय फल पकाता है) में पाचन क्रिया का विशेष कार्य 'गल जाना' कर्म 'फलम्' में होता है। यही कर्म 'फलम्' जब कर्ता बनता है तो उसका रूप बनता है—'पच्यते फलम्' (फल स्वयं पक रहा है)। यहां भी कर्ता 'फलम्' में पूर्ववत् क्रिया का 'गल जाना' कार्य प्राप्त है। अतः उसके 'कर्म-कर्ता' हो जाने पर कर्मवद्भाव होता है। तब लट् लकार के प्रथमपुरुष-एकवचन में 'पच्' धातु से आत्मनेपद 'त' और यक् होकर 'पच् य त' रूप बनता है। यहां एत्व होकर 'पच्यते' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भिद्यते काष्ठम्' (लकड़ी स्वयं फटती है) में 'काष्ठम्' के कर्म-कर्ता होने के कारण पूर्ववत् 'भिद्' (फाड़ना) धातु का 'भिद्यते' रूप बनता है।

कर्मकर्तृप्रक्रिया समाप्त।

---

* 'कर्तरि शप्' इति कर्तृग्रहणमिहानुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते'—काशिका।
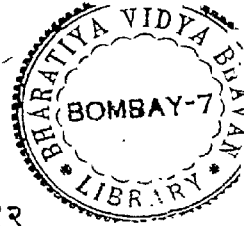
लकारार्थप्रक्रिया

७६१. अभिज्ञावचने° लृट्[1] । ३ । २ । ११२

स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट् । लङोपवादः । वस निवासे । स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः । एवं बुध्यसे चेतयसे इत्यादिप्रयोगेऽपि ।

७६१. अभिज्ञेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अभिज्ञावचने) स्मृतिबोधक उपपद रहने पर (लृट्) लृट् होता है। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकारसूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भूते' ३.२.८४ तथा 'अनद्यतने लङ्' ३.२.१११ से 'अनद्यतने' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अनद्यतने' का अन्वय 'भूते' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्मृतिबोधक ('अभिजानासि', 'स्मरसि', 'बुध्यसे' और 'चेतयसे') उपपद रहने पर अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से लृट् होता है।* यह '४२२–अनद्यतने लङ्' का अपवाद है।

सामान्य रूप से लृट् सामान्य भविष्यत् काल के अर्थ में आता है, किन्तु इस सूत्र से स्मृतिबोधक उपपद रहने पर अनद्यतन भूत में भी उसका विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'स्मरसि कृष्ण ! गोकुले वत्स्यामः' (कृष्ण, तुम्हें याद है हम लोग गोकुल में रहते थे) में स्मृतिबोधक 'स्मरसि' उपपद होने के कारण अनद्यतन भूत अर्थ में भी 'वस्' (रहना) धातु से लृट् लकार हुआ है। यहां 'वत्स्यामः' लृट् लकार में उत्तमपुरुष-बहुवचन का रूप है।

७६२. न यदि° । ३ । २ । ११३

यद्योगे उक्तं न । अभिजानासि कृष्ण ! यद्वने अभुञ्ज्महि ।

७६२. न यदीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यदि) 'यत्' में (न) नहीं···। किन्तु क्या नहीं होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भूते' ३.२.८४, 'अनद्यतने लङ्' ३.२.१११ से 'अनद्यतने' और 'अभिज्ञानवचने लृट्' ३.२.११२ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'यत्' (कि) के योग में स्मृतिबोधक उपपद रहने पर अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से लृट् नहीं होता है। यह पूर्वसूत्र (७६१) का अपवाद है। लृट् का निषेध होने से '४२२–अनद्यतने–०' से यथाप्राप्त लङ् लकार हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अभिजानासि कृष्ण, यद्वने अभुञ्ज्महि'

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ४२२ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

(कृष्ण, तुम्हें याद है कि हमने वन में खाया था) में 'यत्' का प्रयोग होने से लट् नहीं हुआ है। यहां 'भुज्' (खाना) धातु से यथाप्राप्त लङ् होकर उत्तमपुरुष बहुवचन में 'अभुञ्ज्महि' रूप बना है।

७६३. लट् स्मे । ३ । २ । ११८

लिटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः।

७६३. लट् स्मे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्मे*) 'स्म' उपपद रहने पर (लट्) 'लट्' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भूते' ३.२.८४, 'अनद्यतने लङ्' ३.२.१११ से 'अनद्यतने' तथा 'परोक्षे लिट्' ३.२.११५ से 'परोक्षे' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'परोक्षे' 'अनद्यतने भूते' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'स्म' उपपद रहने पर परोक्ष अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से लट् लकार होता है। यह '३९१-परोक्षे लिट्' का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'यजति स्म युधिष्ठिरः' (युधिष्ठिर ने यज्ञ किया था) में 'स्म' का योग होने से 'यज्' धातु से लट् का प्रयोग हुआ है। 'यजति' 'यज्' धातु के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है।

७६४. वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा । ३ । ३ । १३१

वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः। कदाऽऽगतोऽसि ? अयमागच्छामि, अयमागमं वा। कदा गमिष्यसि ? एष गच्छामि गमिष्यामि वा।

७६४. वर्तमानेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वर्तमानसामीप्ये) वर्तमान के समीप में (वा) विकल्प से (वर्तमानवत्) वर्तमान के समान कार्य होते हैं। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। वर्तमान के समीप में दो काल हैं—भूत और भविष्यत्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वर्तमान के निकटस्थ भूत और भविष्यत् में धातु के बाद विकल्प से वर्तमान के समान प्रत्यय होते हैं। 'वर्तमाने लट्' ३.२.१२३ से लेकर 'उणादयो बहुलम्' ३.३.१ तक वर्तमानकालिक प्रत्ययों का विधान किया गया है, अतः वर्तमान के समीपवर्ती भूत और भविष्यत् में भी धातु से विकल्पतः यही प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'कदाऽऽगतोऽसि ?' (कब आये हो ?)—यह प्रश्न भूतकाल के विषय में है। इसके उत्तर में वर्तमान की समीपता दिखाने के लिए लट् का प्रयोग किया जाता है—'अयमागच्छामि' (यह आ ही रहा हूँ)। यद्यपि यहां उत्तर में भी भूतकाल अपेक्षित था, किन्तु वर्तमान काल से

---

* 'स्मशब्द उपपदे'—काशिका।

सामीप्य दिखाने के लिए लट् लकार के उत्तमपुरुष-एकवचन 'गच्छामि' का प्रयोग हुआ है। अभाव-पक्ष में लङ् होकर 'अयमागमम्' (यह आया हूँ) रूप बनता है। इसी प्रकार 'कदा गमिष्यसि ?' (कब जाओगे ?)—यह प्रश्न भविष्यकाल के विषय में है, अतः इसके उत्तर में भी भविष्यकाल होना चाहिये। किन्तु उत्तर में वर्तमान से सामीप्य दिखाने के लिए लट् लकार का प्रयोग होता है—'एष गच्छामि' (यह जाता हूँ)। अभाव-पक्ष में यथाप्राप्त लट् होकर 'एष गमिष्यामि' रूप बनता है।

७६५. हेतुहेतुमतोर्लिङ् । ३ । ३ । १५६

वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते। नेह—हन्तीति पलायते। '४२५—विधिनिमन्त्रण—०' इति लिङ्। विधिः = प्रेरणं = भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्, यजेत। निमन्त्रणं=नियोगकरणमावश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्, इह भुञ्जीत। आमन्त्रणं= कामचाराऽनुज्ञा, इहासीत। अधीष्टः = सत्कारपूर्वको व्यापारः, पुत्रमध्यापयेद्भवान्। सम्प्रश्नः = सम्प्रसारणं, किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनं = याच्ञा, भो भोजनं लभेय। एवं लोट्।

इति लकारार्थप्रक्रिया।

७६५. **हेतुहेतुमतोरिति**—सूत्र का शब्दार्थ है—(हेतुहेतुमतोः) हेतु और हेतुमान् अर्थ में (लिङ्) लिङ् होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भविष्यति मर्यादावचने–०' ३.३.१३६ से 'भविष्यति' तथा 'विभाषा धातौ–०' ३.३.१५५ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हेतु' का अर्थ है—कारण, और 'हेतुमान्' का अर्थ है—फल। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हेतु (कारण) और हेतुमान् (फल) अर्थ में भविष्यत् काल में धातु से विकल्प से लिङ् होता है। लिङ् के अभाव में यथाप्राप्त लट् होता है। उदाहरण के लिए 'कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्' (कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख पावेगा) में 'नमन' क्रिया 'सुख पाना' क्रिया का हेतु है, और 'सुख पाना' नमन का फल। अतः प्रकृत सूत्र से दोनों हेतु (नमेत्) और हेतुमान् (यायात्) क्रियाओं से लिङ् लकार हुआ है। यह सूत्र भविष्य काल में हीलिङ् का विधान करता है, इसलिए अन्य किसी काल में हेतु-हेतुमान् अर्थ होने पर भी लिङ् नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'हन्तीति पलायते' (वह मारता है इस कारण भागता है) में हेतुहेतुमद्भाव ('मारना' और 'भागना') होने पर भी भविष्यत्काल न होने से यहां लिङ् नहीं हुआ।

लकारार्थप्रक्रिया समाप्त।

[तिङन्त समाप्त।]

(कृष्ण, तुम्हें याद है कि हमने वन में खाया था) में 'यत्' का प्रयोग होने से लट् नहीं हुआ है। यहां 'भुज्' (खाना) धातु से यथाप्राप्त लङ् होकर उत्तमपुरुष बहुवचन में 'अभुञ्ज्महि' रूप बना है।

७६३. लट्[1] स्मे[7] । ३ । २ । ११८

लिटोऽपवादः । यजति स्म युधिष्ठिरः ।

७६३. लट् स्मे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्मे*) 'स्म' उपपद रहने पर (लट्) 'लट्' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भूते' ३.२.८४, 'अनद्यतने लङ्' ३.२.१११ से 'अनद्यतने' तथा 'परोक्षे लिट्' ३.२.११५ से 'परोक्षे' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'परोक्षे' 'अनद्यतने भूते' का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'स्म' उपपद रहने पर परोक्ष अनद्यतन भूत अर्थ में धातु से लट् लकार होता है। यह '३९१–परोक्षे लिट्' का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'यजति स्म युधिष्ठिरः' (युधिष्ठिर ने यज्ञ किया था) में 'स्म' का योग होने से 'यज्' धातु से लट् का प्रयोग हुआ है। 'यजति' 'यज्' धातु के प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है।

७६४. वर्तमानसामीप्ये[7] वर्तमानवद्वा । ३ । ३ । १३१

वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च वा स्युः। कदागतोऽसि ? अयमागच्छामि, अयमागमं वा। कदा गमिष्यसि ? एष गच्छामि गमिष्यामि वा।

७६४. वर्तमानेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वर्तमानसामीप्ये) वर्तमान के समीप में (वा) विकल्प से (वर्तमानवत्) वर्तमान के समान कार्य होते हैं। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। वर्तमान के समीप में दो काल हैं—भूत और भविष्यत्। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वर्तमान के निकटस्थ भूत और भविष्यत् में धातु के बाद विकल्प से वर्तमान के समान प्रत्यय होते हैं। 'वर्तमाने लट्' ३.२.१२३ से लेकर 'उणादयो बहुलम्' ३.३.१ तक वर्तमानकालिक प्रत्ययों का विधान किया गया है, अतः वर्तमान के समीपवर्ती भूत और भविष्यत् में भी धातु से विकल्पतः यही प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'कदाऽऽगतोऽसि ?' (कब आये हो ?)—यह प्रश्न भूतकाल के विषय में है। इसके उत्तर में वर्तमान की समीपता दिखाने के लिए लट् का प्रयोग किया जाता है—'अयमागच्छामि' (यह आ ही रहा हूँ)। यद्यपि यहां उत्तर में भी भूतकाल अपेक्षित था, किन्तु वर्तमान काल से

---

* 'स्मशब्द उपपदे'—काशिका।

सामीप्य दिखाने के लिए लट् लकार के उत्तमपुरुष-एकवचन 'गच्छामि' का प्रयोग हुआ है। अभाव-पक्ष में लङ् होकर 'अयमागमम्' (यह आया हूँ) रूप बनता है। इसी प्रकार 'कदा गमिष्यसि ?' (कब जाओगे ?)—यह प्रश्न भविष्यकाल के विषय में है, अतः इसके उत्तर में भी भविष्यकाल होना चाहिये। किन्तु उत्तर में वर्तमान से सामीप्य दिखाने के लिए लट् लकार का प्रयोग होता है—'एष गच्छामि' (यह जाता हूँ)। अभाव-पक्ष में यथाप्राप्त लृट् होकर 'एष गमिष्यामि' रूप बनता है।

७६५. हेतुहेतुमतोर्लिङ् । ३ । ३ । १५६

वा स्यात्। कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्। कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते। नेह—हन्तीति पलायते। '४२५–विधिनिमन्त्रण–०' इति लिङ्। विधिः = प्रेरणं = भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्, यजेत। निमन्त्रणं=नियोग-करणमावश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्, इह भुञ्जीत। आमन्त्रणं= कामचाराऽनुज्ञा, इहासीत। अधीष्टः = सत्कारपूर्वको व्यापारः, पुत्रमध्यापयेद्भवान्। सम्प्रश्नः = सम्प्रसारणं, किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनं = याच्ञा, भो भोजनं लभेय। एवं लोट्।

इति लकारार्थप्रक्रिया।

७६५. हेतुहेतुमतोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हेतुहेतुमतोः) हेतु और हेतुमान् अर्थ में (लिङ्) लिङ् होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भविष्यति मर्यादावचने-०' ३.३.१३६ से 'भविष्यति' तथा 'विभाषा धातौ–०' ३.३.१५५ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'हेतु' का अर्थ है—कारण, और 'हेतुमान्' का अर्थ है—फल। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हेतु (कारण) और हेतुमान् (फल) अर्थ में भविष्यत् काल में धातु से विकल्प से लिङ् होता है। लिङ् के अभाव में यथाप्राप्त लृट् होता है। उदाहरण के लिए 'कृष्णं नमेच्चेत्सुखं यायात्' (कृष्ण को नमस्कार करेगा तो सुख पावेगा) में 'नमन' क्रिया 'सुख पाना' क्रिया का हेतु है, और 'सुख पाना' नमन का फल। अतः प्रकृत सूत्र से दोनों हेतु (नमेत्) और हेतुमान् (यायात्) क्रियाओं से लिङ् लकार हुआ है। यह सूत्र भविष्य काल में हीलिङ् का विधान करता है, इसलिए अन्य किसी काल में हेतु-हेतुमान् अर्थ होने पर भी लिङ् नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'हन्तीति पलायते' (वह मारता है इस कारण भागता है) में हेतुहेतुमद्भाव ('मारना' और 'भागना') होने पर भी भविष्यत्काल न होने से यहां लिङ् नहीं हुआ।

लकारार्थप्रक्रिया समाप्त।

[तिङन्त समाप्त।]

कृदन्तप्रकरणम्

कृत्यप्रक्रिया

७६६. धातोः[5] । ३ । १ । ९१

आतृतीयाध्यायसमाप्त्यन्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः । 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञा ।

७६६. धातोरिति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(धातोः) धातु के बाद । तात्पर्य यह कि इस सूत्र के आगे जो कार्य कहे गये हैं, वे धातु के बाद होते हैं । इस सूत्र का अधिकार-क्षेत्र इस 'धातोः' ३.१.९१ सूत्र से लेकर तृतीय अध्याय के अन्तिम सूत्र 'छन्दस्युभयथा' ३.४.११७ तक है । इस सूत्रों में जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे सभी धातु के बाद आते हैं ।

७६७. वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्[7] । ३ । १ । ९४

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना ।

७६७. वाऽसरूप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अस्त्रियाम्) 'स्त्रियाम्' ४.१.३ अधिकार को छोड़कर (असरूपो) असरूप प्रत्यय (वा) विकल्प से होते हैं । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः' ३.१.९१ अधिकार-सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'स्त्रियाम्' ४.१.३ अधिकार में विधान किए गये प्रत्ययों को छोड़कर 'धातोः' ३.१.९१ अधिकार में कहे गये असरूप (भिन्न रूप वाले) प्रत्यय विकल्प से होते हैं । तात्पर्य यह कि सभी जगह अपवाद-सूत्र द्वारा सामान्य या उत्सर्ग सूत्र का बाध होता है, किन्तु इस सूत्र से धात्वधिकार में असमान प्रत्ययों के विषय में यह बाध विकल्प से होता है । पक्ष में सामान्य सूत्र भी प्रवृत्त होता है । यही इस सूत्र का प्रयोजन है । उदाहरण के लिए 'ण्वुल्तृचौ' ३.१.१३३ से सभी धातुओं के बाद 'ण्वुल्' और 'तृच्' प्रत्ययों का विधान किया गया है । यह सामान्य सूत्र है । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' ३.१.१३५ से इसका बाध हो 'क' प्रत्यय प्राप्त होता है । यह अपवाद सूत्र है । सामान्य रूप से केवल अपवाद सूत्र ही प्रवृत्त होना चाहिये, किन्तु यहां पर दोनों ही सूत्र धात्वधिकार में हैं और दोनों ही स्थलों में असमान प्रत्ययों का विधान किया गया है । अतः प्रकृतः सूत्र से विकल्प से सामान्य-सूत्र भी प्रवृत्त होता है ।

'वि' उपसर्गपूर्वक 'क्षिप्' धातु का 'क' प्रत्यय होकर 'विक्षितः' रूप बनता है, और सामान्य-सूत्र 'ण्वुल्तृचौ'-पक्ष में 'विक्षेपकः' और 'विक्षेता' रूप। किन्तु यदि सामान्य-सूत्र और अपवाद-सूत्र से विहित प्रत्यय समान रूप वाले होते हैं तो यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है। तब अपवाद-सूत्र से सामान्य-सूत्र का बाध हो जाता है। उदाहरण के लिये 'कर्मण्यण्' ३.२.१ सामान्य-सूत्र है और उससे 'अण्' (अ) प्रत्यय का विधान किया गया है। इसका अपवाद 'आतोऽनुपसर्गे कः' ३.२.३ सूत्र है जिससे 'क' (अ) प्रत्यय का विधान किया गया है। दोनों ही सूत्र धात्वधिकार में हैं, किन्तु दोनों ही स्थलों पर समानरूप प्रत्यय (अ) का आदेश होने के कारण प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। तब सामान्य-सूत्र से विकल्प से 'अण्' न होकर अपवाद-सूत्र से 'क' होकर 'गोदः', 'कम्बलदः' आदि रूप बनते हैं। इसी प्रकार 'स्त्रियाम्' ४.१.३ सूत्र के अधिकार में भी प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है, और वहां भी सामान्य-सूत्र का अपवाद-सूत्र से बाध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'स्त्रियां क्तिन्' ३.३.९४ सामान्य-सूत्र है, और उसका अपवाद है—'अ प्रत्ययात्' ३.३.१०२। यहां दोनों ही सूत्र धात्वधिकार में हैं और दोनों स्थलों पर विहित प्रत्यय भी असमान रूप वाले हैं। फिर भी 'क्तिन्' आदि प्रत्यय स्त्री-अधिकार में कथित होने के कारण प्रकृत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। इस अवस्था में अपवाद सूत्र 'अ प्रत्ययात्' से 'क्तिन्' का बाध हो 'अ' आदेश होकर 'चिकीर्षा' 'जिहीर्षा' आदि रूप बनते हैं। इस प्रकार इस सूत्र के प्रवृत्त होने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. धात्वधिकार होना चाहिये।

२. सामान्य और अपवाद-सूत्रों में विहित प्रत्यय भिन्न-रूपवाले होने चाहिये।

३. ये प्रत्यय स्त्री-अधिकार में कहे गये प्रत्ययों से भिन्न होने चाहिये।

७६८. कृत्याः । ३ । १ । ९५

'ण्वुल्तृचौ' इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः।

७६८. कृत्य इति—यह भी अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(कृत्याः) 'कृत्य'। तात्पर्य यह कि इस सूत्र के आगे जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उनको 'कृत्य' कहा जावेगा। इसका अधिकार 'चित्याऽग्निचित्ये च' ३.१.१३२ सूत्र तक जाता है। इस अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले सूत्रों से विहित प्रत्यय 'कृत्य' संज्ञक होते हैं।

७६९. कर्तरि कृत् । ३ । ४ । ६७

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते—

७६९. कर्तरीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्तरि) कर्ता अर्थ में (कृत्) 'कृत्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति

करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्ता अर्थ में धातु से 'कृत्' प्रत्यय होता है। '३०२–कृदतिङ्' से 'तिङ्'-भिन्न सभी प्रत्यय 'कृत्' संज्ञक होते हैं, अतः प्रकृत सूत्र द्वारा ये सभी तिङ्-भिन्न प्रत्यय धातु से कर्ता अर्थ में ही प्राप्त होते हैं।

विशेष—यह सामान्य-सूत्र है। इसका एक अपवाद आगे (सूत्रांक, ७७०) दिया हुआ है।

७७०. तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः । ३ । ४ । ७०

एते भावकर्मणोरेव स्युः ।

७७०. तयोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तयोरेव) उनमें ही (कृत्य-क्त-खलर्थाः) कृत्य, क्त और खल् अर्थवाले प्रत्यय होते हैं। यहां 'उनमें' (तयोः) का अभिप्राय पूर्ववर्ती सूत्र 'लः कर्मणि-०' ३.४.६९ में स्थित 'कर्मणि' तथा 'भावे चाकर्मकेभ्यः' से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सकर्मक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव में ही कृत्य, क्त और खल् अर्थवाले प्रत्यय होते हैं, कर्ता अर्थ में नहीं। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं—

(क) कृत्य—(कर्म में) 'कर्त्तव्यः कटो भवता' और (भाव में) 'शयितव्यं भवता'।

(ख) क्त—(कर्म में) 'कृतः कटो भवता' और (भाव में) 'शयितं भवता'।

(ग) खलर्थक प्रत्यय—(कर्म में) 'ईषत्करः कटो भवता' और (भाव में) 'ईषदाढ्यंभवं भवता'।

७७१. तव्यत्तव्यानीयरः । ३ । १ । ९६

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यं एधनीयं त्वया । भावे–औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीवत्वञ्च । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।

(वा०) केलिमर उपसंख्यानम् । पचेलिमा माषाः पक्तव्या इत्यर्थः । भिदेलिमाः सरला भेत्तव्या इत्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययः ।

७७१. तव्यदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तव्यत्तव्यानीयरः = तव्यत् + तव्य + अनीयरः) तव्यत्, तव्य और अनीयर्। किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धातु से तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। 'तव्यत्' में '१–हलन्त्यम्' से अन्त्य तकार इत्संज्ञक है, अतः तित् होने से यह 'तित्स्वरितम्' ६.१.१८५ सूत्र से स्वरित हो जाता है। 'तव्य' और 'तव्यत्' में यही अन्तर है। वैसे रूप दोनों में समान ही बनते हैं। 'अनीयर्' में भी रकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'अनीय' ही शेष रह जाता है। '७६८–कृत्याः' से ये सभी

प्रत्यय कृत्यसंज्ञक हैं, अतः '७७०–तयोरेव–०' परिभाषा से ये प्रत्यय सकर्मक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव में होते हैं। उदाहरण के लिए 'एध्' धातु अकर्मक है, अतः इससे भाव में 'तव्य' (तव्यत्, तव्य) और 'अनीय' होकर 'एध् तव्य' और 'एध् अनीय' रूप बनते हैं। 'एध् तव्य' में आर्धधातुक तकार परे होने के कारण '४०१–आर्धधातुकस्य' से 'इट्' होकर 'एध् इ तव्य'='एधितव्य' रूप बनता है। इस स्थिति में 'एधितव्य' और 'एध अनीय' = 'एधनीय' की '११७–कृत्तद्धित-समासाश्च' से इनकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है तब भाव में सामान्य नपुंसकलिङ्ग-एकवचन होने के कारण 'एधितव्यम्' और 'एधनीयम्' रूप बनते हैं।* इसी प्रकार 'चेतव्यः चयनीयो वा धर्मस्त्वया' में भी सकर्मक 'चि' धातु से 'तव्य' और 'अनीय' प्रत्यय होकर 'चि तव्य' और 'चि अनीय' रूप बनते हैं। तब '३८८–सार्वधातुक–०' से गुण आदेश होकर 'च् ए तव्य' = 'चेतव्य' और 'च् ए अनीय' = 'चे अनीय' रूप बनेंगे। यहां 'चे अनीय' में पुनः '२२–एचो–०' से 'अय्' आदेश होकर 'च् अय् अनीय' = 'चयनीय' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञा होने पर पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'चेतव्यः' और 'चयनीयः' रूप बनते हैं।†

(वा०) केलिमर इति—शब्दार्थ है—'केलिमर्' प्रत्यय का भी उपसंख्यान करना चाहिये। तात्पर्य यह कि 'तव्यत्' आदि की भांति 'केलिमर्' प्रत्यय भी सकर्मक धातुओं से कर्म में और अकर्मक धातुओं से भाव में होता है। 'केलिमर्' में रकार '१–हलन्त्यम्' से और ककार '१३६–लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञक है, अतः केवल 'एलिम' ही शेष रह जाता है। यह भी 'तव्यत्' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए 'पचेलिमा माषाः' में सकर्मक धातु 'पच्' से 'एलिम' प्रत्यय हुआ है। कर्म 'माषाः' के अनुसार ही पुँल्लिङ्ग-बहुवचन में 'पच् एलिम' = 'पचेलिम' का 'रामाः' की भांति 'पचेलिमाः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'भिदेलिमाः सरलाः' में भी 'भिद्' धातु से 'एलिम' होकर पुँल्लिङ्ग-बहुवचन में 'भिदेलिमाः' रूप बना है।

७७२. कृत्यल्युटो[1] बहुलम्[1] । ३ । ३ । ११३

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥
स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

७७२. कृत्य इति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(कृत्यल्युटो) कृत्य और ल्युट् (बहुलम्) बहुल होते हैं। 'बहुल' का अर्थ है—जहां विधान न हो वहाँ

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्वार्ध में 'ज्ञानम्' की रूप-सिद्धि देखिये।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए पूर्वार्ध में 'रामः' की रूप-सिद्धि देखनी चाहिये।

भी प्रवृत्त होना। '७७०-तयोरेव-०' से कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में ही प्राप्त होते हैं, किन्तु प्रस्तुत सूत्र से कृत्य और ल्युट् के बहुल होने से वे अन्य कारकों में भी हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि कृत्य और ल्युट् प्रत्यय भाव और कर्म में तो होते ही हैं, इसके साथ ही साथ अन्य कारकों में भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए 'स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्' (जिससे स्नान किया जावे उसे 'स्नानीय' कहते हैं, वह चूर्ण होता है) अर्थ में 'स्ना' धातु से करण में प्रस्तुत सूत्र से कृत्य प्रत्यय 'अनीयर्' (अनीय) होकर 'स्ना अनीय' रूप बनता है। तब '४२-अकः सवर्णे-०' से दीर्घादेश होकर 'स्न् आ नीय' = 'स्नानीय' रूप बनने पर प्रातिपदिकसंज्ञक होकर नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'स्नानीयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः' (जिसे दान दिया जाता है उसे 'दानीय' कहते हैं, वह विप्र होता है) अर्थ में 'दा' धातु से सम्प्रदान में पूर्ववत् कृत्य प्रत्यय 'अनीयर्' होकर पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'दानीयः' रूप बनता है।

७७३. अचो यत्। ३। १। ९७

अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात्। चेयम्।

७७३. अच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अचः) अच् के बाद (यत्) यत् होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अचः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजन्त धातु (जिसके अन्त में कोई स्वर-वर्ण हो) से 'यत्' प्रत्यय होता है। 'यत्' में '१-हलन्त्यम्' से अन्त्य तकार की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हो जाने के कारण केवल 'य' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'चि' (चिञ्-चुनना) धातु इकारान्त होने से अजन्त है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके बाद 'यत्' (य) होकर 'चि य' रूप बनता है। तब आर्धधातुक 'यत्' (य) परे होने के कारण '३८८-सार्वधातुक-०' से गुण-एकार होकर 'च् ए य' = 'चेय' रूप बनेगा। इस स्थिति में '११७-कृत्तद्धितसमासाश्च' से 'चेय' की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'ज्ञानम्' (पूर्वार्ध) की भांति 'चेयम्' रूप सिद्ध होता है।

७७४. ईद्यति। ६। ४। ६५

यति परे आत ईत्स्यात्। देयम्। ग्लेयम्।

७७४. ईदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यति) 'यत्' परे होने पर (ईत्) दीर्घ ईकार होता है। किन्तु यह ईकार किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए 'आतो लोप इटि च' ६.४.६४ से 'आतः' तथा अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१

की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आतः' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'यत्' परे होने पर आकारान्त अङ्ग के स्थान पर ईकार हो जाता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अन्त्य आकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'दान करने योग्य' या 'दान करना चाहिये' अर्थ में 'दा' धातु से 'यत्' (य) प्रत्यय होकर 'दा य' रूप बनने पर 'यत्' (य) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'दा' के आकार के स्थान पर ईकार होकर 'द् ई य' = 'दी य' रूप बनता है। तब 'चेयम्' (सूत्रांक ७७३) की भांति गुण आदि होकर 'देयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ग्लै' (ग्लानि करना) धातु से 'यत्' होकर 'ग्लै य' रूप बनने पर '४९३—आदेच—०' से 'ग्लै' के ऐकार के स्थान पर आकार होकर 'ग्ल् आ य'='ग्ला य' रूप बनता है। तब पूर्ववत् आकार को ईकार आदि होकर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'ग्लेयम्' रूप सिद्ध होता है।

७७५. पोरदुपधात् । ३ । १ । ९८

पवर्गान्तादद्‌पधाद्यत् स्यात् । ण्यतोऽपवादः । शप्यम् , लभ्यम् ।

७७५. पोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अदुपधात्=अत् + उपधात्) अत् उपधावाले (पोः) पवर्ग के बाद··· । किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए 'अचो यत्' ३.१.९७ से 'यत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'धातोः' ३.१.९१ का यहां अधिकार प्राप्त है, और वह सूत्रस्थ 'पोः' का विशेष्य बनता है। 'पोः' में विशेषण होने के कारण तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा— यदि उपधा* में ह्रस्व अकार हो तो पवर्गान्त धातु (जिसके अन्त में प्, फ्, ब्, भ् या म् हो) से 'यत्' प्रत्यय होता है। यह 'यत्' प्रत्यय 'ऋहलोर्ण्यत्' ३.१.१२४ से प्राप्त 'ण्यत्' का बाधक है। उदाहरण के लिए 'शप्' (शाप देना) पकारान्त होने से पवर्गान्त है, और उसकी उपधा में ह्रस्व अकार भी है। अतः प्रकृत सूत्र से 'यत्' (य) होकर 'शप् य' = 'शप्य' रूप होने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'ज्ञानम्' (पूर्वार्ध) की भांति प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'शप्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'लभ्' (पाना) धातु से 'यत्' आदि होकर 'लभ्यम्' रूप सिद्ध होता है।

७७६. एति-स्तु-शास्वृ-दृ-जुषः क्यप् । ३ । १ । १०९

एभ्यः क्यप् स्यात् ।

७७६. एतीति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(एति—जुषः†) इण्,

* इसके स्पष्टीकरण के लिए १७६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† 'एति' 'इण्' (जाना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः इससे मूलधातु का ही ग्रहण होता है।

स्तु, शास्, वृ, दृ और जुष् से (क्यप्) 'क्यप्' प्रत्यय होता है। यहां इण् (जाना), स्तु (स्तुति करना), वृ (वरण करना) और दृ (आदर करना)—इन चार धातुओं से '७७३–अचो यत्' से 'यत्' प्राप्त होता था और 'शास्' (शासन करना) तथा 'जुष्' (प्रसन्न होना)—इन दो धातुओं से 'ऋहलोर्ण्यत्' ३.१.१२४ से 'ण्यत्'। किन्तु प्रकृत सूत्र से इन दोनों का बाध होकर उपर्युक्त छः धातुओं से 'क्यप्' प्रत्यय होता है। 'क्यप्' में पकार की '१–हलन्त्यम्' से और ककार की '१३६–लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, अतः केवल 'य' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'इण्' (इ) धातु से प्रकृत सूत्र से 'क्यप्' (य) होकर 'इ य' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७७७. ह्रस्वस्य[6] पिति[7] कृति[7] तुक्[1] । ६ । १ । ७१

इत्यः । स्तुत्यः । शासु अनुशिष्टौ ।

७७७. ह्रस्वस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पिति) पित् (कृति) कृत्संज्ञक प्रत्यय परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुक्) 'तुक्' होता है। पित् उसे कहते हैं जिसका पकार इत्संज्ञक हो। 'कृत्' प्रत्ययों का उल्लेख '३०२–कृदतिङ्' सूत्र में हुआ है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—यदि कृत् प्रत्यय का पकार इत्संज्ञक हो तो उसके परे होने पर ह्रस्व का अवयव 'तुक्' होता है। 'तुक्' में 'उक्' इत्संज्ञक है, अतः केवल तकार ही शेष रह जाता है। कित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह ह्रस्व का अन्तावयव बनता है। उदाहरण के लिए 'इ य' में 'क्यप्' प्रत्यय कृत् है और पित् भी है क्योंकि उसके पकार की इत्संज्ञा होकर उसका लोप हुआ है। अतः उसके परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से ह्रस्व 'इ' को 'तुक्' (त्) होकर 'इ त् य'='इत्य' रूप बनता है। तब 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'इत्यः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'वृ' से 'वृत्यः' और 'स्तु' से 'स्तुत्यः' रूप बनते हैं। 'आ' पूर्वक 'दृ' धातु से भी इसी भांति क्यप् और तुक् होकर 'आदृत्यः' रूप सिद्ध होता है।

७७८. शास[6] इदङ्-हलोः[7] । ६ । ४ । ३४

शास उपधाया इत्स्यादङि हलादौ क्ङिति। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः।

७७८. शास इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अङ्-हलोः) अङ् और हल् परे होने पर (शास) शास् धातु के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' ६.४.२४ से 'उपधायाः' और 'क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी।

'उपधायाः' का अन्वय सूत्रस्थ 'शास' से होता है। सूत्रस्थ 'हलि' 'क्ङिति' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अङ् और हलादि कित्-ङित् (जिसके आदि में कोई व्यंजन-वर्ण हो) परे होने पर 'शास्' धातु की उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश होता है। 'शास्' धातु की उपधा शकारोत्तरवर्ती आकार है, अतः उसी के स्थान पर इकारादेश होता है। उदाहरण के लिए '७७६–एतिस्तु–०' से 'शास्' धातु से 'क्यप्' (य) प्रत्यय होकर 'शास य' रूप बनता है। यहां 'य' (क्यप्) में ककार की इत्संज्ञा होकर लोप हुआ है, अतः वह कित् है और साथ ही आदि में यकार होने से वह हलादि भी है। अतः उसके परे रहने पर प्रकृत सूत्र से 'शास्' की उपधा–आकार को इकार होकर 'श् इ स् य' रूप बनने पर '५५४–शासिवसि–०' से सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'श् इ ष् य'='शिष्य' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'शिष्यः' रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'जुष् य' में भी कित् 'य' (क्यप्) परे होने पर '४५१–पुगन्तलघूपधस्य च' से प्राप्त गुण का '४३३–क्ङिति च' से निषेध हो जाता है, और इस प्रकार 'जुष्य' रूप बनने पर पूर्ववत् 'जुष्यः' रूप सिद्ध होगा।

७७९. मृजेर्विभाषा। ३। १। ११३

मृजेः क्यब्वा। मृज्यः।

७७९. मृजेरिति—शब्दार्थ है—(मृजेः) 'मृज्' धातु से (विभाषा) विकल्प से होता है। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'एतिस्तु–०' ३.१.१०९ से 'क्यप्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'मृज्' (साफ करना) धातु से विकल्प से 'क्यप्' (य) प्रत्यय होता है। 'क्यप्' होने पर पूर्वसूत्रवर्ती 'जुष्यः' के समान 'मृज्यः' रूप सिद्ध होता है। 'क्यप्' के अभाव-पक्ष में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७८०. *ऋहलोर्ण्यत्। ३। १। १२४

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत्। कार्यम्। हार्यम्। धार्यम्।

७८०. ऋहलोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ऋहलोः) ऋकार और हल् के बाद (ण्यत्) 'ण्यत्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ऋ' और 'हल्' 'धातोः' के विशेषण हैं, अतः उनमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ऋवर्णान्त और हलन्त धातु (जिसके अन्त में कोई व्यंजन-वर्ण हो) से 'ण्यत्' प्रत्यय होता है। 'ण्यत्' में

* यहां षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पञ्चम्यर्थ में हुआ है।

णकार की '१२९-चुटू' से और तकार की '१-हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होने पर उनका लोप हो जाता है, और इस प्रकार केवल 'य' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कृ' (करना) धातु ऋवर्णान्त है, अतः उससे 'ण्यत्' (य) होकर 'कृ य' रूप बनता है। इस स्थिति में णित् 'ण्यत्' (य) परे होने के कारण '१८२-अचो ञ्णिति' से ऋकार के स्थान पर वृद्धि-'आर्' होकर 'क् आर् य'='कार्य' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'ज्ञानम्' (पूर्वार्ध) की भांति 'कार्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'हृ' (हरना) से 'हार्यम्' और 'धृ' (धारण करना) से 'धार्यम्' रूप बनता है। 'क्यप्' के अभाव में हलन्त होने के कारण 'मृज्' से भी 'ण्यत्' होकर 'मृज् य' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७८१. [6]चजोः कु[1] घिण्ण्यतोः[7] । ७ । ३ । ५२

चजोः कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे।

७८१. चजोरिति—यह सूत्र स्वतः पूर्ण है। शब्दार्थ है—(घिण्ण्यतोः) 'घित्' या 'ण्यत्' परे होने पर (चजोः) चकार और जकार के स्थान में (कु) कवर्ग आदेश होता है। '१७-स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से चकार के स्थान में कवर्ग का ककार और जकार के स्थान पर कवर्ग का गकार ही आदेश होगा। उदाहरण के लिए 'मृज् य' में 'ण्यत्' (य) परे होने के कारण 'मृज्' के जकार के स्थान पर गकार होकर 'मृग् य' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

७८२. [6]मृजेर्वृद्धिः[1] । ७ । २ । ११४

मृजेरिको वृद्धिः सार्वधातुकार्धधातुकयोः। मार्ग्यः।

७८२. मृजेर्वृद्धिरिति—शब्दार्थ है—(मृजेः) 'मृज्' की (वृद्धिः) वृद्धि होती है। 'इको गुणवृद्धी' १.१.३ परिभाषा से 'मृज्' के ऋकार के ही स्थान पर वृद्धि-'आर्' होता है। उदाहरण के लिए 'मृग् य' में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' परिभाषा से 'मृग्' 'मृज्' का ही रूप है, अतः प्रकृत सूत्र से ऋकार के स्थान पर वृद्धि-'आर्' होकर 'म् आर् ग् य' = 'मार्ग्य' रूप बनता है। तब प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'मार्ग्यः' रूप सिद्ध होता है।

७८३. [1]भोज्यं भक्ष्ये[7] । ७ । ३ । ६९

भोग्यमन्यत्।

इति कृत्यप्रक्रिया।

७८३. भोज्यमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भक्ष्ये) भक्षण करने योग्य अर्थ में (भोज्यम्) 'भोज्य' होता है। तात्पर्य यह कि ण्यत् परे रहने पर '७८१-चजोः कु-०' से प्राप्त कुत्व नहीं होता है, लेकिन ध्यान रहे कि 'भक्षण करने योग्य' अर्थ

में ही ऐसा होता है, अन्य अर्थ में नहीं। उदाहरण के लिए 'भुज्' धातु से 'भक्षण करने योग्य' अर्थ में '७८०-ऋहलोर्ण्यत्' से 'ण्यत्' (य) होकर 'भुज् य' रूप बनने पर '४५१-पुगन्त-०' से उकार को गुण-ओकार होकर 'भ् ओ ज् य' = 'भोज् य' रूप बनेगा। इस स्थिति में '७८१-चजोः कु-०' से जकार के स्थान पर गकार प्राप्त होता है, किन्तु यहां 'भक्षण करने योग्य' अर्थ होने के कारण प्रकृत सूत्र से इसका निषेध हो जाता है। तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'ज्ञानम्' (पूर्वार्ध) की भाँति 'भोज्यम्' रूप सिद्ध होता है। किन्तु एतद्भिन्न 'उपभोग के योग्य' अर्थ में जकार को गकार होकर पूर्ववत् 'भोग्यम्' रूप बनता है।

कृत्यप्रक्रिया समाप्त।

पूर्वकृदन्तम्

७८४. ण्वुल्तृचौ । ३ । १ । १३३

धातोरेतौ स्तः । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।

७८४. ण्वुलतृचाविति—शब्दार्थ है—(ण्वुल्तृचौ) 'ण्वुल्' और 'तृच्' होते हैं । किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं । '७६९-कर्तरि कृत्' परिभाषा से ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । एक ही स्थिति में इन दोनों प्रत्ययों का प्रयोग होने से धातु के दो रूप बनते हैं । 'ण्वुल्' में णकार की '१२९-चुटू' से और लकार की '१-हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा होती है, अतः '३-तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाता है और केवल 'वु' ही शेष रह जाता है । 'तृच्' में भी '१-हलन्त्यम्' से चकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने पर 'तृ' ही शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए कर्ता अर्थ में 'कृ' (करना) धातु से 'तृच्' (तृ) होकर 'कृ तृ' रूप बनने पर '३८८-सार्वधातुक-०' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर गुण-'अर्' होकर 'क् अर् तृ' = 'कर्तृ' रूप बनता है । तब प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'धाता' (पूर्वार्ध) की भाँति 'कर्ता' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'कृ' धातु से 'ण्वुल्' (वु) होकर 'कृ वु' रूप बनेगा । इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है —

७८५. युवोरनाकौ । ७ । १ । १

यु वु एतयोरनाकौ स्तः । कारकः । कर्ता ।

७८५. युवोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(युवोः) 'यु' और 'वु' के स्थान पर (अनाकौ) 'अन' और 'अक' होते हैं । '२३-यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से 'यु' के स्थान पर 'अन' और 'वु' के स्थान पर 'अक' होता है । अनेकाल् होने से ये आदेश '४५-अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं । उदाहरण के लिए 'कृ वु' में प्रकृत सूत्र से 'वु' के स्थान पर 'अक' होकर 'कृ अक' रूप बनता है । यहां णित् 'ण्वुल्'-स्थानिक 'अक' परे होने से '१८२-अचो ञ्णिति' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर वृद्धि-'आर्' होकर 'क् आर् अक' = 'कारक' रूप बनेगा । तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'कारकः' रूप सिद्ध होता है ।

७८६. नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । ३ । १ । १३४

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात् । नन्दयतीति नन्दनः, जनमर्दयतीति जनार्दनः, लवणः । ग्राही । स्थायी । मन्त्री । पचादिराकृतिगणः ।

७८६. नन्दीति—शब्दार्थ है—(नन्दि—पचादिभ्यः) 'नन्द्' आदि, 'ग्रह्' आदि और 'पच्' आदि धातुओं से (ल्युणिन्यचः) ल्यु, णिनि और अच् होते हैं । यहां भी '२३—यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से 'नन्द्' आदि धातुओं* से 'ल्यु', 'ग्रह्' आदि धातुओं से 'णिनि' और 'पच्' आदि धातुओं से 'अच्' होता है । 'ल्यु' में '१३६—लशक्वतद्धिते' से लकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, अतः केवल 'यु' ही शेष रहता है । 'णिनि' में '१२९—चुटू' से णकार की इत्संज्ञा होती है और '२८—उपदेशे—०' से अन्त्य इकार की, अतः उनका लोप होकर 'इन्' ही शेष रह जाता है । 'अच्' में भी '१—हलन्त्यम्' से अन्त्य चकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने से 'अ' ही शेष रहता है । उदाहरण के लिए 'नन्द्'† धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'ल्यु' होकर 'नन्द् यु' रूप बनने पर '७८५—युवोः—०' से 'यु' के स्थान पर 'अन' होकर 'नन्द् अन' = 'नन्दन' रूप बनेगा । इस स्थिति में प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'नन्दनः' रूप बनता है । इसी प्रकार 'जन' उपपदपूर्वक 'अर्द्' और 'लू' (काटना) धातुओं से भी नन्द्यादिगण में होने के कारण 'ल्यु' आदि होकर 'जनार्दनः' और 'लवणः'‡ रूप बनते हैं । 'ग्रह्' धातु से प्रकृत सूत्र से 'णिनि' होकर 'ग्रह् इन्' रूप बनने पर णित् प्रत्यय 'णिनि' (इन्) परे होने के कारण '४५५—अत उपधायाः' से 'ग्रह्' की उपधा—अकार को वृद्धि—आकार होकर 'ग् आ ह् इ न्' = 'ग्राहिन्' रूप बनता है । तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'राजन्' (पूर्वार्ध) की भांति 'ग्राही' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार ग्रह्यादिगण में होने के कारण 'स्था' और 'मन्त्रि' धातुओं से भी णिनि आदि होकर 'स्थायी' और 'मन्त्री' रूप सिद्ध होते हैं । 'पच्' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'अच्' होकर 'पच् अ' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'पचः' रूप सिद्ध होगा ।

७८७. इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः । ३ । १ । १३५

एभ्यः कः स्यात् । बुधः । कृशः । ज्ञः । प्रियः । किरः ।

७८७. इगुपधेति—शब्दार्थ है—(इगुपध—किरः) इगुपध, ज्ञा, प्री और कॄ से (कः) 'क' होता है । 'इगुपध' का अर्थ है—जिसकी उपधा में इक् (इ, उ, ऋ,

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये ।

† पूर्व प्रक्रिया के लिए 'रूप-सिद्धि' (उत्तरार्ध) में ६५ वां पद देखिये ।

‡ विस्तृत प्रक्रिया के लिए इन पदों की रूप-सिद्धि देखिये ।

ऌ) हो। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ है—इक् उपधावाले, ज्ञा (जानना), प्री (प्रसन्न करना) और कॄ (बिखेरना) धातुओं से 'क' प्रत्यय होता है। 'क' में '१३६—लशक्वतद्धिते' से ककार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने से 'अ' ही शेष रह जाता है। इनके उदाहरण अलग-अलग दिये जा रहे हैं—

(क) इगुपध—'बुध्' (जानना) से 'क' प्रत्यय होकर 'बुध् अ' = 'बुध' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'बुधः' रूप सिद्ध होता है। 'कृश्' (कमजोर होना) धातु का रूप भी इसी प्रकार बनता है।

(ख) ज्ञा—यहां भी 'क' होकर 'ज्ञा अ' रूप बनने पर कित् 'क' (अ) परे होने के कारण '४८९—आतो लोप-०' से 'ज्ञा' के आकार का लोप होकर 'ज्ञ् अ' = 'ज्ञ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

(ग) प्री—यहां 'क' होकर 'प्री अ' रूप बनने पर '१९९—अचि श्नु-०' से 'प्री' के ईकार के स्थान पर 'इयङ्' (इय्) होकर 'प्र् इय् अ' = 'प्रिय' रूप बनता है। शेष प्रक्रिया खंड 'क' के समान।

(घ) कॄ—यहां भी 'कॄ अ' रूप बनने पर कित् 'क' (अ) परे होने के कारण गुण-निषेध हो जाने पर '६६०—ॠत इद्धातोः' से ॠकार के स्थान पर 'इर्' होकर 'क् इर् अ'='किर' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया खंड 'क' के समान।

७८८. आतश्चोपसर्गे । ३ । १ । १३६

प्रज्ञः । सुग्लः ।

७८८. आत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (उपसर्गे) उपसर्ग उपपद रहने पर (आतः) आकार के बाद…। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '७८७—इगुपध-०' से 'कः' तथा अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'आतः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्तविधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्ग उपपद रहने पर आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'क' (अ) प्रत्यय होकर पूर्ववर्ती सूत्र (७८७) में 'ज्ञः' की भांति 'प्रज्ञः' रूप सिद्ध होता है। 'सु'-उपसर्गपूर्वक 'ग्लै' धातु के ऐकार को '४९३—आदेच-०' से आकार होकर 'सु ग्ला' रूप बनने पर इसी प्रकार 'क' प्रत्यय आदि होकर 'सुग्लः' रूप सिद्ध होगा।

७८९. गेहे कः । ३ । १ । १४४

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ।

७८९. गेहे इति—शब्दार्थ है (गेहे) 'घर' अर्थ में (कः) 'क' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किससे होता है—यह जानने के लिए 'विभाषा ग्रहः' ३.१.१४३

से 'ग्रहः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'घर' अर्थ में 'ग्रह्' धातु से 'क' प्रत्यय होता है। ध्यान रहे कि यह 'क' प्रत्यय कृत्संज्ञक होने से '७६९–कर्तरि कृत्' परिभाषा से कर्ता अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए 'घर' अर्थ में 'ग्रह्' धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा 'क' (अ) प्रत्यय होकर 'ग्रह् अ' रूप बनने पर '६३४–ग्रहिज्या–०' से रकार के स्थान पर सम्प्रसारण ऋकार तथा पूर्वरूप-एकादेश होकर 'गृह् अ' = 'गृह' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया 'ज्ञानम्' (पूर्वार्ध) के समान।

७९०. कर्मण्यण् । ३ । २ । १

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति–कुम्भकारः ।

७९०. कर्मणीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्मणि) कर्म के उपपद रहने पर (अण्) 'अण्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्म के उपपद रहने पर धातु से 'अण्' प्रत्यय होता है। 'अण्' में '१–हलन्त्यम्' से णकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने से केवल 'अ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कुम्भ अम् कृ' में 'कुम्भ' उपपद कर्म है, अतः उसके रहते प्रकृत सूत्र से 'कृ' धातु से 'अण्' होकर 'कुम्भ अम् कृ अ' रूप बनेगा। तब णित् प्रत्यय 'अण्' (अ) परे होने के कारण '१८२–अचो ञ्णिति' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर वृद्धि–'आर्' होकर 'कुम्भ अम् क् आर् अ' रूप बनता है। यहां '९५४–उपपदमतिङ्' से समास संज्ञा होने से '११७–कृत्तद्धितसमासाश्च' से पद प्रातिपदिक होगा। इस स्थिति में '७२१–सुपो धातु–०' से सुप्–'अम्' का लोप होकर 'कुम्भ क् आर् अ' = 'कुम्भकार' रूप बनने पर फिर 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'कुम्भकारः' रूप सिद्ध होता है।

७९१. आतोऽनुपसर्गे कः । ३ । २ । ३

आदन्ताद्धातोरनुपसर्गात्कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोपः । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम्–गोसंदायः ।

(वा०) मूलविभुजादिभ्यः कः ।

मूलानि विभुजति मूलविभुजो रथः । आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः, कुध्रः ।

७९१. आत इति—शब्दार्थ है—(अनुपसर्गे) उपसर्ग उपपद न रहने पर (आतः) आकार से (कः) 'क' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए '७९०–कर्मण्यण्' से 'कर्मणि' और अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कर्मणि' का अन्वय सूत्रस्थ 'अनुपसर्गे' से होता है। सूत्रस्थ 'आतः' 'धातोः' का विशेषण बनता है, अतः उसमें

तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्गरहित कर्म के उपपद रहने पर आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय '७९०–कर्मण्यण्' से प्राप्त 'अण्' का बाधक है। उदाहरण के लिए 'गो अम् दा' में कर्म के साथ उपसर्ग नहीं है और साथ ही धातु भी आकारान्त है। अतः प्रकृत सूत्र से 'दा' धातु को 'क' (अ) प्रत्यय होकर 'गो अम् दा अ' रूप बनेगा। तब '४८९–आतो लोप-०' से 'दा' के आकार का लोप होकर 'गो अम् द् अ' = 'गो अम् द' रूप बनने पर पूर्वसूत्र (७९०) की भांति समास संज्ञा आदि होकर 'गोदः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'धन अम् दा' से 'धनदः' और 'कम्बल अम् दा' से 'कम्बलदः' रूप बनता है। हां, यदि उपसर्ग होगा, तो 'क' प्रत्यय का प्रयोग नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'गो अम् सं दा' में 'सम्' उपसर्ग होने से आकारान्त होने पर भी 'दा' धातु से 'क' प्रत्यय नहीं होगा। इस अवस्था में '७९०–कर्मण्यण्' से 'अण्' प्रत्यय होकर 'गो अम् सं दा य् अ' = 'गो अम् सं दाय' रूप बनता है। यहां पूर्वसूत्र (७९०) की भांति समास संज्ञा आदि होकर 'गोसंदायः' रूप सिद्ध होगा।

(वा०) मूलेति—अर्थ है—'मूलविभुज' (जड़ों को तोड़ने वाला, रथ) आदि शब्दों से 'क' प्रत्यय होता है। 'मूलविभुज' आकृतिगण है, अतः इस प्रकार के शब्दों का पता आकृति देखकर लगाया जाता है। उदाहरण के लिए 'मूल शस् वि भुज्' में प्रस्तुत वार्तिक से 'भुज्' धातु से 'क' (अ) होकर 'मूल शस् वि भुज् अ' रूप बनेगा। तब पूर्वसूत्र (७९०) की भाँति उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर 'मूलविभुजः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मूलविभुज' गण में होने के कारण 'महीं धृ' और 'कुं धृ' में भी 'धृ' धातु से 'क' होकर क्रमशः 'महीध्रः'* तथा 'कुध्रः' रूप बनते हैं।

७९२. चरेष्टः । ३ । २ । १६

अधिकरणे उपपदे। कुरुचरः।

७९२. चरेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चरेः) 'चर्' से (ट) 'ट' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुपि स्थः' ३.२.४ से 'सुपि' तथा 'अधिकरणे शेतेः' ३.२.१५ से 'अधिकरणे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अधिकरण कारक में सुबन्त उपपद रहने पर 'चर्' (चलना) धातु से 'ट' प्रत्यय होता है। 'ट' प्रत्यय में '१२९–चुटू' से टकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाने पर 'अ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कुरुषु चरति' (कुरु देश में विचरण करता है)—इस विग्रह में 'कुरु सुप् चर्' से प्रकृत सूत्र द्वारा 'ट' प्रत्यय होकर 'कुरु सुप् चर् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में ७९० वें सूत्र की भांति उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर 'कुरुचरः' रूप सिद्ध होता है।

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए इनकी रूप-सिद्धि देखिये।

७९३. भिक्षासेनाऽऽदायेषु च । ३ । २ । १७

भिक्षाचरः । सेनाचरः ।आदायेति ल्यबन्तम्—आदायचरः ।

७९३. भिक्षेति—शब्दार्थ है—(च) और (भिक्षासेनादायेषु) भिक्षा, सेना और आदाय उपपद रहने पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि सूत्र स्वतः अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुपि स्थः' ३.२.४ से 'सुपि' और सम्पूर्ण-सूत्र 'चरेष्टः' ३.२.१६ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुबन्त भिक्षा, सेना और आदाय उपपद होने पर 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'भिक्षा अम् चर्' में सुबन्त 'भिक्षा' उपपद रहने से 'चर्' धातु से 'ट' (अ) होकर 'भिक्षा अम् चर् अ' रूप बनेगा। शेष प्रक्रिया ७९२ वें सूत्र के समान। इसी प्रकार 'सेना ङि चर्' से 'सेनाचरः' और 'आदाय अम् चर्' से 'आदायचरः' (लब्ध द्रव्य को ग्रहण कर चलनेवाला) रूप बनते हैं।

७९४. कृञो हेतु-ताच्छील्यानुलोम्येषु । ३ । २ । २०

एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात् ।

७९४. कृञ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हेतु—आनुलोम्येषु) हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य अर्थ में (कृञः) कृञ् धातु से...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'चरेष्टः' ३.२.१६ से 'टः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ताच्छील्य' का अर्थ है स्वभाव, और 'आनुलोम्य' का अनुकूलता। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि हेतु, स्वभाव या अनुकूलता द्योत्य हो तो 'कृ' धातु से 'ट' प्रत्यय होता है। ध्यान रहे कि यहां भी कोई सुबन्त उपपद होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'यशः करोति' (यश करती है, यश का कारण)—इस विग्रह में 'यशस् अम् कृ' से हेतु अर्थ में 'ट' (अ) प्रत्यय होकर 'यशस् अम् कृ अ' रूप बनेगा। तब '३८८—सार्वधातुक—०' से 'कृ' के ऋकार के स्थान पर गुण—'अर्' होकर 'यशस् अम् क् अर् अ = 'यशस् अम् कर' रूप बनने पर ७९० वें सूत्र की भांति उपपद-समास और सुप्—'अम्' का लोप होकर 'यशस् कर' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०५—ससजुषो रुः' से 'यशस्' के सकार के स्थान पर रकार और '९३—खरवसानयो-०' से पुनः रकार के स्थान पर विसर्ग होकर 'यशः कर' रूप बनेगा। यहां ककार परे होने के कारण '९८—कुप्वोः-०' से जिह्वामूलीय प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

७९५. अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य । ८ । ३ । ४६

आदुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः करोत्यादिषु परेषु । यशस्करी विद्या । श्राद्धकरः । वचनकरः ।

७९५. अत इति—शब्दार्थ है—(कृ—कर्णीषु) कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी परे होने पर (अतः) अकार के बाद (अनव्ययस्य) अनव्यय के स्थान में...। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'विसर्जनीयस्य सः' ८.३.३४ तथा 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' ८.३.४५ इन दो सूत्रों की अनुवृत्ति करनी होगी। 'समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' और 'विसर्जनीयस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'अनव्ययस्य' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'कृ' धातु, कमि ('कम्' धातु), कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी परे होने पर अकार के बाद समास में अनुत्तरपदस्थ विसर्जनीय यदि अव्यय का न हो तो उसके स्थान पर नित्य सकार होता है। उदाहरण के लिए 'यशः कर' में 'कृ' धातु परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से अकारोत्तरवर्ती विसर्ग के स्थान पर सकार होकर 'यशस्कर' रूप बनेगा। तब स्त्रीलिङ्ग में '१२४७–टिड्ढाण–०' से 'ङीप्' (ई) होकर 'यशस्कर ई' रूप बनने पर '१६५–यचि भम्' से 'यशस्कर' की भ संज्ञा होने के कारण '२३६–यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर 'यशस्कर् ई' = 'यशस्करी' रूप बनता है। तब प्रथमा के एकवचन में 'गौरी' (पूर्वार्ध) की भांति 'यशस्करी' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'श्राद्धं करोति तच्छील:' (श्राद्ध करना जिसका स्वभाव है)—इस विग्रह में 'श्राद्ध अम् कृ' से 'ट' प्रत्यय होकर पूर्ववत् 'श्राद्धकर' रूप बनेगा। इस स्थिति में प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'श्राद्धकरः' रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'वचनं करोति' (कहे हुये को करने वाला)—इस विग्रह में 'वचन अम् कृ' में आनुलोम्य द्योतित होने के कारण 'ट' आदि होकर 'श्राद्धकरः' के समान 'वचनकरः' रूप बनता है।

७९६. एजेः[2] खश्[1] । ३ । २ । २८

ण्यन्तादेजेः खश् स्यात्।

७९६. एजेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एजेः) 'एजि' से (खश्) 'खश्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '७९०–कर्मण्यण्' से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एजि' 'एज्' (कंपाना) धातु का ण्यन्त रूप है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्म के उपपद रहने पर ण्यन्त 'एज्' धातु से 'खश्' प्रत्यय होता है। 'खश्' में '१३६–लशक्वतद्धिते' से खकार की और '१–हलन्त्यम्' से शकार की इत्संज्ञा होती है, अतः '३–तस्य लोपः' से उनका लोप हो जाने से केवल 'अ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'जन अम् एजि' में प्रकृत सूत्र से ण्यन्त धातु 'एजि' से 'खश्' प्रत्यय होकर 'जन अम् एजि अ' रूप बनता है। तब '३८६–तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से 'खश्' (अ) की सार्वधातुक संज्ञा होने पर '३८७-कर्तरि शप्' से 'शप्' होकर 'जन अम् एजि अ अ' रूप बनने पर '२७४–अतो गुणे' से पर-रूप

एकादेश होकर 'जन अम् एजि अ' रूप बनेगा। यहां '३८८-सार्वधातुक-०' से गुण-एकार होकर 'जन अम् एज् ए अ' रूप बनने पर '२२-एचो-०' से एकार के स्थान पर 'अय्' होकर 'जन अम् एज् अय् अ' = 'जन अम् एजय' रूप बनता है। इस स्थिति में ७९० वें पद की भांति उपपद-समास और सुप्-लोप होकर 'जन एजय' रूप बनेगा। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

७९७. अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । ६ । ३ । ६७

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात् खिदन्ते परे न त्वव्ययस्य। शित्वाच्छबादिः। जनमेजयतीति जनमेजयः।

७९७. अरुरिति—शब्दार्थ है—(अरुर्द्विषदजन्तस्य*) अरुस्, द्विषत् और अजन्त का अवयव (मुम्) 'मुम्' होता है। किन्तु यह 'मुम्' किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'खित्यनव्ययस्य' ६.३.६६ सूत्र की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से 'उत्तरपदे' का यहां अधिकार प्राप्त है। 'खिति' में 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—खिदन्त उत्तरपद (जिसके अन्त में कोई खित्—जिसका खकार इत्संज्ञक हो—प्रत्यय आया हो) परे होने पर अरुस् (मर्म), द्विषत् (शत्रु) और अव्ययभिन्न अजन्त (जिसके अन्त में कोई स्वर-वर्ण हो) का अवयव 'मुम्' होता है। 'मुम्' में 'उम्' इत्संज्ञक है, अतः मित् होने के कारण '२४०-मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से यह अन्त्य अच् (स्वर-वर्ण) का अवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'जन एजय' के 'एजय' में खित् प्रत्यय 'खश्' हुआ है, अतः उसके परे होने पर प्रकृत सूत्र द्वारा अजन्त 'जन' को 'मुम्' (म्) होकर 'जन म् एजय' = 'जनमेजय' रूप बनने पर 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'जनमेजयः' रूप सिद्ध होता है।

७९८. प्रियवशे वदः खच् । ३ । २ । ३८

प्रियंवदः। वशंवदः।

७९८. प्रियेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रियवशे) प्रिय और वश उपपद रहने से (वदः) 'वद्' धातु से (खच्) 'खच्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '७९०-कर्मण्यण्' से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रिय और वश कर्म के उपपद रहने पर 'वद्' (बोलना) धातु से 'खच्' प्रत्यय होता है। 'खच्' में खकार और चकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'अ' ही शेष रहता है। खित् होने के कारण यहां भी पूर्वसूत्र (७९७) से अजन्त अङ्ग को 'मुम्' होता है। उदाहरण के लिए 'वश अम् वद्' से 'खच्' प्रत्यय, उपपद-समास, सुप्-लोप और मुमागम आदि होकर 'वश म् वद् अ' रूप बनने पर '७७-मोऽनुस्वारः' से

* इसका पदच्छेद है—'अरुस्, द्विषत् अजन्त एषां समाहारद्वन्द्वात् षष्ठी'।

मकार को अनुस्वार होकर 'वशंवद्' रूप बनेगा। तब 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'वशंवदः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'प्रिय अम् वद्' से 'प्रियंवदः' रूप सिद्ध होता है।

७९९. अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते* । ३ । २ । ७५

मनिन् क्वनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः ।

७९९. अन्येभ्य इति—शब्दार्थ है—(अन्येभ्यः) दूसरों से (अपि) भी (दृश्यन्ते) दिखाई देते हैं। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'विजुपे छन्दसि' ३.२.७३ से 'विच्' तथा 'आतो मनिन्–०' ३.२.७४ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ अन्येभ्यः' का अभिप्राय पूर्वसूत्र 'आतो मनिन्–०' से विहित आकारान्त धातुओं से भिन्न अन्य धातुओं से है। सूत्र में 'दृश्यन्ते' का ग्रहण प्रयोग के अनुसरणार्थ है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आकारान्त-भिन्न धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप और विच् प्रत्यय होते हैं। 'मनिन्' में अन्त्य नकार इत्संज्ञक और इकार उच्चारणार्थ है, अतः केवल 'मन्' ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार 'क्वनिप्' और 'वनिप्' में 'वन्' शेष रह जाता है। 'विच' का केवल 'व्' ही शेष रह जाता है। 'क्वनिप्' में कित् होने से उसके परे रहते '४३५–क्ङिति च' से गुण-वृद्धि का निषेध हो जाता है। उदाहरण के लिए 'शोभनं शृणाति' (अच्छी तरह से हिंसा करता है)–इस विग्रह में 'सु' पूर्वक 'शॄ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होकर 'सु शॄ मन्' रूप बनेगा। यहां '३८८–सार्वधातुक–०' से 'शॄ' के ॠकार के स्थान पर गुण–'अर्' होकर 'सु श् अर् मन्' = 'सुशर्मन्' रूप बनने पर '४०१–आर्धधातुकस्य–०' से इडागम प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका निषेध हो जाता है—

८००. नेड् वशि कृति‡ । ७ । २ । ८

वशादेः कृत इण् न स्यात्। शॄ हिंसायाम्—सुशर्मा। प्रातरित्वा।

८००. नेडिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वशि) वश् (कृति) कृत् का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता है। 'वशि' 'कृति' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। 'वश्' प्रत्याहार में सभी वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ण तथा व, र और ल का समाहार होता है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—वशादि कृत् प्रत्यय (जिसके आदि में कोई वश्-वर्ण हो) का अवयव 'इट्' नहीं होता है।

* यह 'दृश्' धातु का क्रिया-रूप है।

† 'दृशिग्रहणं प्रयोगानुसरणार्थम्'—काशिका।

‡ यहां सप्तमी विभक्ति का प्रयोग षष्ठ्यर्थ में हुआ है।

स्पष्टीकरण के लिए 'सुपि स्थः' ३.२.४ से 'सुपि' तथा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' ३.२.७५ से 'अन्येभ्यः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुबन्त उपपद रहने पर सभी धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। 'क्विप्' में केवल 'व्' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'उखायाः स्रंसते' (हांडी से गिरता है)—इस विग्रह में 'उखा ङसि स्रंस' में 'स्रंस्' (गिरना) धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा 'क्विप्' होकर 'उखा ङसि स्रंस् व्' रूप बनेगा। यहां '३०३—वेरपृक्तस्य' से वकार का लोप होकर 'उखा ङसि स्रंस' रूप बनने पर 'स्रंस्' के नकार का लोप और उपपद समास आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'उखास्रत्'* रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पर्ण ङसि ध्वंस् व्' से 'पर्णध्वत्'* (पत्तों से गिरनेवाला) और 'वाह ङसि भ्रंश् व्' से 'वाहभ्रट्'* (घोड़े से गिरने वाला) रूप बनता है।

८०३. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । ३ । २ । ७८

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिस्ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्णभोजी।

८०३. सुपीति—शब्दार्थ है—(अजातौ) अजातिवाचक (सुपि) सुबन्त उपपद रहने पर (ताच्छील्ये) स्वभाव अर्थ में (णिनिः) 'णिनि' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किससे होता है—यह जानने के लिए अधिकारसूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जातिवाचक-भिन्न सुबन्त उपपद रहने पर स्वभाव अर्थ में धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'उष्णं भुङ्क्ते तच्छीलः' (गरम भोजन करने की आदत वाला)—इस विग्रह में 'उष्ण अम् भुज्' रूप बनने पर सुबन्त 'उष्णम्' के भाववाचक होने के कारण प्रकृत सूत्र द्वारा 'णिनि' (इन्) होकर 'उष्ण अम् भुज् इन्' रूप बनेगा। तब लघूपध गुण, उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'उष्णभोजी' रूप सिद्ध होता है।

८०४. मनः । ३ । २ । ८२

सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात्। दर्शनीयमानी।

८०४. मन इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(मनः) मन् से। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुप्यजातौ णिनिः-०' ३.२.७८ से 'सुपि' और 'णिनि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुबन्त उपपद रहने पर 'मन्' धातु (दिवादि० समझना) से 'णिनि' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'दर्शनीय अम् मन्' में 'दर्शनीयम्' सुबन्त उपपद है, अतः उसके रहते प्रकृत सूत्र द्वारा 'णिनि' (इन्) प्रत्यय होकर 'दर्शनीय अम् मन् इन्' रूप बनता है। इस स्थिति

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए रूप-सिद्धि देखिये।

में उपधा-वृद्धि, उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'दर्शनीयमानी' रूप सिद्ध होता है।

८०५. आत्ममाने खश्च । ३ । २ । ८३

स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् । चाण्णिनिः । पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितंमन्यः, पण्डितमानी ।

८०५. आत्ममाने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आत्ममाने) 'अपने आपको मानना' अर्थ में (खश्) खश् होता है (च) और ···। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए अनुवृत्ति-सहित '८०४—मनः' की अनुवृत्ति करनी होगी। यहाँ सूत्रस्थ 'च' पूर्वसूत्र (८०४) से विहित 'णिनि' की ओर संकेत करता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अपने आपको मानना' अर्थ में वर्तमान 'मन्' धातु से सुबन्त उपपद रहने पर 'खश्' प्रत्यय होता है और 'णिनि' प्रत्यय भी। उदाहरण के लिए 'पण्डितमात्मानं मन्यते' (अपने आपको पण्डित मानता है)—इस विग्रह में 'पण्डित अम् मन्' रूप बनने पर सुबन्त उपपद 'पण्डितम्' रहने पर प्रकृत सूत्र द्वारा 'खश्' (अ) प्रत्यय होकर 'पण्डित अम् मन् अ' रूप बनेगा। तब श्यन्, मुमागम, उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'पण्डितंमन्यः' रूप सिद्ध होता है। 'णिनि' होने पर पूर्वसूत्र (८०४) की भाँति 'पण्डितमानी' रूप बनता है।

८०६. खित्यनव्ययस्य । ६ । ३ । ६६

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः, न त्वव्ययस्य । ततो मुम् । कालिंमन्या ।

८०६. खितीति—शब्दार्थ है—(खिति) खित् परे होने पर (अनव्ययस्य) अव्यय-भिन्न के स्थान में···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'इको ह्रस्वो–०' ६.३.६१ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से यहाँ 'उत्तरपदे' का अधिकार प्राप्त है। 'खित्' का अर्थ है—जिसका खकार इत्संज्ञक हो। यहाँ यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है, अतः तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—खिदन्त उत्तरपद (जिसके अन्त में कोई खित् प्रत्यय हो) परे होने पर अव्यय-भिन्न का ह्रस्व होता है। उदाहरण के लिये 'आत्मानं कालीं मन्यते' (अपने आपको काली समझती है)—इस विग्रह में 'काली अम् मन्' रूप बनने पर पूर्वसूत्र (८०५) से 'खश्' (अ) प्रत्यय, श्यन्, पररूप, उपपद-समास और सुप्-लोप होकर 'काली मन्य' रूप बनता है। यहाँ 'मन्य' उत्तरपद खिदन्त है, क्योंकि इसके अन्त में खित् 'खश्' का अकार है, अतः उसके परे होने पर प्रकृत सूत्र द्वारा 'काली' के ईकार को ह्रस्व इकार होकर 'काल् इ मन्य' = 'कालि मन्य' रूप बनेगा। तब

सुमागम और 'टाप्' प्रत्यय आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'कालिमन्या' रूप सिद्ध होता है ।

८०७. करणे यजः । ३ । २ । ८५

करणे उपपदे भूतार्थयजेर्णिनिः कर्तरि । सोमेनेष्टवान् सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।

८०७. करणे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(करणे) करण उपपद रहने पर (यजः) 'यज्' धातु से··· । किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुप्यजातौ णिनिः–०' ३.२.७८ से 'णिनिः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'भूते' ३.२.८४ का अधिकार प्राप्त है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—करण उपपद रहने पर भूत अर्थ में 'यज्' धातु से 'णिनि' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'सोमेन यागं कृतवान्' (सोम से यज्ञ किया)—इस विग्रह में 'सोम टा यज्' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'णिनि' (इन्) प्रत्यय होकर 'सोम टा यज् इन्' रूप बनेगा । इस स्थिति में उपधा-वृद्धि, उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'सोमयाजी' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'अग्निष्टोम टा यज्' से 'अग्निष्टोमयाजी' रूप बनता है ।

८०८. दृशेः क्वनिप् । ३ । २ । ९४

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्–पारदृश्वा ।

८०८. दृशेरिति—शब्दार्थ है—(दृशेः) 'दृश्' से (क्वनिप्) 'क्वनिप्' होता है । किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'कर्मणीनि–०' ३.२.९३ से 'कर्मणि' तथा अधिकार-सूत्र 'भूते' ३.२.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्म-उपपद रहने पर भूत अर्थ में 'दृश्' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'पारं दृष्टवान्' (पार देख लिया है)—इस विग्रह में 'पार अम् दृश्' रूप बनने पर कर्म-उपपद 'पारं' होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'क्वनिप्' (वन्) प्रत्यय होकर 'पार अम् दृश् वन्' रूप बनेगा । तब उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'पारदृश्वा' रूप सिद्ध होता है ।

८०९. राजनि युधिकृञः । ३ । २ । ९५

क्वनिप्स्यात् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः । राजानं योधितवान् राजयुध्वा । राजकृत्वा ।

८०९. राजनीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(राजनि) 'राजन्' उपपद रहने पर (युधिकृञः) 'युध्' और 'कृञ्' से···। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं

चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अनुवृत्ति-सहित पूर्वसूत्र '८०८–दृशेः–०' से 'क्वनिप्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'राजन्' कर्म-उपपद रहने पर भूत अर्थ में 'युध्' (लड़वाना) और 'कृञ्' (करना)—इन दो धातुओं से 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है। ध्यान रहे कि 'युध्' धातु यहां अन्तर्भावितण्यर्थ में ली जाती है, इसी से उसका अर्थ 'लड़वाना' दिया गया है।* उदाहरण के लिए 'राजानं योधितवान्' (राजा को लड़वाया)—इस विग्रह में 'राजन् अम् युध्' रूप बनने पर 'राजानम्' कर्म-उपपद होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'क्वनिप्' (वन्) प्रत्यय होकर 'राजन् अम् युध् वन्' रूप बनता है। इस स्थिति में उपपद-समास और सुप्-लोप आदि होकर 'राजयुध्वा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'राजन् अम् कृ' से 'राजकृत्वा' (जिसने राजा बनाया हो) रूप बनता है।

८१०. सहे च । ३ । २ । ९६

कर्मणीति निवृत्तम्। सह योधितवान्–सहयुध्वा। सहकृत्वा।

८१०. सहे चेति—शब्दार्थ है—(च) और (सहे) 'सह' उपपद रहने पर…। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '८०९–राजनि–०' से 'युधिकृञः' तथा अधिकार-सूत्र 'भूते' ३.२.८४ की अनुवृत्ति करनी होगी। '८०८–दृशेः–०' से 'क्वनिप्' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सह' उपपद रहने पर भूत अर्थ में 'युध्' और 'कृ' धातु से 'क्वनिप्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'सह योधितवान्' (साथ लड़ाया है)—इस विग्रह में 'सह युध्' रूप बनने पर 'सह' उपपद होने के कारण प्रकृत सूत्र द्वारा 'क्वनिप्' (वन्) प्रत्यय होकर 'सह युध् वन्' रूप बनेगा। तब उपपद-समास आदि होकर 'सहयुध्वा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सह कृ' से 'सहकृत्वा' रूप बनता है।

८११. सप्तम्यां जनेर्डः । ३ । २ । ९७

८११. सप्तम्यामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सप्तम्यां) सप्तम्यन्त उपपद रहने पर (जनेः) 'जन्' धातु से (डः) 'ड' प्रत्यय होता है। 'ड' प्रत्यय में '१२९–चुटू' से डकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, अतः केवल 'अ' ही शेष रह जाता है। ध्यान रहे कि 'भूते' ३.२.८४ का अधिकार प्राप्त होने से यह प्रत्यय भी भूत अर्थ में ही होता है। उदाहरण के लिए 'सरसि जातम्' (तालाब में उत्पन्न हुआ)–इस विग्रह में 'सरस ङि जन्' रूप बनने पर सप्तम्यन्त उपपद होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'जन्' (पैदा होना) धातु से 'ड' प्रत्यय होकर 'सरस् ङि जन् अ'

* 'ननु च युधिरकर्मकः। अन्तर्भावितण्यर्थः सकर्मको भवति'—काशिका।

रूप बनता है। यहाँ डित् 'अ' (ड) परे होने से टि 'अन्' का लोप होकर 'सरस् ङि ज् अ' = 'सरस् ङि ज' रूप बनेगा। तब उपपद-समास होकर प्रातिपदिक संज्ञा होने पर '७२१–सुपो धातु–०' से सुप्–'ङि' का लोप प्राप्त होता है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८१२. तत्पुरुषे कृति बहुलम् । ६ । ३ । १४

ङेरलुक् । सरसिजम् । सरोजम् ।

८१२. तत्पुरुषे इति—शब्दार्थ है—(तत्पुरुषे) तत्पुरुष-समास में (कृति) कृत् परे होने पर (बहुलम्) अधिकतर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'कृति' 'उत्तरपदे' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'अलुक्' का अर्थ है—लोप न होना। 'हलदन्तात् सप्तम्याः–०' ६.३.९ से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तत्पुरुष-समास में कृदन्त उत्तरपद (जिसके अन्त में कोई कृत् प्रत्यय हो) परे होने पर अधिकतर सप्तमी का लोप नहीं होता है। यहां 'अधिकतर' कहने से कभी-कभी लोप हो भी जाता है। इस प्रकार सप्तमी होने पर दो रूप बनते हैं—एक लोप न होने पर और एक लोप होने पर। उदाहरण के लिए 'सरस् ङि ज' में उत्तरपद 'ज' कृदन्त है क्योंकि इसके अन्त में कृत् प्रत्यय 'ड' (अ) हुआ है, अतः उसके परे होने पर प्रकृत सूत्र द्वारा सप्तमी 'ङि' का लोप नहीं होता है। इस स्थिति में प्रथमा के एकवचन में 'सरसिजम्' रूप सिद्ध होता है। 'ङि' का लोप होने पर सकार को रुत्व, उत्व और गुण आदि होकर 'सरोजम्' रूप बनता है।

८१३. उपसर्गे च संज्ञायाम् । ३ । २ । ९९

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने ।

८१३. उपसर्गे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (उपसर्गे) उपसर्ग उपपद होने पर (संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सप्तम्यां जनेर्डः' ३.२.९७ से 'जनेः' और 'डः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्ग उपपद होने पर संज्ञा अर्थ में 'जन्' धातु से 'ड' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'सन्तति' अर्थ में 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'जन्' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'ड' प्रत्यय होकर 'प्रजन् अ' रूप बनेगा। तब 'टि'–'अन्' का लोप हो 'प्रज् अ' = 'प्रज' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर स्त्रीत्व-विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'प्रजा' (सन्तान) रूप सिद्ध होता है।

८१४. क्तक्तवतू[1] निष्ठा[1] । १ । १ । २६

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः ।

८१४. क्तक्तवतू इति—यह संज्ञासूत्र है। शब्दार्थ है—(क्तक्तवतू) 'क्त' और 'क्तवतु' (निष्ठा) 'निष्ठा' संज्ञक हैं। तात्पर्य यह कि 'क्त' और 'क्तवतु'—इन दो प्रत्ययों को 'निष्ठा' कहते हैं। 'क्त' में ककार और 'क्तवतु' में ककार तथा उकार की इत्संज्ञक होकर लोप हो जाने से क्रमशः 'त' और 'तवत्' रूप शेष रह जाते हैं।

८१५. निष्ठा[1] । ३ । २ । १०२

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र '७७०-तयोरेव' इति भावकर्मणोः क्तः। '७६९-कर्तरि कृत्' इति कर्तरि क्तवतुः। उकावितौ। स्नातं मया। स्तुतस्त्वया विष्णुः। विश्वं कृतवान् विष्णुः।

८१५. निष्ठेति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(निष्ठा) 'निष्ठा' प्रत्यय होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'भूते' ३.२.८४ तथा 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'क्त' और 'क्तवतु' को निष्ठा' प्रत्यय कहते हैं (सूत्रांक, ८१४)। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भूतकाल में धातु से 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय होते हैं। '७७०-तयोरेव-०' से 'क्त' प्रत्यय भाव और कर्म में होता है तथा 'क्तवतु' प्रत्यय '७६९-कर्तरि कृत्' से कर्ता में। इसीलिए क्तप्रत्ययान्त के कर्ता से तृतीया तथा क्तवतु-प्रत्ययान्त के कर्ता से प्रथमा विभक्ति होती है और क्तप्रत्ययान्त के कर्म से प्रथमा तथा क्तवत्वन्त के कर्म से द्वितीया। उदाहरण के लिए 'स्तुतस्त्वया विष्णुः' (तुमने विष्णु की स्तुति की) में 'स्तुतः' पद क्त-प्रत्ययान्त है। यहां भूत अर्थ में 'स्तु' धातु से कर्म में 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'स्तु त' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'स्तुतः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'स्नातं मया' (मैंने स्नान कर लिया) में 'स्ना' धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय होकर नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'स्नातम्' रूप बना है। 'विश्वं कृतवान् विष्णुः' (विष्णु ने संसार को बनाया) में 'कृतवान्' पद 'क्तवतु'-प्रत्ययान्त है। यहां कर्ता में 'कृ' धातु से 'क्तवतु' (तवत्) प्रत्यय होकर 'कृ तवत्' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'कृतवान्' रूप सिद्ध होता है।

८१६. रदाभ्यां[5] निष्ठातो[6] नः[1] पूर्वस्य[4] च[3] दः[2] । ८ । २ । ४२

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्, निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शॄ हिंसायाम्। '६६०-ॠत इत्-०'। रपरः, णत्वम्—शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

८१६. रदाभ्यामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(रदाभ्यां) रकार और दकार के

पश्चात् (निष्ठातः[1]) निष्ठा के तकार के स्थान पर (नः) नकार होता है (च) और (पूर्वस्य) पूर्व (दः) दकार के स्थान पर। 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्ययों को 'निष्ठा' कहते हैं। सूत्रस्थ 'च' का अभिप्राय पूर्व दकार के स्थान पर भी नकार विधान करना है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—रकार और दकार के पश्चात् 'क्त' तथा 'क्तवतु' के तकार के स्थान पर नकार होता है तथा पूर्व दकार के स्थान पर नकार होता है। उदाहरण के लिए 'शॄ' (मारना) धातु से कर्म में 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'शॄ त' रूप बनता है। तब '६६०-ॠत इत्' से ॠकार को 'इर्' (इ) तथा इकार को दीर्घ होकर 'शीर् त' रूप बनने पर रकार के बाद 'क्त' (त) प्रत्यय होने के कारण प्रकृत सूत्र द्वारा 'त' के तकार को नकार होकर 'शीर् न् अ' = 'शीर्न' रूप बनेगा। यहां णत्व होकर 'शीर्ण' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'शीर्णः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भिद्' (फाड़ना) धातु से 'क्त' (त) प्रत्यय होकर 'भिद् त' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'त' के तकार और पूर्व दकार के स्थान पर नकार होकर 'भि न् न् अ'='भिन्न' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'भिन्नः' रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'छिद्' (काटना) धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'छिन्नः' रूप बनता है।

८१७. संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः । ८ । २ । ४३

निष्ठा-तस्य नः स्यात्। द्राणः। ग्लानः।

८१७. संयोगादेरिति—शब्दार्थ है—(संयोगादेः) संयोगादि (आतः) आकारान्त (यण्वतः) यण्वान् (धातोः) धातु से परे…। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए '८१६-रदाभ्यां-०' से 'निष्ठात. नः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संयोगादि, आकारान्त और यण्वान् (जिसमें य्, व्, र् या ल् हो) धातु के पश्चात् 'क्त' और 'क्तवतु' के तकार के स्थान पर नकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'द्रा' (शरमाना, दौड़ना) धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होकर 'द्रा त' रूप बनता है। यहां 'द्रा' धातु संयोगादि है, आकारान्त भी है और रकार होने से यण्वान् भी। अतः प्रकृत सूत्र से 'त' के तकार को नकार होकर 'द्रा न' रूप बनने पर णत्व होकर प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'द्राणः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ग्लै' (ग्लानि करना) धातु के ऐकार को आकार होकर 'ग्ला त' रूप बनने पर नत्व आदि होकर 'ग्लानः' रूप बनता है।

८१८. ल्वादिभ्यः । ८ । २ । ४४

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्याधातुः। ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम्।

---

[1] इसका विग्रह है—'निष्ठायाः त्, निष्ठात्, तस्य निष्ठातः'।

८१८. ल्वादिभ्य इति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(ल्वादिभ्यः) 'लू' आदि से परे···। इसके स्पष्टीकरण के लिए '८१६–रदाभ्यां निष्ठातो नः–०' से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति करनी होगी। क्र्यादिगण की 'लूञ' से लेकर 'प्ली' तक इक्कीस धातुओं को 'लू' आदि धातुएँ कहते हैं।* ये धातुएँ हैं—१–लूञ्, २–स्तॄञ्, ३–कॄञ्, ४–वॄञ्, ५–धूञ्, ६–शॄ, ७–पॄ, ८–वॄ, ९–भॄ, १०–मॄ, ११–दॄ, १२–जॄ (झॄ, धॄ), १३–नॄ, १४–कॄ, १५–ॠ, १६–गॄ, १७–ज्या, १८–री, १९–ली, २०–व्ली और २१–प्ली। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'लू' (काटना) आदि इक्कीस धातुओं के पश्चात् 'क्त' और 'क्तवतु' के तकार के स्थान पर नकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'लू' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'लू त' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'त' के तकार के स्थान पर नकार होकर 'लू न् अ' = 'लून' रूप बनेगा। तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'लूनः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ज्या' (जीर्ण होना) धातु से भी 'क्त' प्रत्यय और नत्व होकर 'ज्या न' रूप बनने पर '६३४–ग्रहिज्या–०' से सम्प्रसारण और पूर्वरूप-एकादेश होकर 'ज् इ न' रूप बनता है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८१९. हलः[1] । ६ । ४ । २

अङ्गावयवाद्धलः परं यत् सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः । जीनः ।

८१९. हल इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलः) हल् से परे···। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं लगता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अङ्गस्य' ६.४.१, 'सम्प्रसारणस्य' ६.३.१३९ तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य–०' ६.३.१११ से 'दीर्घः' और 'अणः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हल् से परे अङ्ग के अवयव सम्प्रसारण अण् (अ, इ, उ) को दीर्घ होता है। उदाहरण के लिए 'ज् इ न' में हल्–जकार से पर सम्प्रसारण अण्–इकार है, अतः प्रकृत सूत्र से इकार को दीर्घ ईकार होकर 'ज् ई न' = 'जीन' रूप बनेगा। तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'जीनः' रूप सिद्ध होता है।

८२०. ओदितश्च । ८ । २ । ४५

भुजो–भुग्नः । टुओश्वि–उच्छूनः ।

८२०. ओदितश्चेति—शब्दार्थ है—(च) और (ओदितः) ओदित् से पर···। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '८१६–रदाभ्यां निष्ठातो नः–०' से 'निष्ठातो नः' तथा '८१७–संयोगादेरातो

---

* 'लूञ् छेदने इत्येतत्प्रभृति व वरणे इति यावत् वृत्करणेन समापिता ल्वादयो गृह्यन्ते'—काशिका।

धातोः-०' से 'धातोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ओदित् धातु (जिसका ओकार इत्संज्ञक हो) के पश्चात् 'क्त' और 'क्तवतु' के तकार के स्थान पर नकार होता है। उदाहरण के लिए 'भुजो' (तोड़ना) धातु का ओकार इत्संज्ञक है, अतः 'क्त' प्रत्यय होकर 'भुज् त' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'त' के तकार को नकार होकर 'भुज् न् अ' = 'भुज् न' रूप बनेगा। यहां जकार को गकार होकर 'भुग् न' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'भुग्नः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'श्वि' (टुओश्वि—जाना, बढ़ना) धातु के ओदित् होने के कारण नत्व आदि होकर 'उद्' उपसर्गपूर्वक 'उच्छूनः' रूप बनता है।

८२१. शुषः कः। ८। २। ५१

निष्ठातस्य कः। शुष्कः।

८२१. शुष इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शुषः) 'शुष्' से परे (कः) ककार होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए '८१६—रदाभ्यां निष्ठातो—०' से 'निष्ठातः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'शुष्' (सूखना) धातु के पश्चात् 'क्त' और 'क्तवतु' के तकार के स्थान पर ककार होता है। उदाहरण के लिए 'शुष्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'शुष् त' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र द्वारा 'त' के तकार को ककार होकर 'शुष् क् अ' = 'शुष्क' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'शुष्कः' रूप सिद्ध होता है।

८२२. पचो वः। ८। २। ५२

पक्वः। क्षै हर्षक्षये।

८२२. पच इति—यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(पचः) 'पच्' से परे (वः) वकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '८१६—रदाभ्यां निष्ठातो—०' से 'निष्ठातः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'पच्' (पकाना) धातु से परे 'क्त' और 'क्तवतु' के तकार के स्थान पर वकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'पच्' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'पच् त' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'त' के तकार को वकार होकर 'पच् व् अ' = 'पच् व' रूप बनेगा। तब चकार को ककार होकर प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'पक्वः' रूप सिद्ध होता है।

८२३. क्षायो मः। ८। २। ५३

क्षामः।

८२३. क्षाय इति—शब्दार्थ है—(क्षायः) 'क्षै' धातु से परे (मः) मकार होता है। किन्तु यह मकार किसके स्थान पर होता है—यह जानने के लिए '८१६—

रदाभ्यां निष्ठातो–०' से 'निष्ठातः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'क्षै' (कृश होना) धातु के पश्चात् 'क्त' और 'क्तवतु' के तकार के स्थान पर मकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'क्षै' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'क्षै त' रूप बनने पर 'क्षै' के ऐकार को आकार होकर 'क्षा त' रूप बनता है। यहां प्रकृत सूत्र से 'त' के तकार को मकार होकर 'क्षा म् अ' = 'क्षाम' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा आदि होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'क्षामः' रूप सिद्ध होता है।

८२४. निष्ठायां सेटि। ६। ४। ५२

णेर्लोपः। भावितः। भावितवान्। दृह्–हिंसायाम्।

८२४. निष्ठायामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सेटि) 'इट्' सहित (निष्ठायां) 'निष्ठा' परे होने पर...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'णेरनिटि' ६.४.५१ से 'णेः' तथा 'अतो लोपः' ६.४.४८ से 'लोपः' को अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इट्' सहित निष्ठा ('क्त' और 'क्तवतु') परे होने पर 'णि' का लोप होता है। उदाहरण के लिए ण्यन्त 'भू' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'भावि त' रूप बनने पर वलादि आर्धधातुक 'त' (क्त) को 'इट्' होकर 'भावि इ त' रूप बनेगा। तब 'इट्' सहित 'त' (क्त) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'भावि' के 'णि' (इ) का लोप होकर 'भाव् इ त' = 'भावित' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'भावितः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार प्रथमा के एकवचन में 'भावि' से 'क्तवतु' (तवत्) प्रत्यय होकर 'भावितवान्' रूप बनता है।

८२५. दृढः स्थूलबलयोः। ७। २। २०

स्थूले बलवति च निपात्यते।

८२५. दृढ इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्थूलबलयोः) स्थूल और बलवान अर्थ में (दृढः) 'दृढ' शब्द का निपातन* होता है। निपातन-सम्बन्धी कार्य ये हैं†—

(क) दृह् धातु से क्त-प्रत्यय होने पर इट्-आगम का अभाव;

(ख) 'दृह' (बढ़ना, मजबूत होना) सम्बन्धी हकार का तथा 'दृहि' (बढ़ना) सम्बन्धी हकार और नकार का लोप,

(ग) तथा पर के स्थान पर ढकार होना।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए २०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी देखिये।

† 'किमत्र निपात्यते। दृहेः क्तप्रत्यये इडभावः। हकारनकारयोर्लोपः परस्य ढत्वम्। अथ, दृहिः प्रकृत्यन्तरमस्ति। तत्राप्येतदेव नलोपवर्जम्, नकारस्याभावात्'—काशिका।

उदाहरण के लिए 'दृह्' (दृह—बढ़ना) धातु से निष्ठा-प्रत्यय 'क्त' (त) प्रत्यय हो 'दृह् त' रूप बनने पर इडभाव, हकार-लोप और पर-तकार के स्थान पर ढकार हो 'दृढ् अ' = 'दृढ' रूप बनता है। यहां 'दृढ' की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'सु' प्रत्यय आदि हो 'रामः' (पूर्वार्ध) की भांति 'दृढः' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होगा—'स्थूल और बलवान'। इसी प्रकार इदित् धातु 'दृह्' (दृहि—बढ़ना) से '४६३–इदितो नुम्–०' से 'नुम्' (न्) आगम और निष्ठा-प्रत्यय 'क्त' (त) हो 'दृन्ह् त' रूप बनने पर धातु के नकार और हकार का लोप तथा ढकारादेश होकर 'दृढ' रूप बनता है। यहां भी पूर्ववत् प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'दृढः' रूप सिद्ध होता है। किन्तु स्थूल और बलवान् अर्थों से भिन्न अर्थों में 'दृहि' (दृह्—बढ़ना) से 'क्त' प्रत्यय हो प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'दृंहितम्' रूप सिद्ध होगा।

८२६. दधातेर्हिः। ७। ४। ४२

तादौ किति। हितम्।

८२६. दधातेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दधातेः*) 'धा' धातु के स्थान पर (हिः) 'हि' होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिये 'द्यतिस्यति–०' ७.४.४० से 'ति' और 'किति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर 'धा' (धारण या पोषण करना) धातु के स्थान पर 'हि' होता है। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्–०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'धा' धातु के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'धा' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'धा त' रूप बनता है। यहां 'त' (क्त) प्रत्यय कित् है क्योंकि उसके ककार की इत्संज्ञा हुई है और तकार आदि में होने से तकारादि भी है, अतः उसके परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'धा' के स्थान पर 'हि' होकर 'हित' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'हितम्' रूप सिद्ध होता है।

८२७. दो दद् घोः। ७। ४। ४६

घुसंज्ञकस्य दा इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति। चर्त्वम्—दत्तः।

८२७. दो ददिति—शब्दार्थ है—(घोः) घुसंज्ञक (दः) 'दा' धातु के स्थान पर (दद्) 'दद्' होता है। किन्तु यह आदेश किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए पुनः 'द्यतिस्यति-०' ७.४.४० से 'ति'

---

* यह 'दधाति' का षष्ठयन्त रूप है। 'दधाति' स्वयं 'धा' धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। अतः इससे मूलधातु का ही ग्रहण होता है।

और 'किति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तकारादि कित् प्रत्यय परे होने पर घुसंज्ञक* 'दा' धातु के स्थान पर 'दद्' आदेश होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश भी सम्पूर्ण 'दा' धातु के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर 'दा त' रूप बनने पर तकारादि कित् 'त' (क्त) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'दा' के स्थान पर 'दद्' होकर 'दद् त' रूप बनेगा। तब चर्त्व हो 'दद् त' = 'दत्त' रूप बनने पर प्रातिपादिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँलिङ्ग-एकवचन में 'दत्तः' रूप सिद्ध होता है।

८२८. [६]लिटः [१]कानज्वा। ३। २। १०६

८२८. **लिट इति**—सूत्र का शब्दार्थ है—(लिटः) 'लिट्' के स्थान पर (वा) विकल्प से (कानच्) 'कानच्' होता है। ध्यान रहे कि यह विधान 'छन्दसि लिट्' ३.२.१०५ परिभाषा से छन्द के विषय में ही होता है। 'कानच्' में ककार और चकार इत्संज्ञक हैं। अतः केवल 'आन' ही शेष रह जाता है। '३७७-तङानावात्मनेपदम्' से आत्मनेपद संज्ञा होने के कारण 'कानच्' (आन) आत्मनेपदी धातुओं से ही होता है। उदाहरण के लिए 'कृ' धातु से लिट् होकर 'कृ लिट्' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'लिट्' के स्थान पर 'कानच्' होकर 'कृ आन' रूप बनता है। इस स्थिति में द्वित्व, अभ्यास-कार्य और यणादेश आदि होकर 'चक्राण' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'चक्राणः' रूप सिद्ध होता है।

८२९. [१]क्वसुश्च। ३। २। १०७

लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः। तङानावात्मनेपदम्। चक्राणः।

८२९. **क्वसुश्चेति**—शब्दार्थ है—(च) और (क्वसुः) 'क्वसु' होता है। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'छन्दसि लिट्' ३.२.१०५ से 'छन्दसि' तथा 'लिटः कानज्वा' ३.२.१०६ से 'लिटः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—छन्द में 'लिट्' के स्थान पर 'क्वसु' आदेश होता है। यह आदेश 'कानच्' के विकल्प में होता है। अनेकाल् होने के कारण यह आदेश सम्पूर्ण 'लिट्' के स्थान पर होगा। 'क्वसु' के ककार और उकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'वस्' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए परस्मैपदी 'गम्' धातु से 'लिट्' होकर 'गम् लिट्' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र द्वारा 'लिट्' के स्थान पर 'क्वसु' होकर 'गम् वस्' रूप बनेगा। तब द्वित्व और अभ्यास-कार्य होकर 'जगम् वस्' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८३०. [७]म्वोश्च। ८। २। ६५

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः। जगन्वान्।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६२३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

८३०. म्वोश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (म्वोः) मकार तथा वकार परे होने पर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'मो नो धातोः' ८.२ ६४ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—मकार और वकार परे होने पर मकारान्त धातु के स्थान पर नकार आदेश होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आदेश अन्त्य मकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'जगम् वस्' में वकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'जगम्' के मकार के स्थान पर नकार होकर 'जगन् वस्' = 'जगन्वस्' रूप बनता है। इस स्थिति में नुमागम और उपधा-दीर्घ होकर 'जगन्वान् स्' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'जगन्वान्' रूप सिद्ध होता है।

८३१. लटः शतृ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे। ३। २। १२४

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः। शबादि। पचन्तं चैत्रं पश्य।

८३१. लट इति—शब्दार्थ है—(अप्रथमासमानाधिकरणे) अप्रथमान्त समानाधिकरण होने पर (लटः) 'लट्' के स्थान पर (शतृशानचौ) 'शतृ' और 'शानच्' होते हैं। तात्पर्य यह कि प्रथमा से भिन्न किसी अन्य विभक्ति से सामानाधिकरण्य होने पर 'लट्' के स्थान पर 'शतृ' और 'शानच्' होते हैं। लेकिन कहीं-कहीं प्रथमा से समानाधिकरण होने पर भी 'लट्' के स्थान पर 'शतृ' और 'शानच्' होते हैं।* इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए कुछ लोगों ने इस सूत्र की व्याख्या दूसरी रीति से की है। उनके अनुसार मण्डूकप्लुति-न्याय से यहां 'नन्वोर्विभाषा' ३.२.१२१ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति होती है। यह 'विभाषा' व्यवस्थित विभाषा है।† इस प्रकार यहां व्यवस्था होती है—जब प्रथमा विभक्ति से समानाधिकरण होता है तब 'लट्' के स्थान पर विकल्प से 'शतृ' और 'शानच्' होते हैं। प्रथमा से भिन्न किसी अन्य विभक्ति के साथ समानाधिकरण होने पर 'शतृ' और 'शानच्' नित्य ही होते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अप्रथमान्त समानाधिकरण होने पर तो 'शतृ' और 'शानच्' होते ही हैं, किन्तु प्रथमान्त समानाधिकरण होने पर भी कभी-कभी ये होते हैं। अनेकाल् होने के कारण ये आदेश '४५–अनेकाल् शित्–०' परिभाषा से सम्पूर्ण 'लट्' के स्थान पर होते हैं। 'शतृ' के शकार और ऋकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'अत्' ही

---

* 'क्वचित् प्रथमासमानाधिकरणेऽपि भवति'—काशिका।

† 'केचिद् विभाषाग्रहणमनुवर्त्तयन्ति, "नन्वोर्विभाषा" इति। सा च व्यवस्थिता'—काशिका।

शेष रह जाता है। 'शानच्' में भी शकार और चकार के इत्संज्ञक होने से 'आन' ही शेष रहता है। 'शतृ' प्रत्यय परस्मैपद धातुओं से होता है, और 'शानच्' आत्मनेपदी धातुओं से। उदाहरण के लिए 'पचन्तं चैत्रं पश्य' (पकाते हुए चैत्र को देखो) में द्वितीया विभक्ति से समानाधिकरण होने के कारण 'पच् लट्' के 'लट्' के स्थान पर प्रकृत सूत्र द्वारा 'शतृ' होकर 'पच् अत्' रूप बनेगा। तब शप् और पररूप हो 'पचत्' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर नुमागम आदि होने पर द्वितीया के एकवचन में 'पचन्तं' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सन् द्विजः' (अच्छा ब्राह्मण) में प्रथमान्त से समानाधिकरण होने पर भी 'अस् लट्' के 'लट्' के स्थान पर 'शतृ' आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'सन्' रूप बनता है। 'पचमानं चैत्रं पश्य' (पकाते हुए चैत्र को देखो) में भी अप्रथमान्त समानाधिकरण होने पर इसी भांति 'पच्' धातु से 'लट्' होकर 'पच् लट्' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र द्वारा 'लट्' के स्थान पर 'शानच्' होकर 'पच आन्' रूप बनता है। इस स्थिति में 'शप्' होकर 'पच आन' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८३२. आने[७] मुक्[१] । ७ । २ । ८२

अदन्ताङ्गस्य मुगागमः स्यादाने परे। पचमानं चैत्रं पश्य। लडित्यनुवर्तमानो पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन् द्विजः।

८३२. आने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आने) 'आन' परे होने पर (मुक्) 'मुक्' होता है। किन्तु यह 'मुक्' किसको होता है—यह जानने के लिए 'अतो येयः' ७.२.८० से 'अतः' की अनुवृत्ति करनी होगी।* यह षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त है। 'अतः' 'अङ्गस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ह्रस्व अकारान्त अङ्ग का अवयव 'आन' परे होने पर 'मुक्' होता है। 'मुक्' का 'उक्' इत्संज्ञक है। अतः केवल मकार ही शेष रह जाता है। कित् होने के कारण '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह अन्त्य अकार का अवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'पच आन' में अकारान्त अङ्ग 'पच' के बाद 'आन' आया है, अतः प्रकृत सूत्र से 'पच' को 'मुक्' (म्) होकर 'पच म् आन' = 'पचमान' रूप बनता है। तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर द्वितीया के एकवचन में 'पचमानम्' रूप सिद्ध होता है।

८३३. विदेः शतुर्वसुः[१] । ७ । १ । ३६

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विदन्। विद्वान्।

---

* 'अतो येयः' इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तं पञ्चम्यन्तमप्यत इति पदं षष्ठ्या विपरिणम्यते आन इति सप्तमीबलात्'—'सिद्धान्तकौमुदी' की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

८३३. विदेरिति—शब्दार्थ है—(विदेः) 'विद्' के पश्चात् (शतुः) 'शतृ' के स्थान पर (वसुः) 'वसु' आदेश होता है। कुछ लोग यहां 'तुह्योस्तातङ्-०' ७.१.३५ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति करते हैं।* तब अर्थ होगा—'विद्' (जानना) धातु के पश्चात् 'शतृ' के स्थान पर विकल्प से 'वसु' आदेश होता है। अनेकाल् होने से यह आदेश सम्पूर्ण 'शतृ' के स्थान पर होता है। 'वसु' का उकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'वस्' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए 'विद्' धातु से 'शतृ' होकर 'विद् अत्' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'शतृ' (अत्) के स्थान पर 'वसु' होकर 'विद् वस्' = 'विद्वस्' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'विद्वान्' रूप सिद्ध होता है। विकल्पावस्था में 'शतृ' होकर 'विदन्' रूप बनता है।

८३४. तौ[1] सत्[1]। ३। २। १२७

तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ स्तः।

८३४. तौ इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(तौ) वे दोनों (सत्) 'सत्' संज्ञक हैं। यहां 'वे दोनों' का अभिप्राय 'लटः शतृशानचौ-०' ३.२.१२४ में स्थित 'शतृशानचौ' से है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—'शतृ' और 'शानच्' प्रत्ययों को 'सत्' कहते हैं।

८३५. [6]लृटः [1]सद्वा। ३। ३। १४

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य।

८३५. लृट इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लृटः) 'लृट्' के स्थान पर (वा) विकल्प से (सत्) 'सत्' होता है। 'सत्' का अर्थ है—'शतृ' और 'शानच्'। यहां व्यवस्थित-विभाषा होने से अप्रथमासमानाधिकरण में नित्य और अन्यत्र विकल्प से 'शतृ' और 'शानच्' होते हैं।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा‡—जब प्रथमा विभक्ति से समानाधिकरण होता है तब 'लृट्' के स्थान पर विकल्प से 'शतृ' और 'शानच्' होते हैं। प्रथमा से भिन्न किसी अन्य विभक्ति के साथ समानाधिकरण होने से 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय नित्य ही होते हैं। उदाहरण के लिए 'करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य' (आगे करने वाले को देख) में 'कृ' धातु से परे 'लृट्' को 'शतृ'

---

* 'अन्यतरस्यांग्रहणं केचिदनुवर्त्तयन्ति'—काशिका।

† 'व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन यथा लटः शतृशानचौ तथाऽस्यापि भवतः। अप्रथमासमानाधिकरणादिषु नित्यम्, अन्यत्र विकल्पः'—काशिका।

‡ 'विशेष स्पष्टीकरण के लिए ८३१ वें सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

और 'शानच्' होकर क्रमशः 'कृ अत्' और 'कृ आन' रूप बनते हैं। तब 'स्य' और 'इट्' आदि होकर 'करिष्यत' और 'करिष्यमाण' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर द्वितीया के एकवचन में 'करिष्यन्तं' और 'करिष्यमाणं' रूप सिद्ध होते हैं।

८३६. आ *क्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु। ३। २। १३४

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः।

८३६. आक्वेति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(आ क्वेः) यहां से लेकर 'भ्राजभास–०' ३.२.१७७ से विहित 'क्विप्' तक सभी प्रत्यय (तच्छील—तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्म और तत्साधुकारिता अर्थ में होते हैं। यहां सूत्रस्थ 'आ' (आङ्) का प्रयोग 'अभिविधि' अर्थ में हुआ है, अतः 'क्विप्' प्रत्यय भी इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होता है।† इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—इस सूत्र से लेकर 'भाजभास–०' ३.२.१७७ से विहित 'क्विप्' प्रत्यय तक सभी प्रत्यय (इसमें 'क्विप्' भी शामिल है) तच्छील (स्वभाव से किसी कार्य में प्रवृत्त होना), तद्धर्म (बिना स्वभाव भी किसी कार्य में प्रवृत्त होना) और तत्साधुकारिता (किसी काम को सुन्दरता से करना)—इन अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। ध्यान रहे कि '७६९-कर्तरि कृत्' से ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में ही होते हैं।

८३७. तृन्। ३। २। १३५

कर्ता कटान्।

८३७. तृनिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(तृन्) 'तृन्' होता है। किन्तु यह किससे होता है और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ तथा 'आ क्वेस्तच्छील–०' ३.२.१३४ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तच्छील, तद्धर्म और तत्साधुकारी कर्ता में धातु से 'तृन्' प्रत्यय होता है। 'तृन्' का नकार इत्संज्ञक है, अतः 'तृ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कर्ता कटान्' में 'कटान् करोति तच्छीलः' (चटाई बनाना जिसका स्वभाव है)—इस अर्थ में प्रकृत सूत्र द्वारा 'कृ' धातु से 'तृन्' प्रत्यय हुआ है। तब 'कृ तृ' रूप बनने पर आर्धधातुक गुण होकर 'क् अर् तृ' = 'कर्तृ' रूप बनेगा। यहां प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के एकवचन में 'कर्ता' रूप सिद्ध होता है।

---

* यहां 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' २.३.१० से 'आङ्' का संयोग होने से पंचमी विभक्ति हुई है।

† 'अभिविधौ चायमाङ्। तेन क्विपोऽप्ययमर्थनिर्देशः'—काशिका।

८३८. जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः पाकन् । ३ । २ । १५५

८३८. जल्पेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जल्प—वृङः) जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट्, वृङ् से (पाकन्) 'पाकन्' होता है। यहां भी '८३८—आ क्वेस्तच्छील-०' का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—तच्छील, तद्धर्म और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में 'जल्प्' (बोलना), 'भिक्ष' (भीख मांगना), 'कुट्ट' (काटना-पीसना), 'लुण्ट्' (लूटना) और 'वृङ्' (सेवा करना, पूजा करना)—इन पांच धातुओं से 'पाकन्' प्रत्यय होता है। 'पाकन्' का अन्त्य नकार इत्संज्ञक है, अतः 'पाक' ही शेष रह जाता है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र से उसके पकार का भी लोप हो जाता है—

८३९. षः प्रत्ययस्य । १ । ३ । ६

प्रत्ययस्यादिः ष इत्संज्ञः स्यात् । जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः, वराकी ।

८३९. ष इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय का (षः) षकार··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'आदिर्ञिटुडवः' १.३.५ से 'आदिः' तथा 'उपदेशेऽजनुनासिक-०' १.३.२ से 'इत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'आदिः' का अन्वय सूत्रस्थ 'षः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रत्यय का आदि षकार 'इत्' होता है। उदाहरण के लिए 'षाक' (षाकन्) प्रत्यय के आदि में षकार है, अतः वह प्रकृत सूत्र से 'इत्' होगा। इत्संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' १.३.९ से षकार का लोप होकर 'आक' ही शेष रह जाता है। तब 'जल्पति तच्छीलः' (बोलने के स्वभाव वाला)—इस अर्थ में 'जल्प्' से 'षाकन्' (आक) होकर 'जल्प आक'='जल्पाक' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'जल्पाकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भिक्ष्' से 'भिक्षाकः', 'कुट्ट' से 'कुट्टाकः', 'लुण्ट्' से 'लुण्टाकः' और 'वृङ्' से पुँल्लिङ्ग में 'वराकः' और स्त्रीलिङ्ग में 'वराकी' रूप बनते हैं।

८४०. सनाशंस-भिक्ष उः । ३ । २ । १६८

चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः ।

८४०. सनेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सनाशंस-भिक्षः) सन्, आशंस् और भिक्ष् से (उः) 'उ'-प्रत्यय होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र '८३६—आ क्वेस्तच्छील-०' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सन्' से 'सन्' प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है।* 'आशस्' से 'आङ्'पूर्वक 'शस्' (इच्छा करना) धातु का ग्रहण

* 'सन्निति सन्प्रत्ययान्तो गृह्यते, न सनिर्धातुः'—काशिका।

होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तच्छील, तद्धर्म और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में सनप्रत्ययान्त (जिस धातु के अन्त में 'सन्' प्रत्यय हुआ हो), आशंस् और भिक्ष् धातुओं से 'उ' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए सन्नन्त 'चिकीर्ष' से 'उ' प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष उ' रूप बनने पर अकार-लोप होकर 'चिकीर्ष् उ'='चिकीर्षु' रूप बनेगा। तब प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'चिकीर्षुः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'उ'-प्रत्यय हो 'आशंस्' से 'आशंसुः' और 'भिक्ष्' से 'भिक्षुः' रूप बनते हैं।

८४१. भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप्। ३। २। १७७

विभ्राट्। भाः।

८४१. भ्राजेति—शब्दार्थ है—(भ्राज—ग्रावस्तुवः) भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पॄ, जु और ग्राव-पूर्वक 'स्तु' धातु से (क्विप्) 'क्विप्' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र '८३६—आ क्वेस्तच्छील—०' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तच्छील, तद्धर्म और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में भ्राज् (भ्वादि०, चमकना), भास् (भ्वादि०, चमकना), धुर्व् (भ्वादि०, दुःख देना), द्युत् (भ्वादि०, चमकना), ऊर्ज् (चुरादि०, शक्तिमान होना), पॄ (पालन-पोषण करना, भरना), जु तथा 'ग्राव' उपपदपूर्वक 'स्तु' (स्तुति करना)—इन आठ धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। 'क्विप्' के ककार, पकार और इकार इत्संज्ञक हैं, अतः उनका लोप होकर केवल 'व्' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'वि'पूर्वक 'भ्राज्' धातु से तच्छील कर्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र द्वारा 'क्विप्' होकर 'वि भ्राज् व्' रूप बनता है। यहां '३०३—वेरपृक्तस्य' से प्रत्यय के वकार का लोप होकर 'विभ्राज्' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'विभ्राट्' (विशेष चमकना जिसका स्वभाव है) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भास्' से 'भाः', 'वि'पूर्वक 'द्युत्' से 'विद्युत्', 'ऊर्ज्' से 'ऊर्क्', 'पॄ' से 'पूः' तथा 'ग्राव'पूर्वक 'स्तु' से 'ग्रावस्तुत्' (पत्थर के गुण गाना जिसका स्वभाव है) रूप बनते हैं। इसी भांति 'धुर्व्' धातु से 'क्विप्' और उसका सर्वापहार-लोप होकर 'धुर्व्' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८४२. राल्लोपः। ६। ४। २१

रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ झलादौ क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्।

(वा०) क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। वक्तीति वाक्।

८४२. राल्लोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(रात्) रकार से परे (लोपः) लोप होता है। किन्तु यह लोप किसका होता है और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' ६.४.१९ से 'च्छ्वोः' तथा 'अनुनासिकस्य क्विझलोः-०' ६.४.१५ से 'क्विझलोः क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्वि (क्विप्) और झलादि कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर रकार के पश्चात् 'च्छ्' तथा 'व्' का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'धुर्व्' में '१९०-प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'क्विप्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से रकारोत्तरवर्ती वकार का लोप होकर 'धुर्' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'धूः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) क्विबिति—अर्थ है—वच् (बोलना), प्रच्छ् (पूछना), 'आयत'-पूर्वक 'स्तु', 'कट'-पूर्वक 'प्रु' (जाना), जु और श्रि (आश्रय करना)—इन छः धातुओं से 'क्विप्' होता है, दीर्घ होता है और सम्प्रसारण भी नहीं होता है। दीर्घादेश तो सब में ही होता है, किन्तु सम्प्रसारण का निषेध केवल 'प्रच्छ' में ही होता है क्योंकि उसी को वह प्राप्त है। उदाहरण के लिए 'जु' धातु से 'क्विप्' होने पर दीर्घ होकर 'जू' रूप बनता है। तब प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'जूः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वच्' से 'क्विप्' और दीर्घादेश आदि होकर 'वाक्' रूप सिद्ध होगा। इसी भांति 'आयतस्तु' से 'आयतस्तूः', 'कटप्रु' से 'कटप्रूः' तथा 'श्रि' से 'श्रीः' रूप बनते हैं।

८४३. च्छ्वोः[6] शूडनुनासिके[7] च। ६। ४। १९

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् श ऊठ् इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति प्राट्। आयतं स्तौति-आयतस्तूः। कटं प्रवते-कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिं-श्रीः।

८४३. छ्वोरिति—शब्दार्थ है—(च) और (अनुनासिके) अनुनासिक परे होने पर (छ्वोः) 'च्छ्' तथा 'व्' के स्थान पर (शूठ्) 'श्' और 'ऊठ्' होते हैं। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अनुनासिकस्य क्विझलोः-०' ६.४.१५ से 'क्विझलोः क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। स्थानी और आदेश समान होने से '२३-यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से ये आदेश क्रमशः होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनुनासिक, क्वि (क्विप्) और झलादि कित्-ङित् प्रत्यय परे होने पर 'च्छ्' और

'च' के स्थान पर क्रमशः 'श्' और 'ऊठ्' आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'प्रच्छ' धातु से पूर्व वार्तिक (८४२) से क्विप्, दीर्घ और सम्प्रसारण-निषेध हो 'प्राच्छ्' रूप बनेगा। तब '१९०–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' परिभाषा से 'क्विप्' प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'च्छ्' के स्थान पर 'श्' होकर 'प्राश्' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'प्राट्' (प्रश्न करने वाला) रूप सिद्ध होता है।

८४४. दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे॰ । ३ । २ । १८२

दाबादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे । दात्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ।

८४४. दाम्नीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दाम्नी*—नहः) दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दश् और नह् से (करणे) करण अर्थ में...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं लगता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धः कर्मणि ष्ट्रन्' ३.२.१८१ से 'ष्ट्रन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—करण कारक में दाप् (काटना), नी (ले जाना), शस् (मारना), यु (मिलाना), युज् (जोड़ना), स्तु (स्तुति करना), तुद् (पीड़ा पहुँचाना), सि (बन्धन), सिच् (सींचना), मिह् (सींचना), पत् (गिरना), दश् (डंसना) और नह् (बांधना)—इन तेरह धातुओं से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है। 'ष्ट्रन्' के षकार और नकार इत्संज्ञक हैं। षकार का लोप होने पर टकार तकार के रूप में हो जाता है और इस प्रकार 'त् र' = 'त्र' शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'दाति अनेन' (इससे काटा जाता है)—इस अर्थ में 'दाप्' (दा) धातु से 'ष्ट्रन्' होकर 'दात्र' रूप बनता है। यहां 'त्र' (ष्ट्रन्) प्रत्यय वलादि आर्धधातुक है, अतः '४०१–आर्धधातुकस्य–०' से इडागम प्राप्त होता है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८४५. ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु॰ च॰ । ७ । २ । ९

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण् न । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री ।

८४५. ति इति—शब्दार्थ है—(च) और (ति—कसेषु) ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स परे होने पर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए

---

* इसका पदच्छेद है—दाप् + नी। यहां '६८–यरोऽनुनासिके–०' से 'दाप्' के पकार के स्थान पर मकार हुआ है।

'नेड्वशि कृति' ७.२.८ से 'न' तथा 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ति (क्तिन् और क्तिच्*), तु (तुन्), त्र (ष्ट्रन्), त (तन्), थ (क्थन्), सि (क्सि), सु, सर (सरन्), क (कन्) और स—इन दस प्रत्ययों के परे होने पर 'इट्' नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'दात्र' में 'त्र' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से प्राप्त इडागम का निषेध हो जाता है। तब 'दात्र' की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'दात्रम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ष्ट्रन्' और इडागम निषेध आदि होकर 'शस्' से 'शस्त्रम्', 'यु' से 'योत्रम्', 'युज्' से 'योक्त्रम्', 'स्तु' से 'स्तोत्रम्', 'तुद्' से 'तोत्त्रम्', 'सि' से 'सेत्रम्', 'सिच्' से 'सेक्त्रम्', 'मिह्' से 'मेढ्रम्', 'पत्' से 'पत्त्रम्', 'दश्' से 'दंष्ट्रा', 'नह्' से 'नद्ध्री' और 'नी' से 'नेत्रम्' रूप सिद्ध होंगे।

८४६. अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः । ३ । २ । १८४

अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

८४६. अर्तीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अर्ति—चरः) ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् और चर् से (इत्रः) 'इत्र' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '८४४—दाम्नी-शस—०' से 'करणे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—करण कारक में ऋ (जाना), लू (काटना), धू (कंपाना), सू (प्रेरणा देना), खन् (खनना), सह् (सहना) और चर् (चलना या खाना)—इन सात धातुओं से 'इत्र' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए करण कारक में 'ऋ' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'इत्र' होकर 'ऋ इत्र' रूप बनेगा। तब आर्धधातुक गुण हो 'अर् इत्र' = 'अरित्र' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'अरित्रम्' (नाव चलाने का डंडा) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'लू' से 'लवित्रम्', 'धू' से 'धवित्रम्', 'सू' से 'सवित्रम्', 'खन्' से 'खनित्रम्', 'सह्' से 'सहित्रम्' और 'चर्' से 'चरित्रम्' रूप बनते हैं।

८४७. पुवः संज्ञायाम् । ३ । २ । १८५

पवित्रम्।

इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम्।

८४७. पुव इति—शब्दार्थ है—(संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में (पुवः†) 'पूङ्' और 'पूञ्' से...। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए '८४४—दाम्नीशस—०' से 'करणे' तथा '८४६—अर्ति-लू—०' से 'इत्रः' की

* 'तीति क्तिन्क्तिचोः सामान्यग्रहणम्'—काशिका।

† 'पूङ्पूञोः सामान्येन ग्रहणम्'—काशिका।

अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संज्ञा अर्थ में करण कारक में 'पूङ्' (भ्वादि०, निर्मल करना) और 'पूञ्' (क्र्यादि०, निर्मल करना) से 'इत्र' प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि यदि समुदाय संज्ञावाचक हो तो करण कारक में 'पू' (पूङ्, पूञ्) से 'इत्र' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'पूयते अनेन' (इससे शुद्ध किया जाता है)—इस विग्रह में 'पू' (पूङ्, पूञ्) से 'इत्र' होकर 'पू इत्र' रूप बनता है। यहां आर्धधातुक गुण, अवादेश और प्रातिपदिक संज्ञा आदि होकर प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'पवित्रम्' रूप सिद्ध होता है।

पूर्वकृदन्तप्रकरण समाप्त।

उणादयः

(उ०) कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण् । करोतीति–कारुः । वातीति–वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौपधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः । आशु–शीघ्रम् ।

८४८. उणादयो बहुलम् । ३ । ३ । १

एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः । केचिदविहिता अप्यूह्याः ।

'संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥'

इत्युणादयः ।

८४८. उणादय इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उणादयः) 'उण्' आदि (बहुलम्) बहुल होते हैं । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'वर्तमाने लट्' ३.२.१२३ से 'वर्तमाने' तथा 'पुवः संज्ञायाम्' ३.२.१८५ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'धातोः' ३.१.९१ का यहां अधिकार प्राप्त है । 'बहुल' का अर्थ इस प्रकार बताया गया है—

'क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥'

(कहीं प्रवृत्त होना, कहीं न होना, कहीं विकल्प से होना और कहीं अन्य के स्थान में अन्य कार्य होना—यह चार प्रकार का कार्य 'बाहुलक' कहलाता है ।)

इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वर्तमान काल में संज्ञा अर्थ में धातु से 'उण्' आदि प्रत्यय बहुलता से होते हैं । 'उण्' आदि प्रत्ययों का विधान 'उणादिसूत्र' में हुआ है । उदाहरण के लिए 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्' (उणा० १।१) से 'कृ', 'वा', 'पा', 'जि', 'मि', 'स्वद्', 'साध्' और 'अश्' धातु से 'उण्' प्रत्यय होता है । 'उण्' का णकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'उ' ही शेष रह जाता है । 'कृ' से 'उण्' होकर 'कृ उ' रूप बनने पर वृद्धि–'आर्' होकर 'क् आर् उ' = 'कारु' रूप बनता है । यहां प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'कारुः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'वा' से 'वायुः', 'पा' से 'पायुः', 'जि' से 'जायुः', 'मि' से 'मायुः', 'स्वद्' से 'स्वादुः', 'साध्' से 'साधुः' और 'अश्' से 'आशु' रूप बनते हैं ।

उणादिप्रकरण समाप्त ।

उत्तरकृदन्तम्

८४९. तुमुन्ण्वुलौ[1] क्रियायां[7] क्रियार्थायाम्[7] । ३ । ३ । १०

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति।

८४९. तुमुन्निति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्रियार्थायाम्) क्रियार्थ (क्रियायां) क्रिया उपपद रहने पर (तुमुन्ण्वुलौ) 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय होते हैं। किन्तु यह प्रत्यय-विधान किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'भविष्यति गम्यादयः' ३.३.३ से 'भविष्यति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उपपद' से 'समीप रहना' अर्थ लिया जाता है, चाहे वह आगे रहे या पीछे। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्रियार्थ क्रिया के उपपद रहने पर भविष्यत् अर्थ में धातु* से 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय होते हैं। तात्पर्य यह कि जिस क्रिया के लिए दूसरी क्रिया की जाती है, उससे भविष्यत् अर्थ में 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय होते हैं। 'तुमुन्' का 'उन्' इत्संज्ञक है, अतः 'तुम्' ही शेष रहता है। '३६९—कृन्मेजन्तः' से इसकी अव्यय संज्ञा होने के कारण यह भाव अर्थ में होता है। 'ण्वुल्' में केवल 'वु' ही शेष रह जाता है, और उसके स्थान पर भी '७८५—युवोरनाकौ' से 'अक' आदेश हो जाता है। यह प्रत्यय कर्ता-अर्थ में होता है। उदाहरण के लिए 'कृष्णं द्रष्टुं याति' (कृष्ण को देखने के लिए जाता है) में 'गमन' क्रिया 'दर्शन' क्रिया के लिए हो रही है। अतः क्रियार्थ 'गमन' क्रिया 'या' धातु के समीप रहते भविष्यत् अर्थ में 'दृश्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय हो 'दृश् तुम्' रूप बनेगा। तब अमागम, मकार-लोप और यणादेश आदि होकर 'द्रष्टुं' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'दृश्' से 'ण्वुल्' प्रत्यय हो 'दर्शकः' रूप बनता है।

८५०. काल-समय-वेलासु[7] तुमुन्[1] । ३ । ३ । १६७

कालार्थेषूपपदेषु तुमुन्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्।

८५०. कालेति—शब्दार्थ है—(काल—वेलासु) काल, समय और वेला के उपपद रहने पर (तुमुन्) 'तुमुन्' होता है। इसके अधिक स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—काल, समय और वेला—इन शब्दों के उपपद रहने पर धातु से 'तुमुन्'

---

* 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार होने से इसका ग्रहण होता है।

प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कालः समयो वेला वा भोक्तुम्' (भोजन का समय है) में काल आदि शब्द उपपद रहने के कारण प्रकृत सूत्र से 'भुज्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय हो 'भुज् तुम्' रूप बनता है। इस स्थिति में लघूपधगुण और कुत्व आदि होकर 'भोक्तुम्' रूप सिद्ध होता है।

८५१. भावे७ । ३ । ३ । १८

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः।

८५१. भावे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भावे) भाव अर्थ में···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' ३.३.१६ से 'घञ्' तथा अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव अर्थ में धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है। भाव दो प्रकार का होता है—साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न। यहां सिद्धावस्थापन्न भाव अभिप्रेत है।* उदाहरण के लिए भाव में 'पच्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय हो 'पच् घञ्' रूप बनता है। 'घञ्' के घकार और ञकार इत्संज्ञक हैं, अतः उनका लोप हो 'पच् अ' रूप बनेगा। तब उपधा-वृद्धि और कुत्व हो 'पाक' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'पाकः' रूप सिद्ध होता है।

८५२. अकर्तरि७ च कारके७ संज्ञायाम्७ । ३ । ३ । १९

कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात्।

८५२. अकर्तरीति—शब्दार्थ है—(च) और (संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में (अकर्तरि कारके) कर्ता-भिन्न कारक में···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पदरुज–०' ३.३.१६ से 'घञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संज्ञा अर्थ में कर्ता-भिन्न कारक (कर्ता कारक को छोड़कर अन्य किसी भी कारक) में धातु† से 'घञ्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'रज्यतेऽनेन' (इससे रंगा जाता है)—इस अर्थ में 'रञ्ज्' धातु से करण कारक में प्रकृत सूत्र द्वारा 'घञ्' प्रत्यय होकर 'रञ्ज् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८५३. घञि७ च भावकरणयोः७ । ६ । ४ । २७

रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः। अनयोः किम्–रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।

८५३. घञि चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (घञि) घञ् परे होने

---

* 'धात्वर्थश्च धातुनैवोच्यते, यस्तस्य सिद्धता नाम धर्मस्तत्र घञादयः प्रत्यया विधीयन्ते'—काशिका।

† यहां भी 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार प्राप्त है।

पर (भावकरणयोः) भाव और करण अर्थ में ··· । किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रञ्जेश्च' ६.४.२६ से 'रञ्जेः' तथा 'श्नान्नलोपः' ६.४.२३ से 'नलोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और करण कारक में 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप होता है । उदाहरण के लिए 'रञ्ज् अ' में करण कारक में 'रञ्ज्' धातु के बाद 'अ' (घञ्) प्रत्यय आया है, अतः प्रकृत सूत्र से 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप होकर 'रज् अ' = 'रज' रूप बनता है । यहां उपधा-वृद्धि और कुत्व आदि होकर 'राग' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रागः' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप भाव और करण कारक में ही होता है, अन्य कारकों में नहीं । उदाहरण के लिए 'रज्यत्यस्मिन्' (इसमें रंगा जाता है)—इस अर्थ में अधिकरण कारक में पूर्वसूत्र (८५२) से 'रञ्ज्' धातु से 'घञ्' होकर 'रञ्ज् अ' रूप बनता है । यहां भी 'रञ्ज्' धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय परे है, किन्तु 'रञ्ज्' धातु भाव या करण कारक में नहीं है । अतः प्रकृत सूत्र से उसके नकार का लोप भी नहीं होता है । इस स्थिति में केवल कुत्व और पर-सवर्ण हो 'रङ्ग' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रङ्गः' रूप सिद्ध होता है ।

८५४. [७]निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः[१] । ३ । ३ । ४१

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानम्—राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः ।

८५४. निवासेति—शब्दार्थ है—(निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेषु) निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थ में···(च) और (आदेः) आदि के स्थान पर (कः) ककार होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'हस्तादाने चेरस्तेये' ३.३.४० से 'चेः' तथा 'पदरुज—०' ३.३.१६ से 'घञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—निवास, चिति (चेतना), शरीर और उपसमाधान (राशीकरण—ढेर लगाना) अर्थ में चिञ् (स्वादि०, इकट्ठा करना) धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय होता है और आदिवर्ण के स्थान पर ककार होता है । 'चिञ्' के आदि में चकार है, अतः उसी के स्थान पर ककार आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'नि'-पूर्वक 'चिञ्' धातु से निवास अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय तथा आदि चकार के स्थान पर ककार होकर 'नि कि अ' रूप बनेगा । तब आर्धधातुक गुण, अयादेश और उपधा-वृद्धि होकर 'निकाय' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'निकायः' रूप सिद्ध होता है ।

प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कालः समयो वेला वा भोक्तुम्' (भोजन का समय है) में काल आदि शब्द उपपद रहने के कारण प्रकृत सूत्र से 'भुज्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय हो 'भुज् तुम्' रूप बनता है। इस स्थिति में लघूपधगुण और कुत्व आदि होकर 'भोक्तुम्' रूप सिद्ध होता है।

८५१. भावे । ३ । ३ । १८

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः।

८५१. भावे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भावे) भाव अर्थ में··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' ३.३.१६ से 'घञ्' तथा अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव अर्थ में धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है। भाव दो प्रकार का होता है—साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न। यहां सिद्धावस्थापन्न भाव अभिप्रेत है।* उदाहरण के लिए भाव में 'पच्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय हो 'पच् घञ्' रूप बनता है। 'घञ्' के घकार और ञकार इत्संज्ञक हैं, अतः उनका लोप हो 'पच् अ' रूप बनेगा। तब उपधा-वृद्धि और कुत्व हो 'पाक' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'पाकः' रूप सिद्ध होता है।

८५२. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । ३ । ३ । १९

कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात्।

८५२. अकर्तरीति—शब्दार्थ है—(च) और (संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में (अकर्तरि कारके) कर्ता-भिन्न कारक में··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पदरुज–०' ३.३.१६ से 'घञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संज्ञा अर्थ में कर्ता-भिन्न कारक (कर्ता कारक को छोड़कर अन्य किसी भी कारक) में धातु† से 'घञ्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'रज्यतेऽनेन' (इससे रंगा जाता है)—इस अर्थ में 'रञ्ज्' धातु से करण कारक में प्रकृत सूत्र द्वारा 'घञ्' प्रत्यय होकर 'रञ्ज् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८५३. घञि च भावकरणयोः । ६ । ४ । २७

रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः। अनयोः किम्—रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।

८५३. घञि चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (घञि) घञ् परे होने

* 'धात्वर्थश्च धातुनैवोच्यते, यस्तस्य सिद्धता नाम धर्मस्तत्र घञादयः प्रत्यया विधीयन्ते'—काशिका।

† यहां भी 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार प्राप्त है।

पर (भावकरणयोः) भाव और करण अर्थ में ·· । किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रञ्जेश्च' ६.४.२६ से 'रञ्जेः' तथा 'श्नान्नलोपः' ६.४.२३ से 'नलोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और करण कारक में 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप होता है । उदाहरण के लिए 'रञ्ज् अ' में करण कारक में 'रञ्ज्' धातु के बाद 'अ' (घञ्) प्रत्यय आया है, अतः प्रकृत सूत्र से 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप होकर 'रज् अ' = 'रज' रूप बनता है । यहां उपधा-वृद्धि और कुत्व आदि होकर 'राग' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रागः' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप भाव और करण कारक में ही होता है, अन्य कारकों में नहीं । उदाहरण के लिए 'रज्यत्यस्मिन्' (इसमें रंगा जाता है)—इस अर्थ में अधिकरण कारक में पूर्वसूत्र (८५२) से 'रञ्ज्' धातु से 'घञ्' होकर 'रञ्ज् अ' रूप बनता है । यहां भी 'रञ्ज्' धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय परे है, किन्तु 'रञ्ज्' धातु भाव या करण कारक में नहीं है । अतः प्रकृत सूत्र से उसके नकार का लोप भी नहीं होता है । इस स्थिति में केवल कुत्व और पर-सवर्ण हो 'रङ्ग' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रङ्गः' रूप सिद्ध होता है ।

८५४. [७]निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः[१] । ३ । ३ । ४१

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानम्—राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः ।

८५४. निवासेति—शब्दार्थ है—(निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेषु) निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थ में···(च) और (आदेः) आदि के स्थान पर (कः) ककार होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'हस्तादाने चेरस्तेये' ३.३.४० से 'चेः' तथा 'पदरुज–०' ३.३.१६ से 'घञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—निवास, चिति (चेतना), शरीर और उपसमाधान (राशीकरण–ढेर लगाना) अर्थ में चिञ् (स्वादि०, इकट्ठा करना) धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय होता है और आदिवर्ण के स्थान पर ककार होता है । 'चिञ्' के आदि में चकार है, अतः उसी के स्थान पर ककार आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'नि'-पूर्वक 'चिञ्' धातु से निवास अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय तथा आदि चकार के स्थान पर ककार होकर 'नि कि अ' रूप बनेगा । तब आर्धधातुक गुण, अयादेश और उपधा-वृद्धि होकर 'निकाय' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'निकायः' रूप सिद्ध होता है ।

प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कालः समयो वेला वा भोक्तुम्' (भोजन का समय है) में काल आदि शब्द उपपद रहने के कारण प्रकृत सूत्र से 'भुज्' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय हो 'भुज् तुम्' रूप बनता है। इस स्थिति में लघूपधगुण और कुत्व आदि होकर 'भोक्तुम्' रूप सिद्ध होता है।

८५१. भावे । ३ । ३ । १८

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः।

८५१. भावे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भावे) भाव अर्थ में··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'पदरुजविशस्पृशो घञ्' ३.३.१६ से 'घञ्' तथा अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव अर्थ में धातु से 'घञ्' प्रत्यय होता है। भाव दो प्रकार का होता है—साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न। यहां सिद्धावस्थापन्न भाव अभिप्रेत है।* उदाहरण के लिए भाव में 'पच्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय हो 'पच् घञ्' रूप बनता है। 'घञ्' के घकार और ञकार इत्संज्ञक हैं, अतः उनका लोप हो 'पच् अ' रूप बनेगा। तब उपधा-वृद्धि और कुत्व हो 'पाक' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'पाकः' रूप सिद्ध होता है।

८५२. अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । ३ । ३ । १९

कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात्।

८५२. अकर्तरीति—शब्दार्थ है—(च) और (संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में (अकर्तरि कारके) कर्ता-भिन्न कारक में··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'पदरुज–०' ३.३.१६ से 'घञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संज्ञा अर्थ में कर्ता-भिन्न कारक (कर्ता कारक को छोड़कर अन्य किसी भी कारक) में धातु† से 'घञ्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'रज्यतेऽनेन' (इससे रंगा जाता है)—इस अर्थ में 'रञ्ज्' धातु से करण कारक में प्रकृत सूत्र द्वारा 'घञ्' प्रत्यय होकर 'रञ्ज् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८५३. घञि च भावकरणयोः । ६ । ४ । २७

रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः। अनयोः किम्–रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।

८५३. घञि चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (घञि) घञ् परे होने

---

* 'धात्वर्थश्च धातुनैवोच्यते, यस्तस्य सिद्धता नाम धर्मस्तत्र घञादयः प्रत्यया विधीयन्ते'—काशिका।

† यहां भी 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार प्राप्त है।

पर (भावकरणयोः) भाव और करण अर्थ में ·· । किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'रञ्जेश्च' ६.४.२६ से 'रञ्जेः' तथा 'श्नान्नलोपः' ६.४.२३ से 'नलोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और करण कारक में 'घञ्' प्रत्यय परे होने पर 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप होता है । उदाहरण के लिए 'रञ्ज् अ' में करण कारक में 'रञ्ज्' धातु के बाद 'अ' (घञ्) प्रत्यय आया है, अतः प्रकृत सूत्र से 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप होकर 'रज् अ' = 'रज' रूप बनता है । यहां उपधा-वृद्धि और कुत्व आदि होकर 'राग' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रागः' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि 'रञ्ज्' धातु के नकार का लोप भाव और करण कारक में ही होता है, अन्य कारकों में नहीं । उदाहरण के लिए 'रज्यत्यस्मिन्' (इसमें रंगा जाता है)—इस अर्थ में अधिकरण कारक में पूर्वसूत्र (८५२) से 'रञ्ज्' धातु से 'घञ्' होकर 'रञ्ज् अ' रूप बनता है । यहां भी 'रञ्ज्' धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय परे है, किन्तु 'रञ्ज्' धातु भाव या करण कारक में नहीं है । अतः प्रकृत सूत्र से उसके नकार का लोप भी नहीं होता है । इस स्थिति में केवल कुत्व और पर-सवर्ण हो 'रङ्ग' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'रङ्गः' रूप सिद्ध होता है ।

८५४. [७]निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः[१] । ३ । ३ । ४१

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानम्—राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः ।

८५४. निवासेति—शब्दार्थ है—(निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेषु) निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थ में···(च) और (आदेः) आदि के स्थान पर (कः) ककार होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'हस्तादाने चेरस्तेये' ३.३.४० से 'चेः' तथा 'पदरुज—०' ३.३.१६ से 'घञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—निवास, चिति (चेतना), शरीर और उपसमाधान (राशीकरण—ढेर लगाना) अर्थ में चिञ् (स्वादि०, इकट्ठा करना) धातु से 'घञ्' (अ) प्रत्यय होता है और आदिवर्ण के स्थान पर ककार होता है । 'चिञ्' के आदि में चकार है, अतः उसी के स्थान पर ककार आदेश होता है । उदाहरण के लिए 'नि'-पूर्वक 'चिञ्' धातु से निवास अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय तथा आदि चकार के स्थान पर ककार होकर 'नि कि अ' रूप बनेगा । तब आर्धधातुक गुण, अयादेश और उपधा-वृद्धि होकर 'निकाय' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'निकायः' रूप सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार शरीर अर्थ में 'कायः' और उपसमाधान अर्थ में 'गोमय-निकायः' (गोबर का ढेर) रूप बनते हैं।

८५५. एरच् । ३ । ३ । ५६

इवर्णान्ताद् अच्। चयः । जयः ।

८५५. एरजिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एः) इवर्ण से (अच्) 'अच्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'एः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में इवर्णान्त धातु (जिसके अन्त में इकार या ईकार हो) से 'अच्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'घञ्' प्रत्यय का बाधक है और सामान्य रूप से इवर्णान्त धातुओं से 'अच्' का विधान करता है। 'अच्' में चकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'अ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए भाव अर्थ में इकारान्त 'चि' (चुरादि०, इकट्ठा करना) धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'अच्' प्रत्यय होकर 'चि अ' रूप बनता है। यहां आर्धधातुक गुण और अयादेश होकर 'चय् अ' = 'चय' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'चयः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भाव अर्थ में इकारान्त 'जि' (जीतना) धातु से 'जयः' रूप बनता है।

८५६. ऋदोरप् । ३ । ३ । ५७

ऋदन्तादुवर्णान्ताद् अप्। करः । गरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः ।
(वा०) घञर्थे कविधानम्। प्रस्थः । विघ्नः ।

८५६. ऋदोरिति—शब्दार्थ है—(ऋदोः) ऋकार और उवर्ण से (अप्) 'अप्' होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए पूर्ववत् अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ऋदोः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में ऋकारान्त और उवर्णान्त (जिसके अन्त में उकार या ऊकार हो) धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है। यह भी 'घञ्' प्रत्यय का बाधक है। 'अप्' का पकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'अ' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए भाव अर्थ में ऋकारान्त 'कॄ' (बिखेरना) धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर 'कॄ अ' रूप बनेगा। तब आर्धधातुक गुण होकर 'क् अर् अ' = 'कर' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'करः' रूप सिद्ध होता है। इसी

प्रकार ऋकारान्त 'गृ' (निगलना) से 'गरः' रूप बनता है। उवर्णान्त धातु का उदाहरण 'यवः' में मिलता है। यहां 'यु' (मिलाना) धातु से 'अप्' होकर 'यु अ' रूप बनने पर आर्धधातुक गुण और अवादेश होकर 'य् अव् अ' = 'यव' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'यवः' रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'लू' (काटना) से 'लवः', 'स्तु' (स्तुति करना) से 'स्तवः' और 'पू' (पवित्र करना) से 'पवः' रूप बनते हैं।

(वा०) घञर्थे इति—अर्थ है—जिस अर्थ में 'घञ्' होता है, उस अर्थ में 'क' प्रत्यय भी हो। 'भावे' (सू० सं० ८५१) और '८५२–अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' से भाव और कर्ता-भिन्न संज्ञा अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होता है, अतः इन्हीं स्थलों पर प्रस्तुत वार्तिक से 'क' प्रत्यय का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्' (इसमें प्रतिष्ठापित होते हैं)—इस विग्रह में 'प्र'पूर्वक 'स्था' धातु से अधिकरण में 'क' प्रत्यय होकर 'प्रस्था अ' रूप बनेगा। यहां धातु के आकार का लोप होकर 'प्रस्थ् अ' = 'प्रस्थ' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'प्रस्थः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वि'पूर्वक 'हन्' धातु से भी अधिकरण में 'क' (अ) प्रत्यय होकर 'विघ्नः'* रूप सिद्ध होगा।

८५७. ड्वितः क्त्रिः । ३ । ३ । ८८

८५७. ड्वित इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ड्वितः†) जिसका 'डु' इत् हो, उससे (क्त्रिः) 'क्त्रि' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्ववत् 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ड्वितः' का अन्वय 'धातोः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि धातु का 'डु' इत् हो, तो उससे भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में 'क्त्रि' प्रत्यय होता है। 'क्त्रि' का ककार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'त्रि' शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'पच्' (डुपचष्–पकाना) धातु का 'डु' इत्संज्ञक है, क्योंकि '४६२–आदिर्ञिटुडवः' से इत्संज्ञा हो उसका लोप हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से भाव अर्थ में उससे 'क्त्रि' प्रत्यय होकर 'पच् त्रि' रूप बनता है। इस स्थिति में कुत्व होकर 'पक्त्रि' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८५८. क्त्रेर्मम् नित्यम् । ४ । ४ । २०

क्त्रिप्रत्ययान्तात् मम् निर्वृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्। डुवप्-उप्त्रिमम्।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए इसकी रूप-सिद्धि देखिये।

† इसका विग्रह यों है—'डु इत् यस्य सः ड्वित् तस्मात्'।

इसी प्रकार शरीर अर्थ में 'कायः' और उपसमाधान अर्थ में 'गोमय-निकायः' (गोबर का ढेर) रूप बनते हैं।

८५५. एरच् । ३ । ३ । ५६

इवर्णान्ताद् अच् । चयः । जयः ।

८५५. एरजिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एः) इवर्ण से (अच्) 'अच्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'एः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में इवर्णान्त धातु (जिसके अन्त में इकार या ईकार हो) से 'अच्' प्रत्यय होता है। यह सूत्र 'घञ्' प्रत्यय का बाधक है और सामान्य रूप से इवर्णान्त धातुओं से 'अच्' का विधान करता है। 'अच्' में चकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'अ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए भाव अर्थ में इकारान्त 'चि' (चुरादि०, इकट्ठा करना) धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'अच्' प्रत्यय होकर 'चि अ' रूप बनता है। यहां आर्धधातुक गुण और अयादेश होकर 'चय् अ' = 'चय' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'चयः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भाव अर्थ में इकारान्त 'जि' (जीतना) धातु से 'जयः' रूप बनता है।

८५६. ऋदोरप् । ३ । ३ । ५७

ऋदन्तादुवर्णान्ताद् अप् । करः । गरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः ।
(वा०) घञर्थे कविधानम् । प्रस्थः । विघ्नः ।

८५६. ऋदोरिति—शब्दार्थ है—(ऋदोः) ऋकार और उवर्ण से (अप्) 'अप्' होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए पूर्ववत् अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ऋदोः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में ॠकारान्त और उवर्णान्त (जिसके अन्त में उकार या ऊकार हो) धातु से 'अप्' प्रत्यय होता है। यह भी 'घञ्' प्रत्यय का बाधक है। 'अप्' का पकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'अ' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए भाव अर्थ में ॠकारान्त 'कॄ' (बिखेरना) धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर 'कॄ अ' रूप बनेगा। तब आर्धधातुक गुण होकर 'क् अर् अ' = 'कर' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'करः' रूप सिद्ध होता है। इसी

प्रकार ॠकारान्त 'गॄ' (निगलना) से 'गरः' रूप बनता है। उवर्णान्त धातु का उदाहरण 'यवः' में मिलता है। यहां 'यु' (मिलाना) धातु से 'अप्' होकर 'यु अ' रूप बनने पर आर्धधातुक गुण और अवादेश होकर 'य् अव् अ' = 'यव' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'यवः' रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'लू' (काटना) से 'लवः', 'स्तु' (स्तुति करना) से 'स्तवः' और 'पू' (पवित्र करना) से 'पवः' रूप बनते हैं।

(वा०) घञर्थे इति—अर्थ है—जिस अर्थ में 'घञ्' होता है, उस अर्थ में 'क' प्रत्यय भी हो। 'भावे' (सू० सं० ८५१) और '८५२–अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' से भाव और कर्ता-भिन्न संज्ञा अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होता है, अतः इन्हीं स्थलों पर प्रस्तुत वार्तिक से 'क' प्रत्यय का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्' (इसमें प्रतिष्ठापित होते हैं)—इस विग्रह में 'प्र'पूर्वक 'स्था' धातु से अधिकरण में 'क' प्रत्यय होकर 'प्रस्था अ' रूप बनेगा। यहां धातु के आकार का लोप होकर 'प्रस्थ् अ' = 'प्रस्थ' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'प्रस्थः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वि'पूर्वक 'हन्' धातु से भी अधिकरण में 'क' (अ) प्रत्यय होकर 'विघ्नः'* रूप सिद्ध होगा।

८५७. ड्वितः क्त्रिः । ३ । ३ । ८८

८५७. ड्वित इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ड्वितः†) जिसका 'डु' इत् हो, उससे (क्त्रिः) 'क्त्रि' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्ववत् 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ड्वितः' का अन्वय 'धातोः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि धातु का 'डु' इत् हो, तो उससे भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में 'क्त्रि' प्रत्यय होता है। 'क्त्रि' का ककार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'त्रि' शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'पच्' (डुपचष्—पकाना) धातु का 'डु' इत्संज्ञक है, क्योंकि '४६२–आदिर्ञिटुडवः' से इत्संज्ञा हो उसका लोप हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से भाव अर्थ में उससे 'क्त्रि' प्रत्यय होकर 'पच् त्रि' रूप बनता है। इस स्थिति में कुत्व होकर 'पक्त्रि' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८५८. क्त्रेर्मम् नित्यम् । ४ । ४ । २०

क्त्रिप्रत्ययान्तात् मम् निर्वृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्। डुवप्-उप्त्रिमम्।

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए इसकी रूप-सिद्धि देखिये।

† इसका विग्रह यों है—'डु इत् यस्य सः ड्वित् तस्मात्'।

८५८. क्त्रेरिति—शब्दार्थ है—(क्त्रेः) 'क्त्र' से (नित्यम्) नित्य ही (मप्) 'मप्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'निर्वृत्ते–०' ४.४.१९ से 'निर्वृत्ते' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से "क्त्र' से 'क्त्र'प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—निर्वृत्त (सिद्ध) अर्थ में 'क्त्र'-प्रत्ययान्त से 'मप्' प्रत्यय नित्य ही होता है। 'नित्य ही' कहने से स्वतन्त्र 'क्त्र'-प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग का अभाव दिखाया गया है।* 'मप्' का पकार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाने से केवल 'म' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'पक्त्रि' 'क्त्र'-प्रत्ययान्त है, अतः उससे निर्वृत्त अर्थ में 'मप्' होकर 'पक्त्रिम' रूप बनेगा। तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग एकवचन में 'पक्त्रिमम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'डु' इत् वाली 'वप्' (डुवप–बोना) धातु से 'उप्त्रिमम्' रूप बनता है।

८५९. ट्वितोऽथुच् । ३ । ३ । ८९

टुवेपृ कम्पने । वेपथुः ।

८५९. ट्वित इति—सूत्र का शब्दार्थ है†—(ट्वितः) जिसका 'टु' इत् हो उससे (अथुच्) 'अथुच्' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ और 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ताभिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में ट्वित् धातु (जिसका 'टु' इत्संज्ञक हो) से 'अथुच्' प्रत्यय होता है। 'अथुच्' का अन्त्य चकार इत्संज्ञक है, अतः 'अथु' शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'वेप्' (टुवेपृ–कांपना) धातु ट्वित् है, अतः प्रकृत सूत्र से 'अथुच्' होकर 'वेप् अथु' = 'वेपथु' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'वेपथुः' रूप सिद्ध होता है।

८६०. यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् । ३ । ३ । ९०

यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ।

८६०. यजेति—शब्दार्थ है—(यज–रक्षः) यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् से (नङ्) 'नङ्' होता है। इसके भी स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'भावे' ३.३.१८ और 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ

* 'नित्यग्रहणं स्वातन्त्र्यनिवृत्त्यर्थम्। तेन क्त्र्यन्तं नित्यं मप्प्रत्ययान्तमेव भवति'—काशिका।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ८५७ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

में यज् (यज्ञ, हवन करना), याच् (मांगना), यत् (प्रयत्न करना), विच्छ् (चमकना, चलना), प्रच्छ् (पूछना) और रक्ष् (रक्षण करना)-इन छः धातुओं से 'नङ्' प्रत्यय होता है। 'नङ्' का ङकार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाने पर 'न' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए भाव अर्थ में 'यज्' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'नङ्' होकर 'यज् न' रूप बनेगा। तब नकार को श्चुत्व-ञकार होने पर 'ज् ञ' मिलकर ज्ञकार हो 'यज्ञ' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'यज्ञः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'याच्' से 'याच्ञा', 'यत्' से 'यत्नः', 'विच्छ्' से 'विश्नः', 'प्रच्छ्' से 'प्रश्नः' और 'रक्ष्' से 'रक्ष्णः' रूप बनते हैं।

८६१. स्वपो[3] नन्[1] । ३ । ३ । ९१

स्वप्नः ।

८६१. स्वप्न इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्वपः) 'स्वप्' से (नन्) 'नन्' होता है। यहां भी 'भावे' ३.३.१८ और 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ का अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में 'स्वप्' (सोना) धातु से 'नन्' प्रत्यय होता है। 'नन्' का नकार इत्संज्ञक है, अतः 'न' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए भाव अर्थ में 'स्वप्' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'नन्' होकर 'स्वप् न' = 'स्वप्न' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'स्वप्नः' रूप सिद्ध होता है।

८६२. उपसर्गे[७] घोः[५] किः[१] । ३ । ३ । ९२

प्रधिः । उपधिः ।

८६२. उपसर्गे इति—शब्दार्थ है—(उपसर्गे) उपसर्ग उपपद रहने पर (घोः) घुसंज्ञक से (किः) 'कि' होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'भावे' ३.३.१८ और 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भाव और कर्ता-भिन्न कारक में संज्ञा अर्थ में उपसर्ग उपपद रहते घुसंज्ञक* धातुओं से 'कि' प्रत्यय होता है। 'कि' का ककार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'इ' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'प्र' उपसर्ग-पूर्वक घुसंज्ञक 'धा' धातु से भाव में प्रकृत सूत्र द्वारा 'कि' होकर 'प्र धा इ' रूप बनेगा। तब धातु के आकार का लोप हो 'प्र ध् इ' = 'प्रधि' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'प्रधिः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'उप' पूर्वक 'धा' धातु से 'उपधिः' रूप बनता है।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ६२३ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

८६३. स्त्रियां क्तिन् । ३ । ३ । ९४

स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् । घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः ।

(वा०) ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः । तेन नत्वम् । कीर्णिः । लूनिः । धूनिः । पूनिः ।

(वा०) संपदादिभ्यः क्विप् । संपत् । विपत् । आपत् । क्तिन्नपीष्यते । सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ।

८६३. स्त्रियामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्त्रियां) स्त्रीलिङ्ग में (क्तिन्) 'क्तिन्' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग में भाव और कर्ताभिन्न कारक में (संज्ञा अर्थ में) धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होता है। यह पूर्वकथित 'घञ्', 'अच्', 'अप्' आदि प्रत्ययों का अपवाद है। 'क्तिन्' के ककार और नकार इत्संज्ञक हैं, अतः उनका लोप हो 'ति' शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए स्त्रीलिङ्ग भाव में 'कृ' धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा 'क्तिन्' होकर 'कृ ति' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'कृतिः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'स्तु' धातु से 'स्तुतिः' रूप बनता है।

(वा०) ऋल्वादिभ्य इति—अर्थ है—ऋकारान्त और 'लू' (काटना) आदि धातुओं से 'क्तिन्' निष्ठा के समान होता है। 'निष्ठा के समान' कहने का प्रयोजन '८१६–रदाभ्यां निष्ठातो–०' से 'क्तिन्' (ति) के तकार के स्थान में नकार करना है। उदाहरण के लिए ऋकारान्त 'कॄ' (बिखेरना) धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय हो 'कॄ ति' रूप बनने पर ऋकार को 'इर्' और दीर्घ-भाव होकर 'कीर्ति' रूप बनेगा। तब प्रस्तुत वार्तिक से निष्ठावद्भाव होने पर 'ति' के तकार के स्थान पर नकार हो 'कीर्नि' रूप बनने पर णत्व होकर 'कीर्णि' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'कीर्णिः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'लू' से 'लूनिः', 'धू' (कांपना) से 'धूनिः' और 'पू' (शुद्ध करना) से 'पूनिः' रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) संपदादिभ्य इति—अर्थ है—'संपद्' आदि* से 'क्विप्' प्रत्यय होता है। 'क्विप्' में ककार, पकार और इकार के इत्संज्ञक होने से उनका लोप हो केवल 'व्' ही शेष रह जाता है। उसका भी '३०३–वेरपृक्तस्य' से लोप हो जाता है। इस प्रकार 'क्विप्' में कुछ भी शेष नहीं रहता। उदाहरण के लिए 'संपद्' से 'क्विप्' और उसका सर्वापहार लोप हो 'संपद्' रूप बनता है। तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर

---

* यह आकृतिगण है। विस्तृत विवरण के लिए देखिये परिशिष्ट में 'गणपाठ'।

प्रथमा के एकवचन में 'संपत्' रूप सिद्ध होता है। 'वि'पूर्वक 'पद्' धातु से इसी प्रकार 'विपत्' और 'आ'पूर्वक 'पद्' धातु से 'आपत्' रूप बनते हैं। 'क्विप्' प्रत्यय के साथ उक्त उपसर्गों के पूर्व रहने पर 'पद्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय भी होता है। 'क्तिन्' प्रत्यय होने पर क्रमशः 'संपत्तिः', 'विपत्तिः' और 'आपत्तिः' रूप बनते हैं। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग भाव और कर्तृभिन्न कारक में 'सम्पद्' आदि के रूप दो प्रकार से बनते हैं—'क्विप्' प्रत्यय होकर तथा 'क्तिन्' प्रत्यय होकर।

८६४. ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयश्च । ३ । ३ । ९७

एते निपात्यन्ते ।

८६४. ऊतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ऊति —कीर्तयः) ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति शब्दों का निपातन* होता है। ये सभी क्तिन् (ति)—प्रत्ययान्त शब्द हैं, अतः क्तिन् प्रत्यय होने पर ही ये निपातित होते हैं। 'ऊति' में उदात्तत्व, यूति और जूति में दीर्घत्व, साति में इत्त्वाभाव, हेति में इकारादेश और कीर्ति में 'क्तिन्' प्रत्यय का निपातन होता है। इन सभी शब्दों की साधन-प्रक्रिया इस प्रकार है—

(१) ऊति—'अव्' (रक्षण करना) धातु से 'क्तिन्' (ति) प्रत्यय हो 'अव ति' रूप बनने पर उदात्तत्व का निपातन होकर '८६५-ज्वर-त्वर-०' से 'अव्' के स्थान पर 'ऊठ्' (ऊ) हो 'ऊति' रूप बनता है।

(२) यूति और जूति—'यु' (मिलाना, अलग करना, आदि) धातु और 'जु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय हो क्रमशः 'युति' और 'जुति' रूप बनने पर दीर्घत्व का निपातन हो 'यूति' और 'जूति' रूप सिद्ध होते हैं।

(३) साति—'सो' (षो—नष्ट करना) धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय हो 'सो ति' रूप बनने पर '४९३-आदेच उपदेशे-०' से आकार-अन्तादेश हो 'सा ति' रूप बनता है। यहां 'द्यतिस्यति-०' ७.४.४० से पुनः धातु को इकारादेश प्राप्त होता है, किन्तु निपातन द्वारा उसका निषेध हो 'साति' रूप सिद्ध होता है। 'सन्' (षणु—देना) धातु से भी 'क्तिन्' प्रत्यय हो 'सन् ति' रूप बनने पर उदात्तत्व का निपातन और '६७६-जनसन-०' से आकार-अन्तादेश हो 'साति' रूप सिद्ध होता है।

(४) हेति—'हन्' (मारना) धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय हो 'हन् ति' रूप बनने पर निपातन द्वारा नकार को इकारादेश† हो 'ह इ ति' रूप बनता है। यहां '२७-आद्

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ३०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी देखिये।

† 'हन्तेरिति नकारस्येत्वम्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

गुणः' से गुणादेश हो 'हेति' रूप सिद्ध होता है। 'हि' (भेजना) धातु से भी 'क्तिन्' प्रत्यय हो 'हि ति' रूप बनने पर निपातन द्वारा गुणादेश* हो 'हेति' रूप सिद्ध होता है।

(५) कीर्ति—ण्यन्त 'कॄ' (बिखेरना) धातु से '८६९–ण्यासश्रन्थो–०' से 'युच्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु निपातन द्वारा उसका बाध हो 'क्तिन्' प्रत्यय हो जाता है।। तब 'इर्' आदेश और दीर्घत्व आदि होकर 'कीर्ति' रूप बनता है।

८६५. †ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधायाश्च । ६ । ४ । २०

एषामुपधावकारयोरूठ् अनुनासिके क्वौ झलादौ क्ङिति च। अतः क्विप्। जूः। तूः। स्रूः। ऊः। मूः।

८६५. ज्वरेति—सूत्रार्थ है—(ज्वर—मवाम्†) ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव् और मव् के...(च) तथा (उपधायाः) उपधा के स्थान पर...। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'च्छ्वोः–०' ६.४.१९ से 'वः', 'ऊठ्' और 'अनुनासिके' तथा 'अनुनासिकस्य–०' से 'क्विझलोः' और 'क्ङिति' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'क्वि' ('क्विप्' आदि) तथा अनुनासिक और झलादि कित्-ङित् प्रत्यय परे रहने पर ज्वर् (बीमार होना), त्वर् (जल्दी करना), स्रिव् (जाना, सूखना), अव् (रक्षण करना) और मव् (बांधना)–इन पांच धातुओं के वकार तथा उपधा (दोनों) के स्थान पर 'ऊठ्' (ऊ) आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'ज्वर्' धातु से 'क्विप्' तथा उसका सर्वापहार लोप हो 'ज्वर्' रूप बनता है। तब '१९०–प्रत्ययलोपे–०' परिभाषा से 'क्विप्' परे होने पर 'ज्वर्' धातु के वकार और उपधा-अकार के स्थान पर 'ऊठ्' हो 'ज् ऊ र्' = 'जूर्' रूप बनेगा। यहां प्रथमा के एकवचन में 'सु' प्रत्यय तथा उसका लोप और रुत्व-विसर्ग हो 'जूः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'क्विप्' प्रत्यय हो 'त्वर्' से 'तूः', 'स्रिव्' से 'स्रूः', 'अव्' से 'ऊः' और 'मव्' से 'मूः' रूप बनते हैं।

८६६. इच्छा । ३ । ३ । १०१

इषेर्निपातोऽयम्।

८६६. इच्छेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इच्छा) 'इच्छा' शब्द का निपातन‡ होता है। 'इष्' (इच्छा करना) धातु से 'श'-प्रत्यय और यगभाव का निपातन हो

---

* 'हिनोतेस्तु गुण इति बोध्यम्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† इनका विग्रह है—'ज्वर, त्वर, स्रिवि, अवि, मव एषां द्वन्द्वः'।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए २०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी देखिये।

'इष् अ' = 'इष' रूप बनता है। यहां 'इषुगमियमां छः' ७.३.७७ से षकार को छकारादेश हो 'इछ' रूप बनने पर तुक् आगम और श्चुत्व हो 'इच्छ' रूप बनेगा। इस स्थिति में स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय हो 'इच्छा' रूप सिद्ध होता है।

८६७. अ प्रत्ययात् । ३ । ३ । १०२

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात्। चिकीर्षा। पुत्रकाम्या।

८६७. अ प्रत्ययादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रत्ययात्) प्रत्यय से (अ) अकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'स्त्रियां क्तिन्' ३.३.९४ से 'स्त्रियाम्' और अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'प्रत्ययात्' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग में भाव और संज्ञार्थ कर्ता-भिन्न कारक में प्रत्ययान्त धातु (जिसके अन्त में कोई प्रत्यय हो) से 'अ' प्रत्यय होता है। यह '८६३–स्त्रियां क्तिन्' से प्राप्त 'क्तिन्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'चिकीर्ष' 'कृ' धातु का 'सन्' प्रत्ययान्त रूप है, अतः स्त्रीलिङ्ग भाव में प्रकृत सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष अ' रूप बनता है। तब धातु के अकार का लोप, टाप् और प्रातिपदिक संज्ञा आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'चिकीर्षा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'काम्यच्'–प्रत्ययान्त 'पुत्र-काम्य' से 'पुत्रकाम्या' रूप बनता है।

८६८. गुरोश्च हलः । ३ । ३ । १०३

गुरुमतो हलन्तात्स्त्रियाम् 'अ' प्रत्ययः स्यात्। ईहा।

८६८. गुरोरिति—शब्दार्थ है—(च) और (गुरोः)* गुरुमान् (हलः) हल् से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्ववत् 'स्त्रियां क्तिन्' ३.३.९४ से 'स्त्रियाम्' और अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'भावे' ३.३.१८ तथा 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३.३.१९ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'गुरोः' और 'हलः' 'धातोः' के विशेषण हैं। 'अ प्रत्ययात्' ३.३.१०२ से 'अ' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग में भाव और संज्ञार्थ कर्ता-भिन्न कारक में गुरुमान् (जिसमें कोई गुरुवर्ण हो) और हलन्त धातु से 'अ' प्रत्यय होता है। यह भी '८६३–स्त्रियां क्तिन्' का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'ईह्' (चेष्टा करना) धातु गुरुमान् है क्योंकि इसका ईकार गुरु है। साथ ही यह हलन्त भी है। अतः प्रकृत सूत्र से स्त्रीलिङ्ग भाव में 'अ' प्रत्यय हो 'ईह् अ' = 'ईह' रूप बनेगा। इस स्थिति में प्रातिपदिक संज्ञा हो टाप् आदि होने पर 'ईहा' रूप सिद्ध होता है।

---

* 'हल्' के साथ गुरुत्व असंभव होने से 'गुरु' का अर्थ 'गुरुमान्' हो जाता है।

८६९. ण्यासश्रन्थो[5] युच्[1] । ३ । ३ । १०७

अकारस्यापवादः । कारणा । हारणा ।

८६९. ण्यासेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ण्यासश्रन्थः[*]) णि, आस् और श्रन्थ् से (युच्) युच् होता है । किंतु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'स्त्रियां क्तिन्' ३.३.९४ से 'स्त्रियां' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'णि' से 'णि' प्रत्ययान्त का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'णि' प्रत्ययान्त, आस् (बैठना) और श्रन्थ् (छोड़ना, लिखना) इस धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में 'युच्' प्रत्यय होता है । 'युच्' का चकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'यु' ही शेष रहता है । उसके स्थान पर भी '७८५-युवोरनाकौ' से 'अन' आदेश हो जाता है । यह प्रत्यय '८६७-अ प्रत्ययात्' और '७६८-गुरोश्च हलः' से प्राप्त 'अ' प्रत्यय का अपवाद है । उदाहरण के लिए 'कारि' 'कृ' धातु का 'णि'-प्रत्ययान्त रूप है । अतः प्रकृत सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'युच्' (यु) और उसके स्थान पर 'अन' होकर 'कारि अन' रूप बनता है । तब णि-लोप और टाप् आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'कारणा' रूप बनता है । इसी प्रकार णि-प्रत्ययान्त 'हृ'(हरना) धातु के 'हारि' से 'हारणा' रूप सिद्ध होता है । 'आस्' से 'आसना' और 'श्रन्थ्' से 'श्रन्थना' भी इसी भांति 'युच्' प्रत्यय आदि होकर बनते हैं ।

८७०. नपुंसके[7] भावे[7] क्तः[1] । ३ । ३ । ११४

८७०. नपुंसके इति—शब्दार्थ है—(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग में (भावे) भाव अर्थ में (क्तः) 'क्त' होता है । यहां भी 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार प्राप्त है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—नपुंसकलिङ्ग में भाव अर्थ में धातु से 'क्त' प्रत्यय होता है । 'क्त' का ककार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप होकर 'त' शेष रह जाता है । उदाहरण के लिए 'हस्' धातु से नपुंसक भाव में प्रकृत सूत्र द्वारा 'क्त' प्रत्यय हो 'हस् त' रूप बनेगा । इस स्थिति में इडागम हो 'हसित' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'हसितम्' रूप सिद्ध होता है ।

८७१. ल्युट्[1] च॑ । ३ । ३ । ११५

हसितम् । हसनम् ।

८७१. ल्युट् चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ल्युट्) 'ल्युट्' होता है । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए '८७०-नपुंसके भावे-०' से 'नपुंसके' और 'भावे' तथा अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नपुंसकलिङ्ग

---

* इनका विग्रह है—'णिश्च आसश्च श्रन्थ् च इति ण्यासश्रन्थ् तस्मात्' ।

में भाव में धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय भी होता है। 'ल्युट्' के लकार और टकार इत्संज्ञक हैं, केवल 'यु' ही शेष रह जाता है। उसके स्थान पर भी '७८५-युवोरनाकौ' से 'अन' आदेश हो जाता है। उदाहरण के लिए नपुंसक भाव में 'हस्' धातु से 'ल्युट्' (यु) और उसके स्थान पर 'अन' होकर 'हस् अन' = 'हसन' रूप बनता है। तब प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'हसनम्' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार नपुंसकलिङ्ग में भाव अर्थ में दो प्रकार से रूप बनते हैं—'क्त' प्रत्यय होकर तथा 'ल्युट्' प्रत्यय होकर।

८७२. पुंसि७ संज्ञायां७ घः१ प्रायेण३ । ३ । ३ । ११८

८७२. पुंसीति—शब्दार्थ है—(पुंसि संज्ञायां) पुँल्लिङ्ग संज्ञा में (प्रायेण) प्रायः (घः) 'घ' प्रत्यय होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः' ३.१.९१ तथा 'करणाधिकरणयोश्च' ३.३.११७ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—करण और अधिकरण कारक में धातु से पुँल्लिङ्ग-संज्ञा अर्थ में 'घ' प्रत्यय होता है। 'घ' का घकार इत्संज्ञक है, केवल 'अ' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए 'आ कुर्वन्ति अस्मिन्' (इसमें लोग मिलकर काम करते हैं)—इस विग्रह में 'आ'-पूर्वक 'कृ' धातु से अधिकरण में 'घ' प्रत्यय होकर 'आ कृ अ' रूप बनेगा। यहां आर्ध-धातुक गुण होकर 'आकर' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'आकरः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'दन्ताश्छाद्यन्त अनेन' (इससे दांत ढंके जाते हैं)—इस विग्रह में 'दन्त' उपपदपूर्वक ण्यन्त 'छद्' धातु से 'घ' होकर 'दन्त छादि अ' रूप बनता है। तब णि-लोप होकर 'दन्त छाद् अ' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८७३. ६छादेर्घे७ऽद्व्युपसर्गस्य६ । ६ । ४ । ९६

द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्निति–आकरः।

८७३. छादेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(घेः) 'घ' परे होने पर (अद्व्युपसर्गस्य) दो उपसर्गहीन (छादेः) 'छाद्' के स्थान पर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'ऊदुपधाया गोहः' ६.४.८९ से 'उपधायाः' तथा 'खचि ह्रस्वः' ६.४.९४ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त है। वह अवयव षष्ठी में विपरिणत हो जाता है, और सूत्रस्थ 'छादेः' उसका अवयव बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि (पूर्व में) दो उपसर्ग न हों, तो 'घ' प्रत्यय परे होने पर अङ्गावयव 'छाद्' की उपधा को ह्रस्व आदेश होता है। 'छाद्' की उपधा छकारोत्तरवर्ती दीर्घ आकार है, अतः उसी के स्थान पर ह्रस्व अकार होता है। उदाहरण के लिए 'दन्त छाद् अ' में पूर्व में दो उपसर्ग न होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'छाद्'

की उपधा को ह्रस्व होकर 'दन्त छद् अ' = 'दन्त छद' रूप बनेगा। यहां 'तुक्' होकर 'दन्तच्छद' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'दन्तच्छदः' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि दो उपसर्ग होने पर यह ह्रस्वादेश नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'समुपच्छादः' में 'सम्' और 'उप'–इन दो उपसर्गों के होने के कारण ह्रस्वादेश नहीं हुआ है।

८७४. अवे तॄस्त्रोर्घञ् । ३ । ३ । १२०

अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका।

८७४. अवे इति—शब्दार्थ है—(अवे) 'अव' उपपद रहने पर (तॄस्त्रोः†) तॄ और स्तॄ से (घञ्) 'घञ्' होता है। किन्तु यह किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'करणाधिकरणयोश्च' ३.३.११७ तथा 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' ३.३.११८ से 'पुंसि' और 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—करण और अधिकरण कारक में 'अव' उपपद रहते 'तॄ' (भ्वादि०, पार करना, तैरना) और 'स्तॄ' (क्र्यादि०, ढँकना)–इन दो धातुओं से पुँल्लिङ्ग-संज्ञा अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होता है। यह '८७२–पुंसि–०' से प्राप्त 'घ' प्रत्यय का अपवाद है। 'घञ्' के घकार और ञकार इत्संज्ञक हैं, अतः उनका लोप हो केवल 'अ' शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'अव'-पूर्वक 'तॄ' धातु से अधिकरण कारक में प्रकृत सूत्र से पुँल्लिङ्ग-संज्ञा अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होकर 'अव तॄ अ' रूप बनता है। इस स्थिति में आर्धधातुक गुण और उपधा-वृद्धि हो 'अवतार' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'अवतारः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अव'पूर्वक 'स्तॄ' से करण कारक में 'अवस्तारः' रूप बनता है।

८७५. हलश्च । ३ । ३ । १२१

हलन्ताद् घञ्। घाऽपवादः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति–रामः। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरिति–अपामार्गः।

८७५. हलश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (हल.) हल् से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१, 'करणाधिकरणयोश्च' ३.३.११७, 'पुंसि संज्ञायाम्–०' ३.३.११८ से 'पुंसि संज्ञायाम्' तथा 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' ३.३.२० से 'घञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'हलः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो

---

* यहां षष्ठी विभक्ति पंचम्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

† इसका विग्रह है—'तॄश्च स्तॄश्च इति तॄस्त्रौ तयोः'।

जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—करण और अधिकरण कारक में हलन्त धातु (जिसके अन्त में कोई व्यंजन-वर्ण हो) से पुँल्लिङ्ग-संज्ञा अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होता है। यह भी '८७२—पुंसि—०' से प्राप्त 'घ' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' (इसमें योगी रमते हैं)—इस विग्रह में अधिकरण कारक में हलन्त धातु 'रम्' से पुँल्लिङ्ग-संज्ञा अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होकर 'रम् अ' = 'रम' रूप बनेगा। तब उपधा-वृद्धि हो 'राम' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में 'रामः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मृज्' धातु से करण कारक में 'अप' उपसर्गपूर्वक 'अपामार्गः' (जिससे शुद्धि होती है, औषधि-विशेष) रूप बनता है।

८७६. ईषद्दुस्सुषु[७] कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु[७] खल्[१] । ३ । ३ । १२६

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम् । एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। तयोरेवेति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता। अकृच्छ्रे—ईषत्करः। सुकरः।

८७६. ईषदिति—शब्दार्थ है—(ईषद्दुस्सुषु) ईषत्, दुस्, सु उपपद रहने पर (कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु) कृच्छ्र और अकृच्छ्र अर्थ में (खल्) 'खल्' होता है। पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'धातोः' ३.१.९१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ईषत्, दुस् और सु उपपद रहने पर कृच्छ्र (दुःख) और अकृच्छ्र (सुख) अर्थ में धातु से 'खल्' प्रत्यय होता है। योग्यता-बल से दुःख 'दुस्' का विशेषण है, और ईषत् तथा सु सुख के।* तात्पर्य यह कि दुःख अर्थ में 'दुस्' और सुख अर्थ में ईषत् तथा सु उपपद रहते धातु से खल् प्रत्यय होता है। '७७०—तयोरेव—०' से 'खल्' प्रत्यय भाव और कर्म में ही होते हैं। 'खल्' के लकार और खकार इत्संज्ञक हैं, केवल 'अ' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए 'दुष्करः कटो भवता' (आपको चटाई बनाना मुश्किल है) में 'दुस्'पूर्वक 'कृ' धातु से दुःख अर्थ में प्रकृत सूत्र से कर्म में 'खल्' प्रत्यय हुआ है। 'खल्' प्रत्यय होकर 'दुस् कृ अ' रूप बनने पर आर्धधातुक-गुण और षत्व होकर 'दुष्कर' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा होकर कर्म 'कटः' के अनुसार प्रथमा के एकवचन—पुँल्लिङ्ग में 'दुष्करः' रूप बनेगा। इसी प्रकार सुख अर्थ में 'ईषत्' से 'ईषत्करः' और 'सु' से 'सुकरः' रूप सिद्ध होते हैं।

८७७. आतो[५] युच्[१] । ३ । ३ । १२८

खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः।

---

* 'कृच्छ्रं दुःखम्। तद् दुरो विशेषणम्। अकृच्छ्रं सुखम्। तदितरयोर्विशेषणम्। संभवात्'—काशिका।

८७७. आत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आतः) आकार से (युच्) 'युच्' होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'धातोः' ३.१.९१ तथा 'ईषद्दुस्सुषु-०' ३.३.१२६ से 'ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'आतः' 'धातोः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्तविधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—दुःख अर्थ में 'दुस्' तथा सुख अर्थ में 'ईषत्' और 'सु' उपपद रहने पर आकारान्त धातु से 'युच्' प्रत्यय होता है। यह '८७६-ईषत्-०' से प्राप्त 'खल्' प्रत्यय का अपवाद है। 'युच्' का चकार इत्संज्ञक है, केवल 'यु' शेष रह जाता है। उसके स्थान पर भी '७८५-युवोरनाकौ' से 'अन' आदेश हो जाता है। उदाहरण के लिए 'ईषत्'पूर्वक आकारान्त 'पा' (पीना) धातु से सुख अर्थ में 'युच्' (अन) होकर 'ईषत् पा अन' रूप बनेगा। तब सवर्णदीर्घ हो 'ईषत्पान' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'ईषत्पानः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सु + पा' से 'सुपानः' और 'दुस् + पा' से 'दुष्पानः' रूप बनते हैं।

८७८. अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा । ३ । ४ । १८

प्रतिषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात्। प्राचांग्रहणं पूजार्थम्, अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपदसमासः, दो दद्घोः—अलं दत्त्वा। 'घुमास्था-०' इतीत्वम्। पीत्वा खलु। अलंखल्वोः किम्—मा कार्षीत्। प्रतिषेधयोः किम्—अलङ्कारः।

८७८. अलंखल्वोरिति—शब्दार्थ है—(प्राचां) प्राच्य आचार्यों के मत से (प्रतिषेधयोः) प्रतिषेध अर्थ में (अलंखल्वोः*) 'अलं' और 'खलु' उपपद रहने पर (क्त्वा) 'क्त्वा' होता है। यहां भी 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार प्राप्त है। सूत्र में 'प्राचाम्' का ग्रहण विकल्पार्थक है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रतिषेध (निषेध) वाचक 'अलं' और 'खलु' के उपपद रहने पर धातु से विकल्प से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। 'क्त्वा' का ककार इत्संज्ञक है, अतः उसका लोप हो जाता है। केवल 'त्वा' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'अलं दत्त्वा' (मत दो) में 'अलं' का प्रयोग प्रतिषेध अर्थ में हुआ है, अतः यहां प्रकृत सूत्र से 'दा' धातु से 'क्त्वा' होकर 'दा त्वा' रूप बनता है। इस स्थिति में 'दा' धातु के स्थान पर 'दद्' होकर 'दद् त्वा' = 'दत्त्वा' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'दत्त्वा सु' रूप बनेगा। तब 'क्त्वा'प्रत्ययान्त 'दत्त्वा' के अव्यय होने के कारण 'सु' का लोप

* इसका विग्रह—'अलञ्च खलुश्च इति अलंखलू, तयोः'।

† 'प्राचांग्रहणं विकल्पार्थम्'—काशिका।

हो 'दत्त्वा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार निषेधार्थक 'खलु' उपपद रहने पर 'पा' (पीना) धातु से 'क्त्वा' हो 'पीत्वा खलु' (मत पियो) रूप बनता है। 'क्त्वा' के अभाव-पक्ष में सामान्य रूप से तृतीया विभक्ति हो 'अलं दानेन' तथा 'पानेन खलु' रूप बनेंगे।

यहां ध्यान रहे कि प्रतिषेधार्थक 'अलं' और 'खलु' उपपद होने पर भी 'क्त्वा' का प्रयोग होता है, अन्य किसी निषेधार्थक शब्द के उपपद रहने पर नहीं। उदाहरण के लिए 'मा कार्षीत्' (मत करो) में 'कृ' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय नहीं हुआ है क्योंकि यहां 'अलं' या 'खलु' उपपद नहीं है। यहां तो प्रतिषेधार्थ 'माङ्' प्रत्यय है। इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि 'अलं' और 'खलु' का प्रयोग प्रतिषेधार्थ में ही होना चाहिये, अन्यथा 'क्त्वा' प्रत्यय नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'अलङ्कारः' (भूषण) में 'कृ' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय नहीं हुआ है क्योंकि 'अलं' यहां भूषणार्थक है, प्रतिषेधार्थक नहीं। इस प्रकार 'क्त्वा'-विधान के लिए दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) केवल 'अलं' और 'खलु' ही उपपद हों, अन्य कोई शब्द नहीं।

(२) इन ('अलं' तथा 'खलु') का प्रयोग प्रतिषेध अर्थ में ही होना चाहिये।

८७९. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले। ३।४।२१

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात्। भुक्त्वा व्रजति। द्वित्वमतन्त्रम्–भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

८७९. समानकर्तृकयोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(समानकर्तृकयोः*) समान कर्ता वाली दो धातुओं में से (पूर्वकाले) पूर्वकाल में...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'अलंखल्वोः–०' ३.४.१८ से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति होती है। 'धातोः' ३.१.९१ का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समान कर्ता वाली (जिनका कर्ता एक ही हो) दो धातुओं में से पूर्वकाल में वर्तमान धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। यहां सूत्र में द्विवचन विवक्षित नहीं है।† तात्पर्य यह कि यह आवश्यक नहीं कि दो समानकर्तृक क्रियाएं होने पर ही पूर्वकालिक क्रिया से 'क्त्वा' हो। क्रियाएँ चाहे कितनी ही क्यों न हों, सभी पूर्वकालिक क्रियाओं से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। इस प्रकार संक्षेप में सूत्र का अभिप्राय है—समान कर्ता वाली दो या दो से अधिक धातुओं में से पूर्वकाल में वर्तमान धातु या धातुओं से 'क्त्वा' प्रत्यय होता है। इस सूत्र के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

---

* इसका विग्रह है—'समानः एकः कर्ता ययोर्धात्वोरिति समानकर्तृकौ तयोः'।

† 'द्विवचनमतन्त्रम्'—काशिका।

(क) वाक्य की क्रियाओं का कर्ता एक ही होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'भुक्तवति ब्राह्मणे गच्छति देवदत्तः' (ब्राह्मण के खाने के बाद देवदत्त जाता है) में 'भुज्' (खाना) क्रिया पूर्वकाल में है, किन्तु उसका और 'गच्छ्' (जाना) धातु का कर्ता एक न होने के कारण यहां पूर्वकालिक क्रिया 'भुज्' से 'क्त्वा' प्रत्यय नहीं हुआ है।

(ख) क्रिया पूर्वकाल में होनी चाहिये—उदाहरण के लिए 'व्रजति च जल्पति च' (वह घूमता है और बोलता है) में 'व्रज्' और 'जल्प्' दो धातुएं हैं, और दोनों का कर्ता भी एक ही है, किन्तु ये दोनों ही क्रियाएं समकालिक हैं। अतः यहां किसी भी क्रिया के पूर्वकालिक न होने से 'क्त्वा' प्रत्यय नहीं होता है।

'क्त्वा' प्रत्यय का सम्यक् उदाहरण 'भुक्त्वा व्रजति' (खाकर जाता है) में मिलता है। यहां 'भुज्' (खाना) और 'व्रज्' (जाना) धातुओं का कर्ता एक ही है। भोजन क्रिया पहले होती है, अतः प्रकृत सूत्र से 'भुज्' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होकर 'भुज् त्वा' रूप बनता है। तब जकार को कुत्व और चर्त्व आदि होकर 'भुक्त्वा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भुक्त्वा पीत्वा व्रजति' (खा-पीकर जाता है) में तीन क्रियाओं का उदाहरण मिलता है। यहां खाना (भुज्) और पीना (पा) दोनों ही क्रियाएं पहले होती हैं, अतः 'भुज्' और 'पा'—दोनों ही धातुओं से 'क्त्वा' प्रत्यय होकर 'भुक्त्वा' और 'पीत्वा' रूप बनते हैं।

८८०. न क्त्वा[1] सेट्[1] । १ । २ । १८

सेट् क्त्वा किन्न स्यात्। शयित्वा। सेट् किम्—कृत्वा।

८८०. नेति—शब्दार्थ है—(सेट्) 'इट्' सहित (क्त्वा) 'क्त्वा' (न) नहीं होता है। किन्तु क्या नहीं होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'असंयोगाल्लिट् कित्' १.२.५ से 'कित्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इट्' सहित 'क्त्वा' कित् नहीं होता है। 'क्त्वा' ककार इत् होने के कारण 'कित्' है। उसी का निषेध प्रकृत सूत्र से किया गया है। कित् न होने से '४३३–ग्क्ङिति च' से प्राप्त गुण-निषेध आदि भी नहीं होता। उदाहरण के लिए 'शी' (सोना) धातु से पूर्वसूत्र (८७९) द्वारा 'क्त्वा' तथा इडागम होकर 'शी इ त्वा' रूप बनेगा। यहां गुण और अयादेश होकर 'शय् इ त्वा' ='शयित्वा' रूप सिद्ध होता है। किन्तु 'क्त्वा' प्रत्यय यदि 'इट्'सहित न होगा तो वह कित् ही रहेगा। उदाहरण के लिए 'कृत्वा' में 'कृ' धातु के अनुदात्तोपदेश होने के कारण 'त्वा' (क्त्वा) को इडागम नहीं हुआ है, अतः 'इट्'सहित न होने के कारण 'त्वा' के कित् होने से गुण-निषेध होकर 'कृत्वा' रूप सिद्ध होता है।

८८१. रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च । १ । २ । २६

इवर्णोवर्णोपधाद्धलादे रलन्तात्परो क्त्वासनौ सेटौ वा कितौ स्तः । द्युतित्वा, द्योतित्वा । लिखित्वा, लेखित्वा । व्युपधात्किम्—वर्तित्वा । रलः किम्—सेवित्वा । हलादेः किम्—एषित्वा । सेट् किम्—भुक्त्वा ।

८८१. रल इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(व्युपधात्*) इवर्ण और उवर्ण उपधा वाले (हलादेः) हलादि (रलः) रल् से परे (सन्) सन् (च) और...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इससे स्पष्टीकरण के लिए 'न क्त्वा सेट्' १.२.१८ से 'सेट्, 'पूङः क्त्वा च' १.२.२२ से 'क्त्वा', 'नोपधात्थफान्ताद्वा' १.२.२३ से 'वा' तथा 'असंयोगात्–०' १.२.५ से 'कित्' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'रल्' प्रत्याहार है और इसमें 'य्' तथा 'व्' को छोड़कर सभी व्यंजन-वर्णों का समाहार होता है । 'क्त्वा' और 'सन्' प्रत्यय धातु से ही होते हैं, अतः उसका भी अध्याहार हो जाता है । सूत्रस्थ सभी पञ्चम्यन्त पद 'धातु' के विशेषण हैं । विशेषण होने से 'रल्:' में भी तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इवर्ण तथा उवर्ण उपधा वाली, हलादि (जिसके आदि में कोई व्यंजन-वर्ण हो) और रलन्त (जिसके अन्त में कोई रल्-वर्ण हो) धातु के पश्चात् 'इट्' सहित 'क्त्वा' और 'सन्' प्रत्यय विकल्प से कित् होते हैं । यहां कित् का विधान विकल्प से होने के कारण इन धातुओं के दो-दो रूप बनते हैं—१. कित् होने पर गुण-निषेध होकर और २. कित् न होने पर गुणादेश आदि होकर । ध्यान रहे कि इस सूत्र के लिए चार बातों का होना आवश्यक है—

(क) धातु की उपधा में इवर्ण या उवर्ण होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'वृत्' (होना) धातु से 'क्त्वा' और इडागम होकर 'वृत् इ त्वा' रूप बनता है । यहां 'वृत्' धातु हलादि और रलन्त है, और उससे परे 'क्त्वा' भी सेट् है । किन्तु 'वृत्' की उपधा में इवर्ण-उवर्ण न होकर ऋकार है, अतः प्रकृत सूत्र से सेट् 'क्त्वा' कित् नहीं होता है । इस अवस्था में '८८०–न क्त्वा–०' से गुण होकर 'वर्तित्वा' रूप सिद्ध होता है ।

(ख) धातु के अन्त में रल् प्रत्याहार का ही वर्ण होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'सिव्' (सिलना) धातु से 'क्त्वा' और इडागम हो 'सिव् इ त्वा' रूप बनेगा । यहां 'सिव्' धातु हलादि है और उसकी उपधा में इवर्ण भी है । उससे परे सेट् 'क्त्वा' है । किन्तु 'सिव्' के अन्त में वकार है जो कि रल् प्रत्याहार में नहीं आता, अतः यहां सेट् 'क्त्वा' को प्रकृत सूत्र से कित् भी नहीं होता है । तब पूर्ववत् लघूपधगुण हो 'सेवित्वा' रूप सिद्ध होता है ।

---

* इसका विग्रह है—'उश्च इश्च वी । वी उपधे यस्य स व्युपधः, तस्मात्' ।

(ग) धातु के आदि में कोई व्यंजन-वर्ण होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'इष्' (जाना, इच्छा करना) धातु से 'क्त्वा' और इडागम हो 'इष् इ त्वा' रूप बनता है। यहां 'इष्' धातु रलन्त है और उसकी उपधा में इवर्ण भी है। उससे परे सेट् 'क्त्वा' है। किन्तु 'इष्' धातु के आदि में व्यंजन-वर्ण न होकर स्वर-वर्ण है। अतः प्रकृत सूत्र से सेट् 'क्त्वा' के कित् न होने पर लघूपध-गुण हो 'एषित्वा' रूप बनता है।

(घ) 'क्त्वा' के पूर्व 'इट्' होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'भुज्' धातु से 'क्त्वा' होकर 'भुज् त्वा' रूप बनता है। यहां 'भुज' धातु हलादि और रलन्त है, तथा उसकी उपधा में उवर्ण भी है। किन्तु उससे परे 'क्त्वा' को इडागम नहीं हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से विकल्प से कित् न होने के कारण एक ही रूप—'भुक्त्वा' बनता है।

ये चारों बातें 'द्युत्' (चमकना) धातु में मिलती हैं। यह हलादि तथा रलन्त है, और इसकी उपधा में उवर्ण भी है। अतः 'क्त्वा' और इडागम हो 'द्युत् इ त्वा' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से सेट् 'क्त्वा' के विकल्प से कित् होने के कारण गुण-निषेध हो 'द्युतित्वा' रूप बनता है। कित् के अभाव-पक्ष में गुण हो 'द्योतित्वा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'लिख्' (लिखना) धातु से 'लिखित्वा' और 'लेखित्वा'—ये दो रूप बनते हैं।

८८२. उदितो वा । ७ । २ । ५६

उदितः परस्य क्त्व इड् वा। शमित्वा, शान्त्वा। देवित्वा, द्यूत्वा। दधातेर्हिः—हित्वा।

८८२. उदित इति—शब्दार्थ है—(उदितः) उदित् से पर (वा) विकल्प से··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'जृव्रश्च्योः क्त्वि' ७.२.५५ से 'क्त्वि' तथा 'इण्निष्ठायाम्' ७.२.४७ से 'इट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'क्त्वि' षष्ठयन्त में विपरिणत हो जाता है। यहां भी पूर्वसूत्र (८८१) की भांति धातु का अध्याहार होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उदित् धातु (जिसका उकार इत् हो) के पश्चात् 'क्त्वा' को विकल्प से 'इट्' होता है। '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'क्त्वा' का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'शम्' (शमु–शान्त होना) धातु से '८७९–समानकर्तृकयोः–०' से 'क्त्वा' प्रत्यय होकर 'शम् त्वा' रूप बनेगा। यहां 'शम्' धातु के उदित होने के कारण प्रकृत सूत्र से उत्तरवर्ती 'त्वा' (क्त्वा) को विकल्प से 'इट्' होकर 'शम् इ त्वा' = 'शमित्वा' रूप सिद्ध होता है। 'इट्' के अभाव-पक्ष में उपधा-दीर्घ तथा मकार को परसवर्ण हो 'शान्त्वा' रूप बनेगा। इसी प्रकार उदित् 'दिव्' (दिवु–जुआ खेलना आदि) से 'इट्' पक्ष में 'देवित्वा' और इटाभावपक्ष में 'द्यूत्वा' रूप बनता है।

८८३. 'जहातेश्च[५] क्त्वि[७]' । ७ । ४ । ४३

हित्वा । हाक्स्तु-हात्वा ।

८८३. जहातेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (क्त्वि) 'क्त्वा' परे होने पर (जहातेः*) 'ओहाक्' धातु के स्थान पर··· । किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'दधातेर्हिः' ७.४.४२ से 'हिः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'क्त्वा' प्रत्यय परे होने पर 'ओहाक्' (छोड़ना) धातु के स्थान पर 'हि' आदेश होता है । '४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'ओहाक्' के स्थान पर होता है । उदाहरण के लिए 'ओहाक्' से '८७९–समानकर्तृकयोः–०' द्वारा 'क्त्वा' प्रत्यय होकर '(ओ) हाक् त्वा' रूप बनता है । यहां 'क्त्वा' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'ओहाक्' के स्थान पर 'हि' होकर 'हित्वा' रूप सिद्ध होता है ।

८८४. [७]समासेऽनञ्पूर्वे[७] क्त्वो[६] ल्यप्[१] । ७ । १ । ३७

अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् । तुक्–प्रकृत्य । अनञ् किम्–अकृत्वा ।

८८४. समासे इति—शब्दार्थ है—(अनञ्पूर्वे) अनञ्पूर्व (समासे) समास में (क्त्वः) 'क्त्वा' के स्थान पर (ल्यप्) 'ल्यप्' होता है । तात्पर्य यह कि यदि 'नञ्' अव्यय पूर्वपद न हो तो समास में 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश होता है । '४५–अनेकाल्–०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'क्त्वा' के स्थान पर होता है । 'ल्यप्' के लकार और पकार इत्संज्ञक हैं, केवल 'य' ही शेष रहता है । इस सूत्र के प्रवृत्त होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

(क) समास होना चाहिये—उदाहरण के लिए समास न होने के कारण 'कृ' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय हो 'कृत्वा' रूप बनने पर 'क्त्वा' (त्वा) के स्थान पर 'ल्यप्' नहीं होता ।

(ख) समास होने पर भी 'नञ्' उपपद न होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'नञ्' उपपद-पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय हो 'अकृत्वा' रूप बनेगा । यहां तत्पुरुष समास होने पर भी 'नञ्' उपपद होने के कारण 'क्त्वा' को 'ल्यप्' न होकर 'अकृत्वा' रूप सिद्ध होता है ।

ये दोनों बातें 'प्रकृत्य' में मिलती हैं । यहां 'प्र' उपसर्ग-पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय हो 'प्रकृत्वा' रूप बनता है। इस स्थिति में '९४९–कुगतिप्रादयः' से समास होता

---

* यह 'जहाति' का षष्ठयन्त रूप है । 'जहाति' स्वयं ही 'ओहाक्' (छोड़ना) धातु का लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है । अतः इससे मूलधातु का ही ग्रहण होता है ।

है। यहां उपपद में 'नञ्' भी नहीं है, अतः प्रकृत सूत्र से 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' होकर 'प्र कृ य' रूप बनेगा। तत्र तुक् आगम होकर 'प्रकृत्य' रूप सिद्ध होता है।

८८५. आभीक्ष्ण्ये॰ णमुल्॰ च॰। ३। ४। २२

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च।

८८५. आभीक्ष्ण्ये इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आभीक्ष्ण्ये) आभीक्ष्ण्य अर्थ में (णमुल्) णमुल् होता है (च) और···। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' ३.४.२१ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'च' से 'अलंखल्वोः–०' ३.४.१८ में से 'क्त्वा' का ग्रहण होता है। आभीक्ष्ण्य का अर्थ है—पुनः पुनः या बार-बार।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'पौनःपुन्य' (बार-बार) अर्थ में समानकर्तृक पूर्वकालिक धातु† से 'णमुल्' प्रत्यय होता है और 'क्त्वा' प्रत्यय भी। 'णमुल' का 'अम्' अंश शेष रह जाता है, बाकी सब इत्संज्ञक है। उदाहरण के लिए स्मरण क्रिया का बार-बार होना बताने के अर्थ में 'स्मृ' धातु से 'णमुल्' होकर 'स्मृ अम्' रूप बनता है। इस स्थिति में 'स्मृ' के ऋकार को वृद्धि हो 'स्म् आर् अम्' = 'स्मारम्' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

८८६. नित्य-वीप्सयोः॰। ८। १। ४

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात्। आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञकेषु कृदन्तेषु। स्मारं स्मारं नमति शिवम्। स्मृत्वा स्मृत्वा। पायं पायम्। भोजं भोजम्। श्रावं श्रावम्।

८८६. नित्येति—शब्दार्थ है—(नित्य‡-वीप्सयोः) पौनःपुन्य और वीप्सा अर्थ में···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'सर्वस्य द्वे' ८.१.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। नित्यता या पौनःपुन्य क्रिया का धर्म है, अतः यह तिङन्त या अव्ययसंज्ञक कृदन्त क्रिया को द्योतित करता है। वीप्सा भी आधिक्य-बोधक है, किन्तु इसका प्रयोग सुबन्त पदों में ही होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पौनःपुन्य और वीप्सा अर्थ में सभी का द्वित्व होता है। तात्पर्य यह कि जिन पदों का प्रयोग पौनःपुन्य या वीप्सा अर्थ में होता है, उनका द्वित्व हो जाता है। उदाहरण के लिए 'स्मारम्' का प्रयोग पौनःपुन्य अर्थ में हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से उसका द्वित्व होकर 'स्मारं स्मारम्' रूप बनता है। 'स्मारं स्मारं नमति शिवम्' (याद कर करके

---

* 'आभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यम्'—काशिका।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए ८७९वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ 'आभीक्ष्ण्यमिह नित्यता'—काशिका।

शिव को प्रणाम करता है)—यह वाक्य इसी को चरितार्थ करता है। 'णमुल्' के अभाव में 'क्त्वा' हो 'स्मृत्वा स्मृत्वा नमति शिवम्' रूप बनता है। वीप्सा का उदाहरण 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः' (गांव गांव सुन्दर है) में मिलता है क्योंकि यहां सुबन्त 'ग्रामः' का द्वित्व हुआ है।

८८७. अन्यथैवं-कथमित्थंसु सिद्धाऽप्रयोगश्चेत् । ३ । ४ । २७

एषु कृञो णमुल् स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृञ्, व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः। अन्यथाकारम्। एवंकारम्। कथंकारम्। इत्थंकारं भुङ्क्ते। सिद्धेति किम्-शिरोऽन्यथाकृत्वा भुङ्क्ते।

इत्युत्तरकृदन्तम्।

८८७. अन्यथेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अन्यथैवं—कथमित्थंसु) अन्यथा, एवम्, कथम् और इत्थम् उपपद रहते (चेत्) यदि (सिद्धाप्रयोगः) अप्रयोग सिद्ध हो। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कर्मण्याक्रोशे कृञः-०' ३.४.२५ से 'कृञः' तथा 'स्वादुमि णमुल्' ३.४.२६ से 'णमुल्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अन्यथा, एवम्, कथम् और इत्थम्—इन चार अव्ययों के उपपद रहने पर 'कृञ्' (करना) धातु से 'णमुल्' प्रत्यय होता है यदि कृञ् का अप्रयोग सिद्ध हो। तात्पर्य यह कि यदि 'कृञ्' के प्रयोग की आवश्यकता न हो, बिना उसके प्रयोग के भी इष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाय तो पूर्वोक्त चार अव्ययों में से किसी के भी उपपद रहने पर 'कृञ्' धातु से 'णमुल्' (अम्) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अन्यथा'पूर्वक 'कृ' धातु से 'णमुल्' होकर 'अन्यथाकारम्'* बनता है। यहां 'कृ' धातु का प्रयोग व्यर्थ है क्योंकि 'अन्यथा' से जो अर्थ प्राप्त होता है वही 'अन्यथाकारम्' से भी। 'कृ' के प्रयोग से अर्थ में कोई विशिष्टता नहीं आती। इसी प्रकार 'एवम्'पूर्वक 'एवंकारम्', 'कथम्'पूर्वक 'कथंकारम्' और 'इत्थम्'पूर्वक 'इत्थंकारम्' रूप बनता है। किन्तु यदि 'कृ' का प्रयोग व्यर्थ न होकर सार्थक होगा, तो 'अन्यथा' आदि उपपद रहने पर भी 'कृ' (कृञ्) से 'णमुल्' प्रत्यय नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते' (शिर को अन्यथा करके खाता है)—इस वाक्य में 'कृ' का प्रयोग व्यर्थ नहीं, अपितु आवश्यक है। अतः 'अन्यथा' उपपद रहने पर भी णमुल् नहीं होता। तब 'क्त्वा' प्रत्यय हो 'कृत्वा' रूप बनता है।

उत्तरकृदन्त प्रकरण समाप्त।

[कृदन्त समाप्त।]

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ८८५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

विभक्त्यर्थ-प्रकरणम्

८८८. प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचन-मात्रे प्रथमा । २ । ३ । ४६

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । लिङ्गमात्रे—तटः, तटी, तटम् । परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः । वचनं संख्या—एकः, द्वौ, बहवः ।

८८८. प्रातिपदिकेति—शब्दार्थ है—(प्रातिपदिक—मात्रे) प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, वचन और परिमाण मात्र में (प्रथमा) प्रथमा होती है । यहां 'मात्रे' का अन्वय प्रत्येक साथ होता है ।* इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—प्रातिपदिकार्थ (व्यक्ति और जाति) मात्र, लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग-पुँल्लिङ्ग-नपुंसकलिङ्ग) मात्र, परिमाण (वजन) मात्र और वचन (एकत्व-द्वित्व-बहुत्व) मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है । सभी के उदाहरण अलग-अलग दिये जा रहे हैं—

(क) प्रातिपदिकार्थ—उच्चैः, नीचैः, कृष्णः (वासुदेव), श्रीः (लक्ष्मी) और 'ज्ञानम्' ।

(ख) लिङ्ग—तटः (पुँल्लिङ्ग), तटी (स्त्रीलिङ्ग), तटम् (नपुंसकलिङ्ग) ।

(ग) परिमाण—द्रोणः, खारी, आढकम् (परिमाण-विशेष) ।

(घ) वचन—एकः (एकवचन), द्वौ (द्विवचन), बहवः (बहुवचन) ।

८८९. सम्बोधने च । २ । ३ । ४७

प्रथमा स्यात् । हे राम !

८८९. सम्बोधने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (सम्बोधने) सम्बोधन अर्थ में...। किन्तु होना क्या चाहिये—यह जानने के लिए '८८८—प्रातिपदिकार्थ-०' से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति होती है । उदाहरण के लिए 'हे राम' में सम्बोधन अर्थ में 'राम' से प्रथमा विभक्ति हुई है ।

८९०. कर्तुरीप्सिततमं कर्म । १ । ४ । ४९

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

---

* 'मात्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते'—काशिका ।

८९०. कर्तुरिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(कर्तुः) कर्ता का (ईप्सिततमं) अत्यन्त इष्ट (कर्म) 'कर्म' कहलाता है। तात्पर्य यह कि कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा विशेष रूप से जिसे प्राप्त करना चाहता है, उसे 'कर्म' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'देवदत्तः ओदनं पचति' (देवदत्त चावल पकाता है)—इस वाक्य में कर्ता 'देवदत्त' पाक क्रिया के द्वारा 'ओदन' को विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है, अतः अत्यन्त इष्ट होने से उसकी कर्म संज्ञा होती है।

८९१. कर्मणि॰ द्वितीया१। २। ३। २

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रथमा—हरिः सेव्यते। लक्ष्म्या हरिः सेवितः।

८९१. कर्मणीति—शब्दार्थ है—(कर्मणि) कर्म में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है। यहां 'अनभिहिते' २.३.१ का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। 'अनभिहित' का अर्थ है—अनुक्त, जो कहा न गया हो। जिस अर्थ में प्रत्यय होता है, वह उक्त होता है और उससे भिन्न अर्थ अनुक्त। इस प्रकार जब कर्म में लकार आता है तब कर्म उक्त होता है और जब कर्ता में लकार आता है तब कर्म अनुक्त होता है। दूसरे शब्दों में, कर्मवाच्य में कर्म उक्त होता है और कर्तृवाच्य में कर्म अनुक्त। इसी कर्तृवाच्य में ही कर्म में द्वितीया होती है। यही सूत्र का फलितार्थ है। उदाहरण के लिए 'देवदत्तः ओदनं पचति' में 'ओदन' कर्म है। 'पचति' कर्तृवाच्य की क्रिया है, अतः कर्म भी अनुक्त है। तब अनुक्त कर्म होने से प्रकृत सूत्र द्वारा 'ओदन' कर्म में द्वितीया विभक्ति हो 'ओदनं' रूप बनता है। इसी प्रकार कर्तृवाच्य 'हरिं भजते' (हरि को भजता है) में भी कर्म 'हरि' में द्वितीया विभक्ति हुई है। किन्तु कर्मवाच्य में कर्म के उक्त होने के कारण उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं होती। उदाहरण के लिए 'हरिः सेव्यते' (हरि की सेवा की जाती है) में 'सेव्यते' क्रिया कर्मवाच्य की है। अतः कर्म 'हरि' के उक्त होने के कारण उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं हुई है। तब प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति हो 'हरिः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'लक्ष्म्या हरिः सेवितः' (लक्ष्मी के द्वारा हरि की सेवा की जाती है) में भी कर्म के उक्त होने के कारण द्वितीया विभक्ति नहीं हुई है।

८९२. अकथितं१ च२। १। ४। ५१

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

'दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नी-हृ-कृष्वहाम्॥'

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि।

८९२. अकथितमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अकथितम्) अकथित। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' १.४.४९ से 'कर्म' की अनुवृत्ति करनी होगी। अकथित का अर्थ है—अविवक्षित। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अपादानादि विशेषों से* अविवक्षित कारक कर्मसंज्ञक होता है। तात्पर्य यह कि जिस कारक की अपादान, सम्प्रदान, करण या अधिकरण आदि संज्ञा न करना चाहें, उसकी कर्म संज्ञा हो जाती है। दूसरे शब्दों में, अपादान, सम्प्रदान, करण या अधिकरण आदि कारकों के स्थान पर यदि हम चाहें तो कर्म कारक का प्रयोग कर सकते हैं। कर्म होने पर द्वितीया विभक्ति होती है। लेकिन यह विधान सर्वत्र नहीं हो सकता। यह निम्नांकित सोलह धातुओं या उनकी समानार्थक धातुओं में ही संभव है—

१. दुह् (दुहना), २. याच् (मांगना), ३. पच् (पकाना), ४. दण्ड् (सजा देना), ५. रुध् (रोकना), ६. प्रच्छ् (पूछना), ७. चि (चुनना), ८. ब्रू (बोलना), ९. शास् (शासन करना), १०. जि (जीतना), ११. मथ् (मथना), १२. मुष् (चुराना), १३. नी (ले जाना), १४. हृ (हरण करना), १५. कृष् (खींचना) और १६. वह् (ले जाना)।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सोलह धातुओं या उनकी समानार्थक धातुओं के अपादान आदि कारकों के स्थान पर उनकी विवक्षा न होने पर कर्म कारक का प्रयोग होता है। उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) गां दोग्धि पयः—यहां पर 'गाय से दूध दुहता है'—ऐसा अर्थ निकलने के कारण 'गाय' अपादान कारक है, किन्तु उसकी विवक्षा न होने पर प्रकृत सूत्र से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो 'गाम्' रूप बना है। हां, यदि अपादान की विवक्षा होगी तो पंचमी विभक्ति हो 'गोः दोग्धि पयः' रूप बनेगा।

(२) बलिं याचते वसुधाम् (बलि से पृथ्वी मांगता है)—यहां भी 'बलि' अपादान कारक है, किन्तु उसकी अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है।

---

* 'केनाऽकथितम्, अपादानादिविशेषकथाभिः'—काशिका।

(३) 'तण्डुलान् ओदनं पचति' (चावलों से भात पकाता है)—यहां 'तण्डुल' करण-कारक है, उसकी अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है।

(४) 'गर्गान् शतं दण्डयति' (गर्गों को सौ रुपये जुर्माना करता है)—यहां 'गर्ग' अपादान-कारक है, अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(५) 'व्रजं अवरुणद्धि गाम्' (व्रज में गाय को रोकता है)—यहां 'व्रज' अधिकरण कारक है, अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(६) 'माणवकं पन्थानं पृच्छति' (लड़के से मार्ग पूछता है)—यहां 'माणवक' अपादान है, उसकी अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(७) 'वृक्षमवचिनोति फलानि' (वृक्ष से फलों को चुनता है)—यहां 'वृक्ष' अपादान कारक है, अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(८–९) 'माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा' (लड़के के लिए धर्म कहता है या शासन करता है)—यहां 'माणवक' सम्प्रदान कारक है, उसकी अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(१०) 'शतं जयति देवदत्तम्' (देवदत्त से सौ रुपये जीतता है)—यहां 'देवदत्त' अपादान-कारक है, उसकी अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(११) 'सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति' (समुद्र को अमृत के लिए मथता है)—यहां 'सुधा' सम्प्रदान कारक है, किन्तु उसकी अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(१२) 'देवदत्तं शतं मुष्णाति' (देवदत्त से सौ रुपये चुराता है)—यहां 'देवदत्त' अपादानकारक है, किन्तु उसकी विवक्षा न होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

(१३–१६) 'ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा' (गांव में बकरी को ले जाता है, खींचता है या पहुंचाता है)—यहां भी 'ग्राम' अधिकरण है, किन्तु उसकी अविवक्षा होने से कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

समानार्थक धातुओं का उदाहरण 'बलिं भिक्षते वसुधाम्' (बलि से पृथ्वी मांगता है) इस वाक्य में मिलता है। यहां 'याच्' धातु की समानार्थक 'भिक्ष्' धातु है। अतः 'बलि' इस अपादान की विवक्षा न होने पर कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार 'माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्ति' (लड़के के लिए धर्म कहता है) में 'ब्रू' की समानार्थक धातुएं होने के कारण 'माणवक'–इस सम्प्रदान की अविवक्षा में कर्म संज्ञा हो द्वितीया विभक्ति हुई है।

८९३. स्वतन्त्रः[१] कर्ता[२] । १ । ४ । ५४

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

८९३. स्वतन्त्र इति—यह सूत्र पहिले आ चुका है। देखिये ६६८ वें सूत्र की व्याख्या।

८९४. साधकतमं[1] करणम्[1] । १ । ४ । ४२

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।

८९४. साधकतममिति—शब्दार्थ है—(साधकतमम्) अत्यन्त सहायक (करणम्) 'करण' कहलाता है। यहां 'कारके' १.४.२३ का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त सहायक कारक 'करण' कहलाता है। जिसके व्यापार के अनन्तर ही क्रिया की सिद्धि होती है, उसे 'अत्यन्त सहायक' कारक कहते हैं। उदाहरण के लिए 'रामेण बाणेन हतो वाली' (राम ने बाण से वाली को मारा)—इस वाक्य में बाण के व्यापार के अनन्तर ही हनन क्रिया होती है, इसलिए अत्यन्त सहायक होने से 'बाण' की 'करण' संज्ञा होगी।

८९५. [0]कर्तृकरणयोस्तृतीया[1] । २ । ३ । १८

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली।

८९५. कर्तृकरणयोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्तृकरणयोः) कर्ता और करण में (तृतीया) तृतीया विभक्ति होती है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'अनभिहिते' २.३.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। इसका अन्वय सप्तम्यन्त 'कर्त्तरि' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनभिहित (अनुक्त) कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है। अनुक्त कर्ता कर्मवाच्य में ही मिलता है, अतः वहीं उसमें तृतीया विभक्ति होती है। करण में तो सर्वत्र तृतीया का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'रामेण बाणेन हतो वाली' में करण 'बाण' में तृतीया विभक्ति हुई है। कर्मवाच्य में होने से यहां कर्ता 'राम' में भी प्रकृत सूत्र से तृतीया विभक्ति हुई है।

८९६. [3]कर्मणा [2]यमभिप्रैति* स[1] सम्प्रदानम्[1] । १ । ४ । ३२

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्।

८९६. कर्मणेति—शब्दार्थ है—(कर्मणा) कर्म के द्वारा (यम्) जिसको (अभिप्रैति)† सम्बन्धित करता है, (स) वह (सम्प्रदानम्) सम्प्रदान कहलाता है। यहां कर्म का अभिप्राय दान क्रिया के कर्म से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—

---

* यह क्रिया-पद है। विग्रह है—'अभितः प्रकर्षेण एति गच्छति प्राप्नोति इति अभिप्रैति'।

† 'दानक्रियाकर्मणा कर्ता यमभिप्रैति संबध्नाति संबन्धुमीप्सति वा तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञकमित्यर्थः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

दान क्रिया के कर्म के द्वारा कर्ता जिससे सम्बन्ध स्थापित करता है या स्थापित करना चाहता है, उसे सम्प्रदान कहते हैं। तात्पर्य यह कि दान क्रिया के उद्देश्य (जिसके लिए क्रिया होती है) को ही सम्प्रदान कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'विप्राय गां ददाति' (ब्राह्मण को गाय देता है) में गोदान कर्म के द्वारा कर्ता 'विप्र' से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, अतः 'विप्र' सम्प्रदान-संज्ञक है।

८९७. चतुर्थी सम्प्रदाने । २ । ३ । १३

विप्राय गां ददाति ।

८९७. चतुर्थीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संप्रदाने) संप्रदान में (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है। उदाहरण के लिए 'विप्राय गां ददाति' में 'विप्र' के सम्प्रदान संज्ञक होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है।

८९८. नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च । २ । ३ । १६

एभिर्योगे चतुर्थी। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि।

८९८. नम इति—शब्दार्थ है—(च) और (नमः—योगात्*) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट् के योग में...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चतुर्थी संप्रदाने' २.३.१३ से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् (पर्याप्त, समर्थ) और वषट्—इन छः अव्ययों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। तात्पर्य यह कि जिन शब्दों से इन अव्ययों का योग होता है, उनमें चतुर्थी विभक्ति होती है। सभी के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) हरये नमः—यहां 'हरि' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

(२) प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजा का कल्याण हो)—यहां 'प्रजा' में चतुर्थी हुई है।

(३) अग्नये स्वाहा (अग्नि को आहुति है)—यहां 'अग्नि' में चतुर्थी हुई है।

(४) पितृभ्यः स्वधा (पितरों को आहुति है)—यहां 'पितृ' में चतुर्थी हुई है।

(५) दैत्येभ्यो हरिः अलम् (हरि दैत्यों के लिए काफी हैं)—यहां 'दैत्य' में चतुर्थी हुई है।

(६) इन्द्राय वषट्—यहां 'इन्द्र' में चतुर्थी हुई है। 'वषट्' का प्रयोग वेदों में ही मिलता है।

नोट—यहां सूत्र में 'अलम्' से केवल 'अलम्' अव्यय का ही ग्रहण नहीं होता,

---

* यहां पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग सप्तम्यर्थ में हुआ है।

अपितु 'अलम्' (पर्याप्त, समर्थ) अर्थवाचक 'समर्थः', 'शक्तः' आदि इन पदों का भी ग्रहण होता है।* अतः इनके योग में भी चतुर्थी होती है। उदाहरण के लिए 'दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः, समर्थः, शक्तो वा' में 'अलम्' अर्थवाची 'प्रभुः' आदि के योग में भी 'दैत्य' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

८९९. ध्रुवमपायेऽपादानम् । १ । ४ । २४

अपायो विश्लेषः, तस्मिन्साध्ये यद् ध्रुवमवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात्।

८९९. ध्रुवमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अपाये) अपाय में (ध्रुवम्) ध्रुव (अपादानम्) अपादान-संज्ञक होता है। 'अपाय' का अर्थ है—अलग होना। 'कारके' १.४.२३ का अधिकार प्राप्त है। 'ध्रुव' का अर्थ है— निश्चित, जो अपने स्थान से हटे नहीं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अलग होने में स्थिर या अचल कारक को 'अपादान' कहते हैं। तात्पर्य यह कि जब दो वस्तुओं का विश्लेष (अलगाव) होता है, तब जो वस्तु अपनी जगह से हटती नहीं, उसी को 'अपादान' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस वस्तु से कोई वस्तु अलग होती है, उसे 'अपादान' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'ग्रामाद् आयाति' (गांव से वह आता है) में वह गांव से अलग होता है, किन्तु 'गांव' अपने ही स्थान पर स्थिर रहता है। अतः वह अपादान-संज्ञक है।

९००. अपादाने पञ्चमी । २ । ३ । २८

ग्रामाद् आयाति। धावतोऽश्वात् पतति—इत्यादि।

९००. अपादाने इति—शब्दार्थ है—(अपादाने) अपादान में (पञ्चमी) पंचमी होती है। उदाहरण के लिए 'ग्रामाद् आयाति' में 'ग्राम' अपादान-संज्ञक है, अतः प्रकृत सूत्र से उसमें पंचमी विभक्ति हुई है। इसी प्रकार 'धावतोऽश्वात् पतति' (दौड़ते हुए घोड़े से वह गिरता है) में 'अश्व' के अपादान-संज्ञक होने से उसमें पंचमी विभक्ति हुई है।

९०१. षष्ठी शेषे । २ । ३ । ५०

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधो दकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः।

९०१. षष्ठीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शेषे) शेष में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है। इस सूत्र के पहिले प्रातिपदिकार्थ, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और

* 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्'—काशिका।

अधिकरण—इन सम्बन्धों को बताया गया है। इनमें क्रमशः प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी और सप्तमी विभक्तियों का विधान किया गया है। सूत्रस्थ 'शेष' का अभिप्राय इन सम्बन्धों के अतिरिक्त शेष अन्य सम्बन्धों से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रातिपदिकार्थ आदि उक्त सम्बन्धों को छोड़कर जन्य-जनक आदि अन्य सम्बन्धों में षष्ठी विभक्ति होती है। 'प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थं प्रति प्राधान्यादप्रधानादेव षष्ठी' परिभाषा से अप्रधान विशेषण में ही षष्ठी विभक्ति होती है। उदाहरण के लिए 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का आदमी) में स्वामि-भृत्य सम्बन्ध होने के कारण 'राजन्' में षष्ठी विभक्ति हुई है। इसी प्रकार जन्य-जनक भाव होने से 'बालस्य माता' (बालक की मां) में 'बाल' में और कार्य-करण सम्बन्ध होने के कारण 'मृत्तिकायाः घटः' (मिट्टी का घड़ा) में 'मृत्तिका' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

कर्म आदि कारकों की सम्बन्ध-मात्र विवक्षा में भी षष्ठी ही होती है।* तात्पर्य यह कि यदि सम्बन्ध-मात्र ही दिखाना हो तो कर्म आदि कारकों में भी षष्ठी विभक्ति होती है। इनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) सतां गतम् (सत्पुरुष-सम्बन्धि गमन)—यहां कर्ता 'सत्' की सम्बन्ध-मात्र विवक्षा होने से उसमें षष्ठी विभक्ति हुई है।

(ख) सर्पिषो जानीते (घी के द्वारा प्रवृत्त होता है)—यहां भी सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में करण कारक 'सर्पिस्' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

(ग) मातुः स्मरति (माता-सम्बन्धी स्मरण करता है)—यहां कर्मकारक 'मातृ' में षष्ठी हुई है।

(घ) एधो दकस्योपस्कुरुते (लकड़ी जल-सम्बन्धी गुणों को धारण करती है)—यहां भी कर्मकारक 'एध' में षष्ठी हुई है।

(ङ) भजे शंभोश्चरणयोः (शम्भु के चरणों को भजता हूँ)—यहां सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में कर्मकारक 'चरण' में षष्ठी विभक्ति हुई है।

९०२. 'आधारोऽधिकरणम्' । १ । ४ । ४५

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणम् ।

९०२. आधार इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(आधारः) आधार (अधिकरणम्) अधिकरण-संज्ञक होता है। 'कारके' १.४.२३ का यहां अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—आधार कारक को अधिकरण कहते हैं। जिसमें क्रिया अधिष्ठित होती है, उसे आधार कहते हैं।† यह आधार तीन प्रकार का होता है—

* 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव'।

† 'आध्रियन्तेऽस्मिन् क्रिया इत्याधारः'—काशिका।

(१) औपश्लेषिक आधार—जिसके साथ आधेय का भौतिक सम्बन्ध होता है, उसे औपश्लेषिक आधार कहते हैं। उदाहरण के लिए 'कटे आस्ते' (चटाई पर है) में 'कट' से बैठने वाले का प्रत्यक्ष भौतिक सम्बन्ध है। अतः 'कट' औपश्लेषिक आधार है।

(२) वैषयिक आधार—उस आधार को कहते हैं जो विषय को लेकर होता है। उसके साथ आधेय का बौद्धिक सम्बन्ध रहता है। उदाहरण के लिए 'मोक्षे इच्छाऽस्ति' (मोक्ष के विषय में इच्छा है) में 'मोक्ष' वैषयिक आधार है क्योंकि यह इच्छा का विषय है।

(३) अभिव्यापक आधार—जिसके साथ आधेय का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध रहता है, उसे 'अभिव्यापक आधार' कहते हैं। यहां आधार के सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्ति रहती है। उदाहरण के लिए 'तिलेषु तैलम्' (तिलों में तैल है) में 'तिल' अभिव्यापक आधार है क्योंकि उसके सभी अवयवों में तैल व्याप्त है। इसी प्रकार 'सर्वस्मिन्नात्मास्ति' (सब में आत्मा है) में भी 'सर्व' अभिव्यापक आधार है।

इन तीनों प्रकार के आधारों को अधिकरण कहते हैं।

९०३. सप्तम्यधिकरणे च । २ । ३ । ३६

अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छाऽस्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा।

इति विभक्त्यर्थप्रकरणम्।

९०३. सप्तमीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अधिकरणे) अधिकरण में (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है (च) और··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' २.३-३५ से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है और दूर तथा अन्तिक (नजदीक, पास) अर्थवाचक शब्दों से भी। दूसरे शब्दों में, अधिकरण और दूर तथा समीप अर्थवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है। उदाहरण के लिए 'कटे आस्ते' में 'कट' अधिकरण है, अतः प्रकृत सूत्र से उसमें सप्तमी विभक्ति हुई है। इसी प्रकार 'स्थाल्यां पचति' (डिगची में पकाता है) में अधिकरण 'स्थाली' में, 'मोक्षे इच्छाऽस्ति' में अधिकरण 'मोक्ष' में और 'सर्वस्मिन्नात्मास्ति' में अधिकरण 'सर्व' में सप्तमी विभक्ति हुई है। दूर तथा समीप अर्थ वाचक शब्दों का उदाहरण 'वनस्य दूरे अन्तिके वा' (वन से दूर या निकट) में मिलता है। यहां दूर अर्थ वाचक 'दूर' तथा समीप अर्थ वाचक 'अन्तिक' में सप्तमी विभक्ति हुई है।

विभक्त्यर्थ-प्रकरण समाप्त।

समासप्रकरणम्

केवलसमासः

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगुः। प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः।

९०४. समर्थः[1] पदविधिः[1]। २। १। १

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः।

९०४. समर्थ इति—यह परिभाषा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(पदविधिः) पद-विधि (समर्थः) समर्थ होती है—यह जानना चाहिये। 'समर्थ' का अभिप्राय है—समर्थ-पदाश्रित।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पद-विधि समर्थपदाश्रित होती है। तात्पर्य यह कि शास्त्र में समर्थ पदों का ही विधान होता है। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—

(१) व्यपेक्षा—आकांक्षा आदि के कारण पदों का जो परस्पर सम्बन्ध होता है उसे 'व्यपेक्षा' कहते हैं। यह वाक्य में होती है। उदाहरण के लिए 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) में दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध है, अतः यहां व्यपेक्षा-रूप सामर्थ्य है।

(२) एकार्थीभाव—जहां पृथक्-पृथक् पदार्थों की एक साथ उपस्थिति होती है, वहां 'एकार्थीभाव' सामर्थ्य होता है। यह समास आदि में होता है। उदाहरण के लिए 'राजपुरुषः' में 'राज्ञः' और 'पुरुषः' का एकार्थीभाव हुआ है।

पदविधि होने से समास भी उन्हीं पदों का होगा जिनका परस्पर सामर्थ्य होगा। उदाहरण के लिये 'चतुरस्य राज्ञः पुरुषः' (चतुर राजा का पुरुष) में 'राज्ञः' और 'पुरुषः' का समास नहीं होता। यहां 'राज्ञः' का सम्बन्ध 'चतुरस्य' से भी है, अतः उसके प्रति साकाङ्क्ष होने के कारण 'राज्ञः' और 'पुरुषः' में परस्पर सामर्थ्य नहीं है। सामर्थ्य न होने से उनका समास भी नहीं होता है। इस प्रकार परस्पर सामर्थ्य वाले पदों का ही विधान होता है—इस बात को भूलना न चाहिये।

---

* 'समर्थपदाश्रयत्वात् समर्थः'—काशिका।

९०५. प्राक्कडारात् समासः । २ । १ । ३

'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।

९०५. प्राक्कडारादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कडारात्) 'कडार' से (प्राक्) पहिले तक (समासः) समास होता है । 'कडार' का प्रयोग 'कडाराः कर्मधारये' २.२.३८ में मिलता है । उसके पहिले 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' २.२.३७ सूत्र आया है । वहीं तक इस सूत्र का अधिकार है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इस सूत्र से लेकर 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' २.२.३७ तक सभी सूत्र समास का विधान करते हैं ।

९०६. सह सुपा । २ । १ । ४

सुप् सुपा सह वा समस्यते । समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक् । परार्थाभिधानं वृत्तिः । कृत्तद्धितसमासैकशेष-सनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः । स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा । तत्र 'पूर्वं भूतः'—इति लौकिकः । 'पूर्व अम् भूत सु' इत्यलौकिकः । भूतपूर्वः । भूतपूर्वे चरडिति निर्देशात् पूर्वनिपातः ।

(वा०) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च । वागर्थौ इव—वागर्थाविव ।

९०६. सह सुपेति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(सुपा) सुप् के (सह) साथ··· । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'सुबामन्त्रिते-०' २.१.२ से 'सुप्' तथा अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'सुप्' से सुबन्त का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुबन्त (जिसके अन्त में सु, औ, जस् आदि २१ प्रत्ययों में से कोई प्रत्यय हो) के साथ सुबन्त का समास होता है । उदाहरण के लिए सुबन्त 'राज्ञः' के साथ सुबन्त 'पुरुषः' का समास होकर 'राजपुरुषः' रूप बनता है ।

(वा०) इवेनेति—यह उक्त सूत्र पर वार्तिक है । इसके स्पष्टीकरण के लिए भी 'सुबामन्त्रिते-०' २.१.२ से 'सुप्' की पूर्ववत् अनुवृत्ति होगी । इस प्रकार भावार्थ है—'इव' के साथ सुबन्त का समास होता है और विभक्ति का लोप नहीं होता । उदाहरण के लिए 'इव' के साथ सुबन्त 'वागर्थौ' का समास होकर 'वागर्थाविव' रूप बनता है । यहां प्रकृत वार्तिक से विभक्ति 'औ' का लोप नहीं हुआ है ।

केवलसमास-प्रकरण समाप्त ।

—·—

अव्ययीभावः

९०७. अव्ययीभावः[1] । २ । १ । ५

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।

९०७. अव्ययीभाव इति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(अव्ययीभावः) अव्ययीभाव होता है। इसका अधिकार 'तत्पुरुषः' २.१.२२ के पूर्व तक जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इस सूत्र से लेकर 'तत्पुरुषः' २.१.२२ के पूर्वसूत्र ('अन्यपदार्थे च संज्ञायाम्' २.१.२१) तक 'अव्ययीभाव' का अधिकार है। तात्पर्य यह कि इस अधिकार-क्षेत्र के सूत्रों द्वारा किये गये समासों को 'अव्ययीभाव' कहते हैं।

९०८. अव्ययं[1] विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथानुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-संपत्ति-साकल्यान्तवचनेषु[7] । २ । १ । ६

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते। प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणास्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ-'हरि ङि अधि' इति स्थिते—।

९०८. अव्ययमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धि-अर्थाभाव-अत्यय-असंप्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-संपत्ति-साकल्य-अन्तवचनेषु) विभक्ति, समीप, समृद्धि, समृद्धि का नाश, अभाव, नाश, अनुचित, शब्द की अभिव्यक्ति, पश्चात्, यथा, क्रमशः, एक साथ, समानता, संपत्ति, सम्पूर्णता और अन्त अर्थ में (अव्ययम्) अव्यय...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'अव्ययीभावः' २.१.५ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—
१.विभक्ति, २. समीप, ३. समृद्धि, ४. समृद्धि का नाश, ५. अभाव, ६. नाश, ७. अनुचित, ८. शब्द की अभिव्यक्ति, ९. पश्चात्, १०. यथा, ११. क्रमशः, १२. एक साथ, १३. समानता, १४. संपत्ति, १५. सम्पूर्णता और १६. अन्त—इन सोलह अर्थों में वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास की अव्ययीभाव संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए 'हरि ङि अधि' में 'अधि' अव्यय सप्तमी विभक्ति के अर्थ अधिकरण में वर्तमान है, अतः प्रकृत सूत्र से सुबन्त 'हरि ङि'

के साथ उसका समास प्राप्त होता है। यहां समास होने पर प्रश्न उठता है कि किस शब्द को पहिले रखा जाय? इसका उत्तर अगले सूत्रों में मिलता है—

६०६. प्रथमानिर्दिष्टं[1] समास[7] उपसर्जनम्[1] । १ । २ । ४३

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात् ।

९०९. प्रथमेति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(समासे*) समासशास्त्र में (प्रथमानिर्दिष्टं)† प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट (उपसर्जनम्) 'उपसर्जन' कहलाता है। तात्पर्य यह कि समास विधान करने वाले सूत्रो में प्रथमा विभक्ति से जिस पद का निर्देश किया जाता है उसे 'उपसर्जन' कहते हैं। उदाहरण के लिए समास-विधायक सूत्र '९०८–अव्ययं विभक्ति–०' में 'अव्ययम्' पद प्रथमान्त है, अतः वह प्रकृत सूत्र से 'उपसर्जन' संज्ञक होगा। 'हरि ङि अधि' में 'अधि' यही अव्यय है, अतः वह भी 'उपसर्जन' है।

६१०. उपसर्जनं[1] पूर्वम्[1] । २ । २ । ३०

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम् । इत्यधेः प्राक् प्रयोगः । सुपो लुक् , एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः, 'अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् सुपो लुक्–अधिहरि ।

९१०. उपसर्जनमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपसर्जनम्) उपसर्जन (पूर्वं) पूर्व या पहिले होता है। 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३ का यहां अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समास में 'उपसर्जन' का प्रयोग पहिले होता है। उदाहरण के लिए 'हरि ङि अधि' में 'अधि' उपसर्जन है, अतः प्रकृत सूत्र से उसका प्रयोग पहिले होने पर 'अधि हरि ङि' रूप बनता है। यहां प्रातिपदिक होने पर सुप्-लोप हो 'अधि हरि' रूप बनने पर अव्ययीभाव होने के कारण प्राप्त 'सु' का लोप होकर 'अधिहरि' रूप सिद्ध होता है।

९११. अव्ययीभावश्च । २ । ४ । १८

अयं नपुंसकं स्यात् । गाः पातीति गोपस्तस्मिन्निति–अधिगोपम् ।

९११.अव्ययीभावश्चेति—शब्दार्थ है—(च) और (अव्ययीभावः) अव्ययीभाव...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'स नपुंसकम्' २.४.१७ से 'नपुंसकम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग होता है।

---

* 'समास इति समासविधायि शास्त्रं गृह्यते'—काशिका।

† इसका विग्रह है—'प्रथमया निर्दिष्टमिति प्रथमानिर्दिष्टम्'।

उदाहरण के लिए 'गोपा ङि अधि' में '९०८—अव्ययं विभक्ति-०' से पूर्ववत् समास आदि होकर 'अधिगोपा' रूप बनता है। इस स्थिति में अव्ययीभाव होने के कारण प्रकृत सूत्र से नपुंसकलिङ्ग हुआ। तब '२४३—ह्रस्वो नपुंसके-०' से ह्रस्व होकर 'अधिगोप' रूप बनेगा। यहां प्रथमा के एकवचन में 'सु' होकर 'अधिगोप सु' रूप बनने पर '३७२—अव्ययादाप्सुपः' से 'सु' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

९१२. नाऽव्ययीभावादतोऽम्[१] त्वपञ्चम्याः[५] । २ । ४ । ८३

अदन्तादव्ययीभावात्सुपां न लुक् तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः स्यात् ।

९१२. नाव्ययीभावादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अतः) अदन्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव से पर...(न) नहीं होता है (तु) किन्तु (अपञ्चम्याः) पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर अन्य विभक्ति से परे...(अम्) 'अम्' होता है। किन्तु इस सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अव्ययादाप्सुपः' २.४.८२ से 'सुपः' तथा 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' २.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अकारान्त अव्ययीभाव के पश्चात् सुप् का लुक् (लोप) नहीं होता है किन्तु पञ्चमी को छोड़कर अन्य विभक्तियों के बाद 'सुप्' के स्थान पर 'अम्' आदेश हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अधिगोप सु' में 'अधिगोप' अकारान्त अव्ययीभाव है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके पश्चात् सुप् 'सु' के स्थान पर 'अम्' होकर 'अधिगोप अम्' रूप बनता है। तब पूर्वरूप एकादेश हो 'अधिगोपम्' रूप सिद्ध होता है।

९१३. तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्[१] । २ । ४ । ८४

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात् । उपकृष्णम् ; उपकृष्णेन । मद्राणां समृद्धिः—सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिः—दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावः—निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययः—अतिहिमम् । निद्रा संप्रति न युज्यत इति—अतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाशः—इतिहरि । विष्णोः पश्चाद्—अनुविष्णु । योग्यता-वीप्सा-पदार्थानतिवृत्ति—सादृश्यानि यथार्थाः । रूपस्य योग्यमनुरूपम् , अर्थमर्थं प्रत्यर्थं, शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति ।

९१३. तृतीयेति—शब्दार्थ है—(तृतीया-सप्तम्योः) तृतीया और सप्तमी विभक्ति के स्थान पर (बहुलम्) बहुल होता है। किन्तु क्या बहुल होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '९१२—नाव्ययीभावाद्-०' से 'अतः', 'अव्ययीभावाद्' और 'अम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अकारान्त अव्ययीभाव के पश्चात् तृतीया (टा) और सप्तमी (ङि)

विभक्ति के स्थान पर बहुलता से 'अम्' आदेश होता है। तात्पर्य यह कि तृतीया और सप्तमी विभक्ति के स्थान पर कभी 'अम्' आदेश होता है और कभी नहीं भी। उदाहरण के लिए 'कृष्ण के समीप' अर्थ में 'कृष्ण ङस् उप—०' इस विग्रह में समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' से '९०८—अव्ययं विभक्ति—०' से समास आदि होकर 'उपकृष्ण' रूप बनेगा। यहां तृतीया विभक्ति की विवक्षा में 'उपकृष्ण टा' रूप बनने पर अकारान्त अव्ययीभाव 'उपकृष्ण' के पश्चात् तृतीया विभक्ति 'टा' के स्थान पर प्रकृत सूत्र से 'अम्' होकर पूर्ववत् 'उपकृष्णम्' रूप सिद्ध होता है। 'अम्' के अभाव-पक्ष में 'टा' के स्थान पर 'इन' और गुणादेश होकर 'उपकृष्णेन' रूप बनता है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति में भी 'अम्' पक्ष में 'उपकृष्णम्' और अमाभाव-पक्ष में 'उपकृष्णे' ये दो रूप बनते हैं।

नोट—अभी तक '९०८—अव्ययं विभक्ति—०' सूत्र के केवल दो ही उदाहरण दिये गये हैं—'अधिहरि' और 'अधिगोपम्' विभक्त्यर्थ के तथा 'उपकृष्णम्' समीप अर्थ का। किन्तु सूत्र के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए अन्य अर्थों के भी उदाहरण देना आवश्यक है*। सुविधा के लिए शेष उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं—

(३) समृद्धि—इसका उदाहरण 'सुमद्रम्' (मद्राणां समृद्धिः, मद्रदेश के राजाओं की समृद्धि) है। यहां समृद्धि अर्थ में वर्तमान 'सु' अव्यय का सुबन्त 'मद्राणाम्' के साथ समास हुआ है।

(४) व्यृद्धि—'यवनानां व्यृद्धिः' (यवनों की ऋद्धि का अभाव)—इस विग्रह में व्यृद्धि अर्थ में वर्तमान 'दुर्' अव्यय का सुबन्त 'यवनानाम्' के साथ समास होकर 'दुर्यवनम्' रूप बनता है।

(५) अभाव—उदाहरण के लिए 'निर्मक्षिकम्' (मक्षिकाणाम् अभावः, मक्खियों का अभाव) में अभाव अर्थ में वर्तमान 'निर्' अव्यय का सुबन्त 'मक्षि-काणाम्' के साथ समास हुआ है।

(६) अत्यय (विनाश)—'हिमस्यात्ययः' (बर्फ का नाश)—इस विग्रह में नाश अर्थ में वर्तमान 'अति' अव्यय का सुबन्त 'हिमस्य' के साथ समास होकर 'अति-हिमम्' रूप बनता है।

(७) असंप्रति (अनौचित्य)—इसका उदाहरण है—'अतिनिद्रम्'। यहां 'निद्रा संप्रति न युज्यते' (इस समय निद्रा उचित नहीं)—इस विग्रह में 'असंप्रति' अर्थ में वर्तमान 'अति' अव्यय का सुबन्त 'निद्रा' के साथ समास हुआ है।

(८) शब्दप्रादुर्भाव (शब्द की अभिव्यक्ति)—'हरिशब्दस्य प्रकाशः' (हरि

---

* विद्यार्थियों को उक्त सूत्र की व्याख्या लिखते समय सोलहों अर्थों के उदाहरण वहीं दे देना चाहिये। यहां प्रसंगवश उनका उल्लेख अलग-अलग किया गया है।

शब्द का प्रादुर्भाव)—इस विग्रह में शब्दप्रादुर्भाव अर्थ में वर्तमान 'इति' अव्यय का सुबन्त 'हरेः' के साथ समास होकर 'इतिहरि' रूप बनता है।

(९) पश्चात्—इसका उदाहरण है—'अनुविष्णु'। यहां 'विष्णोः पश्चाद्' (विष्णु के पीछे)-इस विग्रह में पश्चात् अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का सुबन्त 'विष्णोः' के साथ समास हुआ है।

(१०) यथा—इसके चार अर्थ हैं। चारों के उदाहरण अलग-अलग दिये जा रहे हैं

(क) योग्यता—यहां 'रूपस्य योग्यम्' (रूप के योग्य)—इस विग्रह में योग्यता अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का सुबन्त 'रूपस्य' के साथ समास होकर 'अनुरूपम्' रूप बनता है।

(ख) वीप्सा—इसका उदाहरण है—'प्रत्यर्थम्'। यहां 'अर्थमर्थं प्रति' (प्रति अर्थ)—इस विग्रह में वीप्सा अर्थ में वर्तमान 'प्रति' अव्यय का सुबन्त 'अर्थम्' के साथ समास हुआ है।

(ग) पदार्थानतिवृत्ति—यहां 'शक्तिमनतिक्रम्य' (शक्ति का अतिक्रमण न करके, शक्ति भर)—इस विग्रह में पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में वर्तमान 'यथा' अव्यय का सुबन्त 'शक्तिम्' के साथ समास होकर 'यथाशक्ति' रूप बनता है।

(घ) सादृश्य—'हरेः सादृश्यम्' (हरि की समानता)—इस विग्रह में सादृश्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'हरेः' के साथ समास आदि होकर 'सहहरि' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

९१४. अव्ययीभावे चाऽकाले। ६। ३। ८१

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले। हरेः सादृश्यम्—सहरि। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण इति—अनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपत्—सचक्रम्। सदृशः सख्या—ससखि। क्षत्त्राणां संपत्तिः—सक्षत्त्रम्। तृणमप्यपरित्यज्य—सतृणमत्ति। अग्निग्रन्थपर्यन्तमधीते—साग्नि।

९१४. अव्ययीभावे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अव्ययीभावे) अव्ययीभाव में (अकाले) अकालवाची परे होने पर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिये 'सहस्य सः संज्ञायाम्' ६.३.७८ से 'सहस्य' और 'सः' की अनुवृत्ति होती है। 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से यहां 'उत्तरपदे' का अधिकार प्राप्त है। उसका अन्वय सूत्रस्थ 'अकाले' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि कालवाचक उत्तरपद परे न हो, तो अव्ययीभाव समास में 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश होता है। उदाहरण के लिए अव्ययीभाव समास 'सहहरि' में उत्तरपद 'हरि'

कालवाचक नहीं है, अतः प्रकृत सूत्र से 'सह' के स्थान पर 'स' होकर 'सहरि' रूप सिद्ध होता है।

(११) आनुपूर्व्य (अनुक्रम)—इसका उदाहरण है—'अनुज्येष्ठम्'। यहां 'ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण' (ज्येष्ठ के क्रम से)—यहां आनुपूर्व्य अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का सुबन्त 'ज्येष्ठस्य' के साथ समास हुआ है।

(१२) यौगपद्य (एक साथ)—यहां 'चक्रेण युगपत्' (चक्र के एकदम साथ)—इस विग्रह में यौगपद्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'चक्रेण' के साथ समास होकर 'सहचक्र' रूप बनता है। तब 'सह' के स्थान पर 'स' आदि होकर 'सचक्रम्' रूप सिद्ध होता है।

(१३) सादृश्य—इसका उदाहरण है—'ससखि'। यहां 'सदृशः सख्या' (मित्र के समान)—इस विग्रह में सादृश्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'सख्या' के साथ पूर्ववत् समास हुआ है।

(१४) संपत्ति—यहां 'क्षत्त्राणां संपत्तिः' (क्षत्रियों की संपत्ति)—इस विग्रह में संपत्ति अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'क्षत्राणाम्' के साथ समास होकर पूर्ववत् 'सक्षत्त्रम्' रूप बनता है।

(१५) साकल्य (सम्पूर्णता)—इसका उदाहरण है—'सतृणम्'। यहां 'तृण-मप्यपरित्यज्य' (तृण को भी न छोड़कर अर्थात् सभी)—इस विग्रह में साकल्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'तृणम्' के साथ पूर्ववत् समास हुआ है।

(१६) अन्त—यहां 'अग्निग्रन्थपर्यन्तम्' (अग्नि-चयन ग्रन्थ तक)—इस विग्रह में अन्त अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'अग्निना' के साथ समास होकर 'साग्नि' रूप बनता है।

नोट—वास्तव में '९०८-अव्ययं विभक्ति-०' की व्याख्या यहां पर समाप्त होती है। इसके आगे अन्य बातों का विधान किया गया है।

९१५. [3]नदीभिश्च । २ । १ । २०

नदीभिः सह संख्या समस्यते।

(वा०) समाहारे चायमिष्यते। पञ्चगङ्गम्। द्वियमुनम्।

९१५. नदीभिश्चेति—शब्दार्थ है—(च) और नदियों से। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'संख्या वंश्येन' २.१.१९ से 'संख्या' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३ तथा 'अव्ययीभावः' २.१.५ का अधिकार प्राप्त है। 'सह सुपा' २.१.४ से 'सह' की भी अनुवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नदियों (नदी-विशेषवाचक शब्दों) के साथ संख्या (संख्या-वाचक शब्द) का समास

होता है और वह समास अव्ययीभाव-संज्ञक होता है। 'समाहारे चायमिष्यते' वार्तिक से यह समाहार (समुदाय) अर्थ में ही होता है। उदाहरण के लिए 'पञ्चगङ्गम्' (पांच गङ्गाओं का समाहार) में समाहार अर्थ में संख्यावाचक 'पञ्चन्' का नदी-विशेषवाचक 'गङ्गा' के साथ समास हुआ है। इसी प्रकार 'द्वियमुनम्' (द्वे यमुनाओं का समाहार) में भी 'द्वि' और 'यमुना' का समास हुआ है।

९१६. तद्धिताः । ४ । १ । ७६

आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ।

९१६. तद्धिता इति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(तद्धिताः) तद्धित होते हैं। इसका अधिकार पांचवें अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्तिम सूत्र 'निष्प्रवाणिश्च' ५.४.१६० तक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इस सूत्र से लेकर 'निष्प्रवाणिश्च' ५.४.१६० तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन्हें तद्धित कहते हैं।

९१७. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । ५ । ४ । १०७

शरदादिभ्यष्टच् स्यात्समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपम्–उपशरदम्। प्रतिविपाशम्।

(ग० सू०) जराया जरस्। उपजरसमित्यादि।

९१७. अव्ययीभावे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अव्ययीभावे) अव्ययीभाव में (शरत्प्रभृतिभ्यः) 'शरद्' आदि से···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' ५.४.९१ से 'टच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'समासान्ताः' ५.४.६८ का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अव्ययीभाव में 'शरद्' आदि* से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। 'टच्' में टकार और चकार इत्संज्ञक हैं, अतः केवल 'अ' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए 'शरदः समीपम्' (शरद् के समीप)—इस विग्रह में समीप अर्थ में वर्तमान 'उप' अव्यय का '९०८–अव्ययं विभक्ति–०' से सुबन्त 'शरदः' के साथ समास होकर 'उपशरद्' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से तद्धित-प्रत्यय† 'टच्' होकर 'उपशरद् अ'='उपशरद' रूप बनने पर प्रातिपदिक संज्ञा हो प्रथमा के एकवचन में 'उपशरदम्' रूप सिद्ध होता है। 'विपाश्' का शरदादिगण में ग्रहण होता है, अतः 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' २.१.१४ से समास होकर 'प्रतिविपाश्' रूप बनने पर 'टच्' आदि होकर 'प्रतिविपाशम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'जरायाः समीपम्' (बुढ़ापे के निकट) इस

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

† यहां ध्यान रहे कि 'टच्' प्रत्यय '९१६–तद्धिताः' से तद्धित-संज्ञक है।

विग्रह में 'उप' अव्यय का '९०८—अव्ययं विभक्ति–०' से सुबन्त 'जरायाः' के साथ समास होने पर 'जरा' के स्थान पर 'जरस्' तथा 'टच्' आदि होकर 'उपजरसम्' रूप बनता है।

९१८. अनश्च । ५ । ४ । १०८

अन्नन्तादव्ययीभावात् टच् स्यात् ।

९१८. अनश्चेति—शब्दार्थ है—(च) और (अनः) 'अन्' से···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'राजा-हस्सखिभ्यष्टच्' ५.४.९१ से 'टच्' तथा 'अव्ययीभावे–०' ५.४.१०७ से 'अव्ययीभावे' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अव्ययीभावे' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है और सूत्रस्थ 'अन.' उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने के कारण उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'समासान्ताः' ५.४.६८ का यहां भी अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अन्नन्त अव्ययीभाव (जिसके अन्त में 'अन्' हो) से समासान्त 'टच्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'राज्ञः समीपम्' (राजा के समीप)—इस विग्रह में समीप अर्थ में वर्तमान 'उप' अव्यय का '९०८—अव्ययं विभक्ति–०' से सुबन्त 'राज्ञः' के साथ समास होकर 'उपराजन्' रूप बनता है। यहां अन्त में 'अन्' होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'टच्' होकर 'उपराजन् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९१९. नस्तद्धिते । ६ । ४ । १४४

नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् ।

९१९. नस्तद्धिते इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तद्धिते) तद्धित परे होने पर (नः) नकार का···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'भस्य' ६.४.१२९, 'टेः' ६.४.१४३ तथा 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'नः' 'भस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का तो अधिकार है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नकारान्त भसंज्ञक* अङ्ग की 'टि'† का तद्धित परे होने पर लोप होता है। उदाहरण के लिए 'उपराजन् अ' में 'उपराजन' भसंज्ञक अङ्ग है और उसके अन्त में नकार भी है। अतः तद्धित प्रत्यय 'टच्' (अ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसकी टि–'अन्' का लोप होकर 'उपराज् अ' = 'उपराज' रूप बनता है। इस स्थिति में प्रथमा के

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए '१६५–यचि भम्' की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए '३९–अचोऽन्त्यादि टि' की व्याख्या देखिये।

एकवचन में 'उपराजम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'आत्मन् ङि अधि' में भी '६०८—अव्ययं विभक्ति—०' से समास होकर 'अधि आत्मन्' = 'अध्यात्मन्' रूप बनने पर 'टच्' और टि-लोप आदि होकर 'अध्यात्मम्' रूप सिद्ध होगा।

९२०. नपुंसकादन्यतरस्याम् । ५ । ४ । १०९

अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावात् टज्वा स्यात्। उपचर्मम्, उपचर्म।

९२०. नपुंसकादिति—शब्दार्थ है—(नपुंसकाद्) नपुंसक से (अन्यतरस्याम्) विकल्प से होता है। किन्तु होता है—यह जानने के लिए 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' ५.४.९१ से 'टच्', 'अव्ययीभावे—०' ५.४.१०७ से 'अव्ययीभावे', 'अनश्च' ५.४.१०८ से 'अनः' तथा अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अनः' 'नपुंसकाद्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'अव्ययीभावे' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है और अन्नन्त 'नपुंसकाद्' उसका विशेषण बनता है, अतः उसमें भी तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस अव्ययीभाव के अन्त में अन्नन्त नपुंसक (जिसके अन्त में 'अन्' हो) हो, उससे विकल्प से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'चर्मन् ङस् उप' में '९०८—अव्ययं विभक्ति—०' से समास होकर 'उपचर्मन्' रूप बनता है। यहाँ अव्ययीभाव के अन्त में नपुंसकलिङ्ग 'चर्मन्' है और उसके अन्त में 'अन्' भी है। अतः प्रकृत सूत्र से विकल्प से समासान्त 'टच्' (अ) प्रत्यय होकर 'उपचर्मन् अ' रूप बनने पर टि-लोप आदि होकर 'उपचर्मम्' रूप सिद्ध होता है। 'टच्' के अभाव-पक्ष में 'उपचर्म' रूप बनता है।

९२१. झयः । ५ । ४ । १११

झयन्तादव्ययीभावात् टच् वा स्यात्। उपसमिधम्, उपसमित्।

९२१. झय इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झयः) 'झय्' से···। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'राजाहस्—०' ५.४.९१ से 'टच्', 'अव्ययीभावे—०' ५.४.१०७ से 'अव्ययीभावे' तथा 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' ५.४.१०९ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'समासान्ताः' ५.४.६८ का अधिकार है ही। 'अव्ययीभावे' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है और सूत्रस्थ 'झयः' उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'झय्' वास्तव में प्रत्याहार है* और उससे सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ

* 'झय इति प्रत्याहारग्रहणम्'—काशिका।

होगा—झयन्त अव्ययीभाव (जिसके अन्त में किसी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्ण हो) से विकल्प से समासान्त 'टच्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'समिध् ङस् उप' में पूर्ववत् '९०८-अव्ययं विभक्ति-०' से समास होकर 'उपसमिध्' रूप बनता है। इस स्थिति में अव्ययीभाव के अन्त में झय्-धकार होने के कारण प्रकृत सूत्र से विकल्प से 'टच्' होकर 'उपसमिध् अ' = 'उपसमिध' रूप बनेगा। तब प्रथमा के एकवचन में 'उपसमिधम्' रूप सिद्ध होता है। 'टच्' प्रत्यय के अभाव में 'उपसमित्' रूप बनता है।

अव्ययीभाव-प्रकरण समाप्त।

तत्पुरुषः

९२२. तत्पुरुषः[1] । २ । १ । २२

अधिकारोऽयम् प्राग्बहुव्रीहेः ।

९२२. तत्पुरुष इति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(तत्पुरुषः) तत्पुरुष होता है । इसका अधिकार 'क्त्वा च' २.२.२२ तक जाता है । 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३ का यहां अधिकार है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इस सूत्र से लेकर 'क्त्वा च' २.२.२२ तक के सूत्रों से जो समास होता है, उसे तत्पुरुष कहते हैं ।

९२३. [1]द्विगुश्च । २ । १ । २३

द्विगुरपि तत्पुरुषसंज्ञकः स्यात् ।

९२३ द्विगुरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (द्विगुः) द्विगु...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए '९२२–तत्पुरुषः' की अनुवृत्ति करनी होगी । जिस समास का पूर्वपद संख्या-विशेष-वाचक होता है, उसे 'द्विगु'* कहते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्विगु समास भी तत्पुरुष-संज्ञक होता है । तात्पर्य यह कि द्विगु समास भी 'तत्पुरुष' कहलाता है ।

९२४. [1]द्वितीया श्रितातीत-पतित-गतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः[3] । २ । १ । २४

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह समस्यते वा, स च तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रितः, इत्यादि ।

९२४. द्वितीयेति—शब्दार्थ है—(द्वितीया) द्वितीया विभक्ति (श्रित-अतीत-पतित-गत-अत्यस्त-प्राप्त-आपन्नैः) श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न से...। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'द्वितीया' में तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वितीयान्त सुबन्त का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त (फेंका हुआ), प्राप्त और आपन्न (पड़ा हुआ)—इन सात प्रातिपदिकों से बने हुए सुबन्त के साथ समास

---

* 'संख्यापूर्वो द्विगुः' २.१.५२ ।

होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। इन सभी के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) श्रित—यहां 'कृष्णं श्रितः' (कृष्ण के आश्रित)—इस विग्रह में द्वितीयान्त 'कृष्णं' का सुबन्त 'श्रितः' के साथ समास होकर प्रथमा के एकवचन में 'कृष्णश्रितः' रूप बनता है।

(२) अतीत—इसका उदाहरण है—'दुःखातीतः'। यहां 'दुःखमतीतः' (दुःख को पार कर गया)—इस विग्रह में द्वितीयान्त 'दुःखम्' का सुबन्त 'अतीतः' के साथ समास हुआ है।

(३) पतित—यहां 'नरकं पतितः' (नरक में पड़ा हुआ)—इस विग्रह में द्वितीयान्त 'नरकम्' का सुबन्त 'पतितः' के साथ समास हो 'नरकपतितः' रूप बनता है।

(४) गत—इसका उदाहरण है—'स्वर्गगतः'। यहां 'स्वर्गं गतः' (स्वर्ग को गया हुआ)—इस विग्रह में द्वितीयान्त 'स्वर्गम्' का सुबन्त 'गतः' के साथ समास हुआ है।

(५) अत्यस्त—यहां 'कूपमत्यस्तः' (कूप में फेंका हुआ)—इस विग्रह में द्वितीयान्त 'कूपम्' का सुबन्त 'अत्यस्तः' के साथ समास होकर 'कूपात्यस्तः' रूप बनता है।

(६) प्राप्त—इसका उदाहरण है—'सुखप्राप्तः'। यहां 'सुखं प्राप्तः' (सुख को प्राप्त हुआ)—इस विग्रह में द्वितीयान्त 'सुखम्' का सुबन्त 'प्राप्तः' के साथ समास हुआ है।

(७) आपन्न—यहां 'संकटमापन्नः' (संकट में पड़ा हुआ)—इस विग्रह में द्वितीयान्त 'संकटम्' का सुबन्त 'आपन्नः' के साथ समास होकर 'संकटापन्नः' रूप बनता है।

९२५. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन। २। १। ३०

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृत-गुणवचनेनार्थेन च सह वा प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः—शङ्कुलाखण्डः। धान्येनार्थो धान्यार्थः। तत्कृतेति किम्—अक्ष्णा काणः।

९२५. तृतीयेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तृतीया) तृतीया विभक्ति (तत्कृतार्थेन*) उसके द्वारा किए गये और 'अर्थ' (गुणवचनेन) गुणवाचक से...। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य बिल्कुल ही स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तत्' का अभिप्राय सूत्रस्थ 'तृतीया' से है। इस प्रकार 'तत्कृतम्' का अर्थ है—तृतीया के द्वारा किया हुआ। इसका अन्वय 'गुणवच-

---

* इसका विग्रह है—'तेन कृतम्, तत्कृतम्, तत्कृतञ्च अर्थश्च इति तत्कृतार्थम्, तेन'।

नेन' से होता है, न कि 'अर्थेन' से । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से पूर्ववत् 'तृतीया' में तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तृतीयान्त सुबन्त का उसके द्वारा किये गये गुणवाची प्रातिपदिक के सुबन्त और 'अर्थ' प्रातिपदिक के सुबन्त के साथ समास होता है और इस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'शङ्कुलया खण्डः' (सरोते से किया हुआ टुकड़ा)—इस विग्रह में तृतीयान्त 'शङ्कुलया' का तत्कृत गुणवाचक सुबन्त 'खण्डः' से समास होकर 'शङ्कुलाखण्डः' रूप बनता है । यहां ध्यान रहे कि गुणवाचक प्रातिपदिक का गुण जब तृतीयान्त सुबन्त के द्वारा होगा, तभी समास होगा, अन्यथा नहीं । उदाहरण के लिए 'अक्ष्णा काणः' (आंख से काना) में 'अक्ष्णा' तृतीयान्त सुबन्त है, और उसके उत्तरपद में गुणवाचक सुबन्त 'काणः' भी है । किन्तु यहां गुणवाचक 'काणः' का गुण—'कानापन' तृतीयान्त सुबन्त 'अक्ष्णा' (आंख) के द्वारा नहीं होता है, वह तो वास्तव में मनुष्य के पूर्व-दुष्कर्मों का परिणाम है । अतः 'अक्ष्णा' और 'काणः' में कारण-कार्य सम्बन्ध न होने के कारण समास भी नहीं होता है ।

'अर्थ' शब्द का उदाहरण 'धान्यार्थः' में मिलता है । यहां 'धान्येन अर्थः' (धान्य से प्रयोजन)—इस विग्रह में तृतीयान्त सुबन्त 'धान्येन' का सुबन्त 'अर्थः' के साथ समास हुआ है ।

९२६. कर्तृ-करणे[७] कृता[३] बहुलम् । २ । १ । ३२

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातः—हरित्रातः । नखैर्भिन्नः—नखभिन्नः ।

(प०) कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्याऽपि ग्रहणम् । नखैर्निर्भिन्नः—नखनिर्भिन्नः ।

९२६. कर्तृकरणे इति—शब्दार्थ है—(कर्तृ-करणे) कर्ता और करण अर्थ में (कृता) 'कृत्' से (बहुलम्) बहुल करके··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४, 'तत्पुरुषः' २.१.२२ तथा 'तृतीया तत्कृतार्थेन—०' २.१.३० से 'तृतीया' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'तृतीया' और 'कृत्' में तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा— कर्ता और करण अर्थ में वर्तमान तृतीयान्त सुबन्त का सुबन्त कृदन्त (जिसके अन्त में कोई 'कृत्' प्रत्यय हो) के साथ बहुलता से समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं । बहुलता से होने के कारण समास कभी होता है और कभी नहीं भी । उदाहरण के लिए 'हरिणा त्रातः' (हरि के द्वारा रक्षित)—इस विग्रह में कर्ता अर्थ में वर्तमान तृतीयान्त सुबन्त 'हरिणा' का कृदन्त 'त्रातः' के साथ समास होकर 'हरित्रातः' रूप बनता है । इसी प्रकार 'नखैर्भिन्नः' (नखों से फाड़ा हुआ) में करण अर्थ में वर्तमान 'तृतीयान्त'

'नखैः' का कृदन्त 'भिन्नः' से समास हो 'नखभिन्नः' रूप सिद्ध होता है। किन्तु कभी-कभी कर्ता और करण अर्थ में वर्तमान तृतीयान्त सुबन्त का भी कृदन्त के साथ समास नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'दात्रेण लूनवान्' में कर्ता अर्थ में वर्तमान और 'परशुना छिन्नवान्' में करण अर्थ में वर्तमान तृतीयान्त सुबन्त का कृदन्त के साथ समास नहीं हुआ है।

(प०) कृद्ग्रहणे इति—अर्थ है—'कृत्' के ग्रहण में गति-कारकपूर्व का भी ग्रहण होता है। तात्पर्य यह कि कर्ता और करण अर्थ में वर्तमान तृतीयान्त सुबन्त का गति*-कारकपूर्व कृदन्त के भी साथ समास होता है। उदाहरण के लिए 'नखैर्निर्भिन्नः' इस विग्रह में गति-'निर्'पूर्वक कृदन्त 'भिन्नः' के साथ 'नखैः' का समास होकर 'नखनिर्भिन्नः' रूप बनता है।

९२७. चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः । २ । १ । ३६

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना, अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। यूपाय दारु यूपदारु। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः, तेनेह न—रन्धनाय स्थाली।

(वा०) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्।

द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थम् पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

९२७. चतुर्थीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चतुर्थी) चतुर्थी (तदर्थार्थ—रक्षितैः) तदर्थ, अर्थ, बलि-हित-सुख और रक्षित से··· । किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'चतुर्थी' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा— चतुर्थ्यन्त सुबन्त का तदर्थवाचक, अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित—इन छः प्रातिपदिकों के सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। सभी के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) तदर्थवाचक—यहां 'तद्' से चतुर्थ्यन्त सुबन्त का ग्रहण होता है और इस प्रकार तदर्थ का अर्थ होगा—चतुर्थ्यन्त सुबन्त के लिए।† तात्पर्य यह कि चतुर्थ्यन्त सुबन्त के लिए जिसका उपयोग होता है, उसके वाचक प्रातिपदिक के सुबन्त के साथ उस चतुर्थ्यन्त सुबन्त का समास होता है। किन्तु चतुर्थ्यन्त सुबन्त और तदर्थ-

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए २०१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† 'तदिति सर्वनाम्ना चतुर्थ्यन्तस्यार्थः परामृश्यते'—काशिका।

वाचक सुबन्त में प्रकृति-विकृतिभाव होना चाहिये*—तभी यह समास होगा। दूसरे शब्दों में, चतुर्थ्यन्त सुबन्त के लिए गृहीत वस्तु से यदि चतुर्थ्यन्त वस्तु में विकार संभव होगा तो परस्पर समास होगा, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए 'यूपाय दारु' (यज्ञ-स्तम्भ के लिये लकड़ी) में सुबन्त 'दारु' का उपयोग चतुर्थ्यन्त 'यूपाय' के लिये होता है। 'दारु' (लकड़ी) यहां प्रकृति है और 'यूपाय' विकृति, क्योंकि यूप लकड़ी से बनता है। अतः प्रकृत सूत्र से समास हो 'यूपदारु' रूप बनता है। किन्तु यदि तदर्थवाचक सुबन्त से चतुर्थ्यन्त सुबन्त में कोई विकार न होगा, तो समास भी न होगा। उदाहरणार्थ 'रन्धनाय स्थाली' (पकाने के लिए डेगची) में तदर्थवाचक सुबन्त 'स्थाली' तो है, किन्तु स्थाली से रन्धन न बनने के कारण प्रकृति-विकृतिभाव के अभाव में समास नहीं होता।

(२) अर्थ—यहां 'द्विजाय अर्थः' (द्विज के लिए) में समास हो 'द्विजार्थः' रूप बनता है।

(वा०) अर्थेनेति—अर्थ है—'अर्थ' सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और समस्त पद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। तीनों लिङ्गों के उदाहरण ये हैं—

(क) पुँल्लिङ्ग—'द्विजार्थः सूपः' (द्विज के लिए सूप)

(ख) स्त्रीलिङ्ग—'द्विजार्था यवागूः' (द्विज के लिए लप्सी)

(ग) नपुंसकलिङ्ग—'जिद्वार्थं पयः' (द्विज के लिए दूध)

(३) बलि—इसका उदाहरण है—'भूतबलिः'। यहां 'भूतेभ्यो बलिः' (भूतों के लिए बलि)—इस विग्रह में चतुर्थ्यन्त 'भूतेभ्यः' का सुबन्त 'बलिः' के साथ समास हुआ है।

(४) हित—यहाँ 'गोभ्यो हितम्'—इस विग्रह में चतुर्थ्यन्त 'गोभ्यः' का सुबन्त 'हितम्' के साथ समास होकर 'गोहितम्' (गो-हित) रूप बनता है।

(५) सुख—इसका उदाहरण है—'गोसुखम्'। यहां 'गोभ्यः सुखम्' (गौओं का सुख)—इस विग्रह में चतुर्थ्यन्त 'गोभ्यः' का 'सुखम्' के साथ समास हुआ है।

(६) रक्षित—यहां 'गोभ्यो रक्षितम्' (गौओं के लिए रक्षित)—इस विग्रह में चतुर्थ्यन्त 'गोभ्यः' का सुबन्त 'रक्षितम्' के साथ समास हो 'गोरक्षितम्' रूप बनता है।

९२८. पञ्चमी[1] भयेन[3] । २ । १ । ३७

चोराद् भयम्—चोरभयम्।

---

* 'तदर्थेन प्रकृति-विकारभावे समासोऽयमिष्यते'—काशिका।

९२८. पञ्चमीति—शब्दार्थ है—(पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति (भयेन) भय से··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'पञ्चमी' में पूर्ववत् तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पञ्चम्यन्त सुबन्त का 'भय' प्रातिपदिक के सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' समास कहते हैं। उदाहरण के लिए 'चोराद् भयम्' (चोर से भय) में पञ्चम्यन्त सुबन्त 'चोराद्' का सुबन्त 'भय' के साथ समास होकर 'चोरभयम्' रूप बनता है।

९२९. स्तोकान्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि[1] क्तेन[2] । २ । १ । ३९

९२९. स्तोकेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्तोकान्तिक—कृच्छ्राणि) स्तोक, अन्तिक, दूरार्थ, और कृच्छ्र (क्तेन) 'क्त' प्रत्यय से...। किन्तु होता क्या है—इसका पता इस सूत्र से भी नहीं चलता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४, 'तत्पुरुषः' २.१.२२, तथा 'पञ्चमी भयेन' २.१.३७ से 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पञ्चमी' और 'क्तेन' में 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्तोक (थोड़ा), अन्तिक (समीप), दूरार्थवाचक (दूरी का अर्थ बताने वाला) और कृच्छ्र (कष्ट)—इन चार प्रातिपदिकों के पञ्चम्यन्त सुबन्त का 'क्त'-प्रत्ययान्त के सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। सभी के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) स्तोक—यहां 'स्तोकाद् मुक्तः' (थोड़े से मुक्त)—इस अर्थ में 'स्तोक ङसि मुक्त सु' में समास होकर प्रातिपदिक संज्ञा होने पर '७२१–सुपो धातु–०' से सुप्–'ङसि' और 'सु' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से पंचमी ('ङसि') के विषय में उसका निषेध हो जाता है—

९३०. पञ्चम्याः[1] स्तोकादिभ्यः[2] । ६ । ३ । २

अलुग् उत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। कृच्छ्रादागतः।

९३०. पञ्चम्या इति—शब्दार्थ है—(स्तोकादिभ्यः) 'स्तोक' आदि से परे (पञ्चम्याः) पंचमी विभक्ति का...। किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्तोक' आदि में पूर्वोक्त स्तोक, अन्तिक, दूरार्थवाचक और कृच्छ्र—इन चार प्रातिपदिकों का ग्रहण होता है।* सूत्र का भावार्थ है—उत्तरपद परे होने पर

* 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि स्तोकादीनि'—काशिका।

स्तोक, अन्तिक, दूरार्थवाचक और कृच्छ्र—इन चार प्रातिपदिकों के पश्चात् पञ्चमी विभक्ति (ङसि) का लोप नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'स्तोक ङसि मुक्त सु' में उत्तरपद 'मुक्त सु' परे होने के कारण 'स्तोक' के पश्चात् पञ्चमी विभक्ति 'ङसि' का लोप नहीं होता। तब 'सु' का लोप हो 'स्तोक ङसि मुक्त' रूप बनने पर '१४०–टाङसिङ-साम्–०' से 'ङसि' के स्थान पर 'आत्' आदि होकर 'स्तोकान्मुक्तः' रूप सिद्ध होता है।

(२) अन्तिक—यहां 'अन्तिकाद् आगतः' (पास से आया हुआ)—इस विग्रह में पञ्चम्यन्त सुबन्त 'अन्तिकाद्' का सुबन्त 'क्त'-प्रत्ययान्त 'आगतः' के साथ पूर्ववत् समास होकर 'अन्तिकादागतः' रूप बनता है।

(३) दूरार्थवाचक—इसका उदाहरण है—'अभ्याशादागतः'। यहां 'अभ्याशाद् आगतः' (पास से आया हुआ)—इस विग्रह में दूरी वाचक सुबन्त 'अभ्याशाद्' का 'क्त'-प्रत्ययान्त 'आगतः' के साथ समास हुआ है। इसी प्रकार 'दूराद् आगतः' में भी समास हो 'दूरादागतः' (दूर से आया हुआ) रूप बनता है।

(४) कृच्छ्र—यहां भी 'कृच्छ्राद् आगतः' (कष्ट से आया हुआ)—इस विग्रह में पूर्ववत् पञ्चम्यन्त सुबन्त 'कृच्छ्राद्' का क्त-प्रत्ययान्त 'आगतः' से समास होकर 'कृच्छ्रादागतः' रूप बनता है।

९३१. षष्ठी[1] । २ । २ । ८

सुबन्तेन प्राग्वत्। राज-पुरुषः।

९३१. षष्ठीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(षष्ठी) षष्ठी विभक्ति...। किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'षष्ठी' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठ्यन्त सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'राज्ञः पुरुषः' (राजा का आदमी)—इस विग्रह में षष्ठ्यन्त 'राज्ञः' का सुबन्त 'पुरुषः' के साथ समास होकर 'राजपुरुषः' रूप बनता है।

९३२. पूर्वाऽपराऽधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे[7] । २ । २ । १

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसंख्याविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासाऽपवादः। पूर्वं कायस्य—पूर्वकायः। अपरकायः। एकाधिकरणे किम्—पूर्वश्छात्राणाम्।

९३२. पूर्वापरेति—शब्दार्थ है—(पूर्वाऽपराऽधरोत्तरम्) पूर्व, अपर, अधर

और उत्तर (एकाधिकरणे) एकत्व अर्थ में (एकदेशिना) एकदेशी से...। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'एकाधिकरण' एकदेशी का विशेषण है* और एकदेशी का अर्थ है—अवयवी†। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूर्व (आगे का), अपर (पीछे का), अधर (नीचे का) और उत्तर (ऊपर का)—इन चार प्रातिपदिकों के सुबन्त का एकत्ववाचक अवयवी के सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। यह '९३१-षष्ठी' का बाधक है। तात्पर्य यह कि यदि '९३१-षष्ठी' से समास होता तो षष्ठ्यन्त पद का प्रयोग पूर्व में होता, किन्तु प्रस्तुत सूत्र से समास करने पर प्रथमान्त पद 'पूर्व' आदि का प्रयोग पूर्व में हो जाता है। इसी पूर्व-प्रयोग के लिए इस सूत्र की भी आवश्यकता पड़ी। उदाहरण के लिए 'पूर्वं कायस्य' (शरीर का अगला भाग)—इस विग्रह में सुबन्त 'पूर्वं' का अवयवीवाचक सुबन्त 'कायस्य' के साथ समास होकर 'पूर्वकायः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अपरं कायस्य' से 'अपरकायः', 'अधरं कायस्य' से 'अधरकायः' और 'उत्तरं कायस्य' से 'उत्तरकायः' रूप बनते हैं। किन्तु यदि अवयवी एकत्ववाचक या एकवचनान्त नहीं होगा तो समास भी नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'पूर्वं छात्राणामामन्त्रय' में अवयवी 'छात्राणाम्' के बहुत्ववाचक होने के कारण समास नहीं होता है।

९३३. अर्धं नपुंसकम् । २ । २ । २

समांशवाची-अर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली ।

९३३. अर्धमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नपुंसकम्) नपुंसक (अर्धम्) 'अर्ध'...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४, 'तत्पुरुषः' तथा '९३२-पूर्वापराधरोत्तरम्-०' से 'एकदेशिनैकाधिकरणे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नपुंसकलिङ्ग 'अर्ध' (बराबर भाग) प्रातिपदिक के सुबन्त का एकत्वबोधक अवयवीवाचक सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। यह भी पूर्ववत् '९३१-षष्ठी' का बाधक है। उदाहरण के लिए 'अर्धं पिप्पल्याः' (पीपल का आधा भाग)—इस विग्रह में नपुंसक सुबन्त 'अर्धम्' का अवयवीवाचक सुबन्त 'पिप्पल्याः' के साथ समास होकर 'अर्धपिप्पली' रूप बनता है। एकवचनान्त कहने से यहां बहुत्वबोधक 'अर्धं पिप्पलीनाम्' आदि में समास नहीं होता।

---

* 'एकाधिकरणग्रहणमेकदेशिनो विशेषणम्'—काशिका।

† 'एकदेशोऽस्यास्तीत्येकदेशी अवयवी'—काशिका।

९३४. सप्तमी[1] शौण्डैः[3] । २ । १ । ४०

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः । इत्यादि ।

द्वितीयातृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोगवशात् समासो ज्ञेयः ।

९३४. सप्तमीति—शब्दार्थ है—(सप्तमी) सप्तमी विभक्ति (शौण्डैः*) 'शौण्ड' आदि से...। किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिये 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'शौण्ड आदि' से शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड और प्रवीण आदि का ग्रहण होता है जिनका पाठ शौण्डादिगण में हुआ है।† सूत्रस्थ 'सप्तमी' में 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सप्तम्यन्त सुबन्त का 'शौण्ड' (चतुर) आदि के सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को तत्पुरुष कहते हैं। उदाहरण के लिए 'अक्षेषु शौण्डः' (पासे खेलने में चतुर)—इस विग्रह में सप्तम्यन्त सुबन्त 'अक्षेषु' का सुबन्त 'शौण्डः' से समास हो 'अक्षशौण्डः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अक्षेषु कितवः' से 'अक्षकितवः' और 'अक्षेषु धूर्तः' से 'अक्षधूर्त्तः' आदि अन्य रूप भी बनते हैं।

९३५. दिक्संख्ये[1] संज्ञायाम्[7] । २ । १ । ५०

पूर्वेषुकामशमी । सप्तर्षयः। संज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम्, तेनेह न—उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः ।

९३५. दिक्संख्ये इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में (दिक्संख्ये) दिशा और संख्या···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४, 'तत्पुरुषः' २.१.२२ तथा 'पूर्वकालैकसर्वजरत्–०' २.१.४९ से 'समानाधिकरणेन' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'दिशा' और 'संख्या' से दिशावाचक और संख्यावाचक शब्दों का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संज्ञा के विषय में दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्त का समानाधिकरण वाले सुबन्त (जिसका आधार समान ही हो) के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'पूर्वा च इषुकामशमी च'—इस विग्रह में दिशावाचक सुबन्त 'पूर्वा' का समानाधिकरण वाले सुबन्त 'इषुकामशमी' के साथ प्रकृत सूत्र से समास होकर 'पूर्वेषुकामशमी' रूप बनता

---

* 'बहुवचननिर्देशाद्गणपाठसामर्थ्याच्च आद्यर्थावगतिरिति'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

है। यह प्राचीन ग्राम-विशेष की संज्ञा है। इसी प्रकार 'सप्त च ते ऋषयः'—इस विग्रह में भी संख्यावाचक सुबन्त 'सप्त' का समानाधिकरण वाले सुबन्त 'ऋषयः' के साथ समास हो 'सप्तर्षयः' रूप सिद्ध होता है। यह भी मरीचि आदि सात ऋषियों की संज्ञा है। किन्तु ध्यान रहे कि संज्ञा में ही दिशावाचक और संख्यावाचक पदों का समास होता है, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए 'उत्तरा वृक्षाः' में दिशावाचक 'उत्तराः' के सुबन्त होने पर भी संज्ञा न होने से समास नहीं होता। इसी प्रकार 'पञ्च ब्राह्मणाः' में भी संज्ञा गम्यमान न होने से संख्यावाचक 'पञ्च' का सुबन्त 'ब्राह्मणाः' से समास नहीं होता है।

९३६. तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे* च। २। १। ५१

तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये, दिक्-संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः—पूर्वा शाला, इति समासे जाते—

(वा०) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः।

९३६. तद्धितार्थेति—शब्दार्थ है—(च) और (तद्धितार्थ-उत्तरपद-समाहारे) तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे रहते और समाहार वाच्य होने पर···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४, 'तत्पुरुषः' २.१.२२, 'पूर्वकालैक-सर्वजरत्–०' २.१.४९ से 'समानाधिकरणेन' तथा '९३५–दिक्संख्ये-०' से 'दिक्संख्ये' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तद्धितार्थ (तद्धित के अर्थ) के विषय में, उत्तरपद परे रहते और समाहार वाच्य होने पर दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्त का समानाधिकरण वाले सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। सभी के उदाहरण संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) दिशावाचक—
- (क) तद्धितार्थ में—'पौर्वशालः'।
- (ख) उत्तरपद परे होने पर—'पूर्वशालाप्रियः'।
- (ग) समाहार वाच्य होने पर दिशावाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता।†

(२) संख्यावाचक—
- (क) तद्धितार्थ में—'पाञ्चनापितिः'।
- (ख) उत्तरपद में—'पञ्चगवधनः'।
- (ग) समाहार में—'पञ्चगवम्'।

---

* यहां 'एकापि सप्तमी विषयभेदाद् भिद्यते' परिभाषा से सप्तमी के भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हैं।

† 'समाहारे दिक्शब्दो न सम्भवति'—काशिका।

इनमें से कुछ रूपों की सिद्धि-प्रक्रिया आगामी सूत्रों में बताई गई है। उदाहरण के लिए 'पूर्वस्यां शालायां भवः' (पूर्ववाली शाला में होनेवाला)—इस विग्रह में 'होनेवाला'—यह तद्धितार्थ है। अतः प्रकृत सूत्र से 'पूर्वा ङि शाला ङि भवः'—इस अलौकिक विग्रह में समास होकर प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप्-लोप हो 'पूर्वा शाला' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०) सर्वनाम्न इति—वृत्तिमात्र (समास, तद्धित, कृदन्त आदि) में सर्वनाम को पुंवद्भाव होता है। उदाहरण के लिए समास-वृत्ति 'पूर्वा शाला' में 'पूर्वा' सर्वनाम है, अतः प्रकृत वार्तिक से पुंवद्भाव होने पर 'टाप्' का लोप हो 'पूर्वशाला' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९३७. दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः । ४ । २ । १०७

अस्माद्भवार्थे ञः स्याद् असंज्ञायाम्।

९३७. दिक्पूर्वेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(असंज्ञायाम्) असंज्ञा में (दिक्पूर्वपदात्*) जिसका पूर्वपद दिशावाची हो, उससे (ञः) 'ञ' होता है। 'शेषे' ४.२.९२ का यहां अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संज्ञा-भिन्न विषय में वर्तमान दिशापूर्वपद-प्रातिपदिक से शेष अर्थ में 'ञ' प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि यदि संज्ञा गम्यमान न हो तो दिशापूर्वपद-प्रातिपदिक (जिसका पूर्वपद दिशावाचक हो) से शेष अर्थों (तद्धितार्थ आदि) में 'ञ' प्रत्यय होता है। 'ञ' का ञकार इत्संज्ञक है, केवल 'अ' शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'पूर्वशाला' में पूर्वपद 'पूर्व' दिशावाचक है, अतः प्रकृत सूत्र से तद्धितार्थ में 'ञ' प्रत्यय हो 'पूर्वशाला अ' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९३८. तद्धितेष्वचामादेः । ७ । २ । ११७

ञिति णिति च तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। '२६६–यस्येति च'। पौर्वशालः। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ।

(वा०) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्।

९३८. तद्धितेष्विति—शब्दार्थ है—(तद्धितेषु) तद्धित पर होने पर (अचाम्) अचों के (आदेः) आदि के··· । किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचो ञ्णिति' ७.२.११५ तथा 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहाँ अधिकार प्राप्त है। उसका अन्वय 'अचाम्' से होता है। 'ञ्णिति' 'तद्धितेषु' से और 'अचः' 'आदेः' से सम्बन्धित है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ञित् और णित्

* इसका विग्रह है—'दिग्वाची पूर्वपदं यस्य तत् दिक्पूर्वपदम्, तस्मात्'।

तद्धित प्रत्यय परे होने पर अङ्ग के अचों (स्वर-वर्णों) में से आदि अच् के स्थान में वृद्धि आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'पूर्वशाला अ' में ञित् तद्धित प्रत्यय 'अ' (ञ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से आदि अच्-उकार के स्थान में वृद्धि-औकार होकर 'प् और्वशाला अ' = 'पौर्वशाला अ' रूप बनेगा। तब '२६६-यस्येति च' से 'पौर्वशाला' के आकार का लोप होकर 'पौर्वशाल् अ' = 'पौर्वशाल' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'पौर्वशालः' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'पञ्च गावो धनं यस्य' (पांच गायें हैं धन जिसका)—इस विग्रह में उत्तरपद 'धनं' परे होने के कारण '६३६-तद्धितार्थोत्तरपद-०' से 'पञ्च' और 'गावः' का समास प्राप्त होता है। तत्पुरुष में होने से 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्'* वार्तिक से यह समास नित्य होता है। समास होने पर सुप्-लोप हो 'पञ्चन् गो' रूप बनने पर नकार-लोप हो 'पञ्चगो' रूप बनेगा। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

६३६. गोरतद्धितलुकि । ५ । ४ । ६२

गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।

९३९. गोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अतद्धितलुकि) तद्धित प्रत्यय का लोप न होने पर (गोः) 'गो' शब्द से··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः-०' ५.४.८६ से 'तत्पुरुषस्य' तथा 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' ५.४.६१ से 'टच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'समासान्ताः' ५.४.६८ का यहां अधिकार है। 'तत्पुरुषस्य' पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है और सूत्रस्थ 'गोः' का विशेष्य बनता है। विशेषण होने से 'गोः' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि तद्धित प्रत्यय का लोप न हुआ हो तो गो-शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त 'टच्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए तत्पुरुष समास 'पञ्चगो' में 'गो' शब्द अन्त में है, अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'टच्' प्रत्यय हो 'पञ्चगो अ' रूप बनता है। यहां ओकार के स्थान में 'अवङ्' (अव्) होकर 'पञ्चग् अव् अ' = 'पञ्चगव' रूप बनेगा। तब 'धनम्' के साथ बहुव्रीहि समास करने पर 'पञ्चगवधनः' रूप बनता है।

९४०. तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः । १ । २ । ४२

९४०. तत्पुरुष इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(समानाधिकरणः) समानाधिकरण वाला (तत्पुरुषः) तत्पुरुष (कर्मधारयः) 'कर्मधारय' कहलाता है।

---

* इसका अर्थ है—द्वन्द्व और तत्पुरुष में उत्तरपद परे रहते नित्य समास होता है।

अधिकरण का अर्थ है—आधार। इस प्रकार यदि तत्पुरुष समास के पूर्वपद और उत्तरपद का आधार एक ही होता है, तो उसे 'कर्मधारय' समास कहते हैं। उदाहरण के लिए 'नीलोत्पलम्' (नीला कमल)—इस तत्पुरुष समास में नीलापन और कमल का आधार एक ही फूल है, अतः यह 'कर्मधारय'संज्ञक होगा। इसका विग्रह है—'नीलञ्च तदुत्पलञ्च इति नीलोत्पलम्'। सुविधा के लिए कहा जा सकता है कि यदि तत्पुरुष के पूर्वपद और उत्तरपद—दोनों समानविभक्त्यन्त होंगे, तो उसे 'कर्मधारय' कहा जावेगा।

९४१. संख्यापूर्वो द्विगुः। २। १। ५२

तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात्।

९४१. संख्यापूर्व इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संख्यापूर्वः*) संख्या जिसके पूर्व में हो, उसे (द्विगुः) द्विगु कहते हैं। इस सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '९३६–तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारे च' को समझना आवश्यक है। उक्त सूत्र से तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे रहते तथा समाहार वाच्य होने पर संख्यावाचक सुबन्त का समानाधिकरण वाले सुबन्त के साथ जो समास होता है, उसे द्विगु कहते हैं। उदाहरण के लिए 'पञ्चानां गवां समाहारः' (पांच गायों का समाहार)—इस विग्रह में समाहार वाच्य होने पर '९३६–तद्धितार्थोत्तरपद–०' से 'पञ्चानां' और 'गवां' का पूर्ववत् समास हो 'पञ्चगव' रूप बनता है। पूर्वपद संख्यावाचक होने से इसकी प्रकृत सूत्र से 'द्विगु' संज्ञा होती है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९४२. द्विगुरेकवचनम्। २। ४। १

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात्।

९४२. द्विगुरिति—शब्दार्थ है—(द्विगुः) द्विगु (एकवचनम्) एकवचन वाला होता है। यहां द्विगु से समाहारद्विगु का ही ग्रहण होता है।† 'एकवचन' का अर्थ है—एकार्थवाचक।‡ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समाहारद्विगु एकार्थवाचक होता है। उदाहरण के लिए समाहार अर्थ में होने के कारण 'पञ्चगव' समाहारद्विगु है, अतः प्रकृत सूत्र से एकार्थवाचक होने पर एकवचन की विवक्षा में 'सु' होकर 'पञ्चगव सु' रूप बनता है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

९४३. स नपुंसकम्। २। ४। १७

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। पञ्चानां गवां समाहारः–पञ्चगवम्।

---

* इसका विग्रह है—'संख्या पूर्वा यस्य सः संख्यापूर्वः' (बहुव्रीहि०)।

† 'समाहारद्विगोरेवेदं ग्रहणं नान्यस्य'—काशिका।

‡ 'एकस्य वचनमेकवचनम्। एकार्थस्य वाचको भवतीत्यर्थः'—काशिका।

९४३. स इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सः) वह (नपुंसकम्) नपुंसक होता है। इस सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए इसका सन्दर्भ समझना आवश्यक है। इसके पूर्व प्रथम सूत्र 'द्विगुरेकवचनम्' २.४.१ से लेकर 'विभाषा समीपे' २.४.१६ तक एकवद्भाव किया गया है। यहां सूत्रस्थ 'स' (वह) का अभिप्राय उनसे है जिनका एकवद्भाव किया गया है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इस एकवचन प्रकरण में जिसका एकवद्भाव होता है, वह नपुंसकलिङ्ग होता है। इस प्रकरण में समाहार में द्विगु और द्वन्द्व का एकवद्भाव हुआ है। अतः दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि समाहार में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक होते हैं। उदाहरण के लिए 'पञ्चगव सु' समाहारद्विगु है, अतः प्रकृत सूत्र से नपुंसक होने पर प्रथमा के एकवचन में 'पञ्चगवम्' रूप सिद्ध होता है।

नोट—यहां '९४२–द्विगुरेक–०' और '९४३–स नपुंसकम्–०' इन दो सूत्रों का अर्थ एक ही साथ करना चाहिये। दोनों सूत्रों का समन्वित अर्थ है—समाहारद्विगु एकवचनान्त और नपुंसक होता है।

९४४. विशेषणं[1] विशेष्येण[2] बहुलम्। २।१।५७

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलमुत्पलम्–नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्–कृष्णसर्पः। क्वचिन्न–रामो जामदग्न्यः।

९४४. विशेषणमिति—शब्दार्थ है—(विशेषणं) विशेषण (विशेष्येण) विशेष्य से (बहुलम्) बहुल करके। किन्तु होना क्या चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४, 'तत्पुरुषः' २.१.२२ तथा 'पूर्वकालैकसर्वजरत्–०' २.१.४९ से 'समानाधिकरणेन' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विशेषणवाची सुबन्त का समानाधिकरण वाले विशेष्यवाची सुबन्त के साथ बहुलता से समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। 'बहुलता से' कहने से समास कभी होता है और कभी नहीं भी। उदाहरण के लिए 'नीलम् उत्पलम्' (नीला कमल) में 'नीलम्' विशेषण है और 'उत्पलम्' विशेष्य। दोनों में ही प्रथमा विभक्ति होने से समानाधिकरणता भी है। अतः प्रकृत सूत्र से समास हो 'नीलोत्पलम्' रूप बनता है। इसी प्रकार 'कृष्ण सु सर्प सु'—इस अलौकिक विग्रह में भी समास हो 'कृष्णसर्पः' (काला सांप) रूप सिद्ध होता है। किन्तु कभी-कभी समास नहीं भी होता है। उदाहरण के लिए 'रामो जामदग्न्यः' में विशेष्य और विशेषण दोनों ही हैं और साथ ही समानाधिकरणता भी है किन्तु फिर भी समास नहीं होता।

९४५. उपमानानि[1] सामान्यवचनैः[3]। २।१।५५

घन इव श्यामः—घनश्यामः।

(वा०) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् ।
शाकप्रियः पार्थिवः—शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणः—देवब्राह्मणः ।

९४५. उपमानानीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपमानानि) उपमान (सामान्यवचनैः) सामान्यवाचक से··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। जिससे किसी की समता बताई जाती है, उसे 'उपमान' कहते हैं। 'सामान्य' का अर्थ है—साधारण धर्म ।* जिस धर्म में समता दिखाई जाती है, उसे ही साधारण धर्म कहते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपमान-वाचक सुबन्त का साधारणधर्मवाचक (उपमेय) सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'घन इव श्यामः' (मेघ के समान श्यामवर्ण वाला) में उपमान 'घन' है और साधारण-धर्मवाचक 'श्याम'। अतः प्रकृत सूत्र से 'घन सु' और 'श्याम सु' में समास होकर 'घनश्यामः' रूप बनता है।

(वा०) शाकेति—अर्थ है—'शाकपार्थिव' आदि समासों की सिद्धि के लिए उत्तरपद का लोप होता है। शाकपार्थिवादि आकृतिगण है, और इसमें 'शाकपार्थिव', 'कृतापकृत' और 'भुक्तविभुक्त' आदि का ग्रहण होता है।† उदाहरण के लिए 'शाकप्रियः पार्थिवः' (शाक को पसन्द करनेवाला राजा) में 'शाकप्रियः' और 'पार्थिवः' का समास होता है। यहां 'शाकप्रिय' के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हो 'शाकपार्थिवः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'देवपूजको ब्राह्मणः' (देवताओं को पूजनेवाला ब्राह्मण) का समास होकर 'देवब्राह्मणः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि दोनों ही स्थलों पर '१४४–विशेषणं विशेष्येण–०' से समास होता है।

९४६. नञ् । २ । २ । ६

नञ् सुपा सह समस्यते ।

९४६. नञिति—शब्दार्थ है—(नञ्) नञ्··· । किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'नञ्' (निषेधार्थक 'न') का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'न ब्राह्मणः' (ब्राह्मण से भिन्न)—इस विग्रह में 'नञ्' का सुबन्त 'ब्राह्मणः' के साथ समास होकर 'नञ्

* 'उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम्'—काशिका ।
† विशेष विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

ब्राह्मण सु' रूप बनने पर इत् अकार और सुप्–'सु' का लोप हो 'न ब्राह्मण' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९४७. नलोपो नञः । ६ । ३ । ७३

नञो नस्य लोप उत्तरपदे। न ब्राह्मणः-अब्राह्मणः।

९४७. नलोप इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नञः) 'नञ्' के (नलोपः) नकार का लोप होता है। 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से 'उत्तरपदे' का यहाँ अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उत्तरपद परे होने पर 'नञ्' के नकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'न ब्राह्मण' में उत्तरपद–'ब्राह्मण' परे होने के कारण 'नञ्' (न) के नकार का लोप होकर 'अ ब्राह्मण' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य होने पर 'अब्राह्मणः' रूप सिद्ध होता है।

९४८. तस्मान्नुडचि । ६ । ३ । ७४

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुडागमः स्यात्। अनश्वः। नैकधेत्यादौ तु नशब्देन सह सुप्सुपेति समासः।

९४८. तस्मादिति—शब्दार्थ है—(तस्माद्) उससे परे (अचि*) अच् का अवयव (नुड्) 'नुट्' होता है। यहाँ 'तस्माद्' का तात्पर्य पूर्वसूत्र '९४७–नलोपो नञः' से विहित नकार-लोप वाले 'नञ्' से है। 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से यहाँ 'उत्तर-पदे' का अधिकार प्राप्त है। वह भी षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो सूत्रस्थ 'अचि' (षष्ठ्यन्त में विपरिणत) का विशेष्य बनता है। 'यस्मिन्विधिः–०' परिभाषा से 'अचि' में तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—लुप्तनकार नञ् (जिस नञ् के नकार का लोप हो गया हो) से परे अजादि उत्तरपद (जिसके आदि में कोई स्वर-वर्ण हो) का अवयव 'नुट्' होता है। 'नुट्' का 'उट्' इत्संज्ञक है, अतः 'टित्' होने से '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह अजादि उत्तरपद का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'न अश्वः' (घोड़े से भिन्न)—इस विग्रह में 'नञ्' का सुबन्त 'अश्वः' के साथ समास तथा '९४७–नलोपो नञः' से नकार का लोप हो 'अ अश्व' रूप बनता है। यहाँ नकारलोप वाले नञ् (अ) से परे अजादि उत्तरपद 'अश्व' है, अतः प्रकृत सूत्र से 'नुट्' (न्) होकर 'अन् अश्व' = 'अनश्व' रूप बनेगा। तब विभक्ति-कार्य हो 'अनश्वः' रूप सिद्ध होता है।

९४९. कुगति-प्रादयः । २ । २ । १८

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः–कुपुरुषः।

---

* यहाँ सप्तमी का प्रयोग षष्ठ्यर्थ में हुआ है—"-'ङः सि धुट्' इत्यत्रेवाचीति सप्तम्याः षष्ठी प्रकल्प्यत इति"—अष्टाध्यायी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

९४९. कुगतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कु-गति-प्रादयः) कु, गति और प्रादि···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४, 'तत्पुरुषः' २.१.२२ तथा 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' २.२.१७ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'कु' शब्द अव्यय है और उसका बुरे अर्थ में प्रयोग होता है।* प्रादि गण है और उससे प्र, परा, अप, सम् आदि का ग्रहण होता है।† इन्हीं प्र, परा आदि का प्रयोग जब क्रिया के साथ होता है, तब वे गति-संज्ञक होते हैं।‡ क्रिया के साथ प्रयुक्त न होने पर वे प्रादि ही कहलाते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कु, गति-संज्ञक और प्रादि का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और उस समास को 'तत्पुरुष' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'कुत्सितः पुरुषः' (बुरा आदमी)—इस विग्रह में अव्यय शब्द 'कु' का सुबन्त 'पुरुषः' के साथ समास हो 'कुपुरुष' रूप बनता है। गति-संज्ञक और प्रादि के उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं। सुविधा के लिए यहाँ पर उनका उल्लेख मात्र किया जाता है—

(क) गति-संज्ञक—'ऊरीकृत्य', 'पटपटाकृत्य' और 'शुक्लीकृत्य'।

(ख) प्रादि—'सुपुरुषः', 'प्राचार्यः', 'अतिमालः', 'अवकोकिलः' और 'निष्कौशाम्बिः' आदि।

९५०. ऊर्यादि-च्वि-डाचश्च। १।४।६१

ऊर्यादयः च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। सुपुरुषः।

(वा०) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया। प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः।

(वा०) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया। अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे—

९५०. ऊर्यादीति—शब्दार्थ है—(च) और (ऊर्यादि-च्वि-डाचः) ऊर्यादि, च्वि और डाच्···। किन्तु क्या होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपसर्गाः क्रियायोगे' १.४.५९ से 'क्रियायोगे' तथा 'गतिश्च' १.४.६० से 'गतिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। ऊर्यादि गण है और इसमें ऊरी, उररी, तन्थी और ताली आदि का ग्रहण होता है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'च्वि' और 'डाच्' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ऊरी आदि, च्वि-प्रत्ययान्त और डाच्-प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गति-संज्ञक होते हैं।

---

* 'कुशब्दोऽव्ययं गृह्यते, गत्यादिसाहचर्यात्, न द्रव्यवचनः'—काशिका।

† विशेष विवरण के लिए 'प्रादयः' १.४.५४ की व्याख्या और परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

‡ देखिये '२०१—गतिश्च' की व्याख्या।

गति-संज्ञा होने पर पूर्वसूत्र '९४९–कुगति-प्रादयः' से उनका समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है।

कृ (करना), भू (होना) और अस् (होना, रहना)—इन तीन क्रियाओं के साथ ही ऊरी आदि, च्वि-प्रत्ययान्त और डाच्-प्रत्ययान्त का योग होता है।* इन्हीं 'कृ' आदि धातुओं के साथ ही इनका समास भी होता है। 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' वार्तिक† से सुबन्त होने के पूर्व ही कृदन्त धातु से समास हो जाता है। इस प्रकार गति-संज्ञकों के लिए आवश्यक नहीं कि उनका समास सुबन्तों से ही हो। उनका समास तो वास्तव में कृदन्तों से ही हो जाता है। उदाहरण के लिए 'ऊरी कृत्वा' (स्वीकार करके)—इस विग्रह में गति-संज्ञक 'ऊरी' का कृदन्त 'कृत्वा' के साथ समास हो 'ऊरीकृत्य' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अशुक्लं शुक्लं कृत्वा' (जो सफेद नहीं उसे सफेद करके)—इस विग्रह में च्वि-प्रत्ययान्त 'शुक्ली' का तथा 'पटत् पटत् इति कृत्वा' (पट पट करके)—इस विग्रह में डाच्-प्रत्ययान्त 'पटपटा' का 'कृत्वा' के साथ समास हो क्रमशः 'शुक्लीकृत्य' और 'पटपटा-कृत्य' रूप बनते हैं।

नोट—अब आगे प्रादि के उदाहरण दिये जा रहे हैं। ध्यान रहे कि '९४९–कु-गति-प्रादयः' से प्र आदि का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। उदाहरण के लिये 'शोभनः पुरुषः' (अच्छा आदमी)—इस विग्रह में प्रादि 'सु' का सुबन्त 'पुरुषः' के साथ समास होकर 'सु पुरुषः' रूप बनता है। किन्तु किस प्रकार के सुबन्त के साथ प्रादि का समास होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के ही लिए आगे कुछ वार्तिक दिये जा रहे हैं—

(वा० १) प्रादय इति—अर्थ है—प्र आदि का प्रथमान्त सुबन्त के साथ गत आदि अर्थ में समास होता है। उदाहरण के लिए 'प्रगत आचार्यः'—इस विग्रह में गत अर्थ में प्रादि 'प्र' का प्रथमान्त सुबन्त के साथ समास हो 'प्राचार्यः' रूप बनता है।

(वा० २) अत्यादय इति—भावार्थ है—अति आदि का क्रान्त आदि अर्थ में द्वितीयान्त सुबन्त के साथ समास होता है। 'अति' आदि भी प्रादिगण में ही आते हैं। उदाहरण के लिए 'अतिक्रान्तो मालाम्' (माला का जो अतिक्रमण कर गया हो, वह)—इस विग्रह में 'अति' का क्रान्त अर्थ में सुबन्त द्वितीयान्त 'मालाम्' के साथ

---

* 'च्विडाचो कृभ्वस्तियोगे विधानं तत्साहचर्यादूर्यादीनामपि तैरेव योगे गतिसंज्ञा विधीयते'—काशिका।

† इसका अर्थ है—'गति, कारक और उपपद का कृदन्त पदों के साथ सुप् आने से पूर्व ही समास होता है।'

समास तथा सुप्-लोप हो 'अति माला' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९५१. एकविभक्ति[1] चाऽपूर्वनिपाते[2] । १ । २ । ४४

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तस्य पूर्वनिपातः।

९५१. एकविभक्तीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अपूर्वनिपाते) पूर्व-प्रयोग न होने पर (एकविभक्ति*) एक विभक्ति वाला पद...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' १.२.४३ से 'समास' और 'उपसर्जनम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। अनुवृत्त 'समास' का ग्रहण यहां समास के विग्रह के अर्थ में होता है।† 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से उपसर्जन का जो पूर्व-निपात होता है, उसका यहां प्रतिषेध किया गया है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से पूर्व में प्रयोग न हो तो विग्रह (समास-विग्रह) में एक विभक्ति वाला पद (जिसकी विभक्ति एक ही रहती है, परिवर्तित नहीं होती) 'उपसर्जन' कहलाता है। तात्पर्य यह कि अनेक प्रकार से विग्रह करने पर भी जिस पद की विभक्ति नहीं बदलती है, उस पद को पूर्व-प्रयोग न होने पर 'उपसर्जन' कहते हैं। इस प्रकार इस उपसर्जन के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

(१) विग्रह में पद की विभक्ति न बदलनी चाहिये।

(२) उस पद का प्रयोग पूर्व में न होना चाहिये।

उदाहरण के लिए 'निष्कौशाम्बिः' का विग्रह इतने प्रकार से हो सकता है—'निष्क्रान्तं निष्क्रान्तेन निष्क्रान्ताय निष्क्रान्तात् निष्क्रान्तस्य निष्क्रान्ते वा कौशाम्ब्याः इति निष्कौशाम्बिः'। यहां पूर्वपद अनेक विभक्ति-युक्त होने पर भी उत्तरपद 'कौशाम्ब्याः' पञ्चमी विभक्ति में ही रहता है। उसकी विभक्ति बदलती नहीं है। साथ ही उसका प्रयोग भी पूर्व में नहीं हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से 'निष्कौशाम्बिः' में 'कौशाम्बि' उपसर्जन-संज्ञक होगी। इसी प्रकार नियत-विभक्ति और उत्तरपद होने से 'अतिमाला' में 'माला' भी उपसर्जन-संज्ञक है।

९५२. [6]गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य[6] । १ । २ । ४८

उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। अतिमालः।

---

* इसका विग्रह है—'एका विभक्तिर्यस्य तदिदमेकविभक्ति'।

† 'अनुवर्तमानेन समासग्रहणेन विग्रहो लक्ष्यत इति भावः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

(वा० ३) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया। अवक्रुष्टः कोकिलया–अवकोकिलः।

(वा० ४) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या। परिग्लानोऽध्ययनाय–पर्यध्ययनः।

(वा० ५) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः–निष्कौशाम्बिः।

९५२. गोस्त्रियोरिति—शब्दार्थ है—(उपसर्जनस्य) उपसर्जन संज्ञक (गोस्त्रियोः*) गो शब्द और स्त्री-प्रत्यय का...। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' १.२.४७ से 'प्रातिपदिकस्य' और 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिः' परिभाषा से स्त्री-प्रत्ययवाचक सूत्रस्थ 'स्त्री' में तदन्त-विधि हो जाती है। ये उपसर्जन-संज्ञक गो और स्त्री-प्रत्ययान्त शब्द पुनः 'प्रातिपदिकस्य' के विशेषण हैं। अतः उनमें भी तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस प्रातिपदिक के अन्त में उपसर्जन-संज्ञक गो या स्त्री-प्रत्ययान्त शब्द हो, उसका ह्रस्व होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह ह्रस्वादेश उपसर्जनभूत गो या स्त्री-प्रत्ययान्त शब्द के अन्त्य स्वर-वर्ण के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'अतिमाला' के अन्त में उपसर्जन-संज्ञक 'माला' है और वह स्त्री-प्रत्ययान्त भी है। अतः प्रकृत सूत्र से अन्त्य अच्–आकार के स्थान पर ह्रस्व अकार हो 'अतिमाल् अ' = 'अतिमाल' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो 'अतिमालः' रूप सिद्ध होता है।

नोट—यह द्वितीय वार्तिक 'अत्यादयः' का उदाहरण था। अब अन्य प्रादियों के विषय में व्यवस्था-सम्बन्धी वार्तिक दिये जा रहे हैं—

(वा० ३) अवादय इति—अर्थ है—'अव' आदि का क्रुष्ट आदि अर्थ में तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास होता है। उदाहरण के लिए 'अवक्रुष्टः कोकिलया' (कोयल से कूजित)—इस विग्रह में 'अव' का क्रुष्टार्थ में तृतीयान्त सुबन्त 'कोकिलया' के साथ समास हो पूर्ववत् 'अवकोकिलः' रूप बनता है।

(वा० ४) पर्यादय इति—भावार्थ है—'परि' आदि का ग्लानि अर्थ में चतुर्थ्यन्त सुबन्त के साथ समास होता है। उदाहरण के लिए 'परिग्लानोऽध्ययनाय' (पढ़ने के लिए खिन्न)—इस विग्रह में 'परि' का ग्लानि अर्थ में चतुर्थ्यन्त सुबन्त 'अध्ययनाय' के साथ समास हो 'पर्यध्ययनः' रूप बनता है।

(वा० ५) निरादय इति—अर्थ है—'निर्' आदि का निष्क्रान्त आदि अर्थ में पञ्चम्यन्त सुबन्त के साथ समास होता है। उदाहरण के लिए 'निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः'

* 'गो इति स्वरूपग्रहणं, स्त्रीति प्रत्ययग्रहणं स्वरितत्वात्'—काशिका।

(कौशाम्बी से निकाला गया)—इस विग्रह में 'निर्' का निष्क्रान्त अर्थ में पञ्चम्यन्त सुबन्त 'कौशाम्ब्याः' के साथ समास हो पूर्ववत् 'निष्कौशाम्बिः' रूप बनता है।

नोट—वास्तव में यहां पर '९४९—कुगतिप्रादयः' की व्याख्या समाप्त होती है। इसके आगे दूसरा प्रकरण प्रारम्भ होगा—

९५३. तत्रोपपदं[1] सप्तमीस्थम्[1] । ३ । १ । ९२

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात्।

९५३. तत्रोपपदमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तत्र) वहां (सप्तमीस्थम्*) सप्तमी-विभक्तिस्थ (उपपदम्) उपपद कहलाता है। यहां 'तत्र' (वहां) का तात्पर्य पूर्वसूत्र 'धातोः' ३.१.९१ से प्राप्त धात्वधिकार से है। यह अधिकार 'धातोः' ३.१.९१ से लेकर 'छन्दस्युभयथा' ३.४.११७ तक जाता है। अतः यही इस सूत्र का भी कार्य-क्षेत्र है। सप्तमी-विभक्तिस्थ का अभिप्राय है—सप्तमी-विभक्ति से निर्दिष्ट।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—धात्वधिकार में सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पद उपपदसंज्ञक होता है। उदाहरण के लिए '७९०—कर्मण्यण्' ३.२.१ सूत्र धात्वधिकार में आया है, अतः इस सूत्र में सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट 'कर्म' पद उपपदसंज्ञक होता है।

९५४. [1]उपपदमतिङ्[1] । २ । २ । १९

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति—कुम्भकारः। अतिङ् किम्—मा भवान् भूत्, 'माङि लुङ्' इति सप्तमीनिर्देशान्माङ् उपपदम्।

(वा०) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः। व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपीत्यादि।

९५४. उपपदमिति—शब्दार्थ है—(उपपदम्) उपपद (अतिङ्) अतिङ्। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ से 'सह' तथा 'नित्यं क्रीडाजीविकयोः' २.२.१७ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'समर्थः पदविधिः' २.१.१ का अधिकार तो है ही। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'अतिङ्' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपपद का समर्थ के साथ नित्य समास होता है और यह समास अतिङन्त होता है अर्थात् समास का उत्तरपद तिङन्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, उपपद का तिङन्त-भिन्न समर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है। 'तत्पुरुषः' २.१.२२

---

* इसका विग्रह है—'सप्तम्यां विभक्तौ तिष्ठति इति सप्तमीस्थम्'।

† 'स्थग्रहणं सूत्रेषु सप्तमीनिर्देशप्रतिपत्त्यर्थम्'—काशिका।

का अधिकार होने से यह समास भी तत्पुरुषसंज्ञक होता है। 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' वार्तिक* से यहां सुप् आने के पूर्व ही समास हो जाता है। उदाहरण के लिए 'कुम्भं करोति' (वह जो घड़ा बनाता है)—इस विग्रह में द्वितीयान्त कुम्भपूर्वक 'कृ' धातु से '७९०-कर्मण्यण्' ३.२.१ से अण् प्रत्यय आदि होकर 'कुम्भ अम् कार' रूप बनता है। यहां 'कुम्भं' कर्मपद है, अतः उपपद होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'कार' के साथ उसका समास हो जाता है और इस प्रकार 'कुम्भकारः' रूप बनता है। किन्तु ध्यान रहे कि उत्तरपद यदि तिङन्त होगा तो उपपद रहने पर भी समास नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'मा भूत्' में '४३५-माङि लुङ्' से 'मा' उपपद है, फिर भी उत्तरपद 'भूत्' के तिङन्त होने के कारण परस्पर समास नहीं होता।

९५५. तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः[6] संख्याऽव्ययादेः[6] । ५ । ४ । ८६

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य—द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यः—निरङ्गुलम्।

९५५. तत्पुरुषस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संख्याऽव्ययादेः) संख्यादि और अव्ययादि (अङ्गुलेः)† अङ्गुलिशब्दान्त (तत्पुरुषस्य) तत्पुरुष के···। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ तथा 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्' ५.४.७५ से 'अच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। '१२०-प्रत्ययः' और '१२१-परश्च' के अधिकार से यह 'अच्' प्रत्यय 'तत्पुरुष' से परे होता है।‡ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस 'तत्पुरुष' के आदि में संख्यावाचक या अव्ययवाचक शब्द और अन्त में 'अङ्गुलि' शब्द हो, उससे परे समासान्त 'अच्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य'—इस विग्रह में '९३६-तद्धितार्थ-०' से 'द्वे' का 'अङ्गुली' के साथ समास हो 'द्वि अङ्गुलि' रूप बनता है। यह तत्पुरुष समास है। इसके आदि में संख्यावाचक 'द्वि' है और अन्त में 'अङ्गुलि' शब्द। अतः प्रकृत सूत्र से इससे परे अच् प्रत्यय हो 'द्वि अङ्गुलि अ' रूप बनेगा। तब 'अङ्गुलि' के इकार का लोप और यणादेश आदि हो 'द्व्यङ्गुलम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः' (अङ्गुलियों से निकाला हुआ)—इस विग्रह में अव्ययवाचक 'निर्' का 'अङ्गुलिभ्यः' के साथ समास होकर 'निर् अङ्गुलि' रूप बनने पर 'अच्' (अ) प्रत्यय हो 'निरङ्गुलम्' रूप बनता है।

---

* इसके अर्थ के लिए ९५० वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† सूत्रस्थ 'तत्पुरुषस्य' का विशेषण होने से इसमें तदन्त-विधि हो जाती है।

‡ 'अलोऽन्त्यविधिं बाधित्वा 'प्रत्ययः' 'परश्च' इति परत्वात्तत्पुरुषात्पर एवाच्प्रत्ययो भवति'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

९५६. अहः-सर्वैकदेश-संख्यात-पुण्याच्च रात्रेः । ५ । ४ । ८७

एभ्यो रात्रेरच् स्यात्संख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।

९५६. अहरिति—शब्दार्थ है—(अहः—पुण्यात्) अहः, सर्व, एकदेश, संख्यात और पुण्य से परे…(च) और (रात्रेः) रात्रि के… । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८, 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्—०' ५.४.७५ से 'अच्' तथा '९५५–तत्पुरुषस्य—०' से 'संख्याऽव्ययादेः' और 'तत्पुरुषस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अहः' को छोड़कर 'सर्व' आदि सभी का सम्बन्ध 'तत्पुरुषस्य' से है । 'अहः' का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिए है ।* '१२०–प्रत्ययः' और '१२१–परश्च' का पूर्ववत् अधिकार है ही । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वन्द्व समास में 'अहः' (अहन्–दिन) के पश्चात् और तत्पुरुष समास में सर्व, एकदेश, संख्यात (गिना हुआ) तथा पुण्य के पश्चात् रात्रि शब्द से समासान्त 'अच्' (अ) प्रत्यय होता है। सूत्र में 'च' कहने से संख्यापूर्वक और अव्ययपूर्वक रात्रि से भी समासान्त अच् प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'अहश्च रात्रिश्च' (दिन और रात्रि)—इस विग्रह में 'अहः' और 'रात्रिः' का द्वन्द्व समास हो 'अहन् रात्रि' रूप बनता है । यहां द्वन्द्व में 'अहन्' के बाद 'रात्रि' शब्द आया है, अतः प्रकृत सूत्र से समासान्त 'अच्' (अ) प्रत्यय हो 'अहन् रात्रि अ' रूप बनेगा । तब इकार-लोप और नकार को उत्व होकर 'अहोरात्र' रूप बनने पर '९४३–स नपुंसकम्' से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त होता है, किन्तु आगामी सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

९५७. रात्राऽह्नाऽहाः[१] पुंसि[७] । २ । ४ । २९

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्च–अहोरात्रः । सर्वरात्रः । संख्यातरात्रः ।

(वा०) संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् । द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

९५७. रात्राह्नाहा इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(रात्राह्नाहाः) रात्र, अह्न और अह (पुंसि) पुँल्लिङ्ग में होते हैं । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः' २.४.२६ से 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' की अनुवृत्ति होती है । वह प्रथमा-बहु-वचन में विपरिणत होकर सूत्रस्थ 'रात्राह्नाहाः' का विशेष्य बनता है । 'रात्राह्नाहाः' में विशेषण होने के कारण तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि द्वन्द्व और तत्पुरुष के अन्त में रात्र, अह्न और अह शब्द हों, तो वे पुँल्लिङ्ग में ही होते हैं । उदाहरण के लिए द्वन्द्व–'अहोरात्र' के अन्त में 'रात्र' शब्द है, अतः

---

* 'अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्'—काशिका ।

प्रकृत सूत्र से पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'अहोरात्रः' रूप बनता है। इसी प्रकार तत्पुरुष में 'सर्व' से 'सर्वरात्रः', 'संख्यात' से 'संख्यातरात्रः' और 'पुण्य' से 'पुण्यरात्रः' रूप बनते हैं। एकदेश का उदाहरण है—'पूर्वरात्रः' (रात्रि का पूर्व भाग)। 'द्वयोः रात्र्योः समाहारः'—इस विग्रह में संख्यावाचक 'द्वयोः' का 'रात्र्योः' के साथ पूर्ववत् समास हो 'द्विरात्र' रूप बनता है। यहां तत्पुरुष 'द्विरात्र' के अन्त में 'रात्र' शब्द है, अतः प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव होता है, किन्तु इसका बाध अग्रिम वार्तिक से हो जाता है—

(वा०) संख्यापूर्वमिति—अर्थ है—संख्यापूर्वक रात्र शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है। उदाहरण के लिए 'द्विरात्र' में संख्या पूर्व में होने के कारण प्रकृत वार्तिक से नपुंसक-भाव हो 'द्विरात्रम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अतिक्रान्तो रात्रिम्'—इस विग्रह में अव्यय 'अति' का 'रात्रिम्' के साथ पूर्ववत् समास हो 'अतिरात्र' रूप बनता है। यहां पूर्व में संख्या न होने के कारण प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव हो 'अतिरात्रः' रूप सिद्ध होता है।

९५८. राजाऽहःसखिभ्यष्टच् । ५ । ४ । ९१

एतदन्तात् तत्पुरुषात् टच् स्यात्। परमराजः।

९५८. राजाह इति—शब्दार्थ है—(राजाहःसखिभ्यः) राजन्, अहन् और सखि से (टच्) टच् प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ तथा '९५५—तत्पुरुषस्य—०' से 'तत्पुरुषस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तत्पुरुषस्य' 'पञ्चमी-बहुवचन में विपरिणत हो सूत्रस्थ 'राजाहःसखिभ्यः' का विशेष्य बनता है। विशेषण होने के कारण 'राजाहःसखिभ्यः' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि तत्पुरुष के अन्त में राजन्, अहन् और सखि शब्द हों तो उससे समासान्त 'टच्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'परमश्च असौ राजा च' (श्रेष्ठ राजा)—इस विग्रह में 'परमः' का 'राजा' के साथ तत्पुरुष समास हो 'परम राजन्' रूप बनता है। यहां 'राजन्' अन्त में होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'अच्' प्रत्यय हो 'परम राजन् अ' रूप बनेगा। तब टि—'अन्' का लोप हो विभक्ति-कार्य होकर 'परमराजः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अहन्' अन्त में होने पर 'उत्तमाहः' (उत्तम दिन) आदि और 'सखि' अन्त में होने पर 'परमसखः' (श्रेष्ठ मित्र) आदि रूप बनते हैं।

९५९. आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः । ६ । ३ । ४६

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाराजः। प्रकारवचने जातीयर्। महाप्रकारो—महाजातीयः।

९५९. आन्महत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(समानाधिकरणजातीययोः) समानाधिकरण और जातीय परे होने पर (महतः) महत् के स्थान में (आत्) आकार होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसका अन्वय सप्तम्यन्त समानाधिकरण से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समानाधिकरण उत्तरपद (जिसकी विभक्ति पूर्वपद के समान हो) और जातीय प्रत्यय परे होने पर 'महत्' (बड़ा) के स्थान में आकार होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आकारादेश 'महत्' के अन्त्य तकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'महान् च असौ राजा' (बड़ा राजा)—इस विग्रह में 'महान्' और 'राजा' का समानाधिकरण समास हो 'महत् राजन्' रूप बनता है। यहां समानाधिकरण उत्तरपद 'राजन्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'महत्' के तकार के स्थान पर आकार हो 'मह आ राजन्' रूप बनेगा। तब टच् प्रत्यय और टि-लोप आदि हो 'महाराजः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार जातीय प्रत्यय परे होने पर 'महाजातीयः' रूप बनता है।

९६०. द्व्यष्टनः[६] संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः[७] । ६ । ३ । ४७

आत्स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश । अष्टाविंशतिः ।

९६०. द्व्यष्टन इति—शब्दार्थ है—(अबहुव्रीह्यशीत्योः) बहुव्रीहि-भिन्न और अशीति-भिन्न (संख्यायाम्) संख्या परे होने पर (द्व्यष्टनः) द्वि और अष्टन् के स्थान में···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से 'उत्तरपदे' तथा '९५९-आन्महतः-०' से 'आत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उत्तरपदे' का अन्वय सूत्रस्थ 'संख्यायाम्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि बहुव्रीहि समास और अशीति शब्द परे न हो तो संख्यावाचक उत्तरपद रहने पर द्वि और अष्टन् के स्थान में आकार आदेश होता है। संक्षेप में, आकारादेश के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) बहुव्रीहि समास न होना चाहिये।
(२) उत्तरपद में 'अशीति' शब्द न होना चाहिये।
(३) उत्तरपद में संख्यावाचक शब्द होना चाहिये।

'२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह आकारादेश 'द्वि' के अन्त्य इकार और 'अष्टन्' के अन्त्य नकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'द्वौ च दश च' (दो और दश)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होकर 'द्विदशन्' रूप बनता है। यहां संख्यावाचक उत्तरपद 'दशन्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'द्वि' के इकार के स्थान पर आकार हो 'द्व् आ दशन्' = 'द्वादशन्' रूप बनेगा। तब विभक्ति-कार्य हो 'द्वादश' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अष्टौ' और 'विंशतिः' का समास हो 'अष्टन्

विंशति' रूप बनने पर 'अष्टन्' के नकार के स्थान पर आकार हो 'अष्टाविंशतिः' रूप बनता है। किन्तु ध्यान रहे कि यदि उत्तरपद संख्यावाचक न होगा तो 'द्वि' या 'अष्टन्' के स्थान में आकारादेश भी नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'द्विमातुरः' में उत्तरपद 'मातुरः' के संख्यावाचक न होने के कारण 'द्वि' के इकार के स्थान में आकार नहीं हुआ है। इसी प्रकार बहुव्रीहि समास होने पर 'द्वित्राः' और 'अशीति' परे होने पर 'द्व्यशीतिः' में भी आकारादेश नहीं होता।

९६१. परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः। २। ४। २६

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। कुक्कुटमयूर्याविमे। मयूरीकुक्कुटाविमौ। अर्धपिप्पली।

(वा०) द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः-पुरोडाशः।

९६१. परवदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः) द्वन्द्व और तत्पुरुष में (लिङ्गम्) लिङ्ग (परवत्) पर के समान होता है। द्वन्द्व से यहां समाहार-द्वन्द्व-भिन्न द्वन्द्व का ग्रहण होता है।* समाहार-द्वन्द्व में तो '९४३—स नपुंसकम्' से पहिले ही नपुंसक-लिङ्ग का विधान किया जा चुका है। 'पर' का अभिप्राय 'परपद' या 'उत्तरपद' से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समाहार-भिन्न द्वन्द्व और तत्पुरुष में लिङ्ग उत्तरपद के समान होता है। तात्पर्य यह कि जो लिङ्ग उत्तरपद का होता है, वही लिङ्ग समस्त पद का भी होता है। उदाहरण के लिए 'कुक्कुटश्च मयूरी च' (मुर्गा और मोरनी)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास हो 'कुक्कुट-मयूरी' रूप बनता है। यहां उत्तरपद 'मयूरी' है और वह स्त्रीलिङ्ग में है। अतः प्रकृत सूत्र से उसी के समान समस्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग हो प्रथमा के द्विवचन में 'कुक्कुट-मयूर्यौ' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मयूरी-कुक्कुट' रूप बनने पर उत्तरपद 'कुक्कुट' के पुँल्लिङ्ग होने के कारण समस्त पद से पुँल्लिङ्ग हो 'मयूरीकुक्कुटौ' रूप बनता है। 'अर्धं पिप्पल्याः' (पिप्पली का आधा)—इस विग्रह में तत्पुरुष समास हो 'अर्ध पिप्पली' रूप बनने पर इसी प्रकार उत्तरपद 'पिप्पली' के स्त्रीलिङ्ग होने से समस्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग हो 'अर्धपिप्पली' रूप बनेगा।

इसी भांति 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः' (पांच कपालों से संस्कृत पुरोडाश)—इस विग्रह में 'पञ्चसु' और 'कपालेषु' का तद्धितार्थ संस्कृत में तत्पुरुष समास हो 'पञ्च कपाल' रूप बनता है। यहां उत्तरपद 'कपाल' नपुंसक है, अतः प्रकृत

---

* 'समाहारद्वन्द्वे नपुंसकलिङ्गस्य विहितत्वात् इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येदं ग्रहणम्'—काशिका।

सूत्र से सम्पूर्ण समस्त पद से नपुंसकलिङ्ग प्राप्त होता है। इस अवस्था में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०) द्विगुप्राप्तेति—अर्थ है—द्विगु समास,* प्राप्त, आपन्न और अलं-पूर्वक समास तथा गति† समास में पर शब्द के समान लिङ्ग नहीं होता। उदाहरण के लिए 'पञ्च कपाल' में पूर्वपद संख्यावाचक है, अतः '९४१–संख्यापूर्वो द्विगुः' से द्विगु समास होने के कारण '९६१–परवल्लिङ्गं-०' से प्राप्त नपुंसकलिङ्ग का निषेध हो जाता है। तब पुँल्लिङ्ग में प्रथमा के एकवचन में 'पञ्चकपालः' रूप सिद्ध होता है। 'प्राप्त' और 'आपन्न' आदि के उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं—

९६२. प्राप्ताऽऽपन्ने[1] च[2] द्वितीयया[3] । २ । २ । ४

समस्येते, अकारश्चानयोरन्तादेशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। आपन्न-जीविकः। अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः। अत एव ज्ञापकात्समासः। निष्कौ-शाम्बिः।

९६२. प्राप्तापन्ने इति—शब्दार्थ है—(च) और (प्राप्तापन्ने) प्राप्त तथा आपन्न (द्वितीयया) द्वितीया विभक्ति से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'तत्पुरुषः' २.१.२२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'द्वितीयया' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सुबन्त प्राप्त और आपन्न का द्वितीयान्त सुबन्त के साथ समास होता है और उस समास को तत्पुरुष कहते हैं। उदाहरण के लिए 'प्राप्तो जीविकाम्' (जिसे जीविका मिल गई हो)—इस विग्रह में सुबन्त 'प्राप्तः' का द्वितीयान्त 'जीविकाम्' से समास होकर 'प्राप्त जीविका' रूप बनता है। यहां तत्पुरुष समास होने के कारण '९६१–परवल्लिङ्गं–०' से पर-पद 'जीविका' के समान समस्त पद से स्त्रीलिङ्ग प्राप्त होता है, किन्तु पूर्व में 'प्राप्त' होने के कारण पूर्वोक्त वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है। तब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होकर 'प्राप्तजीविकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'आपन्नो जीविकाम्' (जीविका को प्राप्त)—इस विग्रह में परस्पर समास हो 'आपन्नजीविकः' रूप बनता है। इसी भांति 'अलं'पूर्वक होने के कारण 'अलंकुमारिः' (कुमारी के योग्य) और गति-समास होने से 'निष्कौशाम्बिः' में भी परवत् स्त्रीलिङ्ग नहीं होता।

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए ९४१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए ९४९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

९६३. अर्धर्चाः[1] पुंसि[2] च[3] । २ । ४ । ३१

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः । अर्धर्चः, अर्धर्चम् । एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहाऽङ्कुश-पात्र-सूत्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ।

इति तत्पुरुषः ।

९६३. अर्धर्चा इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अर्धर्चाः*) 'अर्धर्च' आदि (पुंसि) पुँल्लिङ्ग में होते हैं (च) और...। यहां सूत्रस्थ 'च' के द्वारा पूर्वसूत्र 'अपथं नपुंसकम्' २.४.३० से 'नपुंसकम्' का ग्रहण होता है। अर्धर्चादि गण है और इसमें अर्धर्च, गोमय और कषाय आदि शब्दों का समावेश होता है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अर्धर्च' (आधी ऋचा) आदि शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनों में ही होते हैं। इस प्रकार इन शब्दों के दो-दो रूप बनते हैं। उदाहरण के लिए 'अर्धम् ऋचः' (ऋचा का आधा)—इस विग्रह में समास हो 'अर्धर्च' रूप बनने पर पुँल्लिङ्ग में 'अर्धर्चः' और नपुंसकलिङ्ग में 'अर्धर्चम्' रूप बनता है। इसी प्रकार 'गोमय' आदि के भी दो-दो रूप बनते हैं।

तत्पुरुषसमास समाप्त ।

---

* यहां बहुवचन के प्रयोग से तदादि का ग्रहण होता है।

† विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

बहुव्रीहिः

९६४. शेषो बहुव्रीहिः । २ । २ । २३

अधिकारोऽयं प्राग् द्वन्द्वात् ।

९६४. शेष इति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(शेषः) बाकी (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहि होता है । 'बाकी' का अर्थ है—कहे हुए से बचा हुआ । इस सूत्र के पूर्व अव्ययीभाव और तत्पुरुष—ये दो समास बताये गये हैं । अतः 'शेष' या बाकी से इनसे भिन्न समास का ही ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अव्ययीभाव और तत्पुरुष से भिन्न समास को बहुव्रीहि कहते हैं । इस सूत्र का अधिकार यहाँ से लेकर 'तेन सहेति तुल्ययोगे' २.२.२८ तक है । तात्पर्य यह कि यहां से लेकर 'तेन सहेति-०' २.२.२८ तक के सूत्रों से जो समास होता है, उसे 'बहुव्रीहि' कहते हैं ।

९६५. अनेकमन्यपदार्थे । २ । २ । २४

अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ।

९६५. अनेकमिति—शब्दार्थ है—(अन्यपदार्थे) अन्य पद के अर्थ में (अनेकम्) अनेक...किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'समर्थः पदविधिः' २.१.१, 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'शेषो बहुव्रीहिः' २.२.२३ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अन्य पद' का अर्थ है—समस्त पदों से भिन्न पद ।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक समर्थ सुबन्तों का परस्पर समास होता है और उस समास को बहुव्रीहि समास कहते हैं । तात्पर्य यह कि समास में आये हुए पद यदि अपने अतिरिक्त किसी अन्य पद का बोध कराते हैं तो बहुव्रीहि समास होता है । उदाहरण के लिए 'पीताम्बरः' समास में दो पद हैं—पीत और अम्बर । इन दोनों पदों का निजी अर्थ है—पीला वस्त्र । किन्तु यहां 'पीताम्बरः' से पीले वस्त्र का अभिप्राय नहीं है । इसका प्रयोग तो वास्तव में श्रीकृष्ण के अर्थ में हुआ है जिनका वस्त्र पीला रहता था । 'श्रीकृष्ण' पद समास में नहीं आया है, अतः वह अन्य पद है । उस अन्य पद का बोध कराने के कारण ही 'पीताम्बरः' समास बहुव्रीहि-संज्ञक है ।

---

* 'समस्यमानपदातिरिक्तस्य पदस्यार्थे इत्यर्थः'—अष्टाध्यायी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

९६६. सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ । २ । २ । ३५

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः ।

९६६. सप्तमीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि में (सप्तमी-विशेषणे) सप्तमी और विशेषण...। किन्तु क्या होना चाहिये—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता ! इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणम्' परिभाषा से सूत्रस्थ 'सप्तमी' में तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त और विशेषण का पहिले (पूर्व) प्रयोग होता है ।

'९६५–अनेकम्–०' सूत्र में 'अनेकम्' पद प्रथमान्त है । अतः उपसर्जन-संज्ञक होने से उसका पूर्व-प्रयोग प्राप्त होता है । किन्तु 'अनेकम्' से समास के सभी पदों का बोध होता है, इसलिए यह निर्णय नहीं हो पाता कि किस पद को पहिले रखा जाय । इसी समस्या को हल करने के लिए इस सूत्र से विधान किया गया है कि सप्तम्यन्त और विशेषणवाचक पद को पहिले प्रयोग करना चाहिये । उदाहरण के लिए 'प्राप्त-मुदकं ग्रामम्' (ऐसा गाँव जहां पानी पहुँच चुका हो)—इस विग्रह में 'प्राप्तम्' और 'उदकम्' दोनों ही प्रथमान्त हैं, अतः उपसर्जन-संज्ञक होने से '९१०–उपसर्जनं–०' से दोनों का ही पूर्व-प्रयोग प्राप्त होता है । किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो विशेषण-वाचक पद 'प्राप्तम्' का पहिले प्रयोग होता है । इसी प्रकार 'कण्ठे कालो यस्य' (जिसके गले में काला निशान हो)—इस विग्रह में सप्तम्यन्त पद 'कण्ठे' का पहिले प्रयोग होगा ।

९६७. हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् । ६ । ३ । ९

हलन्तादन्तात् सप्तम्या अलुक् । कण्ठेकालः । प्राप्तमुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः ।

(वा० १) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः । प्रपतितपर्णः—प्रपर्णः ।

(वा० २) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः । अविद्यमान-पुत्रः—अपुत्रः ।

९६७. हलदन्तादिति—शब्दार्थ है—(संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में (हलदन्तात्*)

* इसका विग्रह है—'हल् च अत् च इति हलतौ । हलतौ अन्तौ यस्येति हलदन्तम् तस्मात्' ।

हलन्त और अदन्त से पर (सप्तम्याः) सप्तमी का··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से 'अलुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—हलन्त (जिसके अन्त में कोई व्यंजन-वर्ण हो) और अकारान्त के पश्चात् संज्ञा अर्थ में सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं होता है । उदाहरण के लिए 'कण्ठ ङि काल सु 'में बहुव्रीहि समास होता है । तब प्रातिपदिक संज्ञा होने पर '७२१-सुपो धातु-०' से सुप्-'ङि' और 'सु' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु अकारान्त 'कण्ठ' से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से सप्तमी विभक्ति 'ङि' के लोप का निषेध हो जाता है । इस स्थिति में केवल 'सु' का लोप हो 'कण्ठे काल' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'कण्ठेकालः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'सरस् ङि जन्' में भी हलन्त 'सरस्' के पश्चात् सप्तमी विभक्ति का लोप नहीं होता और ड प्रत्यय आदि होकर 'सरसिजम्' रूप बनता है ।

(वा० १) **प्रादिभ्य इति**—भावार्थ है—'प्र' आदि से परे धातुज (धातु से बना हुआ शब्द) का अन्य पद के साथ समास होता है और उसके उत्तरपद का लोप होता है, विकल्प से । तात्पर्य यह कि यदि धातुज शब्द के आदि में 'प्र' आदि आते हैं तो उसका अन्य पद के साथ समास होता है और विकल्प से उसके उत्तरपद का लोप भी होता है । उदाहरण के लिए 'प्रपतितानि पर्णानि यस्मात्' (जिससे पत्ते गिर चुके हों)—इस विग्रह में धातुज 'पतितानि' के पूर्व 'प्र' आया है, अतः अन्य पद 'पर्णानि' से उसका समास हो 'प्रपतित पर्ण' रूप बनता है । यहाँ धातुज शब्द 'प्रपतित' के उत्तरपद 'पतित' का लोप हो 'प्रपर्ण' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'प्रपर्णः' रूप सिद्ध होता है ।

(वा० २) **नञ इति**—भावार्थ है—नञ् से परे विद्यमानता अर्थ के वाचक पद का अन्य पद के साथ समास होता है और उसके उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है । दूसरे शब्दों में, नञ्-पूर्वक विद्यमानतार्थक पद का अन्य पद के साथ समास होता है और विकल्प से उसके उत्तरपद (विद्यमानतार्थक पद) का लोप भी होता है । उदाहरण के लिए 'अविद्यमानः पुत्रो यस्य' (जिसका पुत्र विद्यमान न हो)—इस विग्रह में नञ्-पूर्वक विद्यमानता-अर्थ-वाचक 'अविद्यमानः' का अन्य पद 'पुत्रः' के साथ समास हो 'अविद्यमान पुत्र' रूप बनता है । तब नञ्-पूर्वक विद्यमानतार्थक पद 'अविद्यमान' के उत्तरपद-'विद्यमान' का लोप हो विभक्ति-कार्य करने पर 'अपुत्रः' रूप सिद्ध होता है ।

९६८. स्त्रियाः[६] पुंवद्[१] भाषितपुंस्कादनूङ्[१]* समानाधिकरणे[७] [७]स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु[७] । ६ । ३ । ३४

* इसका प्रयोग षष्ठ्यर्थ में हुआ है—'षष्ठ्यर्थे प्रथमेति हरदत्तः' ।

उक्तपुंस्काद् अनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः, निपातनात् पञ्चम्या अलुक्, षष्ठ्याश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम्—वामोरूभार्यः।

६६८. स्त्रिया इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अपूरणीप्रियादिषु) पूरणी और 'प्रिया' आदि शब्दों को छोड़कर (समानाधिकरणे स्त्रियाम्) समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग परे रहने पर (भाषितपुंस्कादनूङ्* स्त्रियाः) 'ऊङ्'-प्रत्ययान्तभिन्न स्त्रीवाचक भाषितपुंस्क† पद का (पुंवद्) पुंवद्भाव होता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय आदि क्रमवाचक विशेषण 'पूरणी' कहे जाते हैं। प्रियादि गण है और इसमें प्रिया, मनोज्ञा और कल्याणी आदि शब्दों का समावेश होता है।‡ 'अलुगुत्तरपदे' ६.३.१ से यहां 'उत्तरपदे' का अधिकार प्राप्त है। इसका अन्वय सूत्रस्थ 'समानाधिकरणे स्त्रियाम्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—पूरणी और प्रियादि शब्दों को छोड़कर अन्य समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे होने पर 'ऊङ्'-प्रत्ययान्तभिन्न स्त्रीवाचक भाषितपुंस्क पद के रूप पुँल्लिङ्ग के समान बनते हैं। उदाहरण के लिये 'चित्रा गावो यस्य' (चित्र-रंग-विरंगी गायें जिसकी हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'चित्रा गो' रूप बनता है। यहां 'चित्रा' पद स्त्रीवाचक भाषितपुंस्क है और उसके अन्त में 'ऊङ्' प्रत्यय भी नहीं आया है। अतः समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद 'गो' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'चित्रा' पद में पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवद्भाव होने से 'चित्रा' से टाप् (आ) प्रत्यय हट जाता है और इस प्रकार 'चित्र गो' रूप बनता है। यहां 'गो' के ओकार के स्थान में उकार आदि होकर 'चित्रगुः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'रूपवती भार्या यस्य' (जिसकी पत्नी सुन्दर हो)—इस विग्रह में 'रूपवती' और 'भार्या' का परस्पर बहुव्रीहि समास हो 'रूपवद्भार्यः' रूप बनता है। किन्तु स्त्रीवाचक भाषितपुंस्क के अन्त में यदि 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होता है तो पुंवद्भाव नहीं होता उदाहरण के लिए 'वामोरूः भार्या यस्य' (सुन्दर रूपवाली जिसकी भार्या हो)—इस विग्रह में समास हो 'वामोरू भार्या' रूप बनता है। यहां 'वामोरू' पद यद्यपि स्त्रीवाचक भाषितपुंस्क है और

---

* यह समस्त एकपद है और 'स्त्रियाः' का विशेषण है। इसका विग्रह है—'तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य'।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए २४९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

उसके परे समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद 'भार्या' भी है, तथापि '१२७०—संहित-शफ—०' से उसके अन्त में 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होने के कारण पुंवद्भाव नहीं होता और इस प्रकार ऊकार का ह्रस्व न होकर 'वामोरूभार्यः' रूप बनता है। इसी प्रकार पूरणी परे होने के कारण 'कल्याणीदशमाः' और प्रियादि परे होने से 'कल्याणीप्रियः' आदि में भी पुंवद्भाव नहीं होता।

९६९. अप्[1] पूरणी-प्रमाण्योः[7] । ५ । ४ । ११६

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्गं तदन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप्स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्रीप्रमाणः। अप्रियादिषु किम्—कल्याणीप्रियः, इत्यादि।

९६९. अप् इति—शब्दार्थ है—(पूरणी-प्रमाण्योः) पूरणी और प्रमाणी परे होने पर (अप्) अप् प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः—०' ५.४.११३ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह सूत्रस्थ 'पूरणी-प्रमाण्योः' का विशेष्य बनता है। विशेषण होने के कारण 'पूरणी-प्रमाण्योः' में तदन्त-विधि हो जाती है। 'समासान्ताः' ५.४.६८ का अधिकार तो है ही। सूत्रस्थ 'पूरणी' से पूरण-प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ग्रहण होता है।* 'प्रत्ययः' ३.१.१ और 'परश्च' ३.१.२ परिभाषा से 'अप्' प्रत्यय बहुव्रीहि के पश्चात् ही होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस बहुव्रीहि समास के अन्त में पूरणार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग या प्रमाणी शब्द हो, उससे समासान्त 'अप्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम्' (जिन रात्रियों में पांचवीं कल्याणमय हो)—इस विग्रह में 'कल्याणी' और 'पञ्चमी' का परस्पर समास हो 'कल्याणी पञ्चमी' रूप बनता है। यहां बहुव्रीहि समास के अन्त में पूरणार्थक प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग 'पञ्चमी' होने के कारण प्रकृत सूत्र से समासान्त 'अप्' (अ) प्रत्यय हो 'कल्याणी पञ्चमी अ' रूप बनेगा। तब 'कल्याणीपञ्चमी' के अन्त्य ईकार का लोप होकर 'कल्याणीपञ्चम् अ' = 'कल्याणीपञ्चम' रूप बनने पर प्रथमा के स्त्रीलिङ्ग-बहुवचन में 'कल्याणी-पञ्चमाः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'स्त्री प्रमाणी यस्य' (जिसे स्त्री प्रमाण हो)—इस विग्रह में 'प्रमाणी' शब्दान्त बहुव्रीहि होने से प्रकृत सूत्र से 'अप्' आदि होकर 'स्त्रीप्रमाणः' रूप सिद्ध होगा।

९७०. बहुव्रीहौ[7] सक्थ्यक्ष्णोः[7]† स्वाङ्गात्[5] षच्[1] । ५ । ४ । ११३

---

* 'पूरणप्रत्ययान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः पूरणीग्रहणेन गृह्यन्ते'—काशिका।

† '१२०—प्रत्यय' और '१२१—परश्च' के बल से सूत्रस्थ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग पञ्चम्यर्थ में हुआ है।

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात्किम्–दीर्घसक्थि शकटम्, स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। '९९१–अक्ष्णोऽदर्शनाद्' इति वक्ष्यमाणोऽच्।

९७०. बहुव्रीहाविति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची (सक्थ्यक्ष्णोः*) सक्थि और अक्षि शब्दान्त (बहुव्रीहौ) बहुव्रीहि से (षच्) षच् प्रत्यय होता है। 'समासान्ताः' ५.४.६८ का अधिकार होने से यह प्रत्यय समासान्त ही होता है। प्राणी में स्थित अङ्ग को 'स्वाङ्ग' कहते हैं। निष्प्राण मूर्ति आदि के अङ्गों को स्वाङ्ग नहीं कहा जाता। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—यदि बहुव्रीहि समास के अन्त में स्वाङ्गवाची (प्राणी के अंगों के वाचक) सक्थि (जांघ) और अक्षि (आंख) शब्द हों तो उससे समासान्त 'षच्' प्रत्यय होता है। 'षच्' के षकार और चकार इत्संज्ञक हैं, केवल अकार ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'दीर्घे सक्थिनी यस्य' (जिसकी जांघें बड़ी हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'दीर्घसक्थि' रूप बनता है। यहां बहुव्रीहि समास के अन्त में 'सक्थि' होने के कारण प्रकृत सूत्र से समासान्त 'षच्' (अ) प्रत्यय हो 'दीर्घसक्थि अ' रूप बनेगा। तब अन्त्य इकार का लोप आदि होकर 'दीर्घसक्थः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'जलजे इव अक्षिणी यस्याः' (जिसकी आंखें कमल के समान हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'जलज अक्षि' रूप बनने पर अन्त में 'अक्षि' होने के कारण 'षच्' (अ) प्रत्यय आदि होकर स्त्रीलिङ्ग में 'जलजाक्षी' रूप बनता है। किन्तु ध्यान रहे कि यदि सक्थि और अक्षि स्वाङ्गवाची न होंगे तो समासान्त 'षच्' प्रत्यय भी न होगा। उदाहरण के लिए 'दीर्घसक्थि शकटम्' (लम्बे धुरे वाली गाड़ी) में यद्यपि 'सक्थि' बहुव्रीहि समास के अन्त में आया है तथापि निष्प्राण 'शकटम्' से सम्बन्धित होने से स्वाङ्गवाचक न होने के कारण समासान्त 'षच्' नहीं होता। इसी भांति 'स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः' (मोटी आंखोंवाली बांस की लाठी) में भी 'अक्षि' के स्वाङ्गवाचक न होने से 'षच्' प्रत्यय नहीं होता। तब 'अच्' प्रत्यय हो स्त्रीलिङ्ग में 'स्थूलाक्षा' रूप बनता है।

९७१. द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः । ५ । ४ । ११५

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः।

९७१. द्वित्रिभ्यामिति—शब्दार्थ है—(द्वित्रिभ्यां) द्वि और त्रि के पश्चात् (मूर्ध्नः) मूर्धन् से (ष) 'ष' प्रत्यय होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः–०' ५.४.११३ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'समासान्ताः' ५.४.६८ का अधिकार तो है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बहुव्रीहि समास में 'द्वि'

* सूत्रस्थ 'बहुव्रीहौ' का विशेषण होने से इसमें तदन्त-विधि हो जाती है।

और 'त्रि' शब्द के पश्चात् 'मूर्धन्' (शिर) से समासान्त 'ष' प्रत्यय होता है। 'ष' का षकार इत्संज्ञक है, अतः केवल अकार ही बच रहता है। उदाहरण के लिए 'द्वौ मूर्धानौ यस्य' (जिसके दो सिर हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'द्विमूर्धन्' रूप बनता है। यहां 'द्वि' शब्द के पश्चात् 'मूर्धन्' शब्द आया है, अतः प्रकृत सूत्र से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो 'द्विमूर्धन् अ' रूप बनेगा। तब टि-लोप आदि होकर 'द्विमूर्धः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'त्रि' शब्द के पश्चात् 'मूर्धन्' होने पर 'त्रिमूर्धः' रूप बनता है।

९७२. अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः । ५ । ४ । ११७

आभ्यां लोम्नोऽप् स्यात् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

९७२. अन्तरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अन्तर्बहिर्भ्याम्) अन्तर् और बहिर् से परे (लोम्नः) 'लोमन्' से··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः–०' ५.४.११३ से 'बहुव्रीहौ', 'अप्पूरणीप्रमाण्योः' ५.४.११६ से 'अप्' तथा अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बहुव्रीहि समास में 'अन्तर्' और 'बहिर्' के पश्चात् लोमन् (लोम) शब्द से समासान्त 'अप्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अन्तर् लोमानि यस्य' (जिसके लोम भीतर हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'अन्तर् लोमन्' रूप बनता है। यहां 'अन्तर्' के पश्चात् लोमन् शब्द होने के कारण प्रकृत सूत्र से समासान्त 'अप्' प्रत्यय हो 'अन्तर् लोमन् अ' रूप बनेगा। तब टि-लोप आदि होकर 'अन्तर्लोमः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'बहिर्'-पूर्वक 'लोमन्' शब्द होने पर 'बहिर्लोमः' (बाहर बालों वाला) रूप बनता है।

९७३. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । ५ । ४ । १३८

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात् परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य—व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्—हस्तिपादः, कुसूलपादः।

९७३. पादस्येति—शब्दार्थ है—(अहस्त्यादिभ्यः) हस्ति आदि से भिन्न से पर (पादस्य) पाद का (लोपः) लोप होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः–०' ५.४.११३ से 'बहुव्रीहौ' तथा 'उपमानाच्च' ५.४.१३७ से 'उपमानाद्' की अनुवृत्ति करनी होगी। हस्त्यादि गण है और उससे हस्ति, कुद्दाल और अश्व आदि का ग्रहण होता है।*

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

यद्यपि यह लोप अभावरूप है, तथापि स्थानी के द्वारा यह भी समासान्त होता है।*
इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बहुव्रीहि समास में हस्ति (हाथी) आदि को छोड़कर अन्य किसी उपमान के पश्चात् पाद शब्द का समासान्त लोप होता है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह लोप पाद शब्द के अन्त्य अकार का ही होता है। उदाहरण के लिए 'व्याघ्रस्येव पादौ यस्य' (बाघ के समान जिसके पैर हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'व्याघ्रपाद' रूप बनता है। यहां उपमान 'व्याघ्र' से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'पाद' शब्द के अकार का लोप हो 'व्याघ्रपात्' रूप बनता है। किन्तु ध्यान रहे कि हस्त्यादि के उपमान होने पर यह लोप नहीं होता। उदाहरणार्थ 'हस्ति' उपमान होने के कारण 'हस्तिपादः' में 'पाद' के अकार का लोप नहीं होता। इसी प्रकार हस्त्यादिगण में पठित 'कुसूल' के उपमान होने से 'कुसूल-पादः' में भी 'पाद' के अकार का लोप नहीं हुआ।

९७४. संख्या-सु-पूर्वस्य । ५ । ४ । १४०

पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्।

९७४. संख्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संख्या-सु-पूर्वस्य) संख्या और सु-पूर्वक का···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'पादस्य लोपः-०' ५.४.१३८ से 'पादस्य' और 'लोपः' तथा 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः-०' ५.४.११३ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पादस्य' सूत्रस्थ 'संख्या-सु-पूर्वस्य' का विशेष्य है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संख्यावाचक शब्द और सु पूर्व में होने पर 'पाद' (पैर) शब्द के अकार का बहुव्रीहि समास में समासान्त लोप होता है।† उदाहरण के के लिए 'द्वौ पादौ यस्य' (जिसके दो पैर हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'द्विपाद' रूप बनता है। यहां पूर्व में संख्यावाचक 'द्वि' शब्द होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'पाद' के अकार का लोप हो 'द्विपाद्' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'द्विपात्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार पूर्व में 'सु' होने पर 'सुपात्' (अच्छे पैर वाला) रूप बनता है।

९७५. उद्विभ्यां काकुदस्य । ५ । ४ । १४८

लोपः स्यात्। उत्काकुत्। विकाकुत्।

९७५. उद्विभ्यामिति—शब्दार्थ है—(उद्विभ्याम्) उद् और वि से पर (काकुदस्य) काकुद के स्थान में···। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः'—५.४.११३ से 'बहुव्रीहौ' तथा 'ककुदस्यावस्थायां लोपः' ५.४.१४६ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार

* 'स्थानिद्वारेण लोपस्य समासान्तता विज्ञायते'—काशिका।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (९७३) की व्याख्या देखनी चाहिये।

सूत्र का भावार्थ होगा—उद् और वि के पश्चात् काकुद (तालु) शब्द का बहुव्रीहि समास में लोप होता है। पूर्ववत् यह लोप भी समासान्त है। '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से 'काकुद' शब्द के अन्त्य अकार का ही लोप होता है। उदाहरण के लिए 'उद्गतं काकुदं यस्य' (जिसका तालु ऊपर को उठा हो)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'उत्काकुद' रूप बनता है। यहां 'उद्' के पश्चात् होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'काकुद' के अकार का लोप हो 'उत्काकुद्' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर 'उत्काकुत्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वि'-पूर्वक 'विकाकुत्' रूप बनता है।

९७६. पूर्णाद्[५] विभाषा[६]। ५। ४। १४९

पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदः।

९७६. पूर्णादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पूर्णाद्) पूर्ण से पर (विभाषा) विकल्प से··· । किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए अनुवृत्ति-सहित पूर्वसूत्र '९७५-उद्विभ्यां-०' से 'काकुदस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूर्ण शब्द के पश्चात् काकुद शब्द के अकार का बहुव्रीहि में विकल्प से समासान्त लोप होता है।* उदाहरण के लिए 'पूर्णं काकुदं यस्य' (जिसका तालु पूर्ण हो)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'पूर्णकाकुद' रूप बनता है। तब 'पूर्ण' शब्द से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'काकुद' के अकार का विकल्प से लोप होकर 'पूर्णकाकुद्' रूप बनेगा। यहां विभक्तिकार्य हो 'पूर्णकाकुत्' रूप सिद्ध होता है। लोपाभाव-पक्ष में 'पूर्णकाकुदः' रूप बनता है।

९७७. सुहृद्-दुर्हृदौ[१] मित्राऽमित्रयोः[७]। ५। ४। १५०

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। सुहृद्-मित्रम्। दुर्हृद्-अमित्रः।

९७७. सुहृदिति—सूत्र का अर्थ है—(मित्राऽमित्रयोः) मित्र और अमित्र अर्थों में (सुहृद्-दुर्हृदौ) सुहृद् और दुर्हृद् का निपातन† होता है। यथासंख्य होने से यहां मित्र अर्थ में 'सुहृद्' और अमित्र (शत्रु) अर्थ में 'दुर्हृद्' का निपातन होता है। उदाहरण के लिए 'सु' और 'हृदय' का बहुव्रीहि समास हो 'सुहृदय' रूप बनने पर निपातन द्वारा 'हृदय' के स्थान पर 'हृद्' हो 'सुहृद्' रूप बनता है, जिसका अर्थ है—'मित्र'। इसी प्रकार 'दुर्' से 'हृदय' शब्द का बहुव्रीहि समास हो 'दुर्हृदय' रूप बनने पर निपातन द्वारा 'हृद्' आदेश और विभक्ति-कार्य हो 'दुर्हृद्' रूप सिद्ध होगा, जिसका अर्थ है—'शत्रु'। यहां ध्यान रहे कि 'सुहृद्' और 'दुर्हृद्' रूप क्रमशः

---

* अधिक स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (९७५) की व्याख्या देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए २०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी देखिये।

मित्र और शत्रु अर्थों में ही बनते हैं। इनसे भिन्न अर्थों में 'सुहृदयः' (अच्छे हृदयवाला) और 'दुर्हृदयः' (बुरे हृदयवाला, दुर्जन) रूप बनेंगे।

९७८. उरःप्रभृतिभ्यः[५] कप्[१] । ५ । ४ । १५१

९७८. उर इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उरःप्रभृतिभ्यः) 'उरस्' प्रभृति से (कप्) कप् प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ तथा 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः–०' ५.४.११३ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उरस्' प्रभृति से 'उरस्', 'सर्पिस्' और 'उपानह्' आदि का ग्रहण होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बहुव्रीहि समास में 'उरस्' (वक्षःस्थल) आदि से समासान्त 'कप्' प्रत्यय होता है। 'कप्' का पकार इत्संज्ञक है, केवल 'क' ही शेष रह जाता है।† उदाहरण के लिए 'व्यूढम् उरो यस्य' (जिसका विशाल वक्षःस्थल हो)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'व्यूढ उरस्' रूप बनता है। यहाँ प्रकृत सूत्र से 'उरस्' से समासान्त 'कप्' (क) प्रत्यय हो 'व्यूढ उरस् क' रूप बनेगा। तब सकार के स्थान पर विसर्ग हो 'व्यूढ उरः क' = 'व्यूढोरः क' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९७९. कस्कादिषु[७] च[०] । ८ । ३ । ४८

एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः, अन्यस्य तु सः। इति सः—व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः।

९७९. कस्कादिष्विति—शब्दार्थ है—(च) और (कस्कादिषु) कस्क आदि में…। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'विसर्जनीयस्य सः' ८.३.३४ से 'विसर्जनीयस्य', 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' ८.३.३७ से 'कुप्वोः', 'सोऽपदादौ' ८.३.३८ तथा 'इणः षः' ८.३.३९ की अनुवृत्ति करनी होगी। कस्कादि आकृतिगण है और इसमें 'कस्क', 'भास्कर' और 'साद्यस्क' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कस्कादिगण के शब्दों में अपदादि कवर्ग और पवर्ग परे होने पर विसर्जनीय (विसर्ग) के स्थान पर सकार आदेश होता है। हां, यदि वह विसर्जनीय इण्‡-वर्ण के पश्चात् आता है तो उसके स्थान पर षकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'व्यूढोरः क' कस्कादि गण में आता है। अतः कवर्ग परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से विसर्जनीय के स्थान

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

† ध्यान रहे कि यहां तद्धित होने से '१३६–लशक्वतद्धिते' द्वारा 'कप्' के ककार का लोप नहीं होता।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये।

हिन्दी

लघुसिद्धान्तकौमुदी

(व्याख्या भाग)

१ प्रथम खण्ड : व्याख्या भाग मूल्य १२-५०

२ द्वितीय खण्ड : रूप-सिद्धि-भाग शीघ्र प्राप्त होगा

रूपसिद्धि भाग में लघुकौमुदी में आये हुए शब्दों की अकारादि क्रम से रूप-सिद्धि करते समय प्रक्रिया के प्रत्येक चरण को तत्सम्बन्धी सूत्रों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया गया है।

पर सकार हो 'व्यूढोरस्क' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर 'व्यूढोरस्कः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'प्रियं सर्पिः यस्य' (घी जिसे प्रिय हो)—इस विग्रह में पूर्ववत् समास और कप् प्रत्यय हो 'प्रिय सर्पिः क' रूप बनने पर इण्—इकार के पश्चात् विसर्जनीय के स्थान पर षकार होकर 'प्रियसर्पिष्कः' रूप बनता है।

९८०. निष्ठा । २ । २ । ३६

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । युक्तयोगः ।

९८०. निष्ठेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(निष्ठा) निष्ठा…। किन्तु होना क्या चाहिये—यह जानने के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'निष्ठा' में तदन्त-विधि हो जाती है। 'क्त' और 'क्तवतु' को निष्ठा कहते हैं।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त (जिसके अन्त में 'क्त' या 'क्तवतु' प्रत्यय हो) का प्रयोग पहिले (पूर्व) होता है। उदाहरण के लिए 'युक्तो योगो येन यस्य वा'—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास प्राप्त होने पर प्रकृत सूत्र से 'क्त'-प्रत्ययान्त 'युक्तः' का पूर्व-प्रयोग हो 'युक्तयोगः' (योगी) रूप बनता है।

९८१. शेषाद्विभाषा । ५ । ४ । १५४

अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कप् वा । महायशस्कः, महायशाः ।

इति बहुव्रीहिः ।

९८१. शेषादिति—शब्दार्थ है—(शेषाद्) शेष से (विभाषा) विकल्प से…। किन्तु क्या होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' ५.४.१५१ से 'कप्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'शेष' का अभिप्राय यहां उस बहुव्रीहि से है जिससे किसी समासान्त प्रत्यय का विधान न हुआ हो।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस बहुव्रीहि से किसी समासान्त प्रत्यय का विधान न किया गया हो, उससे विकल्प से समासान्त 'कप्' (क) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'महद् यशो यस्य' (जिसका यश महान् हो)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'महत् यशस्' रूप बनता है। यहां किसी अन्य प्रत्यय का विधान न होने से प्रकृत सूत्र से विकल्प से 'कप्' हो 'महत् यशस् क' रूप बनेगा। तब 'महत्' के तकार के स्थान में आकारादेश आदि होकर 'महायशस्कः' रूप बनता है। 'कप्' के अभाव-पक्ष में 'महायशाः' रूप बनेगा।

बहुव्रीहि समास समाप्त।

---

* '८१४—क्तक्तवतू निष्ठा' की व्याख्या देखिये।

† 'यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः स शेषः'—काशिका।

द्वन्द्वः

९८२. चार्थे द्वन्द्वः[1] । २ । २ । २९

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः ।

समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः—समुच्चयः । 'भिक्षामट गां चाऽऽनय' इति अन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयोऽन्वाचयः । अनयोरसामर्थ्यात् समासो न । धवखदिरौ छिन्धि इति मिलितानामन्वयः—इतरेतरयोगः । संज्ञापरिभाषम् (इति) समूहः—समाहारः ।

९८२. चार्थे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(चार्थे) 'च' अर्थ में (द्वन्द्वः) द्वन्द्व होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'प्राक्कडारात् समासः' २.१.३, 'सह सुपा' २.१.४ तथा 'अनेकमन्यपदार्थे' २.२.१४ से 'अनेकम्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'च' के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का परस्पर समास होता है और उस समास को द्वन्द्व कहते हैं ।

यहां 'च' के अर्थ जानना आवश्यक है । ये निम्नांकित चार हैं—

(१) समुच्चय—परस्पर-निरपेक्ष अनेक पदार्थों के एक पदार्थ में अन्वय को समुच्चय कहते हैं । उदाहरण के लिए 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' (ईश्वर और गुरु की सेवा करो)—इस वाक्य में ईश्वर और गुरु रूप पदार्थ परस्पर निरपेक्ष हैं, वे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते । यहां दोनों का स्वतन्त्र रूप से भजनक्रियारूप एक पदार्थ में अन्वय होता है । अतः यहां 'च' का अर्थ है—समुच्चय ।

(२) अन्वाचय—जब समुच्चीयमान (जिनका समुच्चय हो रहा हो) पदार्थों में एक का गौणरूप से अन्वय हो, तब उसे अन्वाचय कहते हैं । उदाहरणार्थ 'भिक्षामट गां चानय' (भिक्षा के लिए जाओ और गाय भी लाओ)—इस वाक्य में प्रधान कार्य भिक्षा मांगना है । भिक्षा के लिए घूमते समय यदि गाय भी मिल जाय, तो उसे ले आने को कहा गया है । इस प्रकार गाय लाना गौण कार्य है । इसलिए भिक्षा के लिए जाना और गाय लाना—इन समुच्चीयमान पदार्थों में गाय लाना रूप गौण पदार्थ का अन्वय होने से यहां 'च' का अर्थ अन्वाचय है ।

(३) इतरेतरयोग—जब पदार्थ मिलकर आगे अन्वित होते हैं तब उसे इतरेतरयोग कहते हैं । उदाहरण के लिए 'धवखदिरौ छिन्धि' (धव और खैर को काटो)—इस वाक्य में धव और खदिर पदार्थ परस्पर मिलकर आगे छेदन क्रिया में

अन्वित होते हैं। अतः यहां 'च' का अर्थ है—इतरेतरयोग (इतर का इतर से सम्बन्ध)।

(४) समाहार—समूह को समाहार कहते हैं। इसमें इतरेतरयोग की भांति पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ पृथक्-पृथक् अन्वय नहीं होता अपितु पदार्थों के समूह का अन्वय होता है। उदाहरण के लिये 'संज्ञापरिभाषम्' (संज्ञा और परिभाषा का समूह)—इस वाक्य में 'च' का प्रयोग समाहार अर्थ में हुआ है।

उपर्युक्त समुच्चय और अन्वाचय—इन दो चार्थों में सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता। अतः शेष इतरेतरयोग और समाहार—इन दो अर्थों में ही समास होता है। यह बात ऊपर दिये हुए उदाहरणों से भी स्पष्ट हो जाती है। इस स्थिति में इस सूत्र की परिमार्जित और सुस्पष्ट व्याख्या इस प्रकार होगी—इतरेतरयोग और समाहार अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का परस्पर समास होता है और उस समास को द्वन्द्व समास कहते हैं।

९८३. राजदन्तादिषु[७] परम्[१]। २। २। ३१

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा—राजदन्तः।

(वा०) धर्मादिष्वनियमः। अर्थधर्मौ, धर्मार्थावित्यादि।

९८३. राजदन्तादिष्विति—शब्दार्थ है—(राजदन्तादिषु) 'राजदन्त' आदि में (परम्) पर होता है। किन्तु पर क्या होता है—यह जानने के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से 'उपसर्जनम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। राजदन्तादि गण है और इससे राजदन्त, अग्रेवण और लिप्तवासित आदि शब्दों का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'राजदन्त' आदि शब्दों में उपसर्जन* का पर-प्रयोग होता है। यहां 'उपसर्जन' कहने से न केवल उपसर्जन का ही, अपितु अन्य पूर्वप्रयोगार्ह (पूर्व में प्रयोग करने योग्य) पदों का भी परप्रयोग होता है।† उदाहरण के लिए 'दन्तानां राजा' (दांतों का राजा)—इस विग्रह में '९३१-षष्ठी' से समास होता है। यहां षष्ठ्यन्त 'दन्तानां' के उपसर्जन होने से '९१०-उपसर्जनं पूर्वम्' से पूर्व-प्रयोग प्राप्त होता है, किन्तु राजदन्तादिगण में होने के कारण प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो परप्रयोग होकर 'राजदन्तः' रूप बनता है। इसी प्रकार राजदन्तादिगण में पठित अन्य शब्दों में भी पूर्व-प्रयोग योग्य पदों का परप्रयोग हो 'अग्रेवणम्' (वनस्याग्रे) आदि रूप सिद्ध होते हैं।

(वा०) धर्मादिष्विति—अर्थ है—धर्म आदि के विषय में कोई नियम नहीं

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ९०९ वें सूत्र की व्याख्या देखनी चाहिये।

† 'न केवलमुपसर्जनस्य, अन्यस्यापि यथालक्षणं विहितस्य पूर्वनिपातस्यापवादः परनिपातो विधीयते'—काशिका।

है। तात्पर्य यह कि धर्म, अर्थ आदि शब्दों में इच्छानुसार किसी को भी पहिले रखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'अर्थश्च धर्मश्च' (अर्थ और धर्म)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होने पर 'अर्थ' का पूर्वप्रयोग करने पर 'अर्थधर्मौ' और 'धर्म' पद का पूर्व-प्रयोग करने पर 'धर्मार्थौ' रूप बनता है। पूर्व-प्रयोग निश्चित न होने के कारण दो-दो रूप बनते हैं।

९८४. द्वन्द्वे[3] घि[1] । २ । २ । ३२

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरश्च-हरिहरौ।

९८४. द्वन्द्वे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(द्वन्द्वे) द्वन्द्व में (घि) घि-संज्ञक...। किन्तु होता क्या है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वन्द्व समास में घि-संज्ञक* का प्रयोग पहिले (पूर्व) होता है। उदाहरण के लिए 'हरिश्च हरश्च' (हरि और हर)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास होने पर घिसंज्ञक-'हरि' का पूर्व-प्रयोग हो 'हरिहरौ' रूप बनता है।

९८५. अजाद्यदन्तम्[1] । २ । २ । ३३

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ।

९८५. अजादीति—शब्दार्थ है (अजाद्यदन्तम्) अजादि-अकारान्त...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से 'पूर्वम्' तथा 'द्वन्द्वे घि' २.२.३२ से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वन्द्व समास में अजादि-अकारान्त (जिस पद के आदि में कोई स्वर-वर्ण और अन्त में अकार हो) का पहिले प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'ईशश्च कृष्णश्च' (ईश और कृष्ण)—इस विग्रह में 'ईशः' पद अजादि है और उसके अन्त में अकार भी आया है। अतः द्वन्द्व समास होने पर प्रकृत सूत्र से 'ईशः' का पूर्व-प्रयोग हो 'ईशकृष्णौ' रूप बनता है।

९८६. अल्पाच्तरम्[1] । २ । २ । ३४

शिवकेशवौ।

९८६. अल्पाजिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अल्पाचतरम्) अल्प 'अच्' वाला। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'उपसर्जनं पूर्वम्' २.२.३० से 'पूर्वम्' तथा 'द्वन्द्वे घि' २.२.३२ से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वन्द्व समास में अल्प 'अच्' (स्वर-वर्ण) वाले का पहिले प्रयोग होता है। तात्पर्य यह कि जिस पद में कम

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

स्वर-वर्ण होते हैं, उसका प्रयोग द्वन्द्व समास में पहिले होता है। उदाहरण के लिए 'शिवश्च केशवश्च' (शिव और केशव)—इस विग्रह में 'शिवः' पद में दो अच् और 'केशवः' पद में तीन अच् हैं। अतः द्वन्द्व समास होने पर प्रकृत सूत्र से कम अच् वाले पद 'शिवः' का पूर्व-प्रयोग हो 'शिवकेशवौ' रूप बनता है।

६८७. पिता[1] मात्रा[3] । १ । २ । ७०

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च–पितरौ, मातापितरौ वा।

९८७. पितेति—शब्दार्थ है—(मात्रा) माता के साथ (पिता) पिता...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'सरूपाणामेकशेष–०' १.२.६४ से 'शेष' तथा 'नपुंसकमनपुंसकेन–०' १.२.६६ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—माता के साथ कथन होने पर पिता पद विकल्प से शे ष रह जाता है। तात्पर्य यह कि माता के साथ पिता का कथन होने पर 'माता' पद का लोप हो 'पिता' ही शेष रह जाता है। किन्तु यह कार्य विकल्प से होता है। उदाहरण के लिए 'माता च पिता च' (माता और पिता)—इस विग्रह में 'माता' के साथ 'पिता' पद का प्रयोग हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से 'माता' का लोप हो द्विवचन में 'पितरौ' रूप बनता है। लोपाभाव-पक्ष में 'मातापितरौ' रूप बनेगा।

९८८. द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् । २ । ४ । २

एषां द्वन्द्व एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्।

९८८. द्वन्द्वश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्*) प्राणि, तूर्य तथा सेना के अङ्गों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्वः…। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'द्विगुरेकवचनम्' २.४.१ से 'एकवचनम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्ग' शब्द का अन्वय प्राणि, तूर्य (बाजा) और सेना—इन तीनों शब्दों के साथ अलग-अलग होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—प्राणी के अङ्ग (हस्त, पाद आदि), तूर्य के अङ्ग (मृदंग, वंशी आदि) और सेना के अङ्गों (रथ, अश्व आदि) का द्वन्द्व एकवचनान्त होता है। 'एकवचनान्त' कहने का तात्पर्य है कि प्राणी आदि के अङ्गों का समाहार अर्थ में ही द्वन्द्व समास होता है, इतरेतरयोग में नहीं। '९४३–स नपुंसकम्' से यह द्वन्द्व पुनः नपुंसकलिङ्गी होता है। सभी के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) प्राणी के अङ्ग—यहां 'पाणी च पादौ च' (हाथ और पैर)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास हो नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'पाणिपादम्' रूप बनता है।

---

* 'अङ्गशब्दस्य प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्त्या त्रीणि वाच्यानि सम्पद्यन्ते'—काशिका।

(ख) तूर्य के अङ्ग—इसका उदाहरण है—'मार्दङ्गिकवैणविकम्' । यहां 'मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च' (मृदङ्ग बजानेवाला और वंशी बजाने वाला)—इस विग्रह में तूर्य के अङ्गों के वाचक 'मार्दङ्गिकः' और 'वैणविकः' का द्वन्द्व समास हो नपुंसक-एकवचन में उक्त रूप सिद्ध होता है ।

(ग) सेना के अङ्ग—यहां 'रथिकाश्च अश्वारोहाश्च' (रथिक और घुड़सवार)—इस विग्रह में सेना के अङ्गों के वाचक 'रथिकाः' और अश्वारोहाः' का द्वन्द्व समास हो नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'रथिकाश्वारोहम्' रूप बनता है ।

९८९. द्वन्द्वात्⁵ चु-द-ष-हान्तात्⁵ समाहारे⁷ । ५ । ४ । १०६

चवर्गान्ताद् दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट्टच् स्यात्समाहारे । वाक् च त्वक् च—वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम्—प्रावृट्शरदौ ।

इति द्वन्द्वः ।

९८९. द्वन्द्वादिति—शब्दार्थ है—(समाहारे) समाहार अर्थ में (चु-द-ष-हान्तात्) चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त (द्वन्द्वात्) द्वन्द्व से···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ तथा 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' ५.४.९१ से 'टच्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समाहार अर्थ में चवर्गान्त (जिसके अन्त में च्, छ्, ज्, झ् या ञ् हो), दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्व से समासान्त 'टच्' (अ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'वाक् च त्वक् च' (वाणी और त्वचा)—इस विग्रह में समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास हो 'वाच् त्वच्' रूप बनता है । यहां अन्त में चकार होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'टच्' प्रत्यय हो 'वाच् त्वच अ' = 'वाच्त्वच' रूप बनेगा । तब पूर्वपद 'वाच्' के चकार को ककार आदि होकर नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'वाक्त्वचम्' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार जकारान्त होने पर 'त्वक्स्रजम्', दकारान्त होने पर 'शमीदृषदम्', षकारान्त होने पर 'वाक्त्विषम्' और हकारान्त होने पर 'छत्रोपानहम्' आदि रूप बनते हैं । किन्तु यह 'टच्' प्रत्यय समाहार अर्थ में ही होता है, अन्यथा नहीं । उदाहरणार्थ 'प्रावृट् च शरच्च' (वर्षा और शरद् ऋतु)—इस विग्रह में द्वन्द्व समास हो 'प्रावृट्शरद्' रूप बनता है । यद्यपि यह दकारान्त है, तथापि इतरेतरयोग अर्थ में समास होने के कारण 'टच्' प्रत्यय नहीं होता । तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के द्विवचन में 'प्रावृट्शरदौ' रूप सिद्ध होता है ।

द्वन्द्वसमास समाप्त ।

समासान्ताः

९९०. 'ऋक्-पूरब्धूःपथामानक्षे'* । ५ । ४ । ७४

अ अनक्षे इति च्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अ प्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात्, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापं-सरः । राजधुरा । अक्षे तु अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ।

९९०. ऋक्पूरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ऋक्-पूरब्धूःपथाम्†) ऋक्, पूर्, अप्, धूर् और पथिन् का (अनक्षे) अक्ष-भिन्न अर्थ में (अ) 'अ' प्रत्यय···। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ की अनुवृत्ति करनी होगी । समास का विशेषण होने से सूत्रस्थ 'ऋक्-पूरब्धूःपथाम्' में तदन्त-विधि हो जाती है । सामर्थ्यभाव से 'अनक्षे' का अन्वय सूत्रस्थ 'धूर्' से ही होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जिस समास के अन्त में ऋक्, पूर्, अप्, पथिन् (पथ) और अक्ष-भिन्न अर्थ में 'धूर्' शब्द हों, उसका अन्तावयव 'अ' प्रत्यय होता है । दूसरे शब्दों में, ऋक् अन्तवाले, पूर् अन्त-वाले, अप् अन्तवाले, पथिन् अन्तवाले और अक्ष-भिन्न अर्थ में 'धूर्' अन्तवाले समास से समासान्त 'अ' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'अर्धम् ऋचः' (ऋचा का आधा)—इस विग्रह में समास हो 'अर्ध ऋच्' रूप बनता है । यहां अन्त में 'ऋक्' (ऋच) होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'अ' प्रत्यय हो 'अर्ध ऋच् अ' = 'अर्ध ऋच' रूप बनेगा । तब गुण आदि होकर पुँल्लिङ्ग-एकवचन में 'अर्धर्चः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'पूर्' अन्त में होने पर 'विष्णुपुरम्', 'अप्' अन्त में होने पर 'विमला-पम्', 'धूर्' अन्त में होने पर 'राजधुरा' (राज्य-भार) और 'पथिन्' अन्त में होने पर 'सखिपथः' आदि रूप बनते हैं । किन्तु ध्यान रहे कि 'अक्ष'वाचक 'धूर्' शब्द अन्त में होने पर 'अ' प्रत्यय नहीं होता । उदाहरण के लिए 'अक्ष'वाचक 'धूर्' शब्द होने के कारण 'अक्षधूः' में समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता है ।

९९१. 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' । ५ । ४ । ७६

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात्समासान्तः । गवामक्षीव–गवाक्षः ।

९९१. अक्ष्ण इति—शब्दार्थ है—(अदर्शनात्) दर्शन-भिन्न अर्थवाचक

---

* सूत्र का पदच्छेद है—'ऋक्-पूरब्धूःपथाम् + अ + अनक्षे' ।

† इसका विग्रह है—'ऋक् च पूर् च अप् च धूर् च पन्थाश्चेति ऋक्पूरब्धूः-पन्थानः, तेषाम्' ।

(अक्ष्णः) 'अक्षि' शब्द से···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ तथा 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्–०' ५.४.७५ से 'अच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'दर्शन' का अर्थ है—चक्षु।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि 'अक्षि' शब्द चक्षु (नेत्र) वाचक न हो तो उससे समासान्त 'अच्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'गवाम् अक्षि इव' (गौओं की आंख जैसा)—इस विग्रह में षष्ठीतत्पुरुष समास हो 'गो अक्षि' रूप बनता है। यहां 'अक्षि' शब्द नेत्र का वाचक नहीं है क्योंकि उसका प्रयोग उपमान के रूप में हुआ है। अतः दर्शन का कारण न होने से प्रकृत सूत्र द्वारा 'अक्षि' से 'अच्' प्रत्यय हो 'गो अक्षि अ' रूप बनेगा। तब ईकार-लोप और अवङादेश आदि होकर 'गवाक्षः' (झरोखा) रूप सिद्ध होता है। किन्तु दर्शन अर्थ में प्रयोग होने पर 'अक्षि' से समासान्त 'अच्' नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'ब्राह्मणस्य अक्षि' (ब्राह्मण की आंख)—इस विग्रह में 'अक्षि' शब्द का प्रयोग दर्शन अर्थ में हुआ है। अतः यहां 'अच्' प्रत्यय न होकर 'ब्राह्मणाक्षि' रूप बनता है।

९९२. उपसर्गादध्वनः । ५ । ४ । ८५

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो-रथः।

९९२. उपसर्गादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उपसर्गाद्) उपसर्ग से पर (अध्वनः) 'अध्वन्' से···। किन्तु क्या होना चाहिये—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ तथा 'अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्–०' ५.४.७५ से 'अच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उपसर्ग† के पश्चात् 'अध्वन्' (मार्ग) शब्द से समासान्त 'अच्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'प्रगतोऽध्वानम्' (मार्ग पर चला हुआ)—इस विग्रह में प्रादि समास हो 'प्र अध्वन्' रूप बनता है। यहां उपसर्ग 'प्र' के पश्चात् 'अध्वन्' शब्द है, अतः प्रकृत सूत्र से 'अच्' (अ) प्रत्यय हो 'प्र अध्वन् अ' रूप बनेगा। तब टि-लोप आदि होकर 'प्राध्वः' रूप सिद्ध होता है।

९९३. न पूजनात् । ५ । ४ । ६९

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः।

(वा०) स्वतिभ्यामेव। सुराजा। अतिराजा।

इति समासान्ताः।

---

* 'दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† इनके स्पष्टीकरण के लिए ३५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

९९३. न पूजनादिति—शब्दार्थ है—(पूजनात्) पूजावाची से पर (न) नहीं होता है। किन्तु क्या नहीं होता—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र 'समासान्ताः' ५.४.६८ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूजार्थक शब्दों से परे समासान्त प्रत्यय नहीं होते। तात्पर्य यह कि 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' ५.४.९१ आदि सूत्रों से 'राजन्' आदि से जो 'टच्' आदि समासान्त प्रत्यय कहे गये हैं, वे 'राजन्' आदि के पूजार्थक (प्रशंसावाचक) शब्द से परे होने पर नहीं होते। 'स्वतिभ्यामेव' वार्तिक द्वारा पूजार्थक शब्दों से यहां केवल 'सु' और 'अति' का ही ग्रहण होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पूजार्थक 'सु' और 'अति' के पश्चात् पद से समासान्त प्रत्यय नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'शोभनो राजा' (अच्छा राजा)—इस विग्रह में प्रादि समास हो 'सु राजन्' रूप बनता है। यहां '९५८—राजाहःसखिभ्यः-०' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु 'राजन्' शब्द के प्रशंसावाचक 'सु' से पर होने के कारण प्रकृत सूत्र से निषेध हो जाता है। तब विभक्ति-कार्य होकर 'सुराजा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अति' से पर होने पर 'अतिराजा' (राजा का अतिक्रमण करनेवाला) रूप बनता है। किन्तु ध्यान रहे कि 'सु' और 'अति' भिन्न अन्य पूजार्थक शब्दों के पर समासान्त प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए पूजार्थक 'परम' के पश्चात् 'राजन्' से समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो 'परमराजः' रूप बनता है।

समासान्त-प्रकरण समाप्त।

[समास समाप्त।]

तद्धितप्रकरणम्

साधारणप्रत्ययाः

९९४. समर्थानां प्रथमाद् वा । ४ । १ । ८२

इदंपदत्रयमधिक्रियते । प्राग्दिश इति यावत् ।

९९४. समर्थानामिति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(समर्थानाम्) समर्थों के (प्रथमाद्) प्रथम से (वा) विकल्प से होता है। इसका अधिकार पांचवें अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तिम सूत्र 'अहंशुभमोर्युस्' ५.२.१४० तक है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यहां से लेकर 'अहंशुभमोर्युस्' ५.२.१४० तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे समर्थ पदों में से प्रथम पद से होते हैं । यहां 'समर्थ' और 'प्रथम पद' का अर्थ समझ लेना आवश्यक है । 'समर्थ' का अर्थ है—सम्बन्धी (जिससे सम्बन्ध हो) और 'प्रथम' का अभिप्राय है—प्रथम प्रकृति ।* तात्पर्य यह कि सम्बन्धी पदों में जिस पद का प्रयोग प्रकृति से प्रथम हो, उसी से तद्धित प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'दशरथस्य अपत्यम्'—ये दो सम्बन्धी पद हैं । इनमें 'दशरथस्य' पद प्रथम प्रकृति है क्योंकि पिता प्रकृति से ही पुत्र से पहिले उत्पन्न होता है । अतः उसी से '१०११-अत इञ्' से विहित 'इञ्' प्रत्यय हो 'दाशरथिः' रूप बनता है । किन्तु ध्यान रहे कि ये प्रत्यय विकल्प से होते हैं, इसलिए 'इञ्' न होने पर 'दशरथस्यापत्यम्' (दशरथ का पुत्र) रूप ही रहता है ।

९९५. अश्वपत्यादिभ्यश्च । ४ । १ । ८४

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम् । गाणपतम् ।

९९५. अश्वेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अश्वपत्यादिभ्यः) 'अश्वपति' आदि से··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अश्वपत्यादि' गण है और इसमें 'अश्वपति', 'धनपति' और 'गणपति' आदि का समावेश होता है ।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्राग्दीव्यतीय (अपत्य, देवता, भव, जाति आदि) अर्थों में 'अश्वपति' आदि से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'अश्वपतेरपत्यम्' (अश्वपति की सन्तान)—इस विग्रह में अपत्य

* 'समर्थानां मध्ये प्रथमं प्रत्ययप्रकृतित्वेन निर्धार्यते'—काशिका ।

† विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये ।

अर्थ में 'अश्वपतेः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'अश्वपतेः अ' या 'अश्वपति ङस् अ' रूप बनता है। तब प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप्-'ङस्' का लोप हो 'अश्वपति अ' रूप बनने पर आदि अच् की वृद्धि और इकार-लोप आदि होकर 'आश्वपतम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गणपतेरपत्यम्' (गणपति की सन्तान)—इस विग्रह में 'गाणपतम्' रूप बनता है।

९९६. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः[1] । ४ । १ । ८५

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात् । अणोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा (अपत्यम्) ।

९९६. दित्यदित्यादित्य इति—शब्दार्थ है—(दिति + अदिति + आदित्य-पत्युत्तरपदाद्) दिति, अदिति, आदित्य और पति-उत्तरपद से (ण्यः) 'ण्य' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'प्राग्दीव्यतः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रादीव्यतीय (अपत्य आदि) अर्थों में दिति, अदिति, आदित्य और पति-उत्तरपद ('पति' शब्द जिसका उत्तरपद हो) से 'ण्य' (य) प्रत्यय होता है, यह 'ण्य' प्रत्यय 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से प्राप्त सामान्य 'अण्' और 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' ४.१.८४ से प्राप्त विशेष 'अण्' का बाधक है। उदाहरण के लिये 'दितेरपत्यम्' (दिति की सन्तान)—इस विग्रह में अपत्य अर्थ में 'दितेः' से 'ण्य' प्रत्यय हो 'दिति य' रूप बनता है। तब आदि अच् की वृद्धि और अन्त्य इकार का लोप आदि हो 'दैत्यः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अदिति' से 'ण्य' प्रत्यय हो 'आदित्यः' रूप सिद्ध होता है। 'आदित्य' से भी अपत्य अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय हो 'आदित्य य' रूप बनता है। इस स्थिति में अकार-लोप हो 'आदित्य् य' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९९७. [4]हलो यमां[3] यमि[2] लोपः[1] । ८ । ४ । ६४

इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः ।

(वा० १) देवाद् यञञौ । दैव्यम् । दैवम् ।

(वा० २) बहिषष्टिलोपो यञ् च । बाह्यः ।

(वा० ३) ईकक् च ।

९९७. हल इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलः) हल् से पर (यमां) यम् का (यमि) यम् परे होने पर (लोपः) लोप होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'झयो होऽन्यतरस्याम्' ८.४.६२ से 'अन्य-तरस्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यम्' प्रत्याहार है और उसमें सभी वर्गों के पंचम वर्ण, य्, व्, र् और ल् का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ

होगा—हल् (व्यञ्जन-वर्ण) के पश्चात् यम् का यम् परे होने पर विकल्प से लोप होता है। उदाहरण के लिए 'आदित्य् य' में हल्–तकार के पश्चात् यम्–यकार आया है और उसके परे भी यम्–यकार है। अतः प्रकृत सूत्र से यम्–प्रथम यकार का लोप हो 'आदित् य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'आदित्यः' रूप सिद्ध होता है। लोपाभाव-पक्ष में 'आदित्यः' रूप बनता है।

'पति' शब्द उत्तरपद होने से 'प्रजापति' से भी पूर्वसूत्र द्वारा अपत्य अर्थ में 'ण्य' प्रत्यय हो 'प्राजापत्यः' रूप बनता है।*

(वा० १) देवादिति—अर्थ है—अपत्यादि अर्थों में 'देव' शब्द से 'यञ्' (य) और अञ् (अ) प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'देवस्यापत्यम्' (देव की सन्तान)—इस विग्रह में अपत्य अर्थ में 'देवस्य' से 'यञ्' प्रत्यय हो 'दैव्यम्' और 'अञ्' प्रत्यय हो 'दैवम्'—ये दो रूप बनते हैं।

(वा० २) वहिष इति—अर्थ है—प्राग्दीव्यतीय (अपत्यादि) अर्थों में 'वहिस्' शब्द से 'यञ्' (य) प्रत्यय होता है और टि का लोप भी होता है। उदाहरण के लिए 'बहिर्भवः' (बाहर होने वाला, बाहरी)—इस विग्रह में प्राग्दीव्यतीय भव अर्थ में 'वहिस्' शब्द से यञ् प्रत्यय और टि-लोप हो 'वह् य' रूप बनता है। तब अजादि-वृद्धि आदि होकर 'वाह्यः' रूप सिद्ध होता है।

(वा० ३) ईकक् इति—अर्थ है—'वहिस्' शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ईकक्' (ईक) प्रत्यय भी होता है और 'टि' का लोप भी। उदाहरणार्थ पूर्वोक्त 'बहिर्भव' विग्रह में 'वहिस्' शब्द से 'ईकक्' प्रत्यय तथा टि–'इस्' का लोप हो 'वह् ईक' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

९९८. किति च । ७ । २ । ११८

किति तद्धिते चाऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। वाहीकः।

(वा०) गोरजादिप्रसङ्गे यत्। गोरपत्यादि-गव्यम्।

९९८. कितीति—शब्दार्थ है—(च) और (किति) कित् परे होने पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से 'वृद्धिः' तथा सम्पूर्ण सूत्र 'तद्धितेष्वचामादेः' ७.२.११७ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कित् तद्धित-प्रत्यय (जिसका ककार इत्संज्ञक हो) परे होने पर अचों के आदि अच् (स्वर-वर्ण) के स्थान में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए 'वह् ईक' में 'वह्' के पश्चात् तद्धित प्रत्यय 'ईकक्' (ईक) आया है। वह कित् भी है क्योंकि उसके अन्त्य ककार का इत् हो

* यह उदाहरण ९९६ वें सूत्र की व्याख्या लिखते समय ही दे देना चाहिये। यहां प्रसंग-वश इसका उल्लेख बाद में किया गया है।

लोप हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से 'वह्' के आदि अच्—बकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर वृद्धि–आकार हो 'ब् आ ह् ईक' = 'बाहीक' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य होने पर 'बाहीकः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) **गोरजादीति**—अर्थ है—अजादि प्रत्यय के प्रसंग में 'गो' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होता है। अजादि प्रत्यय का अर्थ है—'अण्' आदि प्रत्यय, जिनके आदि में अच् होता है। यह वार्तिक 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ के अधिकार में आया है। अतः इसका भावार्थ होगा—'गो' शब्द से प्राग्दीव्यतीय (अपत्यादि) अर्थों में 'अण्' आदि अजादि प्रत्ययों के बजाय 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि 'गो' शब्द से जहां प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अजादि प्रत्यय प्राप्त हो, वहां उसका बाध हो 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'गोरपत्यम्' (गो की सन्तान)—इस विग्रह में 'गोः' से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत वार्तिक से उसका बाध हो 'गोः' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होकर 'गो य' रूप बनता है। यहां अवादेश आदि होकर 'गव्यम्' रूप बनता है।

९९९. उत्सादिभ्योऽञ् । ४ । १ । ८६

औत्सः ।

इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारण-प्रत्ययाः ।

९९९. उत्सादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उत्सादिभ्यः) 'उत्स' आदि से (अञ्) अञ् होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'प्राग्दीव्यतः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उत्सादि' गण है और इसमें 'उत्स', 'उदपान' और 'महाप्राण' आदि शब्दों का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्राग्दीव्यतीय (अपत्यादि) अर्थों में 'उत्स' आदि शब्दों से 'अञ्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'उत्सस्य अपत्यम्' (उत्स की सन्तान)—इस विग्रह में अपत्य अर्थ में 'उत्सस्य' पद से 'अञ्' प्रत्यय हो 'उत्स अ' रूप बनता है। तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य अकार का लोप आदि होकर 'औत्सः' रूप सिद्ध होता है।

साधारण प्रत्यय समाप्त।

अपत्याधिकारः

१०००. स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् । ४ । १ । ८

'धान्यानां भवने' इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्-स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

१०००. स्त्रीपुंसाभ्यामिति—शब्दार्थ है—(भवनात्) 'भवन' से…(स्त्रीपुंसाभ्याम्) स्त्री और पुंस् से (नञ्स्नञौ) नञ् तथा स्नञ् प्रत्यय होते हैं। यहां 'भवन' का अभिप्राय 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' ५.२.१ सूत्र से है जिसमें 'भवन' शब्द का प्रयोग हुआ है । 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'प्राग्' की अनुवृत्ति होती है। उसका अन्वय सूत्रस्थ 'भवनात्' से होता है । '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से ये प्रत्यय क्रमानुसार होते हैं । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'धान्यानां भवने–०' ५.२.१—इस सूत्र के पहिले जितने अर्थ विधान किये गये हैं, उन सभी अर्थों (अपत्य, भव, समूह आदि) में 'स्त्री' शब्द से नञ् (न) और 'पुंस्' शब्द से स्नञ् (स्न) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'स्त्रिया अपत्यम्' (स्त्री की सन्तान), 'स्त्रीषु भवः' (स्त्री-सम्बन्धी) और 'स्त्रीणां समूहः' (स्त्रियों का समूह)—इन विग्रहों में अपत्यादि अर्थों में 'स्त्री' शब्द से 'नञ्' प्रत्यय हो 'स्त्री न' रूप बनता है । तत्र अजादि-वृद्धि और णत्व आदि होकर 'स्त्रैणः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'पुंस अपत्यम्' (पुरुष की सन्तान) आदि विग्रहों में 'पुंस' से 'स्नञ्' प्रत्यय हो 'पुंस् स्न' रूप बनता है । तत्र संयोगादि-लोप और अजादि-वृद्धि आदि होकर 'पौंस्नः' रूप सिद्ध होगा ।

१००१. तस्यापत्यम् । ४ । १ । ९२

षष्ठ्यन्तात् कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ।

१००१. तस्येति—शब्दार्थ है—(तस्य) उसका (अपत्यम्) अपत्य । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में यहां 'तस्य' और 'अपत्यम्'—दोनों ही पद अर्थबोधक हैं ।* 'तस्य' का अर्थ है—कोई भी षष्ठ्यन्त पद† और 'अपत्यम्' का अभिप्राय है—'अपत्य'अर्थवाचक प्रत्यय । 'समर्थानां प्रथमाद् वा' ४.१.८२ का अधिकार प्राप्त है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रथम षष्ठ्यन्त

---

* 'अर्थनिर्देशोऽयम्'—काशिका ।

† अध्याहार द्वारा 'तस्य' का प्रयोग षष्ठ्यर्थ में होता है—'षष्ठ्यर्थोऽध्याहारलभ्यः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

समर्थ पद से 'अपत्य' अर्थवाचक प्रत्यय विकल्प से होते हैं। तात्पर्य यह कि अपत्य अर्थ में जिन प्रत्ययों का इस सूत्र के पूर्व या बाद में विधान किया गया है वे सभी प्रथम षष्ठयन्त समर्थ पद से ही होते हैं। उदाहरण के लिए 'उपगोरपत्यम्'—इस विग्रह में अपत्य अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' (अ) प्रत्यय प्राप्त होता है। प्रस्तुत सूत्र की सहायता से यह प्रत्यय प्रथम षष्ठयन्त समर्थ पद 'उपगोः' से ही होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'उप गोः अ'। तत्र प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप्–'ङस्' का लोप हो 'उपगु अ' रूप बनता है। इस स्थिति में णित् तद्धित प्रत्यय 'णल्' (अ) परे होने से '९३८–तद्धितेष्व–०' से अजादि-वृद्धि हो 'औपगु अ' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१००२. ओर्गुणः । ६ । ४ । १४६

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते। उपगोरपत्यम्–औपगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

१००२. ओरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ओः) उवर्ण के स्थान पर (गुणः) गुण होता है। किन्तु यह आदेश किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'नस्तद्धिते' ६.४.१४४ से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भस्य' ६.४.१२९ का यहां अधिकार है। सूत्रस्थ 'ओः' 'भस्य' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तद्धित प्रत्यय परे होने पर उवर्णान्त भ-संज्ञक* अङ्ग को गुण होता है। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह गुणादेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण–उवर्ण के ही स्थान पर होता है। '१७–स्थानेऽन्तरतमः' से उवर्ण के स्थान पर गुण ओकार ही होता है। उदाहरण के लिए 'औपगु अ' में भ-संज्ञक अङ्ग 'औपगु' के अन्त में उवर्ण–उकार है और उसके पश्चात् तद्धित प्रत्यय 'अण्' (अ) भी आया है। अतः प्रकृत सूत्र से अन्त्य उकार को गुण–ओकार हो 'औपगो अ' रूप बनता है। यहां '२२–एचोऽयवायावः' से ओकार के स्थान पर 'अव्' होकर 'औपग् अव् अ' = 'औपगवः' रूप बनेगा। इस स्थिति में विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'औपगव' (उपगु की सन्तान) रूप सिद्ध होता है।

१००३. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् । ४ । १ । १६२

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात्।

१००३. अपत्यमिति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(पौत्रप्रभृति) पौत्र इत्यादि (अपत्यम्) अपत्य (गोत्रम्) 'गोत्र'-संज्ञक होते हैं। 'अपत्य' का अर्थ है—'सन्तान' (पुत्र या पुत्री)। पौत्र आदि सामान्यतया 'सन्तान' की परिधि में

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

नहीं आते हैं। अतः सूत्रस्थ 'अपत्यम्' शब्द को लाक्षणिक अर्थ में ग्रहण करना होगा। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि पौत्र इत्यादि तृतीय या चतुर्थ पीढ़ी को भी 'अपत्य' (सन्तान) कहना इष्ट हो तो उनकी 'गोत्र' संज्ञा होती है। दूसरे शब्दों में, अपत्य रूप से विवक्षित पौत्र आदि की 'गोत्र' संज्ञा होती है। उदाहरण के लिए यदि 'उपगु' के पौत्र को भी उपगु की सन्तान ही कहना अभीष्ट हो तो उसकी 'गोत्र' संज्ञा होगी। इसी प्रकार 'उपगु' की सन्तान अर्थ में उपगु के पौत्र के पुत्र की भी 'गोत्र' संज्ञा होगी।

१००४. एको[१] गोत्रे[७] । ४ । १ । ९३

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम्–औपगवः ।

१००४. एक इति—शब्दार्थ है—(गोत्रे) गोत्र अर्थ में (एकः) एक होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ से अपत्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अपत्यम्' का अर्थ है—अपत्य-अर्थवाचक प्रत्यय। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—गोत्र अर्थ में अपत्य-अर्थवाचक एक ही प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि पौत्र आदि विभिन्न पीढ़ियों को बतलाने के लिए भिन्न-भिन्न अपत्य प्रत्ययों की आवश्यकता नहीं होती, एक ही अपत्य-संज्ञक प्रत्यय गोत्र में आये हुए सभी अपत्यों का बोध कराता है। उदाहरण के लिए 'औपगवः' का अर्थ है—'उपगु [illegible] सन्तान'। यहां 'उपगु' से अपत्य-अर्थवाचक 'णल्' प्रत्यय हुआ है। अतः औपगव की सन्तान—इस प्रकार पौत्र को बतलाने के लिए पुनः अपत्य-अर्थवाचक प्रत्यय की आवश्यकता नहीं होती। 'औपगवः' से उपगु का पुत्र, उपगु का पौत्र, उपगु के पौत्र का पुत्र आदि सभी अर्थों का बोध होता है। सारांश यह कि चाहे किसी भी पीढ़ी की सन्तान को क्यों न बताना हो, शब्द से एक ही बार अपत्यवाचक प्रत्यय आता है और वह सभी पीढ़ियों की सन्तानों का बोध करता है।

१००५. गर्गादिभ्यो[५] यञ्[१] । ४ । १ । १०५

गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यम्–गार्ग्यः । वात्स्यः ।

१००५. गर्गादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(गर्गादिभ्यः) 'गर्ग' आदि से (यञ्) यञ् होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः-०' ४.१.९८ से 'गोत्रे' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'गर्ग' आदि गण है और इसमें 'गर्ग', 'वत्स' 'शक' और 'शट' आदि का समावेश होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'गर्ग' आदि से गोत्र अर्थ में यञ् (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ'—देखिये।

'गर्गस्य गोत्रापत्यम्' (गर्ग का गोत्रापत्य)—इस विग्रह में गोत्र अर्थ में षष्ठ्यन्त 'गर्ग' से 'यञ्' प्रत्यय हो 'गर्ग य' रूप बनता है। तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'गार्ग्यः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वत्सस्य गोत्रापत्यम्' (वत्स का गोत्रापत्य)—इस विग्रह में षष्ठ्यन्त 'वत्स' से 'यञ्' प्रत्यय हो 'वात्स्यः' रूप बनता है।

१००६. यञञोश्च । २ । ४ । ६४

गोत्रे यद्यञन्तमञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। गर्गाः। वत्साः।

१००६. यञञोरिति—शब्दार्थ है—(च) और (यञ्+अञोः) यञ् और अञ् का। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि–०' २.४.५८ से 'लुक्', 'तद्राजस्य बहुषु–०' २.४.६२ से 'बहुषु' और 'तेनैवास्त्रियाम्' तथा 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' २.४.६३ से 'गोत्रे' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय हैं—यञ् का विधान 'गर्गादिभ्यो यञ्' ४.१.१०५ आदि सूत्रों से और अञ् का विधान 'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्यः–०' ४.१.१०४ से होता है। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से 'यञ्' और 'अञ्' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग (पुँल्लिङ्ग या न नपुंसकलिङ्ग) में गोत्र अर्थ में वर्तमान 'यञ्'-प्रत्ययान्त और 'अञ्'-प्रत्ययान्त का बहुवचन में लोप (लुक्) होता है। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' परिभाषा से यह लोप 'यञ्'-प्रत्ययान्त और 'अञ्'-प्रत्ययान्त के अवयव 'यञ्' और 'अञ्' का ही होता है। उदाहरण के लिए 'गर्गस्य गोत्रापत्यानि' (गर्ग के गोत्रापत्य)—इस विग्रह में पूर्ववत् यञ् प्रत्यय और अजादि-वृद्धि आदि होकर 'गार्ग्य' रूप बनता है। यहां गोत्र अर्थ में 'गार्ग्य' के अन्त में 'यञ्' प्रत्यय आया है। अतः पुँल्लिङ्ग में बहुवचन की विवक्षा होने पर प्रकृत सूत्र से 'यञ्' का लोप हो जाता है और इस प्रकार रूप बनता है—'गार्ग्'। तब 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' परिभाषा से अजादि-वृद्धि और अकारलोप का अभाव हो 'गर्ग' रूप बनेगा। इस स्थिति में विभक्ति-कार्य हो 'गर्गाः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वत्सस्य गोत्रापत्यानि'—इस विग्रह में 'वत्साः' रूप बनता है। हां, स्त्रीलिङ्ग के बहुवचन में 'गार्ग्यः' और 'वात्स्यः' आदि रूप ही बनते हैं; यहां 'यञ्' का लोप नहीं होता।

१००७. जीवति तु वंश्ये युवा । ४ । १ । १६३

वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव स्यात्।

१००७. जीवतीति—शब्दार्थ है—(वंश्ये*) पिता आदि के (जीवति)

---

* 'अभिजनप्रबन्धो वंशः। तत्र भवो वंश्यः पित्रादिः'—काशिका।

जीवित रहने पर (युवा) 'युवा' संज्ञा (तु*) ही होती है। किन्तु युवा संज्ञा किसकी होती है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र 'अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्' ४.१.१६२ से 'अपत्यं' और 'पौत्रप्रभृति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'पौत्रप्रभृति' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है।† वास्तव में यह सूत्र उक्त पूर्व सूत्र का अपवाद है। इस प्रकार इसका भावार्थ होगा—यदि पिता आदि जीवित हों तो पौत्र आदि की सन्तान (प्रपौत्र आदि) की 'युवा' संज्ञा होती है, 'गोत्र' संज्ञा नहीं।

१००८. गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् । ४ । १ । ९४

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसंज्ञा ।

१००८. गोत्रादिति—शब्दार्थ है—(अस्त्रियाम्) स्त्री लिङ्ग को छोड़कर (यूनि) युवा अर्थ में (गोत्राद्) गोत्र से···। किन्तु होता क्या है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ से 'अपत्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर (क्योंकि स्त्रीलिङ्ग में युवा संज्ञा नहीं होती‡) युवा अर्थ में गोत्र (गोत्र-प्रत्ययान्त) से अपत्य-वाचक प्रत्यय होता है। वास्तव में '१००४–एको गोत्रे' की भांति यह सूत्र भी नियमार्थ है। इसका अभिप्राय है कि युवापत्य अर्थ में गोत्र-प्रत्ययान्त से ही प्रत्यय होता है, अन्य से नहीं। दूसरे शब्दों में, पुँल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग में युवापत्य अर्थ में चौथी या पांचवीं पीढ़ी को बताने के लिए बार-बार अपत्यवाचक प्रत्यय नहीं होता, केवल एक बार गोत्र-प्रत्ययान्त से ही होता है। तात्पर्य यह कि युवापत्य अर्थ में चतुर्थ पीढ़ी बतलाने के लिए गोत्र-प्रत्ययान्त से प्रत्यय होता है, किन्तु पांचवीं पीढ़ी बतलाने के लिए पुनः युवा-प्रत्ययान्त से प्रत्यय नहीं होता। गोत्र-प्रत्ययान्त से एक ही बार युवा-प्रत्यय होता है और वही चौथी, पांचवीं और छठी आदि अन्य युवा-संज्ञक पीढ़ियों का बोध कराता है।

१००९. यञिञोश्च । ४ । १ । १०१

गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात् फक् स्यात् ।

१००९. यञिञोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (यञिञोः) यञ्

---

* 'तु' का प्रयोग अवधारण अर्थ में होता है। यहां उसका तात्पर्य है—युवा संज्ञा ही होती है, गोत्र संज्ञा नहीं 'तु शब्दोऽवधारणार्थो युवैव, न गोत्रमिति'—काशिका।

† 'पौत्रप्रभृतीति च न सामानाधिकरण्येनापत्यं विशेषयति, किं तर्हि षष्ठ्या विपरिणम्यते'—काशिका।

‡ 'यूनि यदुक्तं तत् स्त्रियां न भवति, युवसंज्ञैव प्रतिषिद्ध्यते'—काशिका।

तथा इञ् से…। किन्तु क्या होता है और किस परिस्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'नडादिभ्यः फक्' ४.१.९९ से 'फक्' और 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः–०' ४.१.९८ से 'गोत्रे' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'यञ्' और 'इञ्' प्रत्यय हैं, अतः 'प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से उनमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—गोत्र अर्थ में वर्तमान 'यञ्'-प्रत्ययान्त और 'इञ्'-प्रत्ययान्त से 'फक्' प्रत्यय होता है। 'फक्' का ककार इत्संज्ञक है, केवल 'फ' ही शेष रह जाता है।

ध्यान रहे कि यह प्रत्यय युवापत्य अर्थ में ही होता है।* उदाहरण के लिए 'गार्ग्य' में गोत्र अर्थ में 'यञ्' प्रत्यय हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से 'गर्गस्य युवापत्यम्' (गर्ग का युवापत्य)—इस अर्थ में 'यञ्' प्रत्ययान्त 'गार्ग्य' से 'फक्' प्रत्यय हो 'गार्ग्य फ' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०१०. आयनेयीनीयियः[1] फ-ढ-ख-छ-घां[5] प्रत्ययादीनाम्[6]। ७।१।२

प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः। गर्गस्य युवापत्यं–गार्ग्यायणः। दाक्षायणः।

१०१०. आयन्निति—शब्दार्थ है—(प्रत्ययादीनाम्) प्रत्यय के आदि (फढखछघाम्) फकार, ढकार, खकार, छकार और घकार के स्थान पर (आयनेयीनीयियः = आयन्+एय्+ईन्+ईय्+इयः) आयन्, एय्, ईन्, ईय् और इय् आदेश होते हैं। स्थानी और आदेश समान होने के कारण '२२–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' से ये आदेश क्रमानुसार होते हैं। तात्पर्य यह कि प्रत्यय के आदि फकार के स्थान पर 'आयन्', ढकार के स्थान पर 'एय्', खकार के स्थान पर 'ईन्', छकार के स्थान पर 'ईय्' और घकार के स्थान पर 'इय्' होता है। उदाहरण के लिए 'गार्ग्य फ' में फक् (फ) प्रत्यय के आदि में फकार आया है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके स्थान पर 'आयन्' हो 'गार्ग्य आयन् अ' रूप बनता है। तब भसंज्ञक अङ्ग 'गार्ग्य' के अन्त्य अकार का लोप और णत्व आदि हो प्रथमा के एकवचन में 'गार्ग्यायणः' रूप सिद्ध होता है।

१०११. अत[5] इञ्[1]। ४।१।९५

अपत्येऽर्थे। दाक्षिः।

१०११. अत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अतः) ह्रस्व अकार से (इञ्) इञ् प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का भावार्थ स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ और अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से

* 'यून्येवायं प्रत्ययः, गोत्राद्यूनि प्रत्ययो भवति वचनात्'—काशिका।

'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अतः' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अकारान्त प्रातिपदिक के षष्ठयन्त समर्थ से अपत्य अर्थ में 'इञ्' (इ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'दक्षस्यापत्यम्' (दक्ष का अपत्य)—इस विग्रह में अकारान्त प्रातिपदिक 'दक्ष' के षष्ठयन्त समर्थ 'दक्षस्य' से 'इञ्' प्रत्यय हो 'दक्षस्य इ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'दक्ष इ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'दाक्षिः' रूप सिद्ध होता है।

१०१२. बाह्वादिभ्यश्च। ४। १। ९६

बाहविः। औडुलोमिः।

(वा०) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः। उडुलोमाः। आकृतिगणोऽयम्।

१०१२. बाह्वादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(च) और (बाह्वादिभ्यः) बाहु आदि से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ तथा पूर्वसूत्र 'अत इञ्' ४.१.९५ से 'इञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'बाहु' आदि आकृतिगण है और इसके अन्तर्गत 'बाहु', 'उपबाहु' 'वटाकु' और 'लोमन्' आदि का ग्रहण होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'बाहु' आदि के षष्ठयन्त समर्थ से भी अपत्य अर्थ में 'इञ्' (इ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'बाहोरपत्यम्' (बाहु–ऋषिविशेष का अपत्य)—इस अर्थ में 'बाहु' के षष्ठयन्त समर्थ 'बाहोः' से 'इञ्' प्रत्यय हो 'बाहोः इ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'बाहु इ' रूप बनने पर उकार को गुणादेश और पुनः उसे 'अव्' आदेश होकर प्रथमा के एकवचन में 'बाहविः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'उडुलोमन्' से भी बाह्वादिगण† में होने के कारण 'उडुलोम्नोऽपत्यम्' (उडुलोमन् का अपत्य)—इस अर्थ में 'औडुलोमिः' रूप बनता है।

वास्तव में अकारान्त न होने से 'बाहु' आदि को पूर्व सूत्र (१०११) से 'इञ्' नहीं प्राप्त होता था, इसी से इस सूत्र की आवश्यकता पड़ी।

(वा०) लोम्न इति—अर्थ है—'लोमन्' से अपत्य अर्थ के बहुवचन में 'अ' प्रत्यय होता है। यह पूर्वोक्त 'इञ्' प्रत्यय का बाधक है। इस प्रकार बहुवचन में 'लोमन्' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अ' प्रत्यय होता है, 'इञ्' नहीं। 'लोमन्' से यहां तदन्त 'उडुलोमन्' आदि शब्दों का भी ग्रहण होता है। उदाहरण के लिए 'उडु-

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

† 'यद्यपि गणे बाहु-कृष्ण-युधिष्ठिर-अर्जुन-प्रद्युम्नेत्यादिषु केवलो लोमन् शब्दः पठितः तथापि सामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

ल्लोम्नोऽपत्यानि' (उडुलोमन् की सन्तानें)—इस विग्रह में बहुत्व की विवक्षा में प्रकृत वार्तिक से 'उडुलोमन्' शब्द से 'अ' प्रत्यय हो 'उडुलोमन् अ' रूप बनता है। तब 'टि'–'अन्' का लोप हो प्रथमा के बहुवचन में 'उडुलोमाः' रूप सिद्ध होता है। यहां 'अ' प्रत्यय के ञित्, णित् या कित् न होने से अजादि-वृद्धि नहीं होती।

१०१३. *अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् । ४ । १ । १०४

ये त्वत्रानृपयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे। विदस्य गोत्रम्–वैदः। वैदौ। वैदाः। पुत्रस्यापत्यम्–पौत्रः। पौत्रौ। पौत्राः। एवं दौहित्रादयः।

१०१३. अनृषीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनृषि) ऋषि-भिन्न (विदादिभ्यः) विद आदि से (आनन्तर्ये) आनन्तर्य अर्थ में (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है। लेकिन इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यह सूत्र 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः–०' ४.१.९८ से प्राप्त 'गोत्रे' के अधिकार में आया है। सूत्र में 'आनन्तर्ये' का अन्वय 'अनृषि' से हुआ है, अतः 'गोत्रे' का अनृषि-भिन्न अर्थात् ऋषि से होता है। 'आनन्तर्य' का अर्थ है—अपत्य। विदादि गण है और इसमें 'विद', 'उर्व', 'पुत्र' और 'दुहितृ' आदि शब्दों का समावेश होता है।† इस गण में कुछ शब्द ऋषि-वाचक हैं और कुछ शब्द ऋषि-भिन्न अन्य अर्थों का बोध कराते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विदादिगण में ऋषि-वाचक शब्दों से गोत्र अर्थ में और अनृषि-वाचक (ऋषि-वाचक शब्दों से भिन्न) शब्दों से अपत्य अर्थ में 'अञ्' (अ) प्रत्यय होता है।

यह अर्थ 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के अनुसार दिया गया है, किन्तु नागेश का मत भिन्न है। उनके अनुसार अनुवृत्त 'गोत्रे' का अन्वय एक बार 'अनृषि' से और दूसरी बार ऋषि से होता है। इस प्रकार नागेश के अनुसार इस सूत्र का अर्थ यह होगा—विदादिगण में ऋषि-वाचक शब्दों से गोत्र अर्थ में और अनृषि-वाचक शब्दों से गोत्र तथा अपत्य—इन दोनों ही अर्थों में 'अञ्' (अ) प्रत्यय होता है। यह अर्थ भी अपने स्थान पर उचित ही है, किन्तु यहां पर 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के अनुसार ही प्रक्रिया दिखलाई जाती है। उदाहरण के लिए 'विद' शब्द ऋषिवाचक है, अतः उससे गोत्र अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय हो 'विद अ' रूप बनता है। तब आदिवृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'वैदः' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होगा—विद का गोत्रापत्य। इसी प्रकार 'पुत्र' शब्द भी विदादिगण में आता है किन्तु वह ऋषि-वाचक नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र से उससे अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय हो

---

* 'अनृषि' इति पञ्चम्याः सौत्रो लुक्। अनृषिभ्य इत्यर्थः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

'पुत्र अ' रूप बनता है। इस स्थिति में पूर्ववत् अजादि-वृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'पौत्रः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ है—'पुत्र का अपत्य'।

१०१४. शिवादिभ्योऽण् । ४ । १ । ११२

अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।

१०१४. शिवादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(शिवादिभ्यः) शिव आदि से (अण्) 'अण्' प्रत्यय होता है। यहां पूर्वसूत्र 'गोत्रे कुञ्जादिभ्यः–०' ४.१.९८ से प्राप्त 'गोत्रे' का अधिकार समाप्त हो जाता है। केवल 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ की ही अनुवृत्ति होती है।* 'शिवादि' गण है और इसमें 'शिव', 'प्रोष्ठ', 'गङ्गा' और 'विपाश' आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठ्यन्त 'शिव' आदि से अपत्य अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। यह '१०११–अत इञ्' आदि सूत्रों से प्राप्त 'इञ्' आदि का बाधक है। उदाहरण के लिए 'शिवस्यापत्यम्' (शिव का अपत्य)—इस अर्थ में '१०११–अत इञ्' से षष्ठ्यन्त 'शिव' से 'इञ्' प्रत्यय होता था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो 'अण्' प्रत्यय होकर 'शिव अ' रूप बनता है। तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'शैवः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गङ्गा' से भी अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो 'गाङ्गः' रूप बनता है।

१०१५. ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च । ४ । १ । ११४

ऋषिभ्यः–वासिष्ठः, वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः–श्वाफल्कः। वृष्णिभ्यः–वासुदेवः। कुरुभ्यः–नाकुलः, साहदेवः।

१०१५. ऋष्यन्धकेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ऋष्यन्धक—कुरुभ्यः) ऋषि, अन्धक, वृष्णि और कुरु से ··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शिवादिभ्योऽण्' ४.१.११२ से 'अण्' और 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से यहां 'प्रातिपदिकात्' का अधिकार प्राप्त होता है। सूत्रस्थ 'ऋषि' ऋषि-वाचक शब्दों का बोधक है और 'अन्धक', 'वृष्णि' और 'कुरु' वंश या कुल का बोध कराते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ऋषि-वाचक तथा अन्धक, वृष्णि और कुरु कुल-बोधक प्रातिपदिक के षष्ठ्यन्त समर्थ से अपत्य अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'वसिष्ठ' शब्द ऋषि-वाचक है, अतः प्रकृत सूत्र से अपत्य अर्थ में उसके षष्ठ्यन्त समर्थ से 'अण्' प्रत्यय हो 'वसिष्ठस्य अ'

---

* 'गोत्र इति निवृत्तम्। अतः प्रभृति सामान्येन प्रत्यया विधीयन्ते'—काशिका।

रूप बनता है। तब सुप्-लोप और अजादि-वृद्धि आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'वासिष्ठः' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—वसिष्ठ का अपत्य। इसी प्रकार ऋषि-वाचक 'विश्वामित्र' से 'विश्वामित्रस्यापत्यम्' (विश्वामित्र का अपत्य) अर्थ में 'वैश्वामित्रः' रूप बनता है। अन्धक-कुल बोधक 'श्वफल्क' से इसी प्रकार अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो 'श्वाफल्कः' रूप बनता है। इसी भांति वृष्णि-कुलीय 'वासुदेव' से अपत्य अर्थ में 'अण्' हो 'वासुदेवः' और कुरु-वंशीय 'नकुल' तथा 'सहदेव' से अपत्य अर्थ में 'अण्' हो 'नाकुलः' तथा 'साहदेवः' रूप बनते हैं।

विशेष—ध्यान रहे कि यहां अकारान्त होने के कारण सभी शब्दों से '१०११–अत इञ्' से 'इञ्' प्राप्त था, किन्तु प्रकृत सूत्र से उसका बाध हो जाता है।

१०१६. ⁶मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः⁵ । ४ । १ । ११५

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्याद् अण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः ।

१०१६. मातुरुत्संख्येति—शब्दार्थ है—(संख्यासंभद्रपूर्वायाः) संख्या, सम् और भद्र-पूर्वक (मातुः) 'मातृ' के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यह वचन आदेशार्थ है, प्रत्यय तो उत्सर्ग से होगा ही।* हां, उसके लिए 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ तथा 'शिवादिभ्योऽण्' ४.१.११२ से 'अण्' की अनुवृत्ति करनी होगी। '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से ह्रस्व उकारादेश 'मातृ' के अन्त्य ऋकार के ही स्थान पर होता है। ऋकार के स्थान पर होने के कारण '२९–उरण् रपरः' परिभाषा से वह 'उर्' के रूप में आदेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संख्या (संख्यावाचक शब्द), सम् और भद्र पूर्व में होने पर 'मातृ' के षष्ठ्यन्त समर्थ से अपत्य अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है और 'मातृ' शब्द के ऋकार के स्थान पर 'उर्' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्' (दो माताओं का पुत्र)—इस अर्थ में संख्यावाचक-'द्वि'पूर्वक 'द्विमातृ' के षष्ठ्यन्त 'द्वयोर्मात्रोः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'द्वयोर्मात्रोः अ' रूप बनता है। तब दोनों ही स्थलों पर सुप्-लोप हो 'द्वि मातृ अ' रूप बनने पर पुनः प्रकृत सूत्र से 'मातृ' के ऋकार के स्थान पर 'उर्' हो 'द्वि मात् उर् अ' = 'द्विमातुर् अ' रूप बनेगा। यहां अजादि-वृद्धि हो प्रथमा के एकवचन में 'द्वैमातुरः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'षट्' संख्या-पूर्वक 'षाण्मातुरः' (छः माताओं का अपत्य), 'सम्'पूर्वक 'सांमातुरः' और 'भद्र'-पूर्वक 'भाद्रमातुरः' रूप सिद्ध होते हैं।

---

* उकारादेशार्थं वचनं, प्रत्ययः पुनरुत्सर्गेणैव सिद्धम्'—काशिका।

१०१७. स्त्रीभ्यो[२] ढक्[१] । ४ । १ । १२०

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः ।

१०१७. स्त्रीभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(स्त्रीभ्यः*) स्त्री-प्रत्ययान्त शब्दों से (ढक्) 'ढक्' प्रत्यय होता है । किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों (जिनके अन्त में 'टाप्' आदि कोई स्त्री-प्रत्यय हो) के षष्ठयन्त समर्थ से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'विनताया अपत्यम्' (विनता का अपत्य)—इस अर्थ में स्त्री-प्रत्ययान्त 'विनता' शब्द के षष्ठयन्त समर्थ 'विनतायाः' से प्रकृत सूत्र से 'ढक्' प्रत्यय हो 'विनतायाः ढक्' रूप बनता है । यहां सुप्-लोप और '१०१०–आयनेयीनीयियः–०' से 'ढक्' (ढ) के आदि ढकार को 'एय्' हो 'विनता एय् अ' रूप बनेगा । तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य आकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'वैनतेयः' रूप सिद्ध होता है ।

१०१८. कन्यायाः[२] कनीन[१] च । ४ । १ । ११६

चादण् । कानीनो-व्यासः, कर्णश्च ।

१०१८. कन्याया इति—शब्दार्थ है—(कन्यायाः) कन्या के स्थान पर (कनीन) 'कनीन' आदेश होता है (च) और··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'शिवादिभ्योऽण्' ४.१.११२ से 'अण्' तथा 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'कन्या' शब्द के षष्ठयन्त समर्थ से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है और 'कन्या' के स्थान पर 'कनीन' आदेश होता है । संक्षेप में इस सूत्र के दो कार्य हैं—

(क) षष्ठयन्त 'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है ।

(ख) 'अण्' के योग से 'कन्या' शब्द के स्थान पर 'कनीन' आदेश होता है । '४५–अनेकाल् शित् सर्वस्य' से यह आदेश सम्पूर्ण 'कन्या' शब्द के स्थान पर होगा ।

उदाहरण के लिए 'कन्याया अपत्यम्' (कन्या का अपत्य†)—इस अर्थ में षष्ठयन्त पद 'कन्यायाः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'कन्यायाः अ' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'कन्या अ' रूप बनने पर पुनः प्रकृत सूत्र से 'कन्या' के स्थान पर 'कनीन' हो 'कनीन अ' रूप बनेगा । यहां अजादि-वृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'कानीनः' रूप सिद्ध होता है ।

---

* 'स्त्रीग्रहणेन टाबादिप्रत्ययान्ताः शब्दा गृह्यन्ते'—काशिका ।

† जैसे—व्यास और कर्ण । 'कन्या' का अभिप्राय यहां 'अविवाहिता' से है—'अविवाहिताया इत्यर्थः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

१०१९. राजश्वशुराद्यत् । ४ । १ । १३७

(वा०) राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् ।

१०१९. राजश्वशुरादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(राजश्वशुरात्) राजन् और श्वशुर से (यत्) 'यत्' प्रत्यय होता है । 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ से यह प्रत्यय इन दोनों से अपत्य अर्थ में प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत वार्तिक 'राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्' से इसका बाध हो 'राजन्' शब्द से यह प्रत्यय जाति अर्थ में होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'श्वशुर' शब्द से अपत्य अर्थ में और 'राजन्' शब्द से जाति अर्थ में 'यत्' (य) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'श्वशुरस्यापत्यम्' (श्वशुर का अपत्य–साला)—इस अर्थ में षष्ठयन्त 'श्वशुर' से 'यत्' प्रत्यय हो 'श्वशुरस्य य' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'श्वशुर य' रूप बनने पर अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'श्वशुर्यः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार जाति-अथ में 'राजन्' से 'यत्' प्रत्यय हो 'राजन् य' रूप बनेगा । यहां '९१९–नस्तद्धिते' से टि–'अन्' का लोप प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

१०२०. ये चाभावकर्मणोः । ६ । ४ । १६८

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यात्, नतु भावकर्मणोः । राजन्यः । श्वशुर्यः । जातावेवेति किम्—

१०२०. ये चेति—शब्दार्थ है—(च) और (अभावकर्मणोः) भाव और कर्म को छोड़कर अन्य अर्थ में (ये) यकार परे होने पर···। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'नस्तद्धिते' ६.४.१४४ से 'तद्धिते', 'प्रकृत्यैकाच्' ६.४.१६३ से 'प्रकृत्या' तथा सम्पूर्ण-सूत्र 'अन्' ६.४.१६७ की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'ये' 'तद्धिते' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कर्म और भाव को छोड़कर अन्य अर्थ (जैसे—कर्ता अर्थ) में यकारादि तद्धित प्रत्यय परे होने पर 'अन्' को प्रकृतिभाव हो जाता है । तात्पर्य यह कि भाव और कर्म को छोड़कर अन्य अर्थ में यकारादि तद्धित प्रत्यय परे होने पर 'अन्' में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह अपने प्रकृत रूप में ही स्थित रहता है । उदाहरण के लिए 'राजन् य' में भाव और कर्म भिन्न अर्थ में 'राजन्' के पश्चात् यकारादि तद्धित प्रत्यय 'यत्' (य) आया है, अतः प्रकृत सूत्र से 'राजन्' की टि–'अन्' को प्रकृतिभाव हो जाने से '९१९–नस्तद्धिते' से प्राप्त उसका लोप नहीं होता । तब प्रथमा के एकवचन में 'राजन्यः' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होगा—'क्षत्रिय जाति' । किन्तु जातिभिन्न अपत्य अर्थ में 'राजन्' से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' प्रत्यय होता है और इस प्रकार रूप बनता

है—'राजन् अ'। यहां पुनः '९१९–नस्तद्धिते' से 'टि'–'अन्' का लोप प्राप्त होता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

१०२१. अन्[१]। ६। ४। १६७

अन् प्रकृत्या स्याद् अणि परे। राजनः।

१०२१. अन् इति। सूत्र का शब्दार्थ है—(अन्) अन्...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'प्रकृत्यैकाच्' ६.४.१६३ से 'प्रकृत्या' तथा 'इनण्यनपत्ये' ६.४.१६४ से 'अणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अण् प्रत्यय परे होने पर 'अन्' को प्रकृति-भाव होता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए 'राजन् अ' में 'अण्' (अ) परे होने से 'राजन्' की टि–'अन्' को प्रकृति-भाव हो जाता है, अतः '९१९–नस्तद्धिते' से प्राप्त टि-लोप नहीं होता। तब प्रथमा के एकवचन में 'राजनः' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—'राजा की सन्तान'।

१०२२. क्षत्राद्[२] घः। ४। १। १३८

क्षत्रियः। जातावित्येव। क्षात्रिरन्यत्र।

१०२२. क्षत्रादिति—शब्दार्थ है—(क्षत्राद्) 'क्षत्र' शब्द से (घः) 'घ' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय भी जाति अर्थ में ही होता है।* उदाहरण के लिए 'क्षत्र' से 'घ' प्रत्यय हो 'क्षत्र घ' रूप बनने पर '१०१०–आयन्–०' से घकार को 'इय्' हो 'क्षत्र इय् अ' रूप बनता है। तब अन्त्य अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'क्षत्रियः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ है—'क्षत्रिय जाति'। हां, अपत्य अर्थ में 'क्षत्र' से '१०११–अत इञ्' से 'इञ्' प्रत्यय हो 'क्षत्र इ' रूप बनेगा। यहां अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'क्षात्रिः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ होगा—'क्षत्रिय की सन्तान'।

१०२३. रेवत्यादिभ्यष्ठक्[१]। ४। १। १४६

१०२३. रेवत्यादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(रेवत्यादिभ्यः) रेवती आदि से (ठक्) 'ठक्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'रेवत्यादि' गण है और इसमें 'रेवती', 'अश्वपाली' और 'मणिपाली' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठ्यन्त 'रेवती' आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'रेवत्याः अपत्यम्' (रेवती का अपत्य)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'रेवत्याः' से

---

* 'अयमपि जातिशब्द एव'—काशिका।

'ठक्' हो 'रेवत्याः ठ' रूप बनने पर सुप्-लोप होकर 'रेवती ठ' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०२४. ठस्येकः[६] । ७ । ३ । ५०

अङ्गात्परस्य ठस्येकादेशः स्यात्। रैवतिकः।

१०२४. ठस्येति—शब्दार्थ है—(ठस्य) ठ के स्थान पर (इकः) 'इक' आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'अङ्गस्य' ६.४.१ की अनुवृत्ति करनी होगी। यह पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अङ्ग से पर ठ के स्थान पर अदन्त 'इक' आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'रेवती ठ' में अङ्ग 'रेवती' के परवर्ती 'ठ' को प्रकृत सूत्र से 'इक' हो 'रेवती इक' रूप बनता है। तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य ईकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'रैवतिकः' रूप सिद्ध होता है।

१०२५. जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् । ४ । १ । १६८

जनपदक्षत्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये। पाञ्चालः।

(वा० १) क्षत्रियसमानशब्दाद् जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्। पञ्चालानां राजा—पाञ्चालः।

(वा० २) पूरोरण् वक्तव्यः। पौरवः।

(वा० ३) पाण्डोर्ड्यण्। पाण्ड्यः।

१०२५. जनपदशब्दादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(क्षत्रियाद्) क्षत्रिय (जनपदशब्दात्) जनपद शब्द से (अञ्) 'अञ्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए 'तस्यापत्यम्' ४.१.९२ से 'अपत्यम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'क्षत्रिय' क्षत्रियवाचक और 'जनपद' जनपदवाचक शब्दों का बोधक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि जनपदवाची शब्द क्षत्रियवाची भी हो तो अपत्य अर्थ में उससे 'अञ्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए जनपदवाची शब्द 'पञ्चाल' क्षत्रियवाचक भी है,* अतः अपत्य अर्थ में उससे 'अञ्' प्रत्यय हो 'पञ्चाल अ' रूप बनता है। यहां अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'पाञ्चालः' रूप सिद्ध होता है।

(वा० १) क्षत्रियसमानेति—भावार्थ है—यदि क्षत्रियवाचक शब्द के समान ही जनपदवाचक शब्द हो, तो उससे राजा अर्थ में अपत्य अर्थ के समान 'अञ्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त 'पञ्चाल' शब्द एक

---

* जनपद प्रान्त को कहते हैं। 'पञ्चाल' प्रान्त-विशेष का नाम भी है और साथ ही एक क्षत्रिय जाति का भी।

जनपद का नाम है और उसके निवासी क्षत्रिय-जाति के लोगों का भी। अतः प्रकृत वार्तिक से राजा अर्थ में उससे 'अञ्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'पाञ्चालः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ होगा—'पञ्चालों का राजा'।

विशेष—ध्यान रहे कि यहां अपत्य-अर्थवाचक और राजा-अर्थवाचक शब्दों के रूप में कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर होता है केवल अर्थ का। इस प्रकार 'पाञ्चालः' के दो अर्थ होंगे—पञ्चाल का अपत्य और पञ्चालों का राजा। कौन अर्थ किस स्थल पर होगा—यह प्रसंग से ही ज्ञात होता है।

(वा० २) पूरोरिति—भावार्थ है—'पूरु' शब्द से राजा अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है।* उदाहरण के लिए 'पूरूणां राजा' (पूरु क्षत्रियों का राजा)—इस अर्थ में 'पूरु' से 'अण्' प्रत्यय हो 'पूरु अ' रूप बनता है। तब अजादि-वृद्धि, गुणादेश और पुनः 'अव्' आदेश होकर प्रथमा के एकवचन में 'पौरवः' रूप सिद्ध होता है।

(वा० ३) पाण्डोरिति—भावार्थ है—'पाण्डु' शब्द से अपत्य और राजा अर्थ में 'ड्यण्' प्रत्यय होता है। 'पाण्डु' शब्द जनपद और उसके निवासी क्षत्रियों का वाचक है। अतः प्रकृत सूत्र '१०२५-जनपदशब्दात्-०' और वार्तिक 'क्षत्रिय-समानशब्दाद्-०' से उससे 'अञ्' प्रत्यय प्राप्त होता है। प्रकृत वार्तिक से उसी का बाध कर इन दोनों अर्थों में 'ड्यण्' (य) प्रत्यय का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'पाण्डोरपत्यम्' (पाण्डु की सन्तान) और 'पाण्डूनां राजा' (पाण्डु क्षत्रियों का राजा)—इन दोनों ही अर्थों में 'पाण्डु' शब्द से 'ड्यण्' (य) हो 'पाण्डु य' रूप बनता है। तब आदि-वृद्धि और उकार-लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'पाण्ड्यः' रूप सिद्ध होता है।

१०२६. कुरुनादिभ्यो[५] ण्यः[१] । ४ । १ । १७२

कौरव्यः। नैषध्यः।

१०२६. कुरुनादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(कुरु-नादिभ्यः) कुरु और नकारादि के (ण्यः) 'ण्य' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१०२५-जनपदशब्दात्-०' ४.१.१६८ से 'जनपदशब्दात् क्षत्रियाद्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'कुरु' और नकारादि क्षत्रियबोधक जनपदवाची शब्द से 'ण्य' (य) प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि 'कुरु' शब्द तथा अन्य क्षत्रियबोधक जनपदवाची शब्दों (वे जनपदवाची शब्द जो उसके निवासी क्षत्रियों के भी वाचक हों) से,

* 'पूरुशब्दो न जनपदवाचीति प्राग्दीव्यतीये अणि सिद्धे तद्राजसंज्ञार्थं वचनम्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

जिनके आदि में नकार हो, 'ण्य' (य) प्रत्यय होता है। यह 'ण्य' प्रत्यय पूर्वसूत्र (१०२५) की भांति अपत्य और राजा अर्थ में ही होता है। उदाहरण के लिए 'कुरोरपत्यम्' (कुरु का अपत्य) और 'कुरूणां राजा' (कुरुओं का राजा)—इन दोनों ही अर्थों में षष्ठयन्त 'कुरु' शब्द से 'ण्य' प्रत्यय हो 'कुरु य' रूप बनता है। तब आदिवृद्धि और उकार को गुणादेश आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'कौरव्यः' रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'निषध' शब्द भी जनपदवाची है और उसके निवासी क्षत्रियों का बोध भी कराता है। उसके आदि में नकार भी है। अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'ण्य' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'नैषध्यः' रूप बनता है जिसका अर्थ होगा—निषध की सन्तान और निषध का राजा।

१०२७. ते[१] तद्राजाः[१] । ४ । १ । १७४

अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः।

१०२७. ते इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(ते) वे (तद्राजाः) 'तद्राज'-संज्ञक होते हैं। यहां सूत्रस्थ 'ते' का तात्पर्य '१०२५—जनपदशब्दात्–०' ४.१.१६८ तथा उसके परवर्ती सूत्रों से क्षत्रियवाचक जनपदवाची शब्दों से विहित 'अञ्' आदि प्रत्ययों से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'१०२५—जनपद-शब्दात्–०' तथा उसके परवर्ती सूत्रों द्वारा क्षत्रियबोधक जनपदवाची शब्दों से जिन 'अञ्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन्हें 'तद्राज' कहते हैं।

१०२८. तद्राजस्य[६] बहुषु[७] [३]तेनैवास्त्रियाम्[७] । २ । ४ । ६२

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक्, तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः, पञ्चालाः इत्यादि।

१०२८. तद्राजस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अन्य लिङ्ग में (तद्राजस्य) 'तद्राज' का (बहुषु) बहुत्व अर्थ में…(तेन) उससे (एव) ही। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'ण्यक्षत्रियार्षञितो–०' ५.४.५८ से 'लुक्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'बहुषु' का अन्वय 'तद्राजस्य' और 'तेनैव'—दोनों से ही होता है। 'तेन' 'तद्राज' का बोधक है, अतः 'तेनैव बहुषु' का अर्थ होगा—तद्राज के ही बहुत्व अर्थ में।* इस प्रकार सम्पूर्ण सूत्र का भावार्थ होगा—स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर अन्य लिङ्ग (पुँल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग) में बहुत्व अर्थ में 'तद्राज' प्रत्यय का लोप होता है किन्तु यह बहुत्व तद्राजप्रत्यय के ही अर्थ का होना चाहिये। उदाहरण के लिए 'इक्ष्वाकु' शब्द से '१०२५—जनपद-शब्दात्–०' से राजा या अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय हो अजादि-वृद्धि आदि होकर

---

* 'तेनैव चेत्तद्राजेन कृतं बहुत्वं भवति'—काशिका।

'ऐक्ष्वाकव' रूप बनता है। यहां बहुवचन की विवक्षा में प्रकृत सूत्र से तद्राज प्रत्यय—'अञ्' का लोप हो जाता है। तब 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' परिभाषा से 'अञ्'-नैमित्तिक अजादि-वृद्धि आदि की निवृत्ति हो पुनः 'इक्ष्वाकु' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य हो 'इक्ष्वाकवः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ है—'इक्ष्वाकु की सन्तानें या इक्ष्वाकुओं का राजा'। इसी प्रकार 'पञ्चाल' शब्द से बहुवचन में 'पञ्चालाः' रूप सिद्ध होता है।

१०२९. कम्बोजाल्लुक् । ४ । १ । १७५

अस्मात्तद्राजस्य लुक्। कम्बोजः। कम्बोजौ।

(वा०) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्। चोलः, शकः, केरलः। यवनः।

इत्यपत्याधिकारः।

१०२९. कम्बोजादिति—शब्दार्थ है—(कम्बोजाद्) कम्बोज से (लुक्) लोप होता है। किन्तु यह लोप किसका होता है—यह जानने के लिए 'ते तद्राजाः' ४.१.१७४ से 'तद्राजाः' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'कम्बोज' शब्द के पश्चात् तद्राज प्रत्यय का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'कम्बोजस्यापत्यम्' (कम्बोज की सन्तान)—इस अर्थ में '१०२५—जनपदशब्दात्—०' से 'अञ्' प्रत्यय हो अजादि-वृद्धि आदि होकर 'काम्बोज' रूप बनता है। तब प्रकृत सूत्र से तद्राज प्रत्यय-'अञ्' का लोप हो जाता है। इस स्थिति में 'अञ्'-नैमित्तिक अजादि-वृद्धि आदि की भी निवृत्ति हो पुनः 'कम्बोज' रूप बनता है। यहां प्रथमा के एकवचन में विभक्ति-कार्य हो 'कम्बोजः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) कम्बोजादिभ्य इति—भावार्थ है—कम्बोज आदि से तद्राज प्रत्यय का लोप होता है। 'कम्बोजादि' गण में 'कम्बोज', 'चोल', 'केरल', 'शक' और 'यवन' का समावेश होता है। इस प्रकार न केवल कम्बोज अपितु इन सभी शब्दों के पश्चात् तद्राज प्रत्यय का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'चोल' और 'शक' शब्दों से 'द्व्यञ्मगध—०' ४.१.१७० से विहित तद्राज प्रत्यय 'अण्' का लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'चोलः' और 'शकः' रूप बनते हैं। इसी प्रकार 'केरल' और 'यवन' शब्दों से '१०२५—जनपदशब्दात्—०' से विहित तद्राज प्रत्यय 'अञ्' का लोप हो 'केरलः' और 'यवनः' रूप बनते हैं। इन सभी का प्रयोग पूर्ववत् अपत्य और राजा अर्थ में होता है।

अपत्याधिकार-प्रकरण समाप्त।

रक्ताद्यर्थकाः

१०३०. तेन[3] रक्तं[2] रागात्[1] । ४ । २ । १

अण् स्यात् । रज्यतेऽनेनेति रागः । कषायेण रक्तं वस्त्रं—काषायम् ।

१०३०. तेन रक्तमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तेन) उससे··· (रागात्) राग से (रक्तम्) रक्त । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में यहां 'तेन' का अभिप्राय केवल 'तृतीयान्त पद' से है । वह पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो 'रागात्' का विशेषण बनता है । सूत्रस्थ 'रक्तम्' रक्त-अर्थवाचक प्रत्ययों का बोधक है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—रक्त (रँगा हुआ) अर्थ में तृतीयान्त राग (रङ्ग) वाचक पद से ही यथाविहित प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'कषायेण रक्तं वस्त्रम्' (कषाय रंग से रँगा हुआ कपड़ा)—इस विग्रह में 'रँगा हुआ' अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' (अ) प्रत्यय प्राप्त होता है । प्रकृत सूत्र से यह प्रत्यय तृतीयान्त रङ्गवाची पद 'कषायेण' से ही होता है और इस प्रकार रूप बनता है—'कषायेण अ' । यहां सुप्-लोप हो 'कषाय अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप हो प्रथमा के एकवचन में 'काषायम्' रूप सिद्ध होता है ।

१०३१. नक्षत्रेण[3] युक्तः[2] कालः[1] । ४ । २ । ३

अण् स्यात् ।

(वा०) तिष्यपुष्योर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् । पुष्येण युक्तं—पौषमहः ।

१०३१. नक्षत्रेणेति—शब्दार्थ है—(नक्षत्रेण) नक्षत्र से (युक्तः) युक्त (कालः) काल । किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में सूत्रस्थ 'युक्तः कालः' अर्थवाचक है । अधिकार-सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है । पूर्वसूत्र 'तेन रक्तं रागात्' ४.२.१ से 'तेन' की अनुवृत्ति होने से यह 'अण्' प्रत्यय तृतीयान्त 'नक्षत्र' से ही होता है । 'नक्षत्र' स्वतः नक्षत्र-वाचक शब्दों का बोधक है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—नक्षत्र से युक्त काल अर्थ में तृतीयान्त नक्षत्रवाचक शब्द से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'पुष्येण युक्तं दिनम्' (पुष्य नामक नक्षत्र से युक्त दिन)—इस अर्थ में तृतीयान्त नक्षत्रवाचक 'पुष्येण' से 'अण्' प्रत्यय हो 'पुष्येण अण्' रूप बनता है । तब सुप् लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप हो 'पौष्य् अ' रूप बनेगा । इस स्थिति में अग्रिम वार्तिक प्रयुक्त होता है—

(वा०) तिष्यपुष्ययोरिति—भावार्थ है—नक्षत्र-सम्बन्धी 'अण्' प्रत्यय परे होने पर नक्षत्रवाचक 'तिष्य' और 'पुष्य' शब्दों के यकार का लोप होता है। यह 'अण्' प्रत्यय 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' ४.२.३ और 'संधिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' ४.३.१६ से प्राप्त होता है, अतः उक्त स्थलों पर ही यह वार्तिक प्रवृत्त होगा। उदाहरण के लिए 'पौष्य् अ' में नक्षत्र सम्बन्धी 'अण्' (अ) प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत वार्तिक से 'पौष्य्' के यकार का लोप हो 'पौष् अ' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'पौषम्' रूप सिद्ध होता है।

१०३२. लुबविशेषे । ४ । २ । ४

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते। अद्य पुष्यः।

१०३२. लुबिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अविशेषे) अविशेष अर्थ में (लुप्) लुप् होता है। यह लुप् पूर्वसूत्र 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' ४.२.३ से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का ही होता है। सूत्रस्थ 'अविशेष' का अर्थ है—रात या दिन का बोध न होना। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—दिन या रात का बोध न होने पर नक्षत्र से युक्त काल अर्थ में विहित 'अण्' प्रत्यय का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अद्य पुष्येण युक्तः कालः' (आज पुष्य नक्षत्र से युक्त काल है)—इस अर्थ में पूर्वसूत्र (१०३१) से 'पुयेष्ण' से 'अण्' प्रत्यय तथा सुप्-लोप हो 'पुष्य अ' रूप बनता है। यहां 'अद्य' (आज) का प्रयोग होने से यह पता नहीं चलता कि दिन है या रात, अतः प्रकृत सूत्र से 'अण्' (अ) का लोप हो 'पुष्य' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'पुष्यः' रूप सिद्ध होता है। हां, यदि दिन या रात का बोध होगा तो पूर्ववत् 'अण्' प्रत्यय हो 'पौषम्' रूप ही बनेगा, यथा—'पौषम् अहः' (पुष्य नक्षत्र से युक्त दिन)।

१०३३. दृष्टं साम । ४ । २ । ७

तेनेत्येव। वसिष्ठेन दृष्टं—वासिष्ठं साम।

१०३३. दृष्टमिति—शब्दार्थ है—(दृष्टम्) देखा गया (साम) साम। यह वास्तव में अर्थबोधक-निर्देश है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तेन रक्तं रागात्' ४.२.१ से 'तेन' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'देखा गया साम' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ से ही यथाविहित प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'वसिष्ठेन दृष्टं साम' (वसिष्ठ से देखा गया साम) अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र से यह प्रत्यय तृतीयान्त 'वसिष्ठेन' से ही होगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'वसिष्ठेन अण्'। यहां सुप्-लोप हो 'वसिष्ठ अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर 'वासिष्ठम्' रूप सिद्ध होता है।

१०३४. वामदेवाड्ड्यड्ड्यौ[1] । ४ । २ । ९

वामदेवेन दृष्टं साम–वामदेव्यम् ।

१०३४. वामदेवादिति—शब्दार्थ है—(वामदेवात्) वामदेव से (ड्यड्-ड्यौ) 'ड्यत्' और 'ड्य' प्रत्यय होते हैं। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तेन रक्तं रागात्' ४.२.१ से 'तेन' तथा 'दृष्टं साम' ४.२.७ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'तेन' का अन्वय सूत्रस्थ 'वामदेवात्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'देखा गया साम' अर्थ में तृतीयान्त 'वामदेव' शब्द से 'ड्यत्' और 'ड्य' प्रत्यय होते हैं। यह वास्तव में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से प्राप्त सामान्य 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है।

'ड्यत्' में डकार और तकार इत्संज्ञक हैं, केवल 'य' शेष रह जाता है। इसी प्रकार 'ड्य' में भी केवल 'य' ही शेष रहता है। दोनों प्रत्ययों में अन्तर केवल स्वर का ही है। 'ड्यत्' तित् होने से स्वरित होता है और 'ड्य' उदात्त। वैसे दोनों प्रत्ययों से एक-सा रूप बनता है। उदाहरण के लिए 'वामदेवेन दृष्टं साम' (वामदेव से देखा गया साम)—इस विग्रह में 'देखा गया साम' अर्थ में तृतीयान्त 'वामदेवेन' से 'ड्यत्' प्रत्यय हो 'वामदेवेन य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप आदि होकर 'वामदेव य' रूप बनने पर डित् प्रत्यय परे होने से टि-लोप हो 'वामदेव् य' = 'वामदेव्य' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'वामदेव्यम्' रूप बनता है। 'ड्य' प्रत्यय होकर भी इसी प्रकार 'वामदेव्यम्' रूप सिद्ध होता है।

१०३५. परिवृतो[1] रथः[2] । ४ । २ । १०

अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतः–वास्त्रो रथः ।

१०३५. परिवृत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(परिवृतः) घिरा हुआ (रथः) रथ। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तेन रक्तं रागात्' ४.२.१ से 'तेन' तथा 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'घिरा हुआ रथ' अर्थ में तृतीयान्त समर्थ से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'वस्त्रेण परिवृतो रथः' (वस्त्र से घिरा हुआ रथ)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'वस्त्रेण' से 'अण्' प्रत्यय हो 'वस्त्रेण अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन–पुँल्लिङ्ग में 'वास्त्रः' रूप सिद्ध होता है।

१०३६. तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः[5] । ४ । २ । १४

शरावे उद्धृतः–शाराव ओदनः ।

१०३६. तत्रोद्धृतमिति—शब्दार्थ है—(अमत्रेभ्यः*) पात्र-वाचक शब्दों से

---

* 'अमत्रं भाजनं पात्रमुच्यते'—काशिका ।

(तत्र) वहां (उद्धृतम्) उद्धृत··· । यहां सूत्रस्थ 'तत्र' अधिकरण होने से सप्तमी विभक्ति का बोधक है । इस अर्थ में यह सूत्रस्थ 'अमत्रेभ्यः' का विशेषण बनता है। 'उद्धृतम्' भी अर्थ-वाचक निर्देश है। अधिकार-सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उद्धृत' (निकाल कर रखा हुआ) अर्थ में सप्तम्यन्त पात्र-वाचक शब्दों (जैसे—शराव आदि) से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'शरावे उद्धृत ओदनः' (शराव* में रखा हुआ भात)—इस विग्रह में उद्धृत अर्थ में सप्तम्यन्त पात्र-वाचक 'शरावे' से 'अण्' प्रत्यय हो 'शरावे अ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'शारावः' रूप सिद्ध होता है।

१०३७. संस्कृतं भक्षाः । ४ । २ । १६

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः—भ्राष्ट्राः यवाः ।

१०३७. संस्कृतमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संस्कृतं) संस्कार किया गया (भक्षाः) भक्ष । किन्तु यह तो वास्तव में अर्थ-निर्देश है, इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र 'तत्रोद्धृतम्–०' ४.२.१४ से 'तत्र' तथा अधिकार-सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भक्ष' का अर्थ है—दांतों से चबाकर खाने योग्य पदार्थ। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि संस्कार किया गया पदार्थ दांतों से चबाकर खाने योग्य हो, तो 'संस्कार किया गया' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः यवाः' (भाड़ में संस्कार किए गए जौ) इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'भ्राष्ट्रेषु' से 'अण्' प्रत्यय हो 'भ्राष्ट्रेषु अ' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के बहुवचन में 'भ्राष्ट्राः' रूप सिद्ध होता है।

१०३८. साऽस्य देवता । ४ । २ । २४

इन्द्रो देवता अस्येति ऐन्द्रम्–हविः । पाशुपतम् । बार्हस्पतम् ।

१०३८. साऽस्येति—शब्दार्थ है—(सा) वह (अस्य) इसका (देवता) देवता। यहाँ सूत्रस्थ 'सा' प्रथमा-विभक्ति का बोधक है। अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से प्राप्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से यह पञ्चम्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। 'अस्य देवता' भी अर्थ-निर्देश है। 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहाँ

---

* इसका अर्थ है—'मिट्टी का बना हुआ प्याला या कटोरा' (Bowl)। देखिये डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि' (पृ० १४४–४५)।

भी 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'देवता है इसका' इस अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'इन्द्रो देवताऽस्य' (इन्द्र है इसका देवता)—यहाँ 'देवता है इसका' अर्थ में प्रथमान्त 'इन्द्रः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'इन्द्रः अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'ऐन्द्रः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पाशुपतम्' और 'बार्हस्पतम्' रूप भी बनते हैं।

१०३९. शुक्राद्[2] घन्[1] । ४ । २ । २६

शुक्रियम् ।

१०३९. शुक्रादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शुक्राद्) 'शुक्र' से (घन्) 'घन्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र 'साऽस्य देवता' ४.२.२४ से 'अस्य देवता' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका देवता है' इस अर्थ में 'शुक्र' शब्द से 'घन्' (घ) प्रत्यय होता है। वास्तव में यह 'साऽस्य देवता' ४.२.२४ से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'शुक्रो देवताऽस्य' (शुक्र इसका देवता) है—इस अर्थ में प्रथमान्त 'शुक्रः' से 'घन्' प्रत्यय हो 'शुक्रः घ' रूप बनता है। यहाँ सुप्-लोप हो 'शुक्र घ' रूप बनने पर '१०१०-आयनेयीनीयियः-०' से 'घन्' के घकार को 'इय्' होकर 'शुक्र इय् अ' = 'शुक्र इय' रूप बनेगा। इस स्थिति में अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'शुक्रियम्' रूप सिद्ध होता है।

१०४०. सोमात्[2] ट्यण्[1] । ४ । २ । ३०

सौम्यम् ।

१०४०. सोमादिति—शब्दार्थ है—(सोमात्) 'सोम' से (ट्यण्) 'ट्यण्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'साऽस्य देवता' ४.२.२४ से 'अस्य देवता' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका देवता है' इस अर्थ में 'सोम' शब्द से 'ट्यण्' (य) प्रत्यय होता है। यह भी '१०३८-साऽस्य देवता' से प्राप्त 'अण्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'सोमो देवताऽस्य' (सोम इसका देवता है)—इस अर्थ में 'सोमः' से 'ट्यण्' (य) प्रत्यय हो 'सोमः य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'सोम य' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि हो प्रथमा के एकवचन में 'सौम्यम्' रूप सिद्ध होता है।

१०४१. वाय्वृतुपित्रुषसो[2] यत्[1] । ४ । २ । ३१

वायव्यम् । ऋतव्यम् ।

१०४१. वायु इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वाय्वृतुपित्रुषसः = वायु + ऋतु +

पितृ + उषसः) वायु, ऋतु, पितृ और उषस् से (यत्) यत् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'साऽस्य देवता' ४.२.२४ से 'अस्य देवता' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका देवता है' इस अर्थ में वायु, ऋतु, पितृ और उषस्—इन चार शब्दों से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'वायुर्देवताऽस्य' (वायु इसका देवता है)—इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से प्रथमान्त 'वायुः' से 'यत्' प्रत्यय हो 'वायुः यत्' रूप बनता है। यहाँ सुप्-लोप हो 'वायु यत्' = 'वायु य' रूप बनने पर उकार को ओकार हो 'वायो य' रूप बनेगा। इस स्थिति में ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश हो 'वाय् अव् य' = 'वायव्य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'वायव्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ऋतु' और 'उषस्' से भी 'यत्' प्रत्यय हो क्रमशः 'ऋतव्यम्' और 'उषस्यम्' रूप बनते हैं। 'पितृ' शब्द से यत् प्रत्यय हो 'पितृ य' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०४२. रीङ् ऋतः । ७ । ४ । २७

अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङादेशः। यस्येति च। पित्र्यम्। उषस्यम्।

१०४२. रीङ् इति—शब्दार्थ है—(ऋतः) ह्रस्व ऋकार के स्थान पर (रीङ्) 'रीङ्' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस परिस्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' ७.४.२५ से 'अकृत्सार्वधातुकयोः', 'अयङ् यि क्ङिति' ७.४.२२ से 'यि' तथा 'च्वौ च' ७.४.२६ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार प्राप्त है, वह सूत्रस्थ 'ऋतः' का विशेष्य बनता है। 'ऋतः' में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कृत्-भिन्न और असार्वधातुक (सार्वधातुक-भिन्न) यकार तथा 'च्वि' प्रत्यय परे होने पर ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग के स्थान में 'रीङ्' आदेश होता है। 'रीङ्' का अन्त्य ङकार इत्संज्ञक है, केवल 'री' ही शेष रह जाता है। '२१—अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह अन्त्य ऋकार के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'पितृ य' में कृत्-भिन्न यकार परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से अङ्ग 'पितृ' के ऋकार के स्थान पर 'रीङ्' होकर 'पित् री य' रूप बनता है। इस स्थिति में अन्त्य ईकार का लोप हो 'पित् र् य' = 'पित्र्य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'पित्र्यम्' रूप सिद्ध होता है।

१०४३. पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः । ४ । २ । ३६

एते निपात्यन्ते। पितुर्भ्राता—पितृव्यः। मातुर्भ्राता—मातुलः। मातुः पिता—मातामहः। पितुः पिता—पितामहः।

१०४३. पितृव्येति—सूत्र का अर्थ है—(पितृव्य--पितामहाः) पितृव्य, मातुल, मातामह और पितामह शब्दों का निपातन* होता है। तात्पर्य यह कि पितृव्य, मातुल, मातामह और पितामह—ये चार शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं। 'मातृ' शब्द से भ्राता अर्थ में 'डुलच्' और 'पितृ' शब्द से भ्राता अर्थ में 'व्यन्' प्रत्यय का निपातन होता है। पिता अर्थ में मातृ और पितृ—दोनों शब्दों से ही 'डामहच्' प्रत्यय का निपातन होगा। इन शब्दों की सिद्धि इस प्रकार है—

(क) पितृव्य (चाचा)—यहाँ भ्राता अर्थ में 'पितृ' शब्द से 'व्यन्' (व्य) प्रत्यय हो 'पितृव्य' रूप बनता है।

(ख) मातुल (मामा)—यहां भ्राता अर्थ में मातृ शब्द से 'डुलच्' (उल) प्रत्यय हो 'मातृ उल' रूप बनने पर डित् प्रत्यय परे होने से 'मातृ' को 'टि—ऋकार का लोप हो 'मातुल' रूप बनेगा।

(ग) मातामह (नाना) और पितामह (बाबा)—'मातृ' शब्द से पिता अर्थ में 'डामहच्' (आमह) प्रत्यय हो 'मातृ आमह' रूप बनने पर डित् प्रत्यय परे होने से टि–ऋकार का लोप हो 'मात् आमह' = 'मातामह' रूप बनता है। इसी प्रकार 'पितृ' शब्द से 'पितामह' रूप बनेगा।

१०४४. तस्य[६] समूहः[१] । ४ । २ । ३७

काकानां समूहः—काकम्।

१०४४. तस्येति—शब्दार्थ है—(तस्य) उसका (समूहः) समूह। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। 'तस्य' का अभिप्राय है षष्ठी विभक्ति और 'समूहः' समूह-वाचक प्रत्यय का बोधक है। 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'काकानां समूहः' (काकों का समूह)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'काकानाम्' से 'अण्' प्रत्यय हो 'काकानाम् अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'काक अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'काकम्' रूप सिद्ध होता है।

१०४५. [५]भिक्षादिभ्योऽण् । ४ । २ । ३८

भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहः—गार्भिणम्। इह—

(वा०) भस्याढे तद्धिते। इति पुंवद्भावे कृते—

१०४५. भिक्षादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भिक्षादिभ्यः) 'भिक्षा' आदि से (अण्) अण् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति में होता है—

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ३०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी देखिये।

यह जानने के लिए पूर्वसूत्र 'तस्य समूहः' ४.२.३७ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भिक्षा' आदि गण है और इसमें 'भिक्षा', 'गर्भिणी' और 'युवति' आदि शब्दों का समावेश होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठ्यन्त 'भिक्षा' आदि शब्दों से समूह अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। यह '१०४८–अचित्त-हस्ति-०' से प्राप्त 'ठक्' और 'अनुदात्तादेरञ्' ४.२.४४ से प्राप्त 'अञ्' आदि प्रत्ययों का बाधक है। उदाहरण के लिए 'भिक्षाणां समूहः' (भिक्षा का समूह)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'भिक्षा' से 'अण्' प्रत्यय हो 'भिक्षाणां अ' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'भैक्षम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गर्भिणीनां समूहः' (गर्भिणियों का समूह)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'गर्भिणी' से 'अण्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'गर्भिणी अ' रूप बनता है। इस अवस्था में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०) भस्येति—भावार्थ है—ढ-भिन्न तद्धित प्रत्यय परे होने पर भ-संज्ञक प्रातिपदिक को पुंवद्भाव होता है। उदाहरण के लिए 'गर्भिणी अ' में ढ-भिन्न तद्धित प्रत्यय 'अण्' परे होने के कारण भ-संज्ञक अङ्ग 'गर्भिणी' को पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवद्भाव होने पर 'गर्भिणी' के स्थान पर पुँल्लिङ्ग-रूप 'गर्भिन्' होकर 'गर्भिन् अ' रूप बनेगा। इस स्थिति में '९१९–नस्तद्धिते' से टि–'इन्' का लोप प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०४६. इनण्यनपत्ये । ६ । ४ । १६४

अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात्। तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न। युवतीनां समूहः–यौवनम्।

१०४६. इनिति—शब्दार्थ है—(अनपत्ये) अपत्य-भिन्न अर्थ में (अणि) 'अण्' प्रत्यय परे होने पर (इन्) इन् ..। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'प्रकृत्यैकाच्' ६.४.१६३ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अपत्य-भिन्न अर्थ में 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है; उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए 'गर्भिन् अ' में अपत्य-भिन्न अर्थ में 'अण्' (अ) प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'गर्भिन्' की टि–'इन्' को प्रकृतिभाव हो जाता है। तब '९१९–नस्तद्धिते' से प्राप्त लोप भी नहीं होता। इस स्थिति में अजादि-वृद्धि और णत्व होकर 'गार्भिण' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'गार्भिणम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'युवति' से समूह अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो 'यौवनम्' रूप बनता है।

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

१०४७. ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल्[2] । ४ । २ । ४३

(लि०) तलन्तं स्त्रियाम् । ग्रामता । जनता । बन्धुता ।

(वा० १) गज-सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् । गजता । सहायता ।

(वा० २) अह्नः खः क्रतौ । अहीनः ।

१०४७. ग्रामेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ग्रामजनबन्धुभ्यः) ग्राम, जन और बन्धु से (तल्) तल् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तस्य समूहः' ४.२.३७ से 'समूहः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—समूह अर्थ में ग्राम, जन और बन्धु—इन तीन शब्दों से 'तल्' (त) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'ग्रामाणां समूहः' (ग्रामों का समूह)–इस अर्थ में षष्ठ्यन्त पद 'ग्रामाणाम्' से 'तल्' प्रत्यय हो 'ग्रामाणाम् त' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'ग्राम त' रूप बनने पर 'तलन्तं स्त्रियाम्'* से स्त्री-लिङ्ग की विवक्षा में टाप् प्रत्यय हो 'ग्रामता' रूप बनेगा । यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'ग्रामता' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'जन' से 'जनता' (लोगों का समूह) और 'बन्धु' से 'बन्धुता' (बन्धुओं का समूह) रूप बनते हैं।

(वा० १) गजेति—अर्थ है—गज (हाथी) और सहाय (सहायक)—इन दो शब्दों से भी समूह अर्थ में तल् (त) प्रत्यय होता है। यहां भी पूर्ववत् 'गज' से 'गजता' (हाथियों का समूह) और 'सहाय' से 'सहायता (सहायकों का समूह) रूप बनते हैं।

(वा० २) अह्न इति—अर्थ है—क्रतु (यज्ञ) वाच्य होने पर समूह अर्थ में 'अहन्' (दिन) शब्द से 'ख' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुविशेषः' (अनेक दिन में होनेवाला यज्ञ)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'अहन्' शब्द से 'ख' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'अहन् ख' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०१०–आयनेयी–०' से प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्' होकर 'अहन् ईन् अ'= 'अहन् ईन' रूप बनेगा । तब '९१६–नस्तद्धिते' से टि–'अन्' का लोप हो 'अह् ईन' = 'अहीन' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'अहीनः' रूप सिद्ध होता है।

१०४८. अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक्[1] । ४ । २ । ४७

१०४८. अचित्तेति—शब्दार्थ है—(अचित्त-हस्ति-धेनोः) अचित्त-वाचक, हस्ति और धेनु से (ठक्) 'ठक्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में

* यह 'लिङ्गानुशासन' का वचन है। शब्दार्थ है—तल्-प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

होता है—यह जानने के लिए 'तस्य समूहः' ४.२.३७ से 'समूहः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अचित्त' का अर्थ है—चित्त-रहित अर्थात् अचेतन। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अचेतन-पदार्थवाचक, हस्ति और धेनु शब्दों से समूह अर्थ में 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'सक्तु' शब्द अचेतन-वाची है, अतः प्रकृत सूत्र से 'सक्तूनां समूहः' (सत्तुओं का समूह)—इस अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हो 'सक्तु ठ' रूप बनता है। इस स्थिति में '१०२४-ठस्येकः' से ठ के स्थान पर 'इक' प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

१०४९. इसुसुक्तान्तात्कः । ७ । ३ । ५१

इस्-उस्-उक्-तान्तात्परस्य ठस्य कः । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ।

१०४९. इसिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इसुसुक्तान्तात् = इस् + उस् + उक् + तान्तात्) इस् अन्तवाले, उस् अन्तवाले, उक् अन्तवाले और तकार अन्तवाले से पर (कः) 'क' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ठस्येकः' ७.३.५० से 'ठस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त है। यह पञ्चम्यन्त में विपरिणत हो 'इसुसुक्तान्तात्' का विशेष्य बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इसन्त (जिसके अन्त में 'इस्' हो), उसन्त (जिसके अन्त में 'उस्' हो), उगन्त (जिसके अन्त में 'उक्'* हो) और तकारान्त अङ्ग के पश्चात् 'ठ' के स्थान पर 'क' आदेश होता है। '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'सक्तु ठ' में उगन्त अङ्ग 'सक्तु' के पश्चात् 'ठ' के स्थान पर 'क' हो 'सक्तु क' रूप बनता है। तब अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'साक्तुकम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'हस्ति' से 'हास्तिकम्' (हाथियों का समूह) और 'धेनु' से 'धैनुकम्' (गायों का समूह) रूप बनते हैं।

१०५०. तदधीते† तद्वेद । ४ । २ । ५९

१०५०. तदधीते इति—शब्दार्थ है—(तत्) उसको (अधीते) पढ़ता है (तत्) उसको (वेद को) जानता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। यहाँ 'तत्' का अभिप्राय केवल द्वितीया विभक्ति से है। अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से प्राप्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से यह पञ्चम्यर्थ में विपरिणत हो जाता है। 'अधीते' और 'वेद' भी अर्थ-वाचक हैं।

---

* यह प्रत्याहार है और इसमें उ, ऋ और ऌ का समावेश होता है।

† 'अधीते' और 'वेद' ये दोनों क्रिया-पद हैं।

इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पढ़ता है' और 'जानता है—इन दोनों अर्थों में यथाविहित ('अण्' आदि) प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'व्याकरणमधीते वेत्ति वा' (व्याकरण को पढ़ता है या जानता है)—इस अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' (अ) प्रत्यय प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र से यह प्रत्यय द्वितीयान्त पद 'व्याकरणम्' से ही होगा और इस प्रकार रूप बनेगा—'व्याकरणम् अ'। इस स्थिति में '९३८–तद्धितेष्वचामादेः' से अजादि-वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

१०५१. नॅ य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तुॅ ताभ्यामैच्। ७ । ३ । ३

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः, किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ स्तः। व्याकरणमधीते वेद वा–वैयाकरणः।

१०५१. न य्वाभ्यामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पदान्ताभ्याम्) पदान्त (य्वाभ्याम्) यकार और वकार के पश्चात् (न) नहीं… (तु) किन्तु (ताभ्याम्) उनके (पूर्वौ) पूर्व (ऐच्) 'ऐच्' होता है। किन्तु क्या नहीं होता और किस अवस्था में नहीं होता—यह जानने के लिए 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से 'वृद्धिः', सम्पूर्ण-सूत्र 'अचो ञ्णिति' ७.२.११५, 'तद्धितेष्वचामादेः' ७.२.११७ तथा 'किति च' ७.२.११८ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'ताभ्याम्' का अभिप्राय 'य्वाभ्याम्' से ही है। सूत्रस्थ 'पूर्वौ' का अर्थ है—पूर्वावयव। 'ऐच्' प्रत्याहार है और उसमें ऐ और औ का समावेश होता है। '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से ऐकार का अन्वय यकार से और औकार का अन्वय वकार से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ञित्, णित् और कित् तद्धित प्रत्यय परे होने पर पदान्त यकार और वकार के पश्चात् आदि-अच् को वृद्धि नहीं होती, किन्तु यकार के पूर्व ऐकार और वकार के पूर्व औकार का आगम होता है। उदाहरण के लिए 'व्याकरण अ' में यकार पदान्त है क्योंकि वह 'वि' के इकार के स्थान पर हुआ है, अतः णित् प्रत्यय 'अण्' (अ) परे होने पर प्रकृत सूत्र से उसके परवर्ती आदि-अच्–आकार को वृद्धि नहीं होती। तब पुनः प्रकृत सूत्र से यकार को 'ऐ' आगम होगा और रूप बनेगा—'व् ऐ याकरण अ' = 'वैयाकरण अ'। यहाँ अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'वैयाकरणः' रूप सिद्ध होता है।

१०५२. क्रमादिभ्यो वुन्। ४ । २ । ६१

क्रमकः। पदकः। शिक्षकः। मीमांसकः।

इतिरक्ताद्यर्थकाः।

१०५२. क्रमादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(क्रमादिभ्यः) 'क्रम' आदि से (वुन्) 'वुन्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तदधीते तद्वेद' ४.२.५९ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'क्रम' आदि गण है और उसमें 'क्रम', 'पद', शिक्षा', 'मीमांसा' और 'सामन्' का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'जानता है' या 'पढ़ता है'—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'क्रम' आदि से 'वुन्' (वु) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'क्रममधीते वेत्ति वा' (क्रमपाठ को पढ़ता है या जानता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'क्रम' से 'वुन्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'क्रम वु' रूप बनता है। यहां '७८५–युवोरनाकौ' से 'वु' के स्थान पर 'अक' हो 'क्रम अक' रूप बनेगा। तब अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'क्रमकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पद' से 'पदकः' (पदपाठ को पढ़ता या जानता है), 'शिक्षा' से 'शिक्षकः' (जो शिक्षा-शास्त्र को पढ़ता या जानता है) और 'मीमांसा' से 'मीमांसकः' (जो मीमांसा-शास्त्र को पढ़ता या जानता है) रूप बनते हैं।

रक्ताद्यर्थक-प्रकरण समाप्त।

चातुरर्थिकाः

१०५३. [१]तदस्मिं[१]न्नस्तीति[१] देशे[७] तन्नाम्नि[७] । ४ । २ । ६७

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन्देशे औदुम्बरो देशः ।

१०५३. तदस्मिन्निति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तद्) वह (अस्मिन्) इसमें (अस्ति) है (इति) ऐसा (तद्नाम्नि) तद्-नामा (देशे) देश होने पर··· । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में प्रथम 'तद्' केवल प्रथमा विभक्ति का बोधक है । 'अस्मिन्' भी सप्तम्यर्थ-वाचक है । दूसरे 'तद्' का अभिप्राय 'प्रत्ययान्त' से है ।* अधिकार-सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो 'इसमें है'—इस सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है । दूसरे शब्दों में, इस सूत्र के लिए दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय होता है ।

(२) लेकिन यह 'अण्' प्रत्यय तभी होगा जब कि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो ।

उदाहरण के लिए 'उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे' (उदुम्बर इस देश में हैं)—यहां 'इसमें हैं' इस सप्तम्यर्थ में प्रथमान्त 'उदुम्बराः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'उदुम्बराः अ' रूप बनता है । इस स्थिति में सुप्-लोप हो 'उदुम्बर अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप हो 'औदुम्बर' रूप बनेगा । यहां विभक्ति-कार्य हो 'औदुम्बरः' रूप बनता है जो कि एक देश-विशेष का नाम है ।

१०५४. तेन[३] निर्वृत्तम्[१] । ४ । २ । ६८

कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी–कौशाम्बी ।

१०५४. तेनेति—शब्दार्थ है—(तेन) उससे (निर्वृत्तम्) निर्वृत्त । यह भी अर्थ-निर्देश ही है । 'तेन' यहां तृतीयान्त पद का बोधक है और 'निर्वृत्तम्' निर्वृत्त अर्थ का । पूर्व सूत्र 'तदस्मिन्नस्तीति–०' ४.२.६७ से यहां भी 'देशे तन्नाम्नि' की अनुवृत्ति होती है और अधिकार-सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का

---

* 'तत् प्रत्ययान्तं नाम यस्येति बहुव्रीहिः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

नाम हो तो 'निर्वृत्त' (बसाया हुआ) अर्थ में तृतीयान्त समर्थ से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी' (कुशाम्ब नामक राजा के द्वारा बसाई गई नगरी)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'कुशाम्बेन' से 'अण्' प्रत्यय हो 'कुशाम्बेन अ' रूप बनता है। तत्र पूर्ववत् सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप हो 'कौशाम्ब' रूप बनेगा। यहां स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय हो 'कौशाम्बी' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'कौशाम्बी' रूप सिद्ध होता है।

१०५५. तस्य[६] निवासः[१] ४ । २ । ६९

शिबीनां निवासो देशः—शैबः।

१०५५. तस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तस्य) उसका (निवासः) निवास। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यहां भी 'तस्य' षष्ठी विभक्ति मात्र का बोधक है और 'निवासः' निवास अर्थ का। पूर्ववत् 'तदस्मिन्नस्तीति–०' ४.२.६७ से 'देशे तन्नाम्नि' और अधिकार-सूत्र 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो 'निवास' (निवास-स्थान) अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'शिबीनां निवासो देशः' (शिबि नामक क्षत्रियों का निवास-देश)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'शिबीनाम्' से 'अण्' प्रत्यय हो 'शिबीनाम् अ' रूप बनता है। यहां पूर्ववत् सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'शैबः' रूप सिद्ध होता है।

१०५६. [२]अदूरभवश्च[१] । ४ । २ । ७०

विदिशाया अदूरभवं नगरम्—वैदिशम्।

१०५६. अदूरेति—शब्दार्थ है—(च) और (अदूरभवः) अदूरभव। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तदस्मिन्नस्तीति–०' ४.२.६७ से 'देशे तन्नाम्नि' और 'तस्य निवासः' ४.२.६९ से 'तस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'तस्य' और सूत्रस्थ 'अदूरभवः'—दोनों ही अर्थ-निर्देशक हैं। 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां भी 'अण्' प्रत्यय प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो 'अदूरभव' (दूर न होने वाला, नजदीक) अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'विदिशाया अदूरभवं नगरम्' (विदिशा नामक नगरी से दूर न होने वाला नगर)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'विदिशायाः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'विदिशायाः अ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप और अजादि-वृद्धि आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'वैदिशम्' रूप सिद्ध होता है।

१०५७. जनपदे लुप् । ४ । २ । ८१

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् ।

१०५७. जनपदे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जनपदे) जनपद अर्थ में (लुप्) लोप होता है । किन्तु यह लोप किसका होता है—यह सूत्र से स्पष्ट नहीं होता । इसके स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र को इसके सन्दर्भ में समझना होगा ।

इस सूत्र के पूर्व '१०५३-तदस्मिन्नस्तीति-०' से 'सप्तमी' (इसमें है), '१०५४-तेन निर्वृत्तम्' से 'निर्वृत्त', '१०५५-तस्य निवासः' से 'निवास' और '१०५६-अदूरभवश्च' से 'अदूरभव'—इन चार अर्थों में 'अण्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है । संक्षेप में इन्हें 'चातुरर्थिक प्रत्यय' कहते हैं । प्रकृत सूत्र से इन्हीं प्रत्ययों के लोप का विधान किया गया है । '१०५३-तदस्मिन्-०' से यहाँ भी 'तन्नाम्नि' की अनुवृत्ति होती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रत्ययान्त शब्द (जो कि किसी देश-विशेष का नाम होता है) जनपद-वाची हो तो चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप होता है । उदाहरण के लिए 'पञ्चालानां निवासो जनपदः' (पञ्चाल लोगों का निवास-जनपद)—यहाँ 'निवास' अर्थ में '१०५५-तस्य निवासः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'पञ्चालानाम् अ' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'पञ्चाल अ' रूप बनने पर जनपद वाच्य होने के कारण प्रकृत सूत्र से चातुरर्थिक प्रत्यय 'अण्' (अ) का लोप हो कर रूप बनता है—'पञ्चाल' । यहां प्रत्ययार्थ-विशेष्य 'जनपदः' के अनुसार एकवचन प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

१०५८. लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने । १ । २ । ५१

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः—पञ्चालाः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः । कुरवः ।

१०५८. लुपीति—शब्दार्थ है—(लुपि) लोप होने पर (व्यक्तिवचने) व्यक्ति और वचन के विषय में (युक्तवद्) युक्त के समान विधान होता है । यहाँ 'लोप' का अभिप्राय प्रत्यय के लोप से है ।* 'व्यक्ति' शब्द लिङ्गवाचक है और 'युक्त' का अर्थ है—'प्रकृति' ।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रत्यय का लोप होने पर लिङ्ग और वचन के विषय में प्रकृति के समान ही कार्य होता है । दूसरे शब्दों में, प्रत्यय का लोप होने पर प्रकृति के समान ही लिङ्ग और वचन होते हैं । तात्पर्य यह कि प्रत्यय-लोप होने के पूर्व प्रत्यय की प्रकृति का जो लिङ्ग और वचन होता है, वही प्रत्यय-लोप होने पर भी रहता है । उदाहरण के लिए 'पञ्चाल' शब्द 'अण्' प्रत्यय का लोप होने पर बना है, अतः इसका लिङ्ग और वचन प्रकृति के अनुसार

---

* 'लुपीति लुप्संज्ञया लुप्तस्य प्रत्ययस्यार्थ उच्यते'—काशिका ।

† 'युक्तवदिति निष्ठाप्रत्ययेन क्तवतुना प्रकृत्यर्थ उच्यते'—काशिका ।

ही होगा, प्रत्ययार्थ-विशेष्य के अनुसार नहीं। प्रकृति में 'पञ्चाल' शब्द बहुवचन और पुँल्लिङ्ग है, अतः जनपद अर्थ में प्रत्यय-लोप होने पर प्रयुक्त होने वाले 'पञ्चाल' शब्द का रूप भी पुँल्लिङ्ग-बहुवचन में ही बनेगा। इस प्रकार विभक्ति-कार्य हो 'पञ्चालाः' रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'अङ्गाः' (अङ्ग लोगों का निवास-जनपद), 'वङ्गाः' (वङ्ग लोगों का निवास-जनपद) और 'कलिङ्गाः' (कलिङ्ग लोगों का निवास-जनपद) आदि रूप सिद्ध होते हैं।

१०५९. वरणादिभ्यश्च । ४ । २ । ८२

अ-जनपदार्थः आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरम्-वरणाः।

१०५९. वरणादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (वरणादिभ्यः) वरणा आदि के पश्चात्...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१०५७—जनपदे लुप्' से 'लुप्' की अनुवृत्ति करनी होगी। पूर्व सूत्र (१०५७) की भांति यह 'लुप्' भी चातुरर्थिक प्रत्यय का ही होता है। 'वरणादि' गण है और इसमें 'वरणा', 'शृङ्गी' और 'शुण्डी' आदि शब्दों का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'वरणा' आदि के पश्चाद् चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् (लोप) होता है। उदाहरण के लिए 'वरणानामदूरभवं नगरम्' (वरणा से दूर न होने वाला नगर)—इस अर्थ में '१०५६—अदूरभवश्च' से 'अण्' (अ) प्रत्यय हो 'वरणानाम् अ' रूप बनता है। यहां सुप् लोप हो 'वरणा अ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'वरणा' के पश्चात् 'अण्' (अ) प्रत्यय का लोप हो जाता है और इस प्रकार रूप बनता है—'वरणा'। तब '१०५८—लुपि युक्तवद्—०' की सहायता से प्रथमा के बहुवचन में 'वरणाः' रूप सिद्ध होता है।

१०६०. कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुप् । ४ । २ । ८७

१०६०. कुमुदेति—शब्दार्थ है—(कुमुद-नड-वेतसेभ्यः) कुमुद, नड और वेतस से (ड्मतुप्) 'ड्मतुप्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र के सन्दर्भ को समझना होगा।

इस सूत्र के पूर्व '१०५३—तदस्मिन्नस्तीति—०' से 'अस्मिन्', '१०५४—तेन निर्वृत्तम्' से 'निर्वृत्त', '१०५५—तस्य निवासः' से 'निवास' और '१०५६—अदूरभवश्च' से 'अदूर-भव' इन चार अर्थों में 'अण्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है। इन्हीं अर्थों में ही प्रकृत सूत्र से 'ड्मतुप्' प्रत्यय का विधान किया गया है। '१०५३—तदस्मिन्नस्तीति—०' से यहां 'देशे तन्नाम्नि' की भी अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रत्ययान्त शब्द देशवाचक हो तो 'अस्मिन्' (सप्तम्यर्थ), 'निवास', 'निर्वृत्त' और 'अदूरभव'—इन चार अर्थों में कुमुद, नड और वेतस से

'ड्मतुप्' प्रत्यय होता है। 'ड्मतुप्' में डकार, उकार और पकार इत्संज्ञक हैं, केवल 'मत्' ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिए 'कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे' (कुमुद हैं इसमें, ऐसा देश)—यहां 'अस्मिन्' (सप्तम्यर्थ) में प्रकृत सूत्र से 'कुमुदाः' से 'ड्मतुप्' (मत्) प्रत्यय हो 'कुमुदाः मत्' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप हो 'कुमुद मत्' रूप बनने पर 'ड्मतुप्' (मत्) के डित् होने के कारण टि—अकार का लोप हो 'कुमुद् मत्' रूप बनेगा। इस परिस्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०६१. झयः । ८ । २ । १०

झयन्तान्मतोर्मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।

१०६१. झय इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(झयः) झय् के पश्चात्...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'मादुपधायाश्च मतोर्वः–०' ८.२.९ से 'मतोर्वः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'झय्' प्रत्याहार है। इसमें सभी वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा – झय् के पश्चात् 'मतु' के मकार को वकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'कुमुद् मत्' में झय्-दकार के पश्चात् 'मतु' (मत्) के मकार को वकार हो 'कुमुद् वत्' = 'कुमुद्वत्' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'कुमुद्वान्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'नड' से 'नड्वान्' (जिसमें नड—नरकट अधिक होते हों, ऐसा देश) रूप बनता है। 'वेतसाः सन्ति अस्मिन् देशे' (जिसमें वेत अधिक हों, ऐसा देश)—इस अर्थ में भी पूर्ववत् 'वेतस' शब्द से 'ड्मतुप्' प्रत्यय और टि-लोप हो 'वेतस् मत्' रूप बनेगा। यहां झयन्त अङ्ग न होने से 'मत्' के मकार को वकार नहीं होता। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०६२. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः । ८ । २ । ९

मवर्णावर्णान्तान्मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः । वेतस्वान् ।

१०६२. माद् इति—शब्दार्थ है—(अयवादिभ्यः) यवादि को छोड़कर (मात्*) मकार और अकार के पश्चात् (च) तथा (उपधायाः) उपधा के पश्चात् (मतोः) 'मतु' के स्थान पर (वः) वकार होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यहां सूत्रस्थ 'मात्' एक बार स्वतंत्र रूप से और दूसरी बार 'उपधायाः' के विशेषण-रूप में प्रयुक्त होता है। सूत्रस्थ 'च' का यही अभिप्राय है। स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त 'मात्' मतुप्प्रत्ययाक्षिप्त प्रातिपदिक का विशेषण बनता है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'यवादि' आकृति-गण है। इसमें 'यव', 'दल्मि' और 'ऊर्मि' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ

* इसका विग्रह है—'म् च अश्चेति तयोः समाहारः–मः, तस्मात्'।

होगा—यवादिगण में पठित शब्दों को छोड़कर अन्य मकारान्त और अवर्णान्त या मकारोपध (जिसकी उपधा मकार हो) और अवर्णोपध (जिसकी उपधा अवर्ण हो) शब्दों के पश्चात् 'मतु' (मतुप्) के स्थान पर वकार आदेश होता है। यह वकार 'मतु' के मकार के ही स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'वेतस् मत्' में अङ्ग 'वेतस्' अवर्णोपध है, अतः प्रकृत सूत्र से उसके पश्चात् 'मत्' (मतु) के मकार के स्थान पर वकार हो 'वेतस् वत्' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'वेतस्वान्' रूप सिद्ध होता है।

१०६३. नड-शादाड् ड्वलच् । ४ । २ । ८८

नड्वलः । शाद्वलः ।

१०६३. नडेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नड-शादाद्) नड और शाद से (ड्वलच्) ड्वलच् प्रत्यय होता है। प्रसंगानुसार यह प्रत्यय भी चातुरर्थिक ही है। अतः १०६०वें सूत्र के समान इस सूत्र का भी भावार्थ होगा—सप्तम्यर्थ आदि चार अर्थों में (यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो) नड और शाद (घास) से 'ड्वलच्' (वल) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'नडाः सन्ति अस्मिन् देशे' (नड हैं इसमें, ऐसा देश)—इस सप्तम्यर्थ में प्रकृत सूत्र से 'नडाः' से 'ड्वलच्' (वल) प्रत्यय हो 'नडाः वल' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'नड वल' रूप बनने पर टि-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'नड्वलः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'शाद' से भी 'ड्वलच्' प्रत्यय हो 'शाद्वलः' (जिसमें हरी घास अधिक हो, ऐसा देश-प्रदेश) रूप बनता है।

१०६४. शिखाया वलच् । ४ । २ । ८९

शिखावलः ।

इति चातुरर्थिकाः ।

१०६४. शिखाया इति—शब्दार्थ है—(शिखायाः) शिखा से (वलच्) वलच् प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय भी चातुरर्थिक है, अतः पूर्वसूत्र (१०६३) की भांति इस सूत्र का भी भावार्थ होगा—यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो सप्तम्यर्थ आदि चार अर्थों में 'शिखा' शब्द से 'वलच्' (वल) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'शिखाः सन्ति अस्मिन् देशे' (शिखा हैं इसमें, ऐसा देश)—इस अर्थ में 'शिखाः' से प्रकृत सूत्र से 'वलच्' प्रत्यय हो 'शिखाः वल' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप हो 'शिखावल' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'शिखावलः' रूप सिद्ध होता है।

चातुरर्थिक-प्रकरण समाप्त ।

शैषिकाः

१०६५. शेषे[७] । ४ । २ । ९२

अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं-रूपम् । श्रावणः-शब्दः । औपनिषदः-पुरुषः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः-सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं-शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं-रक्षः । 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।

१०६५. शेष इति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(शेषे) शेष अर्थ में । यहां 'शेष' का अभिप्राय उन अर्थों से है जिनका विधान पूर्ववर्ती सूत्रों से नहीं हुआ है ।* ध्यान रहे कि इसके पूर्ववर्ती सूत्रों से अपत्यार्थ से लेकर चतुरर्थ (सप्तम्यर्थ, निवास आदि चार अर्थ) तक का विधान हुआ है, अतः 'शेष' से इनसे भिन्न अर्थों का ही ग्रहण होगा । इस सूत्र का अधिकार 'तस्य विकारः' ४.३.१३४ के पूर्व तक जाता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यहां से लेकर 'तस्य विकारः' ४.३.१३४ के पूर्व तक जो प्रत्यय होते हैं वे 'शेष' अर्थ (अपत्यार्थ, रक्ताद्यर्थ और चतुरर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ) में ही होते हैं । सामान्यरूप से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'शेष' अर्थ में भी 'अण्' प्रत्यय ही होता है । उदाहरण के लिए 'चक्षुषा गृह्यते' (चक्षु से जो ग्रहण किया जाता है, वह)—यहां शैषिक 'ग्रहण' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हो 'चक्षुषा अण्' रूप बनता है । यहां सुप्-लोप हो 'चक्षुस् अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य हो 'चाक्षुषम्' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'श्रवण' शब्द से 'ग्रहण' अर्थ में 'श्रावणः' (कान से जिसका ग्रहण हो शब्द), 'उपनिषद्' शब्द से प्रतिपादित अर्थ में 'औपनिषदः', 'दृषद्' शब्द से, 'पिष्ट' (पीसा गया) अर्थ में 'दार्षदाः', 'चतुर्' शब्द से 'उह्यते' (ले जाया जाने वाला) अर्थ में 'चातुरम्' (चार से ले जाया जाने वाला) और 'दृश्यते' (दिखाई पड़ता है) अर्थ में 'चतुर्दशी' से 'चातुर्दशम्' (चतुर्दशी में दिखाई देने वाला) रूप बनते हैं ।

१०६६. राष्ट्राऽवार-पाराद्[५] घ-खौ[१] । ४ । २ । ९३

आभ्यां क्रमाद् घ-खौ स्तः शेषे । राष्ट्रे जातादिः—राष्ट्रियः । अवारपारीणः । (वा०) अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् । अवारीणः ।

---

* 'उपयुक्तादन्यः'—काशिका ।

पारीणः । पारावारीणः । इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ।

१०६६. राष्ट्रेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(राष्ट्राऽवार-पाराद्) राष्ट्र और अवारपार से (घ-खौ) घ और ख प्रत्यय होते हैं। किन्तु ये प्रत्यय किस अर्थ में होते हैं—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'शेषे' ४.२.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १.३.१० परिभाषा से ये प्रत्यय क्रमानुसार ही होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'शेष' अर्थों में 'राष्ट्र' शब्द से 'घ' और 'अवारपार' (आर-पार) से 'ख' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'राष्ट्रे जातः भवो वा' (राष्ट्र में पैदा हुआ या होने वाला)—इस शैषिक अर्थ में प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त 'राष्ट्र' शब्द से 'घ' प्रत्यय हो 'राष्ट्रे घ' रूप बनता है। तत्र सुप्-लोप हो 'राष्ट्र घ' रूप बनने पर '१०१०—आयनेयी—०' से प्रत्यय के घकार को 'इय्' होकर 'राष्ट्र इय् अ' = 'राष्ट्र इय' रूप बनेगा। यहां टि-लोप हो 'राष्ट्रिय' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'राष्ट्रियः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अवारपार' शब्द से भी शैषिक अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'ख' प्रत्यय हो 'अवारपार ख' रूप बनता है। यहां भी '१०१०—आयनेयी—०' से प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्' हो 'अवारपार ईन् अ'='अवारपार ईन' रूप बनने पर टि-लोप, णत्व और विभक्ति-कार्य हो 'अवारपारीणः' (जो आर-पार गया हो वह, पारङ्गत) रूप सिद्ध होगा।

(वा०) अवारपारादिति—भावार्थ है—'अवारपार' शब्द से विगृहीत (अर्थात् 'अवार' और 'पार' से पृथक् पृथक्) और विपरीत (अर्थात् 'पारावार') से भी 'ख' प्रत्यय होता है—ऐसा कहना चाहिये। दूसरों शब्दों में, 'अवार', 'पार' और 'पारावार' से भी शेष अर्थों में 'ख' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अवार' से पूर्ववत् 'अवारीणः' (जो अवार गया हो, पारङ्गत), 'पार' से पारीणः' (पारङ्गत) और 'पारावार' से 'पारावारीणः' (पारङ्गत) रूप बनते हैं।

१०६७. ग्रामाद् य-खञौ । ४ । २ । ९४

ग्राम्यः । ग्रामीणः ।

१०६७. ग्रामादिति—शब्दार्थ है—(ग्रामाद्) 'ग्राम' से (य-खञौ) य और खञ् प्रत्यय होते हैं। ये प्रत्यय भी 'शेषे' '४.२.९२ से 'शेष' अर्थ में ही होते हैं। दूसरे शब्दों में, शेष-अर्थ ('जातः' और 'भवः' आदि) में 'ग्राम' शब्द के दो रूप बनते हैं—१. 'य' प्रत्यय होने पर और २. खञ् (ख) प्रत्यय होने पर। उदाहरण के लिए 'ग्रामे जातः भवो वा' (ग्राम में पैदा हुआ या होने वाला)—इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त 'ग्राम' से 'य' प्रत्यय हो 'ग्रामे य' रूप बनता है। तत्र

सुप्-लोप हो 'ग्राम य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और अभ्यास-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'ग्राम्यः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार इसी अर्थ में सप्तम्यन्त 'ग्राम' शब्द से 'खञ्' (ख) प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'ग्राम ख' रूप बनेगा। यहां '१०१०—आयनेयी-०' से प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्' होकर 'ग्राम ईन् अ' = 'ग्राम ईन' रूप बनने पर णत्व और विभक्ति-कार्य हो 'ग्रामीणः' रूप सिद्ध होता है।

१०६८. नद्यादिभ्यो[1] ढक्[1] । ४ । २ । ९७

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

१०६८. नद्यादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नद्यादिभ्यः) 'नदी' आदि से (ढक्) 'ढक्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'शेषे' ४.२.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'नदी' आदि गण है, और इसमें 'नदी', 'मही' और 'वाराणसी' आदि शब्दों का समावेश होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शेष अर्थ ('जातः' और 'भवः' आदि) में 'नदी' आदि शब्दों से 'ढक्' (ढ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'नद्यां जातम्, भवं वा' (नदी में पैदा हुआ या होने वाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'नदी' शब्द से 'ढक्' प्रत्यय हो 'नद्यां ढ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'नदी ढ' रूप बनने पर '१०१०—आयनेयी-०' से प्रत्यय के ढकार के स्थान पर 'एय्' आदेश हो 'नदी एय् अ' = 'नदी एय' रूप बनेगा। यहां अन्त्य-लोप और अजादि-वृद्धि आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'नादेयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मही' से 'माहेयम्' (पृथ्वी पर पैदा हुआ या पैदा होने वाला) और 'वाराणसी' से 'वाराणसेयम्' (बनारस में पैदा हुआ या होने वाला) आदि अन्य रूप बनते हैं।

१०६९. दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक्[1] । ४ । २ । ९८

दाक्षिणात्यः । पाश्चात्त्यः । पौरस्त्यः ।

१०६९. दक्षिणेति—शब्दार्थ है—(दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः) दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् से (त्यक्) त्यक् प्रत्यय होता है। 'त्यक्' का ककार इत्संज्ञक है, केवल 'त्य' ही शेष रह जाता है। 'शेषे' ४.२.९२ से यह प्रत्यय भी 'शेष' अर्थ ('जातः' आदि) में ही होता है। उदाहरण के लिए 'दक्षिणस्यां जातः भवो वा' (दक्षिण में पैदा हुआ या होने वाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'दक्षिणा' से 'त्यक्' प्रत्यय हो 'दक्षिणस्यां त्य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'दक्षिणा त्य' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य हो 'दाक्षिणात्यः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पश्चात्' से

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

'पाश्चात्यः' (पीछे–पश्चिम में पैदा हुआ या होने वाला) और 'पुरस्' से 'पौरस्त्यः' (पहिले या पूर्व में होने वाला) रूप बनते हैं।

१०७०. द्यु-प्रागपागुदक्-प्रतीचो यत् । ४ । २ । १०१

दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

१०७०. द्युप्रागिति—सूत्र का भावार्थ है—(*द्यु-प्राग्-अपाग्-उदक्-प्रतीचः) दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच् और प्रतीच् से (यत्) 'यत्' प्रत्यय होता है। 'यत्' का तकार इत्संज्ञक है, केवल 'य' ही शेष रह जाता है। 'शेषे' ४.२.९२ का अधिकार होने से यह प्रत्यय भी 'शेष' अर्थ ('जातः' आदि) में ही होता है। उदाहरण के लिए 'दिवि भवं जातम्' (स्वर्ग में होनेवाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'दिव्' से 'यत्' प्रत्यय हो 'दिवि य' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप हो 'दिव् य'='दिव्य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'दिव्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'प्राच्' से 'प्राच्यम्' (पूर्व में पैदा हुआ), 'अपाच्' से 'अपाच्यम्' (दक्षिण दिशा में पैदा हुआ), 'उदच्' से 'उदीच्यम्†' (उत्तर दिशा में पैदा हुआ) और 'प्रतीच्' से 'प्रतीच्यम्' (पश्चिम दिशा में पैदा हुआ) रूप बनते हैं।

१०७१. अव्ययात् त्यप् । ४ । २ । १०४

(वा०) अमेहक्वतसित्रेभ्यः‡ । अमात्यः । इहत्यः । क्वत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः ।

(वा०) त्यब्नेर्ध्रुवे इति वक्तव्यम् । नित्यः ।

१०७१. अव्ययादिति—शब्दार्थ है—(अव्ययात्) अव्यय से (त्यप्) 'त्यप्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'शेषे' ४.२.९२ की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'शेष' अर्थ ('जातः' आदि) में अव्यय से 'त्यप्' (त्य) प्रत्यय होता है। 'अमेहक्वतसित्रेभ्यः' वार्तिक की सहायता से यह प्रत्यय अमा (सह–साथ), इह (यहां), क्व (कहां), तसन्त (ततः, अतः आदि) और त्रान्त (अत्र, तत्र आदि)—इन अव्ययों से ही होता है। उदाहरण के लिए 'अमा सह भवः' (साथ होनेवाला)—इस अर्थ में 'अमा' से 'त्यप्' प्रत्यय हो 'अमा त्य' = 'अमात्य' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'अमात्यः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार

* यह 'दिव्' का रूप है। यहां 'दिव्' के वकार के स्थान पर उकार '२६५–दिव उत्' से हुआ है।

† ध्यान रहे कि यहां '३३७–उद ईत्' से ईकार हुआ है।

‡ इसका अर्थ सूत्र की व्याख्या में ही दे दिया गया है।

'इह' से 'इहत्यः' (यहां होनेवाला), 'क्व' से 'क्वत्यः' (कहां होनेवाला), तसन्त 'ततः' से 'ततस्त्यः' (वहां होनेवाला) और त्रान्त 'तत्र' से 'तत्रत्य' (वहां होनेवाला) रूप बनते हैं।

(वा०) त्यब्नेरिति—भावार्थ है—'ध्रुव' (स्थिर) अर्थ में 'नि' उपसर्ग से भी 'त्यप्' (त्य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए ध्रुव अर्थ में 'नि' से 'त्यप्' प्रत्यय हो 'नित्य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर 'नित्यः' रूप सिद्ध होता है।

१०७२. वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् । १ । १ । ७३

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद् वृद्धसंज्ञं स्यात्।

१०७२. वृद्धिरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(यस्य) जिसके (अचाम्) अचों का (आदिः) आदि (वृद्धिः) वृद्धि हो (तद्) वह (वृद्धम्) 'वृद्ध' होता है। दूसरे शब्दों में, जिस समुदाय* के अचों (स्वर-वर्णों) का आदि अच् (स्वर-वर्ण) वृद्धि-स्वरूप होता है, उस समुदाय को 'वृद्ध' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'शाला' शब्द में दो अच् हैं, और उसका आदि-अच्—शकारोत्तरवर्ती आकार—वृद्धिस्वरूप भी है। अतः प्रकृत सूत्र से 'शाला' शब्द 'वृद्ध'-संज्ञक होगा।

१०७३. त्यदादीनि च । १ । १ । ७४

वृद्धसंज्ञानि स्युः।

१०७३. त्यदादीनीति—यह भी संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(च) और (त्यदादीनि) 'त्यद्' आदि…। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र 'वृद्धिर्यस्याचामादिः–०' १.१.७३ से 'वृद्धम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—'त्यद्' आदि† (त्यद्, तद्, एतद् आदि) भी वृद्ध-संज्ञक होते हैं।

१०७४. वृद्धाच्छः । ४ । २ । ११४

शालीयः। मालीयः। तदीयः।

(वा०) वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या। दैवदत्तीयः, दैवदत्तः।

१०७४. वृद्धादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वृद्धात्) वृद्धसंज्ञक से (छः) छ प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय भी 'शेषे' ४.२.९२ से 'शेष' अर्थ में ही होता है। उदाहरण के लिए 'शालायां भवो जातो वा' (शाला में पैदा हुआ)—इस शैषिक अर्थ में प्रकृत सूत्र से वृद्ध-संज्ञक 'शाला' (सप्तम्यन्त) से 'छ' प्रत्यय हो

---

* 'यस्येति समुदाय उच्यते'—काशिका।

† 'काशिका' के अनुसार 'त्यदादि' में त्यद्, तद्, एतद्, इदम्, अदस्, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् और यद् का समावेश होता है।

'शालायाम् छ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'शाला छ' रूप बनने पर '१०१०-आयनेयी-०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' आदेश होकर 'शाला ईय् अ' = 'शाला ईय' रूप बनेगा। तब अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'शालीयः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार वृद्ध-संज्ञक 'माला' से 'मालीयः' (माला में होनेवाला) और 'त्यद्' से 'त्यदीयः' रूप बनते हैं।

(वा०) वा नामधेयस्येति—भावार्थ है—नामधेय (व्यक्तिवाचक पद) की विकल्प से 'वृद्ध' संज्ञा होती है। 'वृद्ध' संज्ञा होने पर शेष अर्थ ('जातः' आदि) में पूर्ववत् 'छ' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'देवदत्तस्यायम्' (देवदत्त का)—इस शैषिक अर्थ में व्यक्तिवाचक षष्ठ्यन्त 'देवदत्त' से वृद्ध संज्ञा होने पर प्रकृत सूत्र से 'छ' प्रत्यय हो 'देवदत्तस्य छ' रूप बनता है। तब पूर्ववत् सुप्-लोप, ईयादेश आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'देवदत्तीयः' रूप बनता है। वृद्ध-संज्ञा के अभाव-पक्ष में सामान्य 'अण्' प्रत्यय हो 'दैवदत्तः' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के 'शेष' अर्थ में दो-दो रूप बनते हैं—१. वृद्ध-संज्ञा होने पर ('छ' प्रत्यय हो) और २. वृद्ध-संज्ञा न होने पर (सामान्य 'अण्' प्रत्यय होकर)।

१०७५. गहादिभ्यश्च। ४। २। १३८

गहीयः।

१०७५. गहादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(च) और (गहादिभ्यः) 'गह' आदि से···। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गर्तोत्तरपदाच्छः' ४.२.१३७ से 'छः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'शेषे' ४.२.९२ का यहाँ भी अधिकार प्राप्त होता है। 'गह' आदि आकृति गण है और इसमें 'गह', 'अन्तस्थ' 'वङ्ग' और 'मगध' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'शेष' अर्थ ('जातः' आदि) में 'गह' (देश-विशेष) आदि शब्दों से 'छ' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'गहे जातः' ('गह' में उत्पन्न हुआ)—इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त 'गह' से 'छ' प्रत्यय हो 'गहे छः' रूप बनता है। यहाँ पूर्ववत् सुप्-लोप, ईयादेश और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'गहीयः' रूप सिद्ध होता है।

१०७६. *युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च। ४। ३। १

चाच्छः, पक्षेऽण्। युवयोर्युष्माकं वाऽयम्—युष्मदीयः। अस्मदीयः।

१०७६. युष्मदस्मदोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् से (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (खञ्) खञ् प्रत्यय होता है (च) और···। यहाँ

---

* यहाँ षष्ठी विभक्ति पञ्चम्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'गर्त्तोत्तर-पदाच्छः' ४.२.१३७ से 'छः' प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'च' का यही अभिप्राय है। 'शेषे' ४.२.९२ का अधिकार यहाँ भी है। किन्तु ध्यान रहे कि ये दोनों प्रत्यय ('खञ्' और 'छ') विकल्प से ही होते हैं, अतः प्रकृत में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से सामान्य 'अण्' प्रत्यय भी होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'शेष' अर्थ ('जातः' आदि) में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' से खञ् (ख), छ और अण् (अ)—ये तीन प्रत्यय होते हैं। इन तीन विभिन्न प्रत्ययों के होने के कारण शेष अर्थ में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के तीन-तीन रूप भी बनते हैं। उदाहरण के लिए 'युवयोर्युष्माकं वा अयम्' (तुम दो का अथवा तुम लोगों का)—इस शैषिक अर्थ में प्रकृत सूत्र से षष्ठयन्त 'युष्मद्' से 'छ' प्रत्यय हो 'युवयोः छ' अथवा 'युष्माकम् छ' रूप बनेगा। यहाँ सुप्-लोप हो 'युष्मद् छ' रूप बनने पर पूर्ववत् ईयादेश और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'युष्मदीयः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'छ' प्रत्यय हो 'अस्मद्' से 'अस्मदीयः' (हम दो का अथवा हम लोगों का) रूप बनता है।

'युष्मद्' से इसी शैषिक अर्थ में 'खञ्' (ख) प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'युष्मद् ख' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०७७. तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ । ४ । ३ । २

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

१०७७. तस्मिन्निति—शब्दार्थ है—(तस्मिन्) उसके परे होने पर (च) और (अणि) अण् परे होने पर (युष्माकास्माकौ) युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं। किन्तु ये आदेश किसके स्थान पर होते हैं यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '१०७६–युष्मदस्मदोः–०' से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'तस्मिन्' का अभिप्राय इसी पूर्ववर्ती (१०७६) सूत्र से विहित 'खञ्' प्रत्यय से है।* '२३–यथासंख्यमनुदेशः–०' परिभाषा से ये आदेश यथाक्रम होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'खञ्' और 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'युष्मद्' के स्थान पर 'युष्माक' और 'अस्मद्' के स्थान पर 'अस्माक' आदेश होते हैं। अनेकाल् होने के कारण '४५–अनेकाल् शित्–०' परिभाषा से ये आदेश अपने सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। उदाहरण के लिए 'युष्मद् ख' में 'खञ्' (ख) प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'युष्मद्' के स्थान पर 'युष्माक' हो 'युष्माक ख' रूप बनता है। तब '१०१०–आयनेयी–०' से प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्', अजादि-वृद्धि, अन्त्य-

---

* 'तस्मिन्निति साक्षाद्विहितः खञ् निर्दिश्यते, न चकारानुकृष्टश्छः'—काशिका।

लोप और णत्व आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'यौष्माकीणः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अस्मद्' से भी 'खञ्' प्रत्यय हो 'आस्माकीनः' रूप बनता है।* 'अण्' (अ) प्रत्यय होकर भी इसी भाँति 'युष्मद्' से 'यौष्माकः' और 'अस्मद्' से 'आस्माकः' रूप बनते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ प्रत्यय में खकार न होने के कारण 'ईन्' आदेश नहीं होता।

१०७८. तवकममकावेकवचने । ४ । ३ । ३

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च। तावकीनः, तावकः। मामकीनः, मामकः। छे तु—

१०७८. तवकेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(एकवचने) एकवचन में (तवकममकौ) 'तवक' और 'ममक' आदेश होते हैं। किन्तु ये आदेश किसके स्थान पर होते हैं और किस अवस्था में होते हैं—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१०७६–युष्मदस्मदोः–०' से 'युष्मदस्मदोः' और '१०७७–तस्मिन्नणि–०' से 'तस्मिन्' तथा 'अणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि 'खञ्' और 'अण्' प्रत्यय परे हों तो एकवचन में 'युष्मद्' के स्थान पर 'तवक' और 'अस्मद्' के स्थान पर 'ममक' आदेश होते हैं। '४५–अनेकाल् शित् सर्वस्य' परिभाषा से ये प्रत्यय अपने सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। उदाहरण के लिए 'तव अयम्' (तेरा)—इस अर्थ में '१०७६–युष्मदस्मदोः–०' से षष्ठ्यन्त 'युष्मद्' से 'खञ्' (ख) प्रत्यय हो 'तव ख' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'युष्मद् ख' रूप बनने पर एकार्थवाचक होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'युष्मद्' के स्थान पर 'तवक' आदेश हो 'तवक ख' रूप बनेगा। यहां प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्', अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'तावकीनः' रूप सिद्ध होता है। 'अण्' प्रत्यय होने पर भी इसी प्रकार 'युष्मद्' के स्थान पर 'तवक' हो 'तावकः' रूप बनता है। इसी भांति 'खञ्' और 'अण्' प्रत्यय परे होने पर 'अस्मद्' के स्थान पर 'ममक' होकर क्रमशः 'मामकीनः' (मेरा) और 'मामकः' (मेरा) रूप बनते हैं।

इसी अर्थ में 'युष्मद्' से 'छ' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'युष्मद् छ' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१०७९. प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ७ । २ । ९८

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोस्त्वमौ स्तः, प्रत्यये उत्तरपदे च परतः। त्वदीयः। मदीयः। त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः।

---

* अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ णत्व नहीं होता।

१०७९. प्रत्ययोत्तरपदयोरिति—शब्दार्थ है—(च) और (प्रत्ययोत्तरपदयोः) प्रत्यय और उत्तरपद परे होने पर...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही पता चल जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'युष्मदस्मदोरनादेशे' ७.२.८६ से 'युष्मदस्मदोः' तथा सम्पूर्ण सूत्र 'त्वमावेकवचने' ७.२.९७ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'मपर्यन्तस्य' ७.२.९१ का अधिकार तो है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रत्यय और उत्तरपद परे हों तो एकवचन में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' के मपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्यय और उत्तरपद परे रहने पर एकवचन में (एकार्थवाचक) 'युस्मद्' के 'युष्म्' के स्थान पर 'त्व' और 'अस्मद्' के 'अस्म्' के स्थान पर 'म' आदेश होते हैं। उदाहरण के लिए 'युष्मद् छ' में प्रत्यय-'छ' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'युष्मद्' के 'युष्म्' के स्थान पर 'त्व' हो 'त्व अद् छ' रूप बनता है। तब पर-रूप एकादेश हो 'त्वद् छ' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयी–०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' हो 'त्वद् ईय् अ' = 'त्वदीय' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'त्वदीयः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अस्मद्' से भी 'छ' प्रत्यय हो 'अस्मद् छ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से एकवचन में 'अस्म्' के स्थान पर 'म' हो 'म अद् छ' रूप बनेगा। तब पूर्ववत् पर-रूप एकादेश आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'मदीयः' रूप सिद्ध होता है।

उत्तरपद परे होने के उदाहरण षष्ठी तत्पुरुष समास 'त्वत्पुत्रः' (तेरा पुत्र) और 'मत्पुत्रः' (मेरा पुत्र) में मिलते हैं। यहां उत्तरपद 'पुत्र' के परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों के मपर्यन्त भाग को क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश होकर ये रूप बने हैं।

१०८०. मध्यान्मः । ४ । ३ । ८

मध्यमः ।

१०८०. मध्यादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(मध्यात्) 'मध्य' शब्द से (मः) 'म' प्रत्यय होता है। 'शेषे' ४.२.९२ से यह प्रत्यय भी 'शेष' अर्थ (जातः', 'भवः' आदि) में ही होता है। उदाहरण के लिए 'मध्ये भवः' (मध्य में होने वाला)—इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त 'मध्य' से 'म' प्रत्यय हो 'मध्ये म' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'मध्य म' = 'मध्यम' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'मध्यमः' रूप सिद्ध होता है।

१०८१. कालाट्ठञ् । ४ । ३ । ११

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् ।

(वा०) अव्ययानां भमात्रे टिलोपः । सायंप्रातिकः । पौनःपुनिकः ।

१०८१. कालादिति—शब्दार्थ है—(कालाद्) काल से (ठञ्) 'ठञ्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'शेषे' ४.२.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'काल' शब्द का अभिप्राय केवल 'काल' शब्द से न होकर समस्त काल-वाचक शब्दों से है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कालवाचक शब्दों से शेष अर्थ ('जातः', 'भवः' आदि) में 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'काले भवं जातं वा' (समय पर होने वाला)—इस शैषिक अर्थ में कालवाचक 'काल' (सप्तम्यन्त) शब्द से प्रकृत सूत्र से 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय हो 'काले ठ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'काल ठ' रूप बनने पर '१०२४–ठस्येकः' से प्रत्यय के ठ को 'इक' आदेश हो 'काल इक' रूप बनेगा। यहां अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन में 'कालिकम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार कालवाचक 'मास' से 'मासिकम्' (मास में होने वाला) और 'संवत्सर' से 'सांवत्सरिकम्' (साल में होने वाला) रूप बनते हैं।

इसी भांति 'सायं-प्रातर्भवः' (सांझ-सवेरे होने वाला)—इस अर्थ में कालवाचक 'सायं-प्रातर्' से 'ठञ्' आदि होकर 'सायं-प्रातर् इक' रूप बनता है। इस स्थिति में 'सायं प्रातर्' की भसंज्ञा होने पर अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०) अव्ययानामिति—भावार्थ है—भ-संज्ञा† मात्र में अव्ययों की 'टि'† का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सायं-प्रातर् इक' में भ-संज्ञा होने पर प्रकृत वार्तिक से 'सायं-प्रातर्' की 'टि'–'अर्' का लोप हो 'सायं-प्रात् इक' = 'सायं-प्रातिक' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'सायं-प्रातिकः' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'पुनः पुनर्' से भी 'पौनःपुनिकः' (बार-बार होने वाला) रूप सिद्ध होता है।

१०८२. प्रावृष[१] एण्यः[५] । ४ । ३ । १७

प्रावृषेण्यः।

१०८२. प्रावृष इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रावृषः) 'प्रावृष्' से (एण्यः) 'एण्य' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय 'शेषे' ४.२.९२ का अधिकार होने से 'शेष' अर्थ ('जातः', 'भवः' आदि) में ही होता है। उदाहरण के लिए 'प्रावृषि भवः' (वर्षा-ऋतु में होने वाला)—इस शैषिक अर्थ में प्रकृत सूत्र से सप्तम्यन्त 'प्रावृष्' शब्द से 'एण्य' प्रत्यय हो 'प्रावृषि एण्य' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप हो 'प्रावृष्

---

* 'सर्वेषामपि कालवाचिनां ग्रहणम्–०' सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

एण्य' = 'प्रावृषेण्य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'प्रावृषेण्यः' रूप सिद्ध होता है ।

१०८३. सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युटयुलौ तुट् च । ४ । ३ । २३

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्युट्युलौ स्तस्तयोस्तुट् च । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्णे-प्रगेऽनयोरेदन्तत्वं निपात्यते—प्राह्णेतनम्, प्रगेतनम् । दोषातनम् ।

१०८३. सायमिति—शब्दार्थ है—(सायं—अव्ययेभ्यः) सायं, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे और अव्यय से (ट्युट्युलौ) ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं (च) और (तुट्) 'तुट्' होता है । किन्तु ये प्रत्यय किस अर्थ में होते हैं—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'शेषे' ४.२.९२ की अनुवृत्ति करनी होगी । 'कालाट् ठञ्' ४.३.११ से 'कालात्' की भी अनुवृत्ति होती है । इसका अन्वय 'सायं—अव्ययेभ्यः' से होता है । 'तुट्' आगम है और '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्ययों का आद्यवयव बनता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कालवाचक 'सायम्', 'चिरम्', 'प्राह्णे' (पूर्वाह्ण), 'प्रगे' (प्रातःकाल) और अव्यय पदों से शेष अर्थ ('जातः', 'भवः' आदि) में 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं* और इन प्रत्ययों को 'तुट्' (त्) आगम होता है । 'ट्यु' और 'ट्युल्' में केवल 'यु' ही शेष रह जाता है, शेष इत्संज्ञक हैं । इस प्रकार दोनों प्रत्ययों के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता । उदाहरण के लिए 'साये भवः' (सायंकाल में होने वाला)—इस शैषिक अर्थ में घञन्त 'साय' शब्द से 'ट्यु' (यु) प्रत्यय और उसको 'तुट्' (त्) आगम हो 'साये त् यु' रूप बनता है । यहां सुप्-लोप हो 'साय त् यु' रूप बनने पर '७८५–युवोरनाकौ–०' से 'यु' को 'अन' आदेश हो 'साय त् अन'='साय तन' रूप बनेगा । तब मान्तता का निपातन हो 'सायम् तन'='सायन्तन' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'सायन्तनम्' रूप सिद्ध होता है । 'ट्युल्'

---

* ध्यान रहे कि यहां 'सायम्' और 'चिरम्' का अभिप्राय घञन्त 'साय' और 'चिर' से है, क्योंकि अव्यय होने से 'सायम्' और 'चिरम्' से पहिले ही प्रत्यय सिद्ध है । 'सायम्' और 'चिरम्' का प्रयोग यहां मकार का निपातन सूचित करने के लिए किया गया है । इसी प्रकार 'प्राह्णे' और 'प्रगे' भी 'प्राह्ण' और 'प्रग' के वाचक हैं । एकारान्तता केवल निपातन-सूचक है । देखिये 'काशिका'—"सायमिति मकारान्तं पदमव्ययं, ततोऽव्ययत्वादेव सिद्धः प्रत्ययः । यस्तु स्यतेरन्तकर्मणो घञि सायशब्दस्तस्येदं मकारान्तत्वं प्रत्ययसन्नियोगेन निपात्यते । चिरशब्दस्यापि मकारान्तत्वं निपात्यते । प्राह्णे प्रगे इत्येकारान्तत्वम् ।"

(यु) प्रत्यय होने पर भी यही रूप बनता है। इसी प्रकार 'चिर' से 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय हो 'चिरन्तनम्' (देर में होने वाला) रूप बनता है। 'प्राह्णः सोढोऽस्य' (पूर्वाह्ण जिसका सहा गया है)—इस अर्थ में इसी भांति 'प्राह्ण' शब्द से पूर्ववत् प्रत्यय और 'तुट्' आगम हो 'प्राह्ण तन' रूप बनता है। तब एकारान्तता का निपातन हो विभक्ति-कार्य होकर 'प्राह्णेतनम्' रूप सिद्ध होगा। 'प्रग' से भी इसी प्रकार 'प्रगेतनम्' (प्रातःकाल में होने वाला) रूप बनता है। अव्यय पद 'दोषा' से इसी भांति प्रत्यय और आगम हो 'दोषातनम्' (रात को होने वाला) रूप बनेगा। यहां निपातन नहीं होता।

१०८४. तत्र जातः[1] । ४ । ३ । २५

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः—स्रौघ्नः। उत्से जातः—औत्सः। राष्ट्रे जातः—राष्ट्रियः। अवारपारे जातः—अवारपारीणः। इत्यादि।

१०८४. तत्रेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तत्र) वहां (जातः) उत्पन्न हुआ…। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। 'तत्र' का अभिप्राय यहां सप्तमी विभक्ति से है और 'जातः' 'उत्पन्न हुआ' अर्थ का वाचक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उत्पन्न हुआ'—अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'स्रुघ्ने जातः' (स्रुघ्न देश में उत्पन्न हुआ)—इस अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से सप्तम्यन्त 'स्रुघ्न' शब्द से सामान्य 'अण्' प्रत्यय हो 'स्रुघ्ने अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'स्रुघ्न अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार 'उत्स' शब्द से '९९९—उत्सादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' (अ) प्रत्यय हो 'औत्सः' और 'राष्ट्र' तथा 'अवारपार' से '१०६६—राष्ट्राऽवार-पाराद्—०' से क्रमशः 'घ' तथा 'ख' प्रत्यय हो 'राष्ट्रियः' तथा 'अवारपारीणः' रूप बनते हैं।

१०८५. प्रावृषष्ठप्[1] । ४ । ३ । २६

एण्यापवादः। प्रावृषिकः।

१०८५. प्रावृष इति—शब्दार्थ है—(प्रावृषः) 'प्रावृष्' से (ठप्) 'ठप्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र 'तत्र जातः' ४.३.२५ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उत्पन्न हुआ' अर्थ में सप्तम्यन्त 'प्रावृष्' शब्द से 'ठप्' (ठ) प्रत्यय होता है। यह '१०८२—प्रावृष एण्यः' से प्राप्त 'एण्य' प्रत्यय का बाधक है। उदाहरण के

लिए 'प्रावृषि जातः' (बरसात में उत्पन्न हुआ)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'प्रावृष्' शब्द से ठप् प्रत्यय हो 'प्रावृषि ठ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'प्रावृष् ठ' रूप बनने पर '१०२४—ठस्येकः' से प्रत्यय के ठ के स्थान पर 'इक' हो 'प्रावृष् इक'= 'प्रावृषिक' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'प्रावृषिकः' रूप सिद्ध होगा।

१०८६. प्रायभवः[1] । ४ । ३ । ३६

तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण—बाहुल्येन—भवति—स्रौघ्नः ।

१०८६. प्रायभव इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रायभवः) प्रायः होने वाला। वास्तव में यह केवल अर्थ-निर्देश है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१०८४—तत्र जातः' से 'तत्र' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'प्रायः होने वाला' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति' (स्रुघ्न देश में अधिकता से होने वाला)—इस अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से सप्तम्यन्त 'स्रुघ्ने से सामान्य 'अण्' (अ) प्रत्यय हो 'स्रुघ्ने अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'स्रुघ्न अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होता है।

१०८७. संभूते[0] । ४ । ३ । ४१

स्रुघ्ने संभवति—स्रौघ्नः ।

१०८७. संभूते इति—शब्दार्थ है—(संभूते) 'संभूत' अर्थ में...। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१०८४—तत्र जातः' से 'तत्र' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'संभूत' का अर्थ है—संभव*। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'संभूत' (संभव) अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सामान्यतया यहां भी 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'स्रुघ्ने संभवति' (स्रुघ्न देश में जो संभव हो)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'स्रुघ्न' शब्द से सामान्य 'अण्' प्रत्यय हो 'स्रुघ्ने अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'स्रुघ्न अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि आदि होकर पूर्ववत् 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववर्ती (१०८६) सूत्र के समान ही रूप बनता है। अन्तर केवल अर्थ का है।

---

* 'अवक्लृप्तिः प्रमाणानतिरेकश्च संभवत्यर्थः इह गृह्यते नोत्पत्तिः सत्ता वा'—काशिका।

१०८८. कोशाड्[5] ढञ्[1] । ४ । ३ । ४२

कौशेयम्—वस्त्रम् ।

१०८८. कोशादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कोशाद्) 'कोश' से (ढञ्) ढञ् प्रत्यय होता है । किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र 'संभूते' ४.३.४१ की अनुवृत्ति करनी होगी । साथ ही साथ '१०८४-तत्र जातः' से 'तत्र' की भी अनुवृत्ति होती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—संभूत अर्थ में सप्तम्यन्त 'कोश' शब्द से 'ढञ्' (ढ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'कोशे संभवति' (कोश में होने वाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'कोश' शब्द से 'ढञ्' प्रत्यय हो 'कोशे ढ' रूप बनता है । यहां सुप्-लोप हो 'कोश ढ' रूप बनने पर '१०१०-आयनेयी-०' से प्रत्यय के ढकार को 'एय्' होकर 'कोश एय् अ' = 'कोश एय' रूप बनेगा । तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'कौशेयम्' रूप सिद्ध होता है ।

१०८९. तत्र भवः[1] । ४ । ३ । ५३

स्रुघ्ने भवः-स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः ।

१०८९. तत्र भव इति—शब्दार्थ है—(तत्र) वहां (भवः) होने वाला । वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है । यहां 'तत्र' का अभिप्राय सप्तमी विभक्ति से है और 'भवः' भी 'होने वाला' अर्थ का वाचक है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'होने वाला' अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ से ही यथाविहित प्रत्यय होते हैं । उदाहरण के लिए 'स्रुघ्ने भवः' (स्रुघ्न देश में होने वाला)—इस अर्थ में 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से सप्तम्यन्त 'स्रुघ्न' शब्द से सामान्य 'अण्' (अ) प्रत्यय हो 'स्रुघ्ने अ' रूप बनता है । तब सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'भव' (होने वाला) अर्थ में सप्तम्यन्त 'उत्स' से '९९९-उत्सादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' (अ) हो 'औत्सः' और 'राष्ट्र' शब्द से '१०६६-राष्ट्राऽवारपाराद्-०' से 'घ' प्रत्यय हो 'राष्ट्रियः' रूप बनते हैं ।

विशेष—स्मरण रहे कि 'जातः' (१०८४), 'प्रायभवः' (१०७६), 'संभूत' (१०८७) और 'भवः' (१०८९) आदि सभी शैषिक अर्थ हैं । इन सभी अर्थों में रूप प्रायः समान ही होते हैं, केवल प्रसंगानुसार अर्थ में अन्तर पड़ जाता है । उदाहरण के लिए 'स्रौघ्नः' शब्द के कई अर्थ हैं—स्रुघ्न देश में पैदा हुआ, स्रुघ्न देश में अधिकता से होने वाला, स्रुघ्न देश में जिसकी संभावना हो, स्रुघ्न देश में होने वाला, आदि । प्रसंगवश इनमें से अभीष्ट अर्थ का ग्रहण कर लिया जाता है ।

१०९०. दिगादिभ्यो[5] यत्[1] । ४ । ३ । ५४

दिश्यम् । वर्ग्यम् ।

१०९०. दिगादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दिगादिभ्यः) 'दिश्' आदि से (यत्) यत् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र 'तत्र भवः' ४.३.५३ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'दिश्' आदि गण है और इसमें 'दिश्', 'वर्ग' और 'पूग' आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'होने वाला' अर्थ में सप्तम्यन्त 'दिश्' आदि से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'दिशि भवम्' (दिशा में होने वाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'दिश्' से 'यत्' प्रत्यय हो 'दिशि य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'दिश् य' = 'दिश्य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'दिश्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वर्ग' से 'वर्ग्यम्' (वर्ग में होने वाला) रूप बनता है।

१०९१. शरीरावयवाच्च । ४ । ३ । ५५

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् ।

(वा०) अध्यात्मादेष्ठञिष्यते । अध्यात्मं भवम्-आध्यात्मिकम् ।

१०९१. शरीरावयवादिति—शब्दार्थ है—(शरीरावयवात्) शरीरावयव से (च) और··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण सूत्र 'तत्र भवः' ४.३.५३ तथा 'दिगादिभ्यो यत्' ४.३.५४ से 'यत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'शरीरावयव' का अभिप्राय शरीर के अवयववाचक शब्दों से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'होने वाला' अर्थ में शरीर के अवयव-वाचक सप्तम्यन्त समर्थ से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'दन्तेषु भवम्' (दांतों में होने वाला)—इस अर्थ में शरीरावयववाचक सप्तम्यन्त 'दन्त' से 'यत्' प्रत्यय हो 'दन्तेषु य' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'दन्त य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन में 'दन्त्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'कण्ठ' से 'कण्ठ्यम्' (कण्ठ में होने वाला) रूप बनता है।

(वा०) अध्यात्मादेरिति—भावार्थ है—सप्तम्यन्त अध्यात्मादि से 'भव' (होने वाला) अर्थ में 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय होता है। यहां 'अध्यात्मादि' आकृतिगण है और इसमें 'अध्यात्म', 'अधिदेव', 'अधिभूत', 'इहलोक' और 'परलोक'—इन पांच शब्दों का समावेश होता है। इन्हीं पांच शब्दों के सप्तम्यन्त समर्थ से 'भव' अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अध्यात्मं भवम्' (आत्मा में होने वाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'अध्यात्म' से 'ठञ्' प्रत्यय हो 'अध्यात्मं ठ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'अध्यात्म ठ' रूप बनने पर '१०२४—ठस्येकः' से प्रत्यय के ठकार के स्थान पर 'इक' होकर 'अध्यात्म इक' रूप बनेगा। यहां

अजादिवृद्धि और अन्त्यलोप आदि होकर 'आध्यात्मिकम्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार सप्तम्यन्त 'अधिदेव' से भी भव अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'अधिदेव ठ' रूप बनता है। यहां ञित् प्रत्यय-'ठञ्' परे होने के कारण '६३८-तद्धितेष्वचामादेः' से अजादि-वृद्धि प्राप्त होती है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हो जाता है—

१०९२. अनुशतिकादीनां च। ७ । ३ । २०

एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। आकृतिगणोऽयम्।

१०९२. अनुशतिकादीनामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अनुशतिकादीनाम्) अनुशतिकादि के···। यह सूत्र भी स्वतः अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अचो ञ्णिति' ७.२.११५, 'तद्धितेष्वचामादेः' ६.२.११७, 'किति च' ७.२.११८, अधिकार सूत्र 'उत्तरपदस्य' ७.३.१०, 'ह्रद्भग-सिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' ७.३.१९ से 'पूर्वपदस्य' तथा 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अनुशतिकादि' आकृतिगण है और इसमें 'अनुशतिक', 'अधिदेव', 'अधिभूत', 'इहलोक' और 'परलोक' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ञित्, णित्, और कित् तद्धित प्रत्यय परे होने पर अनुशतिकादि-गण में पठित शब्दों के पूर्वपद और उत्तरपद—दोनों के ही आदि अच् (स्वर-वर्ण) को वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए 'अधिदेव ठ' में 'अधिदेव' शब्द अनुशतिकादि-गण का है, अतः ञित् प्रत्यय 'ठञ्' (ठ) परे होने पर प्रकृत सूत्र से 'अधिदेव' के पूर्वपद-'अधि' के आदि अच्-अकार और उत्तरपद-'देव' के आदि अच्-एकार को वृद्धि होकर 'आधिदैव ठ' रूप बनता है। तब पूर्ववत् प्रत्यय के ठ के स्थान पर 'इक्' हो 'आधिदैव इक' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन में 'आधिदैविकम्' (देव में होने वाला) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अधिभूत' से 'आधिभौतिकम्' (पृथ्वी में होने वाला), 'इहलोक' से 'ऐहलौकिकम्' (इस लोक में होने वाला) और 'परलोक' से 'पारलौकिकम्' (परलोक में होने वाला) रूप बनते हैं।

१०९३. जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः। ४ । ३ । ६२

जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

१०९३. जिह्वामूलेति—शब्दार्थ है—(जिह्वामूलाङ्गुलेः) जिह्वामूल और अङ्गुलि से (छः) 'छ' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए 'तत्र भवः' ४.३.५३ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'भव' (होने वाला) अर्थ में सप्तम्यन्त 'जिह्वामूल' और 'अङ्गुलि'

से 'छ' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय '१०९१—शरीरावयवाच्च' से प्राप्त 'यत्' प्रत्यय का बाधक है। उदाहरण के लिए 'जिह्वामूले भवम्' (जिह्वामूल में होने वाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'जिह्वामूल' से 'छ' प्रत्यय हो 'जिह्वामूले छ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'जिह्वामूल छ' रूप बनने पर '१०१०—आयनेयी-०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' आदेश हो 'जिह्वामूल ईय् अ' = 'जिह्वामूल ईय' रूप बनेगा। यहां अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'जिह्वामूलीयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अङ्गुलि' से 'अङ्गुलीयम्' (अङ्गुली में होने वाला) रूप बनता है।

१०९४. वर्गान्ताच्च । ४ । ३ । ६३

कवर्गीयम्

१०९४. वर्गान्तादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (वर्गान्तात्) वर्गान्त से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए सम्पूर्ण सूत्र 'तत्र भवः' ४.३.५३ और 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' ४.३.६२ से 'छः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'होने वाला' अर्थ में सप्तम्यन्त वर्गान्त प्रातिपदिक (जिसके अन्त में 'वर्ग' शब्द हो) से 'छ' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कवर्गे भवम्' (कवर्ग में होने वाला)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त वर्गान्त 'कवर्ग' से 'छ' प्रत्यय हो 'कवर्गे छ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'कवर्ग छ' रूप बनने पर पूर्ववत् 'ईय्' आदेश और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'कवर्गीयम्' रूप सिद्ध होता है।

१०९५. तत आगतः । ४ । ३ । ७४

स्रुघ्नादागतः—स्रौघ्नः।

१०९५. तत इति—शब्दार्थ है—(ततः) उससे (आगतः) आया हुआ...। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। यहां 'ततः' का अभिप्राय पञ्चमी विभक्ति से है और 'आगतः' 'आया हुआ'—इस अर्थ का वाचक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'आया हुआ' अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ से ही यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सामान्य रूप से यहां भी 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'स्रुघ्नादागतः' (स्रुघ्न देश से आया हुआ)—इस अर्थ में पञ्चम्यन्त 'स्रुघ्नात्' से 'अण्' प्रत्यय हो 'स्रुघ्नात् अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'स्रुघ्न अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होता है।

१०९६. ठगायस्थानेभ्यः । ४ । ३ । ७५

शुल्कशालाया आगतः—शौल्कशालिकः।

१०९६. ठगिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(आयस्थानेभ्यः) 'आयस्थान' वाचक

शब्दों से (ठक्) 'ठक्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है— यह जानने के लिए पूर्वसूत्र 'तत आगतः' ४.३.७४ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'आया हुआ' अर्थ में पञ्चम्यन्त 'आयस्थान' (राजा की आमदनी का स्थान,* चुङ्गीघर आदि) वाचक शब्द से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'शुल्कशालाया आगतः' (शुल्कशाला—चुङ्गीघर से आया हुआ) इस अर्थ में 'आयस्थान'-वाचक पञ्चम्यन्त 'शुल्कशाला' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'शुल्कशालायाः ठ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'शुल्कशाला ठ' रूप बनने पर '१०२४-ठस्येकः' से प्रत्यय के ठ के स्थान पर 'इक' आदेश हो 'शुल्कशाला इक' रूप बनेगा। तब अजादि-वृद्धि, अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'शौल्कशालिकः' रूप सिद्ध होता है।

१०९७. विद्या-योनिसंबन्धेभ्यो वुञ् । ४ । ३ । ७७

औपाध्यायकः । पैतामहकः ।

१०९७. विद्येति—शब्दार्थ है—(विद्या-योनिसम्बन्धेभ्यः) विद्या और योनि-सम्बन्ध-वाचक से (वुञ्) वुञ् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१०९५-तत आगतः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'आया हुआ' अर्थ में विद्या और योनि-सम्बन्ध-वाचक पञ्चम्यन्त समर्थ से 'वुञ्' (वु) प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि जिससे विद्या या योनि (रक्त) कृत सम्बन्ध हो, उसके वाचक पञ्चम्यन्त समर्थ से 'आया हुआ' अर्थ में 'वुञ्' (वु) प्रत्यय होगा। उदाहरण के लिए 'उपाध्यायाद् आगतः' (उपाध्याय से आया हुआ)—इस अर्थ में विद्या-सम्बन्धवाची पञ्चम्यन्त 'उपाध्याय' से 'वुञ्' प्रत्यय हो 'उपाध्यायाद् वु' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'उपाध्याय वु' रूप बनने पर '७८५-युवोरनाकौ' से प्रत्यय 'वु' को 'अक' आदेश होकर 'उपाध्याय अक' रूप बनेगा। तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'औपाध्यायकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार योनि-सम्बन्ध-वाचक पञ्चम्यन्त 'पितामह' से 'पैतामहकः' (पितामह से आया हुआ) रूप बनता है।

१०९८. हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः । ४ । ३ । ८१

समादागतम्—समरूप्यम् । पक्षे—गहादित्वाच्छः—समीयम्, विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम्, दैवदत्तम् ।

* 'आय इति स्वामिग्राह्यो भाग उच्यते । स यस्मिन्नुत्पद्यते तदायस्थानम्'—काशिका ।

१०९८. हेतुमनुष्येभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हेतु-मनुष्येभ्यः) हेतु और मनुष्यवाचक से (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (रूप्यः) 'रूप्य' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए यहाँ भी '१०९५–तत आगतः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'आया हुआ' अर्थ में हेतु (कारण) और मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त समर्थ से विकल्प से 'रूप्य' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'समाद् आगतम्' (सम से आया हुआ)—इस अर्थ में हेतुभूत पञ्चम्यन्त 'सम' से 'रूप्य' प्रत्यय हो 'समाद् रूप्यः' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'सम रूप्य'='समरूप्य' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'समरूप्यम्' रूप सिद्ध होता है। किन्तु ध्यान रहे कि यह 'रूप्य' प्रत्यय विकल्प से होता है। अतः प्रकृत में '१०७५–गहादिभ्यश्च' से 'छ' प्रत्यय हो 'समीयम्' रूप भी बनता है। इसी प्रकार मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त 'देवदत्त' से 'रूप्य' प्रत्यय हो 'देवदत्त-रूप्यम्' (देवदत्त से आया हुआ) रूप बनता है। 'रूप्य' के अभाव-पक्ष में '१०९५–तत आगतः' से सामान्य 'अण्' प्रत्यय हो 'दैवदत्तम्' रूप बनता है।

१०९९. मयट्[१] च । ४ । ३ । ८२

समनयम् । देवदत्तमयम् ।

१०९९. मयड् इति—शब्दार्थ है—(च) और (मयट्) 'मयट्' प्रत्यय होता है। यहाँ सूत्रस्थ 'च' से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१०९५–तत आगतः' तथा '१०९८–हेतु-मनुष्येभ्यः–०' से 'हेतु-मनुष्येभ्यः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'आया हुआ' अर्थ में हेतुवाचक और मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'मयट्' (मय) प्रत्यय भी होता है। उदाहरण के लिए 'समाद् आगतः' (सम से आया हुआ)—इस अर्थ में हेतुभूत पञ्चम्यन्त 'सम' से 'मयट्' प्रत्यय हो 'समाद् मय' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'सम मय'='सममय' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन में 'सममयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी भाँति मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त 'देवदत्त' से 'मयट्' प्रत्यय हो 'देवदत्तमयम्' रूप बनता है। इस प्रकार 'आया हुआ' अर्थ में हेतुवाचक और मनुष्यवाचक शब्दों के तीन-तीन रूप बनते हैं—१. सामान्य 'अण्' अथवा 'छ' प्रत्यय होकर (हेतुवाचक) के साथ 'छ' और मनुष्यवाचक के साथ 'अण्' प्रत्यय), २. 'रूप्य' प्रत्यय होकर और ३. 'मयट्' प्रत्यय होकर।

११००. प्रभवति* । ४ । ३ । ८३

हिमवतः प्रभवति–हैमवती, गङ्गा।

---

* यह क्रियापद है। 'प्र'उपसर्गपूर्वक 'भू' धातु के लट् लकार में प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है।

११००. प्रभवतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रभवति) पहले प्रकट होता है या निकलता है। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१०९५-तत आगतः' से 'ततः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'प्रभवति' (प्रकट होता या होती है अथवा निकलता या निकलती है) अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ से ही यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सामान्य-रूप से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहाँ भी 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'हिमवतः प्रभवति' (हिमवत्-हिमालय से निकलती है)—इस अर्थ में पञ्चम्यन्त 'हिमवत्' से सामान्य 'अण्' प्रत्यय हो 'हिमवतः अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'हिमवत् अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि हो 'हैमवत' रूप बनेगा। यहाँ स्त्रीत्व-विवक्षा में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय, अन्त्य अकार का लोप और विभक्ति-कार्य होकर 'हैमवती' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ है—गङ्गा।

११०१. तद् गच्छति* पथिदूतयोः । ४ । ३ । ८५

स्रुघ्नं गच्छति—स्रौघ्नः, पन्था दूतो वा।

११०१. तद्गच्छतीति—शब्दार्थ है—(गच्छति) 'जाता है' अर्थ में (तत्) उसको (पथिदूतयोः) पथ और दूत विषय में...। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यहाँ 'तत्' केवल द्वितीय विभक्ति मात्र का बोधक है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'तत्' उसका विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पथ या दूत वाच्य होने पर 'गच्छति' (जाता है) अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से ही यथाविहित प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि यदि जाने वाला पथ (मार्ग, रास्ता) या दूत हो तो 'गच्छति' अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होता है। सामान्यतः यहाँ भी 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से 'अण्'(अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए पथ या दूत वाच्य होने पर 'स्रुघ्नं गच्छति' (स्रुघ्न—देशविशेष को जाता है)—इस वाक्य में 'गच्छति' अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक 'स्रुघ्नम्' से 'अण्' प्रत्यय हो 'स्रुघ्नम् अ' रूप बनता है। तब 'सुप्-लोप हो 'स्रुघ्न अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य हो 'स्रौघ्नः' (स्रुघ्न को जाने वाला मार्ग या दूत रूप सिद्ध होता है।

११०२. अभिनिष्क्रामति† द्वारम् । ४ । ३ । ८६

स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति स्रौघ्नम्—कान्यकुब्जद्वारम्।

---

* यह भी क्रिया-पद है। यहाँ अर्थ-निर्देश में प्रयुक्त हुआ है।

† यह क्रिया-पद है। यहां अर्थ-निर्देश में प्रयुक्त हुआ है।

११०२. अभिनिष्क्रामतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अभिनिष्क्रामति) 'ओर निकलता है' अर्थ में (द्वारम्) द्वार...। किन्तु इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र 'तद्गच्छति-०' ४.३.८५ से 'तद्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—यदि निकलने वाला (निकलना क्रिया का कर्ता) द्वार हो तो 'अभिनिष्क्रामति' (उस ओर निकलता है) अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सामान्य-रूप से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां भी 'अण्' (अ) प्रत्यय होगा। उदाहरण के लिए 'स्रुघ्न मभिनिष्क्रामति' (स्रुघ्न की ओर निकलता है)—यहां 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक 'स्रुघ्नम्' से 'अण्' प्रत्यय हो 'स्रुघ्नम् अ' रूप बनता है, क्योंकि यहां निकलने वाला द्वार है। तब सुप्-लोप हो 'स्रुघ्न अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के नपुंसकलिङ्ग-एकवचन में 'स्रौघ्नम्' (स्रुघ्न की ओर निकलने वाला द्वार, कन्नौज शहर का द्वार) रूप सिद्ध होता है।

विशेष—प्राचीन काल में बड़े-बड़े नगर चहारदीवारी से घिरे रहते थे और बाहर निकलने के द्वार बने होते थे। जो दरवाजा जिस ओर को निकलता था उसका नाम उसी ओर के नाम से प्रसिद्ध हो जाता था। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए उपर्युक्त सूत्र की आवश्यकता पड़ी। 'काशिका' के अनुसार 'स्रौघ्नम्' कान्यकुब्ज (कन्नौज) का द्वार-विशेष था जो कि स्रुघ्न-देश की ओर निकलता था।

११०३. अधिकृत्य* कृते ग्रन्थे। ४। ३। ८७

शारीरकमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः-शारीरकीयः।

११०३. अधिकृत्येति—शब्दार्थ है—(अधिकृत्य) अधिकृत करके (कृते) किया हुआ (ग्रन्थे) ग्रन्थ अर्थ में...। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११०१-तद्गच्छति-०' से 'तत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' (अधिकृत करके बनाया हुआ ग्रन्थ) अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित ('अण्', 'छ' आदि) प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' (शारीरक—आत्मा को अधिकृत करके बनाया हुआ ग्रन्थ)—इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक 'शारीरकम्' से '१०७४-वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय हो 'शारीरकम् छ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'शारीरक छ' रूप बनने पर '१०१०-आयनेयीनी-०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' होकर 'शारीरक ईय् अ' = 'शारीरक ईय' रूप बनेगा। यहां अन्त्य-अकार का लोप हो 'शारीरक् ईय' = 'शारीरकीय' रूप बनने

---

* यह क्विप् प्रत्ययान्त कृदन्त-रूप है।

पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'शारीरकीयः' रूप सिद्ध होता है।

११०४. 'सोऽस्य' निवासः'। ४। ३। ८९

स्रुघ्नो निवासोऽस्य—स्रौघ्नः।

११०४. सोऽस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सः) वह (अस्य) इसका (निवासः) निवास। वास्तव में यहां 'सः' केवल प्रथमा विभक्ति का सूचक-मात्र है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने के कारण उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'अस्य निवासः' भी अर्थ-बोधक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका निवास (रहने का देश*) है' इस अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सामान्य-रूप से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'स्रुघ्नो निवासोऽस्य' (स्रुघ्न इसका निवास है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'स्रुघ्न' से 'अण्' प्रत्यय हो 'स्रुघ्नः अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'स्रौघ्नः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ है—स्रुघ्न देश का वासी।

११०५. तेन' प्रोक्तम्'। ४। ३। १०१

पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयम्।

११०५. तेनेति—शब्दार्थ है—(तेन) उसके द्वारा (प्रोक्तम्) प्रवचन किया हुआ।† यहां भी 'तेन' केवल तृतीया-विभक्ति का सूचक मात्र है और 'प्रोक्तम्' अर्थ-बोधक। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'प्रोक्तम्' (प्रवचन किया हुआ) अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित ('अण्', 'छ' आदि) प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'पाणिनिना प्रोक्तम्' (पाणिनि के द्वारा प्रवचन किया हुआ)—इस अर्थ में '१०७४—वृद्धाच्छः' से तृतीयान्त प्रातिपदिक 'पाणिनिना' से 'छ' प्रत्यय हो 'पाणिनिना छ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'पाणिनि छ' रूप बनने पर '१०१०—आयनेयीनी—०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' हो 'पाणिनि ईय् अ' = 'पाणिनि ईय' रूप बनेगा। यहां अन्त्य इकार का लोप हो 'पाणिन् ईय' = 'पाणिनीय' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन नपुंसकलिङ्ग में 'पाणिनीयम्' रूप सिद्ध होता है।

११०६. 'तस्येदम्'। ४। ३। १२०

उपगोरिदम्—औपगवम्।

इति शैषिकाः।

---

* 'निवसन्त्यस्मिन्निवासो देश उच्यते'—काशिका।

† 'प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तमित्युच्यते, न तु कृतम्'—काशिका।

११०६. तस्येदमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तस्य) उसका (इदम्) यह··· । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में यहां 'तस्य' केवल षष्ठी विभक्ति का सूचक-मात्र है और 'इदम्' अर्थ-विधायक । इस प्रकार पूर्ववत् इसका भावार्थ होगा—'इदम्' (यह है) अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं । सामान्यतः 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'उपगोरिदम्' (उपगु का यह है)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'उपगोः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'उपगोः अ' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'उपगु अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि, गुण, अवादेश और विभक्ति-कार्य आदि होकर प्रथमा के एकवचन नपुंसकलिङ्ग में 'औपगवम्' रूप सिद्ध होता है ।

शैषिक प्रकरण समाप्त ।

प्राग्दीव्यतीयाः (विकारार्थकाः)

११०७. तस्य[१] विकारः[२] ४ । ३ । १३४

(वा०) अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः । अश्मनो विकारः-आश्मः । भास्मनः । मार्तिकः ।

११०७. तस्य विकार इति—शब्दार्थ है—(तस्य) उसका (विकारः) विकार । लेकिन इससे सूत्र का आशय स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में सूत्रस्थ 'तस्य' यहां केवल षष्ठी विभक्ति का सूचक-मात्र है और 'विकारः' अर्थ-विधायक । इस प्रकार पूर्ववर्ती सूत्र (११०४) की भांति इसका भी भावार्थ होगा—'विकारः' (विकार) अर्थ में षष्ठयन्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं । सामान्य-रूप से 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'अश्मनो विकारः' (पत्थर का विकार)—इस अर्थ में षष्ठयन्त प्रातिपदिक 'अश्मनः' से 'अण्' प्रत्यय हो 'अश्मनः अ' रूप बनता है । तत्र सुप्-लोप हो 'अश्मन् अ' रूप बनने पर '६१९–नस्तद्धिते' से टि-लोप प्राप्त होता है, किन्तु '१०२१–अन्' से उसका निषेध हो जाता है । इस स्थिति में प्रकृत वार्तिक 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः'* से टि–'अन्' का लोप हो 'अश्म् अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'आश्मः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'भस्मनो विकारः' (भस्म का विकार)—इस अर्थ में 'भास्मनः' रूप बनता है । अन्तर केवल इतना ही है कि यहां टि-लोप नहीं होता । 'मृत्तिकाया विकारः' (मृत्तिका–मिट्टी का विकार) अर्थ में भी 'अण्', अजादि-वृद्धि और अन्त्य आकार का लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'मार्तिकः' रूप बनता है ।†

११०८. अवयवे[७] च[६] प्राण्योषधि-वृक्षेभ्यः[५] । ४ । ३ । १३५

चाद्विकारे । मयूरस्यावयवो विकारो वा मायूरः । मौर्वं–काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ।

११०८. अवयवे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्राणि + ओषधि-वृक्षेभ्यः) प्राणि, ओषधि और वृक्ष से (अवयवे) अवयव अर्थ में (च) और··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '११०७–तस्य विकारः' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'प्राणि'

---

* वार्तिक का भावार्थ है—विकार अर्थ में 'अश्मन्' की टि का लोप होता है ।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए परिशिष्ट में इसकी रूप-सिद्धि देखिये ।

आदि का अभिप्राय तद्वाचक शब्दों से है। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—प्राणिवाचक, ओषधिवाचक और वृक्षवाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से अवयव तथा विकार—दोनों ही अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सामान्यतः 'प्राग्दीव्यतोऽण्' ४.१.८३ से यहां 'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'मयूरस्य अवयवो विकारो वा' (मयूर का अवयव या विकार)—इस अर्थ में प्राणिवाचक षष्ठ्यन्त 'मयूरस्य' से 'अण्' प्रत्यय हो 'मयूरस्य अ' रूप बनता है। यहाँ सुप्-लोप हो 'मयूर अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि, अन्त्य-लोप और विभक्तिकार्य होकर प्रथमा के एकवचन-पुँलिङ्ग में 'मायूरः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार षष्ठ्यन्त ओषधिवाचक 'मूर्वा' से 'मौर्वः' (मूर्वा का अवयव या विकार) तथा षष्ठ्यन्त वृक्षवाचक 'पिप्पल' से 'पैप्पलम्' (पिप्पल का अवयव या विकार) रूप बनते हैं।

विशेष—ध्यान रहे कि विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त प्राणिवाचक आदि शब्दों से पूर्वसूत्र '११०७–तस्य विकारः' से ही यथाविहित प्रत्यय प्राप्त थे। अवयव अर्थ में भी उक्त शब्दों से प्रत्ययों का विधान करने के लिए ही प्रस्तुत सूत्र की आवश्यकता हुई।

११०९. मयड्[1] वैतयोर्भाषायामभक्ष्याऽऽच्छादनयोः[7]। ४ । ३ । १४३

प्रकृतिमात्रान्मयड् वा स्याद् विकारावयवयोः। अश्ममयम्, आश्मनम्। अभक्ष्येत्यादि किम्–मौद्गः सूपः। कार्पासमाच्छादनम्।

११०९. मयड् वेति—शब्दार्थ है—(अभक्ष्याच्छादनयोः) भक्ष्य और आच्छादन-भिन्न अर्थ में (भाषायाम्) भाषा में (एतयोः) इन दोनों में (वा) विकल्प से (मयट्) 'मयट्' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में सूत्रस्थ 'एतयोः'* का अभिप्राय '११०७–तस्य विकारः' में पठित 'विकारः' और '११०८–अवयवे च–०' में पठित 'अवयवे' से है। 'अभक्ष्याच्छादनयोः' पृथक्-पृथक् रूप से इन दोनों से संयोजित होता है। सूत्रस्थ 'भाषा'† का तात्पर्य है—लौकिक संस्कृत भाषा। '११०७–तस्य विकारः' से 'तस्य' की अनुवृत्ति होगी ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—भक्ष्य-भिन्न और आच्छादन-भिन्न विकार तथा अवयव अर्थ में लौकिक संस्कृत में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से विकल्प से 'मयट्' प्रत्यय

---

* ध्यान रहे कि यहां अधिकार से ही 'विकारः' और 'अवयवे' सिद्ध थे। 'एतयोः' कहने का अभिप्राय केवल यही है कि उक्त और वक्ष्यमाण अपवाद-स्थलों पर भी पक्ष में 'मयट्' होता है।

† 'भाषा' का अर्थ है बोल-चाल की भाषा। पाणिनि के समय में भाषा लौकिक संस्कृत को कहा जाता था क्योंकि वही उस समय बोली जाती थी। वेद की भाषा उस समय बोली नहीं जाती थी, इसलिए उसे 'भाषा' नहीं कहा जाता था।

होता है। तात्पर्य यह कि अवयव या विकार यदि भक्ष्य (खाने की वस्तु) और आच्छादन (ओढ़ना) न हो तो लौकिक संस्कृत में अवयव और विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से विकल्प से 'मयट्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अश्मनोऽवयवो विकारो वा' (अश्मन्* का अवयव या विकार)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'अश्मन्' से 'मयट्' (मय) प्रत्यय हो 'अश्मनः मय' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'अश्मन् मय' रूप बनने पर '१८०—नलोपः—०' से न-लोप तथा विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग 'अश्ममयम्' रूप सिद्ध होता है। 'मयट्' के अभाव-पक्ष में सामान्य 'अण्' प्रत्यय, टि-लोपाभाव और विभक्ति-कार्य आदि होकर प्रथमा के एकवचन नपुंसकलिङ्ग में 'आश्मनम्' रूप बनता है।†

यहां ध्यान रहे कि अवयव या विकार यदि भक्ष्य अथवा आच्छादन होगा तो 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग न होगा। उदाहरण के लिए भक्ष्य होने के कारण 'मौद्गः' (मूंग का विकार—दाल) और आच्छादन होने के कारण 'कार्पासम्' (कपास का विकार—ओढ़ना) में 'मयट्' प्रत्यय नहीं होता। उक्त दोनों रूप 'अण्' प्रत्यय लग कर बने हैं।

११११०. नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः । ४ । ३ । १४४

आम्रमयम्। शरमयम्।

११११०. नित्यमिति—यह सूत्र स्वतः अपूर्ण है। शब्दार्थ है—(वृद्ध-शरादिभ्यः) वृद्ध और शर आदि से (नित्यम्) नित्य...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'वा' को छोड़कर समस्त पूर्वसूत्र '११०९—मयड् वैतयोः—०' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'वृद्ध' उस समुदाय को कहते हैं जिसके अचों में से आदि अच् (स्वर-वर्ण) वृद्धि-संज्ञक होता है।‡ सूत्रस्थ 'शरादि' गण है और इसमें 'शर', 'मृद्', 'कुटी', 'तृण', 'सोम' और 'बल्वज'—इन शब्दों का समावेश होता है। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—यदि अवयव या विकार भक्ष्य अथवा आच्छादन न हो तो अवयव और विकार अर्थों में वृद्ध-संज्ञक और शरादिगण में पठित 'शर' आदि शब्दों के षष्ठ्यन्त पदों से लौकिक संस्कृत में नित्य (सर्वदा) 'मयट्' (मय) प्रत्यय होता है। यह पूर्वसूत्र (११०९) से प्राप्त विकल्प का बाधक है। उदाहरण के लिए 'आम्रस्य अवयवो विकारो वा' (आम्र—आम का अवयव या विकार)—इस अर्थ में वृद्ध-संज्ञक षष्ठ्यन्त पद 'आम्रस्य' से 'मयट्' प्रत्यय होकर 'आम्रस्य मय' रूप बनता है। तब

---

* वशिष्ठ द्वारा कल्माषाङ्घ्रि नामक राजा की पत्नी से उत्पन्न सन्तान-विशेष। देखिये इस सूत्र पर सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए इसकी रूप-सिद्धि देखिये।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए १०७२ वें सूत्र की व्याख्या या परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

पूर्ववत् सुप्-लोप और विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन—नपुंसकलिङ्ग में 'आम्रमयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार शरादिगण में पठित 'शर' के षष्ठ्यन्त पद से 'शरमयम्' (शर का अवयव या विकार) रूप बनता है।

११११. गोश्च पुरीषे । ४ । ३ । १४५

गोः पुरीषं गोमयम्।

११११. गोश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (गोः) 'गो' से (पुरीषे) पुरीष अर्थ में...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '११०९–मयड् वैतयोः–०' से 'मयट्' तथा '११०७–तस्य विकारः' से 'तस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'पुरीष' (गोबर) अर्थ में षष्ठ्यन्त 'गो' शब्द से 'मयट्' (मय) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'गोः पुरीषम्' (गाय का गोबर)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'गोः' से 'मयट्' प्रत्यय हो 'गोः मय' रूप बनता है। तब सुप्-लोप और विभक्ति-कार्य हो 'गोमयम्' रूप सिद्ध होता है।

१११२. गो-पयसोर्यत् । ४ । ३ । १६०

गव्यम्। पयस्यम्।

इति प्राग्दीव्यतीयाः।

१११२. गो-पयसोरिति—शब्दार्थ है—(गो-पयसोः) गो और पयस् से (यत्) 'यत्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र '११०७–तस्य विकारः' और '११०८–अवयवे च–०' से 'अवयवे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अवयव और विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त 'गो' और 'पयस्'—इन दो शब्दों से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'गोरवयवो विकारो वा' (गाय का अवयव या विकार)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'गोः' से 'यत्' प्रत्यय हो 'गोः य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'गो य' रूप बनने पर '२४–वान्तो यि प्रत्यये' से अवादेश और विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'गव्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पयसो विकारः' (पयस्–दूध का विकार)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'पयस्' से यत्-प्रत्यय, सुप्-लोप और विभक्ति-कार्य हो 'पयस्यम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—यद्यपि 'गोरजादिप्रसङ्गे यत्' वार्तिक से सर्वत्र ही 'गो' से 'यत्' प्रत्यय प्राप्त था, तथापि अवयव और विकार अर्थ में '११०९–मयड् वैतयोः–०' से पक्ष में प्राप्त 'मयट्' प्रत्यय के बाधार्थ प्रस्तुत सूत्र की आवश्यकता पड़ी।*

प्राग्दीव्यतीय-प्रकरण समाप्त।

---

* देखिये 'काशिका' और सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

ठगधिकारः

१११३. प्राग् वहतेष्ठक्[१] । ४ । ४ । १

तद्वहतीत्यतः प्राक् ठगधिक्रियते ।

१११३. प्राग्वहतेरिति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(वहतेः) 'वहति' से (प्राक्) पहिले (ठक्) 'ठक्' प्रत्यय होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में 'वहति' एकदेशीय निर्देश है और इससे 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' ४.४.७६ सूत्र का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' ४.४.७६—इस सूत्र के पहले 'ठक्' प्रत्यय होता है । दूसरे शब्दों में, 'तद्वहति–०' ४.४.७६—इस सूत्र के पूर्व तक जिन अर्थों ('खनति', 'जयति' आदि) का विधान हुआ है, उन-उन अर्थों में 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है—इस बात का अधिकार समझना चाहिये ।

विशेष—अर्थ निर्देशक सूत्र आगे दिये जा रहे हैं ।

१११४. तेन[२] दीव्यति* खनति* जयति* जितम्[१] । ४ । ४ । २

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितम् वा—आक्षिकः ।

१११४. तेन दीव्यतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तेन) उससे (दीव्यति) खेलता है, (खनति) खनता है, (जयति) जीतता है, (जितम्) जीता हुआ । वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है । सूत्रस्थ 'तेन' का अभिप्राय तृतीया विभक्ति से है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने के कारण उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । सूत्रस्थ 'दीव्यति' आदि अर्थ-निर्देशक हैं । '१११३-प्राग्वहतेष्ठक्' का अधिकार प्राप्त है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'दीव्यति' (खेलता है), 'खनति' (खनता है, खोदता है), 'जयति' (जीतता है) और 'जितम्' (जीता हुआ)—इन चार अर्थों में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'अक्षैर्दीव्यति, जयति, खनति, जितं वा' (अक्ष से खेलता है, जीतता है, खनता है या जीता हुआ)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'अक्षैः' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'अक्षैः ठ' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'अक्ष ठ' रूप बनने पर '१०२४-ठस्येकः' से प्रत्यय के ठ के स्थान पर 'इक' हो 'अक्ष इक' रूप बनेगा । तब अजादि-वृद्धि, अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य आदि होकर प्रथमा के एकवचन पुँल्लिङ्ग में 'आक्षिकः' रूप सिद्ध होता है ।

---

* ये सभी क्रिया-पद हैं ।

११११५. संस्कृतम् । ४ । ४ । ३

दध्ना संस्कृतम्—दाधिकम् । मारीचिकम् ।

११११५. संस्कृतमिति—शब्दार्थ है—(संस्कृतम्) संस्कार किया हुआ । किन्तु क्या होना चाहिये—यह जानने के लिए अनुवृत्ति-सहित पूर्वसूत्र '१११४–तेन दीव्यति–०' से 'तेन' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'संस्कृतम्' तो अर्थ-विधायक है । इस प्रकार सूत्र का पूर्ववत् भावार्थ होगा—'संस्कृतम्' (संस्कार किया हुआ) अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'दध्ना संस्कृतम्' (दही–दधि से संस्कार किया हुआ)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'दध्ना' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'दध्ना ठ' रूप बनता है । तब पूर्ववत् सुप्-लोप, इकादेश, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'दाधिकम्' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'मरीचेन संस्कृतम्' (मरीच से संस्कृत)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'मरीच' से 'मारीचिकम्' रूप बनेगा ।

१११६. तरति* । ४ । ४ । ५

तेनेत्येव । उडुपेन तरति—औडुपिकः ।

१११६. तरतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तरति) पार जाता है या तैरता है । वास्तव में यह भी अर्थ-निर्देश ही है । सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (१ १५) की भांति अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'तरति' (पार जाता है या तैरता है) अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'उडुपेन तरति' (उडुप से तैरता या पार जाता है)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'उडुपेन' से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय हो 'उडुपेन ठ' रूप बनता है । यहां सुप्-लोप हो 'उडुप ठ' रूप बनने पर पूर्ववत् इकादेश, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'औडुपिकः' रूप सिद्ध होता है ।

१११७. चरति* । ४ । ४ । ८

तृतीयान्ताद् गच्छति-भक्षयतीत्यर्थयोष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति—हास्तिकः । दध्ना चरति—दाधिकः ।

१११७. चरतीति—शब्दार्थ है—(चरति) चलता है और खाता है ।† यह भी अर्थ-निर्देश ही है । सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए यहां भी १११५ वें सूत्र की भांति अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'चरति' (चलता है और खाता है) अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए

---

* यह क्रिया-पद है ।

† 'चरतिर्भक्षणे गतौ च वर्त्तते'—काशिका ।

'हस्तिना चरति' (हाथी द्वारा चलता है)—यहां 'चलता है' अर्थ में तृतीयान्त 'हस्तिना' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'हस्तिना ठ' रूप बनता है। तत्र सुप्-लोप हो 'हस्तिन् ठ' रूप बनने पर इकादेश, टि-लोप और अजादि-वृद्धि आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'हास्तिकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'दध्ना चरति' (दही से खाता है)—यहां 'खाता है' अर्थ में भी तृतीयान्त 'दध्ना' से 'ठक्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'दाधिकः' रूप बनता है।

१११८. संसृष्टे । ४ । ४ । २२

दध्ना संसृष्टम्–दाधिकम्।

१११८. संसृष्टे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(संसृष्टे) संसृष्ट–मिला हुआ अर्थ में...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए १११५ वें सूत्र के समान अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'संसृष्ट' (मिला हुआ) अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'दध्ना संसृष्टम्' (दधि–दही से मिला हुआ)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'दध्ना' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'दध्ना ठ' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'दाधिकम्' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—ध्यान रहे कि 'संस्कृत' अर्थ (सूत्र-१११५) में भी यही रूप बनता है। दोनों स्थलों पर रूप एक-सा होता है लेकिन अर्थ में अन्तर हो जाता है। यह अन्तर प्रसंगानुसार जाना जाता है। तद्धित-प्रकरण में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

१११९. उञ्छति* । ४ । ४ । ३२

बदराण्युञ्छति–बादरिकः ।

१११९. उञ्छतीति—शब्दार्थ है—(उञ्छति†) चुनता है या बीनता है। किन्तु यह तो केवल अर्थ-निर्देश है, इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तत्प्रत्यनुपूर्वम्–०' ४.४.२८ से 'तत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'तत्' द्वितीया विभक्ति का बोधक है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और 'तत्' उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। '१११३–प्राग्वहतेष्ठक्' का अधिकार तो यहां है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उञ्छति' (चुनता है या बीनता है) अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'बदराणि उञ्छति' (बदर–बेरों को चुनता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'बदराणि' से 'ठक्'

* यह क्रिया-पद है।

† 'भूमौ पतितस्यैकैकस्य कणस्योपादानमुञ्छः'—काशिका।

प्रत्यय हो 'बदराणि ठ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'बदर ठ' रूप बनने पर इक-आदेश, अजादि वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'बादरिकः' रूप सिद्ध होता है।

११२०. रक्षति* । ४ । ४ । ३३

समाजं रक्षति—सामाजिकः ।

११२०. रक्षतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(रक्षति) रक्षा करता है। यह भी वास्तव में अर्थ-निर्देश है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र (१११९) के समान अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'रक्षति' (रक्षा करता है) अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'समाजं रक्षति' (समाज की रक्षा करता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'समाजम्' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'समाजम् ठ' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप हो 'समाज ठ' रूप बनने पर पूर्ववत् अजादि-वृद्धि, अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'सामाजिकः' रूप सिद्ध होता है।

११२१. शब्द-दर्दुरं करोति* । ४ । ४ । ३४

शब्दं करोति–शाब्दिकः । दर्दुरं करोति–दार्दुरिकः ।

११२१. शब्ददर्दुरमिति—शब्दार्थ है—(शब्द-दर्दुरम्) शब्द और दर्दुर (करोति) करता या बनाता है। यह भी केवल अर्थ-निर्देश है। स्पष्टीकरण के लिए १११९ की भांति अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'करोति' का अन्वय 'शब्दम्' और 'दर्दुरम्' से पृथक्-पृथक् होता है। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'शब्दं करोति' (शब्द करता या बनाता है†) और 'दर्दुरं करोति' (दर्दुर‡ करता है या बनाता है)—इन दो अर्थों में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'करोति' अर्थ में द्वितीयान्त 'शब्द' और 'दर्दुर' प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'शब्दं करोति' (शब्द को बनाता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'शब्द' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'शब्दम् ठ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'शब्द ठ' रूप बनने पर इक-आदेश, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'शाब्दिकः' (वैयाकरण) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'दर्दुरं करोति' (दर्दुर बनाता है)—अर्थ

---

* यह क्रिया-पद है।

† यहां 'शब्द करता है' का अर्थ है—प्रकृति-प्रत्यय दिखलाते हुए व्युत्पत्ति करना। अतः केवल 'आवाज करता है'—इस अर्थ में प्रकृत प्रत्यय नहीं होता।

‡ मिट्टी के बड़े बर्तन को 'दर्दुर कहते हैं।

में भी द्वितीयान्त 'दर्दुरम्' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'दार्दुरिकः' (कुम्भकार) रूप बनता है

११२२. धर्मं चरति* । ४ । ४ । ४१

धर्मं चरति—धार्मिकः ।

(वा०) अधर्माच्चेति वक्तव्यम् । अधार्मिकः ।

११२२. धर्ममिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(धर्मम्) धर्म का (चरति) सदा आचरण करता है ।† यह भी अर्थ-निर्देश है । इसके स्पष्टीकरण के लिए १११९ वें सूत्र के समान अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'धर्मं चरति' (धर्म का सदा आचरण करता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक (धर्म) से 'ठक्' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'धर्मं चरति'—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'धर्मम्' से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय हो 'धर्मम् ठ' रूप बनता है । तब सुप्-लोप, इक-आदेश और अजादि-वृद्धि आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'धार्मिकः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ है—'सदा धर्माचरण करने वाला' ।

(वा०) अधर्मादिति—वार्तिक का भावार्थ है—द्वितीयान्त 'अधर्म' प्रातिपदिक से भी 'चरति' (सदा आचरण करता है) अर्थ में 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'अधर्मं चरति' (अधर्म का सदा आचरण करता है)—इस अर्थ में भी द्वितीयान्त 'अधर्मम्' से पूर्ववत् 'ठक्' आदि होकर 'अधार्मिकः' रूप बनता है, जिसका अर्थ है—'सदा अधर्माचरण करने वाला' ।

११२३. शिल्पम् । ४ । ४ । ५५

११२३. शिल्पमिति—शब्दार्थ है—(शिल्पम्) शिल्प । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तदस्य पण्यम्' ४.४.५१ से 'तद्' और 'अस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'तद्' का अभिप्राय यहां प्रथमा-विभक्ति से है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की भी अनुवृत्ति होती है । 'तद्' उसका विशेषण बनता है और इस प्रकार उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । '१११३—प्राग्वहतेष्ठक्' का अधिकार तो है ही । सूत्रस्थ 'शिल्पम्' का अन्वय 'तद्' से होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—यदि प्रथमान्त प्रातिपदिक शिल्प हो तो उससे 'अस्य' (इसका) अर्थ में 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'अस्य' (इसका) अर्थ में शिल्प-वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'मृदङ्ग‡ शिल्पमस्य' (मृदङ्ग-वादन शिल्प है

---

* यह क्रिया-पद है ।

† 'चरतिरासेवायां, नानुष्ठानमात्रम्'—काशिका ।

‡ मृदङ्ग का प्रयोग यहां लाक्षणिक अर्थ 'मृदङ्ग-वादन' में हुआ है—'मृदङ्गशब्देन मृदङ्गवादनं लक्ष्यते'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

इसका)—इस अर्थ में शिल्प-वाचक प्रथमान्त 'मृदङ्गम्' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'मृदङ्गम् ठ' रूप बनता है। इस स्थिति में सुप्-लोप हो 'मृदङ्ग ठ' रूप बनने पर इक-आदेश, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'मार्दङ्गिकः' रूप सिद्ध होता है।

११२४. प्रहरणम्' । ४ । ४ । ५७

तदस्येत्येव । असिः प्रहरणमस्य—आसिकः । धानुष्कः ।

११२४. प्रहरणमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रहरणम् *) आयुध । यहां भी स्पष्टीकरण के लिए पूर्व सूत्र (११२३) की भाँति अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'अस्य' (इसका) अर्थ में प्रहरण (आयुध)-वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'असिः प्रहरणम् अस्य' (असि-तलवार प्रहरण है इसका)—इस अर्थ में प्रहरण-वाचक प्रथमान्त 'असिः' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'असिः ठ' रूप बनता है। तब पूर्ववत् सुप्-लोप, इक-आदेश, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'आसिकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'धनुः प्रहरणमस्य' (धनु प्रहरण है इसका)—इस अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'धनुस् ठ' रूप बनता है। तब '१०४९–इसुसुक्तान्तात्कः' से प्रत्यय के स्थान पर 'क' होकर 'धनुस् क' रूप बनेगा। यहां '३५२–नुम्-विसर्जनीय–०' से षत्व होकर 'धनुष्क' रूप बनने पर पूर्ववत् अजादि-वृद्धि आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'धानुष्कः' रूप सिद्ध होगा।

११२५. शीलम्' । ४ । ४ । ६१

अपूपभक्षणं शीलमस्य–आपूपिकः ।

११२५. शीलमिति—शब्दार्थ है—(शीलम् †) स्वभाव । इसके स्पष्टीकरण के लिए भी ११२३वें सूत्र के समान अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अस्य' (इसका) अर्थ में स्वभाव (शील)-वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अपूपं‡ शीलमस्य' (अपूप–माल-पूए खाना स्वभाव है इसका)—इस अर्थ में स्वभाव-वाचक प्रथमान्त 'अपूपम्' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'अपूपम् ठ' रूप बनता है। यहां पूर्ववत् सुप्-लोप, इक-आदेश, अजादि-

---

* 'प्रह्रियते अनेनेति प्रहरणमायुधम्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

† 'शीलं स्वभावः'—काशिका ।

‡ 'अपूपं' का प्रयोग यहां लाक्षणिक अर्थ 'अपूपभक्षणम्' (अपूप खाना) में हुआ है।

वृद्धि और अन्त्य-लोप होकर प्रथमा के एकवचन में 'आपूपिकः' रूप सिद्ध होता है।

११२६. निकटे[७] वसति* । ४ । ४ । ७३

नैकटिको भिक्षुः ।

इति ठगधिकारः ।

११२६. निकटे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(निकटे) निकट में (वसति) रहता है। वास्तव में यह भी अर्थ-निर्देश है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'तत्र नियुक्तः' ४.४.६९ से 'तत्र' तथा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तत्र' का अभिप्राय यहां सप्तमी विभक्ति से है। 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। '१११३–प्राग्वहतेष्ठक्' का अधिकार तो है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'निकटे वसति' (निकट में रहता है) अर्थ में सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'ठक्' (ठ) प्रत्यय होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'वसति' (रहता है) अर्थ में सप्तम्यन्त 'निकट' प्रातिपदिक से 'ठक्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'निकटे वसति' (निकट में रहता है)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'निकटे' से 'ठक्' प्रत्यय हो 'निकटे ठ' रूप बनता है। तत्र सुप्-लोप हो 'निकट ठ' रूप बनने पर पूर्ववत् इक्-आदेश, अजादि-वृद्धि आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'नैकटिकः' रूप सिद्ध होता है जिसका अर्थ है—'भिक्षु या ग्राम के निकट बसने वाला संन्यासी'।

ठगधिकार-प्रकरण समाप्त ।

---

* यह क्रिया-पद है।

यदधिकारः

११२७. प्राग्घिताद्[1] यत्[2] । ४ । ४ । ७५

तस्मै हितमित्यतः प्राग् यदधिक्रियते ।

११२७. प्राग्घितादिति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(हिताद्) हित से (प्राग्) पहले (यत्) 'यत्' प्रत्यय होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में यहां 'हिताद्' एकदेशीय निर्देश है और उसका अभिप्राय 'तस्मै हितम्' ५.१.५ सूत्र से है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'तस्मै हितम्' ५.१.५ सूत्र के पहले तक 'यत्' प्रत्यय होता है—यह अधिकार समझना चाहिये । तात्पर्य यह कि 'तस्मै हितम्' ५.१.५ के पूर्व तक जिन-जिन अर्थों को कहा गया है, उन-उन अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है । 'यत्' का तकार इत्संज्ञक है, केवल 'य' ही शेष रह जाता है ।

विशेष—अर्थ-विधायक सूत्र आगे दिये जा रहे हैं । वहीं इस सूत्र का उपयोग होगा ।

११२८. तद्[2]वहति* रथ-युग-प्रासङ्गम्[2] । ४ । ४ । ७६

रथं वहति–रथ्यः । युग्यः । प्रासङ्ग्यः ।

११२८. तद्वहतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तत्) उसको (रथ-युग-प्रासङ्गम्) रथ, युग और प्रासङ्ग को (वहति) वहन करता है । किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में 'वहति' यहाँ अर्थ-निर्देशक है और 'तत्' केवल द्वितीया विभक्ति का बोधक है । सूत्रस्थ 'रथ-युग-प्रासङ्गम्' का अन्वय 'तत्' से होता है । 'तत्' अपने वर्तमान अर्थ में 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से अनुवृत्त 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण बनता है । अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । '११२७-प्राग्घिताद् यत्' का अधिकार तो है ही । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'वहति' (वहन करता है) अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक रथ, युग और प्रासङ्ग से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'रथं वहति' (रथ को वहन करता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'रथम्' से 'यत्' प्रत्यय हो 'रथम् य' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'रथ य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'रथ्यः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'युगं वहति' (युग को वहन करता है) अर्थ

---

* यह क्रिया-पद है ।

में 'युग्यः' और 'प्रासङ्गं वहति' (प्रासङ्ग को वहन करता है) अर्थ में 'प्रासङ्ग्यः' रूप बनते हैं।

विशेष—युग और प्रासङ्ग का अर्थ यहाँ इस प्रकार है—

(१) युग—रथ आदि के वहन करते समय घोड़े आदि के कन्धों पर जो लकड़ी तिरछी जोड़ी जाती है, उसे युग कहते हैं।

(२) प्रासङ्ग—रथादि-वहन में सुशिक्षित घोड़ों को जोतने पर उनके स्कन्धों पर रखे हुए युग में दूसरे युग को जोड़कर उसमें अशिक्षित घोड़े वहन की शिक्षा के लिए जोते जाते हैं। इसी दूसरे युग को प्रासङ्ग कहते हैं।

११२९. धुरो[५] यड्ढकौ[१] । ४ । ४ । ७७

हलि चेति दीर्घे प्राप्ते—

११२९. धुर इति—शब्दार्थ है—(धुरः) धुर् से (यड्ढकौ) 'यत्' और 'ढक्' प्रत्यय होते हैं। किन्तु ये प्रत्यय किस अवस्था में होते हैं—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '११२८–तद्वहति–०' से 'तद्' और 'वहति' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तत्' अपने पूर्वोक्त अर्थ में सूत्रस्थ 'धुरः' का विशेषण बनता है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'वहति' (वहन करता है) अर्थ में द्वितीयान्त 'धुर्'* से 'यत्' (य) और 'ढक्' (ढ) प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार 'धुर्' शब्द के 'वहति' अर्थ में दो रूप बनते हैं। उदाहरण के लिए 'धुरं वहति' (धुर् को वहन करता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'धुरम्' से 'ढक्' प्रत्यय हो 'धुरम् ढ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'धुर् ढ' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयीनीयियः–०' से प्रत्यय के ढकार के स्थान पर 'एय' हो 'धुर् एय् अ' = 'धुर् एय' रूप बनेगा। तब अजादि-वृद्धि और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'धौरेयः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त अर्थ में 'यत्' प्रत्यय और 'सुप्-लोप' हो 'धुर् य' रूप बनता है। इस अवस्था में '६१२–हलि च' से उपधा-दीर्घ प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका निषेध हो जाता है—

११३०. न[३] भकुर्छुराम्[६] । ८ । २ । ७९

भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात्। धुर्यः। धौरेयः।

११३०. न भेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(भकुर्छुराम्) भ, कुर् और छुर् का (न) नहीं होता। किन्तु क्या नहीं होता—यह जानने के लिए 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' ८.२.७६ से 'र्वोरुपधायाः' और 'दीर्घः' की अनुवृत्ति करनी होगी।

* 'धुर्' रथादि की उस सीधी लकड़ी को कहते हैं जिस पर घोड़े जोते जाते हैं। युग को इसी के साथ जोड़ा जाता है।

'वोरुपधायाः' का अन्वय सूत्रस्थ 'भकुर्छुराम्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—रकारान्त और वकारान्त भ-संज्ञक,* कुर् और छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता। उदाहरण के लिए 'धुर् य' में 'धुर्' रकारान्त भसंज्ञक है, अतः प्रकृत सूत्र द्वारा '६१२–हलि च' से प्राप्त दीर्घादेश का निषेध हो जाता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'धुर्यः' रूप सिद्ध होता है।

११३१. नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु । ४ । ४ । ९१

नावा तार्यम्–नाव्यम्। वयसा तुल्यः–वयस्यः। धर्मेण प्राप्यम्–धर्म्यम्। विषेण वध्यः–विष्यः। मूलेन आनाम्यम्–मूल्यम्। मूलेन समः–मूल्यः। सीतया समितम्–सीत्यम्, क्षेत्रम्। तुलया संमितम्–तुल्यम्।

११३१. नौवय इति—शब्दार्थ है—(नौ-वयो—तुलाभ्यः) नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला से (तार्य-तुल्य—संमितेषु) तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित और संमित अर्थों में···। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र '११२७–प्राग्घिताद् यत्' की अनुवृत्ति करनी होगी। प्रत्ययार्थ द्वारा सूत्रस्थ 'नौ' आदि से तृतीयान्त 'नौ' आदि का ग्रहण होता है।† प्रकृति और प्रत्यय समान होने के कारण '२३–यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' से यथासंख्य-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तार्य अर्थ में तृतीयान्त नौ (नौका) से, तुल्य अर्थ में तृतीयान्त वयस् (आयु) से, प्राप्य अर्थ में तृतीयान्त धर्म से, वध्य (वध करने योग्य) अर्थ में तृतीयान्त विष से, आनाम्य‡ अर्थ में तृतीयान्त मूल से, सम (बराबर) अर्थ में तृतीयान्त मूल से, समित (समतल किया हुआ) अर्थ में तृतीयान्त सीता (हल) से और संमित (समान) अर्थ में तृतीयान्त तुला (तराजू) से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'नावा तार्यम्' (नाव से तरने योग्य)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'नावा' से 'यत्' प्रत्यय हो 'नावा यत्' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'नौ य' रूप बनने पर '२४–वान्तो यि प्रत्यये' से औकार के स्थान पर 'आव्' आदेश होकर न् आव् य' = 'नाव्य' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'नाव्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वयसा तुल्यः' (जो अवस्था में समान हो) अर्थ में 'वयस्यः', 'धर्मेण प्राप्यम्' (धर्म से प्राप्त किया

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† 'प्रत्ययार्थद्वारेण तृतीया समर्थविभक्तिर्लभ्यते'—काशिका।

‡ इसका अर्थ है—अपने लिए बचाया जाने वाला धन। देखिये सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

जानेवाला) अर्थ में 'धर्म्यम्', 'विषेण वध्यः' (विष के द्वारा मारा जाने योग्य) अर्थ में 'विष्यम्', 'मूलेन आनाम्यम्' (मूल के द्वारा अपने लिए बचाया जाने वाला धन) अर्थ में 'मूल्यम्', 'मूलेन समः' (मूल के बराबर) अर्थ में 'मूल्यः', 'सीतया समितम्' (हलाग्र द्वारा समतल किया हुआ) अर्थ में 'सीत्यम्' और 'तुलया संमितम्' (तराजू से बराबर) अर्थ में 'तुल्यम्' रूप बनते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि यहां 'आव्'-आदेश नहीं होता और जो शब्द अकारान्त या आकारान्त हैं, उनमें अन्त्य-लोप हो जाता है।

११३२. तत्र[7] साधुः[1] । ४ । ४ । ९८

अग्रे साधुः—अग्र्यः। सामसु साधुः सामन्यः। '१०२०—ये चाऽभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावः। कर्मण्यः। शरण्यः।

११३२. तत्रेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तत्र) वहां (साधुः*) प्रवीण या योग्य। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। 'तत्र' का अभिप्राय यहां सप्तमी विभक्ति से है और सूत्रस्थ 'साधुः' भी अर्थ-निर्देशक है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और सूत्रस्थ 'तत्र' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। '११२७—प्राग्घिताद् यत्' का अधिकार तो है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—साधु (प्रवीण या योग्य) अर्थ में सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अग्रे साधुः' (आगे रहने में प्रवीण)—इस अर्थ में साधु अर्थ में सप्तम्यन्त 'अग्रे' से 'यत्' प्रत्यय हो 'अग्रे य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'अग्र य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन-पुंल्लिङ्ग में 'अग्र्यः' रूप सिद्ध होता है। 'सामसु साधुः' (साम गाने में प्रवीण) अर्थ में इसी प्रकार यत्-प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'सामन् य' रूप बनता है। यहां '९१९—नस्तद्धिते' से टि-लोप प्राप्त होता है, किन्तु '१०२०—ये चाभावकर्मणोः' से उसका निषेध हो जाता है। तब पूर्ववत् विभक्ति-कार्य हो 'सामन्यः' रूप सिद्ध होगा। इसी भांति 'कर्मण्यः' (कर्मणि साधुः—कर्म करने में प्रवीण) और 'शरण्यः' (शरणे साधुः—रक्षा करने में प्रवीण) रूप भी सिद्ध होते हैं।

११३३. सभायाः[6] यः[1] । ४ । ४ । १०५

सभ्यः।

इति यतोऽवधिः।

---

* 'साधुरिह प्रवीणो योग्यो वा गृह्यते, नोपकारकः'—काशिका।

११३३. सभाया इति—शब्दार्थ है—(सभायाः) सभा से (यः) 'य' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '११३२—तत्र साधुः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तत्र' अपने सप्तम्यर्थ में यहां सूत्रस्थ 'सभायाः' का विशेषण बनता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—साधु (प्रवीण या योग्य) अर्थ में सप्तम्यन्त 'सभा' शब्द से 'य' प्रत्यय होता है। यह 'य' प्रत्यय पूर्वसूत्र (११३२) से प्राप्त 'यत्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'सभायां साधुः' (सभा में साधु या प्रवीण)—इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'सभायाम्' से 'य' प्रत्यय हो 'सभायाम् य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'सभा य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'सभ्यः' रूप सिद्ध होता है।

विशेष—'यत्' और 'य'—इन दोनों प्रत्ययों में केवल स्वर का भेद है। 'यत्' स्वरित है और 'य' आद्युदात्त।

यदधिकार-प्रकरण समाप्त।

छयतोरधिकारः

११३४. प्राक् क्रीताच्छः । ५ । १ । १

तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ।

११३४. प्राक्क्रीतादिति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(क्रीतात्) क्रीत से (प्राक्) पहले (छः) छ प्रत्यय होता है। वास्तव में सूत्रस्थ 'क्रीतात्' एकदेशीय निर्देश है और उसका अभिप्राय 'तेन क्रीतम्' ५.१.३७ सूत्र से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'तेन क्रीतम्' ५.१.३७ सूत्र से पहले (पूर्व) 'छ' प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि यहां से लेकर 'तेन क्रीतम्' के पूर्ववर्ती सूत्र तक जिन-जिन अर्थों को कहा गया है, उन-उन अर्थों में 'छ' प्रत्यय होता है।

११३५. उ-गवादिभ्यो यत् । ५ । १ । २

प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात् । छस्याऽपवादः । शङ्कवे हितम्–शङ्कव्यम् , दारु । गव्यम् ।

(वा०) नाभि नभं च । नभ्यः, अक्षः । नभ्यम् , अञ्जनम् ।

११३५. उ-गवादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उ-गवादिभ्यः) उवर्ण और गो आदि से (यत्) 'यत्' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११३४–प्राक् क्रीताच्छः' से 'प्राक् क्रीतात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१. से 'प्रातिपदिकात्' की भी अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'उ-गवादिभ्यः' उसका विशेषण बनता है, अतः उवर्ण में तदन्त-विधि हो जाती है। 'गवादि' गण है और उसमें 'गो', 'हविस्' तथा 'युग' आदि शब्दों का समावेश होता है।* इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'तेन क्रीतम्' ५.१.३७ से पहले कहे जाने वाले अर्थों में उवर्णान्त (उकारान्त या ऊकारान्त) और गवादिगण में पठित 'गो' आदि प्रातिपदिकों से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय पूर्वसूत्र (११३४) से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'शङ्कवे हितम्' (शङ्कु–कीले के लिए)—इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त 'शङ्कु' उवर्णान्त है, अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'यत्' प्रत्यय हो 'शङ्कवे य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'शङ्कु य' रूप बनने पर '१००२–ओर्गुणः' से उकार को गुण–ओकार तथा पुनः अव् आदेश आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में

---

* पूर्ण विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये ।

'शङ्कव्यम्' (कीलक बनाने के लिए लकड़ी) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार से 'गोभ्यो हितम्' (गायों के लिए हितकर) अर्थ में 'यत्'-प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'गो य' रूप बनने पर '२४—वान्तो यि प्रत्यये' से 'अव्'-आदेश हो 'गव्यम्' रूप सिद्ध होगा।

(वा०) नाभीति—इस वार्तिक का भावार्थ है—'नाभि' (रथ की नाभि*) शब्द से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है और 'नाभि' के स्थान पर 'नभ' आदेश होता है। '४५—अनेकाल् शित् सर्वस्य' परिभाषा से 'नभ' आदेश सम्पूर्ण 'नाभि' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'नाभये हितम्' (नाभि के लिए हितकर)—इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त 'नाभि' से 'यत्' प्रत्यय तथा सुप्-लोप हो 'नाभि य' रूप बनता है। यहां 'नाभि' के स्थान पर 'नभ' हो 'नभ य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'नभ्यः' सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—अक्ष-दण्ड। इसी भांति 'नभ्यम्' (अञ्जन, नाभि का) रूप भी बनता है।†

११३६. तस्मै[४] हितम्[१] । ५ । १ । ५

वत्सेभ्यो हितः—वत्सीयः, गोधुक्।

११३६. तस्मै इति—शब्दार्थ है—(तस्मै) उसके लिए (हितम्) हितकर। वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है। यहां 'तस्मै' का अभिप्राय केवल चतुर्थी विभक्ति मात्र से है और सूत्रस्थ 'हितम्' भी अर्थ-विधायक है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और 'तस्मै' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'हितम्' (हितकर) अर्थ में चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से यथा-विहित ('छ' और 'यत्' आदि) प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'वत्सेभ्यो हितः' (बछड़ों के लिए हितकर)—इस अर्थ में '११३४—प्राक् क्रीताच्छः' के अधिकार में प्रकृत सूत्र से चतुर्थ्यन्त 'वत्सेभ्यः' से 'छ' प्रत्यय हो 'वत्सेभ्यः छ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'वत्स छ' रूप बनने पर '१०१०—आयनेयी—०' से प्रत्यय के छकार के स्थान पर 'ईय्' हो 'वत्स ईय् अ'='वत्स ईय' रूप बनेगा। यहां अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'वत्सीयः' रूप सिद्ध होता है।

११३७. शरीराऽवयवाद्[५] यत्[१] । ५ । १ । ६

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्। नस्यम्।

---

* जिसमें अक्ष-दण्ड को डाला जाता है, रथ-चक्र के उस मध्य भाग को 'नाभि' कहते हैं।

† ध्यान रहे कि इन सभी उदाहरणों में आगामी '११३६—तस्मै हितम्' से प्रत्यय हुआ है।

११३७. शरीरावयवादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शरीराऽवयवाद्) शरीरावयव से (यत्) 'यत्' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अनुवृत्ति-सहित पूर्वसूत्र '११३६–तस्मै हितम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'शरीराऽवयव' का अभिप्राय शरीर के अवयव-वाचक शब्दों से है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'हितम्' (हितकर) अर्थ में शरीर के अवयववाचक (शरीर के किसी विशेष अङ्ग को बतलाने वाले) चतुर्थ्यन्त प्राति-पदिक से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है। यह 'यत्' प्रत्यय '११३४–प्राक् क्रीताच्छः' से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का बाधक है। उदाहरण के लिए 'दन्तेभ्यो हितम्' (दांतों के लिए हितकर)—इस अर्थ में अङ्ग-वाचक चतुर्थ्यन्त दन्त प्रातिपदिक से 'यत्' प्रत्यय हो 'दन्तेभ्यः य' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'दन्त य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'दन्त्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'कण्ठ्यम्' (कण्ठाय हितम्–कण्ठ के लिए हितकर) और 'नस्यम्' (नासिकायै हितम्–नासिका के लिए हितकर) रूप भी बनते हैं। अन्तिम उदाहरण में 'पद्दन्नोमास्–०' से 'नासिका' के स्थान पर 'नस्' हो जाता है।

११३८. आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्[५] खः[१] । ५ । १ । ९

११३८. आत्मन्निति—शब्दार्थ है— आत्मन्—भोगोत्तरपदात्*) आत्मन्, विश्वजन और भोगोत्तर पद से (खः) 'ख' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए पूर्ववत् '११३६–तस्मै हितम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'हितम्' (हितकर) अर्थ में आत्मन्, विश्वजन और भोगोत्तर (जिसके अन्त में भोग शब्द हो, जैसे—मातृभोग आदि) चतुर्थ्यन्त शब्दों से 'ख' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय भी '११३४–प्राक् क्रीताच्छः' से प्राप्त 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'विश्वजनेभ्यो हितम्' (सबके लिए हितकर)—इस अर्थ में चतुर्थ्यन्त विश्वजन शब्द से 'ख' प्रत्यय हो 'विश्वजनेभ्यः ख' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'विश्वजन ख' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयी–०' से प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्' होकर 'विश्वजन ईन् अ' = 'विश्वजन ईन' रूप बनेगा। यहाँ अन्त्य लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन–नपुंसकलिङ्ग मे 'विश्वजनीनम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मातृ-भोगाय हितः' (मातृभोग–माता के शरीर के लिए हितकर) अर्थ में चतुर्थ्यन्त भोगोत्तरपद मातृभोग से ख-प्रत्यय, सुप् लोप, ईन्-आदेश, अन्त्य-लोप और 'कुमति च' ८.४.१३ से णत्व आदि होकर 'मातृभोगीणः' रूप सिद्ध होगा। 'आत्मने हितम्'

* 'आत्मन्निति नलोपो न कृतः, प्रकृतिपरिमाणज्ञापनार्थम्, तेनोत्तरपदग्रहणे भोग शब्देनैव सम्बध्यते, न तु प्रत्येकम्'—काशिका।

(अपने लिए हितकर)—इस अर्थ में भी पूर्ववत् चतुर्थ्यन्त 'आत्मन्' शब्द से ख-प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'आत्मन् ख' रूप बनेगा। यहां '९१९–नस्तद्धिते' से टि-लोप प्राप्त होता है, किन्तु अग्रिम सूत्र से उसका निषेध हो जाता है—

११३९. आत्माध्वानौ[१] खे[७] । ६ । ४ । १६९

एतौ खे प्रकृत्या स्तः। आत्मने हितम्—आत्मनीनम्। विश्वजनीनम्। मातृभोगीणः।

इति छयतोः पूर्णोऽवधिः।

११३९. आत्माध्वानाविति—सूत्र का शब्दार्थ है (खे) 'ख' प्रत्यय परे होने पर (आत्माध्वानौ) आत्मन् और अध्वन्...। किन्तु होता क्या है—इसके स्पष्टीकरण के लिए 'प्रकृत्यैकाच्' ६.४.१६३ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ख' प्रत्यय परे होने पर आत्मन् और अध्वन् (मार्ग) शब्द प्रकृति से रहते हैं अर्थात् उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए 'आत्मन् ख' में 'ख' प्रत्यय परे होने पर 'आत्मन्' का प्रकृति-भाव हो जाता है। तब '९१९–नस्तद्धिते' से प्राप्त टि-लोप भी नहीं होता। इस अवस्था में पूर्ववत् ईन्-आदेश और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'आत्मनीनम्' रूप सिद्ध होता है।

छयतोरधिकार-प्रकरण समाप्त।

ठञधिकारः

११४०. प्राग्वतेष्ठञ् । ५ । १ । १८

तेन तुल्यमिति वतिं वक्ष्यति, ततः प्राक् ठञधिक्रियते ।

११४०. प्राग्वतेरिति—यह अधिकार-सूत्र है । शब्दार्थ है—(वतेः) वति से (प्राक्) पूर्व (ठञ्) 'ठञ्' प्रत्यय होता है । यहां 'वति' एकदेशीय निर्देश है और इससे 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' ५.१.११५ सूत्र का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' ५.१.११५ सूत्र के पूर्व तक 'ठञ्' प्रत्यय होता है—यह अधिकार समझना चाहिये । तात्पर्य यह कि यहां से लेकर 'तेन तुल्यं-०' ५.१.११५ के पहले तक जिन-जिन अर्थों को कहा गया है, उन-उन अर्थों में 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय होता है ।

विशेष—अर्थ-विधायक सूत्र आगे दिये जा रहे हैं ।

११४१. तेन क्रीतम् । ५ । १ । ३७

सप्तत्या क्रीतम्–साप्ततिकम् । प्रास्थिकम् ।

११४१. तेन क्रीतमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तेन) उससे (क्रीतम्) खरीदा हुआ । वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है । सूत्रस्थ 'तेन' का अभिप्राय यहां तृतीया विभक्ति से है और 'क्रीतम्' भी अर्थ-बोधक है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और 'तेन' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है । विशेषण होने पर उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'क्रीतम्' (खरीदा हुआ) अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं । सामान्यतः '११४०–प्राग्वतेष्ठञ्' से यहां 'ठञ्' प्रत्यय ही होता है । उदाहरण के लिए 'सप्तत्या क्रीतम्' (सप्तति–सत्तर रुपये से खरीदा हुआ)—इस अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक सप्तति से 'ठञ्' प्रत्यय हो 'सप्तत्या ठ' रूप बनता है । यहां सुप्-लोप हो 'सप्तति ठ' रूप बनने पर '१०२४–ठस्येकः' से प्रत्यय के ठ के स्थान पर 'इक' हो 'सप्तति इक' रूप बनेगा । तब अजादि-वृद्धि, अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन–नपुंसकलिङ्ग में 'साप्ततिकम्' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'प्रास्थिकम्' (प्रस्थेन क्रीतम्–प्रस्थ से खरीदा हुआ) रूप भी बनता है ।

११४२. तस्येश्वरः । ५ । १ । ४२

सर्वभूमि-पृथिवीभ्यामणञौ स्तः ।

११४२. तस्येश्वर इति—शब्दार्थ है—(तस्य) उसका (ईश्वरः) स्वामी। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'सर्वभूमिपृथ्वीभ्यामणञौ' ५.१.४१ तथा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'तस्य' केवल षष्ठी विभक्ति का सूचक है। अपने इस वर्तमान अर्थ में वह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाता है। सूत्रस्थ 'ईश्वरः' भी अर्थ-विधायक है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ है—'ईश्वरः' (स्वामी) अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक सर्वभूमि और पृथिवी से 'अण्' और 'अञ' प्रत्यय होते हैं। '२३—यथासंख्यमनुदेशः-०' परिभाषा से सर्वभूमि से 'अण्' (अ) प्रत्यय और पृथिवी से 'अञ्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'पृथिव्या ईश्वरः' (पृथिवी का स्वामी)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक पृथिवी से 'अञ्' प्रत्यय हो 'पृथिव्याः अ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'पृथिवी अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'पार्थिवः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सर्वभूमेरीश्वरः' (सर्व भूमि का स्वामी) अर्थ में भी षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'सर्वभूमि' से 'अण्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'सर्वभूमि अ' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

११४३. अनुशतिकादीनां[६] च । ७ । ३ । २०

एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च तद्धिते । सर्वभूमेरीश्वरः—सार्वभौमः । पार्थिवः ।

११४३. अनुशतिकादीनामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (अनुशतिकादीनाम्) अनुशतिक आदि के...। यहां सूत्रस्थ 'च' से हो ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'मृजेर्वृद्धिः' ७.२.११४ से वृद्धि, 'अचो ञ्णिति' ७.२.११५ से 'ञ्णित', 'तद्धितेष्वचामादेः' ७.२.११७ से 'तद्धितेषु' एवं 'अचामादेः', 'किति च' ७.२.११८ से 'किति', अधिकार-सूत्र 'उत्तरपदस्य' ७.३.१० तथा 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' ७.३.१९ से 'पूर्वपदस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तद्धितेषु' का अन्वय 'ञ्णिति' और 'किति' से तथा 'अचामादेः' का अन्वय 'उत्तरपदस्य' एवं 'पूर्व पदस्य' से होता है। सूत्रस्थ 'अनुशतिकादि' गण है और इसमें 'अनुशतिक', 'सर्वलोक' तथा 'सर्वभूमि' आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ञित् (जिसका ञकार इत् हो), णित् (जिसका णकार इत् हो) और कित् (जिसका ककार इत् हो) तद्धित प्रत्यय परे होने पर अनुशतिकादिगण में पठित शब्दों के पूर्वपद और उत्तरपद के आदि अच् (स्वर-वर्ण) की वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए 'सर्वभूमि अ' में णित् तद्धित प्रत्यय 'अण्' (अ) परे होने के कारण अनुशतिकादिगण में पठित 'सर्वभूमि' के पूर्वपद 'सर्व' के आदि अच्-अकार और उत्तरपद 'भूमि' के

आदि अच्–ऊकार को क्रमशः वृद्धि आकार तथा औकार होकर 'सार्वभौमि अ' रूप बनता है। तब अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'सार्वभौमः' रूप सिद्ध होता है।

११४४. पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्य-शीति-नवति-शतम् । ५ । १ । ५९

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ।

११४४. पङ्क्तिविंशति इति—सूत्र का अर्थ है—(पङ्क्ति – शतम्) पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति और शतम्—ये दस शब्द निपातित होते हैं अर्थात् निपातन द्वारा सिद्ध होते हैं। 'तदस्य परिमाणम्' ५.१.५७ की अनुवृत्ति होने से 'यह इसका परिमाण है'—इस अर्थ में ही उक्त रूप बनते हैं। इन सभी शब्दों की सिद्धि इस प्रकार है—

(१) पङ्क्तिः (छन्द)—'पञ्च परिमाणमस्य' (पांच इसका परिमाण है) इस अर्थ में 'पञ्चन्' शब्द से 'ति' प्रत्यय और टि–'अन्' का लोप हो 'पञ्चति' रूप बनता है। तब '३०६–चोः कुः' से चकार को ककार तथा अनुस्वार-परसवर्ण हो 'पङ्क्ति' = 'पङ्क्ति' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य करने पर प्रथमा के एकवचन में 'पङ्क्तिः' रूप सिद्ध होता है।

(२) विंशतिः (बीस)—'द्वौ दशतौ परिमाणमस्य संघस्य' (दो दशक जिस समूह का परिमाण हो) अर्थ में 'द्विदशत्' शब्द से निपातन द्वारा 'शतिच्' (शति) प्रत्यय तथा 'द्विदशत्' के स्थान पर 'विन्' आदेश हो 'विन् शति' रूप बनता है। तब अनुस्वारादेश हो प्रथमा के एकवचन में 'विंशतिः' रूप सिद्ध होता है।

(३) त्रिंशत् (तीस)—यहां 'त्रयो दशतः परिमाणस्य संघस्य' (तीन दशक जिस संघ का परिमाण हो)—इस अर्थ में 'त्रिदशत्' शब्द से निपातन द्वारा 'शत्' प्रत्यय और प्रकृति—'त्रिदशत्' के स्थान पर 'त्रिन्' हो 'त्रिन् शत्' रूप बनता है। तब नकार को अनुस्वार हो 'त्रिंशत्' रूप सिद्ध होता है।

(४) चत्वारिंशत् (चालीस)—'चत्वारो दशतः परिमाणमस्य संघस्य'—इस अर्थ में 'चतुर्दशन्' शब्द से निपातन द्वारा 'शत्' प्रत्यय और प्रकृति को 'चत्वारिन्' हो 'चत्वारिन् शत्' रूप बनने पर अनुस्वारादेश हो 'चत्वारिंशत्' रूप सिद्ध होता है।

(५) पञ्चाशत् (पचास)—यहां 'पञ्च दशतः परिमाणमस्य संघस्य'—इस अर्थ में निपातन द्वारा पूर्ववत् 'शत्' प्रत्यय और प्रकृति–'पञ्चदशत्' को 'पञ्चा' आदेश हो 'पञ्चाशत्' रूप बनता है।

(६) षष्टिः (साठ)—'षड् दशतः परिमाणमस्य संघस्य'—इस अर्थ में निपातन द्वारा 'ति' प्रत्यय और प्रकृति–'षड्दशत्' को 'षष्' हो 'षष् ति' रूप बनता है। 'षष्' में निपातन द्वारा अपदत्व होने से जश्त्व का निषेध हो जाता है। तब ष्टुत्व हो प्रथमा के एकवचन में 'षष्टिः' रूप बनता है।

(७) सप्ततिः (सत्तर)—यहां निपातन द्वारा 'ति' प्रत्यय और प्रकृति–'सप्त-दशत्' को 'सप्त' हो 'सप्तति' रूप बनने पर प्रथमा के एकवचन में 'सप्ततिः' रूप सिद्ध होता है।

(८) अशीतिः (अस्सी)—निपातन द्वारा 'ति' प्रत्यय और प्रकृति–'अष्ट-दशत्' को 'अशी' हो 'अशीति' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'अशीतिः' रूप सिद्ध होता है।

(९) नवतिः—यहां निपातन द्वारा 'ति' प्रत्यय और प्रकृति–'नवदशत्' को 'नव' आदेश हो 'नवति' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'नवतिः' रूप सिद्ध होता है।

(१०) शतम् (सौ)—यहां 'दश दशतः परिमाणमस्य संघस्य' (दस दशक जिस संघ का परिमाण है)—इस अर्थ में निपातन द्वारा 'त' प्रत्यय और प्रकृति–'दश-दशत्' को 'श' आदेश हो 'शत' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एक-वचन में 'शतम्' रूप सिद्ध होता है।

११४५. तदर्हति* । ५ । १ । ६३

लब्धुं योग्यो भवति–इत्यर्थे द्वितीयान्तात् ठञ् आदयः स्युः। श्वेतच्छत्र-मर्हति–श्वैतच्छत्रिकः।

११४५. तदर्हतीति—शब्दार्थ है—(तत्) उसको (अर्हति) प्राप्त करने योग्य होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में यहां 'तद्' का अभिप्राय केवल द्वितीया विभक्ति से है और 'अर्हति' भी अर्थ-बोधक है। 'ङ्याप्-प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है। 'तद्' अपने वर्तमान अर्थ में 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अर्हति' (प्राप्त करने योग्य होता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं। सामान्य रूप से '११४०–प्राग्वतेष्ठञ्' से 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय ही होता है। उदाहरण के लिए 'श्वेत-च्छत्रमर्हति' (श्वेतच्छत्र प्राप्त करने योग्य होता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त 'श्वेत-च्छत्रम्' से 'ठञ्' प्रत्यय हो 'श्वेतच्छत्रम् ठ' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'श्वेतच्छत्र ठ' रूप बनने पर इक-आदेश, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'श्वैतच्छत्रिकः' रूप सिद्ध होता है।

* यह क्रिया-पद है।

११४६. दण्डादिभ्यो यत् । ५ । १ । ६६

एभ्यो यत् स्यात् । दण्डमर्हति–दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।

११४६. दण्डादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(दण्डादिभ्यः) दण्ड आदि से (यत्) यत् प्रत्यय होता है । किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए अनुवृत्तिसहित पूर्वसूत्र '११४५–तदर्हति' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'दण्डादि' गण है और इसमें दण्ड, अर्घ और वध आदि का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अर्हति' (प्राप्त करने योग्य होता है) अर्थ में दण्डादि-गण में पठित द्वितीयान्त प्रातिपदिक दण्ड आदि से 'यत्' (य) प्रत्यय होता है । यह 'यत्' प्रत्यय पूर्वसूत्र (११४५) से प्राप्त 'ठञ्' प्रत्यय का बाधक है । उदाहरण के लिए 'दण्डमर्हति' (दण्ड प्राप्त करने योग्य होता है)—इस अर्थ में द्वितीयान्त प्रातिपदिक दण्ड से 'यत्' प्रत्यय हो 'दण्डम् य' रूप बनता है । तत्र सुप्-लोप हो दण्ड य' रूप बनने पर अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'दण्ड्यः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'अर्घ्यः' (अर्घमर्हति–मूल्य या पूजा.विधि प्राप्त करने योग्य होता है) और 'वध्यः' (वधमर्हति–वध प्राप्त करने योग्य होता है) रूप भी बनते हैं ।

११४७. तेन निर्वृत्तम् । ५ । १ । ७९

अह्ना निर्वृत्तम्–आह्निकम् ।

इति ठञोऽवधिः ।

११४७. तेन निर्वृत्तमिति—शब्दार्थ है—(तेन) उससे (निर्वृत्तम्) सिद्ध हुआ । वास्तव में यह अर्थ-निर्देश है । 'तेन' का अभिप्राय यहां तृतीया विभक्ति से है और 'निर्वृत्तम्' भी अर्थ-बोधक है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है । 'तेन' अपने वर्तमान अर्थ में 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण बनता है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । 'कालात्' ५.१.७८ तथा '११४०–प्राग्वतेष्ठञ्' का यहां अधिकार प्राप्त होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'निर्वृत्तम्' (सिद्ध हुआ) अर्थ में तृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक से 'ठञ्' (ठ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'अह्ना निर्वृत्तम्' (एक दिन में सिद्ध हुआ या किया गया)—इस अर्थ में तृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक 'अहन्' से 'ठञ्' प्रत्यय हो 'अह्ना ठ' रूप बनता है । तत्र सुप्-लोप हो 'अहन् ठ' रूप बनने पर इक-आदेश हो 'अहन् इक' रूप बनेगा । यहां '२४७–अल्लोपोऽनः' से 'अन्' के अकार का लोप तथा अजादि-वृद्धि आदि हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'आह्निकम्' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहां '९१९–नस्तद्धिते' से प्राप्त टि-लोप 'अह्नष्टखोरेव' ६.४.१४५ से ट और ख प्रत्यय में ही नियमित होने के कारण नहीं होता ।

ठञधिकार-प्रकरण समाप्त ।

भावकर्मार्थाः

११४८. तेन[3] तुल्यं[1] क्रिया[1] चेद्वतिः[1] । ५ । १ । ११५

ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवद् अधीते । क्रिया चेदिति किम्—गुणतुल्ये मा भूत्, पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

११४८. तेन तुल्यमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तेन) उससे (वतिः) 'वति' प्रत्यय होता है (चेत्) यदि (तुल्यम्) तुल्य (क्रिया) क्रिया हो । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में यहां 'तेन' का अभिप्राय तृतीया विभक्ति से है और 'तुल्यं क्रिया चेत्' है अर्थ-निर्देश । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और 'तेन' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है । विशेषण होने पर उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'तुल्यं क्रिया चेत्' (तुल्य क्रिया हो यदि)—इस अर्थ में तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'वति' प्रत्यय होता है । 'वति' का इकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'वत्' ही शेष रह जाता है ।* उदाहरण के लिए 'ब्राह्मणेन तुल्यं क्रिया चेत्' (ब्राह्मण के तुल्य क्रिया हो यदि)—इस अर्थ में तृतीयान्त 'ब्राह्मणेन' से 'वति' (वत्) प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'ब्राह्मणवत्' रूप सिद्ध होता है ।

सूत्र का भावार्थ इस रूप में भी प्रकट किया जा सकता है—यदि किसी के तुल्य क्रिया करने का अर्थ हो तो तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'वति' (वत्) प्रत्यय होता है । यहां 'क्रिया' शब्द के स्थान पर किसी क्रिया-वाचक पद का प्रयोग हो सकता है । उदाहरण के लिए 'ब्राह्मणेन तुल्यमधीते' (ब्राह्मण के तुल्य पढ़ता है)—यहां ब्राह्मण के तुल्य 'पढ़ता है' क्रिया करने के अर्थ में पूर्ववत् 'वत्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'ब्राह्मणवत्' रूप सिद्ध होता है ।†

सूत्र के विषय में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि क्रिया या क्रिया-वाचक पद के अभाव में 'वति' प्रत्यय नहीं होता । उदाहरण के लिए 'पुत्रेण तुल्यः स्थूलः' (पुत्र के तुल्य स्थूल)—इस अर्थ में क्रिया का अभाव होने के कारण 'वति' प्रत्यय नहीं होता । तात्पर्य यह कि सूत्र के प्रवृत्त होने के लिए केवल 'तुल्य' ही पर्याप्त नहीं है, तुल्य को क्रियान्वित भी होना चाहिये ।

---

* वति प्रत्ययान्त शब्द अव्यय तथा क्रिया-विशेषण होता है ।

† यद्यपि 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में यह द्वितीय उदाहरण ही दिया गया है, किन्तु मेरी समझ से प्रथम अर्थ और उदाहरण अधिक समीचीन है । देखिये देवप्रकाश पातञ्जल कृत 'अष्टाध्यायी-प्रकाशिका' ।

११४९. तत्र तस्येव । ५ । १ । ११६

मथुरायामिव–मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवन्मैत्रस्य गावः ।

११४९. तत्र तस्येति—शब्दार्थ है—(तत्र) वहां (तस्य) उसके (इव) समान । यहां भी सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में सूत्रस्थ 'तत्र' सप्तमी विभक्ति और 'तस्य' षष्ठी विभक्ति का बोधक है । 'इव' अर्थ-निर्देश है । पूर्वसूत्र '११४८–तेन तुल्यं–०' से 'वतिः' की अनुवृत्ति होती है । इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'इव' (समान) अर्थ में सप्तम्यन्त और षष्ठयन्त प्रातिपदिक से 'वति' (वत्) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'मथुरायामिव' (मथुरा के समान) —इस अर्थ में सप्तम्यन्त 'मथुरायाम्' से 'वति' प्रत्यय तथा सुप्-लोप हो 'मथुरावत्' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'चैत्रस्येव' (चैत्र के समान) अर्थ में षष्ठयन्त प्रातिपदिक चैत्र से 'चैत्रवत्' रूप बनता है ।

११५०. तस्य भावस्त्वतलौ । ५ । १ । ११९

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः । गोर्भावो–गोत्वम्, गोता । 'त्वान्तं क्लीबम्' । 'तलन्तं स्त्रियाम्' ।

११५०. तस्य भाव इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तस्य) उसका (भावः) भाव (त्व-तलौ) त्व और तल् प्रत्यय होते हैं । वास्तव में यहां भी 'तस्य' का अभिप्राय षष्ठी विभक्ति से है और 'भावः' अर्थ-निर्देश है । इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'भावः' (भाव) अर्थ में षष्ठयन्त प्रातिपदिक से 'त्व'* और 'तल्' (त)† प्रत्यय होते हैं । दो प्रत्यय होने के कारण दो रूप भी बनते हैं । उदाहरण के लिए 'गोर्भावः' (गो का भाव)—इस अर्थ में षष्ठयन्त प्रातिपदिक 'गो' से 'त्व' प्रत्यय हो 'गोः त्व' रूप बनता है । तब सुप्-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'गोत्वम्' रूप सिद्ध होता है । इसी भांति पूर्वोक्त अर्थ में 'तल्' प्रत्यय हो 'गोत' रूप बनने पर स्त्री-लिङ्ग की विवक्षा में '१२४५–अजाद्यतष्टाप्' से 'टाप्' (आ) प्रत्यय और अन्त्य-लोप आदि होकर 'गोता' रूप सिद्ध होगा ।

११५१. आ च त्वात्‡ । ५ । १ । १२०

'ब्रह्मणस्त्व' इत्यतः प्राक् त्वतलावधिक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थ-

---

* 'त्व'-प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

† 'तल्'-प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

‡ यहां 'आङ्' का योग होने के कारण पञ्चमी विभक्ति हुई है—'पञ्चम्यपाङ्-परिभिः' २.३.१० ।

मिदम्। चकारो नञ्-स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः। स्त्रियाः भावः—स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता।

११५१. आ चेति—शब्दार्थ है—(च) और (आ त्वात्) त्व तक··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '११५०–तस्य भावः–०' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'त्व' भी एकदेशीय निर्देश है और इससे 'ब्रह्मणस्त्वः' ५.१.१३६ सूत्र का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ब्रह्मणस्त्वः' ५.१.१३६ तक भी षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'त्व' और 'तल्' (त) प्रत्यय होते हैं।

'११५२–पृथ्वादिभ्यः–०' आदि से प्राप्त इमनिच् आदि अपवाद प्रत्ययों के साथ समावेश के लिए यह अधिकार-सूत्र है।* यद्यपि अग्रिम सूत्रों में त्व-तल् की अनुवृत्ति से भी यह कार्य किया जा सकता है, परन्तु इमनिच् आदि प्रत्यय इनके बाधक हैं। उनके द्वारा इनका बाध हो जावेगा। अधिकार होने से इनका उनके साथ समावेश हो जाता है और 'पृथु' शब्द से इमनिच्-प्रत्ययान्त 'प्रथिमा' रूप के साथ 'पृथुता' और 'पृथुत्वम्'—ये तलन्त और त्वान्त रूप भी बनते हैं।

सूत्रस्थ 'च' अन्य अधिकार-सूत्र '१०००–स्त्रीपुंसाभ्याम्–०' से प्राप्त 'नञ्' और 'स्नञ्' के समावेश के लिए है। इसलिए 'स्त्री' शब्द से भाव अर्थ में 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययान्त 'स्त्रीत्वम्' और 'स्त्रीता' रूपों के साथ ही नञ्-प्रत्ययान्त 'स्त्रैणम्' रूप भी बनता है। 'पुंस्' शब्द से भी इसी प्रकार 'पुंस्त्वम्' और 'पुंस्ता'—इन त्वान्त और तलन्त रूपों के साथ-साथ स्नञ्-प्रत्ययान्त 'पौंस्नम्' रूप बनता है।

११५२. पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा। ५। १। १२२

वा-वचनमणादिसमावेशार्थम्।

११५२. पृथ्वादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पृथ्वादिभ्यः) 'पृथु' आदि से (वा) विकल्प से (इमनिच्) 'इमनिच्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ और किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए '११५०–तस्य भावः–०' से 'तस्य' और 'भावः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'पृथ्वादि' गण है और उसमें 'पृथु' 'मृदु' आदि शब्दों का समावेश होता है। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'भाव' अर्थ में पृथ्वादिगण में पठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'पृथु' आदि से विकल्प से 'इमनिच्' (इमन्) प्रत्यय होता है। विकल्प से कहने से पक्ष में 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' ५.१.१३१ आदि से यथाप्राप्त 'अण्' आदि प्रत्यय भी होते हैं।† उदाहरण के लिए 'पृथोर्भावः' (पृथु का भाव)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक

* 'अपवादैः सह समावेशार्थं वचनम्'—काशिका।

† 'वावचनमणादेः समावेशार्थम्'—काशिका।

पृथु से 'इमनिच्' प्रत्यय हो 'पृथोः इमन्' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'पृथु इमन्' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

११५३. र[1] ऋतो[1] हलादेर्लघोः[6] । ६ । ४ । १६१

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात् इष्ठेमेयस्सु परतः।

(वा०) पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानामेव रत्वम्।*

११५३. र ऋत इति—शब्दार्थ है—(हलादेर्लघोः) हलादि लघु (ऋतः) ऋकार के स्थान पर (रः) 'र' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'तुरिष्ठेमेयस्सु' ६.४.१५४ से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर हलादि (जिसके आदि में हल् या व्यंजन हो) लघु ऋकार के स्थान पर 'र' आदेश होता है। प्रकृत वार्तिक 'पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानामेव रत्वम्' से पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ—इन छः शब्दों के ही हलादि लघु ऋकार को 'र' होता है; इन शब्दों से भिन्न शब्दों में रकार-आदेश नहीं होता। उदाहरण के लिए 'पृथु इमन्' में इमनिच् (इमन्) प्रत्यय परे होने के कारण 'पृथु' के हलादि लघु ऋकार को 'र' हो 'प् र थु इमन्' = 'प्रथु इमन्' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

११५४. टेः[6] । ६ । ४ । १५५

भस्य टेर्लोप इष्ठमेयस्सु। पृथोर्भावः—प्रथिमा, पार्थवम्। म्रदिमा, मार्दवम्।

११५४. टेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(टेः) टि का···। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'ढे लोपोऽकद्र्वाः' ६.४.१४७ से 'लोपः', 'तुरिष्ठेमेयस्सु' ६.४.१५४ से 'इष्ठेमेयस्सु' तथा अधिकार-सूत्र 'भस्य' ६.४.१२९ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भस्य' का अन्वय सूत्रस्थ टेः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर भ-संज्ञक टि का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'प्रथु इमन्' में इमनिच् (इमन्) प्रत्यय परे होने के कारण भ-संज्ञक अङ्ग 'प्रथु' की टि–उकार का लोप हो 'प्रथ् इमन्'='प्रथिमन' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'प्रथिमा' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह 'इमनिच्' प्रत्यय विकल्प से होता है, अतः पक्ष में 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' ५.१.१३१ से अण् प्रत्यय, अजादि-

---

* यद्यपि 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' की कुछ प्रतियों में यह वार्तिक अग्रिम सूत्र के साथ दिया हुआ है, किन्तु प्रसंग को देखते हुए उसे यहीं पर देना समीचीन होगा।

वृद्धि, गुण और अव्-आदेश आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'पार्थवम्' रूप बनता है। इसी प्रकार 'मृदोर्भावः' (मृदु का भाव)—इस अर्थ में 'म्रदिमा' और 'मार्दवम्' रूप सिद्ध होंगे।

११५५. वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । ५ । १ । १२३

चाद् इमनिच्। शौक्ल्यम्, शुक्लिमा। दार्ढ्यम्, द्रढिमा।

११५५. वर्णदृढादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(च) और (वर्णदृढादिभ्यः) वर्ण-वाचक और दृढ आदि से (ष्यञ्) 'ष्यञ्' प्रत्यय होता है। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '११५०–तस्य भावः–०' से 'तस्य' और 'भावः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में 'च' (भी) कहने से पूर्वोक्त '११५२–पृथ्वादिभ्यः–०' से 'इमनिच्' का ग्रहण होता है। सूत्रस्थ 'दृढादि' गण है और उसमें 'दृढ', 'वृढ' और 'परिवृढ' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—वर्णवाचक (किसी खास रंग को बताने वाला) और दृढादिगण में पठित 'दृढ' आदि षष्ठ्यन्त पदों से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' (य) प्रत्यय होता है और 'इमनिच्' (इमन्) भी। उदाहरण के लिए 'शुक्लस्य भावः' (शुक्ल का भाव)—इस अर्थ में वर्ण-वाचक षष्ठ्यन्त 'शुक्ल' से 'ष्यञ्' प्रत्यय हो 'शुक्लस्य य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'शुक्ल य' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'शौक्ल्यम्' रूप सिद्ध होता है। 'ष्यञ्' के अभाव-पक्ष में 'इमनिच्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'शुक्लिमा' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'दृढस्य भावः' (दृढ का भाव) अर्थ में भी दृढादिगण में पठित षष्ठ्यन्त 'दृढ' शब्द से 'ष्यञ्' प्रत्यय हो 'दार्ढ्यम्' और 'इमनिच्' प्रत्यय हो 'द्रढिमा'—ये दो रूप बनते हैं।

११५६. गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । ५ । १ । १२४

चाद्भावे। जडस्य भावः कर्म वा–जाड्यम्। मूढस्य भावः कर्म वा–मौढ्यम्। ब्राह्मण्यम्। आकृतिगणोऽयम्।

११५६. गुणवचनेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कर्मणि) कर्म अर्थ में (च) भी (गुणब्राह्मणादिभ्यः) गुणवाचक और ब्राह्मण आदि से…। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '११५५–वर्णदृढादिभ्यः–०' से 'ष्यञ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्र में 'च' कहने से '११५०–तस्य भावः–०' से 'तस्य भावः' की भी अनुवृत्ति होती है। 'ब्राह्मणादि' गण है और उसमें 'ब्राह्मण', 'वाडव' और 'माणव' आदि शब्दों का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठ्यन्त गुणवाचक और ब्राह्मणादिगण में पठित 'ब्राह्मण' आदि शब्दों से कर्म (कार्य, क्रिया) तथा भाव अर्थ में 'ष्यञ्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'जडस्य कर्म

भावो वा' (जड़-मूर्ख का कार्य या भाव)—इस अर्थ में पष्ठ्यन्त गुणवाचक प्रातिपदिक 'जड' से 'ष्यञ्' प्रत्यय हो 'जडस्य य' रूप बनता है। तब पूर्ववत् सुप्-लोप, अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'जाड्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मूढस्य कर्म भावो वा' (मूढ का कार्य या भाव) अर्थ में पष्ठ्यन्त गुणवाचक 'मूढ' से 'मौढ्यम्' तथा 'ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा' (ब्राह्मण का कार्य या भाव) अर्थ में ब्राह्मणादिगण में पठित पष्ठ्यन्त 'ब्राह्मण' से 'ब्राह्मण्यम्' रूप बनते हैं।

११५७. सख्युर्यः । ५ । १ । १२६

सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम्।

११५७. सख्युरिति—शब्दार्थ है—(सख्युः) सखि से (यः) य प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ और किस परिस्थिति में होता है—यह जानने के लिए '११५०–तस्य भावः–०' से 'तस्य भावः' तथा '११५६–गुणवचन–०' से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'तस्य' का अभिप्राय यहां षष्ठी विभक्ति से है और अपने इस अर्थ में वह सूत्रस्थ 'सख्युः' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'सखि' से भाव और कर्म अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'सख्युः कर्म भावो वा' (सखि का कार्य या भाव)—इस अर्थ में पष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'सखि' से 'य' प्रत्यय हो 'सखि य' रूप बनता है। तब अन्त्य-लोप और विभक्ति कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'सख्यम्' रूप सिद्ध होता है।

११५८. *कपिज्ञात्योर्ढक् । ५ । १ । १२७

कापेयम्। ज्ञातेयम्।

११५८. कपिज्ञात्योरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कपिज्ञात्योः) कपि और ज्ञाति से (ढक्) ढक् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्ववत् '११५०–तस्य भावः–०' से 'तस्य भावः' तथा '११५६–गुणवचन–०' से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पष्ठ्यन्त प्रातिपदिक कपि और ज्ञाति से भाव और कर्म अर्थ में 'ढक्' (ढ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिये 'कपेः कर्म भावो वा' (कपि का कार्य या भाव)—इस अर्थ में पष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'कपि' से 'ढक्' प्रत्यय हो 'कपेः ढ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'कपि ढ' रूप बनने पर '१०१०–आयनेयी–०' से प्रत्यय के ढकार के स्थान पर 'एय्' होकर 'कपि एय् अ' = 'कपि

* यहां षष्ठी विभक्ति पञ्चम्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

एय' रूप बनेगा। तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'कापेयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ज्ञातेः कर्म भावो वा' (ज्ञाति-बन्धु का कार्य या भाव) अर्थ में षष्ठयन्त प्रातिपदिक 'ज्ञाति' से 'ज्ञातेयम्' रूप बनता है।

११५९. पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । ५ । १ । १२८

सैनापत्यम्। पौरोहित्यम्।

इति भावकर्मार्थाः।

११५९. पत्यन्तेति—शब्दार्थ है—(पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः) पत्यन्त और पुरोहित आदि से (यक्) 'यक्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में और किस परिस्थिति में होता है—इसका पता लगाने के लिए '११५०–तस्य भावः–०' से 'तस्य भावः' तथा '११५६–गुणवचन–०' से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'पुरोहितादि' गण है और इसमें 'पुरोहित', 'पथिक' और 'धर्मिक' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—षष्ठयन्त पत्यन्त (जिसके अन्त में 'पति' हो) और पुरोहितादिगण में पठित 'पुरोहित' आदि शब्दों से भाव और कर्म अर्थ में 'यक्' (य) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'सेनापतेः कर्म भावो वा' (सेनापति का कार्य या भाव)—इस अर्थ में षष्ठयन्त पत्यन्त 'सेनापति' से 'यक्' प्रत्यय हो 'सेनापतेः य' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'सेनापति य' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'सैनापत्यम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पुरोहितस्य कर्म भावो वा' (पुरोहित का कार्य या भाव) अर्थ में पुरोहितादि गण में पठित षष्ठयन्त 'पुरोहित' से 'पौरोहित्यम्' रूप बनता है।

भावकर्माद्यर्थ-प्रकरण समाप्त।
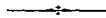
भवनाद्यर्थकाः

११६०. धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् । ५ । २ । १

भवत्यस्मिन्निति भवनम् । मुद्गानां भवनं क्षेत्रं मौद्गीनम् ।

११६०. धान्यानामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(धान्यानाम्) धान्यों का (भवने क्षेत्रे) भवन क्षेत्र अर्थ में (खञ्) खञ् प्रत्यय होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में सूत्रस्थ 'धान्यानाम्' अपने अर्थ के साथ ही षष्ठी विभक्ति का भी वाचक है ।* 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और 'धान्यानाम्' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है । विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'भवनं क्षेत्रम्' (भवन क्षेत्र) अर्थ में धान्यवाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'खञ्' (ख) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्' (मुद्गों—मूंग का भवन-खेत)—इस अर्थ में धान्य-विशेष-वाचक षष्ठ्यन्त मुद्ग' से 'खञ्' प्रत्यय हो 'मुद्गानाम् ख' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'मुद्ग ख' रूप बनने पर '१०१०-आयनेयी—०' से प्रत्यय के खकार के स्थान पर 'ईन्' होकर 'मुद्ग ईन् अ' = 'मुद्ग ईन' रूप बनेगा । यहां अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'मौद्गीनम्' रूप सिद्ध होता है ।

११६१. व्रीहिशाल्योर्ढक् । ५ । २ । २

व्रैहेयम् । शालेयम् ।

११६१. व्रीहिशाल्योरिति—शब्दार्थ है—(व्रीहिशाल्योः) व्रीहि और शालि से (ढक्) 'ढक्' प्रत्यय होता है । किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति में और किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '११६०-धान्यानाम्-०' से 'धान्यानाम्' और 'भवने क्षेत्रे' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'भवनं क्षेत्रम्' (भवन क्षेत्र) अर्थ में धान्यवाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक व्रीहि और शालि से 'ढक्' (ढ) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'व्रीहीणां भवनं क्षेत्रम्' (व्रीहि का भवन—खेत)—इस अर्थ में धान्यविशेष-वाची षष्ठ्यन्त 'व्रीहि' से 'ढक्' प्रत्यय हो 'व्रीहीणाम् ढ' रूप बनता है । यहां सुप्-लोप हो 'व्रीहि ढ' रूप बनने पर

---

* 'धान्यानामिति भवनापेक्षया कर्तरि षष्ठी । सा च निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । बहुवचनं तु स्वरूपविधिनिरासार्थम्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

'१०१०–आयनेयी–०' से प्रत्यय के ढकार के स्थान पर 'एय्' होकर 'व्रीहि एय् अ' = 'व्रीहि एय' रूप बनेगा। तब अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर 'व्रैहेयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'शालीनां भवनं क्षेत्रम्' (शालियों का भवन–खेत) अर्थ में षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'शालि' से 'शालेयम्' रूप बनता है।

११६२. हैयङ्गवीनं[२] संज्ञायाम्[७] । ५ । २ । २३

ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशः, विकारेऽर्थे खञ् च निपात्यते। दुह्यत इति दोहः–क्षीरम्। ह्योगोदोहस्य विकारः–हैयङ्गवीनम्, नवनीतम्।

११६२. हैयङ्गवीनमिति—सूत्र का अर्थ है—(संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में (हैयङ्गवीनम्) हैयङ्गवीन शब्द निपातित होता है। अर्थात् निपातन* द्वारा सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए 'ह्योगोदोहस्य विकारः' (ह्योगोदोहका विकार)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'ह्योगोदोह' (एक दिन पहले का दुहा हुआ दूध) शब्द से निपातन द्वारा 'खञ्' प्रत्यय और प्रकृति–'ह्योगोदोह' को 'हियङ्गु' आदेश हो 'हियङ्गु ख' रूप बनता है।† यहां '१०१०–आयनेयीनीयियः–०' से प्रत्यय के खकार को 'ईन्' आदेश हो 'हियङ्गु ईन् अ' = 'हियङ्गु ईन' रूप बनने पर '१००२–ओर्गुणः' से उकार को गुण–ओकार हो 'हियङ्ग् ओ ईन' रूप बनेगा। तब '२२–एचोऽयवायावः' से ओकार के स्थान पर 'अव्' आदेश हो 'हियङ्ग् अव् ईन' रूप बनने पर '९३८–तद्धितेषु–०' से आदि अच्–इकार को वृद्धि–ऐकार होकर 'ह् ऐ यङ्ग् अव् ईन' = 'हैयङ्गवीन' रूप बनता है। इस स्थिति में विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'हैयङ्गवीनम्' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—घृत या मक्खन।‡

११६३. तदस्य[६] सञ्जातं[१] तारकादिभ्य[५] इतच्[१] । ५ । २ । ३६

तारकाः सञ्जाता अस्य तारकितम्–नभः। पण्डितः। आकृतिगणोऽयम्।

११६३. तदस्येति—शब्दार्थ है—(अस्य) इसका (सञ्जातम्) सञ्जात (तद्) वह (तारकादिभ्यः) तारका आदि से (इतच्) इतच् प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में सूत्रस्थ 'तद्' का अभिप्राय यहां प्रथमा विभक्ति से है और इस अर्थ में वह सूत्रस्थ 'तारकादिभ्यः' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'अस्य सञ्जातम्' अर्थ-निर्देश है।

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ३०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी देखिये।

† 'ह्योगोदोहस्य हियङ्गुरादेशः विकारार्थे खञ् च निपात्यते'—सिद्धान्तकौमुदी।

‡ "यद्यपि वृत्तौ घृतमित्युक्तं तथैव चामरेणापि—'तत्तु हैयङ्गवीनं, यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्युक्तम्, तथापि घृतशब्देन नवनीतमेव विवक्षितमिति हरदत्तग्रन्थानुरोधेनेदमुक्तम्"—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

'तारकादि' आकृति-गण है और इसमें 'तारका', 'पुष्प' और 'पण्डा' आदि शब्दों का समावेश होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तारकादिगण में पठित प्रथमान्त 'तारका' आदि से 'अस्य सञ्जातम्' (इसके हो गये हैं)—इस अर्थ में 'इतच्' (इत) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'तारकाः सञ्जाता अस्य' (तारे इसके हो गये हैं)—इस अर्थ में प्रथमान्त तारकाः से 'इतच्' प्रत्यय हो 'तारकाः इत' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'तारका इत' रूप बनने पर अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'तारकितम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'पण्डा सञ्जाता अस्य' (पण्डा-सदसद्-विवेकिनी बुद्धि-इसकी हो गई है)—इस अर्थ में 'पण्डितः' रूप बनता है।

११६४. प्रमाणे[७] द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः[१] । ५ । २ । ३७

तदस्येत्यनुवर्तते। ऊरू प्रमाणमस्य—ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्रम्।

११६४. प्रमाणे इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रमाणे) प्रमाण अर्थ में (द्वयसज्—मात्रचः) द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं। किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '११६३-तदस्य-०' से 'तद्' और 'अस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'प्रमाणे' से होता है। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'अस्य प्रमाणम्' (इसका प्रमाण है) अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से द्वयसच् (द्वयस), दघ्नच् (दघ्न) और मात्रच् (मात्र) —ये तीन प्रत्यय होते हैं। एक ही अर्थ में तीन प्रत्यय होने से प्रत्येक शब्द के तीन रूप बनते हैं। उदाहरण के लिए 'ऊरुः प्रमाणमस्य' (ऊरु इसका प्रमाण है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'ऊरु' से द्वयसच् प्रत्यय हो 'ऊरुः द्वयस' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'ऊरुद्वयस' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'ऊरुद्वयसम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'दघ्नच्' प्रत्यय हो 'ऊरुदघ्नम्' और 'मात्रच्' प्रत्यय हो 'ऊरुमात्रम्' रूप बनते हैं।

विशेष—'मात्रच्' प्रत्यय प्रमाण अर्थ में और 'द्वयसच्' तथा 'दघ्नच्' प्रत्यय ऊर्ध्वमान अर्थ में होते हैं।† दोनों का अन्तर इस प्रकार है—

(१) प्रमाण—आयाम (लम्बाई-चौड़ाई) या लकड़ी आदि से नदी अथवा तालाब आदि में जलादि की थाह लेकर जो नाप ली जाती है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

(२) ऊर्ध्वमान—ऊँचाई से ली जाने वाली नाप को 'ऊर्ध्वमान' कहते हैं।

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

† "प्रमाणमिह परिच्छेदमात्रम्। तत्र मात्रच्। द्वयसज्दघ्नचौ तूर्ध्वमान एव मतः"—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

११६५. यत्तदेतेभ्यः[5] परिमाणे[7] वतुप्[1] । ५ । २ । ३९

यत् परिमाणमस्य—यावान् । तावान् । एतावान् ।

११६५. यत्तदिति—शब्दार्थ है—(परिमाणे) परिमाण अर्थ में (यत्तदेतेभ्यः) यद्, तद् , और एतद् से (वतुप्) वतुप् प्रत्यय होता है। इसके स्पष्टीकरण के लिए भी पूर्ववत् '११६३–तदस्य–०' से 'तद्' और 'अस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अस्य' का अन्वय सूत्रस्थ 'परिमाणे' से होता है और 'तद्' 'यत्तदेतेभ्यः' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अस्य परिमाणम्' (इसका परिमाण* है) अर्थ में प्रथमान्त यद् , तद् और एतद् से 'वतुप्' (वत्) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'यत् परिमाणमस्य' (जो इसका परिमाण है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'यत्' से 'वतुप्' प्रत्यय हो 'यत् वत्' रूप बनता है। तब '३४८–आ सर्वनाम्नः' से 'यत्' को आकार अन्तादेश हो 'य आ वत्' रूप बनने पर सवर्ण-दीर्घ होकर 'यावत्' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'यावान्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'तद्' से 'तावान्' (उतना) और 'एतद्' से 'एतावान्' (इतना) रूप बनते हैं।

११६६. किमिदंभ्यां[5] वो[6] घः[1] । ५ । २ । ४०

आभ्यां वतुप् , वकारस्य घश्च ।

११६६. किमिदंभ्यामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(किमिदंभ्याम्) किम् और इदम् के पश्चात् (वः) वकार के स्थान पर (घः) घकार आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११६३–तदस्य–०' से 'तद्' और 'अस्य' तथा '११६५–यत्तदेतेभ्यः–०' से 'परिमाणे' और 'वतुप्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'अस्य परिमाणम्' (इसका परिमाण है) अर्थ में प्रथमान्त 'किम्' और 'इदम्' से 'वतुप्' (वत्) प्रत्यय होता है तथा 'वतुप्' के वकार के स्थान पर घकार आदेश होता है। उदाहरण के लिए 'इदं परिमाणमस्य' (यह इसका परिमाण है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'इदम्' से 'वतुप्' प्रत्यय हो 'इदम् वत्' रूप बनने पर वकार के स्थान पर घकार होकर 'इदम् घ् अत्'='इदम् घत्' रूप बनता है। तब '१०१०–आयनेयी–०' से प्रत्यय के घकार के स्थान पर 'इय्' आदेश हो 'इदम् इय् अत्'='इदम् इयत्' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

११६७. [6]इदंकिमोरीश्-की[1] । ६ । ३ । ९०

दृग्दृशवतुपु इदम ईश् , किमः की स्यात् । इयान् । कियान् ।

* जो सभी तरह से (पात्रादि में भर-भर कर अथवा सेर-पंसेरी आदि से) तौल कर नापा जावे, उसे 'परिमाण' कहते हैं।

११६७. इदंकिमोरिति—शब्दार्थ है—(इदंकिमोः) इदम् और किम् के स्थान पर (ईश्-की) ईश् और की आदेश होते हैं। किन्तु ये आदेश किस स्थिति में होते हैं—यह जानने के लिए 'दृग्दृशवतुषु' ६.३.८९ की अनुवृत्ति करनी होगी। '२३-यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' परिभाषा से ये आदेश यथाक्रम होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—दृग्, दृश्, और वतु (वतुप्) परे होने पर 'इदम्' के स्थान पर 'ईश्' और 'किम्' के स्थान पर 'की' आदेश होता है। '४५-अनेकाल् शित्सर्वस्य' परिभाषा से ये आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होते हैं। उदाहरण के लिए 'इदम् इयत्' में वतुप् (इयत्) प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'इदम्' के स्थान पर 'ईश्' (ई) सर्वादेश हो 'ई इयत्' रूप बनता है। तब '२३६-यस्येति च' से प्रकृति-ईकार का लोप हो 'इयत्' रूप शेष रहने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'इयान्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'किम्' से भी वतुप्-प्रत्यय, वकार के स्थान पर घकार और 'किम्' के स्थान पर 'की' आदि होकर 'कियान्' (कितना) रूप बनता है।

११६८. संख्याया अवयवे तयप् । ५ । २ । ४२

पञ्च अवयवा अस्य—पञ्चतयम्।

११६८. संख्याया इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अवयवे) अवयव अर्थ में (संख्यायाः) संख्या-वाचक शब्द से (तयप्) तयप् प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११६३-तदस्य-०' से 'तद्' और 'अस्य' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अस्य' का अन्वय 'अवयवे' से होता है और 'तद्' सूत्रस्थ 'संख्यायाः' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अस्य अवयवाः' (इसके अवयव हैं) अर्थ में प्रथमान्त संख्यावाचक (किसी विशेष संख्या को बताने वाला) शब्द से 'तयप्' (तय) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'पञ्च अवयवा अस्य' (इसके पांच अवयव हैं)—इस अर्थ में संख्यावाचक प्रथमान्त 'पञ्च' से 'तयप्' प्रत्यय हो 'पञ्च तय' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'पञ्चन् तय' रूप बनने पर '१८०-नलोपः-०' से नकार का लोप होकर 'पञ्चतय' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'पञ्चतयम्' रूप सिद्ध होता है।

११६९. द्वित्रिभ्यां तयस्याऽयज्वा । ५ । २ । ४३

द्वयम्, द्वितयम्। त्रयम्, त्रितयम्।

११६९. द्वित्रिभ्यामिति—शब्दार्थ है—(द्वित्रिभ्याम्) द्वि और त्रि से पर (तयस्य) तयप् के स्थान पर (वा) विकल्प से (अयच्) अयच् आदेश होता है। यहां ध्यान रहे कि पूर्वसूत्र (११६८) से 'अस्य अवयवाः' (इसके अवयव हैं)

अर्थ में सामान्य रूप से जिस 'तयप्' प्रत्यय का विधान हुआ है, द्वि और त्रि—इन दो संख्यावाचक शब्दों के पश्चात् उसी के स्थान पर विकल्प से 'अयच्' (अय) आदेश होता है। '४५–अनेकाल् शित् सर्वस्य' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'तयप्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'द्वौ अवयवौ अस्य' (दो अवयव हैं इसके)—इस अर्थ में पूर्व सूत्र (११६८) से संख्यावाचक प्रथमान्त 'द्वौ' से 'तयप्' प्रत्यय हो 'द्वौ तय' रूप बनने पर सुप्-लोप होकर 'द्वि तय' रूप बनता है। तब प्रकृत सूत्र से 'द्वि' के उत्तरवर्ती 'तयप्' (तय) के स्थान पर विकल्प से 'अयच्' हो 'द्वि अय' रूप बनेगा। यहां अन्त्य-लोप होकर 'द्वय' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन–नपुंसकलिङ्ग में 'द्वयम्' रूप सिद्ध होता है। 'अयच्' के अभाव में 'तयप्' प्रत्यय रहने पर पूर्ववत् 'द्वितयम्' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार 'त्रि' शब्द से भी 'तयप्' प्रत्यय और उसको विकल्प से 'अयच्' आदेश हो 'त्रितयम्' तथा 'त्रयम्'—ये दो रूप बनते हैं।

११७०. उभादुदात्तो[३] नित्यम्[१] । ५ । २ । ४४

उभशब्दात्तयपोऽयच् स्यात् स चोदात्तः।

११७०. उभादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उभात्) उभ से (नित्यम्) नित्य होता है, (उदात्तः) उदात्त होता है। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '११६९–द्वित्रिभ्याम्–०' से 'तयस्य' और 'अयच्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'उभ' शब्द से पर 'तयप्' (तय) के स्थान पर नित्य ही 'अयच्' (अय) आदेश होता है और यह आदेश उदात्त* भी होता है। यह आदेश भी पूर्ववत् '११६८–संख्यायाः–०' से विहित 'तयप्' प्रत्यय के ही स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'उभौ अवयवौ अस्य' (दो अवयव हैं इसके)—इस अर्थ में ११६८ वें सूत्र से संख्यावाचक प्रथमान्त 'उभौ' से 'तयप्' प्रत्यय हो 'उभौ तय' रूप बनने पर सुप्-लोप होकर 'उभ तय' रूप बनता है। तब प्रकृत सूत्र से 'उभ' के उत्तरवर्ती 'तयप्' (तय) के स्थान पर 'अयच्' हो 'उभ अय' रूप बनेगा। यहां अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'उभयम्' रूप सिद्ध होता है।

११७१. तस्य[६] पूरणे[७] डट्[१] । ५ । २ । ४८

एकादशानां पूरणः–एकादशः।

११७१. तस्य पूरणे इति—शब्दार्थ है—(पूरणे) पूरण अर्थ में (तस्य) उसका (डट्) 'डट्' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता।

* 'उदात्त'-का अभिप्राय यहां 'आद्युदात्त' से है—'वचनसामर्थ्यादादेरुदात्तत्वं विज्ञायते'—काशिका।

वास्तव में सूत्रस्थ 'तस्य' का अभिप्राय यहां षष्ठी विभक्ति से है। '११६८–संख्यायाः–०' से 'संख्यायाः' की अनुवृत्ति होती है और 'तस्य' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूरण* अर्थ में संख्यावाचक (किसी विशेष संख्या को बताने वाला, जैसे—दो, तीन आदि) षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'डट्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'एकादशानां पूरणः' (ग्यारह संख्या का पूरण)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त संख्यावाचक 'एकादशन्' से 'डट्' प्रत्यय हो 'एकादशानाम् अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'एकादशन् अ' रूप बनने पर डित् 'डट्' परे होने के कारण टि–'अन्' का लोप हो 'एकादश् अ' = 'एकादश' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'एकादशः' रूप सिद्ध होता है।

११७२. नान्तादसंख्यादेर्मट् । ५ । २ । ४९

डटो मडागमः । पञ्चानां पूरणः–पञ्चमः । नान्तात्किम्—

११७२. नान्तादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(असंख्यादेः) संख्यावाची जिसके आदि में न हो ऐसे (नान्तात्) नकारान्त से पर (मट्) 'मट्' आगम होता है। किन्तु यह आगम किसको होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '११७१–तस्य पूरणे–०' से 'डट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। आगम की अपेक्षा से यह 'डट्' षष्ठ्यन्त में विपरिणत हो जाता है।[1] '११६८–संख्यायाः–०' से 'संख्यायाः' की भी अनुवृत्ति होती है। इसका अन्वय सूत्रस्थ 'नान्तादसंख्यादेः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा – असंख्यादि (जिसके आदि में कोई संख्यावाची शब्द न हो) और नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिक के पश्चात् 'डट्' (अ) को 'मट्' आगम होता है। ध्यान रहे कि यह आगम पूर्वसूत्र (११७१) से विहित 'डट्' प्रत्यय को ही होता है। 'मट्' का टकार इत्संज्ञक है और अकार उच्चारणार्थक, केवल मकार ही शेष रह जाता है। टित् होने से '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'डट्' का आद्यवयव बनता है। उदाहरण के लिए 'पञ्चानां पूरणः' (पांच का पूरण)—इस अर्थ में पूर्वसूत्र (११७१) से पूरण अर्थ में संख्यावाची षष्ठ्यन्त 'पञ्चन्' से 'डट्' प्रत्यय हो 'पञ्चानाम् अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'पञ्चन् अ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से असंख्यादि और नकारान्त संख्यावाची 'पञ्चन्' के पश्चात् 'डट्' (अ) को 'मट्' (मकार) आगम हो 'पञ्चन् म् अ' = 'पञ्चन् म' रूप बनेगा। यहां '१८०–नलोपः–०' से नकार का लोप हो 'पञ्चम' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'पञ्चमः' रूप सिद्ध होता है।

---

* 'पूरण' का अर्थ है—पूर्ण करने वाला। 'पूर्यतेऽनेनेति पूरणम्'—काशिका।

[1] 'डट आगमसम्बन्धे षष्ठीं प्रकल्पयति'—काशिका।

इस सूत्र के प्रवृत्त होने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है—

(१) आदि में संख्यावाची पद न होना चाहिये—यदि नकारान्त संख्यावाची प्रातिपदिक के आदि में कोई संख्यावाचक पद होगा, तो उससे पर 'डट्' को 'मट्' आगम नहीं होगा। उदाहरण के लिए पूर्वसूत्र (११७१) में 'एकादशन् अ' रूप बनने पर संख्यावाची प्रातिपदिक 'एकादशन्' के आदि में संख्यावाचक 'एक' होने के कारण 'डट्' (अ) को मडागम नहीं होता। तब टि-लोप हो 'एकादशः' रूप बनता है।

(२) संख्यावाचक प्रातिपदिक नकारान्त होना चाहिये—असंख्यादि होने पर भी यदि संख्यावाचक प्रातिपदिक नकारान्त न होगा, तो भी मडागम नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'विंशतेः पूरणः' (बीस का पूरण)—इस अर्थ में पूर्वसूत्र (११७१) से 'डट्' प्रत्यय हो 'विंशति अ' रूप बनता है। यद्यपि यहां संख्यावाचक प्रातिपदिक 'विंशति' असंख्यादि है, फिर भी नकारान्त न होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'मट्'-आगम नहीं होता। तब इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

११७३. ति[६]* विंशतेर्डिति[७] । ६ । ४ । १४२

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे। विंशः। असंख्यादेः किम्—एकादशः।

११७३. ति विंशतेरिति—शब्दार्थ है—(डिति) डित् परे होने पर (विंशतेः) विंशति के (ति) 'ति' का...। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'अल्लोपोऽनः' ६.४.१३४ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भस्य' ६.४.१२९ का यहां अधिकार है और उसका अन्वय 'विंशतेः' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—डित् प्रत्यय (जिसका डकार इत् हो) परे होने पर भ-संज्ञक 'विंशति' के 'ति' का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'विंशति अ' में 'डित् प्रत्यय—'डट्' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से भ-संज्ञक 'विंशति' की 'ति' का लोप हो 'विंश अ' रूप बनता है। तब '२७४—अतो गुणे' से पर-रूप एकादेश होकर 'विंश' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'विंशः' रूप सिद्ध होता है।

११७४. षट्-कति-कतिपय-चतुरां[६] थुक्[१] । ५ । २ । ५१

एषां थुगागमः स्याड् डति। षण्णां पूरणः—षष्ठः। कतिथः। कतिपय-शब्दस्यासंख्यात्वेऽप्यत एव ज्ञापकात् डट्। कतिपयथः। चतुर्थः।

११७४. षट्कतीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(षट्—चतुराम्) षष्, कति, कतिपय और चतुर् का अवयव (थुक्) थुक् होता है। किन्तु यह आगम किस स्थिति

---

* यहां लुप्त-षष्ठी है। 'सूत्रे तीति लुप्तषष्ठीकम्'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

में होता है—यह ज्ञात करने के लिए '११७१-तस्य-०' से 'डट्' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह 'डट्' सप्तम्यन्त में विपरिणत हो जाता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'डट्' (अ) परे होने पर षष्, कति, कतिपय और चतुर्—इन चार शब्दों को 'थुक्' (थकार) आगम होता है। 'थुक्' का 'उक्' इत्संज्ञक है, अतः कित् होने से '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह अन्तावयव होता है। उदाहरण के लिए 'षण्णां पूरणः' (छः का पूरण)—इस अर्थ में संख्यावाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक 'षष्' से ११७१ वें सूत्र द्वारा 'डट्' प्रत्यय हो 'षष् अ' रूप बनता है। यहां 'डट्' (अ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'षष्' को 'थुक्' आगम हो 'षष् थ् अ' रूप बनेगा। तब ष्टुत्व होकर 'षष्ठ् अ' = 'षष्ठ' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'षष्ठः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'कति' से 'कतिथः' (कितनवां), 'कतिपय'† से 'कतिपयथः' (कितनवां) और 'चतुर्' से 'चतुर्थः' (चौथा) रूप बनते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इन स्थलों पर थकार का ष्टुत्व नहीं होता।

११७५. द्वेस्तीयः । ५ । २ । ५४

डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणो-द्वितीयः।

११७५. द्वेस्तीय इति—शब्दार्थ है—(द्वेः) द्वि से (तीयः) 'तीय' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '११७१-तस्य पूरणे-०' से 'तस्य' और 'पूरणे' की अनुवृत्ति होगी। 'तस्य' का अभिप्राय यहां षष्ठी विभक्ति से है। इस अर्थ में वह सूत्रस्थ 'द्वेः' का विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूरण अर्थ में षष्ठ्यन्त 'द्वि' से 'तीय' प्रत्यय होता है। यह '११७१-तस्य-०' से प्राप्त 'डट्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'द्वयोः पूरणः' (दो का पूरण)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'द्वि' से 'तीय' प्रत्यय हो 'द्वयोः तीय' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'द्वितीय' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'द्वितीयः' रूप सिद्ध होता है।

११७६. त्रेः‡ सम्प्रसारणं च । ५ । २ । ५५

तृतीयः।

---

* 'इह षष्ठीनिर्देशबलात् षडादीनामागमित्वं स्पष्टमिति तदानुकूल्येनानुवृत्तो डट् सप्तम्या विपरिणम्यते'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† 'कतिपय' शब्द यद्यपि संख्यावाची नहीं है तथापि 'डट्' परे रहते 'थुक्' आगम का विधान प्रमाण हो जाता है कि उससे 'डट्' प्रत्यय होता है।

‡ यहां पञ्चमी और षष्ठी—ये दोनों ही विभक्तियां हो सकती हैं।

११७६. त्रेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (त्रेः) त्रि का (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण होता है। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '११७१–तस्य पूरणे–०' से 'तस्य' और 'पूरणे' तथा '११७५–द्वेस्तीयः' से 'तीयः' की अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'त्रेः' पञ्चम्यर्थ और षष्ठ्यर्थ—इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'तीयः' के अन्वय में उसमें पञ्चमी तथा 'सम्प्रसारणम्' के अन्वय में उसमें षष्ठी विभक्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूरण अर्थ में षष्ठ्यन्त 'त्रि' से 'तीय' प्रत्यय होता है और उसके संयोग में 'त्रि' को सम्प्रसारण* भी हो जाता है। 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (२५६) परिभाषा से 'त्रि' के रकार के स्थान पर सम्प्रसारण–ऋकार होता है। उदाहरण के लिए 'त्रयाणां पूरणः' (तीन का पूरण)—इस अर्थ में षष्ठ्यन्त 'त्रि' से 'तीय' प्रत्यय हो 'त्रयाणाम् तीय' रूप बनने पर सुप्-लोप हो 'त्रि तीय' रूप बनता है। तत्र पुनः प्रकृत सूत्र से 'त्रि' को सम्प्रसारण हो 'त् ऋ इ तीय' = 'तृ इ तीय' रूप बनने पर '२५८–सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप एकादेश होकर 'तृतीय' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'तृतीयः' रूप सिद्ध होता है।

११७७. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते† । ५ । २ । ८४

श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।

११७७. श्रोत्रियन्निति—सूत्र का अर्थ है—(छन्दोऽधीते) 'वेद को पढ़ता है'—इस अर्थ में (श्रोत्रियन्) 'श्रोत्रियन्' शब्द निपातित होता है अर्थात् निपातन‡ द्वारा सिद्ध होता है। कुछ लोगों के अनुसार 'छन्दोऽधीते' (वेद को पढ़ता है)—इस अर्थ में सम्पूर्ण पद 'श्रोत्रियन्' (श्रोत्रिय§) का निपातन हो 'श्रोत्रिय' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य करने पर प्रथमा के एकवचन में 'श्रोत्रियः' (वेदपाठी) रूप सिद्ध होता है। अन्य लोगों के अनुसार 'छन्दोऽधीते' अर्थ में द्वितीयान्त 'छन्दस्' शब्द से 'घन्' (घ) प्रत्यय तथा प्रकृति–'छन्दस्' के स्थान पर 'श्रोत्र' का निपातन हो 'श्रोत्र घ' रूप बनता है।¶ इस स्थिति में '१०१०–आयनेयीनीयियः–०' से प्रत्यय

---

* स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

† यह क्रिया-पद है। वस्तुतः 'छन्दोऽधीते' अर्थ-निर्देश है।

‡ इसके स्पष्टीकरण के लिए ३०१ वें सूत्र की पाद-टिप्पणी देखिये।

§ 'नकारः स्वरार्थः'—काशिका।

¶ "अत्र भाष्ये 'छन्दोऽधीते इत्यस्य वाक्यस्यार्थे श्रोत्रियन्नित्येतत्पदं निपात्यते' इति वाक्यार्थे पदवचन-पक्षः 'छन्दसो वा श्रोत्रभावो निपात्यते 'तदधीते' इत्येतस्मिन्नर्थे घंश्च प्रत्ययः' इति पक्षान्तरं स्थितम्।"—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

के यकार को 'इय्' आदेश हो 'श्रोत्र इय् अ' = 'श्रोत्र इय' बनने पर भसंज्ञक-'श्रोत्र' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'श्रोत्र् इय' = 'श्रोत्रिय' रूप बनेगा। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'श्रोत्रियः' रूप सिद्ध होता है। 'तावतिथं-०' ५.२.७७ से 'वा' की अनुवृत्ति प्राप्त होने से 'श्रोत्रियः' रूप विकल्प से ही बनता है, अतः पक्ष में 'छन्दस्' से 'अण्' प्रत्यय हो 'छान्दसः' रूप भी बनता है।

११७८. पूर्वादिनिः। ५।२।८६

पूर्वं कृतमनेन-पूर्वी।

११७८. पूर्वादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पूर्वात्) 'पूर्व' से (इनिः) इनि प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए 'श्राद्धमनेन-०' ५.२.८५ से 'अनेन' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अनेन' (इसने) अर्थ में 'पूर्व' शब्द से 'इनि' प्रत्यय होता है। क्रिया के अभाव में कर्ता असम्भव होने से किसी क्रिया का अध्याहार करके ही यह प्रत्यय किया जाता है।* उदाहरण के लिए 'पूर्वं कृतमनेन' (इसने पहले कर लिया है)—इस अर्थ में 'पूर्व' शब्द से 'इनि' प्रत्यय हो 'पूर्वम् इनि' रूप बनता है। तब इकार-लोप और सुप्-लोप हो 'पूर्व इनि' रूप बनने पर अन्त्य-अकार का लोप होकर 'पूर्व् इन्'='पूर्विन्' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'पूर्वी' रूप सिद्ध होता है।

११७९. सपूर्वाच्च। ५।२।८७

कृतपूर्वी।

११७९. सपूर्वादिति—शब्दार्थ है—(च) और (सपूर्वात्) सपूर्व से···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए अनुवृत्ति-सहित पूर्वसूत्र '११७८-पूर्वादिनिः' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'सपूर्व' का अर्थ है—जिससे पहले कुछ हो।† इस अर्थ में इसका अन्वय 'पूर्वात्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—विद्यमानपूर्वक 'पूर्व' शब्द (जिसके पहले कुछ हो) से भी 'अनेन' (इसने) अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कृतं पूर्वमनेन' (इसने पहले कर लिया है)—इस अर्थ में कृत-पूर्वक 'पूर्व' शब्द से 'इनि' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'कृतपूर्वी' रूप सिद्ध होता है।

---

* 'न च क्रियामन्तरेण कर्ता सम्भवतीति काञ्चित् क्रियामध्याहृत्य प्रत्ययो विधेयः'—काशिका।

† 'विद्यमानं पूर्वं यस्मादिति सपूर्वम्'—काशिका।

११८०. इष्टादिभ्यश्च । ५ । २ । ८८

इष्टमनेन-इष्टी । अधीती ।

इति भवनाद्यर्थक-प्रकरणम् ।

११८०. इष्टादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (इष्टादिभ्यः) 'इष्ट' आदि से··· । किन्तु क्या होता है और किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए '११७८–पूर्वादिनिः' से 'इनिः' तथा 'श्राद्धमनेन–०' ५.२.८५ से 'अनेन' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'इष्टादि' गण है और इसमें 'इष्ट', 'पूर्त' और 'अधीत' आदि का समावेश होता है ।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इष्टादिगण में पठित 'इष्ट' आदि शब्दों से 'अनेन' (इसने) अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'इष्टमनेन' (इसने यज्ञ किया है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'इष्ट' से 'इनि' प्रत्यय हो 'इष्टम् इनि' रूप बनता है । तब पूर्ववत् इकार-लोप, सुप्-लोप और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'इष्टी' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'अधीतमनेन' (इसने पढ़ लिया है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'अधीत' से 'इनि' प्रत्यय हो 'अधीती' रूप बनता है ।

भवनाद्यर्थक-प्रकरण समाप्त ।

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये ।

मत्वर्थीयाः

११८१. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । ५ । २ । ९४

गावोऽस्याऽस्मिन् वा सन्ति–गोमान् ।

११८१. तदस्येति—शब्दार्थ है—(तद्) वह (अस्ति) है (अस्य) इसका (अस्मिन्) इसमें (इति) इन अर्थों में (मतुप्) मतुप् प्रत्यय होता है । किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता । वास्तव में 'तद्' का अभिप्राय यहां प्रथमा विभक्ति से है । 'अस्य' और 'अस्मिन्' प्रत्ययार्थक हैं । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होगी । 'तद्' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है और विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । 'अस्ति' यहां काल या सत्ता मात्र का बोधक है ।† इस अर्थ में उसका अन्वय 'अस्य' और 'अस्मिन्'— इन दोनों से ही होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त प्रातिपादिक से 'मतुप्' (मत्) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति' (गायें इसकी हैं या इसमें हैं)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'गावः' से 'मतुप्' प्रत्यय हो 'गावः मत्' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'गोमत्' रूप बनने पर विभक्तिकार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'गोमान्' रूप सिद्ध होता है ।

विशेष—सूत्रस्थ 'इति' शब्द विषय-विशेष के बोध के लिए है ।‡ तात्पर्य यह कि 'अस्ति' की विवक्षा में जो 'मतुप्' आदि प्रत्यय होते हैं, वे विशेष-विषयों में ही होते हैं । वे विशेष-विषय ये हैं—

(१) भूमा (बहुत्व, अधिकता)—जैसे–'गोमान्' (गाय वाला अर्थात् बहुत गायों वाला) ।

(२) निन्दा—जैसे—'ककुदावर्तिनी कन्या' (ककुदावर्तवाली कन्या) । यहां 'ककुदावर्तिनी' से कन्या की निन्दा प्रतीत होती है ।

(३) प्रशंसा—जैसे—'रूपवान्' (रूप वाला) । यहां रूप की प्रशंसा प्रतीत होती है अन्यथा रूप तो सभी मूर्त पदार्थों का होता है ।

---

* यह क्रिया-पद है ।

† 'अस्तीति पुरुषवचने अविवक्षिते, कालस्तु विवक्षितः'—सि० कौ० की तत्त्व-बोधिनी व्याख्या ।

‡ 'इतिकरणाद्विषयनियमः'—काशिका ।

(वा०) गुणवचनेभ्य इति—वार्तिक का अर्थ है—गुणवाचक शब्दों से 'मतुप्' प्रत्यय का लुक् (लोप) होता है। यहां 'गुणवाचक' से वे ही शब्द लिये जाते हैं जो गुण और गुणवान्—दोनों अर्थों में प्रसिद्ध हों।* उदाहरण के लिए 'शुक्लो गुणोऽस्यास्ति' (शुक्ल इसका गुण है)—इस अर्थ में पूर्वसूत्र (११८१) से प्रथमान्त 'शुक्लः' से 'मतुप्' प्रत्यय हो 'शुक्लः मत्' रूप बनने पर सुप्-लोप होकर 'शुक्ल मत्' रूप बनता है। यहां 'शुक्ल' शब्द गुण और गुणवान्—दोनों का वाचक है, अतः प्रकृत वार्तिक से इसके पश्चात् 'मतुप्' प्रत्यय का लोप हो 'शुक्ल' रूप बनता है। इससे ही विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'शुक्लः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'कृष्णः' रूप भी बनता है।

११८३. प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । ५ । २ । ९६

चूडालः-चूडावान् । प्राणिस्थात्किम्-शिखावान्-दीपः ।
(वा०) प्राण्यङ्गादेव । नेह-मेधावान् ।

११८३. प्राणिस्थादिति—शब्दार्थ है—(प्राणिस्थात्) प्राणिस्थवाचक (आतः) आकारान्त से (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (लच्) 'लच्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '११८१–तदस्य–०' से 'तत्' और 'अस्यास्त्यस्मिन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। प्रकृत वार्तिक 'प्राण्यङ्गादेव' से 'प्राणिस्थ' का अर्थ होता है—प्राणी का अङ्ग। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त प्राण्यङ्गवाचक (प्राणी के अङ्गों के वाचक) आकारान्त शब्दों से विकल्प से 'लच्' (ल) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'चूडा अस्य सन्ति' (केश इसके हैं)—इस अर्थ में आकारान्त प्राण्यङ्गवाचक प्रथमान्त 'चूडा' से 'लच्' प्रत्यय हो 'चूडाः ल' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'चूडाल' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'चूडालः' रूप सिद्ध होता है। 'लच्' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में सामान्य 'मतुप्' प्रत्यय होने पर उसके मकार को '१०६२–मादुपधायाश्च–०' से वकार होकर 'चूडावान्' रूप बनता है।

यहां ध्यान रखना आवश्यक है कि आकारान्त होने के साथ ही साथ प्रातिपदिक को प्राण्यङ्गवाचक भी होना चाहिये, अन्यथा 'लच्' प्रत्यय नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'शिखाऽस्यास्तीति शिखावान् दीपः' (शिखा इसकी है—ऐसा शिखावान् दीप)—इस विग्रह में यद्यपि 'शिखा' आकारान्त है, किन्तु वह प्राणी का अङ्ग न

---

* 'गुणे तद्वति च प्रसिद्धा ये शुक्लादयस्त एव गृह्यन्ते'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

होकर अचेतन 'दीप' का अङ्ग है। अतः इससे 'लच्' प्रत्यय न हो सामान्य 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'शिखावान्' रूप ही बनता है। इसी प्रकार 'मेधाऽस्यास्ति' (मेधा इसके है)—इस अर्थ में भी आकारान्त 'मेधा' से 'लच्' प्रत्यय नहीं होता क्योंकि 'मेधा' प्राणी में रहती तो है लेकिन प्राणी का अङ्ग नहीं होती। अङ्ग मूर्त हस्त-पादादि ही होते हैं। अतः 'लच्' प्रत्यय के अभाव में यहां भी 'मतुप्' प्रत्यय हो 'मेधावान्' रूप बनेगा। इस प्रकार इस सूत्र के प्रवृत्त होने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) प्रातिपदिक आकारान्त होना चाहिये।

(२) प्रातिपदिक जिसका अवयव हो, उसे प्राणी (चेतन) होना चाहिये।

(३) प्रातिपदिक प्राणी का अङ्ग (मूर्त अवयव—जैसे हस्त-पादादि) ही हो।

११८४. लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः[५] शनेलचः[१]। ५ । २ । १००

लोमादिभ्यः शः—लोमशः, लोमवान्। रोमशः, रोमवान्। पामादिभ्यो नः—पामनः। (ग० सू०) अङ्गात्कल्याणे—अङ्गना। (ग० सू०) लक्ष्म्या अच—लक्ष्मणः। पिच्छादिभ्य इलच्—पिच्छिलः, पिच्छवान्।

११८४. लोमादीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(लोमादि—पिच्छादिभ्यः) लोमादि, पामादि और पिच्छादि से (शनेलचः) श, न और इलच् प्रत्यय होते हैं। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११८१—तदस्य—०' से 'तद्' और 'अस्यास्त्यस्मिन्' तथा '११८३—प्राणिस्थादातो—०' से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। लोमादि, पामादि और पिच्छादि—ये तीनों गण हैं।* 'लोमादि' में 'लोमन्' और 'रोमन्' आदि का, 'पामादि' में 'पामन्' आदि का तथा 'पिच्छादि' में 'पिच्छ' आदि का समावेश होता है। '२३—यथासंख्यमनुदेशः—०' परिभाषा से 'श' आदि प्रत्यय यथाक्रम होते हैं। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त 'लोमन्' आदि से विकल्प से 'श' प्रत्यय, 'पामन्' आदि से विकल्प से 'न' प्रत्यय और 'पिच्छ' आदि से विकल्प से 'इलच्' (इल) प्रत्यय होता है। तीनों के उदाहरण अलग-अलग दिये जा रहे हैं—

(१) लोमन् आदि—'लोमानि अस्य सन्ति' (लोम इसके हैं)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'लोमन्' से 'श' प्रत्यय हो 'लोमानि श' रूप बनता है। तत्र सुप्-लोप और '१८०—नलोपः—०' से नकार-लोप हो 'लोमश' बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'लोमशः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'रोमन्' से 'रोमशः'

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

(रोमवाला) रूप बनता है। 'श' प्रत्यय के अभावपक्ष में 'मतुप्' प्रत्यय हो क्रमशः 'लोमवान्'† और 'रोमवान्'† रूप बनते हैं।

(२) पामन् आदि—'पामास्यास्ति' (पामन्—खुजली इसके है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'पामन्' से 'न' प्रत्यय तथा सुप्-लोप हो 'पामन् न' रूप बनने पर पूर्ववत् नकार-लोप और विभक्ति-कार्य हो 'पामनः' रूप सिद्ध होता है। 'न' प्रत्यय के अभाव में 'मतुप्' हो 'पामवान्'* रूप बनता है।

(ग० सू०–१) अङ्गादिति—भावार्थ है—'अङ्ग' शब्द से कल्याण अर्थ में 'न' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कल्याणानि अङ्गानि अस्याः' (सुन्दर अङ्ग हैं इसके)—इस अर्थ में कल्याण-विशेषणक प्रथमान्त 'अङ्ग' से 'न' प्रत्यय हो 'अङ्गानि न' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'अङ्गन' रूप बनने पर टाप्-प्रत्यय हो प्रथमा के एकवचन-स्त्रीलिङ्ग में 'अङ्गना' रूप सिद्ध होता है।

(ग० सू०–२) लक्ष्म्या इति—अर्थ है—मत्वर्थ में प्रथमान्त 'लक्ष्मी' शब्द से 'न' प्रत्यय हो और 'लक्ष्मी' को अकार अन्तादेश हो। उदाहरण के लिए 'लक्ष्मी-रस्यास्ति' (लक्ष्मी इसकी है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'लक्ष्मी' से 'न' प्रत्यय तथा सुप्-लोप हो 'लक्ष्मी न' रूप बनने पर पुनः प्रकृत सूत्र से 'लक्ष्मी' को अकार अन्तादेश हो 'लक्ष्मन' रूप बनता है। तब णत्व और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'लक्ष्मणः' रूप सिद्ध होता है।

(३) पिच्छ आदि—'पिच्छमस्यास्ति' (पिच्छ इसके है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'पिच्छ' से 'इलच्' प्रत्यय हो 'पिच्छम् इल' रूप बनता है। यहां सुप्-लोप हो 'पिच्छ इल' रूप बनने पर अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'पिच्छिलः' रूप सिद्ध होता है। 'इलच्' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में 'मतुप्' प्रत्यय हो 'पिच्छवान्'† रूप बनता है।

११८५. दन्त॰ उन्नत॰ उरच्॰ । ५ । २ । १०६

उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य—दन्तुरः ।

११८५. दन्त इति—शब्दार्थ है—(उन्नतः) उन्नत (दन्तः) दन्त (उरच्) उरच् प्रत्यय होता है। किन्तु सूत्र का अभिप्राय इससे स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में सूत्रस्थ 'दन्तः' यहां स्व-वाचक होने के साथ ही प्रथमा विभक्ति का भी बोधक है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१. से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और 'दन्तः' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-

---

† ध्यान रहे कि इन उदाहरणों मे 'मतुप्' के मकार के स्थान पर वकार '१०६२—मादुपधायाश्च—०' से होता है।

विधि हो जाती है। 'उन्नतः' सूत्रस्थ 'दन्तः' का विशेषण है। '११८१-तदस्य-०' से 'अस्यास्त्यस्मिन्' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' अथवा 'इसमें है या इसमें हैं'—इस अर्थ में 'उन्नत' विशेषण-पूर्वक प्रथमान्त 'दन्त' शब्द से 'उरच्' (उर) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'उन्नता दन्ताः सन्ति अस्य' (ऊँचे दांत हैं इसके) अर्थ में 'उन्नत' विशेषणपूर्वक प्रथमान्त 'दन्त' शब्द से 'उरच्' प्रत्यय हो 'दन्ताः उर' रूप बनने पर सुप् लोप हो 'दन्त उर' रूप बनता है। यहां भ-संज्ञक 'दन्त' के अन्त्य अकार का लोप हो 'दन्त् उर' = 'दन्तुर' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन में 'दन्तुरः' (ऊँचे दांतों वाला) रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि साथ में 'उन्नत' विशेषण रहने पर ही 'दन्त' शब्द से 'उरच्' प्रत्यय होगा, अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ 'दन्ताः सन्ति अस्य'—इस अर्थ में 'दन्त' शब्द से मतुप् प्रत्यय हो 'दन्तवान्' (दांतों वाला) रूप बनता है।

११८६. केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । ५ । २ । १०९

केशवः । केशी । केशिकः । केशवान् ।

(वा०-१) अन्येभ्योऽपि दृश्यते । मणिवः ।

(वा०-२) अर्णसो लोपश्च । अर्णवः ।

११८६. केशादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(केशात्) केश से (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (वः) व प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति और किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए '११८१-तदस्य-०' से 'तद्' और 'अस्यास्त्यस्मिन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त प्रातिपदिक 'केश' से विकल्प से 'व' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'केशा अस्य सन्ति' (केश इसके हैं)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'केश' से 'व' प्रत्यय हो 'केशाः व' रूप बनता है। तत्र सुप्-लोप हो 'केशव' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'केशवः' रूप सिद्ध होता है।

सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प से) कहने से यहां '११८१-तदस्य-०' से 'मतुप्' प्रत्यय के अतिरिक्त '११८७-अतः-०' से 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय भी होते हैं।* इस प्रकार पक्ष में मतुप्, इनि और ठन् होकर क्रमशः 'केशवान्', 'केशी' और 'केशिकः'—ये तीन रूप बनते हैं।

(वा०-१) अन्येभ्य इति—अर्थ है—अन्य ('केश' शब्द से भिन्न) शब्दों

* 'प्रकृतेनान्यतरस्यांग्रहणेन मतुपि सिद्धे पुनर्ग्रहणमिनिठनोः समावेशार्थम्'—सिद्धान्तकौमुदी।

से भी पूर्वोक्त अर्थ में 'व' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'मणिरस्यास्ति' (मणि इसकी है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'मणि' से 'व' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'मणिवः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०-२) अर्णस इति—वार्तिक का अर्थ है—प्रथमान्त 'अर्णस्' शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में 'व' प्रत्यय होता है और प्रकृति (अर्णस्) के अन्त्य सकार का लोप भी। उदाहरण के लिए 'अर्णांसि सन्ति अस्य' (अर्णस्—जल इसके हैं)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'अर्णस्' से 'व' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'अर्णस् व' रूप बनने पर पुनः प्रकृत वार्तिक से 'अर्णस्' के सकार का लोप हो 'अर्णव' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'अर्णवः' रूप सिद्ध होता है।

११८७. अत इनि-ठनौ। ५। २। ११५

दण्डी, दण्डिकः।

११८७. अत इति—शब्दार्थ है—(अतः) अकार से (इनि-ठनौ) इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं। किन्तु ये प्रत्यय किस अर्थ और किस परिस्थिति में होते हैं—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '११८१–तदस्य–०' से 'तद्' और 'अस्याऽस्त्यस्मिन्' तथा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है। इसके साथ ही साथ 'प्राणिस्थादातः–०' ५.२.९६ से 'अन्यतरस्याम्' का भी अधिकार प्राप्त होता है। सूत्रस्थ 'अतः' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त अकारान्त प्रातिपदिक से 'इनि' (इन्) और 'ठन्' (ठ)—ये दो प्रत्यय विकल्प से होते हैं। उदाहरण के लिए 'दण्डोऽस्यास्ति' (दण्ड इसका है)—इस अर्थ में प्रथमान्त अकारान्त प्रातिपदिक 'दण्ड' से 'इनि' प्रत्यय हो 'दण्डः इन्' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'दण्ड इन्' रूप बनने पर अन्त्य-लोप होकर 'दण्ड् इन्' = 'दण्डिन्' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो 'दण्डी' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त अर्थ में 'ठन्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'दण्ड ठ' रूप बनने पर '१०२४–ठस्येकः' से प्रत्यय के ठ को 'इ' हो 'दण्ड इक' रूप बनता है। तब यहां भी अन्त्य-लोप और विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'दण्डिकः' रूप सिद्ध होता है।

यहां ध्यान रहे कि इनि और ठन्—ये दोनों प्रत्यय विकल्प से होते हैं, अतः पक्ष में '११८१–तदस्य–०' से 'मतुप्' प्रत्यय हो 'दण्डवान्' रूप भी बनता है।

११८८. व्रीह्यादिभ्यश्च। ५। २। ११६

व्रीही। व्रीहिकः।

११८८. व्रीह्यादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (व्रीह्यादिभ्यः)

व्रीहि आदि से''' । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए अनुवृत्ति-सहित पूर्वसूत्र '११८७-अतः-०' से 'इनि-ठनौ' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'व्रीहि आदि' गण है और इसमें 'व्रीहि', 'माया' और 'शाला' आदि का समावेश होता है । इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त 'व्रीहि' (धान) आदि से 'इनि' (इन्) और 'ठन्' (ठ)–ये दो प्रत्यय विकल्प से होते हैं । उदाहरण के लिए 'व्रीहयोऽस्य सन्ति' (व्रीहि–धान इसके हैं)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'व्रीहि' से पूर्ववत् 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय हो क्रमशः 'व्रीही' और 'व्रीहिकः' रूप बनते हैं । पक्ष में 'मतुप्' प्रत्यय हो 'व्रीहिमान्' रूप बनता है ।

११८९. अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिः । ५ । २ । १२१

यशस्वी, यशस्वान् । मायावी । मेधावी । स्रग्वी ।

११८९. असमायेति—शब्दार्थ है—(अस्—स्रजः) अस्, माया, मेधा और स्रज् से (विनिः) विनि प्रत्यय होता है । किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति और किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए '११८१-तदस्य-०' से 'तद्' और 'अस्याऽस्त्यस्मिन्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'प्राणिस्थादातः-०' ५.२.९६ से यहां भी 'अन्यतरस्याम्' का अधिकार प्राप्त है । सूत्रस्थ 'अस्' से तदन्त का ग्रहण होता है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त असन्त (जिसके अन्त में 'अस्' हो) तथा माया, मेधा और स्रज्—इन शब्दों से विकल्प से 'विनि' (विन्) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'यशोऽस्यास्ति' (यशस्–यश इसका है)—इस अर्थ में प्रथमान्त असन्त 'यशस्' से 'विनि' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'यशस् विन्'='यशस्विन्' रूप बनता है । तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'यशस्वी' रूप सिद्ध होता है । 'विनि' के अभावपक्ष में '११८१-तदस्य-०' से 'मतुप्' प्रत्यय हो 'यशस्वान्' रूप बनता है । इसी प्रकार 'माया अस्य अस्ति' (माया इसकी है) अर्थ में प्रथमान्त 'माया' से 'विनि' प्रत्यय हो 'मायावी' और 'मतुप्' प्रत्यय हो 'मायावान्' रूप बनते हैं ।* 'मेधा' और 'स्रज्' से भी इसी भांति 'विनि' प्रत्यय हो क्रमशः 'मेधावी' और 'स्रग्वी' (माला वाला) तथा 'मतुप्' प्रत्यय हो क्रमशः 'मेधावान्' और 'स्रग्वान्' रूप बनते हैं ।

११९०. वाचो ग्मिनिः । ५ । २ । १२४

वाग्मी ।

---

* 'माया' शब्द व्रीह्यादिगण में आता है, इसी से '११८८-व्रीह्यादिभ्यः-०' से 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय हो क्रमशः 'मायी' और 'मायिकः' रूप बनते हैं ।

११९०. वाच इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(वाचः) वाच् से (ग्मिनिः) 'ग्मिनि' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११८१–तदस्य–०' से 'तद्' और 'अस्याऽस्त्यस्मिन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त 'वाच्' से 'ग्मिनि' प्रत्यय होता है। 'ग्मिनि' का अन्त्य इकार उच्चारणार्थक है, अतः केवल 'ग्मिन्' ही शेष रह जाता है।* उदाहरण के लिए 'वागस्यास्ति' (वाच्–वाणी इसकी है)—इस अर्थ में प्रथमान्त 'वाच्' से 'ग्मिनि' प्रत्यय हो 'वाग् ग्मिन्' रूप बनने पर सुप्-लोप होकर 'वाच् ग्मिन्' रूप बनता है। यहां पर प्रकृति के चकार को जश्-जकार करने पर कुत्व–गकार होकर 'वाग् ग्मिन्'='वाग्मिन्' रूप बनेगा। इस स्थिति में विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'वाग्मी' रूप सिद्ध होता है।

११९१. अर्श-आदिभ्योऽच् । ५ । २ । १२७

अर्शोऽस्य विद्यते–अर्शसः । आकृतिगणोऽयम् ।

११९१. अर्श आदिभ्य इति—शब्दार्थ है—(अर्श-आदिभ्यः) अर्श आदि से (अच्) अच् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति और किस अर्थ में होता है— यह जानने के लिए पूर्ववत् '११८१–तदस्य–०' से 'तद्' और 'अस्यास्त्यस्मिन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'अर्श आदि' गण है और इसमें 'अर्शस्', 'उरस्' और 'तुन्द' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में प्रथमान्त 'अर्शस्' (बवासीर) आदि से 'अच्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अर्शोऽस्य विद्यते' (अर्शस् इसके है) इस अर्थ में प्रथमान्त 'अर्शस्' से 'अच्' प्रत्यय हो 'अर्शः अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'अर्शस् अ'='अर्शस' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'अर्शसः' रूप सिद्ध होता है।

११९२. अहं-शुभमोर्युस्† । ५ । २ । १४०

अहंयुरहंकारवान् । शुभंयुः–शुभान्वितः ।

इति मत्वर्थीयाः ।

११९२. अहमिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अहं-शुभमोः) अहम् और शुभम् से (युस्) युस् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह सूत्र

---

* 'इकारो नकारपरित्राणार्थः'–सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† यहां षष्ठी विभक्ति पञ्चम्यर्थ में प्रयुक्त हुई है।

से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '११८१-तदस्य-०' से 'अस्याऽस्त्यस्मिन्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'इसका है या इसके हैं' और 'इसमें है या इसमें हैं'—इन अर्थों में 'अहम्' (अहंकार) और 'शुभम्' (कल्याण) से 'युस्' (यु) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अहम्-अहंकारोऽस्यास्ति' (अहम्-अहंकार इसके है)—इस अर्थ में 'अहम्' से 'युस्' प्रत्यय हो 'अहम् यु' रूप बनता है। तब सित् प्रत्यय 'युस्' (यु) परे होने से पूर्व की पद संज्ञा होने के कारण मकार को अनुस्वार हो 'अहंयु' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'अहंयुः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'शुभम्-कल्याणमस्यास्ति' (शुभ-कल्याण इसका है)—इस अर्थ में 'शुभम्' से 'युस्' प्रत्यय हो 'शुभंयुः' रूप बनता है।

मत्वर्थीय-प्रकरण समाप्त

प्राग्दिशीयाः

११९३. प्राग्दिशो विभक्तिः । ५ । ३ । १

'दिक्शब्देभ्य' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञाः स्युः ।

११९३. प्राग् दिश इति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(दिशः) दिक् से (प्राक्) पहले (विभक्तिः) विभक्ति-संज्ञा होती है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में सूत्रस्थ 'दिशः' एकदेशीय निर्देश है और इससे 'दिक्-शब्देभ्यः-०' ५.३.२७ सूत्र का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'दिक्शब्देभ्य-०' ५.३.२७ सूत्र के पहिले विभक्ति-संज्ञा होती है। तात्पर्य यह कि यहां से लेकर 'दिक्शब्देभ्यः-०' सूत्र के पूर्व तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उनकी 'विभक्ति' संज्ञा होती है। विभक्ति संज्ञा होने पर '१३१-न विभक्तौ-०' आदि तज्जन्य कार्य होते हैं।

११९४. किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः । ५ । ३ । २

' किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्च' इति प्राग्दिशोऽधिक्रियते।

११९४. किं-सर्वनामेति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(अद्व्यादिभ्यः) द्वि आदि को छोड़कर (किं-सर्वनाम-बहुभ्यः) किम्, सर्वनाम और बहु के पश्चात्...। किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '११९३-प्राग्दिशः-०' से 'प्राग्दिशः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'दिक्शब्देभ्यः-०' ५.३ २७ सूत्र के पूर्व तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, वे द्वि आदि (द्वि, युष्मद्, अस्मद् और भवतु) को छोड़कर अन्य सर्वनाम,* किम् और बहु शब्द के पश्चात् होते हैं—यह अधिकार समझना चाहिये।

११९५. पञ्चम्यास्तसिल् । ५ । ३ । ७

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिल् वा स्यात्।

११९५. पञ्चम्या इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पञ्चम्याः) पञ्चमी विभक्ति से (तसिल्) 'तसिल्' प्रत्यय होता है। यहां पूर्वसूत्र '११९४-किं सर्वनाम-०' का अधिकार प्राप्त होता है। सूत्रस्थ 'पञ्चम्याः' उसका विशेषण है। विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पञ्चम्यन्त द्व्यादि-

---

* विशेष स्पष्टीकरण के लिए १५१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

भिन्न सर्वनाम, किम् और बहु शब्द से 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कस्मात्'-इस पञ्चम्यन्त 'किम्' शब्द से 'तसिल्' प्रत्यय हो 'कस्मात् तस्' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'किम् तस्' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

११९६. कु* तिहोः† । ७ । २ । १०४

किमः कुः स्यात्तादौ हादौ च विभक्तौ परतः । कुतः—कस्मात् ।

११९६. कु तिहोरिति—शब्दार्थ है—(तिहोः†) तकार और हकार परे होने पर (कु) कु होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'किमः कः' ७.२.१०३ से 'किमः' तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'तिहोः' 'विभक्तौ' का विशेषण है, अतः उसमें तदादि-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—तकारादि और हकारादि विभक्ति-संज्ञक प्रत्यय परे होने पर 'किम्' के स्थान पर 'कु' आदेश होता है। '४५—अनेकाल्—०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'किम् तस्' में तकारादि विभक्ति-संज्ञक 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय परे होने के कारण 'किम्' के स्थान पर 'कु' हो 'कुतस्' रूप बनता है। तब '३६८—तद्धितश्च—०' से अव्यय होने के कारण प्राप्त सुप् का लोप होने पर रुत्व-विसर्ग हो 'कुतः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार पञ्चम्यन्त सर्वनाम 'अस्मात्' से 'तसिल्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'इदम् तस्' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

११९७. इदम इश् । ५ । ३ । ३

प्राग्दिशीये परे । इतः ।

११९७. इदम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इदमः) 'इदम्' के स्थान पर (इश्) इश् आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए '११९३-प्राग्दिशः—०' से 'प्राग्दिशः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'दिक्शब्देभ्यः—०' ५.३.२७ सूत्र के पूर्व तक कहे जाने वाले प्रत्ययों के परे रहने पर 'इदम्' के स्थान पर 'इश्' आदेश होता है। 'इश्' का शकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'इ' ही शेष रह जाता है। शित् होने से '४५—अनेकाल्—०' परिभाषा द्वारा यह सम्पूर्ण 'इदम्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए 'इदम् तस्' में प्राग्दिशीय प्रत्यय 'तसिल्' (तस्) परे होने के

---

* यहाँ लुप्त-प्रथमा विभक्ति है।

† 'तिहोरितीकार उच्चारणार्थः'—काशिका ।

कारण प्रकृत सूत्र से 'इदम्' के स्थान पर 'इश्' हो 'इतस्' रूप बनता है। यह पूर्ववत् सुप्-लोप और रुत्व-विसर्ग हो 'इतः' रूप सिद्ध होगा।

११९८. एतदोऽन्*। ५। ३। ५

एतदः प्राग्दिशीये। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। अतः। अमुतः। यतः। बहुतः। द्व्यादेस्तु-द्वाभ्याम्।

११९८. एतद इति—शब्दार्थ है—(एतदः) एतद् के स्थान पर (अन्) 'अन्' आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए यहां भी '११९३–प्राग्दिशः–०' से 'प्राग्दिशः' की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—'दिक्शब्देभ्यः–०' ५.३.२७ सूत्र के पूर्व तक कहे जाने वाले प्रत्ययों के परे रहने पर 'एतद्' के स्थान पर 'अन्' आदेश होता है। '४५–अनेकाल्–०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'एतद्' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए पञ्चम्यन्त सर्वनाम 'एतस्मात्' (इससे) से '११९५–पञ्चम्याः–०' से 'तसिल्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'एतद् तस्' रूप बनने पर प्राग्दिशीय प्रत्यय 'तसिल्' (तस्) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'एतद्' के स्थान पर 'अन्' हो 'अन् तस्' रूप बनता है। तब '१८०–नलोपः–०' से नकार-लोप हो 'अतस्' रूप बनने पर पूर्ववत् रुत्व-विसर्ग होकर 'अतः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'तसिल्' प्रत्यय हो पञ्चम्यन्त 'अदस्' से 'अमुतः', 'यद्' से 'यतः' और 'बहु' से 'बहुतः' रूप बनते हैं।†

११९९. पर्यभिभ्यां च। ५। ३। ९

आभ्यां तसिल् स्यात्। परितः–सर्वत इत्यर्थः। अभितः–उभयत इत्यर्थः।

११९९. पर्यभिभ्यामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (पर्यभिभ्याम्) परि तथा अभि से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '११९५–पञ्चम्याः–०' से 'तसिल्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'परि' (सर्व) और 'अभि' (उभय) से भी 'तसिल्' (तस्) प्रत्यय होता है। 'परि' से 'तसिल्' प्रत्यय हो 'परितस्' = 'परितः' और 'अभि' से 'तसिल्' प्रत्यय हो 'अभितस्' = 'अभितः' (दोनों ओर से) रूप बनते हैं।

---

* काशिका में 'एतदोऽश्' पाठ दिया है। सि० कौ० के तत्त्वबोधिनीव्याख्याकार ने भी कहा है—'भाष्यस्थोऽयं पाठः। वृत्तिकारस्तु 'एतदोऽश्' इति पठित्वा शकारः सर्वादेशार्थ इत्याह।'

† विस्तृत प्रक्रिया के लिए इन शब्दों की रूप-सिद्धि देखिये।

१२००. सप्तम्यास्त्रल् । ५ । ३ । १०

कुत्र । यत्र । तत्र । बहुत्र ।

१२००. सप्तम्या इति—शब्दार्थ है—(सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति से (त्रल्) त्रल् प्रत्यय होता है । किन्तु इससे सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र '११९४–किं-सर्वनाम–०' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'सप्तम्याः' उसका विशेषण बनता है । विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सप्तम्यन्त द्व्यादि-भिन्न सर्वनाम, किम् और बहु शब्द से 'त्रल्' (त्र) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'कस्मिन्' (किसमें)—इस सप्तम्यन्त किम् शब्द से 'त्रल्' प्रत्यय हो 'कस्मिन् त्र' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'किम् त्र' रूप बनने पर '११९६–कु तिहोः' से 'किम्' के स्थान पर 'कु' हो 'कुत्र' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'त्रल्' प्रत्यय हो 'यद्', 'तद्' और 'बहु' से क्रमशः 'यत्र' (यस्मिन्–जिसमें), 'तत्र' (तस्मिन्–उसमें) और 'बहुत्र' (बहुषु–बहुतों में) रूप बनते हैं ।*

१२०१. इदमो हः । ५ । ३ । ११

त्रलोऽपवादः । इह ।

१२०१. इदम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इदमः) इदम् से (हः) 'ह' प्रत्यय होता है । किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '१२००–सप्तम्याः–०' से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति करनी होगी । सूत्रस्थ 'इदमः' का विशेषण होने से 'सप्तम्याः' में तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सप्तम्यन्त 'इदम्' से 'ह' प्रत्यय होता है । यह 'ह' प्रत्यय पूर्वसूत्र (१२००) से प्राप्त 'त्रल्' प्रत्यय का अपवाद है । उदाहरण के लिए 'अस्मिन्' (इसमें)—इस सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से 'ह' प्रत्यय हो 'अस्मिन् ह' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'इदम् ह' रूप बनने पर '११९७–इदम इश्' से 'इदम्' के स्थान पर 'इश्' (इ) होकर पूर्ववत् 'इह' रूप सिद्ध होता है ।

१२०२. किमोऽत् । ५ । ३ । १२

वा-ग्रहणमपकृष्यते । सप्तम्यन्तात् किमोऽद्वा स्यात् । पक्षे त्रल् ।

१२०२. किम इति—शब्दार्थ है—(किमः) किम् से (अत्) अत् प्रत्यय होता है । किन्तु यहां भी सूत्र का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता । उसके स्पष्टीकरण के लिए '१२००–सप्तम्याः–०' से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति करनी होगी । उत्तरसूत्र 'वा ह च–०' ५.३.१३ से 'वा' का अपकर्ष होता है ।† इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ

---

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए इनकी रूप-सिद्धि देखिये ।

† 'वाग्रहणमपकृष्यते'—सिद्धान्तकौमुदी ।

होगा—सप्तम्यन्त 'किम्' से विकल्प से 'अत्' (अ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'किम्' के सप्तम्यन्त रूप कस्मिन्' से 'अत्' प्रत्यय हो 'कस्मिन् अ' रूप बनने पर सुप्-लोप हो 'किम् अ' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२०३. *क्वाऽति° । ७ । २ । १०५

किमः क्वादेशः स्यादति । क्व, कुत्र ।

१२०३. क्वातीति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अति) अत् परे होने पर (क्व) क्व आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किसके स्थान पर और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'किमः कः' ७.२.१०३ से 'किमः' तथा 'अष्टन आ विभक्तौ' ७.२.८४ से 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'अत्' विभक्ति परे होने पर 'किम्' के स्थान पर 'क्व' आदेश होता है। '४५-अनेकाल्-०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'किम्' के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए 'किम् अ' में विभक्ति-संज्ञक 'अत्' (अ) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'किम्' के स्थान पर 'क्व' हो 'क्व अ' रूप बनता है। तब अन्त्य-लोप हो 'क्व् अ'='क्व' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'क्व' रूप सिद्ध होता है। 'अत्' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में 'त्रल्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'कुत्र' रूप बनता है।

१२०४. °इतराभ्योऽपि° दृश्यन्ते† । ५ । ३ । १४

पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते। दृशिग्रहणाद्भवदादियोग एव। स भवान्-ततोभवान्। तत्रभवान्। तं भवन्तम्-ततोभवन्तम्, तत्रभवन्तम्। एवं दीर्घायुः, देवानांप्रियः, आयुष्मान्।

१२०४. इतराभ्य इति—शब्दार्थ है—(इतराभ्यः) अन्य से (अपि) भी (दृश्यन्ते) दिखाई देते हैं। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र को इसके सन्दर्भ में समझना होगा।

ध्यान रहे कि इस सूत्र के पूर्व '११९५-पञ्चम्याः-०' से पञ्चम्यन्त और '१२००-सप्तम्याः-०' से सप्तम्यन्त 'किम्' आदि से 'तसिल्' और 'त्रल्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है। सूत्रस्थ 'इतराभ्यः' का अभिप्राय इन्हीं पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियों से भिन्न अन्य प्रथमादि विभक्तियों से है।‡ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्त से भिन्न प्रथमान्तादि से भी 'तसिल्' आदि प्रत्यय दिखाई देते हैं। 'दिखाई देते हैं' (दृश्यन्ते) कहने से 'भवद्' आदि के

---

* यहाँ लुप्त-प्रथमा विभक्ति है।

† यह क्रिया-पद है।

‡ 'सप्तमीपञ्चम्यपेक्षमितरत्वम्'—काशिका।

योग में ही इतर विभक्त्यन्तों (प्रथमान्तादि) से ये प्रत्यय होते हैं।* उदाहरण के लिए 'स भवान्'—यहां प्रथमान्त 'तद्' शब्द से 'भवद्' शब्द के योग में प्रकृत सूत्र से 'तसिल्' प्रत्यय हो 'सः तस्' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'तद् तस्' रूप बनने पर '१९३-त्यदादीनामः' से अकार-अन्तादेश तथा पर-रूप आदि हो 'ततः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'त्रल्'प्रत्यय हो 'तत्र' रूप बनता है। 'ततो-भवान्' और 'तत्र-भवान्' (पूज्य) में ये ही रूप दिखाई देते हैं। द्वितीयान्त 'तद्' के उदाहरण 'ततोभवन्तम्' तथा 'तत्र-भवन्तम्' में मिलते हैं। इसी भांति 'ततो-दीर्घायुः' और 'तत्र-दीर्घायुः' आदि अन्य प्रयोग भी होते हैं।

१२०५. सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा । ५ । ३ । १५

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्।

१२०५. सर्वैकान्येति—सूत्र का शब्दार्थ है-(काले) काल अर्थ में (सर्वैकान्यकिंयत्तदः†) सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् से (दा) 'दा' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस स्थिति में होता है- यह जानने के लिए '१२००-सप्तम्याः-०' से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् से 'दा' प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय भी '१२००-सप्तम्याः-०' से प्राप्त 'त्रल्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'सर्वस्मिन् काले' (सब समय में)—यहां काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'सर्व' शब्द से 'दा' प्रत्यय हो 'सर्वस्मिन् दा' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'सर्व दा' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२०६. सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि । ५ । ३ । ६

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात्। सर्वस्मिन् काले-सदा, सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्-सर्वत्र देशे।

१२०६. सर्वस्येति—शब्दार्थ है—(दि) दकार परे होने पर (सर्वस्य) सर्व के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (सः) स आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '११९३-प्राग्दिशः-०' से 'प्राग्दिशः-०' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—दकारादि प्राग्दिशीय ('दिक्शब्देभ्यः-०' ५.३.२७ के पूर्व तक होने वाले) प्रत्यय परे होने पर 'सर्व' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश होता है। '४५-अनेकाल्-०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'सर्व' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिए

---

* 'इतिग्रहणं प्रायिकविषयार्थं, तेन भवदादिभिर्योग एवैतद्विधानम्'—काशिका।

† इसका पदच्छेद यों है—'सर्व + एक + अन्य + किं + यद् + तदः'।

'सर्व दा' में दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय 'दा' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'सर्व' के स्थान पर 'स' हो 'सदा' रूप बनता है। यहां पूर्ववत् विभक्ति-कार्य हो 'सदा' रूप सिद्ध होता है। 'स'-आदेश के अभावपक्ष में 'सर्वदा' रूप ही रहेगा। इसी प्रकार 'दा' प्रत्यय हो 'एक' से 'एकदा', 'अन्य' से 'अन्यदा', 'किम्' से 'कदा', 'यद्' से 'यदा' और 'तद्' से 'तदा' रूप बनते हैं।*

यहां ध्यान रहे कि काल अर्थ में वर्तमान 'सर्व' आदि से ही 'दा' प्रत्यय होता है, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए 'सर्वत्र देशे' में 'दा' प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि 'सर्व' यहां देश अर्थ में आया है, न कि काल अर्थ में। अतः '१२००-सप्तम्याः-०' से सामान्य 'त्रल्' प्रत्यय हो 'सर्वत्र' रूप ही बनता है।

१२०७. इदमो र्हिल् । ५ । ३ । १६

सप्तम्यन्तात् । काले इत्येव ।

१२०७. इदम इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इदमः) इदम् से (र्हिल्) 'र्हिल्' प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '१२०५-सर्वैकान्य-०' से 'काले' तथा '१२००-सप्तम्याः-०' से 'सप्तम्याः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सप्तम्याः' सूत्रस्थ 'इदमः' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' से 'र्हिल्' (र्हि) प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय '१२०१-इदमः-०' से प्राप्त 'ह' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'अस्मिन् काले' यहां काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से 'र्हिल्' प्रत्यय हो 'अस्मिन् र्हि' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'इदम् र्हि' रूप बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२०८. एतेतौ रथोः । ५ । ३ । ४

इदम्शब्दस्य एत इत् इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे। अस्मिन् काले-एतर्हि। काले किम्-इह देशे।

१२०८. एतेतौ इति—शब्दार्थ है—(रथोः) रकार और थकार परे होने पर (एतेतौ=एत+इतौ) एत और इत् आदेश होते हैं। किन्तु ये आदेश किसके स्थान पर और किस स्थिति में होते हैं—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए '११६७-इदम इश्' से 'इदमः' तथा '११९२-प्राग्दिशः-०' से 'प्राग्दिशः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—प्राग्दिशीय ('दिक्शब्देभ्यः-०' ५.३.२७ सूत्र के पूर्व तक होने वाले) रकारादि और थकारादि प्रत्यय परे होने पर 'इदम्' के स्थान पर 'एत' और 'इत्' आदेश होते

* विस्तृत प्रक्रिया के लिए इनकी रूप-सिद्धि देखिये।

हैं। यहां प्रत्यय और आदेश समान होने से '२३-यथासंख्यमनुदेशः-०' परिभाषा से प्राग्दिशीय रकारादि प्रत्यय परे होने पर 'इदम्' के स्थान पर 'एत' और थकारादि प्रत्यय परे होने पर 'इदम्' के स्थान पर 'इत्' आदेश होता है। ये आदेश '११९७-इदम-०' से प्राप्त 'इश'-आदेश के अपवाद हैं। '४५-अनेकाल्-०' परिभाषा से ये आदेश सम्पूर्ण 'इदम्' के स्थान पर होते हैं। उदाहरण के लिए 'इदम् र्हि' में प्राग्दिशीय रकारादि प्रत्यय 'र्हिल्' (र्हि) परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'इदम्' के स्थान पर 'एत' हो 'एतर्हि' रूप बनता है। यहां पूर्ववत् विभक्ति-कार्य हो 'एतर्हि' रूप सिद्ध होता है।

यहां ध्यान रखना होगा कि काल अर्थ में वर्तमान 'इदम्' शब्द से ही 'र्हिल्' प्रत्यय होता है, अन्यथा नहीं। इसी से 'इह देशे'—यहां देश अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' से 'र्हिल्' प्रत्यय न हो '१२०१-इदमो हः' से सामान्य 'ह' प्रत्यय हो 'इह' रूप ही बनता है।

१२०९. अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् । ५ । ३ । २१

कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा।

१२०९. अनद्यतने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनद्यतने) अनद्यतन अर्थ में (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (र्हिल्) र्हिल् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किससे होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '१२००-सप्तम्याः-०' से 'सप्तम्याः' और '१२०५-सर्वैकान्य-०' से 'काले' की अनुवृत्ति करनी होगी। '११९४-किं-सर्वनाम-०' का यहां अधिकार प्राप्त होता है। सूत्रस्थ 'अनद्यतने' का अन्वय 'काले' से तथा 'सप्तम्याः' का अन्वय '११९४-किं-सर्वनाम-०' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनद्यतन (आज न होने वाला) काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त किम्, द्वयादि-भिन्न सर्वनाम और बहु शब्द से विकल्प से 'र्हिल्' (र्हि) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कस्मिन् काले'—यहां अनद्यतन काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से 'र्हिल्' प्रत्यय हो 'कस्मिन् र्हि' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'किम् र्हि' रूप बनने पर '२७१-किमः कः' से 'किम्' के स्थान पर 'क' आदि होकर 'कर्हि' रूप सिद्ध होता है। 'र्हिल्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में '१२०५-सर्वैकान्य-०' से 'दा' प्रत्यय हो 'कदा' रूप बनता है। इसी प्रकार 'यद्' और 'तद्' से 'र्हिल्' प्रत्यय हो क्रमशः 'यर्हि' और 'तर्हि' तथा 'दा' प्रत्यय हो क्रमशः 'यदा' और 'तदा' रूप बनते हैं।

१२१०. एतदोऽन् । ५ । ३ । ५

योगविभागः कर्त्तव्यः। एतदः स्तो रथोः। 'अन्' एतद इत्येव। एतस्मिन् काले-एतर्हि।

१२१०. एतद इति—यह सूत्र पहले ही ११६८ वें सूत्र के रूप में दिया जा चुका है। वास्तव में इस सूत्र के दो भाग हैं—'एतद.' और 'अन्' ।* 'अन्' भाग-सम्बन्धी अर्थ पहले दिया गया है। यहां 'एतदः' सम्बन्धी अर्थ दिया जा रहा है। 'एतदः' का शब्दार्थ है—'एतद् के स्थान पर'। किन्तु क्या होता है और किस परिस्थिति में होता है—इसके स्पष्टीकरण के लिए '१२०८–एतेतौ रथोः' तथा '११६२–प्राग्दिशः-०' से 'प्राग्दिशः' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होगा—प्राग्दिशीय रकारादि प्रत्यय परे होने पर 'एतद्' के स्थान पर 'एत' और थकारादि प्रत्यय परे होने पर 'एतद्' के स्थान पर 'इत्' आदेश होता है।† उदाहरण के लिए 'एतस्मिन् काले'—यहां अनद्यतन काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त 'एतद्' शब्द से पूर्वसूत्र (१२०९) द्वारा 'र्हिल्' प्रत्यय तथा सुप्-लोप हो 'एतद् र्हि' रूप बनने पर रकारादि 'र्हिल्' (र्हि) प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से 'एतद्' के स्थान पर 'एत' हो 'एत र्हि' रूप बनता है। तब पूर्ववत् विभक्ति-कार्य हो 'एतर्हि' रूप सिद्ध होता है।

१२११. प्रकारवचने थाल् । ५ । ३ । २३

प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण–तथा। यथा।

१२११. प्रकारवचने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रकारवचने) प्रकार अर्थ में (थाल्) थाल् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किससे होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र '११९४–किं-सर्वनाम–०' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रकार अर्थ में वर्तमान किम्, द्व्यादि-भिन्न सर्वनाम और बहु शब्द से 'थाल्' (था) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'तेन प्रकारेण' (उस प्रकार से)—यहां प्रकारवाची तृतीयान्त सर्वनाम 'तद्' से 'थाल' प्रत्यय हो 'तेन था' रूप बनता है। तब सुप् लोप हो 'तद् था' रूप बनने पर '१९३–त्यदादीनामः' से अकार-अन्तादेश हो 'त अ था' रूप बनेगा। यहां पर-रूप और विभक्ति-कार्य हो 'तथा' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'यद्' से 'थाल्' प्रत्यय हो 'यथा' (येन प्रकारेण–जिस प्रकार से) रूप बनता है।

१२१२. इदमस्थमुः । ५ । ३ । २४

थालोऽपवादः।

(वा०) एतदोऽपि वाच्यः। अनेन एतेन वा प्रकारेण–इत्थम्।

१२१२. इदम इति—शब्दार्थ है—(इदमः) इदम् से (थमुः) 'थमु' प्रत्यय

---

* 'एतद इति योगविभागः कर्तव्यः'—काशिका।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए १२०८ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

प्रागिवीयाः

१२१४. अतिशायने तमबिष्ठनौ । ५ । ३ । ५५

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः । अयमेषामतिशयेनाढ्यः—आढ्यतमः । लघुतमो—लघिष्ठः ।

१२१४. अतिशायने इति—शब्दार्थ है—(अतिशायने)* अतिशयन अर्थ में (तमबिष्ठनौ) तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होते हैं । किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अतिशयन (अतिशय या प्रकर्ष) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से तमप्' (तम) और 'इष्ठन्' (इष्ठ)—ये दो प्रत्यय होते हैं ।† उदाहरण के लिए 'अतिशयेन आढ्यः' (अधिक सम्पन्न)—यहां अतिशयन अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक 'आढ्यः' से 'तमप्' प्रत्यय हो 'आढ्यः तम' रूप बनता है । तब सुप्-लोप हो 'आढ्यतम' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'आढ्यतमः' रूप सिद्ध होता है । इसी प्रकार 'अतिशयेन लघुः' (अतिशय लघु) अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक 'लघु' से 'तमप्' प्रत्यय हो 'लघुतमः' रूप बनता है । 'इष्ठन्' प्रत्यय होने पर पूर्ववत् सुप्-लोप हो 'लघु इष्ठ' रूप बनने पर टि-लोप हो 'लघ् इष्ठ' = 'लघिष्ठ' रूप बनेगा । यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'लघिष्ठः' रूप सिद्ध होता है ।

विशेष—'तमप्' और 'इष्ठन्' प्रत्ययों का प्रयोग बहुतों (दो से अधिक) में से एक का उत्कर्ष बतलाने के लिए होता है ।

१२१५. तिङश्च । ५ । ३ । ५६

तिङन्तादतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ।

१२१५. तिङश्चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (तिङः) तिङ् से··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्वसूत्र '१२१४-अतिशायने-०' से 'अतिशायने' और 'तमप्' की अनुवृत्ति करनी होगी ।‡ 'तिङ्' प्रत्याहार है और इसमें 'तिप्' 'तस्' आदि अठारह प्रत्ययों का

---

* 'अतिशयनमतिशायनम् , प्रकर्षः'—काशिका ।

† यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि 'इष्ठन्' प्रत्यय केवल गुणवाची प्रातिपदिक से ही होता है ।

‡ 'अस्मादिष्ठन् न भवति 'अजादी गुणवचनादेव' ५.३.५८ इति नियमात्'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या ।

समावेश होता है।* 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से यहाँ तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अतिशायन अर्थ में वर्तमान तिङ्-प्रत्ययान्त से भी 'तमप्' (तम) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अतिशयेन पचति' (अच्छा पकाता है)—यहाँ अतिशायन अर्थ में वर्तमान तिङ्-प्रत्ययान्त 'पचति' से 'तमप्' प्रत्यय हो 'पचतितम' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२१६. तरप्तमपौ घः। १। १। २२

एतौ घसंज्ञौ स्तः।

१२१६. तरप्तमपाविति—यह संज्ञा-सूत्र है। शब्दार्थ है—(तरप्तमपौ) तरप् और तमप् (घः) घ-संज्ञक होते हैं। उदाहरण के लिए 'पचतितम' में 'तमप्' (तम) की प्रस्तुत सूत्र से 'घ' संज्ञा हो जाती है। इस स्थिति में पुनः अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२१७. किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे। ५। ४। ११

किम एतदन्तात्तिङोऽव्ययाच्च यो घः तदन्तादामुः स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे। किन्तमाम्। प्राह्णेतमाम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः।

१२१७. किमेदिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अद्रव्यप्रकर्षे) द्रव्य-भिन्न प्रकर्ष अर्थ में (किमेत्तिङव्ययघात्)† किम्, एकार, तिङ् और अव्यय से विहित 'घ' से (आमु) 'आमु' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'किमेत्तिङव्ययघात्' इसका विशेषण है, अतः उसमें तदन्त विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि किम्, एकारान्त, तिङ्-प्रत्ययान्त और अव्यय के पश्चात् 'घ' (तमप् और तरप्) प्रत्यय आया हो तो 'घ'-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से अद्रव्य (द्रव्य से भिन्न अर्थात् गुण और क्रिया‡) के प्रकर्ष में 'आमु' (आम्) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'पचति तम' में तिङ्-प्रत्ययान्त 'पचति' के पश्चात् 'घ'-प्रत्यय 'तमप्' आया है, अतः 'घ'-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक 'पचतितम' से 'आम्' प्रत्यय हो 'पचति तम आम्' रूप

* विशेष विवरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये।

† विग्रह है—'किम् च एच्च तिङ् च अव्ययं चेति किमेत्तिङव्ययानि तेभ्यो घ इति किमेत्तिङव्ययघः तस्मात्'।

‡ 'यद्यपि द्रव्यस्य स्वतः प्रकर्षो नास्ति तथापि गुणक्रियास्थः प्रकर्षो यदा द्रव्यम् उपचर्यते तदाऽयं प्रतिषेधः। क्रियागुणयोरेवायं प्रकर्षे प्रत्ययः'—काशिका।

बनता है। तब सवर्ण-दीर्घ हो 'पचतितमाम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'आम्' प्रत्यय हो 'घ'-परक 'किम्'-'किम् तम' से 'किन्तमाम्', 'घ'-परक एकारान्त-'प्राह्णेतम' से 'प्राह्णेतमाम्' (अतिमध्याह्न और 'घ'-परक अव्यय—'उच्चैस्तम' से 'उच्चैस्तमाम्' (अति ऊँचापन) रूप बनते हैं।

यहां ध्यान रहे कि 'आम्' प्रत्यय गुण और क्रिया के उत्कर्ष में ही होता है, द्रव्य के उत्कर्ष में नहीं। उदाहरण के लिए 'उच्चैस्तमस्तरुः' (अति ऊँचा वृक्ष) में 'उच्चैस्तम' से 'आम्' प्रत्यय नहीं होता क्योंकि यहां 'उच्चैस्तम' द्रव्य-'तरु' का प्रकर्ष बतलाता है। अतः केवल विभक्ति-कार्य हो 'उच्चैस्तमः' रूप ही रहता है। इस प्रकार इस सूत्र के लिए तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) 'घ' (तमप् या तरप्)—प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'आम्' प्रत्यय होता है।

(२) किन्तु यह 'आम्' प्रत्यय उसी घ-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से होगा जिसमें घ-प्रत्यय किसी तिङ्-प्रत्ययान्त, एकारान्त, अव्यय या 'किम्' शब्द के पश्चात् आया हो।

(३) यह 'आम्' प्रत्यय गुण और क्रिया के प्रकर्ष में ही होता है, द्रव्य के प्रकर्ष में नहीं।

१२१८. द्विवचनविभज्योपपदे७ तरबीयसुनौ१ । ५ । ३ । ५७

द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतरः। लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः।

१२१८. द्विवचनेति—शब्दार्थ है—(द्विवचनविभज्योपपदे*) द्वि-अर्थवाची और विभज्य उपपद रहने पर (तरबीयसुनौ=तरप्+ईयसुनौ) तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा '१२१५-तिङश्च' से 'तिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी। '१२१४-अतिशायने-०' से 'अतिशायने' की भी अनुवृत्ति होती है। उपपद† का अर्थ है—समीप में जिस पद का उच्चारण हुआ हो। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्व्यर्थवाची और विभज्य (जिसका विभाग किया जावे) उपपद रहते प्रातिपदिक और तिङन्त से अतिशयन (अतिशय, प्रकर्ष) अर्थ में 'तरप्' (तर) और 'ईयसुन्' (ईयस्) प्रत्यय होते हैं। 'अजादी गुणवचनादेव' ५.३.५८ परिभाषा से 'ईयसुन्' प्रत्यय

---

* 'द्विवचनं च विभज्यं चेति द्वन्द्वः। तस्य उपपदेन कर्मधारयः। तथा च द्व्यर्थवाचके विभजनीये चोपपदे सतीत्यक्षरार्थः'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† 'अन्वर्थं चोपपदम् उपोच्चारितं पदमिति, न तु कृत्रिमम्, तद्धितविधौ तस्यासंभवात्। तच्च विग्रहवाक्य एव प्रयुज्यते'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

केवल गुणवाची प्रातिपदिक से ही होता है। उदाहरण के लिए 'अनयोरतिशयेन लघुः' (इन दो में बहुत छोटा)—यहां द्व्यर्थवाची 'अनयोः' उपपद रहते प्रथमान्त प्रातिपदिक 'लघुः' से 'तरप्' प्रत्यय हो 'लघुः तर' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'लघुतर' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'लघुतरः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ईयसुन्' प्रत्यय होकर 'लघु ईयस्' रूप बनने पर टि-लोप हो 'लघ् ईयस्' = 'लघीयस्' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'लघीयान्' रूप सिद्ध होता है।

विभज्य उपपद का उदाहरण 'उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः' (उत्तर के लोग दक्षिण के लोगों से अधिक चतुर होते हैं) में मिलता है। यहां विभज्य उपपद 'प्राच्येभ्यः' परे रहने से प्रातिपदिक 'पटु' से 'तरप्' प्रत्यय हो प्रथमा के बहुवचन में 'पटुतराः' और 'ईयसुन्' प्रत्यय हो प्रथमा के बहुवचन में 'पटीयांसः' रूप बने हैं।

विशेष—दो में से जब एक को दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्ट बताना होता है तभी ये तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं।

१२१९. प्रशस्यस्य[1] श्रः[1] । ५ । ३ । ६०

अस्य 'श्र' आदेशः स्यादजाद्योः परतः।

१२१९. प्रशस्यस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रशस्यस्य) प्रशस्य के स्थान पर (श्रः) 'श्र' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस स्थिति में होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अजादी-०' ५.३.५८ से 'अजादी' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह सप्तमी विभक्ति में विपरिणत हो जाता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि प्रत्यय (अर्थात् इष्ठन् और ईयसुन्) परे रहते 'प्रशस्य' (प्रशंसनीय) के स्थान पर 'श्र' आदेश होता है। '४५—अनेकाल्-०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'प्रशस्य' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिये 'एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः' (इन सब में अतिशय प्रशंसनीय)—इस अर्थ में 'प्रशस्यः' से 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'प्रशस्य इष्ठ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'प्रशस्य' के स्थान पर 'श्र' हो 'श्र इष्ठ' रूप बनता है। तब '११५४—टेः' से 'टि'-लोप प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२२०. [3]प्रकृत्यैकाच्[3] । ६ । ४ । १६३

इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः, श्रेयान्।

१२२०. प्रकृत्यैकाजिति—शब्दार्थ है—(एकाच्) एक अच् वाला (प्रकृत्या) प्रकृति से रहता है। किन्तु यह किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'तुरिष्ठे-

---

* 'अजादी इति प्रकृतस्य सप्तमी विभक्तिविपरिणम्यते'—काशिका।

बनता है। तब सवर्ण-दीर्घ हो 'पचतितमाम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'आम्' प्रत्यय हो 'घ'-परक 'किम्'–'किम् तम' से 'किन्तमाम्', 'घ'-परक एकारान्त–'प्राह्णेतम' से 'प्राह्णेतमाम्' (अतिमध्याह्न और 'घ'–परक अव्यय—'उच्चैस्तम' से 'उच्चैस्तमाम्' (अति ऊँचापन) रूप बनते हैं।

यहां ध्यान रहे कि 'आम्' प्रत्यय गुण और क्रिया के उत्कर्ष में ही होता है, द्रव्य के उत्कर्ष में नहीं। उदाहरण के लिए 'उच्चैस्तमस्तरुः' (अति ऊँचा वृक्ष) में 'उच्चैस्तम' से 'आम्' प्रत्यय नहीं होता क्योंकि यहां 'उच्चैस्तम' द्रव्य–'तरु' का प्रकर्ष बतलाता है। अतः केवल विभक्ति-कार्य हो 'उच्चैस्तम' रूप ही रहता है। इस प्रकार इस सूत्र के लिए तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) 'घ' (तमप् या तरप्)—प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से 'आम्' प्रत्यय होता है।

(२) किन्तु यह 'आम्' प्रत्यय उसी घ-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से होगा जिसमें घ-प्रत्यय किसी तिङ्-प्रत्ययान्त, एकारान्त, अव्यय या 'किम्' शब्द के पश्चात् आया हो।

(३) यह 'आम्' प्रत्यय गुण और क्रिया के प्रकर्ष में ही होता है, द्रव्य के प्रकर्ष में नहीं।

१२१८. द्विवचनविभज्योपपदे[7] तरबीयसुनौ[1] । ५ । ३ । ५७

द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुर्लघुतरः। लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः।

१२१८. द्विवचनेति—शब्दार्थ है—(द्विवचनविभज्योपपदे*) द्वि-अर्थवाची और विभज्य उपपद रहने पर (तरबीयसुनौ=तरप् + ईयसुनौ) तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४ १.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा '१२१५–तिङश्च' से 'तिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी। '१२१४–अतिशायने-०' से 'अतिशायने' की भी अनुवृत्ति होती है। उपपद† का अर्थ है—समीप में जिस पद का उच्चारण हुआ हो। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—द्व्यर्थवाची और विभज्य (जिसका विभाग किया जावे) उपपद रहते प्रातिपदिक और तिङन्त से अतिशयन (अतिशय, प्रकर्ष) अर्थ में 'तरप्' (तर) और 'ईयसुन्' (ईयन्) प्रत्यय होते हैं। 'अजादी गुणवचनादेव' ५.३.५८ परिभाषा से 'ईयसुन्' प्रत्यय

---

* 'द्विवचनं च विभज्यं चेति द्वन्द्वः। तस्य उपपदेन कर्मधारयः। तथा च द्व्यर्थवाचके विभजनीये चोपपदे सतीत्यक्षरार्थः'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† 'अन्वर्थं चोपपदम् उपोच्चारितं पदमिति, न तु कृत्रिमम्, तद्धितविधौ तस्यासंभवात्। तच्च विग्रहवाक्य एव प्रयुज्यते'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

केवल गुणवाची प्रातिपदिक से ही होता है। उदाहरण के लिए 'अनयोरतिशयेन लघुः' (इन दो में बहुत छोटा)—यहां द्वयर्थवाची 'अनयोः' उपपद रहते प्रथमान्त प्रातिपदिक 'लघुः' से 'तरप्' प्रत्यय हो 'लघुः तर' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'लघुतर' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'लघुतरः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ईयसुन्' प्रत्यय होकर 'लघु ईयस्' रूप बनने पर टि-लोप हो 'लघ् ईयस्' = 'लघीयस्' रूप बनता है। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'लघीयान्' रूप सिद्ध होता है।

विभज्य उपपद का उदाहरण 'उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः' (उत्तर के लोग दक्षिण के लोगों से अधिक चतुर होते हैं) में मिलता है। यहां विभज्य उपपद 'प्राच्येभ्यः' परे रहने से प्रातिपदिक 'पटु' से 'तरप्' प्रत्यय हो प्रथमा के बहुवचन में 'पटुतराः' और 'ईयसुन्' प्रत्यय हो प्रथमा के बहुवचन में 'पटीयांसः' रूप बने हैं।

विशेष—दो में से जब एक को दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्ट बताना होता है तभी ये तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं।

१२१९. प्रशस्यस्य[२] श्रः[१] । ५ । ३ । ६०

अस्य 'श्र' आदेशः स्यादजाद्योः परतः।

१२१९. प्रशस्यस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(प्रशस्यस्य) प्रशस्य के स्थान पर (श्रः) 'श्र' आदेश होता है। किन्तु यह आदेश किस स्थिति में होता है—यह सूत्र से ज्ञात नहीं होता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अजादी–०' ५.३.५८ से 'अजादी' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह सप्तमी विभक्ति में विपरिणत हो जाता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि प्रत्यय (अर्थात् इष्ठन् और ईयसुन्) परे रहते 'प्रशस्य' (प्रशंसनीय) के स्थान पर 'श्र' आदेश होता है। '४५–अनेकाल्–०' परिभाषा से यह आदेश सम्पूर्ण 'प्रशस्य' के स्थान पर होता है। उदाहरण के लिये 'एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः' (इन सब में अतिशय प्रशंसनीय)—इस अर्थ में 'प्रशस्यः' से 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'प्रशस्य इष्ठ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'प्रशस्य' के स्थान पर 'श्र' हो 'श्र इष्ठ' रूप बनता है। तब '११५४–टे.' से 'टि'-लोप प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२२०. [३]प्रकृत्यैकाच्[१] । ६ । ४ । १६३

इष्टादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः, श्रेयान्।

१२२०. प्रकृत्यैकाजिति—शब्दार्थ है—(एकाच्) एक अच् वाला (प्रकृत्या) प्रकृति से रहता है। किन्तु यह किस अवस्था में होता है—यह जानने के लिए 'तुरिष्ठे-

* 'अजादी इति प्रकृतस्य सप्तमी विभक्तिर्विपरिणम्यते'—काशिका।

मेयस्सु' ६.४.१५४ से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'एकाच्' का अर्थ है—जिसमें एक अच् या स्वर-वर्ण हो। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय परे होने पर एकाच् प्रकृति से रहता है अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए 'श्र इष्ठ' में 'इष्ठन्' (इष्ठ) प्रत्यय परे होने से एकाच् 'श्र' को प्रकृति-भाव हो जाता है। प्रकृति-भाव हो जाने से '११५४—टेः' से प्राप्त टि-लोप भी नहीं होता। इस स्थिति में तब गुणादेश हो 'श्रेष्ठ' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'श्रेष्ठः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'अनयोरतिशयेन प्रशस्यः' (इन दोनों में से अतिशय प्रशंसनीय) अर्थ में 'प्रशस्य.' से 'ईयसुन्' प्रत्यय हो 'श्रेयान्' रूप बनता है।

१२२१. ज्य* च। ५। ३। ६१

प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्यात् इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः।

१२२१. ज्य चेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (ज्य) 'ज्य' आदेश होता है। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है। कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१२१९-प्रशस्यस्य-०' से 'प्रशस्यस्य' और 'अजादी-०' ५.३.५८ से 'अजादी' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार पूर्ववत् सूत्र का भावार्थ होग.—अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुन्) परे रहने पर 'प्रशस्य' के स्थान पर ज्य' भी आदेश होता है।† इस प्रकार अजादि प्रत्यय परे रहते 'प्रशस्य' के दो रूप बनते हैं—एक 'श्र' आदेश होकर और दूसरा 'ज्य' आदेश होकर। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त 'एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः' अर्थ में 'इष्ठन्' प्रत्यय हो 'प्रशस्य इष्ठ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'प्रशस्य' के स्थान पर 'ज्य' सर्वादेश हो 'ज्य इष्ठ' रूप बनता है। तब पूर्ववत् प्रकृति-भाव और गुणादेश आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'ज्येष्ठः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अनयोरतिशयेन प्रशस्यः' अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय हो 'प्रशस्य ईयस्' रूप बनने पर 'प्रशस्य' के स्थान पर 'ज्य' हो 'ज्य ईयस्' रूप बनता है। तब प्रकृति-भाव होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२२२. ज्यादादीयसः‡। ६। ४। १६०

(७२) आदेः परस्य। ज्यायान्।

१२२२. ज्यादादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ज्यात्) 'ज्य' के पश्चात् (ईयसः) ईयस् या ईयसुन् के स्थान पर (आत्) आकार आदेश होता है। '७२-

* यहां लुप्त-प्रथमा विभक्ति है।

† अधिक स्पष्टीकरण के लिए १२१९ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ सूत्र का पदच्छेद यों है—'ज्यात्+आत्+ईयसः'।

आदेः परस्य' परिभाषा से यह आकार-आदेश 'ईयस्' के आदि ईकार को ही होता है। उदाहरण के लिए 'ज्य ईयस्' में 'ज्य' के पश्चात् 'ईयस्' के ईकार को आकार होकर 'ज्य आयस्' रूप बनता है। तत्र सवर्ण-दीर्घ हो 'ज्यायस्' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'ज्यायान्' रूप सिद्ध होता है।

१२२३. बहोर्लोपो[१] भू[*] च[४] बहोः[५] । ६ । ४ । १५८

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्यात् बहोश्च भूरादेशः। भूमा। भूयान्।

१२२३. बहोरिति—शब्दार्थ है—(बहोः) बहु के पश्चात् (लोपः) लोप होता है (च) और (बहोः) बहु के स्थान पर (भू) 'भू' आदेश होता है। किन्तु यह लोप किसका होता है—यह जानने के लिए 'तुरिष्ठेमेयस्सु' ६.४.१५४ से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति होती है। यह षष्ठी-विभक्ति में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'बहु' शब्द के पश्चात् इष्ठन् (इष्ठ), इमनिच् (इमन्) और ईयसुन् (ईयस्)—इन प्रत्ययों का लोप होता है और 'बहु' के स्थान पर 'भू' आदेश होता है। '७२—आदेः परस्य' परिभाषा से 'इष्ठन्' आदि के आदि इकार या ईकार का ही लोप होता है और '४५—अनेकाल्—०' परिभाषा से 'भू'-आदेश सम्पूर्ण 'बहु' के स्थान पर होता है। इस प्रकार इस सूत्र के दो कार्य हैं—

(१) बहु' के पश्चात् 'इष्ठन्', 'इमनिच्' और 'ईयसुन्' के आदि इकार या ईकार का लोप होता है।

(२) सम्पूर्ण 'बहु' के स्थान पर 'भू' आदेश होता है।

उदाहरण के लिए 'बहोर्भावः' (बहु का भाव)—इस अर्थ में '१५२—पृथ्वादिभ्यः—०' से षष्ठ्यन्त 'बहु' शब्द से 'इमनिच्' प्रत्यय तथा सुप्-लोप हो 'बहु इमन्' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'इमनिच्' (इमन्) के आदि इकार का लोप और 'बहु' को 'भू' होकर 'भू मन्' रूप बनता है। तत्र विभक्ति-कार्य हो 'भूमा' (बहुत्व) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अनयोरतिशयेन बहुः' (इन दोनों में से अधिक) अर्थ में 'ईयसुन्' प्रत्यय हो 'बहु ईयस्' रूप बनने पर 'बहु' को 'भू' और 'ईयस्' के आदि ईकार का लोप होकर 'भूयस्' रूप बनता है। यहां भी विभक्ति-कार्य हो 'भूयान्' रूप सिद्ध होगा। 'एषाम् अतिशयेन बहुः' (इन सब में अधिक) अर्थ में भी इसी भांति 'इष्ठन्' प्रत्यय, आदि इकार का लोप और 'भू'-आदेश हो 'भू ष्ठ' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२२४. इष्ठस्य[६] यिट्[१] च[४] । ६ । ४ । १५९

बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्याद् यिडागमश्च। भूयिष्ठः।

---

*यहां लुप्त-प्रथमा विभक्ति है।

४९ ल० कौ०

१२२४. इष्ठस्येति—शब्दार्थ है—(च) और (इष्ठस्य) इष्ठन् या इष्ठ का अवयव (यिट्) 'यिट्' होता है। 'यिट्' का टकार इत्संज्ञक है, अतः टित् होने के कारण '८५–आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से यह 'इष्ठन्' का आद्यवयव बनता है। सूत्र में 'च' कहने से यह कार्य पूर्वसूत्र '१२२३–बहोर्लोपः-०' से विहित कार्य के अनन्तर ही होगा। उदाहरण के लिए 'भू ष्ठ' में 'इष्ठन्' (ष्ठ)* को 'यिट्' (यि) आगम हो 'भूयिष्ठ' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'भूयिष्ठः' रूप सिद्ध होता है।

१२२५. विन्मतोर्लुक् । ५ । ३ । ६५

विनो मतुपश्च लुक स्यादिष्ठेयसोः। अतिशयेन स्रग्वी–स्रजिष्ठः। स्रजीयान्। अतिशयेन त्वग्वान्–त्वचिष्ठः। त्वचीयान्।

१२२५. विन्मतोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(विन्मतोः) विन् और मतुप् का (लुक्) लुक् होता है। किन्तु यह लोप किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'अजादी–०' ५.३.५८ से 'अजादी' की अनुवृत्ति करनी होगी। यह सप्तमी विभक्ति में विपरिणत हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुन्) परे होने पर विन् और मतुप्—इन दो प्रत्ययों का लुक् (लोप) होता है। उदाहरण के लिए 'एषाम् अतिशयेन स्रग्वी' (इन सबसे अधिक माला पहनने-वाला)—इस अर्थ में विन्-प्रत्ययान्त 'स्रग्विन्'† से 'इष्ठन्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'स्रग्विन् इष्ठ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'विन्' प्रत्यय का लोप होकर 'स्रग् इष्ठ' रूप बनता है। तब 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' परिभाषा से पूर्व-रूप हो 'स्रज् इष्ठ' = 'स्रजिष्ठ' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर 'स्रजिष्ठः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अनयोः अतिशयेन स्रग्वी' (इन दोनों में अधिक माला पहिननेवाला) अर्थ में भी 'ईयसुन्' प्रत्यय हो 'स्रग्विन् ईयस्' रूप बनने पर 'विन्' प्रत्यय का लोप हो 'स्रज् ईयस्' = 'स्रजीयस्' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो 'स्रजीयान्' रूप सिद्ध होगा।

'मतुप्'–प्रत्ययान्त का उदाहरण 'त्वचिष्ठः' में मिलता है। यहां 'एषाम् अतिशयेन त्वग्वान्' (इन सबमें अधिक त्वचावाला) अर्थ में मतुप्-प्रत्ययान्त 'त्वग्वत्' से 'इष्ठन्' प्रत्यय हो 'त्वग्वत् इष्ठ' रूप बनने पर प्रकृत सूत्र से 'मतुप्' प्रत्यय का लोप होकर 'त्वच् इष्ठ' = 'त्वचिष्ठ' रूप बनता है। तब विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'त्वचिष्ठः' रूप सिद्ध होता है। 'अनयोः अतिशयेन त्वग्वान्' (इन दो

* यहां 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' परिभाषा से 'ष्ठ' से 'इष्ठन्' का ही ग्रहण होता है।
† यहां 'अस्माया–०' ५.२.१२१ सूत्र से 'विनि' (विन्) प्रत्यय हुआ है।

में अधिक त्वचावाला)—इस अर्थ में भी 'ईयसुन्' प्रत्यय हो 'त्वग्वत् ईयस्' रूप बनने पर 'मतुप्'-लोप और विभक्ति-कार्य होकर 'त्वचीयान्' रूप बनता है।

१२२६. ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः । ५ । ३ । ६७

ईषदूनो विद्वान्-विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः । विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ।

१२२६. ईषदिति—शब्दार्थ है—(ईषद्—असमाप्तौ) ईषद्-असमाप्ति अर्थ में (कल्पब्देश्यदेशीयरः) कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय होते हैं। किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा '१२१५-'तिङश्च' से 'तिङः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'ईषद्-असमाप्ति' का अर्थ है—कुछ कमी। यह प्रकृत्यर्थ का विशेषण है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ईषद्-असमाप्ति' (कुछ कमी) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक और तिङ्-प्रत्ययान्त से 'कल्पप्' (कल्प), 'देश्य' और 'देशीयर्' (देशीय)—ये तीन प्रत्यय होते हैं। उदाहरण के लिए 'ईषदसमाप्तो विद्वान्' (कुछ कम विद्वान्)—इस अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक 'विद्वस्' से 'कल्पप्' प्रत्यय और सुप्-लोप हो 'विद्वस् कल्प' रूप बनता है। यहां '२६२-वसु-स्रंसु-०' से सकार को दत्व तथा पुनः '७४-खरि च' से तत्व हो 'विद्वत्कल्प' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर प्रथमा के एकवचन में 'विद्वत्कल्पः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त अर्थ में 'देश्य' प्रत्यय हो 'विद्वद्देश्यः' और 'देशीयर्' प्रत्यय हो 'विद्वद्देशीयः' रूप बनते हैं। तिङ्-प्रत्ययान्त का उदाहरण 'पचतिकल्पम्' (ईषद् असम्पूर्णं पचति—कुछ कम पका रहा है) में मिलता है। यहां तिङ्-प्रत्ययान्त 'पचति' से 'कल्पप्' प्रत्यय हो प्रथमा के एकवचन में 'पचतिकल्पम्' रूप बना है।

१२२७. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु । ५ । ३ । ६८

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्तात् बहुज्वा स्यात्स च प्रागेव न तु परतः । ईषदूनः पटुर्बहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम्-यजतिकल्पम् ।

१२२७. विभाषेति—शब्दार्थ है—(सुपः) सुप् से (विभाषा) विकल्प से (बहुच्) बहुच् प्रत्यय होता है और वह (पुरस्तात्-तु) पहले ही होता है। किन्तु यह प्रत्यय किस अर्थ में होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '१२२६-ईषदसमाप्तौ-०' से 'ईषदसमाप्तौ' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'सुप्' प्रत्याहार है और इसमें 'सु', 'औ' आदि इक्कीस प्रत्ययों का समावेश होता है।† 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्'

---

* 'सम्पूर्णता, पदार्थानां समाप्तिः। स्तोकेनासंपूर्णता, ईषदसमाप्तिः। प्रकृत्यर्थ-विशेषणं चैतत्'—काशिका।

† विशेष विवरण के लिए परिशिष्ट में 'प्रत्याहार' देखिये।

परिभाषा से यहां तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'ईषद् असमाप्ति' (कुछ कमी) अर्थ में वर्तमान सुबन्त (सुप्-प्रत्ययान्त) से विकल्प से 'बहुच्' (बहु) प्रत्यय होता है और वह पहले ही होता है, पश्चात् नहीं। इस प्रकार इस सूत्र के दो कार्य हैं—

(१) 'ईषद् असमाप्ति' अर्थ में सुबन्त से विकल्प से 'बहुच्' प्रत्यय होता है।

(२) यह 'बहुच्' प्रत्यय सुबन्त के पूर्व ही होता है, पश्चात् नहीं।

उदाहरण के लिए 'ईषदसमाप्तः पटुः' (कुछ कम चतुर)—इस अर्थ में सुबन्त 'पटु' से 'बहुच्' प्रत्यय हो 'बहुपटुः' रूप बनता है। 'बहुच्' प्रत्यय के अभावपक्ष में पूर्वसूत्र (१२२६) से 'कल्पप्' आदि प्रत्यय हो पूर्ववत् 'पटुकल्पः' आदि रूप बनते हैं।

ध्यान रहे कि यहां सुबन्त से ही 'बहुच्' प्रत्यय कहा गया है, अतः 'ईषद् असम्पूर्णं यजति'—इस अर्थ में तिङन्त 'यजति' से 'बहुच्' प्रत्यय नहीं होता। यहां तो पूर्वसूत्र (१२२६) से 'कल्पप्' प्रत्यय हो 'यजतिकल्पम्' रूप ही बनता है।

१२२८. प्रागिवात्[१] कः[२]।

'इवे प्रतिकृतौ' इत्यतः प्राक् काधिकारः।

१२२८. प्रागिवादिति—यह अधिकार-सूत्र है। शब्दार्थ है—(इवात्) 'इव' से (प्राक्) पहले (कः) 'क' प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में सूत्रस्थ 'इव' एकदेशीय निर्देश है और इससे 'इवे प्रतिकृतौ' ५.३.९६ का ग्रहण होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'इवे प्रतिकृतौ' ५.३.९६ सूत्र के पूर्व तक 'क' प्रत्यय होता है—यह अधिकार समझना चाहिये। तात्पर्य यह कि इस सूत्र से लेकर 'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र के पूर्व तक जिन अर्थों का विधान किया गया है, उनमें 'क' प्रत्यय होता है।

विशेष—अर्थ-विधायक सूत्र आगे दिये जावेंगे।

१२२९. अव्यय-सर्वनाम्नामकच्[१] प्राक् टेः[२]। ५। ३। ७१

कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्तते।

(वा०) ओकार-सकार-भकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्। अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्रागकच्।

१२२९. अव्ययेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अव्ययसर्वनाम्नाम्) अव्यय और सर्वनामों की (टेः) टि से (प्राक्) पूर्व (अकच्) अकच् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किन अर्थों में होता है—यह जानने के लिए अधिकार-सूत्र '१२२८–प्रागिवात्–०' से 'प्रागिवात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ 'तिङश्च' ५.३.५६ से 'तिङः' की भी अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'सर्वनाम' पारिभाषिक शब्द

है और इससे 'सर्व', 'यद्' और 'युष्मद्' आदि का ग्रहण होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यहां से लेकर 'इवे प्रतिकृतौ' ५.३.९६ के पूर्व तक कहे जाने वाले अर्थों में अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त (तिङ्-प्रत्ययान्त) की 'टि'† के पहले 'अकच्' (अक्) प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय पूर्वसूत्र (१२२८) से प्राप्त 'क' प्रत्यय का अपवाद है।

वास्तव में इस सूत्र के दो कार्य हैं—

(१) 'इवे प्रतिकृतौ' ५.३.९६ सूत्र के पूर्व तक कहे जानेवाले अर्थों में अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त से 'अकच्' (अक्) प्रत्यय होता है।

(२) यह 'अकच्' प्रत्यय इनकी 'टि' के पूर्व ही होता है।

सामान्यतया यह 'अकच्' प्रत्यय तिङन्त, अव्यय और सुप्-प्रत्ययान्त सर्वनाम की 'टि' के पूर्व होता है, किन्तु सर्वनाम से ओकारादि, सकारादि और भकारादि सुप्-प्रत्यय परे रहने पर यह प्रत्यय प्रातिपदिक‡ की 'टि' के पूर्व होता है। अग्रिम सूत्र में दिये गये उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

विशेष—इन दोनों सूत्रों (१२२८ तथा १२२९) का सम्मिलित अर्थ इस प्रकार होगा—'इवे प्रतिकृतौ' ५.३.९६ के पूर्व तक कहे जानेवाले अर्थों में अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त से 'अकच्' प्रत्यय होता है और इनसे भिन्न शब्दों से 'क' प्रत्यय।

१२३०. अज्ञाते[७] । ५ । ३ । ७३

कस्यायमश्वः—अश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके। युष्मकाभिः। युवकयोः। त्वयका।

१२३०. अज्ञाते इति—शब्दार्थ है—(अज्ञाते) अज्ञात अर्थ में···। यह केवल अर्थ-निर्देश है। इस अर्थ में यथाविहित प्रत्ययों का विधान किया गया है। किन्तु ये प्रत्यय किससे होते हैं—यह जानने के लिए '१२१५–तिङश्च' से 'तिङः', '१२२७–विभाषा सुपः–०' से 'सुपः' तथा अधिकार-सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अज्ञात अर्थ में वर्तमान तिङन्त, सुबन्त और प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय ('क' या 'अकच्') होते हैं।§ उदाहरण के लिए 'अज्ञातोऽश्वः' (अज्ञात अश्व)—इस अर्थ

---

* विस्तृत विवरण के लिए १५१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

† विशेष स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

‡ विशेष स्पष्टीकरण के लिए ११६ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

§ इन प्रत्ययों के विषय में पूर्वसूत्र (१२२९) में दिये गये 'विशेष' नियम को याद रखना चाहिये।

में १२२८ वें सूत्र से प्रथमान्त 'अश्व' से 'क' प्रत्यय हो 'अश्वः क' रूप बनता है। तब सुप् लोप हो 'अश्वक' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर 'अश्वकः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अज्ञातम् उच्चैः' (अज्ञात ऊँचा) अर्थ में अव्यय 'उच्चैस्' की 'टि'—'ऐस्' के पूर्व पूर्वसूत्र (१२२९) से 'अकच्' प्रत्यय हो 'उच्च् अक् ऐस्' = 'उच्चकैस्' रूप बनता है। यहां रुत्व-विसर्ग हो 'उच्चकैः' रूप सिद्ध होता है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) नीचकैः (अज्ञातम् नीचैः)—इसकी सिद्धि 'उच्चकैः' के समान है।

(ख) सर्वके (अज्ञाताः सर्वे–सब अज्ञात)—यहां अज्ञात अर्थ में वर्तमान सुप्-प्रत्ययान्त सर्वनाम 'सर्वे' की 'टि'–एकार के पूर्व 'अकच्' प्रत्यय हो 'सर्व् अक् ए' = 'सर्वके' रूप बनता है।

(ग) युष्मकाभिः (अज्ञातैः युष्माभिः–अज्ञात तुम ने)—यहां सर्वनाम 'युष्मद्' से भकारादि सुप्-प्रत्यय 'भिस्' परे होने के कारण प्रातिपदिक 'युष्मा' की 'टि'–'आ' के पूर्व 'अकच्' प्रत्यय हो 'युष्म् अक् आ भिः' = 'युष्मकाभिः' रूप बनता है।

(घ) युवकयोः (अज्ञातयोः युवयोः–अज्ञात तुम दो का)—यहां भी सर्वनाम 'युष्मद्' से ओकारादि सुप्-प्रत्यय 'ओस्' परे होने से प्रातिपदिक 'युवय्' की टि–'अय्' के पूर्व 'अकच्' प्रत्यय हो 'युव् अक् अय् ओः' = 'युवकयोः' रूप बनता है।

(ङ) त्वयका (अज्ञातेन त्वया–अज्ञात तुम ने)—यहां ओकारादि-भिन्न सुप्-प्रत्यय परे होने के कारण सुप्-प्रत्ययान्त सर्वनाम 'त्वया' की टि–'आ' के पूर्व 'अकच्' प्रत्यय हो 'त्वय् अक् आ' = 'त्वयका' रूप बनता है।

तिङन्त का उदाहरण 'पचतकि:' में मिलता है। यहां अज्ञात अर्थ में वर्तमान तिङन्त 'पचति' की 'टि'–इकार के पूर्व 'अकच्' प्रत्यय हो 'पचत् अक् इ' = 'पचतकि' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो 'पचतकि.' रूप बना है।

१२३१. कुत्सिते । ५ । ३ । ७४

कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः।

१२३१. कुत्सिते इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(कुत्सिते) कुत्सित अर्थ में···। यहां भी पूर्वसूत्र (१२३०) की भांति अनुवृत्ति हो भावार्थ होगा—कुत्सित अर्थ में वर्तमान तिङन्त, सुबन्त और प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय ('क' या 'अकच') होते हैं। उदाहरण के लिए 'कुत्सितोऽश्वः' (कुत्सित–बुरा घोड़ा)—इस अर्थ में प्रथमान्त सुबन्त 'अश्वः' से 'क' प्रत्यय हो 'अश्वः क' रूप बनने पर पूर्ववत् सुप् लोप और विभक्ति कार्य हो 'अश्वक.' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अकच्' प्रत्यय हो 'सर्वके' (सब कुत्सित) आदि अन्य रूप बनते हैं।

विशेष—ध्यान रहे कि अज्ञात और कुत्सित—इन दोनों ही अर्थों में शब्दों के रूप एक-से होते हैं। अन्तर केवल अर्थ का ही होता है।

१२३२. किंयत्तदो[1] निर्धारणे[7] *[7]द्वयोरेकस्य[6] डतरच्[1] । ५ । ३ । ९२

अनयोः कतरो वैष्णवः । यतरः । ततरः ।

१२३२. किंयत्तद इति—शब्दार्थ है—(द्वयोः) दो में से (एकस्य) एक के (निर्धारणे) निर्धारण† के विषय में (किंयत्तदः) किम्, यद् और तद् से (डतरच) 'डतरच्' प्रत्यय होता है। 'डतरच्' का डकार और चकार इत्संज्ञक है, अतः केवल 'अतर' का ही प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए 'अनयोः कः वैष्णवः' (इन दो में से कौन वैष्णव है ?)—यहां दो में से एक के निर्धारण के विषय में प्रथमान्त 'किम्' से 'डतरच्' प्रत्यय हो 'कः अतर' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'किम् अतर' रूप बनने पर डित् प्रत्यय 'डतरच्' (अतर) के परे होने के कारण 'किम्' की 'टि'–'इम्' का लोप होकर 'क् अतर' = 'कतर' रूप बनेगा। यहां विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन में 'कतरः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'यद्' से 'यतरः' (अनयोर्यः–इन दो में जो) और 'तद्' से 'ततरः' (अनयोः सः–इन दो में वह) रूप बनते हैं।

१२३३. वा[0] बहूनां[6]‡ जातिपरिप्रश्ने[7] डतमच्[1] । ५ । ३ । ९३

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज् वा स्यात्। 'जातिपरिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे। कतमो भवतां कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणमकजर्थम्। यकः। सकः।

इति प्राग्दिवीयाः ।

१२३३. वा बहूनामिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(जातिपरिप्रश्ने) जातिपरिप्रश्न अर्थ में (बहूनाम्) बहुतों में से...(वा) विकल्प से (डतमच्) डतमच् प्रत्यय होता है। किन्तु यह प्रत्यय किससे होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए पूर्वसूत्र '१२३२-किंयत्तदो-०' से 'किंयत्तदो' और 'एकस्य निर्धारणे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि बहुतों में से एक का निर्धारण करना हो तो जाति-परिप्रश्न अर्थ में वर्तमान किम्, यद् और तद् से विकल्प से 'डतमच्' (अतम) प्रत्यय होता है। यहां 'परि-प्रश्न' (पूछ-ताछ) का अन्वय केवल 'किम्' से तथा 'जाति' का अन्वय किम्, तद् और यद्–

* यहां षष्ठी और सप्तमी—ये दोनों ही विभक्तियां हो सकती हैं। 'यतश्च निर्धारणम्' २.३.४१ से इनका प्रयोग 'निर्धारण' अर्थ में होता है।

† 'निर्धारण' का अर्थ है—पृथक् करना। जाति, क्रिया, गुण या संज्ञा द्वारा समुदाय में से एक के पृथक्करण को 'निर्धारण' कहते हैं।

‡ 'बहूनामिति निर्धारणे षष्ठी'—काशिका।

इन तीनों से ही होता है।* दूसरे शब्दों में सूत्र का स्फुट भावार्थ इस प्रकार होगा—यदि बहुतों में से एक का निर्धारण करना हो तो जाति-परिप्रश्न (जाति-सम्बन्धी पूछ-ताछ) अर्थ में वर्तमान 'किम्' से तथा जाति अर्थ में वर्तमान 'यद्' और 'तद्' से विकल्प से 'डतमच्' (अतम) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'कतमो भवतां कठः' (आप लोगों में से कठ जाति या शाखा का कौन है?)—इस वाक्य में बहुतों में से एक का निर्धारण किया जा रहा है। साथ ही यह प्रश्न जाति-सम्बन्धी है। अतः प्रकृत सूत्र से जाति-परिप्रश्न अर्थ में विद्यमान 'किम्' से 'डतमच्' प्रत्यय हो 'किम् अतम' रूप बनने पर पूर्ववत् टि-लोप और विभक्ति-कार्य हो 'कतमः' रूप बनता है। इसी प्रकार 'यद्' से 'डतमच्' प्रत्यय हो 'यतमः' और 'तद्' से 'डतमच्' प्रत्यय हो 'ततमः' रूप बनते हैं। इन दोनों का प्रयोग जातिविषयक निर्धारण में होता है, यथा—'यतमो भवतां कठः, ततम आगच्छतु' (आप लोगों में से जो कठ शाखा का हो वह आवे)।

सूत्र में 'वा' (विकल्प से) कहने से 'डतमच्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में '१२२९-अव्यय-०' से 'अकच्' प्रत्यय होता है।† 'अकच्' प्रत्यय होने पर पूर्वोक्त अर्थ में 'यद्' से 'यकः' (एषां यः-इनमें जो) और 'तद्' से 'सकः' (तेषां सः- इनमें वह) रूप बनते हैं।‡

विशेष—सूत्रस्थ 'जातिपरिप्रश्ने' का भाष्यकार ने खंडन किया है।§ सूत्र में 'जातिपरिप्रश्ने' कहने से 'डतमच्' प्रत्यय जातिविषयक निर्धारण में ही होगा—अन्यत्र नहीं। किन्तु यह प्रत्यय अन्यत्र भी मिलता है, यथा—'कतमो भवतां लक्ष्मण-पुरं यास्यति' (आप लोगों में से लक्ष्मणपुर कौन जावेगा?)। यहाँ जातिविषयक निर्धारण न होने पर भी 'डतमच्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। इसीलिए सिद्धान्त-कौमुदीकार ने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार दिया है—'बहुतों में से एक के निर्धारण में किम्, यद् और तद् से 'डतमच्' प्रत्यय होता है।'

प्रागिवीय-प्रकरण समाप्त।

---

* 'परिप्रश्नग्रहणं च किम एव विशेषणं, न यत्तदोरसम्भवात्। जातिग्रहणं तु सर्वैरेव सम्बध्यते'—काशिका।

† 'वावचनमकजर्थम्'—काशिका।

‡ विस्तृत प्रक्रिया के लिए इनकी रूप सिद्धि देखिये।

§ 'जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यातमाकरे'—सिद्धान्तकौमुदी।

स्वार्थिकाः

१२३४. इवे प्रतिकृतौ । ५ । ३ । ९६

कन् स्यात् । अश्व इव प्रतिकृतिः-अश्वकः ।

(वा०) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् । अश्वकः ।

१२३४. इवे इति—शब्दार्थ है—(इवे) सदृश (प्रतिकृतौ) प्रतिकृति अर्थ में...। किन्तु क्या होता है और किससे होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अवक्षेपणे कन्' ५.३.९५ से 'कन्' तथा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'प्रतिकृति' का अर्थ है—प्रतिरूपक या किसी के समान काष्ठादि से बनाई गई प्रतिमा।* वह प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रतिकृति अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से 'इव' (सदृश) अर्थ में 'कन्' प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि जब प्रातिपदिक का अर्थ तद्वत् प्रतिकृति बतलाना होता है तब उससे 'कन्' (क) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अश्व इव प्रतिकृतिः' (अश्व के सदृश प्रतिकृति)—इस अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक 'अश्व' से 'कन्' प्रत्यय हो 'अश्वः क' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'अश्वक' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर 'अश्वकः' रूप सिद्ध होता है।

(वा०) सर्वप्रातिपदिकेभ्य इति—अर्थ है—सभी प्रातिपदिकों से स्वार्थ (अपने अर्थ) में 'कन्' (क) प्रत्यय होता है। स्वार्थ में प्रत्यय होने से अर्थ में कोई वृद्धि नहीं होती। उदाहरण के लिए 'अश्व एव'—इस स्वार्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक 'अश्व' से 'कन्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'अश्वकः' रूप बनता है। यहां 'अश्वकः' का अर्थ अश्व ही होता है, अश्व के समान प्रतिमा नहीं।

विशेष—ध्यान रहे कि अश्व अर्थ में भी प्रकृत वार्तिक से 'अश्वकः' रूप बनता है, अतः 'अश्वकः' का अर्थ 'अश्व' होगा या 'अश्व के समान प्रतिकृति'—इसका निर्णय प्रसङ्ग को देखकर ही किया जा सकता है।

१२३५. तत्प्रकृतवचने मयट् । ५ । ४ । २१

प्राचुर्येण प्रस्तुतं-प्रकृतं, तस्य वचनं-प्रतिपादनम्। भावे अधिकरणे वा ल्युट्। आद्ये प्रकृतमन्नम्-अन्नमयम्। अपूपमयम्। द्वितीये तु अन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं-पर्व।

---

* 'तृणचर्मकाष्ठादिनिर्मितं प्रतिमापरपर्यायं वस्तु प्रतिकृतिः'—सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

१२३५. तत्प्रकृतवचने इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(तत्) वह (प्रकृत-वचने) प्रकृत वचन में (मयट्) 'मयट्' प्रत्यय होता है। किन्तु वास्तव में इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। 'तत्' का अभिप्राय यहां केवल प्रथमा विभक्ति से है। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है और 'तत्' अपने वर्तमान अर्थ में उसका विशेषण बनता है। विशेषण होने पर उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। सूत्रस्थ 'प्रकृत' का अर्थ है—अधिकता से प्रस्तुत* और 'वचन' का अर्थ है—कथन। किन्तु दूसरे लोगों के अनुसार 'प्रकृत वचन' का अर्थ है—इसमें प्रचुरता से प्रस्तुत बताया जाता है।† वास्तव में 'ल्युट्' होने के कारण 'वचन' शब्द का प्रयोग भाव और अधिकरण—इन दोनों ही अर्थों में होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'प्रकृत' (प्रचुरता से प्रस्तुत) या 'प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्' (इसमें अधिकता या प्रचुरता से प्रस्तुत बतलाया जाता है)—इन दोनों ही अर्थों में प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'मयट्' (मय) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'अन्नं प्रकृतम्' (प्रचुरता से प्रस्तुत अन्न)—यहां प्राचुर्य अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक 'अन्न' से 'मयट्' प्रत्यय हो 'अन्नम् मय' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'अन्नमय' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य हो प्रथमा के एकवचन-नपुंसकलिङ्ग में 'अन्नमयम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'अन्नं प्रकृतमुच्यते अस्मिन्' (इसमें अन्न प्रचुरता से प्रस्तुत बतलाया जाता है)—इस अर्थ में भी प्रथमान्त प्रातिपदिक 'अन्न' से पूर्ववत् 'मयट्' प्रत्यय हो प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'अन्नमयः' रूप बनता है। इस प्रकार 'अन्न-मयो यज्ञः' का अर्थ होगा—वह यज्ञ जिसमें अन्न प्रचुरता से प्रस्तुत बतलाया जाता हो। 'अपूपमयम्' (प्रचुरता से प्रस्तुत अपूप—मालपुए) और 'अपूपमयं पर्व' (वह पर्व जिसमें अपूप प्रचुरता से प्रस्तुत बतलाये जाते हैं) रूप भी इसी भांति बनेंगे।

१२३६. प्रज्ञादिभ्यश्च । ५ । ४ । ३८

अण् स्यात् । प्रज्ञ एव—प्राज्ञः । प्राज्ञी स्त्री । दैवतः । बान्धवः ।

१२३६. प्रज्ञादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(च) और (प्रज्ञादिभ्यः) प्रज्ञ आदि से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टी-करण के लिए 'तद्युक्तात् कर्मणोऽण्' ५.४.३६ से 'अण्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'प्रज्ञादि' गण है और इसमें 'प्रज्ञ', 'देवता' और 'बन्धु' आदि का समावेश होता है।‡ इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—प्रज्ञादिगण में पठित 'प्रज्ञ' आदि से

---

* 'प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्'—काशिका।

† 'प्रकृतमित्युच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम्'—काशिका।

‡ विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिए।

'अण्' (अ) प्रत्यय होता है। किसी विशेष अर्थ का निर्देश न होने से यह प्रत्यय स्वार्थ में ही होता है। उदाहरण के लिए 'प्रज्ञ एव' अर्थ में प्रथमान्त 'प्रज्ञ' से 'अण्' प्रत्यय हो 'प्रज्ञः अ' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'प्रज्ञ अ' रूप बनने पर अजादि-वृद्धि और अन्त्य-लोप आदि होकर प्रथमा के एकवचन-पुँल्लिङ्ग में 'प्राज्ञः' रूप सिद्ध होता है। इसका भी 'प्रज्ञ' या 'विद्वान्' अर्थ ही होता है। स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई) प्रत्यय हो 'प्राज्ञी' रूप बनेगा। 'दैवतः' (देवता एव—दैवतः) और 'बान्धवः' (बन्धुरेव—बान्धवः) रूप भी 'प्राज्ञः' के समान ही 'अण्' प्रत्यय होकर बनते हैं।

१२३७. बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् । ५ । ४ । ४२

बहूनि ददाति—बहुशः । अल्पशः ।

(वा०) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ।

आदौ—आदितः । मध्यतः । अन्ततः । पार्श्वतः । आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण—स्वरतः । वर्णतः ।

१२३७. बह्वल्पार्थादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(बह्वल्पार्थात्) बहु और अल्प अर्थ वाले (कारकात्) कारक से (अन्यतरस्याम्) विकल्प से (शस्) शस प्रत्यय होता है। 'कारक' का अभिप्राय यहां कारकाभिधायक शब्द से है। किसी विशेष अर्थ का उल्लेख न होने से यह प्रत्यय भी स्वार्थ में ही होता है। इस प्रकार सूत्र का स्पष्टार्थ होगा—बह्वर्थक (बहु अर्थ वाले) और अल्पार्थक (अल्प अर्थ वाले) कारकाभिधायक शब्दों से विकल्प से स्वार्थ में 'शस्' प्रत्यय होता है।* सूत्र में किसी विशेष कारक का कथन न होने से यह प्रत्यय कर्म, करण आदि सभी कारकाभिधायक शब्दों से होता है।† उदाहरण के लिए 'बहूनि ददाति' (बहुत देता है) और 'अल्पं ददाति' (अल्प देता है)—यहां बह्वर्थक कर्मकारक 'बहु' और अल्पार्थक कर्म-कारक 'अल्प' से स्वार्थ में 'शस्' प्रत्यय हो क्रमशः 'बहुशस्' और 'अल्पशस्' रूप बनते हैं। तब रुत्व-विसर्ग हो 'बहुशः' और 'अल्पशः' रूप सिद्ध होते हैं। 'बहुभिः अल्पेन वा ददाति' (बहुतों या अल्प द्वारा दिया जाता है) आदि अन्य उदाहरणों में भी इसी प्रकार बह्वर्थक और अल्पार्थक करण कारक आदि से 'शस्' प्रत्यय हो 'बहुशः' और 'अल्पशः' रूप बनते हैं।

सूत्र में 'बह्वल्पार्थात्' कहने से बह्वर्थ और अल्पार्थवाचक 'भूरि' और 'स्तोक' आदि अन्य शब्दों से भी 'शस्' प्रत्यय होता है,‡ यथा—'भूरिशो ददाति' या

---

* यह प्रत्यय बह्वर्थक कारकाभिधायी से मंगलवचन में और अल्पार्थक कारका-भिधायी से अमंगल वचन में होता है।

† 'विशेषानभिधानाच्च सर्वकर्मादिकारकं गृह्यते'—काशिका।

‡ 'अर्थग्रहणात्पर्यायेभ्योऽपि भवति'—काशिका।

'स्तोकशो ददाति'। ध्यान रहे कि यह प्रत्यय कारकाभिधायी शब्दों से ही होता है। इसीसे 'बहूनां स्वामी' या 'अल्पानां स्वामी' में बह्वर्थक 'बहु' या अल्पार्थक 'अल्प' से 'शस्' नहीं होता है।*

(वा०) आद्यादिभ्य इति—अर्थ है—'आदि' आदि शब्दों से भी 'तसि' (तस्) प्रत्यय होता है। 'आद्यादि' आकृतिगण है और इसमें 'आदि', 'मध्य' और 'अन्त' आदि शब्दों का समावेश होता है। 'तसि' प्रत्यय भी स्वार्थ में ही होता है। इस प्रकार वार्तिक का भावार्थ होगा—आद्यादिगण में पठित 'आदि' इत्यादि शब्दों से स्वार्थ में 'तसि' (तस्) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए सप्तम्यन्त 'आदि' से 'तस्' प्रत्यय हो 'आदौ तस्' रूप बनने पर सुप्-लोप हो 'आदि तस्' रूप बनता है। तब रुत्व-विसर्ग हो 'आदितः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मध्यतः' (मध्य में), 'अन्ततः' (अन्त में) और 'पार्श्वतः' (बगल से) आदि अन्य रूप भी बनते हैं। 'आद्यादि' के आकृतिगण होने के कारण 'स्वर' और 'वर्ण' से भी 'तस्' प्रत्यय हो क्रमशः 'स्वरतः' (स्वर से) और 'वर्णतः' (वर्ण से) रूप बनते हैं।

१२३८. कृभ्वस्तियोगे[७] सम्पद्यकर्तरि[७] च्विः[१] । ५ । ४ । ५०

(वा०) अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्। विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात् स्वार्थे च्विर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे।

१२३८. कृभ्वस्तियोगे—शब्दार्थ है—(कृभ्वस्तियोगे) कृ, भू और अस्ति के योग में (सम्पद्यकर्तरि) सम्पाद्यकर्ता अर्थ में (च्विः) 'च्वि' प्रत्यय होता है। प्रकृत वार्तिक 'अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्' से यह प्रत्यय अभूततद्भाव गम्यमान होने पर ही होता है। सूत्रस्थ 'सम्पद्यकर्ता' का अर्थ है—जो सम्पादन किया जावे, वह कर्ता हो।† और 'अभूततद्भाव' का अर्थ है—जो जिस रूप में पहले न हो, उसका उस रूप में हो जाना, जैसे जो वस्तु काली न हो उसका काली हो जाना। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—जब कोई वस्तु कुछ से कुछ हो जाये अर्थात् जो पहले नहीं थी, वह हो जाय, तो सम्पाद्यकर्ता अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक‡ से कृ, भू और अस्—इन धातुओं के योग में, 'च्वि' प्रत्यय होता है। 'च्वि' का चकार इत्संज्ञक है और इकार उच्चारणार्थक। शेष वकार का भी '३०३—वेरपृक्तस्य' से लोप हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण 'च्वि' प्रत्यय का लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए 'अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति'

* स्मरण रहे कि कारक छः ही हैं कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। सम्बन्ध को कारक नहीं माना जाता।

† 'सम्पद्यकर्ता' का विग्रह है—'सम्पद्यश्चासौ कर्ता चेति सम्पद्यकर्ता'।

‡ ध्यान रहे कि यहाँ अधिकार सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति होती है।

(अशुक्ल को बनाता है—ऐसा वह करता है अर्थात् अशुक्ल को शुक्ल करता है)—
इस अर्थ में 'कृ' धातु के योग में सम्पद्यमान 'शुक्लः' से 'च्वि' प्रत्यय हो 'शुक्लः
च्वि' रूप बनता है। तब सुप्-लोप और 'च्वि' का सर्वापहार-लोप हो 'शुक्ल' रूप
बनने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२३९. अस्य[6] च्वौ[7] । ७ । ४ । ३२

अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ। च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम्। अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति-कृष्णीकरोति। ब्रह्मीभवति। गङ्गीस्यात्।

(वा०) अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्। दोषाभूतमहः। दिवाभूता रात्रिः।

१२३९. अस्येति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च्वौ) च्वि परे होने पर (अस्य)
अवर्ण के स्थान पर··· । किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'ई घ्राध्मोः'
७.४.३१ से 'ई' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार प्राप्त होता
है। सूत्रस्थ 'अस्य' उसका विशेषण बनता है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है।
इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'च्वि' प्रत्यय परे होने पर अवर्णान्त अङ्ग के स्थान
पर ईकार आदेश होता है। यह आदेश '२१-अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अङ्ग के
अन्त्य अवर्ण के स्थान पर होगा। उदाहरण के लिए '१९०-प्रत्ययलोपे-०' परिभाषा
से 'च्वि' प्रत्यय परे होने पर अवर्णान्त अङ्ग 'शुक्ल' के अन्त्य अवर्ण-अकार के
स्थान पर ईकार हो 'शुक्ल् ई'='शुक्ली' रूप सिद्ध होता है। यह 'करोति' के साथ
युक्त होकर 'शुक्लीकरोति' के रूप में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'कृ' धातु के योग
में 'कृष्णीकरोति' (अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति—जो कृष्ण नहीं है उसे कृष्ण
बनाता है), 'भू' धातु के योग में 'ब्रह्मीभवति' (अब्रह्म ब्रह्म भवति—जो ब्रह्म नहीं
है, वह ब्रह्म बनता है) और 'अस्' धातु के योग में 'गङ्गीस्यात्' (अगङ्गा गङ्गा
स्यात्—जो गङ्गा नहीं है, वह गङ्गा हो जाय) रूप बनते हैं।

विशेष—'च्वि'-प्रत्ययान्त शब्द 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' १.१.३७ परिभाषा से
अव्यय होता है।

(वा०) अव्ययेति—अर्थ है—'च्वि' परे होने पर अव्यय के अन्त्य अवर्ण के
स्थान पर ईकार आदेश नहीं होता है। यह प्रकृत सूत्र से प्राप्त ईकारादेश का
अपवाद है। उदाहरण के लिए 'अदोषा दोषा अभूत्' (जो रात्रि नहीं वह रात्रि बन
गया है)—इस अर्थ में 'भू' धातु के योग में पूर्ववत् 'दोषा' रूप बनने पर प्रकृत
सूत्र से अन्त्य आकार के स्थान पर ईकार प्राप्त होता है, किन्तु 'दोषा' के अव्यय
होने के कारण प्रकृत वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है तब 'दोषाभूतम्' रूप
बनता है, यथा—'दोषाभूतम् अहः' (मेघाच्छन्न दिन)। इसी 'दिवा' के अव्यय होने के

कारण 'दिवाभूता' (अदिवा दिवा अभूत्—जो दिन नहीं वह दिन बन गया है) रूप भी बनता है, यथा—'दिवाभूता रात्रिः' (चाँदनी रात)।

१२४०. विभाषा साति* कार्त्स्न्ये । ५ । ४ । ५२

च्विविषये सातिर्वा स्यात् साकल्ये ।

१२४०. विभाषेति—शब्दार्थ है—(कार्त्स्न्ये) सम्पूर्णता अर्थ में (विभाषा) विकल्प से (साति) 'साति' प्रत्यय होता है । किन्तु यह प्रत्यय किससे होता है और किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए सवार्तिक '१२३८-कृभ्वस्तियोगे-०' से 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि' की अनुवृत्ति करनी होगी । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—सम्पूर्णता गम्यमान होने पर अभूततद्भाव विषय में सम्पाद्यकर्ता से कृ, भू और अस् धातुओं के योग में विकल्प से 'साति' (सात्) प्रत्यय होता है । तात्पर्य यह कि जब किसी वस्तु का दूसरी वस्तु में सम्पूर्ण रूप से परिणत होना दिखाना हो तब सम्पद्यकर्ता से कृ, भू और अस्—इन धातुओं के योग में विकल्प से 'सात्' प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए 'कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः भवति' (सम्पूर्ण शस्त्र अग्नि हो रहा है)—इस अर्थ में 'भू' धातु के योग में प्रतिपद्यमान 'अग्निः' से 'सात्' प्रत्यय हो 'अग्निः सात्' रूप बनता है । यहाँ सुप्-लोप हो 'अग्नि सात्' रूप बनने पर '१५०-आदेशप्रत्यययोः' से प्रत्यय 'सात्' के सकार को षत्व प्राप्त होता है । इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

१२४१. सात्पदाद्योः[६] । ८ । ३ । १११

सस्य षत्वं न स्यात् । दधि सिञ्चति । कृत्स्नं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद्भवति ।

१२४१. सादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(सात्पदाद्योः) सात् और पदादि के···। किन्तु क्या होता है—यह जानने के लिए 'अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः' ८.३.५५ से 'मूर्द्धन्यः' तथा 'सहेः साडः सः' ८.३.५६ से 'सः' की अनुवृत्ति करनी होगी । इसके साथ ही साथ 'न रपरसृपि-०' ८.३.११० से 'न' की भी अनुवृत्ति होती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'सात्' प्रत्यय के सकार तथा पद के आदि (पदादि) सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार नहीं होता है । उदाहरण के लिए 'अग्नि सात्' में 'सात्' प्रत्यय का सकार होने के कारण '१५०-आदेश-०' से प्राप्त षत्व का प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध हो जाता है । तब 'अग्निसात्' रूप सिद्ध होता है । यह 'भवति' के साथ युक्त होकर 'अग्निसाद्भवति' के रूप में प्रयुक्त होता है । 'सात्' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में '१२३८-कृभ्वस्तियोगे-०' से पूर्ववत् 'च्वि' प्रत्यय और उसका सर्वापहार लोप आदि होकर 'अग्नि' रूप बनता है । इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

* यह लुप्त-प्रथमा विभक्ति है ।

१२४२. च्वौ च । ७ । ४ । २६

च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । अग्नीभवति ।

१२४२. च्वौ चेति—शब्दार्थ है—(च) और (च्वौ) च्वि परे होने पर··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है । इसके स्पष्टीकरण के लिए '४८३–अकृत्सार्वधातुकयोः–०' से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'अङ्गस्य' ६.४.१ का यहां अधिकार प्राप्त होता है । 'अचश्च' १.२.२८ परिभाषा से दीर्घादेश अच् का ही होता है, अतः यहां 'अचः' का अध्याहार हो जाता है । वह 'अङ्गस्य' का विशेषण बनता है । विशेषण होने से उसमें तदन्त-विधि हो जाती है । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'च्वि' प्रत्यय परे होने पर अजन्त अङ्ग (जिसके अन्त में कोई स्वर-वर्ण हो) को दीर्घ होता है । '२१–अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से यह दीर्घादेश अन्त्य अच् (स्वर-वर्ण) को ही होता है । उदाहरण के लिए '१९०–प्रत्ययलोपे–०' परिभाषा से 'च्वि' प्रत्यय परे होने के कारण अजन्त अङ्ग 'अग्नि' के अन्त्य अच्–इकार को दीर्घ–ईकार हो 'अग्नी' रूप सिद्ध होता है, यथा—'अग्नीभवति' ।

१२४३. अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् । ५ । ४ । ५७

द्व्यजेवावरं न्यूनं न तु ततो न्यूनमनेकाजिति यावत्तादृशमर्धं यस्य तस्माड् डाच् स्यात् कृभ्वस्तिभिर्योगे ।

(वा०–१) डाचि च द्वे बहुलम् । इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम् ।

(वा०–२) नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् ।

डाच्परं यदाम्रेडितं तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात् । इति तकारपकारयोः पकारः । पटपटाकरोति । अव्यक्तानुकरणात्किम्–ईषत्करोति । द्व्यजवरार्धात्किम्–श्रत्करोति । अवरेति किम्–खरटखरटाकरोति । अनतौ किम्–पटिति करोति ।

इति स्वार्थिकाः ।

१२४३. अव्यक्तानुकरणादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अनितौ) 'इति' न परे होने पर (द्व्यजवरार्धात्)* अनेकाजर्ध (अव्यक्तानुकरणाद्) अव्यक्तानुकरण से (डाच्) डाच् प्रत्यय होता है । 'अव्यक्तानुकरण' का अर्थ है—अव्यक्त का अनुकरण। जिस ध्वनि में अकारादि वर्णविशेष नहीं मालूम पड़ते उसे 'अव्यक्त' कहते हैं और उसका अनुकरण 'अव्यक्तानुकरण' कहलाता है ।† और 'अनेकाजर्ध' का अर्थ है—

* 'द्व्यच् अवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनम् । अनेकाजिति यावत्'—सिद्धान्तकौमुदी ।

† 'यत्र ध्वनावकारादयो वर्णा विशेषरूपेण न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तः । तस्यानुकरणम्'—काशिका ।

जिसके आधे भाग में एक से अधिक अच् (स्वर-वर्ण) हों। द्वित्व करने पर जिसके आधे भाग में एक से अधिक अच् होते हैं, उसी को यहां 'अनेकाजर्ध'* कहा गया है। '१२३८-कृभ्वस्तियोगे-०' से 'कृभ्वस्तियोगे' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि 'इति' परे न हो तो अनेकाच् अर्ध भाग वाले अव्यक्तानुकरणवाची शब्द से कृ, भू और अस्—इन धातुओं के योग में 'डाच्' (आ) प्रत्यय होता है। प्रकृत वार्तिक 'डाचि च द्वे बहुलम्' से 'डाच्' प्रत्यय की विवक्षा में पहले द्वित्व होता है। उसके पश्चात् ही 'डाच्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'पटत् करोति' (पटत्-ऐसी ध्वनि करता है)—यहां 'कृ' धातु के योग में अव्यक्तानुकरणवाची 'पटत्' से 'डाच्' प्रत्यय की विवक्षा में पहले द्वित्व और पुनः 'डाच्' प्रत्यय हो 'पटत् पटत् आ करोति' रूप बनता है। तब अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०-२) नित्यमिति—अर्थ है—डाच्-परक (जिसके पश्चात् 'डाच्' प्रत्यय आया हो) आम्रेडित परे होने पर पूर्व और पर वर्णों के स्थान पर पर-रूप एकादेश होता है। उदाहरण के लिए 'पटत् पटत् आ करोति' में डाच्-परक आम्रेडित 'पटत्' परे होने पर पूर्व तकार और पर-पकार—इन दोनों वर्णों के स्थान पर पर-वर्ण पकार होकर 'पट प् अ टत् आ करोति' = 'पट पटत् आ करोति' रूप बनता है। यहां भ-संज्ञा होने के कारण टि-'अत्' का लोप हो 'पटपट् आ करोति' = 'पटपटा करोति' रूप सिद्ध होता है।

यहां ध्यान रखना होगा कि इस सूत्र के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

(१) शब्द को अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण होना चाहिये—यदि शब्द अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण न होगा तो उससे 'डाच्' प्रत्यय भी नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'ईषत् करोति' में 'ईषत्' शब्द अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण नहीं है, इसलिए उससे 'डाच्' प्रत्यय नहीं होता।

(२) शब्द अनेकाच् होना चाहिये—शब्द में एक से अधिक अच् होने चाहिये, अन्यथा 'डाच्' प्रत्यय नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'श्रत् करोति' में 'श्रत्' एकाच् है; उसमें एक से अधिक अच् नहीं हैं, अतः उससे 'डाच्' प्रत्यय भी नहीं होता।

(३) 'इति' परे न होना चाहिये—'इति' परे होने पर 'डाच्' प्रत्यय नहीं होता। उदाहरण के लिए 'पटिति करोति' में 'पट्' शब्द अव्यक्तानुकरण है, किन्तु उसके पश्चात् 'इति' आया है। अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'डाच्' प्रत्यय नहीं होता।

स्वार्थिक-प्रकरण समाप्त।

[तद्धित समाप्त।]

---

* 'यस्य च द्विर्वचने कृते द्व्यजवरार्धं ततः प्रत्ययः'—काशिका।

बनते हैं। अकारान्त का उदाहरण 'सर्वा' में मिलता है। यहां अकारान्त 'सर्व' से 'टाप्' (आ) प्रत्यय हुआ है।

विशेष—टाबन्त आदि स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से सु आदि की उत्पत्ति 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' (प्रातिपदिक का सामान्य या विशेष रूप से ग्रहण होने पर लिङ्ग-विशिष्ट का भी ग्रहण होता है) परिभाषा के बल से होती है।

१२४६. उगितश्च । ४ । १ । ६

उगिदन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप् स्यात्। भवन्ती। पचन्ती। दीव्यन्ती।

१२४६. उगितश्चेति—शब्दार्थ है—(च) और (उगितः) उगित् से…। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्' तथा अधिकार सूत्र 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' का अनुवृत्ति करनी होगी। '१२४४–स्त्रियाम्' का अधिकार तो है ही। सूत्रस्थ 'उगित्' का अर्थ है—जिसका 'उक्' इत् हो। 'उक्' प्रत्याहार है और इसमें 'उ', 'ऋ' और 'ऌ' का समावेश होता है। यह 'उगित्' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उगिदन्त प्रातिपदिक (जिसका अन्त्य उकार, ऋकार या ऌकार इत् हो) से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'भा' धातु से 'डवतुप्' प्रत्यय होकर सिद्ध हुआ 'भवत्' (भवतु–आप) शब्द उगिदन्त है, अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'ङीप्' प्रत्यय हो 'भवत् ई' = 'भवती' रूप सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त ऋकार इत् होने के कारण शतृ-प्रत्ययान्त और उकार इत् होने से 'ईयसुन्'-प्रत्ययान्त शब्द भी उगिदन्त होते हैं, अतः उनसे भी स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'भू' धातु से 'शतृ' प्रत्यय होकर सिद्ध हुए 'भवत्' (होता हुआ) शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय हो 'भवत् ई' रूप बनता है। तब '३६६–शप्श्यनोः–०' से 'नुम्' आगम हो 'भवन्त् ई' = 'भवन्ती' रूप सिद्ध होगा। इसी प्रकार शतृ-प्रत्ययान्त 'पचत्' और 'दीव्यत्' से भी क्रमशः 'पचन्ती' (पकाती हुई) और 'दीव्यन्ती' (खेलती हुई) रूप बनते हैं। 'ईयसुन्'-प्रत्ययान्त के उदाहरण 'श्रेयसी' (कल्याणकारिणी) और 'पटीयसी' (अति चतुर स्त्री) आदि रूपों में मिलते हैं। यहां 'ईयसुन्'-प्रत्ययान्त 'श्रेयस्' और 'पटीयस्' से 'ङीप्' प्रत्यय होकर क्रमशः 'श्रेयसी' और 'पटीयसी' रूप बने हैं।

१२४७. टिड्ढाणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः । ४ । १ । १५

अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात्।

कुरुचरी नदट्—नदी। देवट्—देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। प्रास्थिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी।

(वा०) नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी।

१२४७. टिड्ढेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(टिड्—क्वरपः*) टित्, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् और क्वरप् से...। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्', 'अजाद्यतष्टाप्' ४.१.४ से 'अत' तथा अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ और 'अनुपसर्जनात्' ४.१.१४ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'टिड्ढाणञ्—क्वरपः' और 'अतः' 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं, अतः उनमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—टिदन्त (जिसके अन्त में इत् टकार या टित् प्रत्यय हो†), ढ-प्रत्ययान्त, अण्-प्रत्ययान्त, अञ्-प्रत्ययान्त, द्वयसच्-प्रत्ययान्त, दघ्नच्-प्रत्ययान्त, मात्रच्-प्रत्ययान्त, तयप्-प्रत्ययान्त, ठक्-प्रत्ययान्त, ठञ्-प्रत्ययान्त, कञ्-प्रत्ययान्त तथा क्वरप्-प्रत्ययान्त अकारान्त अनुपसर्जन (जो गौण न हो, प्रधान) प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है—

(१) अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय होता है।

(२) किन्तु उस अकारान्त प्रातिपदिक को अनुपसर्जन (प्रधान) होना चाहिये, और

(३) उसके अन्त में टित् (इत् टकार या टित् प्रत्यय), ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् या क्वरप् प्रत्यय होना चाहिये।

इस प्रकार यह 'ङीप्' प्रत्यय '१२४५—अजाद्यतः—०' से प्राप्त 'टाप्' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण के लिए सुबन्त उपपद रहते 'चर्' धातु से '७९२—चरेष्टः' से 'ट' प्रत्यय होकर सिद्ध हुए टिदन्त 'कुरुचर' से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो 'कुरुचर ई' रूप बनता है। तब पूर्व की भ-संज्ञा होने के कारण '२३६—यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप हो 'कुरुचर् ई' = 'कुरुचरी' (कुरु देश में घूमने वाली स्त्री) रूप

---

* इसका विग्रह है—'टिच्च ढश्च अण् च अञ्च द्वयसच्च दघ्नच्च मात्रच्च तयप् च ठक् च ठञ्च कञ्च क्वरप् च इति टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्-क्वरप् तस्मात्'।

† 'टित्त्वं तु प्रातिपदिकस्य क्वचित्प्रत्ययकृतं क्वचित्स्वतः क्वचित् प्रकृतिकृतं भवत्यवयवधर्मस्य समुदाये उपचारात्'—सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

सिद्ध होता है। इसी भांति टिदन्त 'नद' (नदट्) और 'देव' (देवट्) से 'ङीप्' प्रत्यय हो क्रमशः 'नदी' और 'देवी' रूप बनते हैं। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) सौपर्णेयी (सुपर्णी की कन्या)—यहां ढ प्रत्ययान्त 'सौपर्णेय'* से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(ख) ऐन्द्री (पूर्व दिशा)—यहां अण् प्रत्ययान्त 'ऐन्द्र'† से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(ग) औत्सी (उत्स या झरने से उत्पन्ना)—यहां अञ्-प्रत्ययान्त 'औत्स'‡ से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(घ) ऊरुद्वयसी, ऊरुदघ्नी तथा ऊरुमात्री (ऊरुप्रमाण जलवाली-तलैया)—ये रूप क्रमशः द्वयसच्-प्रत्ययान्त 'ऊरुद्वयस',§ दघ्नच्-प्रत्ययान्त 'ऊरुदघ्न'§ और मात्रच्-प्रत्ययान्त 'ऊरुमात्र'§ से 'ङीप्' प्रत्यय हो बनते हैं।

(ङ) पञ्चतयी (पांच अवयव वाली)—यहां तयप्-प्रत्ययान्त 'पञ्चतय'¶ से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(च) आक्षिकी (पासों से खेलने वाली)—यहां ठक्-प्रत्ययान्त 'आक्षिक'|| से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(छ) प्रास्थिकी (एक प्रस्थ से खरीदी हुई)—यहां ठञ्-प्रत्ययान्त 'प्रास्थिक'+ से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

---

* 'सुपर्णी' शब्द से '१०१७-स्त्रीभ्यो ढक्' से 'ढक्' (ढ) प्रत्यय हो 'सौपर्णेय' रूप बनता है।

† 'इन्द्र' शब्द से '१०३८-साऽस्य देवता' से 'अण्' प्रत्यय हो 'ऐन्द्र' रूप बनता है।

‡ 'उत्स' शब्द से '९९९-उत्सादिभ्यः-०' से 'अञ्' प्रत्यय हो 'औत्स' रूप बनता है।

§ 'ऊरु' शब्द से '११६४-प्रमाणे द्वयसच्-०' से 'द्वयसच्', 'दघ्नच्' और 'मात्रच्' प्रत्यय हो क्रमशः 'ऊरुद्वयस', 'ऊरुदघ्न' और 'ऊरुमात्र' रूप बनते हैं।

¶ 'पञ्चन्' शब्द से '११६८-संख्याया:-०' से 'तयप्' प्रत्यय हो 'पञ्चतय' रूप बनता है।

|| 'अक्ष' शब्द से '१११४-तेन दीव्यति-०' से ठक् प्रत्यय हो 'आक्षिक' रूप बनता है।

+ 'प्रस्थ' शब्द से '११४१-तेन क्रीतम्' से 'ठञ्' प्रत्यय हो 'प्रास्थिक' रूप बनता है।

(ज) लावणिकी (नमक बेचने वाली)—यहां भी ठञ्-प्रत्ययान्त 'लावणिक'* से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(झ) यादृशी (जैसी)—यहां कञ्-प्रत्ययान्त 'यादृश'† से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(ञ) इत्वरी (घूमने वाली, कुलटा)—यहां क्वरप्-प्रत्ययान्त 'इत्वर'‡ से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(वा०) नञ्स्नञ् इति—इस वार्तिक का भावार्थ है—नञ्-प्रत्ययान्त, स्नञ्-प्रत्ययान्त, ईकक्-प्रत्ययान्त, ख्युन्-प्रत्ययान्त तथा तरुण और तलुन से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) स्त्रैणी (स्त्रीसम्बन्धिनी) तथा पौंस्नी (पुरुषसम्बन्धिनी)—ये रूप क्रमशः नञ्-प्रत्ययान्त 'स्त्रैण'§ तथा स्नञ्-प्रत्ययान्त 'पौंस्न'§ से 'ङीप्' प्रत्यय होकर बने हैं।

(ख) शाक्तीकी (शक्ति-शस्त्रवाली)—यहां ईकक्-प्रत्ययान्त 'शाक्तीक'¶ से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(ग) आढ्यङ्करणी (धनवान बनाने वाली)—यहां ख्युन्-प्रत्ययान्त 'आढ्यङ्करण'|| से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(घ) तरुणी (युवती) तथा तलुनी (युवती)—ये रूप क्रमशः 'तरुण' और 'तलुन' से 'ङीप्' प्रत्यय हो बनते हैं।

१२४८. यञश्च । ४ । १ । १६

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। अकारलोपे कृते—

१२४८. यञश्चेति—शब्दार्थ है—(च) और (यञः) यञ् से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए

* 'लवण' शब्द से 'लवणाट्ठञ्' ४.४.५२ से 'ठञ्' प्रत्यय हो 'लावणिक' रूप बनता है।

† त्यदादि 'यत्' उपपद रहते 'दृश्' धातु से '३४७—त्यदादिषु—०' से 'कञ्' प्रत्यय हो 'यादृश' रूप बनता है।

‡ 'इण्' (जाना) से 'इणनशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' ३.२.१६३ से 'क्वरप्' प्रत्यय हो 'इत्वर' रूप बनता है।

§ 'स्त्री' और 'पुंस्' शब्दों से '१०००—स्त्रीपुंसाभ्याम्—०' से क्रमशः 'नञ्' और 'स्नञ्' प्रत्यय हो 'स्त्रैण' और 'पौंस्न' रूप बनते हैं।

¶ 'शक्ति' शब्द से 'शक्तियष्ट्योरीकक्' ४.४.५९ से 'ईकक्' प्रत्यय हो 'शाक्तीक' रूप बनता है।

|| 'आढ्य' उपपदपूर्वक 'कृ' धातु से 'आढ्यसुभगस्थूल—०' ३.२.५६ से 'ख्युन्' प्रत्यय हो 'आढ्यङ्करण' रूप बनता है।

'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्' और 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो यहां है ही। सूत्रस्थ 'यञः' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण बनता है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—"यञ्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए यञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिक 'गार्ग्य'† से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो 'गार्ग्य ई' रूप बनने पर पूर्ववत् अन्त्य-लोप होकर 'गार्ग्य् ई' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

१२४९. हलस्तद्धितस्य । ६ । ४ । १५०

हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोप ईकारे परे। गार्गी।

१२४९. हल इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(हलः) हल् के पश्चात् (तद्धितस्य) तद्धित के...। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानाम्–०' ६.४.१४९ से 'यः' और 'उपधायाः', 'यस्येति च' ६.४.१४८ से 'ईति' तथा 'ढे लोपो–०' ६.४.१४७ से 'लोपः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'भस्य' ६.४.१२९ और 'अङ्गस्य' ६.४.१ का अधिकार तो है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—ईकार परे होने पर भ-संज्ञक‡ अङ्ग के हल् (व्यंजन-वर्ण) से पर तद्धित के ‡उपधाभूत यकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'गार्ग्य् ई' में ईकार परे होने के कारण भ-संज्ञक अङ्ग 'गार्ग्' के हल्–गकार से पर तद्धित के उपधाभूत यकार§ का लोप हो 'गार्ग् ई' = 'गार्गी' रूप सिद्ध होता है।

---

* 'यञ्' प्रत्यय का अभिप्राय यहां अपत्य अर्थ में विहित 'यञ्' प्रत्यय से है। देखिए—'काशिका'।

† 'गर्ग' शब्द से '१००५–गर्गादिभ्यः–०' से 'यञ्' प्रत्यय हो 'गार्ग्य' रूप बनता है।

‡ इनके स्पष्टीकरण के लिए परिशिष्ट में 'पारिभाषिक शब्द' देखिये।

§ अन्त्य वर्ण से पूर्व को उपधा कहते हैं। यहां '२३६–यस्येति च' से अकार का लोप हो जाने से 'गार्ग य् ई' में तद्धित का यकार अन्त्य वर्ण होता है। फिर उसे किस प्रकार 'उपधा' माना जावे? इसके उत्तर में दो मत हैं। एक के अनुसार यकार-लोप करते समय आभीय-कार्य होने से अकार-लोप असिद्ध हो जाता है। अकार-लोप असिद्ध होने से यकार उपधा हो जावेगा। दूसरे मत के अनुसार सूत्रारम्भ-सामर्थ्य से अकार-लोप असिद्ध नहीं होता, अतः यदि 'सूर्यतिष्या–०' ६.४.१४९ से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति न की जावे तो भी कोई हानि नहीं। इस प्रकार इस मत के अनुसार सूत्र का भावार्थ होगा—ईकार परे होने पर भ-संज्ञक अङ्ग के हल् से पर तद्धित के यकार का लोप होता है (देखिये सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या)।

१२५०. प्राचां ष्फ तद्धितः । ४ । १ । १७

यञन्तात् ष्फो वा स्यात्, स च तद्धितः ।

१२५०. प्राचामिति—शब्दार्थ है—(प्राचाम्) पूर्वदेश में रहने वाले आचार्यों के मत से (ष्फः) 'ष्फ' प्रत्यय होता है, (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक होता है। किन्तु यह प्रत्यय किससे और किस अर्थ में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्', '१२४८–यञश्च' से 'यञः' तथा अधिकार-सूत्र '१२४४–स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—पूर्व देश में रहने वाले आचार्यों के मत से यञ्-प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ष्फ' प्रत्यय होता है और वह 'ष्फ' प्रत्यय तद्धित-संज्ञक होता है। पाणिनि का मत न होने से यह प्रत्यय विकल्प से ही होता है। 'ष्फ' प्रत्यय का षकार '८३९–षः प्रत्ययस्य' से इत्संज्ञक है, अतः केवल 'फ' ही शेष रहता है। उदाहरण के लिए यञ्-प्रत्ययान्त 'गार्ग्य' से स्त्रीलिङ्ग में 'ष्फ' प्रत्यय होकर 'गार्ग्य फ' रूप बनता है। तब '१०१०–आयन्–०' से प्रत्यय के फकार के स्थान पर 'आयन्' आदेश हो 'गार्ग्य आयन् अ' = 'गार्ग्य आयन' रूप बनने पर अकार-लोप और णत्व होकर 'गार्ग्यायण' रूप बनता है। 'ष्फ' प्रत्यय के तद्धित-संज्ञक होने के कारण '११७–कृत्तद्धितसमासाश्च' से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२५१. षिद्गौरादिभ्यश्च । ४ । १ । ४१

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् स्यात् । गार्ग्यायणी । नर्तकी । गौरी ।

(वा०) आमनडुहः स्त्रियां वा । अनड्वाही, अनडुही । आकृतिगणोऽयम् ।

१२५१. षिद्गौरादिभ्य इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (षिद्गौरादिभ्यः) षित् तथा गौरादि से··· । यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्', 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्' तथा अधिकार-सूत्र '१२४४–स्त्रियाम्' की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'गौरादि' आकृतिगण है और इसमें 'गौर', 'मत्स्य' और 'अनडुह्' आदि का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—षित् प्रातिपदिक (जिसका षकार इत् हो) और गौरादिगण में पठित 'गौर' आदि से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए षित् प्रातिपदिक 'गार्ग्यायण'* से 'ङीष्' प्रत्यय हो 'गार्ग्यायण ई' रूप बनने पर अन्त्य अकार का लोप होकर 'गार्ग्यायण् ई'='गार्ग्यायणी' रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां 'ष्फ' प्रत्यय

* ध्यान रहे कि 'गार्ग्यायण' में 'ष्फ' प्रत्यय का षकार इत् हुआ है।

विकल्प से हुआ है। अतः उसके अभाव में 'गार्ग्य' से पूर्ववत् 'ङीप्' प्रत्यय हो 'गार्गी' रूप बनता है। अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) नर्तकी (नाचने वाली)—यहां षित् प्रातिपदिक 'नर्तक'* से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(ख) गौरी (गौर वर्ण वाली स्त्री)—यहां गौरादिगण में पठित 'गौर' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है।

(वा०) आमनडुह इति—अर्थ है—स्त्रीलिङ्ग में 'अनडुह्' शब्द को विकल्प से 'आम्' का आगम होता है। 'आम्' का मकार इत्संज्ञक है, अतः '२४०-मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से अन्त्य स्वर-वर्ण के पश्चात् होगा। उदाहरण के लिए गौरादिगणस्थ 'अनडुह्' से प्रकृत सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय हो 'अनडुह् ई' रूप बनने पर वार्तिक से 'आम्' आगम हो 'अनडु आ ह् ई' रूप बनता है। तब उकार को यण्-वकार होकर 'अनड् व् आ ह् ई'='अनड्वाही' (गाय) रूप सिद्ध होता है। 'आम्' के अभाव-पक्ष में 'अनडुही' रूप ही रहता है।

विशेष—ङीप् और ङीष्—इन दोनों प्रत्ययों में रूप का अन्तर न होने पर भी स्वर का अन्तर है। ङीप् का ईकार पित् होने के कारण अनुदात्त होता है और ङीष् का ईकार उदात्त।

१२५२. वयसि[७] प्रथमे[७] । ४ । १ । २०

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुमारी।

१२५२. वयसीति—शब्दार्थ है—(प्रथमे) प्रथम (वयसि) वय अर्थ में...। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्', 'अजाद्यतष्टाप्' ४.१.४ से 'अतः', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'अतः' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। सूत्रस्थ 'वय' का अर्थ है—कालकृत शरीरावस्था।† ये अवस्थाएँ तीन हैं—कौमार, यौवन और वार्द्धक्य।‡ अतः 'प्रथम वय' का अर्थ होगा—कौमारावस्था। सूत्रस्थ 'वयसि प्रथमे' प्रकृत्यर्थ का विशेषण है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—कौमारा-

---

* 'नृत्' धातु से 'शिल्पिनि ष्वुन्' ३.१.१४५ से 'ष्वुन्' प्रत्यय हो 'नर्तक' रूप बनता है। प्रत्यय का षकार इत् होने से यह षित् होता है।

† 'कालकृतशरीरावस्था यौवनादिर्वयः'—काशिका।

‡ कहा भी है—'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥'

वस्था अर्थ में वर्तमान (अर्थात् कौमारावस्थावाची) अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए कौमारावस्थावाची अकारान्त प्रातिपदिक 'कुमार' से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो 'कुमार ई' रूप बनता है । तब अकार-लोप हो 'कुमार् ई'='कुमारी' (कन्या) रूप सिद्ध होता है ।

विशेष—'वयस्यचरम इति वक्तव्यम्' वार्तिक से यौवनावस्थावाची शब्दों से भी 'ङीप्' प्रत्यय होता है, यथा—'वधूट' से 'वधूटी' या 'चिरण्ट' से 'चिरण्टी' । प्राप्तयौवना स्त्री को ही 'वधूटी' और 'चिरण्टी' कहते हैं । इस प्रकार कौमारावस्था-वाचक और यौवनावस्थावाचक अकारान्त प्रातिपदिक से 'ङीप्' प्रत्यय होता है । केवल अन्तिम अवस्था(वार्द्धक्यावस्था)वाचक शब्दों से ही 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता ।

१२५३. द्विगोः । ४ । १ । २१

अदन्ताद् द्विगोर्ङीप् स्यात् । त्रिलोकी । अजादित्वात्त्रिफला । त्र्यनीका—सेना ।

१२५३. द्विगोरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(द्विगोः) द्विगु से… । किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता । इसके स्पष्टीकरण के लिए 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्', 'अजाद्यतः–०' ४.१.४ से 'अतः' और 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी । 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो है ही । इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अकारान्त द्विगु-संज्ञक* प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है । उदाहरण के लिए अकारान्त द्विगु 'त्रिलोक'† से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो 'त्रिलोक ई' रूप बनता है । तब भ-संज्ञा होने के कारण अन्त्य अकार का लोप होकर 'त्रिलोक् ई'='त्रिलोकी' रूप सिद्ध होता है । किन्तु ध्यान रहे कि अजादिगण में पाये जाने वाले अकारान्त द्विगु-संज्ञक प्रातिपदिकों से 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता । वहाँ तो '१२४५–अजाद्यतः–०' से 'टाप्' प्रत्यय ही होगा । उदाहरण के लिए 'त्रिफल' (त्रयाणां फलानां समाहारः) शब्द अजादिगण में आता है, अतः अकारान्त द्विगु होने पर भी उससे 'टाप्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'त्रिफला' रूप बनता है । इसी प्रकार अजादिगण में पठित अकारान्त द्विगु 'त्र्यनीक' से 'टाप्' (आ) प्रत्यय हो 'त्र्यनीका' (त्रयाणा-मनीकानां समाहारः—तीन सेनाओं का समुदाय) रूप सिद्ध होगा ।

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ९४१ वें सूत्र की व्याख्या देखिये ।

† 'त्रयाणां लोकानां समाहारः' (तीन लोकों का समुदाय)—इस विग्रह में '९३६–तद्धितार्था–०' से समास हो 'त्रिलोक' रूप बनता है ।

विशेष—'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' परिभाषा से अकारान्त द्विगु (जिसका उत्तरपद अकारान्त हो) का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में ही होता है।

१२५४. वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः । ४ । १ । ३९

वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद् वा ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च । एता-एनी । रोहिता, रोहिणी ।

१२५४. वर्णादिति—शब्दार्थ है—(अनुदात्तात्) अनुदात्त (तोपधात्) तकार उपधा वाले (वर्णात्) वर्णवाचक से (तः) तकार के स्थान पर (नः) नकार आदेश होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्', 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से 'ङीप्' तथा 'मनोरौ वा' ४.१.३८ से 'वा' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो है ही। सूत्रस्थ 'अनुदात्तात्' 'वर्णात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अनुदात्तान्त (जिसके अन्त में अनुदात्त स्वर हो) और तकार-उपधा वाले वर्णवाची (रंग-विशेष का वाचक, जैसे—'हरित' आदि) प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है और तकार के स्थान पर नकार आदेश होता है। इस प्रकार इस सूत्र के दो कार्य हैं—

(१) अनुदात्तान्त और तकार-उपधावाले वर्णवाची प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है।

(२) 'ङीप्' प्रत्यय होने पर तकार के स्थान पर नकार आदेश होता है।

उदाहरण के लिए वर्णवाची प्रातिपदिक 'एत' (चितकबरा) अनुदात्तान्त है क्योंकि तकारान्त वर्णवाची शब्द का आदि 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' सूत्र से उदात्त होता है, और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' परिभाषा से अन्त्य अकार अनुदात्त। और उपधा में तकार भी है। अतः प्रकृत सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय और तकार को नकार हो 'एन् अ ई' = 'एन ई' रूप बनता है। तब पूर्व की भ-संज्ञा होने से अकार-लोप हो 'एन् ई' = 'एनी' (चितकबरी) रूप सिद्ध होता है। यहां 'ङीप्' प्रत्यय विकल्प से होता है, अतः अभाव-पक्ष में '१२४५–अजाद्यतः–०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'एता' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अनुदात्तान्त और तकार-उपधा वाले वर्णवाची प्रातिपदिक 'रोहित' (लाल रङ्ग वाला) से 'ङीप्' प्रत्यय तथा तकार को नकार हो 'रोहिणी' रूप बनता है। 'ङीप्' के अभाव-पक्ष में 'टाप्' हो 'रोहिता' रूप बनेगा।

१२५५. वोतो गुणवचनात् । ४ । १ । ४४

उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीप् स्यात् । मृद्वी, मृदुः ।

१२५५. वोत इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उतः) उकार (गुणवचनात्) गुणवाचक से (वा) विकल्प से...। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी। 'उतः' 'गुणवचनात्' और 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः इसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—उकारान्त गुणवाची† प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए उकारान्त गुणवाची प्रातिपदिक 'मृदु' (कोमल) से 'ङीष्' प्रत्यय हो 'मृदु ई' रूप बनता है। तब उकार को यण्-वकार होकर 'मृद् व् ई' = 'मृद्वी' (कोमला) रूप सिद्ध होता है। 'ङीष्' के अभाव-पक्ष में 'मृदुः' रूप ही रहेगा।

१२५६. बह्वादिभ्यश्च । ४ । १ । ४५

एभ्यो वा ङीष् स्यात् । बह्वी, बहुः ।

(ग० सू०—१) कृदिकारादक्तिनः । रात्रिः, रात्री ।

(ग० सू०—२) सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके । शकटिः । शकटी ।

१२५६. बह्वादिभ्य इति—शब्दार्थ है—(च) और (बह्वादिभ्यः) बहु आदि से...। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही पूर्वसूत्र '१२५५—वोतो-०' से 'वा' की भी अनुवृत्ति होती है। सूत्रस्थ 'बह्वादि' आकृतिगण है और इसमें 'बहु', 'पद्धति' और 'अहति' आदि शब्दों का समावेश होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—बह्वादिगण में पठित 'बहु' आदि प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'बहु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'बह्वी' रूप बनता है। 'ङीष्' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में यथावत् 'बहुः' रूप ही रहता है।

(ग० सू०—१) कृदिकारादिति—यदि प्रातिपदिक के अन्त में 'क्तिन्' प्रत्यय को

---

* 'वोतः' का पदच्छेद है—'वा + उतः'।

† संज्ञा, जाति और क्रियावाचक शब्दों से भिन्न शब्द गुणवाचक होते हैं। कहा भी है—'संज्ञाजातिक्रियाशब्दान्हित्वाऽन्ये गुणवाचिनः' (सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या में उद्धृत)।

छोड़कर अन्य किसी कृत्प्रत्यय का इकार हो तो उससे विकल्प से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए प्रातिपदिक 'रात्रि'* के अन्त में कृत्-प्रत्यय 'त्रिप्' का इकार है, अतः प्रकृत सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हो 'रात्रिः ई' रूप बनता है। तब सुप्-लोप हो 'रात्रि ई' रूप बनने पर अन्त्य इकार का लोप हो 'रात्र् ई' = 'रात्री' रूप सिद्ध होता है। 'ङीप्' प्रत्यय के अभाव-पक्ष में 'रात्रिः' रूप ही रहेगा।

(ग० सू०—२) सर्वत इति—किन्हीं आचार्यों के मत से क्तिन्नर्थ-भिन्न सभी इकारान्त प्रातिपदिकों से विकल्प से 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि प्रातिपदिक के अन्त में चाहे कृत् प्रत्यय का इकार हो चाहे कृत्-भिन्न इकार—दोनों ही अवस्थाओं में उससे विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है, किन्तु अन्त में 'क्तिन्' प्रत्यय का इकार होने पर 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि क्तिन्-प्रत्ययान्त को छोड़कर अन्य सभी इकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए इकारान्त प्रातिपदिक 'शकटि' (गाड़ी) से 'ङीप्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'शकटी' रूप बनता है। 'ङीप्' प्रत्यय के अभाव में 'शकटिः' रूप ही रहता है।

१२५७. पुंयोगादाख्यायाम् । ४ । १ । ४८

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् । गोपस्य स्त्री—गोपी ।

(वा०) पालकान्तान्न । गोपालिका । अश्वपालिका ।

१२५७. पुंयोगादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(पुंयोगात्) पुंयोग से (आख्यायाम्) कथन में…। किन्तु इससे सूत्र का भावार्थ स्पष्ट नहीं होता। वास्तव में 'आख्यायाम्' में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग पञ्चम्यर्थ में हुआ है। 'पुंयोगात्' में प्रयुक्त 'पुम्' शब्द का प्रयोग सूत्रार्थ में दो बार होता है—पहली बार 'योग' के साथ और दूसरी बार 'आख्या' के साथ। प्रथम बार उसमें तृतीया विभक्ति होती है† और दूसरी बार लुप्त-षष्ठी। प्रथम प्रकार से बने हुये 'पुंयोगात्' में हेतु-पञ्चमी है। उसका अर्थ है—पुरुष से सम्बन्ध (योग) के कारण। द्वितीय प्रकार से बने हुये 'पुमाख्या' का अर्थ है—पुरुष-वाचक‡। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा

---

* 'रा' धातु से उणादि सूत्र 'राशदिभ्यां त्रिप्' से 'त्रिप्' प्रत्यय हो 'रात्रि' रूप बनता है।

† 'पुंसा योगः पुंयोगः'—काशिका।

‡ 'इह पुमिति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदं, तच्चावर्तते 'पुंयोगात्' इति हेतौ पञ्चमी 'आख्यायाम्' इति तु पञ्चम्यर्थे सप्तमी…। पुमाख्या पुंवाचकः शब्दः।' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी। इसके साथ ही साथ 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्' की भी अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि पुरुष-वाचक प्रातिपदिक पुरुष-सम्बन्ध के कारण स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्त होता है तो उससे 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह कि यदि पुरुष-वाचक प्रातिपदिक का प्रयोग पुरुष सम्बन्ध (यथा—पति-पत्नीभाव) के कारण स्त्री के लिए भी किया जावे तो उससे 'ङीष्' प्रत्यय होता है। हिन्दी में जिस प्रकार 'पंडित' की स्त्री को 'पंडिताइन' कहते हैं, चाहे भले ही वह पण्डित न हो, उसी प्रकार संस्कृत में भी पुरुष-वाचक प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय हो तदर्थक शब्द बनते हैं। उदाहरण के लिए पुरुष-वाचक प्रातिपदिक 'गोप' का प्रयोग जब पति-पत्नीभाव रूप सम्बन्ध को लेकर उसकी स्त्री के लिए होगा तो उससे 'ङीष्' प्रत्यय हो 'गोप ई' रूप बनेगा। यहां पूर्व की भ-संज्ञा होने के कारण अकार का लोप हो 'गोप् ई' = 'गोपी' (गोप की स्त्री) रूप सिद्ध होता है।

गोपालन करने वाले को 'गोप' कहते हैं, उसकी स्त्री को उसके सम्बन्ध के कारण ही 'गोपी' कहा जाता है—उसके लिए गोपालन करने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार शूद्र की स्त्री शूद्री होगी, चाहे वह स्वयं शूद्र न हो। वास्तव में यहां गौणार्थ ही अभीष्ट है। जब मुख्यार्थ बताना होगा, तब अकारान्त होने के कारण '१२४५–अजाद्यतः–०' से 'टाप्' प्रत्यय हो क्रमशः 'गोपा' (गो-पालन करनेवाली स्त्री) और 'शूद्रा' (शूद्रजातीय स्त्री) रूप बनेंगे।

(वा०) पालकान्तादिति—जिस पुरुष-वाचक प्रातिपदिक के अन्त में 'पालक' होता है, उससे पुंयोग में 'ङीष्' (ई) प्रत्यय नहीं होता। वास्तव में यह प्रकृत सूत्र का अपवाद है। उदाहरण के लिए 'गोपालकस्य स्त्री' (गोपालक की स्त्री)—इस विग्रह में पुरुष-सम्बन्ध के कारण प्रकृत सूत्र से पुरुष-वाचक 'गोपालक' से 'ङीष्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु 'गोपालक' के अन्त में 'पालक' होने के कारण प्रकृत वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है। तब अकारान्त होने के कारण '१२४५–अजाद्यतः–०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'गोपालक आ' रूप बनने पर सवर्ण-दीर्घ होकर 'गोपालका' रूप बनेगा। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होगा—

१२५८. प्रत्ययस्थात्[५] कात्पूर्वस्यात[६] इदाप्यसुपः[७]। ७। ३। ४४

प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि, स आप् सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्—नौका। प्रत्ययस्थात्किम्—शक्नोतीति शका। असुपः किम्—बहुपरिव्राजका नगरी।

(वा०-१) सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः । सूर्यस्य स्त्री देवता-सूर्या । देवतायां किम्—

(वा०-२) सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च यलोपः । सूरी-कुन्ती, मानुषीयम् ।

१२५८. प्रत्ययस्थादिति—शब्दार्थ है—(आपि) आप् परे होने पर (प्रत्ययस्थात्) प्रत्यय में स्थित (कात्) ककार से (पूर्वस्य) पूर्व (अतः) अकार के स्थान पर (इत्) इकार होता है (असुपः) सुप् से परे न हो तो । तात्पर्य यह कि यदि 'आप्' (टाप्, डाप् या चाप्*) प्रत्यय 'सुप्'† से परे न हो तो 'आप्' परे होने पर प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार के स्थान पर इकार होता है । उदाहरण के लिए 'गोपालका' में 'गोपालक'‡ शब्द का ककार 'कन्' प्रत्यय का है और उसके पूर्व अकार भी आया है । अत: 'टाप्' प्रत्यय परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से अकार को इकार हो 'गोपाल् इ का'='गोपालिका' रूप सिद्ध होता है ।§ इसी भांति 'अश्वपालक' से भी 'टाप्' प्रत्यय, सवर्ण-दीर्घ और अकार के स्थान पर इकारादेश हो 'अश्वपालिका' (अश्वपालक की स्त्री, अश्व-पालन करने वाली स्त्री) रूप बनता है । इस सूत्र से सम्बन्धित अन्य उदाहरण इस प्रकार है—

(क) सर्विका (अज्ञात सब)—यहां सर्वक'¶ से '१२४५-अजाद्यतः-०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'सर्वका' रूप बनने पर 'टाप्' प्रत्यय परे होने के कारण 'अकच्' प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार को इकार हो 'सर्विका' रूप सिद्ध होता है ।

(ख) कारिका (करने वाली)—यहां 'कारक'‖ शब्द से पूर्ववत् 'टाप्' प्रत्यय

---

* 'टाब्डाप्चापामाब्निति'—काशिका (४.१.१) ।

† 'सु', 'औ', 'जस्' आदि २१ प्रत्ययों को 'सुप्' कहते हैं । देखिये १२१ वे सूत्र की व्याख्या ।

‡ 'गोपाल' शब्द से 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्' से 'कन्' प्रत्यय हो 'गोपालक' रूप बनता है ।

§ ध्यान रहे कि यहां 'टाप्' प्रत्यय होने के कारण गौणार्थ और मुख्यार्थ—दोनों में एक सा ही रूप बनता है । इसीसे 'गोपालिका' का प्रयोग 'गोपालक की स्त्री' और 'गो-पालन करने वाली स्त्री'—इन दोनों ही अर्थों में हो सकता है । अन्य पालकान्त शब्दों के स्त्रीलिङ्ग रूप भी इसी भांति द्व्यर्थक होते हैं ।

¶ 'सर्व' शब्द से '१२२९-अव्यय-०' से 'अकच्' प्रत्यय हो 'सर्वक' रूप बनता है ।

‖ 'कृ' धातु से '७८४-ण्वुल्-०' से 'ण्वुल्' (अक) प्रत्यय हो 'कारक' रूप बनता है ।

हो 'कारका' रूप बनने पर 'टाप्' प्रत्यय परे होने के कारण 'ण्वुल्' (अक) प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार को इकार हो 'कारिका' रूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार इस सूत्र के लिए पाँच बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) अकार के ही स्थान पर इकार होता है। उदाहरण के लिए 'नौ' शब्द से स्वार्थिक 'क' (कन्) प्रत्यय हो 'नौक' रूप बनने पर 'टाप्' प्रत्यय हो 'नौका' रूप बनता है। यहां 'कन्' प्रत्यय का ककार है और उसके पश्चात् 'टाप्' भी है, किन्तु ककार के पूर्व अकार न होने से इकारादेश नहीं होता।

(२) अकार ककार के पूर्व होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'कटुक' शब्द से 'टाप्' प्रत्यय हो 'कटुका' रूप बनता है। यहां 'कटुक' में प्रत्यय के ककार के पश्चात् अकार आया है, न कि उसके पूर्व। अतः 'टाप्' परे होने पर भी इस अकार के स्थान पर इकार आदेश नहीं होता।

(३) ककार प्रत्यय का होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'शक' (समर्थ) से 'टाप्' प्रत्यय हो 'शका' रूप बनता है। यहां ककार 'शक्' धातु का है, न कि प्रत्यय का। अतः 'टाप्' परे होने पर भी ककार के पूर्व अकार को इकार नहीं होता।

(४) इस प्रत्ययस्थ ककार के पश्चात् 'आप्' (डाप , टाप् या चाप्) प्रत्यय होना चाहिये। उदाहरण के लिए—'कृ' धातु से 'ण्वुल्' (अक) प्रत्यय हो 'कारक' रूप बनता है। यहां यद्यपि ककार 'अक' प्रत्यय का है, उसके पूर्व अकार भी आया है, किन्तु 'आप्' प्रत्यय परे न होने के कारण उस अकार के स्थान पर इकार आदेश नहीं होता।

(५) उस 'आप्' प्रत्यय को 'सुप्' के पश्चात् न होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'बहुपरिव्राजक' (बहवः परिव्राजका अस्मिन्—बहुपरिव्राजकों वाला) से 'टाप्' प्रत्यय हो 'बहुपरिव्राजका' रूप बनता है। यहां यद्यपि ककार ण्वुल् (अक) प्रत्यय का है और उसके पूर्व अकार भी आया है, किन्तु प्रत्ययलक्षण से लुप्त सुप्—'जस्' के पश्चात् 'आप्' होने के कारण ककार से पूर्व अकार को इकार नहीं होता।

(वा०—१) सूर्याद्दिति—देवता रूप स्त्री के अर्थ में 'सूर्य' शब्द से पुंयोग में 'चाप्' (आ) प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय '१२५७–पुंयोगात्–०' से प्राप्त 'ङीष्' प्रत्यय का बाधक है। उदाहरण के लिए 'सूर्यस्य स्त्री देवता' (सूर्य की देवता स्त्री)—इस विग्रह में 'सूर्य' से 'चाप्' प्रत्यय हो 'सूर्य आ' रूप बनने पर सवर्ण-दीर्घ होकर 'सूर्या' रूप सिद्ध होता है। किन्तु यदि स्त्री मनुष्य जाति की होगी तो 'सूर्य' शब्द से सामान्य 'ङीष्' प्रत्यय ही होगा। उदाहरण के लिए 'सूर्यस्य स्त्री मानुषी' (सूर्य की मनुष्य जाति की स्त्री)—इस अर्थ में पूर्व सूत्र (१२५७) से 'ङीप्रत्ययष्'

हो 'सूर्य ई' रूप बनेगा। यहां अन्त्य अकार का लोप हो 'सूर्य् ई' रूप बनने पर अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

(वा०-२) सूर्यागस्त्ययोरिति—'छ' या 'ङी' (ई) प्रत्यय परे होने पर सूर्य और अगस्त्य—इन दो शब्दों के यकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'सूर्य् ई' में ईकार परे होने के कारण 'सूर्य्' के यकार का लोप हो 'सूर् ई' = 'सूरी' रूप सिद्ध होता है। विवाह से पूर्व सूर्य से दाम्पत्य-सम्बन्ध रखने के कारण 'कुन्ती' को 'सूरी' कहा जाता है।

१२५९. इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक् । ४ । १ । ४९

एषामानुगागमः स्यात् ङीप् च। इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी।

(वा०-१) हिमारण्ययोर्महत्त्वे। महद्धिमम्-हिमानी, महदरण्यम्-अरण्यानी।

(वा०-२) यवाद्दोषे। दुष्टो यवो-यवानी।

(वा०-३) यवनाल्लिप्याम्। यवनानां लिपिः-यवनानी।

(वा०-४) मातुलोपाध्याययोरानुग्वा। मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी।

(वा०-५) आचार्यादणत्वं च। आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी।

(वा०-६) अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे। अर्याणी, अर्या। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया।

१२५९. इन्द्रेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(इन्द्र—मातुलाचार्याणाम्) इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य का अवयव (आनुक्) 'आनुक्' होता है। यह 'आनुक्' आगम है और '८५-आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा से इन्द्र आदि का अन्तावयव बनता है। किन्तु इतने से सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए इस सूत्र को पूर्ववर्ती सूत्र के योग में समझना होगा।

पूर्वसूत्र '१२५७-पुंयोगात्-०' से पुरुष-वाचक प्रातिपदिकों से पुंयोग में 'ङीप्' प्रत्यय का विधान किया है। वह विधान यहाँ भी पुरुष-वाचक इन्द्र आदि शब्दों से होता है। प्रकृत सूत्र से प्राप्त आगम उसके अनन्तर ही होता है। इस प्रकार इस सूत्र का भावार्थ होगा—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन बारह पुरुष-वाचक प्रातिपदिकों से पुंयोग में

'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है और 'ङीप्' प्रत्यय होने पर इनके अन्त में 'आनुक्' (आन्) आगम होता है।* उदाहरण के लिए 'इन्द्रस्य स्त्री' (इन्द्र की स्त्री)= इस विग्रह में 'इन्द्र' शब्द से प्रकृत सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हो 'इन्द्र ई' रूप बनने पर पुनः 'इन्द्र' को 'आनुक्' आगम हो 'इन्द्र आन् ई'='इन्द्र आनी' रूप बनता है। तब सवर्ण-दीर्घ और णत्व हो 'इन्द्राणी' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वरुण' से 'वरुणानी' (वरुण की स्त्री), 'भव' से 'भवानी' (भव की स्त्री), 'शर्व' से 'शर्वाणी' (शर्व की स्त्री), 'रुद्र' से 'रुद्राणी' (रुद्र की स्त्री) और 'मृड' से 'मृडानी' (मृड की स्त्री) रूप भी बनते हैं।

(वा०-१) हिमारण्ययोरिति—हिम (बरफ) और अरण्य (जंगल)—इन दो शब्दों से महत्त्व (अधिकता) अर्थ में ही 'ङीष्' (ई) प्रत्यय और 'आनुक्' (आन्) आगम होते हैं। उदाहरण के लिए 'महद् हिमम्' (अधिक हिम)—इस अर्थ में 'हिम' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम हो पूर्ववत् 'हिमानी' रूप सिद्ध होता है। 'अरण्य' से भी इसी प्रकार 'अरण्यानी' (महद् अरण्यम्—बड़ा जंगल) रूप बनता है।

(वा०-२) यवादिति—'यव' शब्द से दोष अर्थ में ही 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होते हैं। उदाहरण के लिए 'दुष्टो यवः' (दोषयुक्त यव)— इस अर्थ में 'यव' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम हो पूर्ववत् 'यवानी' रूप सिद्ध होता है।

(वा०-३) यवनादिति—'यवन' शब्द से लिपि अर्थ में ही 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम होते हैं। उदाहरण के लिए 'यवनानां लिपिः' (यवनों की लिपि)—इस अर्थ में 'यवन' शब्द से प्रकृत वार्तिक से 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम हो पूर्ववत् 'यवनानी' रूप बनता है।

(वा० ४) मातुलेति—मातुल (मामा) और उपाध्याय (गुरु)—इन दो शब्दों को 'आनुक्' आगम विकल्प से होता है। यहां विकल्प 'आनुक्' का ही है, 'ङीष्' तो '१२५७-पुंयोगात्—०' से 'आनुक्' के अभाव में भी होता है। 'मातुल'

---

* यह सूत्र का प्रकरण-गत सामान्य अर्थ है। इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, मातुल और आचार्य—इन आठ शब्दों के बारे में यह अर्थ पूर्णतया चरितार्थ होता है, किन्तु हिम, अरण्य, यव और यवन के विषय में प्रयोग असंभव होने से यह अर्थ नहीं लगता। अतः इन चार शब्दों के बारे में आगामी वार्तिकों से विशिष्ट अर्थों का विधान किया गया है।

शब्द से प्रकृत सूत्र से 'आनुक्' प्राप्त है, किन्तु 'उपाध्याय' से नहीं। यहां दोनों को ही विकल्प से 'आनुक्' आगम का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए 'मातुलस्य स्त्री' (मातुल की स्त्री)—इस विग्रह में 'मातुल' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय और विकल्प से 'आनुक्' हो पूर्ववत् 'मातुलानी' रूप बनता है। 'आनुक्' के अभाव में केवल 'ङीप्' प्रत्यय हो 'मातुली' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'उपाध्यायस्य स्त्री' (उपाध्याय की स्त्री) अर्थ में भी 'उपाध्याय' शब्द से 'आनुक्' आगम हो 'उपाध्यायानी' और उस के अभाव में 'उपाध्यायी' रूप बनते हैं।

(वा०-५) आचार्यादिति—'आचार्य' शब्द से पर 'आनुक्' के नकार को णकार नहीं होता। उदाहरण के लिए 'आचार्यस्य स्त्री' (आचार्य की स्त्री)—इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'आचार्य' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम हो 'आचार्यानी' रूप बनने पर '१३८-अट्कुप्वाङ्-०' से णत्व प्राप्त होता है, किन्तु प्रकृत वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है। 'आचार्यानी' रूप सिद्ध होता है।

(वा० ६) अर्येति—अर्य और क्षत्रिय—इन दो शब्दों से स्वार्थ में विकल्प से 'ङीप्' प्रत्यय तथा 'आनुक्' आगम होते हैं। स्वार्थ में कहने से पुंयोग में यह विधान नहीं होता। उदाहरण के लिए 'अर्य' (वैश्य) शब्द से स्वार्थ में प्रकृत वार्तिक से 'ङीप्' प्रत्यय और 'आनुक्' आगम हो पूर्ववत् 'अर्याणी' (वैश्या स्त्री) रूप बनता है। 'ङीष्' प्रत्यय और 'आनुक्' के अभाव पक्ष में '१२४५-अजाद्यतः-०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'अर्या' रूप बनेगा। 'क्षत्रिय' शब्द से भी इसी प्रकार स्वार्थ में 'ङीष्' तथा 'आनुक्' हो 'क्षत्रियाणी' और उसके अभाव में 'क्षत्रिया' रूप बनते हैं।

पुंयोग में '१२५७-पुंयोगात्-०' से 'अर्य' और 'क्षत्रिय' से 'ङीप्' प्रत्यय हो क्रमशः अर्यी (वैश्य की स्त्री) और 'क्षत्रियी' ('क्षत्रिय' की स्त्री) रूप बनेंगे।

१२६०. क्रीतात् करणपूर्वात् । ४ । १ । ५०

क्रीतान्ताददन्तात् करणादेः स्त्रियां ङीप् स्यात्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न धनक्रीता।

१२६०. क्रीतादिति—शब्दार्थ है—(करणपूर्वात्) करणपूर्व (क्रीतात्) क्रीत से ..। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'अन्य तो ङीप्' ४.१.४० से ङीप्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा 'अजाद्यत:-०' ४.१.४ से 'अतः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो यहां है ही। सूत्रस्थ 'क्रीतात्' और 'अतः' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उन में तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ

होगा—यदि अकारान्त प्रातिपदिक के आदि में करण* हो और अन्त में 'क्रीत' शब्द हो तो उस से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'वस्त्रक्रीत'† (वस्त्रेण क्रीतः—वस्त्र से खरीदा हुआ) अकारान्त प्रातिपदिक है। उसके आदि में करण कारक 'वस्त्रेण' और अन्त में 'क्रीत' शब्द है। अतः प्रकृत सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' प्रत्यय हो 'वस्त्रक्रीत ई' रूप बनने पर अन्त्य अकार का लोप होकर 'वस्त्रक्रीती' (वस्त्र से खरीदी हुई) रूप सिद्ध होता है। किन्तु कहीं-कहीं 'ङीप्' प्रत्यय नहीं भी होता, यथा—'धनक्रीता' (धनेन क्रीता, धन से खरीदी हुई)।

विशेष—ध्यान रहे कि करण के साथ '९२६–कर्तृ-करणे कृता बहुलम्' से समास होता है। सूत्र में 'बहुलम्' का ग्रहण होने से कहीं 'गतिकारकोपपदानाम्–०' वार्तिक प्रवृत्त होता है और कहीं नहीं भी। वार्तिक के प्रवृत्त न होने पर सुबन्त से ही समास होता है। इस स्थिति में पहले ही लिङ्ग-बोधक प्रत्यय हो जाता है। तब पुनः 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता। पूर्वोक्त उदाहरण 'धनक्रीता' में भी पहले ही लिङ्ग-बोधक 'टाप्' प्रत्यय हो जाता है। इसी से पुनः 'ङीप्' प्रत्यय नहीं होता। 'ङीप्' प्रत्यय तो वास्तव में तभी होगा जब 'गतिकारकोपपदानाम्–०' वार्तिक से सुप्-उत्पत्ति के पूर्व ही समास हुआ हो।

१२६१. स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात् । ४ । १ । ५४

असंयोगोपधमुपसर्जनं यत् स्वाङ्गं तदन्तादन्तात् ङीष् वा स्यात्। केशानतिक्रान्ता–अतिकेशी, अतिकेशा। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। असंयोगोपधात् किम्–सुगुल्फा। उपसर्जनात् किम्–शिखा।

१२६१. स्वाङ्गादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(च) और (स्वाङ्गात्) स्वाङ्ग-वाची (असंयोगोपधात्) असंयोगोपध (उपसर्जनात्) उपसर्जन से···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्', 'अजाद्यतः–०' ४.१.४ से 'अतः', 'अस्वाङ्गपूर्वपदात्–०' ४.१.५३ से 'वा' तथा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो है ही। सूत्रस्थ 'उपसर्जनात्' और 'असंयोगोपधात्' का अन्वय 'स्वाङ्गात्' से होता है। यह 'स्वाङ्गात्' और 'अतः' 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं, अतः उन में तदन्त-विधि हो जाती है। सूत्रस्थ 'उप-

---

* इसके स्पष्टीकरण के लिए ८९४ वें सूत्र की व्याख्या देखिए।

† 'वस्त्र टा क्रीत'–इस विग्रह में '९२६–कर्तृकरणे–०' से सुप्-उत्पत्ति के पूर्व समास हो 'वस्त्रक्रीती' रूप बनता है।

सर्जन' का अर्थ है—गौण, किन्तु 'स्वाङ्ग' का अर्थ 'अपना अङ्ग' नहीं होता। उसका प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में होता है। उसके तीन लक्षण हैं—

(क) अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्—अद्रव (जो तरल न हो) मूर्तिमान, प्राणी में वर्तमान और अविकारज (जो विकार से उत्पन्न न हो) को 'स्वाङ्ग' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार जब प्राणी के अङ्ग प्राणी में वर्तमान हों तो उन्हें 'स्वाङ्ग' कहा जावेगा।

(ख) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च—जो सम्प्रति प्राणी में स्थित न भी हो किन्तु कभी प्राणी में देखा गया हो, उसे भी 'स्वाङ्ग' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार प्राणी के केश आदि यदि गली में पड़े हों, तो भी उन्हें 'स्वाङ्ग' ही कहा जावेगा।

(ग) तेन चेत् तत् तथा युतम्—जिस प्रकार अङ्ग प्राणी में स्थित होता है, यदि उसी प्रकार अप्राणी में भी स्थित हो, तो उस अप्राणिस्थ अङ्ग को 'स्वाङ्ग' कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार मूर्तियों में स्थित अङ्ग भी प्राणिस्थ अङ्गों के समान होने से 'स्वाङ्ग' कहे जाते हैं।

'स्वाङ्ग' की इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुये सूत्र का भावार्थ होगा—यदि असंयोगोपध (जिसकी उपधा में संयोग न हो) और उपसर्जन (गौण) स्वाङ्गवाची शब्द अन्त में हो तो अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' (ई) प्रत्यय विकल्प से होता है। उदाहरण के लिए 'अतिकेश'* (बहुत केशों वाला) के अन्त में 'केश' शब्द आया है। यह प्राणी में स्थित और साकार होने के कारण 'स्वाङ्ग' है और तत्पुरुष समास में होने के कारण उपसर्जन भी। इसकी उपधा-शकार में संयोग भी नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय हो 'अतिकेश ई' रूप बनने पर अन्त्य अकार का लोप होकर 'अतिकेशी' (बहुत केशों वाली) रूप सिद्ध होता है। 'ङीष्' प्रत्यय के अभाव में '१२४५-अजाद्यतः-०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'अतिकेशा' रूप बनता है। इसी प्रकार 'चन्द्र इव मुखं यस्य' (चन्द्रमा के समान जिसका मुख हो, वह)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होकर सिद्ध हुए अकारान्त प्रातिपदिक 'चन्द्रमुख' से 'ङीष्' प्रत्यय हो 'चन्द्रमुखी' और उसके अभाव में 'टाप्' प्रत्यय हो 'चन्द्रमुखा' रूप बनते हैं।

अन्त में इस सूत्र के सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये—

(१) स्वाङ्गवाची शब्द की उपधा में संयोग न होना चाहिये—यदि उपसर्जन स्वाङ्गवाची शब्द की उपधा में संयोग होगा तो पदान्त अकारान्त प्रातिपदिक से 'ङीप्'

---

* 'केशान् अतिक्रान्ता'—इस विग्रह में 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे-०' वार्तिक से तत्पुरुष समास हो 'अतिकेश' रूप बनता है।

१२६२. नँ क्रोडादि-बह्वचः* । ४ । १ । ५६

क्रोडादेर्बह्वचः स्वाङ्गाच्च ङीप्। कल्याणक्रोडा। आकृतिगणोऽयम्। सुजघना।

१२६२. न क्रोडेति—शब्दार्थ है—(क्रोडादि-बह्वचः) क्रोड आदि और बह्वच् से (न) नहीं होता है। किन्तु क्या नहीं होता और किस स्थिति में नहीं होता—यह जानने के लिए 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्', 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्—०' ४.१.५४ से 'स्वाङ्गात्' तथा 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो यहां भी है। सूत्रस्थ 'क्रोडादि-बह्वचः' का अन्वय 'स्वाङ्गात्' से होता है। यह 'स्वाङ्गात्' भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है। विशेषण होने से उसमें तदन्त विधि हो जाती है। 'क्रोडादि' गण है और उसमें 'क्रोड' और 'सैकयत' आदि का समावेश होता है।† सूत्रस्थ 'बह्वच्' का अर्थ है—अनेक अच् (स्वर-वर्ण) वाला। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रातिपदिक के अन्त में क्रोडादिगण में पठित 'क्रोडा' आदि और बह्वच् स्वाङ्गवाची शब्द हो तो उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' (ई) प्रत्यय नहीं होता। यह सूत्र वास्तव में पूर्वसूत्र (१२६१) से प्राप्त 'ङीष्' का प्रतिषेधक है। उदाहरण के लिए

---

* 'शोभनौ गुल्फौ यस्य—' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'सुगुल्फ' रूप बनता है।

† विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

'कल्याणक्रोड'* (जिसके वक्षस्थल पर कल्याण-जनक चिह्न हों) के अन्त में क्रोड स्वाङ्गवाचक है। बहुव्रीहि समास में होने के कारण यह उपसर्जन भी है। उसकी उपधा में भी संयोग नहीं है। अतः तदन्त अकारान्त प्रातिपदिक 'कल्याणक्रोड' से स्त्रीलिङ्ग में पूर्वसूत्र (१२६१) से 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु 'क्रोडा' शब्द के क्रोडादिगण में होने के कारण प्रकृतसूत्र से उसका निषेध हो जाता है। इस स्थिति में तत्र '११४५-अजाद्यतः-०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'कल्याणक्रोडा (ऐसी घोड़ी जिसके उरःस्थल पर कल्याण चिह्न हो) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'सुजघन'† (जिसके जघन सुन्दर हों) में भी स्वाङ्गवाची 'जघन' शब्द के बह्वच्‡ होने के कारण पूर्वसूत्र (१२६१) से प्राप्त 'ङीप्' प्रत्यय का निषेध हो जाता है। तत्र पूर्ववत् 'टाप्' प्रत्यय हो 'सुजघना' (सुन्दर जघनवाली स्त्री) रूप बनता है।

१२६३. नखमुखात्[५] संज्ञायाम्[७] । ४ । १ । ५८

न ङीप्।

१२६३. नखमुखादिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(नखमुखात्) नख और मुख से (संज्ञायाम्) संज्ञा अर्थ में··· । किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए तो 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्', 'न क्रोडादि-०' ४.१.५६ से 'न', 'स्वाङ्गात्-० ४.१.५४ से 'स्वाङ्गात्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.२ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'नखमुखात्' का अन्वय 'स्वाङ्गात्' से होता है। यह 'स्वाङ्गात्' भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रातिपदिक के अन्त में स्वाङ्गवाची मुख या नख शब्द हो तो संज्ञार्थ स्त्रीलिङ्ग में उससे 'ङीप्' (ई) प्रत्यय नहीं होता। तात्पर्य यह कि 'ङीप्' प्रत्यय न होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

(क) प्रातिपदिक के अन्त में स्वाङ्गवाची मुख या नख शब्द होना चाहिये।

---

* 'कल्याणी क्रोडा यस्य'—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'कल्याणक्रोड' रूप बनता है।

† 'शोभनं जघनं यस्य'—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'सुजघन' रूप बनता है।

‡ ध्यान रहे कि 'जघन' शब्द में तीन अच् हैं।

(ख) उस प्रातिपदिक का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में संज्ञार्थ में (किसी का नाम बतलाने के लिए) होना चाहिये।

यह सूत्र भी पूर्ववत् '१२६१-स्वाङ्गात्-०' से प्राप्त 'ङीप्' प्रत्यय का प्रतिषेधक है। उदाहरण के लिए 'गौरमुख'* के अन्त में मुख शब्द स्वाङ्गवाची है। बहुव्रीहि समास में होने के कारण वह उपसर्जन भी है और उसकी उपधा में कोई संयोग भी नहीं है। अतः '१२६१-स्वाङ्गात्-०' से उस अकारान्त प्रातिपदिक 'गौरमुख' से 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त होता है, किन्तु यहां अन्त में स्वाङ्गवाची 'मुख' होने के कारण प्रकृतसूत्र से संज्ञार्थ स्त्रीलिङ्ग में उसका निषेध हो जाता है। तब अकारान्त होने से '११४५-अजाद्यतः-०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'गौरमुखा' रूप सिद्ध होता है। इस गौरमुखा' का प्रयोग किसी स्त्रीविशेष के ही लिए होता है, न कि सभी गौरमुखवाली स्त्रियों के लिए। इसी प्रकार 'शूर्पनख'† प्रातिपदिक के अन्त में स्वाङ्गवाची 'नख' शब्द होने के कारण पूर्ववत् 'ङीप्'—निषेध और 'टाप्' प्रत्यय हो 'शूर्पनखा' रूप बनता है। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

१२६४. पूर्वपदात् संज्ञायामगः । ८ । ४ । ३

पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यवधाने। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्-ताम्रमुखी कन्या।

१२६४. पूर्वपदादिति—शब्दार्थ है—(संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में (अगः) गकार को छोड़कर (पूर्वपदात्) पूर्वपद से पर...। किन्तु होता क्या है—यह जानने के लिए 'रषाभ्यां नो णः-०' ८.४.१ से 'रषाभ्यां' 'नो' और 'णः' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'रषाभ्याम्' के योग में सूत्रस्थ 'पूर्वपदात्' हो जाता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि संज्ञा का विषय हो तो गकार-वर्जित पूर्वपदस्थ रकार और षकार से पर नकार के स्थान पर णकार आदेश होता है। तात्पर्य यह कि यदि गकार का व्यवधान न हो तो संज्ञा के विषय में पूर्वपदस्थ रकार और षकार से पर नकार को णकार होता है। उदाहरण के लिए 'शूर्पनखा' के पूर्वपद—'शूर्प' में रकार है और उसके पश्चात् 'नखा' का नकार आया है। अतः बीच में गकार का व्यवधान न होने के कारण प्रकृत सूत्र से संज्ञा के विषय में नकार को णकार हो 'शूर्पणखा'

---

* 'गौरं मुखं यस्य' (जिसका गौर मुख हो)—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'गौरमुख' रूप बनता है।

† 'शूर्पाणीव नखानि यस्य' (जिसके नख शूर्प के समान हों)—इस विग्रह में बहुव्रीहिसमास हो 'शूर्पनख' रूप बनता है।

(रावण की बहिन) रूप सिद्ध होता है। यह 'शूर्पणखा' भी स्त्री-विशेष की संज्ञा है; इसका प्रयोग सभी शूर्पवत् नखवाली स्त्रियों के लिए नहीं होता।

यहां ध्यान रहे कि मुखान्त या नखान्त प्रातिपदिक का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में जब संज्ञा के विषय में होता है तभी उससे 'ङीप्' का निषेध होता है, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए 'ताम्रमुख' के अन्त में यद्यपि स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द है, किन्तु स्त्रीलिङ्ग में संज्ञा अभीष्ट न होने के कारण '१२६१—स्वाङ्गात्-०' से विकल्प से 'ङीष्' प्रत्यय हो 'ताम्रमुखी' (लाल मुखवाली स्त्री) रूप बनता है। इस 'ताम्रमुखी' का प्रयोग किसी स्त्री-विशेष के लिए न होकर सभी लालमुखवाली स्त्रियों के लिए होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुख-शब्दान्त या नख-शब्दान्त प्रातिपदिक का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में जब किसी स्त्री-विशेष के लिए होगा तब उससे 'ङीप्' नहीं होगा, किन्तु उसका प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में जब किसी स्त्री-विशेष के लिए नहीं होगा तब '१२६१—स्वाङ्गात्-०' से उससे 'ङीष्' प्रत्यय भी होगा।

१२६५. जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् । ४ । १ । ६३

जातिवाचि यन्न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वृषली। कठी। बह्वृची। जातेः किम्—मुण्डा। अस्त्रीविषयात्किम्—बलाका। अयोपधात् किम्—क्षत्रिया।

(वा–१) योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानामप्रतिषेधः। हयी। गवयी। मुकयी। '१२४९—हलस्तद्धितस्य-०' इति यलोपः। मानुषी।

(वा–२) मत्स्यस्य ङ्याम्। यलोपः। मत्सी।

१२६५. जातेरिति—सूत्र का शब्दार्थ है—(अयोपधात्) यकार-भिन्न उपधा वाले (अस्त्रीविषयात्) अस्त्रीविषयक (जातेः*) जातिवाचक से··। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—इसका पता सूत्र से नहीं चलता। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीष्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो है ही। सूत्रस्थ 'अस्त्रीविषयक' का अर्थ है—'जिसका विषय केवल स्त्रीलिङ्ग ही न हो' अर्थात् नियत स्त्रीलिङ्ग से भिन्न। 'जाति' शब्द से यहां जातिवाचक संज्ञा, ब्राह्मण आदि जाति, अपत्य-प्रत्ययान्त और शाखा को पढ़नेवाला—इन चारों का ग्रहण होता है।† इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यकार-भिन्न उपधा वाले (जिसकी

* 'जात्या स्ववाचकशब्दो लक्ष्यते—' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

† कहा भी है—'आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह॥'

उपधा में यकार न हो) और नियत स्त्रीलिङ्ग (जिसका प्रयोग केवल स्त्रीलिङ्ग में ही होता हो) से भिन्न जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'तट' शब्द जातिवाचक संज्ञा है और उसकी उपधा में यकार भी नहीं है। साथ ही वह नियत स्त्रीलिङ्ग भी नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र से उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' प्रत्यय हो 'तट ई' रूप बनने पर अन्त्य अकार का लोप होकर 'तटी' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार शूद्रजातिवाचक 'वृषल' से 'वृषली' (वृषल जाति की स्त्री), शाखावाचक 'कठ' और 'बह्वृच' से क्रमशः 'कठी' (कठ शाखा को पढ़नेवाली) और 'बह्वृची' (वेद की बह्वृच् शाखा को पढ़नेवाली) तथा अपत्य-प्रत्ययान्त 'औपगव' से 'औपगवी' (उपगु की स्त्री सन्तान) रूप भी बनते हैं।*

अन्त में इस सूत्र के विषय में तीन बातों का ध्यान रखना चाहिये—

(१) प्रातिपदिक जातिवाचक होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'मुण्ड' (मुण्डित) प्रातिपदिक यद्यपि नियत स्त्रीलिङ्ग नहीं है और न तो उपधा में यकार ही है, तथापि जातिवाचक न होने से उससे 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता। इस स्थिति में तब '१२४५–अजाद्यतः–०' से 'टाप्' प्रत्यय हो 'मुण्डा' (मुण्डित स्त्री) रूप सिद्ध होता है।

(२) उस प्रातिपदिक को नियत स्त्रीलिङ्ग न होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'बलाक' प्रातिपदिक जातिवाचक है और उसकी उपधा में यकार भी नहीं है, किन्तु नियत स्त्रीलिङ्ग होने के कारण उससे 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता। तब पूर्ववत् 'टाप्' प्रत्यय हो 'बलाका' (बकपंक्ति) रूप सिद्ध होता है।

(३) और उस प्रातिपदिक की उपधा में यकार न होना चाहिये—उदाहरण के लिए 'क्षत्रिय' प्रातिपदिक जातिवाचक है और साथ ही नियत स्त्रीलिङ्ग भी नहीं है, किन्तु उसकी उपधा में यकार आया है। अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'ङीष्' प्रत्यय नहीं होता। इस स्थिति में तब पूर्ववत् 'टाप्' प्रत्यय हो 'क्षत्रिया' (क्षत्रिय जाति की स्त्री) रूप सिद्ध होता है।

(वा०–१) **योपधेति**—यकारोपध के प्रतिषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य का प्रतिषेध नहीं होता। तात्पर्य यह कि हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य—इन पांच शब्दों से उपधा में यकार होने पर भी स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' (ई)

---

* सूत्रस्थ 'जाति' के चार लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए ही ये विभिन्न उदाहरण दिये गये हैं।

प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'हय', 'गवय' और 'मुकय' से 'ङीप्' प्रत्यय हो क्रमशः 'हयी' (घोड़ी), 'गवयी' (स्त्री गवय) और 'मुकयी' (मुकय जाति की मादा-खच्चरी) रूप बनते हैं। 'मनुष्य' शब्द से भी इसी प्रकार 'ङीप्' प्रत्यय हो 'मनुष्य् ई' रूप बनने पर '१२४९-हलस्तद्धितस्य' से यकार का लोप हो 'मनुष् ई' = 'मनुषी' (मनुष्यजातीया स्त्री) रूप सिद्ध होता है। इसी भांति 'मत्स्य' से 'ङीप्' प्रत्यय हो 'मत्स्य् ई' रूप बनने पर अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है।

(वा०-२) मत्स्यस्येति—ङी (ङीप् या ङीष्) परे होने पर 'मत्स्य' शब्द के यकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'मत्स्य् ई' में 'ङीप्' (ई) परे होने के कारण प्रकृत वार्तिक से 'मत्स्य्' के यकार का लोप हो 'मत्स् ई' = 'मत्सी' (मछली) रूप सिद्ध होता है।

१२६६. इतो मनुष्यजातेः । ४ । १ । ६५

ङीप् । दाक्षी ।

१२६६. इत इति—शब्दार्थ है—(इतः) इकार से (मनुष्यजातेः) मनुष्य-जातिवाचक से…। किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए 'अन्यतो ङीष्' ४.१.४० से 'ङीप्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा सम्पूर्ण सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'इतः' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—मनुष्यजातिवाचक इकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' (ई) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए मनुष्यजातिवाचक प्रातिपदिक 'दाक्षि'* (दक्ष की सन्तान) इकारान्त है, अतः स्त्रीलिङ्ग में उससे 'ङीप्' प्रत्यय हो 'दाक्षि ई' रूप बनने पर पूर्व की भसंज्ञा होने के कारण अन्त्य इकार का लोप होकर 'दाक्ष् ई' = 'दाक्षी' (दक्ष की स्त्री सन्तान) रूप सिद्ध होता है।

१२६७. ऊङ् उतः । ४ । १ । ६६

उदन्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात् । कुरूः । अयोपधात् किम्—अध्वर्युर्ब्राह्मणी ।

१२६७. ऊङ् इति—सूत्र का शब्दार्थ है—(उतः) उकार से (ऊङ्) ऊङ् होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए '१२६५-जातेः-' से 'अयोपधात्', '१२६६-इतः-' से 'मनुष्यजातेः', 'ङ्याप्प्राति-

* 'दक्ष' शब्द से '१०११—अत इञ्' से 'इञ्' प्रत्यय हो 'दाक्षि' रूप बनता है।

पदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'उतः' 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—अयोपध (जिसकी उपधा में यकार न हो) और मनुष्यजातिवाचक उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'ऊङ्' प्रत्यय होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

(क) उकारान्त प्रातिपदिक को मनुष्यजाति–वाचक होना चाहिये।

(ख) और उस प्रातिपदिक की उपधा में यकार न होना चाहिये।

उदाहरण के लिए उकारान्त प्रातिपदिक 'कुरु' जातिवाचक है और उसकी उपधा में यकार भी नहीं है; अतः प्रकृतसूत्र से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय हो 'कुरु ऊ' रूप बननेपर सवर्णदीर्घ होकर 'कुरू' (कुरुजातीया स्त्री) रूप सिद्ध होता है। किन्तु उपधा में यकार होनेपर 'ऊङ्' प्रत्यय नहीं होता, यथा—'अध्वर्युः' (अध्वर्यु शाखा को पढ़ने वाली ब्राह्मणी)। यहां यद्यपि 'अध्वर्यु' प्रातिपदिक उकारान्त और जातिवाचक है, किन्तु उपधा में यकार होने के कारण उससे 'ऊङ्' प्रत्यय नहीं होता।

१२६८. पङ्गोश्च। ४। १। ६८

पङ्गूः।

(वा०) श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च। श्वश्रूः।

१२६८. पङ्गोरिति—शब्दार्थ है—(च) (पङ्गोः) पङ्गु से···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए पूर्व-सूत्र '१२६७–ऊङ्–०' से 'ऊङ्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो है ही। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'पङ्गु' (लङ्गड़ा) शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए 'पङ्गु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'पङ्गूः' (लङ्गड़ी) रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—जातिवाचक न होने के कारण 'पङ्गु' शब्द से पूर्वसूत्र (१२६७) से 'ऊङ्' प्रत्यय प्राप्त नहीं होता था, इसीलिए इस सूत्र से उसका पृथक् विधान किया गया।

(वा०) श्वशुरस्येति—'श्वशुर' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होता है और 'ऊङ्' प्रत्यय होने पर 'श्वशुर' शब्द के शकार से पर उकार का तथा रकार से पर अकार का लोप होता है। उदाहरण के लिए 'श्वशुर' शब्द से 'ऊङ्' प्रत्यय हो 'श्वशुर ऊ' रूप बनने पर शकारोत्तरवर्ती उकार तथा रकारोत्तरवर्ती अकार

का लोप होकर 'श्वश् र् ऊ'='श्वश्रू' रूप बनता है। तब विभक्तिकार्य हो 'श्वश्रूः' (श्वशुर की स्त्री, सास) रूप सिद्ध होता है।

विशेष :—'श्वशुर' शब्द से 'श्वशुर कीस्त्री'—इस अर्थ में '१२५७–पुंयोगात्–०', 'ङीष्' प्रत्यय प्राप्त था, किन्तु प्रकृत वार्तिक से उसका बाध हो 'ऊङ्' प्रत्यय होता है।

१२६९. ऊरूत्तरपदादौपम्ये । ४ । १ । ६९

उपमानवाचि पूर्वपदमूरूत्तरपदं यत् प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात्। करभोरूः।

१२६९. ऊरूत्तरेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(ऊरूत्तरपदात्*) ऊरु उत्तरपद वाले से (औपम्ये) औपम्य अर्थ में ··· । किन्तु क्या होता है और किस स्थिति में होता है—यह जानने के लिए '१२६७–ऊङ्–०' से 'ऊङ्', ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्' तथा सम्पूर्ण अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी। सूत्रस्थ 'औपम्य' का अर्थ है—उपमा का भाव।† 'प्रातिपदिकात्' का अन्वय सूत्रस्थ 'ऊरूत्तरपदात्' से होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रातिपदिक का उत्तरपद 'ऊरु' हो तो उपमा का भाव गम्यमान होने पर उस से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिये 'करभोरु'‡ (करभ के समान ऊरु वाला) प्रातिपदिक का उत्तरपद 'ऊरु है, अतः उपमा का भाव गम्यमान होने के कारण उस से 'ऊङ्' प्रत्यय हो 'करभोरु ऊ' रूप बनने पर सवर्ण-दीर्घ आदि होकर 'करभोरूः' (करभ के समान ऊरु वाली स्त्री) रूप सिद्ध होता है।

१२७०. संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च । ४ । १ । ७०

अनौपम्यार्थं सूत्रम्। संहितोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः। शफोरूः।

१२७०. संहितेति—शब्दार्थ है—(च) और (संहित-शफ-लक्षण वामादेः) संहित, शफ, लक्षण तथा वाम आदि वाले···। यहां सूत्रस्थ 'च' से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए '१२६७–ऊङ्–०' से 'ऊङ्', 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' से 'प्रातिपदिकात्' तथा पूर्वसूत्र '१२६९–ऊरूत्तरपदात्–०' से 'ऊरूत्तरपदात्' की अनुवृत्ति करनी होगी। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार तो यहां भी है। सूत्रस्थ 'संहित-वामादेः' तथा 'ऊरूत्तरपदात्' का अन्वय 'प्रातिपदिकात्' से

---

* इसका विग्रह है—'ऊरुः उत्तरपदं यस्येति ऊरूत्तरपदं तस्मात्।

† 'उपमीयतेऽनयेत्युपमा तस्या भाव औपम्यम्–' सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी-व्याख्या।

‡ 'करभौ इव ऊरू यस्य'–इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'करभोरु' रूप बनता है।

होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—यदि प्रातिपदिक के आदि में 'संहित' (मिला हुआ), 'शफ' (मिला हुआ), 'लक्षण' (सुन्दर) और 'वाम' (सुन्दर) शब्द हों और उत्तरपद में 'ऊरु' शब्द हो तो। उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' (ऊ) प्रत्यय होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यहां 'ऊङ्' प्रत्यय होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं—

(क) प्रातिपदिक का उत्तरपद 'ऊरु' शब्द होना चाहिये।

(ख) और उस प्रातिपदिक के आदि में संहित, शफ, लक्षण और वाम–इन चार शब्दों में से कोई शब्द होना चाहिए।

उदाहरण के लिए 'संहितोरु'* (मिले हुए ऊरु वाला) प्रातिपदिक का उत्तरपद 'ऊरु' है और उसके आदि में 'संहित' शब्द भी आया है, अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'ऊङ्' प्रत्यय हो पूर्ववत् 'संहितोरुः' (मिले हुए ऊरु वाली) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आदि में 'शफ', 'लक्षण' और 'वाम' शब्द होने के कारण 'शफोरु', 'लक्षणोरु' और 'वामोरु' से 'ऊङ्' प्रत्यय हो क्रमशः 'शफोरूः' (मिले हुए ऊरुवाली) 'लक्षणोरूः' (सुन्दर ऊरुवाली) और 'वामोरूः' (सुन्दर ऊरुवाली) रूप बनते हैं।

विशेष :—उपमा का भाव होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है। औपम्य होने पर तो पूर्वसूत्र (१२६९) से ही 'ऊङ्' हो जाता है।

१२७१. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। ४। १। ७३

शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी। बैदी। ब्राह्मणी।

(ग० सू०) नृनरयोर्वृद्धिश्च। नारी।

१२७१. शार्ङ्गरवेति—सूत्र का शब्दार्थ है—(शार्ङ्गरवाद्यञः) शार्ङ्गरव आदि और अञ् से (ङीन्) ङीन् प्रत्यय होता है। किन्तु इससे सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट नहीं होता। उसके स्पष्टीकरण के लिए तो 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१ से 'प्रातिपदिकात्', '१२६५–जातेः–०' से 'जातेः' तथा अधिकार-सूत्र 'स्त्रियाम्' ४.१.३ की अनुवृत्ति करनी होगी 'सूत्रस्थ 'अञः' प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, अतः उसमें तदन्त-विधि हो जाती है। 'शार्ङ्गरव आदि' गण है और उसमें 'शार्ङ्गरव'

* 'संहितौ ऊरू यस्य'—इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो 'संहितोरु' रूप बनता है।

और 'ब्राह्मण' आदि का समावेश होता है।* इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—शार्ङ्गरवादि गण में पठित और अञन्त (जिसके अन्त में 'अञ्' प्रत्यय हो) जातिवाचक† प्रातिपदिक से 'ङीन् (ई) प्रत्यय होता है। यह 'ङीन्' प्रत्यय '१२६५—जातेः—०' से प्राप्त 'ङीप्' प्रत्यय का बाधक है। उदाहरण के लिए 'शार्ङ्गरव' (शृंगरु की सन्तान) प्रातिपदिक 'शार्ङ्गरवादि' गण में आया है और साथ ही जातिवाचक भी है। अतः प्रकृत सूत्र से उससे 'ङीन्' प्रत्यय हो 'शार्ङ्गरव ई' रूप बनने पर पूर्व की भ-संज्ञा होने के कारण अन्त्य अकार का लोप हो 'शार्ङ्गरवी' (शृङ्गरु की स्त्री सन्तान) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार शार्ङ्गरवादिगण में पठित जातिवाचक 'ब्राह्मण' से 'ब्राह्मणी' (ब्राह्मणजातीया स्त्री) रूप बनता है। अञन्त जाति-जातिवाचक प्रातिपदिक 'बैद'‡ से इसी भांति 'ङीन्' प्रत्यय हो 'बैदी' (बिद की स्त्री सन्तान) रूप सिद्ध होता है।

(वा०) नृनरयोरिति—स्त्रीलिङ्ग में 'नृ' और 'नर' से 'ङीन्' प्रत्यय होता है तथा 'ङीन्' प्रत्यय होने पर 'नृ' और 'नर' को वृद्धि भी होती है। उदाहरण के लिए 'नृ' शब्द से 'ङीन्' प्रत्यय हो 'नृ ई' रूप बनने पर ऋकार के स्थान पर वृद्धि 'आर्' हो 'न् आर् ई'='नारी' (स्त्री) रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'नर' से 'ङीन्' प्रत्यय हो 'नर ई' रूप बनने पर पूर्व की भ-संज्ञा होने के कारण अन्त्य अकार का लोप हो 'नर् ई' रूप बनेगा। यहां पुनः प्रकृत वार्तिक से नकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर वृद्धि आकार हो 'न् आ र् ई' = 'नारी' रूप सिद्ध होता है।

१२७२. यूनस्तिः । ४ । १ । ७७

युवन् शब्दात् स्त्रियां तिः प्रत्ययः स्यात्। युवतिः।

इति स्त्रीप्रत्ययाः।

१२७५. यून इति—शब्दार्थ है—(यूनः) 'युवन्' से (तिः) 'ति' प्रत्यय होता है। 'स्त्रियाम्' ४.१.३ का अधिकार होने से यह प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में ही होता है। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा—'युवन्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ति' प्रत्यय होता है। यह 'ति' प्रत्यय 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' ४.१.५ से प्राप्त 'ङीप्' प्रत्यय का अपवाद

---

* विस्तृत विवरण के लिए परिशिष्ट में 'गणपाठ' देखिये।

† इसके स्पष्टीकरण के लिए १२६५ वें सूत्र की व्याख्या देखिये।

‡ 'बिद' शब्द से '१०१३—अनृष्यानन्तर्ये—०' से 'अञ्' प्रत्यय हो 'बैद' रूप बनता है।

है। उदाहरण के लिए 'युवन्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ति' प्रत्यय हो 'युवन् ति' रूप बनता है। तब '१८०–न लोपः–०' से नकार का लोप हो 'युवति' रूप बनने पर विभक्ति-कार्य होकर 'युवतिः' (युवा स्त्री) रूप सिद्ध होता है।

स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण समाप्त

इसके साथ ही महेशसिंह कुशवाहा, एम. ए. विद्यावाचस्पति
कृत लघुसिद्धान्तकौमुदी की 'माहेश्वरी' नामक हिन्दी
व्याख्या समाप्त हुई।

परिशिष्ट

१. प्रत्याहार

१. अक—अ, इ, उ, ऋ, ऌ ।
२. अच्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ ।
३. अट्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र् ।
४. अण्—अ, इ, उ ।
५. अण—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल् ।*
६. अम्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न् ।
७. अल्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह् ।
८. अश्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ब्, ग्, ड्, द् ।
९. इक्—इ, उ, ऋ, ऌ ।
१०. इच्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ ।
११. इण्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल् ।
१२. उक्—उ, ऋ, ऌ ।
१३. एङ्—ए, ओ ।
१४. एच्—ए, ओ, ऐ, औ ।
१५. ऐच्—ऐ, औ ।
१६. खय्—ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प् ।
१७ खर्—ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स् ।
१८. ङम्—ङ्, ण्, न् ।
१९. चय्—च्, ट्, त्, क्, प् ।
२०. चर्—च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स् ।
२१. छव्—छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त् ।

---

* इसका प्रयोग केवल '११-अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र में ही होता है ।

२२. जश्—ज्, ब्, ग्, ड्, द्।
२३. झय्—झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्।
२४. झर्—झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्।
२५. झल्—झ्, भ्, घ्, ढ्, ध, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।
२६. झश्—झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्।
२७. झष्—झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्।
२८. तङ्—त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि, महिङ्।
२९. तिङ्—तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम, इट्, वहि, महिङ्।
३०. बश्—ब्, ग्, ड्, द्।
३१. भष—भ्, घ्, ढ्, ध्,।
३२. मय्—म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्।
३३. यञ्—य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न, झ्, भ्।
३४. यण्—य्, व्, र्, ल्।
३५. यम्—य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्।
३६. यय्—य्, व्, र्, ल, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्।
३७. यर्—य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्।
३८. रल्—र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।
३९. वल्—व्, र्, ल्, ञ्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।

४०. वश्—व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्।

४१. शर्—श्, ष्, स्।

४२. शल्—श्, ष्, स्, ह्।

४३. सुप्—सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्, सुप्।

४४. हल्—ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।

---

२. पारिभाषिक शब्द

(सभी शब्दों को अकारादि क्रम से दिया गया है। कोष्ठक में दी हुई संख्याएँ लघुकौमुदीस्थ सूत्रों के क्रमांक को सूचित करती हैं। विशेष स्पष्टीकरण के लिए सम्बन्धित सूत्र की व्याख्या देखना आवश्यक है।)

१. अङ्ग—जिससे किसी प्रत्यय का विधान किया जावे, वह यदि किसी शब्द-स्वरूप के आदि में हो तो उस शब्दस्वरूप की प्रत्यय परे होने पर 'अङ्ग' संज्ञा होती है (१३३)।

२. अधिकरण—आधार को 'अधिकरण' कहते हैं (९०२)।

३. अनिट्—जिन धातुओं को 'इट्' आगम नहीं होता, उन्हें 'अनिट्' कहते हैं।*

४. अनुदात्त—निर्धारित स्थान के निचले भाग से उच्चारण किया जाने वाला स्वर 'अनुदात्त' कहलाता है (७)।

५. अनुनासिक—जिस वर्ण का उच्चारण मुख और नासिका (नाक)-दोनों की ही सहायता से होता है, उसे 'अनुनासिक' कहते हैं (९)।

६. अनुवृत्ति—किसी सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए पूर्ववर्ती सूत्रों ('अष्टाध्यायी' के क्रमानुसार) से आवश्यक शब्दों का ग्रहण करना 'अनुवृत्ति' कहलाता है।

७. अनुस्वार—किसी स्वर-वर्ण के ऊपर ' ं ' चिह्न को 'अनुस्वार' कहते हैं, जैसे—'अं'।

८. अन्यतरस्याम्—विकल्प से।

९. अन्वादेश—किसी कार्य के लिए जिसका ग्रहण किया गया हो, पुनः अन्य कार्य-विधान के लिए उसी का ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहलाता है (२८०)।

१०. अपृक्त—एक वर्ण वाला प्रत्यय 'अपृक्त' कहा जाता है (१७८)।

११. अपादान—जब दो वस्तुओं का अलगाव (विश्लेष) होता है, तब जो वस्तु अपनी जगह से हटती नहीं, उसे 'अपादान' कहते हैं (८९९)।

१२. अभ्यस्त—यदि किसी शब्द का 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' ६.१.१ सूत्र से द्वित्व होता है, तो उन दोनों को एक साथ मिलाकर (समुदाय रूप में) 'अभ्यस्त' कहते हैं (३४४)।

१३. अभ्यास—जहां द्वित्व करके दो रूप बनाये गये हों, वहां पूर्व रूप 'अभ्यास' कहलाता है, यथा—'भूव् भूव्' में प्रथम 'भूव्' (३९५)।

---

* विशेष विवरण के लिए 'पूर्वाभास', पृ० ३२–४ पर आर्धधातुक 'इट्' सम्बन्धी नियम देखिये।

१४. अवसान—विराम (समाप्ति) को 'अवसान' कहते हैं (१२४)।

१५. अव्यय—जो शब्द तीनों लिङ्गों, सातों विभक्तियों और तीनों वचनों में एक सा रहता है अर्थात् उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता, उसे 'अव्यय' कहते हैं।*

१६. अव्ययीभाव—'अव्ययीभावः' २.१.५ के अधिकार में विहित समास 'अव्ययीभाव' कहलाते हैं (६०७)।

१७. आगम—जो किसी के स्थान पर उसको हटाकर नहीं, बल्कि उसका अवयव (अङ्ग) बनकर आते हैं, उन्हें 'आगम' कहते हैं, यथा—'८५–डः सि धुट्' से 'धुट्' (ध्) सकार का अवयव बनता है।

१८. आत्मनेपद—त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि और महिङ्—इन नौ प्रत्ययों को साधारणतया 'आत्मनेपद' कहते हैं। (३७७)।

१९. आदेश—जो किसी के स्थान पर उसको हटाकर आता है, वह 'आदेश' कहलाता है। '१४३–ङेर्यः' से 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होता है, क्योंकि 'य' होने पर 'ङे' हट जाता है।

२०. आप्—टाप्, चाप् और डाप्—इन तीन स्त्री बोधक प्रत्ययों को सामूहिक रूप से 'आप्' कहते हैं, और जिसके अन्त में ये प्रत्यय आते हैं, उसे 'आबन्त'।

२१. आमन्त्रित—सम्बोधन में होने वाली प्रथमा विभक्ति 'आमन्त्रित' कहलाती है—'साऽऽमन्त्रितम्' २.३.४८।

२२. आम्रेडित—द्वित्व होने पर पीछे वाले (द्वितीय) रूप को 'आम्रेडित' कहते हैं (९९)। ध्यान रहे कि पहले वाला (प्रथम) रूप 'अभ्यास' कहलाता है।

२३. आर्धधातुक—सामान्यतया तिङ् और शित् (जिनका शकार इत्संज्ञक हो) प्रत्ययों को छोड़कर धातु से विहित अन्य प्रत्यय ('स्य', 'तासि' आदि) 'आर्धधातुक' कहलाते हैं। हां, लिट् और आशीर्लिङ् के स्थान पर आदेश हुए 'तिङ्' प्रत्यय भी 'आर्धधातुक' होते हैं।‡

२४. इत्—उपदेशावस्था में वर्तमान अन्त्य व्यंजन और अनुनासिक स्वर 'इत्' कहलाते हैं (१;२८)।

---

* ध्यान रहे कि स्वर् आदि और निपात 'अव्यय' संज्ञक होते हैं (३६७)। अन्य अव्ययों के लिए देखिये सूत्रांक ३६८, ३६९, ३७० और ३७१।

† विशेष विवरण के लिए देखिये 'पूर्वाभास', पृ० ३०–३१।

‡ देखिये 'पूर्वाभास', पृ० ३१–३४।

२५. उदात्त—अपने निर्धारित स्थान से ऊपर वाले भाग से उच्चारण किये जाने वाले स्वर को 'उदात्त' कहते हैं (६)।

२६. उपदेश—प्रत्याहार-सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश 'उपदेश' कहलाते हैं (देखिये प्रथम सूत्र की व्याख्या)।

२७. उपधा—शब्दस्वरूप के अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण को 'उपधा' कहते हैं (१७६)।

२८. उपध्मानीय—'प' और 'फ' के पूर्व आये विसर्ग के समान ध्वनि (जिसे '≍' चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है) को 'उपध्मानीय' कहा जाता है, यथा—'≍प≍फ'।

२९. उपपद—धात्वधिकार में सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पद 'उपपद' कहलाता है (९५३)।

३०. उपसंख्यानम्—किसी दी हुई चीज में कुछ और जोड़ना। इस शब्द का प्रयोग कात्यायन कृत वार्तिक-सूत्रों के लिए होता है, जिनका उद्देश्य पाणिनीय सूत्रों की कमियों को पूरा करना है। उदाहरण-'३४ (वा०) अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्।'

३१. उपसर्ग—क्रिया के योग में 'प्र' आदि 'उपसर्ग' कहलाते हैं (३५)।

३२. उपसर्जन—समास में प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट पद को 'उपसर्जन' कहते हैं (९०९)।

३३. एकादेश—जब पूर्व और पर—दोनों के ही स्थान पर एक आदेश होता है, तब उसे 'एकादेश' कहते हैं। उदाहरण—'२७-आद् गुणः'।

३४. करण—क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त सहायक कारक 'करण' कहलाता है (८९४)।

३५. कर्ता—क्रिया का प्रधानभूत कारक 'कर्ता' कहा जाता है (६९८)।

३६. कर्मधारय—समानाधिकरण वाला तत्पुरुष 'कर्मधारय' कहलाता है (९४०)।

३७. कित्—सामान्यतया जिन प्रत्ययों का ककार इत्संज्ञक होता है, उन्हें 'कित्' कहते हैं। आगम होने पर 'कित्' अन्तावयव बनता है (विशेष विवरण के लिए 'पूर्वाभास', पृ० ३४ पर 'कित् और ङित्' सम्बन्धी नियम देखिये)।

३८. कृत्—धात्वधिकार में पठित तिङ्-भिन्न प्रत्यय 'कृत्' कहलाते हैं (३०२), और जिनके अन्त में ये प्रत्यय होते हैं, उन्हें 'कृदन्त' कहते हैं।

३९. कृत्य—कृत्याधिकार में पठित प्रत्ययों को 'कृत्य' कहते हैं (७६८), यथा—तव्य, तव्यत्, अनीयर्, यत्, क्यप्, ण्यत्, य और केलिमर्।

४०. गति—क्रिया के योग में 'प्र' आदि 'गति' संज्ञक होते हैं (२०१)।

४१. गुण—अ, ए, और ओ को गुण कहते हैं (२५)।

४२. गुरु—संयोग परे होने पर ह्रस्व स्वर 'गुरु' कहलाता है (४४९)। इसके अतिरिक्त दीर्घ स्वर को भी 'गुरु' कहते हैं (४५०)।

४३. गोत्र—अपत्य (सन्तान) रूप से विवक्षित पौत्र आदि को 'गोत्र' कहते हैं (१००३)।

४४. घ—'तरप्' और 'तमप्' को 'घ' कहा जाता है (१२१६)।

४५. घि—'सखि' शब्द को छोड़कर नदी-संज्ञक-भिन्न ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्द 'घि' कहलाते हैं (१७०)।

४६. घु—डुदाञ्, दाण्, दो, देङ्, डुधाञ् और धेट्—इन छः धातुओं को 'घु' कहते हैं (६२३)।

४७. जिह्वामूलीय—'क' और 'ख' के पूर्व आये विसर्ग के समान ध्वनि (जिसे '$\asymp$' चिह्न द्वारा सूचित किया जाता है) 'जिह्वामूलीय' कही जाती है, यथा—'$\asymp$क $\asymp$ख'।

४८. टि—शब्द के अन्त में आने वाला स्वर-वर्ण जिस वर्ण-समुदाय के आदि में आता है, उस वर्ण-समुदाय को 'टि' कहते हैं (३९)।

४९. टित्—सामान्यतया जिस प्रत्यय का टकार इत्संज्ञक होता है, वह 'टित्' कहलाता है। आगम होने पर 'टित्' आद्यवयव बनता है।

५०. तङ्—त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि और महिङ्—इन नौ आत्मनेपद प्रत्ययों को 'तङ्' कहते हैं।

५१. तत्पुरुष—'तत्पुरुषः' २.१.२२ सूत्र के अधिकार में विहित समास 'तत्पुरुष' संज्ञक होते हैं (९२२)।

५२. तद्धित—'तद्धिताः' ४.१.७६ सूत्र के अधिकार में जिन प्रत्ययों का विधान किया जाता है, उन्हें 'तद्धित' कहते हैं (९१६)।

५३. तद्राज—'१०२५-जनपदशब्दात्-०' तथा उसके अन्य परवर्ती सूत्रों द्वारा क्षत्रियबोधक जनपदवाची शब्दों से जिन 'अञ्' आदि प्रत्ययों का विधान किया जाता है, उन्हें 'तद्राज' कहते हैं (१०२७)।

५४. तिङ्—धातु से होने वाले तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इट्, वहि और महिङ्—इन अठारह प्रत्ययों को 'तिङ्' कहते हैं।

५५. द्वन्द्व—'च' अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का समास 'द्वन्द्व' कहलाता है (९८२)।

५६. द्विगु—संख्यापूर्वक तत्पुरुष समास को 'द्विगु' कहते हैं (६४१)।

५७. दीर्घ—द्विमात्रिक स्वर 'दीर्घ' कहलाता है (५)।

५८. द्वित्व (द्विर्वचन)—किसी शब्द का दो बार पाठ करना 'द्वित्व' या द्विर्वचन कहलाता है, यथा—'३९४–लिटि धातोः–०' से 'भूव्' का द्वित्व होकर 'भूव् भूव्' रूप बनता है।

५९. धातु—क्रियावाची 'भू' आदियों को 'धातु' कहते हैं (३६)। इसके अतिरिक्त 'सन्'-प्रत्ययान्त शब्द भी 'धातु' संज्ञक होते हैं (४६८)।

६०. नदी—नित्यस्त्रीलिङ्गी दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द 'नदी' कहलाते हैं (१६४)।

६१. निपात—द्रव्य-भिन्न अर्थ में वर्तमान 'च' आदि तथा 'प्र' आदि 'निपात' कहलाते हैं (५३,५४)।

६२. निपातन—जो कार्य बिना लक्षण (सूत्र या नियम) के ही होता है, उसे 'निपातन' कहते हैं (देखिये ३०१ वें सूत्र पर पाद-टिप्पणी)।

६३. निष्ठा—'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्यय 'निष्ठा' कहलाते हैं (८१४)।

६४. पद—सुप्-प्रत्ययान्त और तिङ्-प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप को 'पद' कहते हैं (१४)।

६५. पररूप—जब पूर्व और पर—दोनों के स्थान पर केवल पररूप ही रह जाता है, तब उसे 'पररूप' एकादेश कहते हैं। उदाहरण—'३८–एङि पररूपम्'।

६६. परसवर्ण—यदि किसी के स्थान पर पर (बाद में आने वाला) का सवर्ण होता है, तो वह 'परसवर्ण' कहलाता है। उदाहरण-'७९–अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'।

६७. परस्मैपद—सामान्यतः धातु से होने वाले तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस् और मस्–इन नौ प्रत्ययों को 'परस्मैपद' कहते हैं (विशेष विवरण के लिए 'पूर्वाभास' में 'परस्मैपद और आत्मनेपद' सम्बन्धी नियम देखिये)।

६८. पुंवत्—पुँल्लिङ्ग के समान।

६९. पूरण—किसी संख्या को पूर्ण करने वाला या उसका अवयव 'पूरण' कहलाता है, यथा—ग्यारहवां (एकादश) आदि (११७१)।

७०. पूर्वरूप—जब पूर्व और पर के स्थान पर केवल पूर्व का ही रूप रह जाता है, तब उसे 'पूर्वरूप' एकादेश कहते हैं। उदाहरण—'१३५–अमि पूर्वः'।

७१. पूर्वसवर्ण—यदि पूर्व और पर—दोनों के स्थान पर पूर्व का सवर्ण आदेश

होता है, तो वह 'पूर्वसवर्ण' कहलाता है। उदाहरण—'१२६-प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'।

७२. प्रकृतिभाव (प्रकृत्या)—अपने मूलरूप में स्थिर रहना अथवा किसी प्रकार का परिवर्तन न होना। 'प्रकृतिभाव' होने पर सन्धि-कार्य नहीं होता। उदाहरण—'४४-सर्वत्र विभाषा गोः'।

७३. प्रगृह्य—ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन 'प्रगृह्य' कहलाता है (५१)। इसके अतिरिक्त 'अदस्' शब्द के अवयव मकार से पर ईकार और ऊकार भी 'प्रगृह्य'-संज्ञक होते हैं (५२)।

७४. प्रत्याहार—वर्णों या शब्दों के संक्षेपीकरण को 'प्रत्याहार' कहते हैं। वस्तुतः अनेक वर्णों या शब्दों के लिए एक सांकेतिक शब्द का प्रयोग करना ही प्रत्याहार कहलाता है, यथा – अच् , सुप् आदि।*

७५. प्रयत्न—वर्णों का उच्चारण करते समय जो मुख के भीतर यत्न (चेष्टा) किया जाता है, उसे 'प्रयत्न' कहते हैं।

७६. प्रातिपदिक—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अन्य सार्थक शब्दस्वरूप 'प्रातिपदिक' कहलाता है (११६)। तद्धित और समास भी प्रातिपदिक संज्ञक होते हैं (११७)।

७७. प्लुत—त्रिमात्रिक स्वर को 'प्लुत' कहते हैं, यथा—राम ३। (५)।

७८. बहुव्रीहि—'शेषो बहुव्रीहिः' २.२.२३ के अधिकार में विहित समास 'बहुव्रीहि' कहलाता है (९६४)।

७९. भ—सर्वनामस्थान से भिन्न यकारादि और अजादि (जिनके अन्त में कोई स्वर-वर्ण हो) 'सु' आदि प्रत्यय परे होने पर पूर्वशब्द-समुदाय को 'भ' कहते हैं (१६५)।

८०. भाषितपुंस्क—जिस शब्द का प्रयोग पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग—दोनों में एक ही अर्थ में होता है, वह 'भाषितपुंस्क' कहलाता है (२४९)।

८१. मात्रा—काल को 'मात्रा' कहते हैं। जितना समय पलक गिरने या चुटकी बजाने में लगता है, उतना समय 'एक मात्रा' कहलाता है।

८२. युवा—यदि पिता आदि जीवित हों, तो पौत्र आदि की सन्तान को 'युवा' कहा जाता है (१००७)।

८३. लघु—ह्रस्व स्वर को 'लघु' कहते हैं (४४८)।

---

* विशेष विवरण के लिए चतुर्थ सूत्र की व्याख्या तथा 'पूर्वाभास' में प्रत्याहार सम्बन्धी नियम देखिये।

८४. लुक्—'लुक्' शब्द का उच्चारण कर किया हुआ प्रत्यय का अदर्शन (लोप) 'लुक्' कहलाता है (१८९)।

८५. लुप्—'लुप्' शब्द का उच्चारण कर यदि प्रत्यय के अदर्शन (लोप) का विधान किया गया हो, तो उसे 'लुप्' कहते हैं (१८६)।

८६. लोप—अदर्शन को लोप कहते हैं (२)।

८७. वार्तिक—पाणिनीय सूत्रों की कमियों को पूरा करने के लिए कात्यायन ने जिन सूत्रों की रचना की, उन्हें 'वार्तिक' कहते हैं।

८८. विकल्प—किसी कार्य का एक पक्ष में होना और दूसरे पक्ष में न होना 'विकल्प' कहलाता है।

८९. विभक्ति—सुप् और तिङ् को 'विभक्ति' कहते हैं (१३०)।

९०. विभाषा—निषेध और विकल्प को 'विभाषा' कहा जाता है—'न वेति विभाषा' १.१.४३।

९१. विसर्जनीय—विसर्ग (जिसे ':' चिह्न द्वारा सूचित किया जाता है) को ही 'विसर्जनीय' कहते हैं। उदाहरण—'१०३–विसर्जनीयस्य सः'।

९२. वेट्—जिन धातुओं को विकल्प से 'इट्' आगम होता है, उन्हें 'वेट्' कहते हैं।

९३. वृद्ध—जिस समुदाय के स्वर-वर्णों में से आदि स्वर वृद्धि-स्वरूप (आ, ऐ, या औ) होता है, वह समुदाय 'वृद्ध' कहलाता है (१०७२)।

९४. वृद्धि—आ, ऐ और औ को 'वृद्धि' कहते हैं (३२)।

९५. शित्—जिन प्रत्ययों का शकार इत्संज्ञक होता है, उन्हें शित्' कहा जाता है। ये शित् प्रत्यय 'सार्वधातुक' होते हैं।

९६. श्लु—'श्लु' शब्द का उच्चारण कर किया हुआ प्रत्यय का अदर्शन (लोप) 'श्लु' कहलाता है (१८९)।

९७. षट्—षकारान्त और नकारान्त संख्यावाचक शब्दों को 'षट्' कहते हैं (२९७)। इसके अतिरिक्त डति-प्रत्ययान्त संख्यावाची शब्द भी 'षट्' संज्ञक होते हैं (१८७)।

९८. संख्या—बहु, गण, वतु-प्रत्ययान्त और डति-प्रत्ययान्त शब्दों को 'संख्या' कहा जाता है (१८६)।

९९. संयोग—यदि स्वर-वर्ण का व्यवधान न हो, तो दो या दो से अधिक व्यंजनों के समुदाय को 'संयोग' कहते हैं (१३)।

१००. संहिता—वर्णों की अतिशय समीपता (अर्थात् व्यवधान-रहित उच्चारण) को 'संहिता' कहा जाता है (१२)।

३. गणपाठ

३९. (वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्—शकन्धुः कर्कन्धुः कुलटा सीमन्तः (केशवेशे) सीमान्तः मनीषा हलीषा लाङ्गलीषा पतञ्जलिः सारङ्गः (पशुपक्षिणोः) साराङ्गः मार्तण्डः (आकृतिगणोऽयम्)।

५३. चादयोऽसत्त्वे १।४।५७—च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् युगपत् भूयस् सूपत् कूपत् कुवित् नेत् चेत् चण् कच्चित् यत्र तत्र नह हन्त माकिम् माकीम् माकिर नकिम् नकीम् नकिर् आकीम् माङ् नञ् तावत् यावत् त्वा त्वै द्वै न्वै रै (रे) श्रौषट् वौषट् स्वाहा स्वधा ओम् तथा तथाहि खलु किल अथ सुष्ठु स्म अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ आदह उञ् उकञ् वेलायाम् मात्रायाम् यथा यत् तत् किम् पुरा वधा (वध्वा) धिक् हाहा हेहै (हहे) पाट् प्याट् आहो उताहो हो अहो नां (ना) अथो ननु मन्ये मिथ्या असि ब्रूहि तु नु इति इव वत् वात् वन व्रत [सम् वशम् शिकम् सिकम्] सनुकं छंवट् (छम्बट्) शङ्के शुकम् खम् सनात् सनुतर् नहिकम् सत्यम् ऋतम् अद्धा इद्धा नोचेत् नचेत् नहि जातु कथम् कुतः कुत्र अव अनु हा हे (है) आहोस्वित् शम् कम् खम् दिष्ट्या पशु नुट् सह (आनुषट्) आनुषक् अङ्ग फट् ताजक् भाजक् अये अरे वाट् (चाटु) कुम् खुम् घुम् अम् ईम् साम् सिम् सि वै। (उपसर्ग विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च निपाताः) आकृतिगणोऽयम्।

५४. प्रादयः १।४।५८—प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उद् अभि प्रति परि उप। इति प्रादयः॥

१५१. सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७—सर्व विश्व उभ उभय डतर डतम अन्य अन्यतर इतर त्वत् त्व नेम सम सिम (पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्) (स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्) (अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः) त्यद् तद् यद् एतद् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम्। इति सर्वादिः।

२२३. न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०—स्वसृ दुहितृ ननान्दृ यातृ मातृ तिसृ चतसृ। इति स्वस्रादिः॥

३६७. स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३७—स्वर् अन्तर् प्रातर् अन्तोदात्ताः। पुनर् सनुतर् उच्चैस् नीचैस् शनैस् ऋधक् ऋते युगपत् आरात् (अन्तिकात्) पृथक्। आद्युदात्ताः। ह्यस् श्वस् दिवा रात्रौ सायम् चिरम् मनाक् ईषत् (शश्वत्) जोषम् तूष्णीम् बहिस् [अधस्] अवस् समया निकषा स्वयम् मृषा नक्तम् नञ् हेतौ [हेहै] इद्धा अद्धा सामि। अन्तोदात्ताः। वत् [५।१।११५] ब्राह्मणवत् क्षत्रियवत् सना सनत् सनात् उपधा तिरस्। आद्युदात्ताः। अन्तरा। अन्तोदात्तः। अन्तरेण [मक्] ज्योक् [योक् नक्] कम

संव्याहृव्रजवदवसां प्रतिषिद्धानाम् । अयाची अव्याहारी असंव्याहारी अव्राजी अवादी अवासी अचामचित्तकर्तृकाणाम् । अकारी अहारी अविनायी [विशायी-विषायी] विशयी विषयी देशे । विशयी विषयी देशः । अभिभावी भूते । अपराधी उपरोधी परिभवी परिभावी । इति ग्रह्यादिः ॥ पच वच वप वद चल पत नदट् भषट् प्लवट् चरट् गरट् तरट् चोरट् गाहट् सरट् देवट् (दोषट्) जर (रज) मर (मद) क्षम (क्षप) सेव मेष कोप (कोष) मेध नर्त व्रण दर्श सर्प [दम्भ दर्प] जारभर श्वपच । पचादि-राकृतिगणोऽयम् ॥

७९१. (वा०) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् ३।१।५—मूलविभुज नखमुच काकगुह कुमुद महीध्र कुधामिध्र । आकृतिगणोऽयम् । इति मूलविभुजादयः ॥

८६३. (वा०) सम्पदादिभ्यः क्विप् ३।३।१०८—सम्पद् विपद् आपद् प्रतिपद् परिषद् । एते सम्पदादयः ॥

९१७. अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५।४।१०७—शरद् विपाश् अनस् मनस् उपानह् अनडुह् दिव् हिमवत् हिरुक् विद् दिश दश् विश् चतुर् त्यद् तद् यद् कियत् (जराया जरस्) (प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः) पथिन् । इति शरदादिः ।

९३४. सप्तमी शौण्डैः २।१।४०—शौण्ड धूर्त कितव व्याड प्रवीण संवीन अन्तर अधि पटु पण्डित कुशल चपल निपुण इति शौण्डादिः ॥

९४५. (वा०) शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानम् २।१।६०—शाकपार्थिव कुतुप-सौश्रुत अजातौल्वलि । आकृतिगणोऽयम् । कृताकृत भुक्तविभुक्त पीतविपीत गतप्रत्यागत यातानुयात क्रयाक्रयिका पुटापुटिका फलाफलिका मानोन्मानिका । इति शाकपार्थि-वादयः ॥

९५०. ऊर्यादिच्विडाचश्च १।४।६१—ऊरी उररी कन्थी ताली आताली वेताली धूली धूशी शकला संकला ध्वंसकला भ्रंसकला गुलुगुधा सजूः फलफली विकली आक्ली आलोष्टी केवाली कवासी सेवासी पर्याली शेवाली अत्यूमनसा वश्मसा मस्मसा मस्मसा श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधा वन्धा प्रादुस् एते ऊर्यादयः ।

९६३. अर्धर्चाः पुंसि च २।४।३१—अर्धर्च गोमय कषाय कार्षापण कुतप कुणप (कुणप) कपाट शङ्ख गूथ यूथ ध्वज कबन्ध पद्म गृह सरक कंस दिवस यूप अन्धकार दण्ड कमण्डलु मण्ड भूत द्वीप द्यूत चक्र धर्म कर्मन् मोदक शतमान यान नख-नखर चरण पुच्छ दाडिम हिम रजत सक्तु पिधान सार पात्र घृत सैन्धव औषध आढक चषक द्रोण खलीन पात्रीव षष्टिक वारबाण (वारवारण) प्रोथ कपित्थ [शुष्क] शाल शील शुल्ब (शुल्क) शीधु कवच रेणु [ऋण] कपट शीकर मुसल सुवर्ण वर्ण पूर्व चमस क्षीर कर्ष आकाश अष्टापद मङ्गल निधन निर्यास जृम्भ वृत्त पुस्त बुस्त क्ष्वेडित शृङ्ग निगड [खल] मूलक मधु मूल स्थूल शराव नाल वप्र विमान मुख प्रग्रीव शूल वज्र

कटक कण्टक [कर्पट] शिखर कल्क (वल्कल) नटमस्तक (नाटमस्तक) वलय कुसुम तृण पङ्क कुण्डल किरीट [कुमुद] अर्बुद अङ्कुश तिमिर आश्रय भूषण इल्वस (इष्वास) मुकुल वसन्त तटाक (तडाग) पिटक विटङ्क विडङ्ग पिण्याक माष कोश फलक दिन दैवत पिनाक समर स्थाणु अनीक उपवास शाक कर्पास [विशाल] चषाल (चखाल) खण्ड दर विटप [रण बल मक] मृणाल हस्त आर्द्र हल [सूत्र] ताण्डव गाण्डीव मण्डप पटह सौध योध पार्श्व शरीर फल [छल] पुर (पुरा) राष्ट्र अम्बर बिम्ब कुट्टिम मण्डल (कुक्कुट) कुडप ककुद खण्डल तोमर तोरण मञ्चक पञ्चक पुङ्ख मध्य [बाल] छाल वल्मीक वर्ष वस्त्र वसु देह उद्यान उद्योग स्नेह स्तेन [स्तन स्वर] सङ्गम निष्क क्षेम शूक छत्रपवित्र [यौवन कलह] मालक (पालक) मूषिक [मण्डल वल्कल] कुज (कुञ्ज) विहार लोहित विषाण भवन अरण्य पुलिन दृढ आसन ऐरावत शूर्प तीर्थ लोमन (लोमश) तमाल लोह दण्डक शपथ प्रतिसर दारु धनुस् मान वर्चस्क कूर्च तण्डक मठ सहस्र ओदन प्रवाल शकट अपराह्न नीड शकल तण्डुल । इत्यर्धर्चादिः ॥

९६८. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६।३।३४—प्रिया मनोज्ञा कल्याणी सुभगा दुर्भगा भक्तिः सचिवा स्वसा (स्वा) कान्ता (क्षान्ता) समा चपला दुहिता वामा अबला तनया । इति प्रियादिः ॥

९७३. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ५।४।१३८—हस्तिन् कुद्दाल अश्व कशिक कुरुत कटोल कटोलक गण्डोल गण्डोलक कण्डोल कण्डोलक अज कपोत जाल गण्ड महिला दासी गणिका कुसूल । इति हस्त्यादिः ॥

९७८. उरःप्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१—उरस् सर्पिस् उपानह् पुमान् अनड्वान् पयः नौः लक्ष्मीः दधि मधु शाली शालिः अर्थान्नञः । इत्युरःप्रभृतय ॥

९७९. कस्कादिषु च ८।३।४८—कस्कः कौतस्कुतः भ्रातुष्पुत्रः शुनस्कर्णः सद्यस्कालः सद्यस्कीः साद्यस्कः कांस्कान् सर्पिष्कुण्डिका धनुष्कपालम् बर्हिष्पलम् (बर्हिष्पलम्) यजुष्पात्रम् अयस्कान्तः तमस्काण्डः अयस्काण्डः मेदस्पिण्डः भास्करः अहस्करः । इति कस्कादिराकृतिगणः ॥

९८३. राजदन्तादिषु परम् २।२।३१—राजदन्तः अग्रवणम् लिप्तवासितम् नग्नमुषितम् सिक्तसंमृष्टम् मृष्टलुञ्चितम् अवक्लिन्नपक्वम् अर्पितोप्तम् । उप्तगाढम् उलूखलमुसलम् तण्डुल–किण्वम् दृषदुपलम् आरड्वायनि । आरग्वायनबन्धकी । चित्ररथबाह्लीकम् । अवन्त्यश्मकम् शूद्रार्यम् स्नातकराजानौ विष्वक्सेनार्जुनौ अक्षिभ्रुवम् दारगवम् शब्दार्थौ धर्मार्थौ कामार्थौ अर्थशब्दौ अर्थधर्मौ अर्थकामौ वैकारिमतम् गाजवाजम् । गोजवाजम् । गोपालिधानपूलासम् । गोपालधानीपूलासम् । पूलासकारण्डम् । पूलासककुरण्डम् । स्थूलासम् । स्थूलपूलासम् । उशीरबीजम् [जिज्ञास्थि] ·सिञ्जास्थम् । सिञ्जाश्वत्थम् । चित्रास्वाती । चित्रस्वाती । भार्यापती दम्पती जम्पती जायापती पुत्रपती पुत्रपशू–

केशश्मश्रू शिरोबिजु । शिरोबीजम् । शिरोजानु सर्पिर्मधुनी मधुसर्पिषी (आद्य तौ) अन्तादी गुणवृद्धी वृद्धिगुणौ । इति राजदन्तादयः ॥

९९५. अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४—अश्वपति स्थानपति ज्ञानपति यज्ञपति बन्धुपति शतपति धनपति राष्ट्रपति कुलपति गृहपति पशुपति भाग्यपति धर्मपति धन्वपति सभापति प्राणपति क्षेत्रपति इत्यश्वपत्यादिः ।

९९९. उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६—उत्स उदपान विकिर विनद महानद महानस् महाप्राण तरुण तलुन बष्कयास धेनु पृथ्वी पंक्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर ग्रीष्मपीलु कुण पृषदंश मल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत् सत्वत् कुरुपञ्चाल इन्द्रावरुण उष्णीह ककुभसवर्ण देवग्रीष्माद् छन्दसि । इत्युत्सादिः ।

१००५. गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५—गर्ग, वत्स । वाजासे । सकृति अज व्याघ्रपात् विदभृत प्राचीनयोग (अगस्ति) पुलस्ति चमस रेभ अग्निवेश शङ्ख शट शक एक धूम अवट मनस् धनञ्जय वृक्ष विश्वासु जरमाण लोहित संशित बभ्रु वल्गु मण्डु गण्डु शङ्कु लिगु गुहलु मन्तु मङ्क्षु अलिगु जिगीषु मनु तन्तु इत्यादि ।

१०१२. बाह्वादिभ्यश्च ४।१।९६—बाहु उपबाहु उपवाकु निवाकु शिवाकु वटाकु उपनिन्दु [उपबिन्दु] वृषली वृकला चूडा बलाका मूषिका कुशला भगला (छगला) ध्रुवका [धुवका] सुमित्रा दुर्मित्रा पुष्करसद् अनुहरत् देवशर्मन् अग्निशर्मन् [भद्रशर्मन्] सुशर्मन् कुनामन् (सुनामन्) पञ्चन् सप्तन् अष्टन् । अमितौजसः सलोपश्च । सुधावत् उदञ्चु शिरस् माष शराविन् मारीचि क्षेमवृद्धिन् शृंखलतोदिन् खरनादिन् नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् अजीगर्त कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन साम्ब गद प्रद्युम्न राम (उदङ्क) उदकः सञ्ज्ञायाम् । सम्भूयोम्भसोः सलोपश्च । आकृतिगणोऽयम् । तेन सात्त्वकिः जाङ्घिः ऐन्दशर्मिः आजवेनविः इत्यादि । इति बाह्वादयः ॥

१०१३. अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४—बिद ऊर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किंदर्भ विश्वानर ऋष्टिषेण ऋतभाग हर्यश्व प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन इत्यादि ।

१०१४. शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२—शिव प्रौष्ठ प्रौष्ठिक चण्ड जम्भ भूरि दण्ड कुठार ककुभ (ककुभा) अनभिम्लान लोहित सुख सुख संधि मुनि ककुत्थ कहोड कोहड कयहु कहय रोध कपिञ्जल (कुपिञ्जल) वतण्ड तृण कर्ण क्षीरहद जलहद परिल (पथिक) पिष्ट हैहय (पार्षिक) गोपिका कपिलिका जटिलिका इत्यादि ।

१०२३. रेवत्यादिभ्यष्ठक् ४।१।१४६—रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकपाली वकग्राह दण्डग्राह कर्णग्राह चामरग्राह । इति रेवत्यादिः ।

१०२६. (वा०) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् ४।१।१७५—कम्बोज चोल केरल शक यवन । इति कम्बोजादिः ॥

१०४४. भिक्षादिभ्योऽण् ४।२।३८—भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मिन् धर्मिन् सहस्र युवति पदाति पद्धति अथर्वत् दक्षिणाभूत विषय श्रोत इति भिक्षादिः ।

१०५२. क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१—क्रमक पदक शिक्षक मीमांसक । इति क्रमादिः ।

१०५९. वरणादिभ्यश्च ४।२।८२—वरणा शृङ्गी शाल्मलि शुण्डी शुयाण्टी ताम्रपर्णी गोदा अलिङ्ग्यायनी जालपदी जम्बू पुष्कर चम्पा पम्पा वल्गु उज्जयिनी गया मथुरा तक्षशिला उरसा गोमती वलभी । इति वरणादिः ।

१०६२. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९—यव दल्मि ऊर्मि भूमि कृमि कुञ्चा वशा द्राक्षा ध्राक्षा ध्राज (व्रजि) ध्वजि निजि सिजि सञ्जि हरित् ककुद् मरुत् गरुत् इक्षुद्रु मधु । आकृतिगणोऽयं यवादिः ।

१०६८. नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७—नदी मही वाराणसी श्रावस्ती कौशाम्बी वनकौशाम्बी काशपरी काशफरी खादिरी पूर्वनगरा पाठा माया शल्वा दार्वा सेतकी (वडवाया वृषे) इति नद्यादिः ।

१०७५. गहादिभ्यश्च ४।२।१३८—गृह अन्तस्थ सम विषम (मध्यमध्यं दिनचरणे) उत्तम गर्वग भूगर्भ पूर्वपक्ष अपरपक्ष अधमशाख समानग्राम एकवृक्ष एकपलाश अवस्यन्दन कामप्रस्थ सौमित्रि व्याडि इत्यादि । आकृतिगणोऽयम् । इति गहादिः ।

१०९०. दिगादिभ्यो यत् ४।३।५४—दिक् वर्ग पूग गण पक्ष धाय्य मित्र मेधा अन्तर पथिन् रहस् अलीक उखा साक्षिन् देश आदि अन्तमुख जघन मेघ यूथ (उदकात्संज्ञायाम्) न्याय वंश वेश काल आकाश इति दिगादिः ।

१०९१. अध्यात्मादिभ्यश्च (वा०) ४।३।६०—अध्यात्म अधिदेव अधिभूत इहलोक परलोक । इत्यध्यात्मादिः । आकृतिगणः ॥

१०९२. अनुशतिकादीनां च ७।३।२०—अनुशतिक अङ्गारवेणु असिहत्य वध्योग पुष्करसत् कुरुकत् उदकशुद्ध इहलोक सर्वपुरुष प्रयोग परस्त्री राजपुरुषात्ष्यञि सूत्रनड आकृतिगणोऽयम् । तेन अनुहोढ अनुसंवरण इत्यादयोऽन्येऽपि इत्यनुशतिकादिः ।

१११०. नित्यं वृद्ध-शरादिभ्यः ४।३।१४४—शर दर्भ मृद् (मृत्) कुटी तृण सोम वल्वज । इति शरादिः ॥

११३५. उगवादिभ्यो यत् ५।१।२—गो हविस् अक्षर विष बर्हिस् अष्टका स्खदा युग मेधा स्रुच (नाभिनभं) (शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्) (ऊधसोऽनङ् च) कूप् खद दर खुर असुर अध्वनक्षरवेदः । इति गवादिः ।

११४३. दण्डादिभ्यो यत् ५।१।६६—दण्ड मुसल मधु कशा अर्घ मेघ मेधा सुवर्ण उदक वध युगगुहा भाग इभ भङ्ग इति दण्डादिः ।

११५२. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ५।१।१२२—पृथु मृदु महत् पटु तनु लघु बहु साधु आशु उरु बहुल खण्ड दण्ड चण्ड अकिंचन बाल वत्स होड पाक मन्द स्वादु ह्रस्व दीर्घ प्रिय वृष ऋजु क्षिप्र क्षुद्र अणु। इति पृथ्वादिः।

११५५ वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ५।१।१२३—दृढ वृढ परिवृढ भृश कृश वक्र शुक्र चुक्र आम्र कृष्ट लवण ताम्र शीत उष्ण जड बधिर पण्डित मधुर मूर्ख मूक स्थिर 'वेर्यातलातमतिमनःशारदानाम्' 'समो मतिमनसोः' जवन इति दृढादिः।

११५६. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४—ब्राह्मण वाडव माणव 'अर्हतो नुम् च' चोर धूर्त अराधय विराधय अपराधय उपराधय एकभाव द्विभाव त्रिभाव अन्यभाव इत्यादिः।

११५९. पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८—पुरोहित। राजाऽसे। ग्रामिक पिण्डिक सुहित बाल मन्द (बालमन्द) खण्डिक दण्डिक वर्मिक कर्मिक धर्मिक शिलिक सूतिक मूलिक तिलक अञ्जलिक (अन्तलिक) रूपिक ऋषिक पुत्रिक अविक छत्रिक पर्षिक पथिक चर्मिक प्रतिक सारथि आस्तिक सूचिक संरक्ष सूचक (संरक्षसूचक) नास्तिक अजानिक शाकर नागर चूडिक। इति पुरोहितादि.॥

११६३. तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५।२।३६—तारका पुष्प कणक मञ्जरी ऋजीष क्षण सूत्र मूत्र निष्क्रमण पुरीष उच्चार प्रचार विचार कुड्मल कण्टक मुसल मुकुल कुसुम कुतूहल स्तबक किसलय पल्लव खण्ड वेग निद्रा मुद्रा बुभुक्षा इत्यादि।

११८०. इष्टादिभ्यश्च ५।२।८८—इष्ट पूर्त उपासादित निगदित परिगदित परिवादित निकथित निषादित निपठित संकलित परिकलित संरक्षित परिरक्षित अर्चित गणित अवकीर्ण आयुक्त गृहीत आम्नात श्रुत अधीत इत्यादि।

११८४. लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ५।२।१००—लोमन् रोमन् बभ्रु अरि गिरि कर्क कपि मुनि तरु इति लोमादिः।

अथ पामादिः—पामन् वामन् वेमन् हेमन् श्लेष्मन् कद्रुवलि सामन् ऊष्मन् कृमि।

(अङ्गात्कल्याणे) (शाकपलाली तद्रूणां ह्रस्वत्वं च) (विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः) (लक्ष्म्या अच्च) इति पामादिः।

अथ पिच्छादिः—(पिच्छा उरस् ध्रुवक् ध्रुवक जटा घटा कालाक्षेपे) रण उदक पङ्क प्रज्ञा इति पिच्छादिः।

११८८. व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६—व्रीहि माया शाला शिखा माला मेखला केका अष्टका पताका चर्मन् कर्मन् वर्मन् दंष्ट्रा संज्ञा वडवा कुमारी नौ वीणा बलाका यवखद इति व्रीह्यादिः।

११९१——अर्शआदिभ्योऽच् ५।२।१२७——अर्शस् उरस् तुन्द चतुर पलित जटा घटा घाटा अघ कर्दम अम्ल लवण (स्वाङ्गाद्धीनात्) (वर्णात्) अर्श आदिराकृतिगणः।

१२३६. प्रज्ञादिभ्यश्च ५।४।३८——प्रज्ञ वणिज उशिज उष्णिज प्रत्यक्ष विद्वस् विदन् षोडश् विद्या मनस् (श्रोत्रशरीर) जुहुवत्कृष्णामृगे ·चिकीर्सत् चोर शत्रु योध चक्षुस् वसु एनस् मरुत् क्रुञ्च सत्वत् दशार्हे वयस् असुर रक्षस् पिशाच अशनि कार्षापणम् देवता बन्धु इति प्रज्ञादिः।

१२३७ (वा०) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्—अयमेव सर्वविभक्तिस्तसिः। आदितः मध्यतः अन्ततः पार्श्वतः पृष्ठतः आकृतिगणोऽयम् स्वरेण स्वरतः।

१२४५. अजाद्यतष्टाप् ४।१।३—अज एडक अश्व चटक मूषक बाल वत्स होढ पाक मन्द विलात पूर्वापहाण उत्तरापहाण क्रुञ्चा उष्णिहा देवविशा ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमेति पुंयोगेऽपि कोकिलाजातौ, दंष्ट्रा एतेऽजादयः आकृतिगणोऽयम्।

१२५१. षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१——गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग पिङ्गल हय गवय मुकय ऋष्य (पूट तूण) द्रुण हरिण कोकय (काकण) पटरउणक (आमल) आमलक कुवल बिम्ब बदरफर्करक (कर्कर) तकरि सकरि पुष्यर पिषण्ढसलद शष्कण्ड सनन्द सुषम सुषव अलन्द गडुल षाण्डश आढक आनन्द आश्वत्थ इति गौरादिः।

१२५६. बह्वादिभ्यश्च ४।१।४२—बहु पद्धति अञ्च अङ्कति अंहति शकटि शक्ति शास्त्र शारि वारि यराति राधि इत्यादिः, आकृतिगणोऽयम्।

१२६२. न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६——क्रोड् नखखुर गोखा उखा शिखा वाल शफशुक्र आकृतिगणोऽयम्, तेन भागगल घोण नाल भुज गुद कर इति क्रोडादिः।

१२७१ शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३——शार्ङ्गरव कापटव गाग्गलव ब्राह्मण वेद गौतम कामण्डलेय ब्रह्मणकृतेय आनिचेय आनिषेय आशोकेय वात्स्यन मौञ्जायन कैकस काप्य काव्य शैव्य एहि आश्मरथ्य औदपान अराल चण्डाल वतण्ड भोगवत् गौरमत् एता संज्ञायाम् नृनरयोर्वृद्धिश्च। पुत्र इति शार्ङ्गरवादिः।

इति गणपाठः समाप्तः।

४. अष्टाध्यायी-सूत्रसूची

५. धातु-सूची

धातुसूची समाप्ता

६. शुद्धि-पत्र

विषय	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
भूमिका	९	७	पंडित कैयट ११०० ई०	पंडित कैयट ने ११०० ई०
,,	,,	१०	खाल निकालनेवाली और नैयायिक	खाल निकालनेवाली नैयायिक
,,	११	२२	विवेचस	विवेचन
,,	१३	२८	श्लोक	सूत्र
पूर्वाभास	१	२	इसी से 'संज्ञा-प्रकरण'	इसी से इसे 'संज्ञा-प्रकरण'
,,	४	१२	(लोप हो जाता है)	(अकार का लोप हो जाता है)
,,	४	१४	(आ जाता है)	(ईकार के स्थान पर यकार आ जाता है)
,,	४	१८	(हो जाता है)	(ङकार का द्वित्व हो जाता है)
,,	५	५	ए. ओ. ऐ	ए, ओ, ऐ
,,	११	६	जैसे–रामः।	जैसे–राम।
,,	,,	,,	तन वचनों	तीन वचनों
,,	१२	१४	आप्टे कृतः संस्कृत निबन्ध-पथ-प्रदर्शकः संस्कृत-रचना (चौखम्बा प्रकाशित)	आप्टे कृत 'संस्कृत निबन्ध-पथ-प्रदर्शक एवं डा० कपिल-देव द्विवेदी कृत 'रचनानुवाद-कौमुदी'
व्याख्या	२०	११९	[प्रथम पाद-टिप्पणी सम्बन्धी चिह्न '*' नवम पंक्ति में 'कौन वर्ण आवेगा ?' के अनन्तर लगेगा, पहली पंक्ति के "'अच्' के बीच" के अनन्तर नहीं।]	
,,	२६	११	[द्वितीय पाद-टिप्पणी सम्बन्धी चिह्न '†' 'समानाम्' के अनन्तर लगेगा।]	
,,	३०	५	वंसूत्र	पूर्वसूत्र
,,	५७	१७	केवल के पुँल्लिङ्ग	केवल 'अदस्' के पुँल्लिङ्ग
,,	५९	१६	[द्वितीय पाद-टिप्पणी सम्बन्धी चिह्न '†' (एकाच्)' के अनन्तर लगेगा।]	
,,	२१०	१४	अन्त	अन्त्य
,,	२११	५	'३६–पूर्वत्राऽसिद्धम्'	'३१–पूर्वत्राऽसिद्धम्'
,,	,,	२२	नकार	अकार
,,	२१२	८	'१६६–सर्वनामस्थाने-०'	'१७७–सर्वनामस्थाने-०'
,,	,,	२३	सर्वनामस्थानभिन्न	सम्बुद्धिभिन्न